श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्या

श्रीकृष्ण-सन्देश

द्वितीय खण्ड

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर



श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-५८



श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्या

श्रीकृष्ण-सन्देश

द्वितीय खण्ड : अध्याय ५-१२

व्याख्याता
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन,
डी ४६/६ मिश्र पोखरा
वाराणसी - २२१०१०

प्रथम संस्करण : संवत् २०६६
सन् २००६

मूल्य : ६००.०० रुपये मात्र (तीनों खण्डों का)

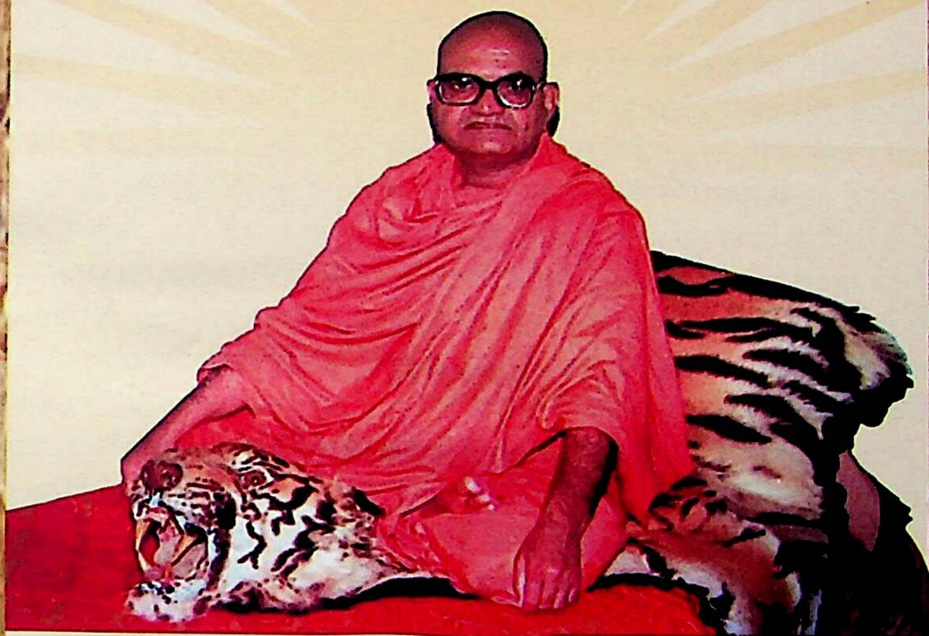
आवरण चित्र
विश्व शान्ति आश्रम ट्रस्ट
विश्व शान्ति नगर, २४वाँ के एम नीलामंगला तालुक, बंगलोर-५६२१२३

अक्षर टंकण
मानस टाइपसैटर
नयी दिल्ली

मुद्रक एवं अक्षर टंकण
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा0 लि0,
बी-२८०, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया,
फेस प्रथम, दिल्ली - ११००२०

ॐ

अध्यायक्रम



श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

ॐ

पाँचवाँ अध्याय : कर्मसंन्यासयोग

पूर्वाध्याय में बताया कि कर्मानुष्ठान से 'मैं कर्त्ता नहीं' इस ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है तथा ज्ञान होने पर सारे कर्म छूट जाते हैं। ज्ञान का साक्षात् साधन ही साधनों में श्रेष्ठ है। मानव-स्वभाव है कि अपनी योग्यता को न पहचान कर जो उत्तम साधन बताया जाये उसे ही अपनाना चाहता है। आजकल के लोग योगाभ्यास सीखना चाहते हैं पर योग की पहली सीढ़ी 'यम' का पालन नहीं करने को तैयार हैं! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये यम हैं, योग का प्रथम सोपान है। लोग इन कदमों को लिये बगैर सीधे ही ध्यान-समाधि सीखना चाहते हैं और ऐसों को सिखाने वाले मिल भी जाते हैं! आहार-विहार के किसी परहेज़ के बिना, अमेध्य अशुद्ध खाते रहकर, मद्य पीते रहकर, झूठ-फरेब आदि दुराचार छोड़े बिना समाधि लगवा देने का बीड़ा उठा लेते हैं! 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' आदि उक्तियों के सहारे अपनी मनमर्ज़ी करने को सही ठहराते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् ने कहा कि अपना अकर्तापन याद कर समग्र कर्मों का संन्यास करना है, तब अर्जुन भी स्वभावतः इसी की ओर आकृष्ट होवे, साधनभूत कर्मयोग को अनावश्यक समझे, यह कोई आश्चर्य नहीं। भगवान् ने तो अन्त में ज्ञान-तलवार से संशय काटकर युद्ध के लिये तैयार हो जाने को कहा था (४.४२) पर अर्जुन को उनके उस स्पष्ट निर्देश के बाद भी यही लगा कि उसे कर्म (युद्ध) करने की ज़रूरत नहीं! अतः वह प्रश्न करता है

अर्जुन उवाच
सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे कृष्ण! आप सभी कर्मों का त्याग बता रहे हैं और फिर यह भी कह रहे हैं कि कर्म अवश्य करने चाहिये! इनमें से जो एक बेहतर हो वह मुझे भली-भाँति निर्धारित कर बताइये।

'हे कृष्ण! सारे कर्मों का परित्याग और फिर उनका अनुष्ठान दो बातें आप कह रहे हैं कि सारे कर्मों को अकर्त्तापन के भाव से छोड़ दो एवं इसकी प्राप्ति के लिए कर्म करो। ये दोनों बातें बिलकुल विरुद्ध-सी लगती हैं।' सभी साधकों को यह समस्या आती है क्योंकि अधिकार-भेद से दिया उपदेश, यदि अधिकार-विचार छोड़ दें तो विरोधी लगता ही है। यही प्रश्न अर्जुन का है 'आप कर्मों के त्याग की प्रशंसा करते हैं और फिर कर्मयोग का अनुष्ठान करने को कहते हैं! ये दोनों तो विरुद्ध हैं। इसलिए, इनमें से जो कल्याणकारी है वह एक बताइये। कर्मयोग से जो चीज़ें हमें अच्छी लगती हैं उनकी प्राप्ति हो जाएगी, युद्ध करूँगा तो राज्य मिल जाएगा। यह प्रेय का रास्ता तो समझ में आता है, पर यही श्रेय का रास्ता है यह समझ में नहीं आता। लगता तो मुझे कर्म-त्याग श्रेयस्कर है, कर्मयोग प्रेयस्कर है। आप दोनों को करणीय कह रहे हैं। क्या एक श्रेयोमार्ग व दूसरा अश्रेयोमार्ग है? दोनों में से श्रेयोमार्ग कौन-सा है? यह संशय मेरे मन में आता है। इनमें से एक कल्याणकारी कौन-सा है, वह निश्चित कर बताइए। जिसके अनुष्ठान से श्रेय की प्राप्ति आप मानते हैं, उसको बताइए। दोनों का एक-साथ अनुष्ठान तो हो नहीं सकता। या कर्म का त्याग होगा, या कर्म का अनुष्ठान होगा। एक-साथ एक पुरुष इनका अनुष्ठान कर लेवे, यह तो संभव है नहीं। इसलिए इनमें से एक को कर्तव्य बताइए। आपका वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह निश्चय करके बताइए, वही मैं कर लूँगा।'।।१।।

उक्त विषय का निर्णय करने के लिए भगवान् अपना अभिप्राय बतलाते हैं

श्रीभगवान् उवाच
सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनों निःश्रेयस (मोक्ष) के हेतु हैं, किंतु इनमें कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग में विशेषता है।

कर्मों का परित्याग और कर्मयोग, शास्त्रीय कमो ' का अनुष्ठान कल्याण, श्रेयःप्राप्ति, मोक्ष के लिए दोनों की ज़रूरत है। इसलिए मैं दोनों कह रहा हूँ। एक साक्षात् ज्ञाननिष्ठा का कारण है और दूसरा ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार से मोक्ष-फलक ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु दोनों हैं। ज्ञानोत्पत्ति मोक्ष का हेतु है। जिस प्रकार से बढ़िया रुई लाकर, राख में पानी डाल कर, उस राख के स्पर्श से रुई की बत्ती बनाओ, घाणी पर जा कर तेल लाओ, दिवोटिया लाओ, उसमें तेल भर कर बत्ती को उसमें डाल कर जलाओ। जैसे ही जलेगी वैसे ही अंधकार दूर हो जाएगा। अविचारशील कहेगा 'जब जलाने से ही अंधकार दूर होगा तो जला देवें, बाकि सब तैयारी करने की क्या ज़रूरत है! पश्रिम करके बत्ती बनाने की झंझट में मुझे क्यों फँसाते हैं? सीधे ही रोशनी करना बतला दीजिए।' यह ठीक है कि तेल-बत्ती को जलाना है, नष्ट करना है। लेकिन पहले तेल-बत्ती

होगी, तभी जल कर प्रकाश होगा। प्रकाश के लिए तेल भी ज़रूरी, तेल का जलना भी ज़रूरी। हैं तो दोनों विरोधी चीज़ें पर क्रमशः आवश्यक हैं। अथवा, पहले काम करो, काम करने से पाँच रुपया आवे, उसे खर्चकर एक रसगुल्ला आवे, उस रसगुल्ले को खाओ तो सुख हो। अगर रसगुल्ले को खाकर ख़त्म ही करना है तो पाँच रुपया कमाओ काहे के लिए? पर सुख के लिये कमाकर खर्च करना ज़रूरी है। पाँच रुपए कमा लिए तो भी रसगुल्ले का स्वाद नहीं आएगा और पाँच रुपए नहीं होंगे तुम्हारे पास, तो भी रसगुल्ले का स्वाद नहीं आएगा। पहले पाँच रुपया लाना पड़ेगा, फिर उस पाँच रुपए को नष्ट करना पड़ेगा, तब रसगुल्ला खाया जाएगा।

इसी प्रकार से तुमको अपनी बुद्धि सर्वथा शुद्ध करनी पड़ेगी, तभी उस शुद्ध बुद्धि में ब्रह्म का ज्ञान आएगा। जब ब्रह्म का ज्ञान आएगा तब वह बाकी सबको नष्ट करते हुए उस बुद्धि को भी नष्ट कर देगा। परन्तु जब तक बुद्धि को शुद्ध करोगे नहीं तब तक वह ज्ञान होगा ही नहीं। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि दोनों निःश्रेयस करने वाले हैं। ज्ञानोत्पत्ति का कारण होने से दोनों ही निःश्रेयसकर हैं। फिर भी, निःश्रेयस के जो दोनों कारण हैं, उनमें ज्ञान हीन कर्मसंन्यास से कर्मयोग में विशेषता है। ज्ञानहीन अवस्था में कर्म तो कर सकते हो पर अन्तःकरण की अशुद्धावस्था में ज्ञान प्राप्त कर नहीं सकते। ज्ञानरहित कर्मसंन्यास अर्थात् कर्म को न करना, तुमको आगे नहीं ले जाएगा। ज्ञान-रहित अवस्था में कर्मयोग का अभ्यास करोगे तो अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ज्ञान हो जाएगा। यही ज्ञानहीन केवल कर्मसंन्यास से कर्मयोग की विशेषता है। क्या विशेषता है? अज्ञानी भी कर्मयोग का अनुष्ठान कर सकता है, कर्मसंन्यास का अनुष्ठान नहीं कर सकता।

बहुत-से लोगों ने इस श्लोक को गड़बड़ समझा है। वे कहते हैं कि कर्म करना एक मार्ग है, कर्म-संन्यास दूसरा मार्ग है लेकिन दोनों मार्गों में कर्मयोग करना श्रेष्ठ है ऐसा भगवान् का अभिप्राय है। किंतु भगवान् स्वयं अपना तात्पर्य स्पष्ट करेंगे कि यह उनका अर्थ नहीं है।।२।।

भगवान् समझाते हुए कहते हैं मैं जिस संन्यास की बात कह रहा हूँ उसे अज्ञानी नहीं कर सकता

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।३।।

हे वीर! जो द्वेष और आकांक्षा नहीं करता उसे (कर्मयोगी को) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये क्योंकि रागादि द्वन्द्वों से रहित व्यक्ति बंधन से अनायास छूट जाता है।

मैं जिस संन्यास की बात कर रहा हूँ वह ज्ञानोत्तर-संन्यास है। मैंने जिस संन्यास की बात पूर्व अध्याय में की, वह नित्य-संन्यास है। नित्य-संन्यास का मतलब क्या? जब खाते

समय 'मैं खाने वाला हूँ', यों कर्त्ता बन जाता हूँ क्योंकि 'मैं कर्त्ता नहीं' यह बोध तो हुआ नहीं, और उसके बाद शान्ति से एकान्त में पद्मासन लगा कर ध्यान करते हुए 'मैं अकर्त्ता हूँ, मैं कुछ नहीं कर रहा' यह स्थिति है, तब तक हुआ 'अनित्य संन्यास'। ऐसा साधक शरीर-मन के क्रियाशील होने पर कर्त्ता भी है और शरीर-मन के क्रिया न करने पर अकर्त्ता भी है। नित्य-संन्यासी वह है जिसके शरीर और मन चाहे जितनी क्रियाएँ करें लेकिन उसकी अडिग निष्ठा है 'मैं अकर्त्ता हूँ, शरीर और मन के करने से मैं करने वाला नहीं क्योंकि मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ'। इसलिए, शरीर-मन जब भोजन कर रहे हैं तब भी वह अकर्त्ता है और शरीर-मन जिस समय पद्मासन लगा कर समाधि लगा रहे हैं तब भी अकर्त्ता ही है। ऐसे को भगवान् ने कहा कि नित्य-संन्यासी समझना।

भगवान् उसके स्वभाव को समझाकर कहते हैं कि किसी भी परिस्थिति से उसको द्वेष नहीं होता है। किसी चीज़ को निवृत्त करने का उसके अंदर कोई प्रयत्न नहीं होता और 'न काङ्क्षति' न किसी प्रिय चीज़ को प्राप्त करने के लिए उसके अंदर कोई प्रवृत्ति होती है। न किसी चीज़ से निवृत्त होता है, चाहे जितना दुःख हो, न किसी चीज़ में प्रवृत्त होता है, चाहे जितनी सुख की चीज़ प्रतीत होवे। न सुख के प्रति उसकी प्रवृत्ति होती है और न सुख के साधनों के प्रति उसकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिए बार-बार आचार्य शंकर लिखते हैं कि ससाधन कर्म-परित्याग करना चाहिये, साधनों के साथ कर्म छोड़ना चाहिये। साधन रखोगे तो कभी उसके प्रयोग की भी संभावना हो जायेगी। एक स्नातक कक्षा उत्तीर्ण हुआ लड़का संन्यास लेने लगा तो स्नातक की उपाधि का दस्तावेज फाड़ने लगा ताकि कभी इच्छा हो भी जाये तो उसका प्रयोग न कर सके। पुराने लोग कहते थे 'अरे! चोटी-जनेऊ रहने दो, हटाने की क्या ज़रूरत है?' तात्पर्य क्या था? अगर कभी बीमार हो गए, पंडित हो ही, तो मृत्युञ्जय का अनुष्ठान कर लेना। अगर चोटी-जनेऊ कट गये तो कोई कर्म नहीं कर सकते। चाहे वर्तमान काल में बी.ए. का सर्टिफिकेट हो, चाहे प्राचीन काल में चोटी-जनेऊ हों, साधन को रखने के पीछे उद्देश्य है उस साधन से होने वाले दुःख-निवृत्ति या सुख की प्राप्ति का। इसलिए भाष्यकार ससाधन कर्म-परित्याग का महत्त्व बताते हैं। साधन छोड़ चुकने पर यदि कभी कर्म-प्रवृत्ति की इच्छा हो जाये तो आगे प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है क्योंकि साधन नहीं रहते हैं। ससाधन कर्मत्याग हो गया तो किसी समय यदि द्वेष या आकांक्षा प्राप्त भी हो तो भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'स निर्द्वन्द्वः' वह सुख-दुःख इत्यादि सब द्वन्द्वों से रहित हो जाता है, इसलिए बंधन से अनायास ही मुक्त हो जाता है। भगवान् ने जिसकी प्रशंसा की वह नित्य संन्यासी है, राग-द्वेष से रहित है, उनके लिए प्रवृत्ति करने वाला नहीं है। ऐसा जो अपने अकर्त्ताभाव को जानने वाला है, वह बंधन से छूट जाता है। यदि यों समझ-बूझकर रागादि छोड़े बगैर कर्म-त्याग करता है तो बार-बार मन में आता है 'हाय! मैंने यह त्याग नहीं किया होता तो आज यह हालत नहीं होती!' वास्तविकता को तो जाना नहीं, इसलिए बार-बार मन में होता है 'यह कर लेवें, यह अनुष्ठान कर लेवें, यह

शक्ति प्राप्त कर लेवें, या ये पहले कर लिये होते तो हमारे लिये बड़ा अच्छा होता।' ऐसा व्यक्ति बंधन से छूट ही नहीं सकता। अनायास वही छूट सकता है जो ज्ञानपूर्वक संन्यास करता है। भगवान् ने संन्यास के रूप को यहाँ बतलाया। जिस संन्यास को कहा वह बिना कर्मयोग के अनुष्ठान के नहीं हो सकता।।३।।

अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि कर्मयोग करना श्रेष्ठ है या कर्म न करना श्रेष्ठ है। भगवान् ने उत्तर दिया कि अज्ञानी द्वारा कर्मयोग और कर्मसंन्यास एक ही है और ज्ञानी द्वारा कर्मसंन्यास सर्वथा विलक्षण है। अज्ञानी कर्म का सर्वथा अभाव नहीं कर सकता क्योंकि जीवन-यात्रादि के लिए, शरीर-निर्वाह आदि के लिए वह कर्म करता ही है। अतः अज्ञानी के द्वारा त्याग होगा कि फल की इच्छा को छोड़कर, परमात्मा को समर्पण करने की भावना से, केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्मयोग का अभ्यास करे। वह वही कर्म करता है जो दूसरे अज्ञानी करते हैं, परंतु ईश्वरार्पण बुद्धि से, केवल अन्तःकरण की शुद्धि के प्रयोजन से करता है। ऐसा कर्म का अभ्यास साधारण आदमी के लिए सरल होता है। इसकी अपेक्षा दूसरे आश्रम धर्मों को छोड़ कर, यम-नियम आदि का अभ्यास करते हुए श्रवण मनन का नियम से अनुष्ठान करना   इस प्रकार का जो कर्म-संन्यास है वह कठिन है। इसके अंदर करना तो है ही, कर्त्तव्य है ही, परन्तु शम-दम आदि का अभ्यास करते हुए केवल श्रवण-मनन में रहना है; यह अधिक कठिन मार्ग होने से इसकी अपेक्षा कर्मयोग के द्वारा शुद्धि को प्राप्त करके ज्ञान के मार्ग में जाना श्रेष्ठ है, सुकर है। जिस संन्यास का स्वरूप भगवान् बतला रहे हैं, उसमें ज्ञान हो जाने पर अकर्त्ताभाव से स्थिति होने के कारण खाना-पीना इत्यादि भी कर्म नहीं रहता, क्योंकि 'मैं अकर्त्ता हूँ' यह बोध कायम रहता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से सर्वात्म बुद्धि के कारण उसको न किसी से द्वेष होता है, न किसी से राग होता है। उसके शरीरादि से चाहे शम दम आदि पूर्वक श्रवण-मनन होता रहे, चाहे यदि गृहस्थ आश्रम में है तो वे कर्म होते रहें, दोनों ही हालत में वह सन्न्यासी ही है क्योंकि उसके अंदर अकर्तृत्व भाव स्थिर हो गया है। विद्वत्संन्यास को न समझ कर अर्जुन का प्रश्न था अतः भगवान् ने उसका स्पष्ट जवाब दे दिया। अज्ञानी के द्वारा कर्मयोग भी किया जा सकता है और अज्ञानी के द्वारा कर्म-संन्यास भी होता है, उन दोनों में सरल होने के कारण, हर प्राणी के द्वारा किया जाने में किसी प्रकार का प्रतिरोध न होने के कारण, कर्मयोग श्रेष्ठ है। भिक्षाटन आदि के द्वारा निर्वाह इत्यादि करने के लिए बड़ी योग्यता चाहिए अन्यथा उसकी कठिनाई से जो उसका आश्रम धर्म है निरंतर श्रवण-मनन में लगे रहना, वह ही नहीं कर पायेगा।

संन्यास और कर्मयोग   ये भिन्न पुरुषों के द्वारा अनुष्ठेय होने से विभिन्न फलों वाले होने चाहिये, दोनों को एक निःश्रेयस फल वाला कैसे कहा? कर्मयोग का फल अन्तःकरण की शुद्धि और संन्यास का फल ज्ञान है। अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान हो जाने पर जो कर्म-संन्यास होता है वह फलस्वरूप है। इस प्रकार, एक ही फल के प्रति क्रमशः कारण

बनने वाले होने से इनके अन्तिम फल अलग-अलग नहीं हैं। तथा इनका अनुष्ठान भी एक ही व्यक्ति अपनी अवस्था, अधिकारिता के अनुसार करता है, ऐसा नहीं कि सर्वथा विभिन्न फल चाहने वाले इन्हें स्वतंत्र रूप से किया करते हों। इसे भगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं

साङ्ख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकम् अप्यास्थितः सम्यग् उभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

पण्डित नहीं वरन् बालक सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) को पृथक् (विरुद्ध फल वाले) बताते हैं। इनमें से एक का भी सही-सही अनुष्ठान करने वाला दोनों का फल पा जाता है।

'बालाः' बालक अर्थात् अविचार वाले। बुद्धिमान् में और बालक में यही फ़र्क है कि बालक अविचार वाला है, विचार नहीं करता, जैसा देखा वैसा ही मान लेता है जबकि बुद्धिमान् विचारपूर्वक सही-गलत समझता है। सांख्य और योग सर्वथा अलग-अलग *प्रतीत* होते हैं इसलिए अविचारशील उन्हें भिन्न ही मान लेते हैं, इसी बात का प्रवाद करते हैं। प्रवाद शब्द का प्रायः अर्थ होता है वह बात जो प्रमाण-तर्क से समर्थित नहीं है। जिसकी प्रतीति भले ही हुई हो पर बात सही है ऐसा जिसके बारे में निर्धारण न हुआ हो। आजकल समाचार पत्रों में प्रायः अफवाहें खूब होती हैं। अंदर बैठक में क्या हो रहा है, यह तो पता है नहीं, बैठक से बाहर निकलने पर अगर उनका चेहरा खुश हुआ तो संवाददाता कहते हैं 'समझौता हो गया!' और अगर, चेहरा उदास दीखा तो कह देते हैं 'वार्ता असफल हो गई।' पता उनको है नहीं कि क्या बातचीत हुई, क्या नहीं हुई। इस प्रकार बिना-विचार किए हुए जैसा देखें वैसा ही मान कर कह देने को प्रवाद कहते हैं।

भगवान् ने अर्जुन के पूछे हुए संन्यास और कर्मयोग शब्दों को छोड़ कर सांख्य और योग इन शब्दों को लिया। साधारण आदमी की शंका होती है कि अर्जुन का प्रश्न था कर्मयोग और संन्यास के बारे में और भगवान् यहाँ सांख्य-प्रवर्तक कपिल और योग-प्रवर्तक पतञ्जलि की बात कर रहे हैं! इसलिये समझ लेना चाहिए कि सांख्य शब्द का मूलतः अर्थ क्या है? जो चीज़ जैसी होवे उसका ठीक वैसा ही ज्ञान हो जाने को संख्या कहते हैं और वह ज्ञान जिस बुद्धि में हो उसे सांख्य बुद्धि कहते हैं अर्थात् यथार्थ ज्ञान वाली बुद्धि। और योग का मतलब है ज्ञान-प्राप्ति के साधन। योग अर्थात् साधन, जैसे वैद्य के पास जाते हो वह तुम्हें 'योग' बतलाता है जिससे तुम्हारा रोग दूर होगा। जिसको अंग्रेजी वाले प्रैस्क्रिप्शन (prescription) कहते हैं उसी को संस्कृत में, आयुर्वेद में, योग कहा जाता है। इसी प्रकार से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के जो साधन हैं वे योग हैं। बालक, यथार्थ ज्ञान वाले में क़र्म का अभाव देखता है और अज्ञानी को कर्म के ऊपर आग्रह वाला देखता है इसलिए विवेचन किये बिना समझता है कि दोनों के भिन्न और विरुद्ध फल हैं।

लेकिन पण्डित, जो वास्तविक तत्त्व को समझने वाले हैं, आत्म-बुद्धि को जानने वाले हैं, वे ऐसी अफवाह को नहीं स्वीकार करते 'न प्रवदन्ति।' वे कहते हैं कि कर्मयोगी भी ज्ञान को प्राप्त करके मुक्त होगा इसलिए दोनों का फल विरुद्ध नहीं है, अविरुद्ध ही है। अन्तःकरण की शुद्धि कर्मयोग का फल है परन्तु अन्तःकरण की शुद्धि का फल है ज्ञान की प्राप्ति, इसलिए दोनों के विरुद्ध फल नहीं हैं। इसलिये 'एकम् अपि आस्थितः', चाहे ज्ञानयोग का अभ्यास करे, चाहे कर्मयोग का अभ्यास करे, यदि उनका भली प्रकार से अनुष्ठान करता है तो अन्ततः एक ही फल पाता है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर श्रवण-मनन करने से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जो ज्ञान के उद्देश्य से अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वह बाहर से कर्मी दीखने वाला होने पर भी उद्देश्य की दृष्टि से त्यागी है। तथा जो अज्ञानी कर्मत्यागी है, वह शम दम आदि साधनों का सम्यक् अनुष्ठान करता है ताकि अन्तःकरण में बची हुई अशुद्धि भी दूर हो जाए। वह श्रवण-मनन में रत रहता है तो उसे ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार कर्मयोगी भी अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर ज्ञान के लिए श्रवण-मनन के अनुष्ठान में लग जाता है, वह भी ज्ञान पा जाता है। ये दोनों 'सम्यक् आस्थित' हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि क्या चीज़ है? मन कोई कपड़ा तो है नहीं कि रीठे से धोकर साफ दीख जाये! अन्तःकरण दीखता तो है नहीं, कि ठीक साफ हुआ कि नहीं हुआ यह पता चल जाये। अन्तःकरण का मैल क्या है? राग और द्वेष मन के मैल हैं। प्राप्ति की कामना राग है, निवृत्ति की कामना द्वेष है। राग-द्वेष की निवृत्ति से कामना-मात्र की निवृत्ति हो जाती है। यही अन्तःकरण की शुद्धि है। जब तक राग-द्वेष अर्थात् कामना रहती है तब तक आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो नहीं पाता। जैसे रंगे काँच में से चीज़ देखोगे तो वस्तु का यथार्थ रंग नहीं दीखेगा, काँच के रंग से रंगा पदार्थ दीखेगा, वैसे ही कामनापूर्ण मन से सर्वथा यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता। जितनी-जितनी कामना दूर होती जाती है उतना ही उतना अन्तःकरण शुद्ध होता है, और तभी वस्तु का यथार्थ ग्रहण हो पाता है। अज्ञानी के राग-द्वेष निवृत्त होने पर उसके अंदर विविदिषा उत्पन्न होती है अर्थात् आत्मा का स्वरूप क्या है यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वही तत्परता से आत्मा का स्वरूप क्या है यह जानने के लिए श्रवण-मनन में लगता है। उसे ज्ञान हो जाएगा। अन्तःकरण शुद्ध हुआ या नहीं इसका स्वयं को पता इसी से लगता है कि अपनी कामना दूर हुई या नहीं और आत्मज्ञान की इच्छा तीव्र हुई या नहीं। कर्मयोगी अन्तःकरण शुद्ध करके, जिज्ञासा की तीव्रता करके, श्रवण-मनन में लगे तो 'सम्यक् आस्थित' माना जायेगा। कर्मयोगी और विविदिषु-संन्यासी दोनों ही चित्त-शुद्धि का प्रयत्न करते हैं पर आश्रम-भेद के कारण दोनों के साधन अलग-अलग हैं। इसलिये कहा कि सांख्य और योग, ज्ञानयोग और कर्मयोग, इनमें से एक का भी यदि सम्यक् अनुष्ठान करता है तो दोनों का फल एक ही होता है ज्ञान की प्राप्ति। क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति के समकाल ही मोक्ष है

अतः दोनों के फलों में विरोध नहीं है।।४।।

संन्यास अर्थात् ज्ञान, अकर्त्तापने का ज्ञान यही संन्यास है; और उसका उपाय है कर्मयोग। इन दोनों में फलतः भेद नहीं है। इसी बात को फिर कहते हैं

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जो मोक्षनामक स्थान सांख्यों को मिलता है वही योगियों को भी मिलता है। जो सांख्य और योग को (एकफलक होने से) एक समझता है वह सही समझता है।

सांख्य अर्थात् सम्यक् ज्ञान की बुद्धि वाले ज्ञानी। ज्ञान-निष्ठा वाले जिस स्थान को प्राप्त करते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं, उसी स्थान को योगी प्राप्त करते हैं। योग अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति का उपाय, कर्म ईश्वर को समर्पण करना, अपने लिए कर्मफल की कोई इच्छा किए बिना अनुष्ठान करना। योगी वे हैं जो चित्तशुद्धि के लिए कर्मफल को परमेश्वर के अर्पण कर देते हैं। इससे धीरे-धीरे मनुष्य की इच्छा छूटती है और परमेश्वर को अर्पण करने से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ऐसे अनुष्ठान से प्रसन्न हुआ परमेश्वर श्रवण-मनन के बुद्धियोग को उन योगियों के लिए उपस्थित कर देता है। परमार्थ ज्ञान से होने वाले संन्यास की प्राप्ति का द्वार वह योग बन जाता है। इस प्रकार वे कर्मयोग के अनुष्ठान से बुद्धियोग की प्राप्ति के द्वारा उसी श्रेयस को, मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए जो 'सांख्य और योग ये एक फल वाले ही हैं' इस प्रकार से जानता है, वही सही जानता है। फल की एकता को समझकर वह दोनों को एक देखता है। भिन्न अधिकारियों के द्वारा किये जाने वाले होने से अलग-अलग दीखने पर भी उनका अन्तिम फल एक ही है।।५।।

अर्जुन के मन में प्रश्न स्वभावतः होता है कि दोनों का एक फल है, मैं संन्यास ही करना चाह रहा हूँ तो आपने उसकी अपेक्षा योग को विशेष क्यों बतलाया? भगवान् उत्तर देते हैं

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

हे दीर्घबाहु! योगानुष्ठान के बिना वास्तविक संन्यास मिलना दुष्कर है। ईश्वरविषयक मनन करने वाला जो साधक कर्मयोग कर चुका है वह शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् परमार्थ ज्ञान-निष्ठा रूप संन्यास को पा जाता है।

कर्म का परित्याग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। पारमार्थिक संन्यास, अकर्तृत्व आत्म-भाव वाला संन्यास, बिना योग के प्राप्त करना बड़ा कठिन है, नहीं हो सकता। जो वैदिक कर्मयोग करता है, अपने लिए फल की अपेक्षा न करके ईश्वर को समर्पण करते हुए कर्म

करता है, वह योगयुक्त मुनि ही शीघ्र संन्यासी बनता है। ईश्वर के स्वरूप के बारे में मनन करता है इसलिये योगी को मुनि कहा। परमेश्वर को कर्म अर्पण करने के लिए परमेश्वर के स्वरूप को जानना ज़रूरी है अतः योगी परमेश्वर के स्वरूप के विषय में मनन करे यह उचित है। ऐसे योगी को ब्रह्मज्ञान बहुत शीघ्र हो जाता है। यहाँ संन्यास को 'ब्रह्म' शब्द से कह दिया है। योगी ब्रह्म को अर्थात् संन्यास को प्राप्त हो जाता है, वह अपने अकर्तृत्व आत्म-भाव को जान लेता है। श्रुति ने संन्यास को ब्रह्म कहा भी है। इसलिए ऊपर की पंक्ति में कह दिया संन्यास और नीचे की पंक्ति में कह दिया ब्रह्म, क्योंकि ब्रह्म ही परमार्थ संन्यास है। व्यावहारिक संन्यास तो आश्रमरूप है जिसमें शम दम आदि का अभ्यास करते हुए श्रवण मनन में निरन्तर प्रवृत्ति निहित है। सचमुच में संन्यास क्या है? आत्मा अकर्त्ता है यही परमार्थ संन्यास है, इसी को ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। जो परमेश्वर के स्वरूप का मनन करते हुए कर्मयोग का अभ्यास करता है, उसे ब्रह्म को प्राप्त करने में देरी नहीं होती।।६।।

कैसे प्राप्त करता है यह समझाते हैं

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

कर्मयोग में संलग्न, निर्मलमना, नियन्त्रित देह-इन्द्रियों वाला, और सब प्राणियों के स्वरूप प्रत्यक्चेतन का जानकार, लोकसंग्रह के लिये कर्म करते हुए भी उससे संबद्ध नहीं होता।

कर्मयोग अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से, अपने लिए किसी भी फल की इच्छा नहीं रखकर कर्म करना। इस प्रकार जो योगयुक्त है वह विशुद्धात्मा हो जाता है अर्थात् उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। जितना-जितना मन शुद्ध होता जाता है उतना-उतना विजितात्मा और जितेन्द्रिय हो जाता है अर्थात् अपने शरीर-इन्द्रिय के संघात को वह जीतता जाता है। चूंकि जीव शरीर-मन को अपना आत्मा समझता है इसलिए 'विजितात्मा' में आत्मा उसे कहा जिसको वह अपना आत्मा समझता है अर्थात् शरीर-मन, उनको जीतता चला जाता है। योगयुक्त होने से विशुद्धात्मा, विशुद्धात्मा होने से विजितात्मा, विजितात्मा होने से जितेन्द्रिय बन सकता है। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' सर्वभूत, ब्रह्मा से घास के तिनके पर्यन्त जितने भी प्राणी हैं, उनका जो आत्म-भूत है अर्थात् उन सब का जो प्रत्यक् चैतन्य है, जिसका अनुभव सभी लोग अपने अंदर 'मैं' रूप से करते हैं, वही आत्मा है; शरीर, मन, अहंकार ये आत्मा नहीं वरन् इनका जो प्रत्यक् चेतन है वह सब प्राणियों का एक ही है। इस प्रकार का जो सम्यक्-दर्शी हो जाता है, प्रारब्ध समाप्तिपर्यन्त लोकसंग्रह के लिए उसके शरीर से जो कर्म इत्यादि होते दीखते हैं, उनसे उसको कोई लेप की प्राप्ति नहीं होती।।७।।

करते हुए भी लेपकी प्राप्ति क्यों नहीं होती?

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।।८।।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।६।।

देखते, सुनते, छूते, सूंघते, जाते, सोते, साँस लेते, बोलते, छोड़ते, पकड़ते और पलकें खोलते-बंद करते हुए आत्मा के यथार्थ का जानकार उसी सत्य पर एकान्त निष्ठा वाला बना रहते हुए 'इन्द्रियाँ अपने विषयों से व्यवहार कर रही हैं' ऐसा अनुसंधान करते हुए यही समझता है कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ।'

जो आत्मविषयक तत्त्ववित् है, वह ऐसा मानता है, ऐसा उसका दृढ निश्चय रहता है कि 'अकर्त्ता होने से मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ।' जिसने कर्मयोग का अभ्यास करके अन्तःकरण शुद्ध करके तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया, उसको ऐसा दृढ निश्चय रहता है कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा क्योंकि मैं अकर्त्ता हूँ। मेरे लिए कर्म असंभव है।' जो हो रहा है वह क्या है? साँस चल रही है तो प्राण अपना काम कर रहा है, पैर चल रहे हैं तो पादेन्द्रिय अपना काम कर रही है, दीख रहा है तो आँखें अपना काम कर रही हैं इत्यादि। हम लोगों को अपने कान के साथ एकता का अध्यास होने से जब कान सुनता है तब हमें प्रतीति है कि हम सुन रहे हैं। परन्तु उसको प्रतीति है कि कान सुन रहा है क्योंकि 'कान मैं हूँ' यह उसे अध्यास है नहीं। जैसे दूसरा शरीर, जिसमें तुमको अध्यास नहीं है वह, कोई काम करता है तो तुमको यह प्रतीति नहीं होती कि 'मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ' इत्यादि, ऐसे तत्त्ववित् को अध्यास न होने से नहीं होती। अगर *आँख* के देखने से 'मैं देख रहा हूँ' ऐसी प्रतीति होवे तो देवदत्त की आँख के देखने से यज्ञदत्त को भी प्रतीति हो जाए क्योंकि *आँख* तो देख ही रही है! *इस* आँख के देखने से ही प्रतीति होती है क्योंकि इस आँख में हमारा अध्यास है। अध्यासवश ही लगता है कि वह करता है तो मैं करता हूँ। इसी प्रकार 'प्रलपन्', प्रलाप करते हुए, 'विसृजन्' मलमूत्र आदि छोड़ते हुए, 'गृह्णन्' भिक्षा आदि ग्रहण करते हुए अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राणों के व्यवहार होते हुए उसे बोध रहता है कि 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते', ये जो इन्द्रियाँ हैं, मन है, प्राण हैं ये अपने-अपने विषयों की तरफ प्रवृत्ति कर रहे हैं। सभी कर्मों के होते हुए भी सम्यक्-दर्शी को अपने में अकर्तृभाव की ही प्रतीति बनी रहती है।

ऐसा जो तत्त्व-दर्शी है वह कभी कर्म कर ही नहीं सकता इसलिए इसके लिए कर्म-संन्यास ही है क्योंकि कर्म के अभाव का दर्शन बना रहता है। जब तक देहादि में से अध्यास गया नहीं तब तक प्रवृत्ति होती है। जैसे मृगी का जल हमें दीखता है, उसको लेने के लिए हम जाते हैं, परन्तु जैसे ही पता लग जाता है कि 'वहाँ पानी नहीं है, केवल

मृग-तृष्णा है', तो फिर तो उसकी तरफ नहीं जाते। इसी प्रकार जिसने संसार के सब विषयों को प्रतीति-मात्र समझ लिया है, 'उनसे मुझ आत्मा को कुछ भी प्राप्त होना नहीं है' ऐसा जिसे निश्चय है, वह उनकी तरफ प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता।।६।।

जिसने इस तत्त्व को नहीं जाना है वह कर्मयोग में कैसे प्रवृत्ति करे ताकि निर्लेप बना रहे, यह समझाते हैं

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

जो आसक्ति छोड़कर ईश्वर के लिये (नौकर की तरह) सारे कर्म करता है उसे पाप का वैसे ही लेप नहीं होता जैसे कमल के पत्ते पर पानी का लेप नहीं होता।

ब्रह्म अर्थात् सृष्टि, स्थिति, लय, आविर्भाव, तिरोधान करने वाला, सब कर्मों का फल देने वाला जो ईश्वर है उसमें ही जो अपने सब कर्मों को 'आहित' कर देता है वह निर्लेप रहता है। 'आहित' अर्थात् 'उसके लिए मैं कर्म कर रहा हूँ' यह निश्चय रखकर स्वधर्म-पालन करता है। जैसे सारी दुकान को मुनीम चलाता है, परन्तु जितना फ़ायदा होता है वह सब मालिक के हाथ में रख देता है, उसको केवल मालिक जो तन्ख्वाह देता है, उसी से संतोष करता है, इसी प्रकार इस साधक का निश्चय है कि 'परमात्मा ने यह सृष्टि चक्र चलाया है, उसमें मेरे लिए कुछ कर्म निश्चित हैं, उन कर्मों को मुझे करना है। उन कर्मों के फल का मालिक परमेश्वर है। इससे होने वाली जो चित्तशुद्धि है, उसके सिवाय और किसी चीज़ से मुझे मतलब नहीं।' अतः जैसे नौकर मालिक के लिए काम करता है वैसे ही वह ईश्वर के लिये करता है। किसी प्रकार की उसे फलों के प्रति आसक्ति का नाम-निशान नहीं रहता है। भाष्यकार तो यहाँ तक कहते हैं कि 'मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा' मोक्ष फल होवे यह भी आसक्ति छोड़कर कर्म करता है। केवल जो चित्त-शुद्धि होनी है, उसी के लिए करता है। जो सारे कर्मों को इस प्रकार से करता है, वह पाप से असंबद्ध रहता है। शास्त्रों में अनेक जगह पाप शब्द से पुण्य का भी संग्रह है। ऐसे साधक के कर्मों से चाहे पुण्य हो या पाप हो, दोनों का उसके साथ कोई संबंध नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता पानी के अंदर रहते हुए भी पानी से उसके ऊपर कोई गीलापना नहीं आता, उसी प्रकार कर्म करते हुए कर्म का फल ऐसे कर्मयोगी पर नहीं आता।

यदि इसी प्रकार से भगवान् की आज्ञा मान कर अर्जुन युद्ध करे तो उसे भी पाप नहीं होगा यह भगवान् समझा रहे हैं। अर्जुन को शंका है कि बड़ों को मारने से क्या होगा? शास्त्रों में बतलाया है कि क्षत्रिय का क्या कर्म है। यदि तुमको यह कर्म पाप भी दीखता है पर ईश्वराज्ञा मानकर करते हो तो पाप होगा नहीं। बहुत-से ऐसे कर्म जीवन में होते हैं जिनको करते हुए पाप की सम्भावना लगती है, जैसे झाड़ू दोगे तो कीड़े मरेंगे, भोजन पकाओगे तो कीड़े मरेंगे। ऐसे स्थलों में लगता है कि हिंसा हो रही है। अतः उस दोष की

निवृत्ति के लिए पंच महायज्ञों का विधान किया, किन्तु उन्हीं के लिये, जो कर्मफल के साथ आसक्ति रखते हुए करते हैं। परन्तु परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करो तो जैसे परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करने पर तुमको पुण्य का फल नहीं होगा वैसे ही पाप का फल भी नहीं होगा। इसलिए यहाँ यह अर्थ नहीं समझ लेना कि 'पाप से युक्त नहीं होता है, पुण्य तो हो ही जाता है!' यह इसलिए याद दिलाते हैं कि बहुतों के मन में होता है कि अच्छा कर्म तो कृष्णार्पण हो जाएगा, बुरा कर्म कृष्णार्पण कैसे होगा! किन्तु जब नौकर की तरह करोगे तो अच्छे-बुरे सभी *कर्तव्य* कर्म ईश्वरार्पण ही होंगे। अतः कर्म करते हुए प्राप्त पाप से लेप नहीं होगा। कर्तव्यों से अतिरिक्त पाप तो तुम क्योंकि करते ही हो फलासक्ति से, इसलिए वे आसक्ति छोड़कर हो ही नहीं सकते। ऐसे कर्मों का फल होता ही है।

ईश्वरार्पण किये कर्म का फल तो केवल अन्तःकरण की शुद्धि मात्र है। सारे संसार का अधिपति जो परमेश्वर है उसमें ही कर्मों का आधान करके अर्थात् 'वही एकमात्र परमेश्वर हैं, सब चीज़ों का स्वामी है, मुझे तो उसने नौकर की तरह जिस काम में लगा दिया, मैं अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिए आसक्ति छोड़कर वही कर्म करता हूँ। परमात्मा जो देगा उसी में मेरी तृप्ति है, मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। जो भी कर्म कर रहा हूँ वह केवल परमेश्वर के लिए कर रहा हूँ, वह मुझे ऋद्धि-सिद्धि देवे, मोक्ष देवे, या न देवे, सर्वथा मैं तो उसके अधीन हूँ।' इस निश्चय से करता है, ऐसा व्यक्ति, कर्मयोगी पाप और पुण्य दोनों से लिप्त नहीं होता। जैसे मालिक के लिए काम करनेवाला जो भी काम करता है, उसका फल मालिक के लिए ही है, अपने लिए है नहीं, इसी प्रकार परमात्मा ने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार चलता है, उसे चाहे पाप होवे या पुण्य होवे, वह परमात्मा का ही है, कर्मयोगी का नहीं। इस प्रकार जो कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।।१०।।

पूर्वोक्त विषय और स्पष्ट करते हैं

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगी लोग फलविषयक आसक्ति छोड़कर केवल अर्थात् ममतारहित शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियों से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

योगी चाहे शरीर से स्नानादि काम करे, चाहे इन्द्रियों से काम करे तीर्थ यात्रा, भगवान् के विग्रहों का दर्शन, स्तुति आदि करे, चाहे मन से परमात्मा के बारे में चिंतन करे, चाहे बुद्धि से उपनिषदों का ऊहा-पोह से क्या तात्पर्य है इसका निर्णय करते हुए उसके विरोध में जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसूत शंकाएँ हैं उन सबको निवृत्त करता रहे, सभी में संगरहित रहता है। केवल अर्थात् खाली इन्द्रियों से या केवल बुद्धि से, मन से, शरीर से कर्म नहीं होते, क्योंकि सभी के संमिलित प्रयास की ज़रूरत है, इसलिए 'केवलैः' का

मतलब है 'ममता से रहित होकर' अर्थात् केवल इनसे करता है, इनमें ममता रखकर नहीं करता। 'ये मेरे हैं इसलिए मेरी इच्छा के अनुसार चलें या मेरे लिए फल का सम्पादन करें' इस प्रकार की ममता से सर्वथा रहित होकर, केवल परमेश्वर के लिए ही काम करता है। 'केवलैः' शब्द को 'कायेन मनसा बुद्ध्या इन्द्रियैः' सभी के साथ समझ लेना चाहिए। 'अपि' शब्द के द्वारा इन सबका संग्रह है। इन सबके व्यापारों में ममत्व-भाव से रहित रहता है, न शरीर में ममता रखता है, न मन में, न बुद्धि में, न इन्द्रियों में। सभी की प्रवृत्ति में ममता से रहित रहता है।

इस प्रकार से कर्मयोग का अभ्यास करने वाला योगी 'सङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति' किसी भी प्रकार के फल के बारे में आसक्ति किए बिना अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करता है। भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि तेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं होने से इसी कर्मयोग में तेरा अधिकार है, इसलिए ईश्वरार्पण बुद्धि से ही युद्धादि कर्मों को कर, यह सोचना छोड़ दे कि तेरे हाथ से कौन मरेगा, या किस राज्य को प्राप्त करेगा; यह सब छोड़ कर केवल मन की शुद्धि के लिए ये सारी प्रवृत्तियाँ, इस भाव से कर कि 'केवल ईश्वर के लिए, ईश्वर की इच्छा के अनुसार करता हूँ'।।११।।

उक्त प्रकार से कर्म करने का फल बताते हैं

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

कर्मफल की इच्छा छोड़कर जो इस पर समाहित रहता है कि 'ईश्वर के लिये कर्म कर रहा हूँ न कि अपने लिये', वह अन्ततः ज्ञाननिष्ठा में होने वाली शान्ति पा जाता है। जो उक्त भाव पर एकाग्र नहीं होता और कामना की प्रेरणा से फल में आसक्ति रखता है, वह कर्मफल के पाश में बाँध लिया जाता है।

'युक्तः' योग करने वाला अर्थात् 'ईश्वर के लिए कर्म करता हूँ, किसी फल के लिए नहीं' इस भाव में स्थित। कई बार लोगों को यह शंका होती है कि 'काम करते हैं पर काम ठीक से नहीं हुआ तो क्या होगा?' किंतु निश्चय रखना चाहिये कि परमेश्वर ने जो आज्ञा दी है उसके अनुसार काम करना है, उसका फल परमेश्वर का है। कर्म से फल उत्पन्न नहीं होगा यह मतलब नहीं है। कर्म से फल तो उत्पन्न होगा परंतु तुम दृढ रहो कि 'उसको मैं नहीं लूंगा, मेरे काम का नहीं है।' वैसे ही, जिस प्रकार दुकान में बैठा हुआ मुनीम व्यापार में फ़ायदा तो करता ही है परन्तु 'फ़ायदा मेरा है', यह बुद्धि नहीं रखता, मालिक को दे देता है। इस संकल्प में चित्त को एकाग्र रख कर, कर्म के फल को छोड़ कर, कर्मयोग करने वाला ब्रह्म-निष्ठा से होने वाली शान्ति को प्राप्त करता है। इसके लिये इतना ऊपर से समझना अन्तःकरण की शुद्धि, फिर श्रवण मनन से ज्ञान-प्राप्ति, फिर सर्वकर्मसंन्यास और तब ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करता है, इस क्रम से शान्ति को प्राप्त करता

है। केवल कर्मफल छोड़ करके कर्म करने मात्र से प्राप्त नहीं करता, लेकिन उसको करके अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त करके, श्रवण मनन आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके, फिर अकर्तृत्व आत्म-बोध से सर्वकर्मसंन्यास करके, ज्ञान-निष्ठा में स्थिर होकर ज्ञान-निष्ठा से होने वाली शान्ति को प्राप्त करता है।

उससे विपरीत 'अयुक्तः', जो इस प्रकार के योग का अभ्यास नहीं करता है, योगी नहीं है, वह 'कामकारेण', चाहे शास्त्रीय कर्म करे चाहे अशास्त्रीय कर्म, कामना के द्वारा ही प्रेरित होकर करने वाला बनता है, कामना ही उससे करवाती है। कामना कभी शास्त्रीय कर्म करवाती है, कभी अशास्त्रीय कर्म करवाती है। कामना है 'मैं मुकदमा जीत जाऊँ'। वकील कहता है 'बिना झूठ बोले नहीं जीत सकोगे', तो झूठ बोलता है, अशास्त्रीय कर्म कर लेता है। ऐसे ही स्वर्गादि जाने की कामना है इसके लिए ज्योतिष्टोम कर लेता है, शास्त्रीय कर्म कर लेता है। कामना के द्वारा करने के कारण उसको फल में आसक्ति रहती है। योगी का तो मानना है कि परमात्मा ने सत्य बोलने का नियम किया है, मुकदमा हारें तो, जीतें तो, यह भगवान् का विषय है। अतः वह फल में आसक्त नहीं होता है, उसकी प्रवृत्ति कामना से नहीं होती। जिससे कामना के द्वारा कराया जाता है और फल में आसक्त रहता है वह नैष्ठिक शान्ति को प्राप्त नहीं करता। वह असमाहित है इसलिए कामना से प्रेरित होने के कारण संसार के चक्र में, जन्म-मरण के चक्र में बँधा ही रहता है।

भगवान् का तात्पर्य अर्जुन को समझाना है कि तू योग का अभ्यास कर, क्रम से नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त हो जाएगी। अगर ऐसा न करके अपनी कामना के अनुसार करेगा तो बंधन को ही प्राप्त होगा।।१२।।

परमार्थदर्शी कैसे क्या करता है? इसे भगवान् कहते हैं

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

(ब्रह्मवेत्ता) देही समस्त कर्मों को विवेकबुद्धि द्वारा छोड़कर नौ द्वारों वाले पुर (शरीर) में स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से न कुछ करते हुए, न कराते हुए, जितेन्द्रिय होकर निरायास प्रसन्न रहता है।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्धि सभी कर्मों को छोड़ देता है तो देहादि का व्यापार कैसे होता है? अतः कहा 'मनसा संन्यस्य।' विवेक बुद्धि के द्वारा छोड़ता है अर्थात् शरीरादि के करने पर भी करने वाला नहीं बनता। विवेक बुद्धि से जानता है कि 'ये अपने विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं, मेरा इस प्रवृत्ति से कुछ लेना देना नहीं है।' जो कर्म हो रहा है उसमें उसको निरन्तर अकर्म-दर्शन रहता है। वह सुखपूर्वक रहता है अर्थात् कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, देह सबकी चेष्टाओं को छोड़ा हुआ होने से निरायास प्रसन्न रहता है। इन सबसे जब चेष्टा करता है तभी आदमी को परिश्रम होता है, थकावट होती है। वह इनसे

कर नहीं रहा है इसलिऐ आयासरहित है, अतः निरंतर सुख का अनुभव करता है, प्रसन्नचित्त रहता है। जब तक कोई प्रयोजन अपने सामने है तब तक मन में आयास रहता है। क्योंकि तत्त्वज्ञ के बाह्य सारे प्रयोजन निवृत्त हो गए, कोई भी प्रयोजन है नहीं, आत्मा ही एकमात्र इसका प्रयोजन था और वह प्राप्त हो गया, इसलिये शरीरेन्द्रियों की चेष्टा न होने से भी निरायास है क्योंकि शरीर इन्द्रियाँ जो करती हैं उनमें 'मैं तो कर-करवा नहीं रहा' यह उसे बोध है; और कोई प्रयोजन सामने न होने से मन में भी कोई आयास नहीं है। इन्द्रियाँ मन इत्यादि के ऊट-पटांग आचरण से भी आयास हो सकता है, उसके भी निषेध के लिये कहा वशी। उसने पहले ही इन सबको अपने वश में कर लिया है अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के समय ही कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण, सबके ऊपर इस का वश हो गया है अतः मनमानी प्रवृत्ति ये कर नहीं सकते और स्वयं वह प्रवृत्ति कराता नहीं है।

सब आयास छोड़ कर कहाँ रहता है? 'नवद्वारे पुरे', सात छेद सिर में हैं दो आँखें, दो कान, दो नासिकायें और एक मुँह, ये सात सिर में होने वाले द्वार हैं, इन्द्रियाँ हैं। मल मूत्र के निःसरण के दो दरवाज़े नीचे हैं। इस प्रकार नौ दरवाज़ों वाले पुर में, शहर में, अर्थात् शरीर में रहता है। पुर में राजा रहता है, पुर के अन्य रहने वाले सब प्रकार के कार्य करते हैं और राजा कुछ नहीं करता। इसी प्रकार इस पुर के अंदर आत्मा रहता है, इन्द्रियादि सब कार्य करते हैं परन्तु आत्मा तो अकर्त्ता है, कुछ नहीं करता। जब तक आत्मा इसको 'मेरा पुर' ऐसा मानता है तब तक सब उसके लिए प्रवृत्ति करते हैं, वह सबका प्रवर्तक है। परन्तु जब उसका कोई प्रयोजन नहीं रह गया, तब वे कुछ नहीं करते। इसलिऐ कहा कि कुछ करता नहीं है, न इन्द्रियादि से कुछ करवाता है।

एक शंका होती है कि जितने जीव हैं सभी तो शरीर में रहते हैं, चाहे संन्यासी हों, चाहे असंन्यासी हों। तो भगवान् का यह कहना कि 'शरीर में रहता है' किस अभिप्राय से है? वस्तुतः यदि अज्ञानी से तुम प्रश्न पूछते हो कि 'तुम कहाँ बैठे हो?' तो कहता है, 'मकान में बैठा हूँ, तख़्त पर बैठा हूँ, ज़मीन पर बैठा हूँ।' यही सब कहता है क्योंकि शरीर को अपना आत्मा मानने के कारण शरीर जहाँ बैठा है, वहाँ 'मैं बैठा हूँ', ऐसा मानता है। जबकि जो सर्वकर्मसंन्यासी है वह शरीर इत्यादि को अपना आत्म-स्वरूप नहीं मानने के कारण, शरीर जहाँ बैठा है वहाँ 'मैं बैठा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं करता वरन् 'मैं शरीर में बैठा हूँ' यही उसे लगता है। जो देहमात्रात्मदर्शी है, वह शरीर में बैठा नहीं है, शरीर-रूप होकर बैठा है, किंतु तत्त्वज्ञ शरीर में बैठा है क्योंकि शरीर-रूप होकर नहीं रहता। देहादि संघात से अतिरिक्त जो अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव करता है उसको ही यह प्रतीति होती है कि 'मैं शरीर में बैठा हूँ।' अपने से अन्य कोई काम करे तो उसमें किसी को यह अध्यारोप नहीं होता 'मैंने किया'। चोर ने चोरी की तो किसी भी घरवाले को नहीं लगता कि 'मैंने चोरी की।' जब अज्ञान के द्वारा अपने अंदर अध्यारोपित कर

लेता है, अध्यास कर लेता है, कि 'यह मैं हूँ', तभी दूसरे का किया भी लगता है कि 'मैंने किया।' जब ज्ञान के द्वारा विवेक विज्ञान स्पष्ट हो जाता है कि शरीरादि मैं नहीं हूँ तब फिर शरीरादि के करने से 'मैंने किया' यह बोध नहीं हो सकता। इस प्रकार जिसे विवेक, ज्ञान उत्पन्न हो गया है वह सर्वकर्मसंन्यासी ही होता है। अतः शरीर में बैठा है इस का तात्पर्य है कि आत्म-ज्ञान का अनुभव प्रारब्ध द्वारा प्राप्त भोगायतन के अंदर ही होता है, जहाँ बैठ कर ज्ञान हुआ है, ज्ञानी वहीं रहता है। प्रारब्ध कर्म के जो अवशिष्ट भोग हैं, उन को वहीं भोगकर नष्ट कर देता है। न कहीं बाहर जाता है न कहीं अंदर जाता है, जहाँ बैठा है, वहीं प्रारब्ध शेष के कारण रहता है। वह शरीर में बैठा है ऐसा है नहीं, पर जिस जगह बैठ कर उसको ज्ञान हुआ, उस जगह के संस्कार अभी हैं, बस इतने मात्र से वह शरीर में बैठा हुआ है, इसलिए उस शरीर के अंदर जो विशेष विज्ञान हो रहे हैं उनको वह देखता रहता है। जो अज्ञानी है वह इस प्रकार के अध्यास से रहित नहीं होने से शरीर के साथ एक होकर घर, आसन, ज़मीन इत्यादि पर बैठा रहता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों शरीर में होने वाले विशेष विज्ञानों का अनुभव करते हुए भी दोनों की प्रतीति में भेद है।१३।।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसा नहीं कि 'आत्मा वहाँ है इतने मात्र से शरीर आदि कर्म कर रहे हैं। आत्मा के होने से इनकी प्रवृत्ति है क्योंकि वह करवाता है।' किन्तु वस्तुतः आत्मा इनसे करवाता नहीं है। अज्ञानी में भी आत्मा करवाता नहीं है, आत्मा तो अध्यास के कारण उनके करने पर अपने को करने वाला और करवाने वाला मान लेता है। जिस प्रकार तेज़ गाड़ी में बैठ कर आते हैं, गाड़ी खड़ी हो जाती है तब उस तेज़ गति के संस्कार से थोड़ी देर तक लगता रहता है कि चल रहे हैं। बहुत बार तो उतरने के बाद भी लगता रहता है कि चल ही रहे हैं! ठीक इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग करते हुए ही अध्यास-निवृत्ति होकर अकर्त्तापन में स्थिति हुई। प्रारब्ध भोग के जो संस्कार हैं, उनके कारण प्रतीति होती रहती है कि कुछ हो रहा है। आत्मा में वस्तुतः न कर्त्तापना है, न वह करवाता है। तब एक शंका होती है कि श्रुतियों के अंदर परमात्मा को करवाने वाला कहा है जिसको ऊपर ले जाना चाहता है, उससे पुण्य कर्म करवाता है, जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे पाप कर्म करवाता है; अतः क्या परमात्मा को कारयिता मान ही लें? भगवान् समाधान देते हैं

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

देहादि लोक के कर्तृत्व और कर्म को प्रभु उत्पन्न नहीं करता, न कर्म के फल से संबंध ही उत्पन्न करता है, किंतु अविद्यारूप प्रकृति ही प्रवृत्त होती रहती है।

प्रभु सबका मालिक परमात्मा दोनों दृष्टियों से प्रभु है सारे संसार के रूप में वही

बना इसलिए प्रभु है और सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला होने से भी प्रभु है। किंतु दोनों ही बातें परमात्मा में बनती नहीं हैं। लोगों में कर्त्तापने को वह उत्पन्न नहीं करता, वह जीवों को कर्त्ता नहीं बनाता है कि 'तुम करो।' और कर्म जो यह सारी सृष्टि है, जिसको लेकर के सारे कर्म होते हैं, उसे भी वह नहीं बनाता। न जीव में कर्तृत्व का आपादन करता है और न रथ आदि का निर्माण करके उनकी प्रवृत्ति का हेतु बनता है। 'न कर्मफलसंयोगं' कर्म और फल का संयोग भी करने वाला वह नहीं है। न वह जीव में कर्त्तापना लाता है, न भोग्य पदार्थों का निर्माण करता है और न कर्म के फल का संयोग करके उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति का हेतु बनता है।

करने वाला है कौन? 'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते' स्वभाव प्रवृत्त हो रहा है। भगवान् गौडपादाचार्य ने बताया कि परमात्मा में कोई स्पृहा हो नहीं सकती, इसलिए उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं, स्वभाव को ही कारण मानना ठीक है। जीव का स्वभाव है अविद्या। जीव, जीव है क्यों? अविद्या वाला है इसलिए। उसकी स्वभावरूप वह अविद्या ही उसको प्रवृत्त कर देती है। इसी प्रकार परमेश्वर, परमेश्वर है क्यों? उसका स्वभाव क्या है? समष्टि अविद्या या माया ईश्वर का स्वभाव है। वह जो सृष्टि, स्थिति, लय, फलदान इत्यादि करते हुए दीखता है, वह सब माया के कारण। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाली केवल अविद्या है, माया है। इसी को आगे (७.१४) भगवान् कहेंगे 'दैवी ह्येषा गुणमयी'। स्वभाव का मतलब यहाँ अविद्या है। जब तक वह है तब तक करना-कराना है और अविद्या की निवृत्ति होने पर कहीं कुछ भी न हुआ है, न होता है।

वस्तुतः परमात्मा जीवों में कर्तृत्व आपादन करने वाला नहीं है। प्रतीति यही होती है आत्मा शरीर में है इसलिए करता है, मुर्दा हो गया, आत्मा निकल गया, इसलिए कुछ नहीं करता। पर वस्तुतः सर्वव्यापक होने से आत्मा तो मुर्दे में भी है ही! यदि आत्मा का कर्त्तापना होता तो सर्वव्यापक होने से मुर्दे में भी आत्मा है तो वह भी करता। मुर्दे के अंदर सूक्ष्म शरीर नहीं है। सूक्ष्म शरीर का भाग है अन्तःकरण, और अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में चेतन का आभास पड़ता है, वह चिदाभास ही सब कुछ करने वाला है। क्योंकि चिदाभास चित् के कारण है इसलिए कह दिया जाता है कि आत्मा के कारण सब कुछ हुआ, परन्तु वस्तुतः आत्मा का जब अहंकार की वृत्ति में चिदाभास पड़ता है तब शरीर में कर्तृत्व रहता है। अन्तःकरण अथवा अन्तःकरण का कारण अविद्या जीव की उपाधि है। आत्मा के बिना अन्तःकरण नहीं कर सकता यह तो ठीक है, परन्तु आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, अहंकार के अंदर प्रतिबिम्बित होने पर उस प्रतिबिम्ब से सारा कर्तृत्व है। आत्मा में कर्तृत्व नहीं है। आत्मा का कर्तृत्व अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर है, अहंकारात्मिका वृत्ति ही जीव का स्वभाव है। 'मैं' यह अनुभव जो करता है, वही जीव है। इसलिए कहा 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।'

जैसे आत्मा करता नहीं है वैसे ही आत्मा ने सृष्टि के सारे पदार्थ बनाए भी नहीं। सब

कुछ परमात्म-रूप है, इसका मतलब है कि घट पट आदि सभी में परमात्मा है, तब ये चीज़ें प्रतीत होती हैं। जैसे रस्सी है तो साँप जलधारा, दण्डा, सब दीखते हैं परंतु उनको वह रस्सी *बनाती* तो नहीं है। बिना रस्सी के वे बन नहीं सकते,इसलिए कहा जाता है कि रस्सी ही साँप को बनाने वाली है, परन्तु वस्तुतः रस्सी साँप को नहीं बनाती। रस्सी का जो अज्ञान है, उस अज्ञान की जो विक्षेप-शक्ति है, वही सर्प इत्यादि का निर्माण करती है। इसी तरह, जो व्यापक आत्मा का अज्ञान है, माया है, उसकी विक्षेप शक्ति से सारा जगत् बनता है। वह माया परमेश्वर का स्वभाव है, इसलिए कहा जाता है कि परमेश्वर ने बनाया। परमेश्वर है, इसलिए माया से बनता है। जैसे जीव के संबंध में, अंतःकरण की उपाधि मात्र कर्त्ता नहीं, अन्तःकरण की उपाधि में पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है, वही कर्ता है, इसी प्रकार माया-उपाधि से विशिष्ट जो चेतन है वही सब पदार्थों को बनाने वाला है। उसका स्वभाव माया है जिसकी यह सब प्रवृत्ति है।

कर्म-फल-संयोग भी आत्मा नहीं करता। परमेश्वर की सिद्धि में सबसे बड़ा कारण ही दिया जाता है कि अगर परमेश्वर नहीं हो तो कर्मफल की संगति नहीं बैठेगी। कर्म तो जिस क्षण में किया गया उसी समय नष्ट हो गया, अतः कर्म खुद कालान्तर में फल दे नहीं सकता क्योंकि वह कर्म नष्ट हो चुकता है। उस कर्म से एक अपूर्व माना जाए, उस अपूर्व के अंदर किस समय फल देगा, किस जगह फल देगा आदि निर्धारण-सामर्थ्य मानी जाये ये सब कल्पनाएँ करने की अपेक्षा ईश्वर को फल देने वाला मानने से सारी चीज़ें संगत हो जाती हैं। अतः उसको कर्मफलसंयोग कराने वाला कहते हैं। परन्तु कर्मफल-संयोग कराने वाला वह कैसे है? माया की शक्ति है जिससे कर्म और कर्मफल का संबंध होता है। कर्म के फल का जब समय होता है तभी माया से वह पदार्थ उपस्थित हो जाता है। माया बिना परमात्मा के स्वतः कार्य नहीं कर सकती, इसलिए कहा जाता है कि परमात्मा ने फल दिया, परंतु वस्तुतः उस माया के अंदर ही फल देने की वृत्ति है। इसलिए कर्मफल-संयोग भी आत्मा का *स्वरूप* नहीं है। माया के कारण परमेश्वर में फलदान की सामर्थ्य है।

इसलिए चाहे कर्तृत्व हो, चाहे कर्म हो, चाहे कर्मफल-संयोग हो, इन सबको करने वाला एकमात्र अज्ञान ही है। जिस आज्ञन ने अन्तःकरण का स्वरूप लिया है, वह जीव-भाव की उपाधि हो जाता है और जो अज्ञान समष्टि-रूप से विद्यमान है, वह अज्ञान ईश्वर की उपाधि हो जाता है। इसलिए कहा 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।' ।।१४।।

आत्मा कर्ता-कारयिता नहीं है तो बुद्धि से कर्म करना, परमेश्वर की पूजा करना, अर्चना करना, उससे क्षमा-याचना करना इत्यादि क्यों किया जाता है? उत्तर है कि सब पारमार्थिक दृष्टि से नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से है। व्यावहारिक आत्मा हो गया जीव और ईश्वर। इसलिए जब तक व्यावहारिक जीव हैं, तब तक व्यावहारिक ईश्वर है, तब तक ईश्वर शासन करने वाला है, जीव शासन में रहने वाला है। परन्तु एक बार अज्ञान की

निवृत्ति हो जाने पर उस परमात्म-भाव के अंदर न आवरण है, न विक्षेप है। परमार्थ-स्थिति यह है

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

व्यापक चेतन न किसी का पाप ग्रहण करता है, न पुण्य। अज्ञान से विवेक-विज्ञान ढका होने से जन्तु इस मोह में पड़े रहते हैं कि हम करते-कराते, भोगते-भुगवाते हैं।

'विभुः' जो विशेष रूप से, ईश्वर रूप से प्रतीत होता है। संसार के सारे रूपों को उसने धारण किया है। माया के अंदर ईक्षण में प्रतिबिम्बित हुआ अर्थात् माया उपाधि वाला तो वह सारे जगत् का कारण है, विष्णु शंकर आदि रूपों के अंदर वही सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, कर्मफलदाता इत्यादि है, यों विभिन्न विशेष रूपों वाला होने से विभु है। जिस प्रकार सारे सूक्ष्म शरीर में आत्मा एक जैसा रहता है, फिर भी 'मैं' इस वृत्ति के अंदर ही उसका विशेष प्रकाश होता है, है वह प्राण में, इन्द्रियों में भी, पर विशेषरूप से चेतनता का भान हमेशा 'मैं चेतन हूँ' इस वृत्ति में होता है; इसी प्रकार कण-कण और क्षण-क्षण में परमेश्वर है, वह सूअर के शरीर में भी वैसा ही है जैसा ब्रह्मा के शरीर में, परन्तु जैसा उसका विशेष प्रकाश विष्णु शंकर आदि रूपों में प्रतीत होता है वैसा अन्यत्र प्रतीत नहीं होता। उस विभु की ही सब लोग उपासना, ध्यान-धारणा आदि करते हैं। वर्तमान में बहुत से ऐसे लोग होते हैं जो कहते हैं कि जब परमात्मा सर्वरूप है तो बाल गोपल में भी वही परमात्मा है, उन्हीं की सेवा पर्याप्त क्यों नहीं? सर्वत्र विद्यमान परमात्मा है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु जहाँ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वसामर्थ्य, आदि रूपों की प्रतीति होती है वहीं वह आराधनीय है, पूजनीय है। उस विभु की पूजा करते हैं तो कहते हैं 'भगवान् हमारे पाप क्षमा कर देना'। वास्तव में वह किसी का भी पाप ग्रहण नहीं करता है। आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि चाहे जितना भक्त होवे, उसका पाप परमात्मा लेता नहीं है, ग्रहण नहीं करता है। जब हम पुण्य करके कहते हैं 'कृष्णार्पणमस्तु' तब भी वह लेता नहीं।

इसे दृष्टान्त से समझो : काँच में तुम्हारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। तुमने बिम्बरूप अपने सिर के ऊपर चंदन की टीकी लगाई तो प्रतिबिम्ब पर स्वतः लग जाती है। और यदि तुम टीकी को प्रतिबिम्ब के ऊपर लगाने की चेष्टा करो, काँच की तरफ हाथ ले जाकर लगाने की चेष्टा करो, तो प्रतिबिम्ब पर टीकी लगती नहीं, काँच पर रह जाती है! बिम्ब पर टीकी लगाते हो तो प्रतिबिम्ब पर पहुँच जाती है, पर प्रतिबिम्ब पर टीकी लगाते हो तो प्रतिबिम्ब पर पहुँचती नहीं, काँच में अर्थात् उपाधि में रह जाती है। इसी प्रकार तुमने जो सुकृत किया वह अगर तुमने परमेश्वर के अर्पण कर दिया, बिम्ब के अर्पण कर दिया, तब तो वह सुकृत तुम्हारी वास्तविक शोभा का कारण हो जाता है। तुम्हारी वास्तविक शोभा है अज्ञान की निवृत्ति होकर स्वप्रकाश स्वरूप की प्राप्ति। जो तुमने अपना सुकर्म परमात्मा के अर्पण

किया, वह तो तुम्हारे चेहरे के प्रतिबिम्ब की भी शोभा का कारण बन जाता है। और अगर तुमने टीकी प्रतिबिम्ब पर लगाने की चेष्टा की तो वह काँच पर रह जाएगी प्रतिबिम्ब पर नहीं जाएगी; इसी प्रकार यदि तुमने सुकृत किया और खुद उसका फल चाहा, तो वह फल अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जो तुम्हारी उपाधि है, उसके साथ ही रह जाएगा। अर्थात् उसका फल शरीर से लेकर अहम् पर्यन्त तो मिलेगा, परन्तु तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को मिलेगा नहीं। जो यह कहा जाता है कि परमेश्वर तुम्हारा सुकृत लेते हैं, उसका मतलब इतना ही है कि वह सुकृत तुम्हारी चित्तशुद्धि में उपयुक्त हो जाता है, सारे कर्मों का जो वास्तविक फल है आत्म-स्वरूप में स्थिति, उसके लिए वह सहायक हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि पाप यदि परमात्मा के अर्पण करें तो क्या होगा? पहले तो पाप परमात्मा के अर्पण करने का कोई विशेष विधान है नहीं। उसका मतलब इतना ही हो सकता है कि यदि तुम परमेश्वर का आश्रय कर लेते हो तो उस पाप का फल तुम्हारे आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति का बाधक नहीं बनता। उपाधि को तो फल मिलेगा, आत्मा को फल मिलेगा नहीं क्योंकि वह उपाधि तक ही रहेगा, आत्मा को कभी प्राप्त होगा नहीं। इसलिए कहा जाता है कि वह तुम्हारे पाप को जला देता है, नष्ट कर देता है। यहाँ भगवान् ने कहा है 'न आदत्ते', ग्रहण नहीं करता है अर्थात् तुम्हारे पाप का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता।

फिर भगवान् पर तुम जल चढ़ा के, चंदन चढ़ा के, भस्म चढ़ा के पूजा किसलिए करते हो, अथवा वेद-पाठादि, स्तुति-पाठादि किसलिए करते हो, अथवा दान आदि क्यों करते हो, होम आदि क्यों करते हो, क्या प्रयोजन है उसका? 'अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्' अज्ञान के द्वारा जो तुम्हारा वास्तविक विज्ञान है, कि वह परमात्मा ही एकमात्र देव है, उस को तुमने अब तक समझा नहीं इसलिए 'मैं करता हूँ, परमात्मा करवाने वाला है, फल देने वाला है', यह अज्ञान मौजूद है, इसलिए करते हो। जब तक 'मैं जीव हूँ' तब तक शासन करने वाला ईश्वर रहेगा ही, जीवभाव के रहते ईश्वर-भाव जा नहीं सकता। प्राणिमात्र निरंतर दो चीज़ों को अनुभव करते हैं कई कामों में हमारा स्पष्ट अनुभव है 'मैं करूँगा तो होगा।' जबरदस्ती तुम हमारे मुँह में कौर डाल सकते हो परंतु मैं निगलूँगा तभी नीचे जाएगा! यहाँ स्वतंत्रता का बोध होता है। छठी भूमिका तक उपाधि के साथ संबंध है तो मुँह में डाला हुआ निगल लेता है और सप्तम भूमिका में जब उपाधि के साथ कोई संबंध नहीं रहता तब मुँह में डाला हुआ वहीं पड़ा रहता है, निगला भी नहीं जाता। अनेक स्थलों में यही अनुभव होता है कि 'मैं करूँगा तब होगा।' अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ अनुभव है कि 'मैं परतंत्र हूँ।' बहुत स्थल ऐसे आते हैं। गाड़ी बिल्कुल धीमे चला रहे हो, एक तरफ से बड़ा ट्रक आ जाये, बिल्कुल सिर के ऊपर आ जाये तो क्या कर सकते हो? यही लगता है कि परतंत्र हैं। ऐसे स्थल में यदि अकस्मात् बचाव हो जाता है तो सबके मन में यही होता है कि भगवान् ने बचा लिया। उस समय यह प्रतीति नहीं होती है कि 'मैंने बचा

लिया।' स्वतंत्रता की और परतन्त्रता की हर मनुष्य को प्रतीति होती है। जब तक जीवभाव है तब तक ये प्रतीतियाँ रहेंगी। परतंत्रता का कारण तो मेरा स्थूल सूक्ष्म शरीर है, स्वतंत्रता का कारण कौन है? ईश्वर है। जीवभाव के रहते ईश्वरभाव भी निवृत्त नहीं होता। तब तक अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत है, सच्चिदानन्द रूप मैं हूँ यह ज्ञान आवृत है। यहाँ गीता में अज्ञान की आवरण-शक्ति स्पष्ट कह दी।

उस आवरण के कारण ही प्राणी मोह में पड़ते हैं कि 'मैं करता हूँ, मेरे द्वारा करवाया जाता है, मैं भोग करता हूँ, मेरे द्वारा भोग करवाया जाता है।' किसी के घर चला गया, उसने दाल का सीरा खिला दिया। वहाँ भी मैं खाता हूँ, पर साथ में अनुभव होता है, कि 'उसने मुझे खिला दिया।' कई बार यदि पेट खराब हो जाता है शाम को, तो सवेरे परोसने वाले से कहते हैं 'तूने मेरा पेट खराब कर दिया, मुझे ज़बरदस्ती खिला दिया।' क्या मुँह में ठूस कर उसने तुम्हारी नाक पकड़ी थी? फिर भी अनुभव यही होता है कि मुझे खिला दिया। खाता हूँ, खिलाता हूँ, करता हूँ, करवाता हूँ मुझे ये अनुभव होते हैं। यही जीवभाव है, यही मोह है, क्योंकि वस्तुतः आत्मा न करता है, और न कराता है। जब तक जीवभाव है तब तक परमेश्वरार्पण इत्यादि सब कर्त्तव्य ही हैं परन्तु हैं सारे व्यावहारिक, पारमार्थिक नहीं हैं।।१५।।

सभी का ज्ञान आवृत है तो संसार से निवृत्ति कैसे होगी? इस पर भगवान् कहते हैं

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जिनका वह अज्ञान आत्मविषयक ज्ञान से नष्ट हो चुकता है उनके लिये वह ज्ञान उस परम तत्त्व को वैसे ही प्रकाशित कर देता है जैसे आदित्य सारे रूपों को प्रकाशित कर देता है।

जीव कर्त्ता है, ईश्वर कारयिता है आदि तरह से आत्मा में जीव-ईश्वर भावों की प्राप्ति कराने वाला ज्ञान जिन प्राणियों का नष्ट हो चुकता है उन्हें परमार्थ वस्तु का स्फुट अवभास रहता है। जीव-ईश्वरभावों के भेद का अध्यास कराने वाला, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि मोह कराने वाला अज्ञान तत्त्वमस्यादि वाक्य से नष्ट होता है। आत्म-विषयक ज्ञान के द्वारा वह अज्ञान नष्ट होता है। आत्मा के बारे में ही अज्ञान है अतः आत्मा का ज्ञान होने पर ही वह नष्ट हो सकता है। इसी को वेदान्त की शास्त्रीय भाषा में मूलाज्ञान कहते हैं। आत्म-विषयक तत्त्वमस्यादि वाक्य से होने वाले ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो गया वे परमार्थदर्शी हैं। जब तक अज्ञान है तब तक सारे व्यावहारिक कार्य हैं। व्यावहारिक भूमि पर पारमार्थिकता नहीं हो सकती, यह हमेशा याद रखना चाहिए। सपने की प्यास मिटाने के लिए सपने का कुआँ ही काम आएगा। तुम सपने के अंदर थार के जबरदस्त रेगिस्तान में जा रहे हो, भयंकर धूप पड़ रही है, ज़ोर की प्यास लगी हुई है, तुम्हारे सिरहाने रखा

हुआ बादले का गुलाब जल से सुंगधित ठंडा पानी सच्चा है पर तुम्हारे सपने की प्यास को मिटा नहीं सकता! सपने की प्यास बुझाने के लिए तो तुमको जब तक सपने का पानी नहीं मिलेगा, तब तक प्यास बुझेगी नहीं। इसी प्रकार व्यवहार की भूमि में तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप व्यवहार की भूमि के सुख दुःख को मिटा नहीं सकेगा। उसके लिए तो व्यावहारिक भूमि के परमेश्वर की ही आराधना, पूजा, दान, होम फल देने वाले होंगे। पारमार्थिक दृष्टि से सारा ज्ञान तुम्हारे पास है परन्तु वह काम का नहीं है जब तक तुम व्यवहार भूमि में हो। जिनका अज्ञान नष्ट हो गया, वे परमार्थ भूमि में स्थित हैं, उनको सदा परमार्थ का अनुभव रहता है। जैसे सूर्य का तेज प्रकाश कहीं अंधकार को नहीं रहने देता वैसे ही मूलाज्ञान के नष्ट होते ही कैसा भी अज्ञान व उसका कार्य वास्तव में रह नहीं जाता। वह जो परम परमार्थ तत्त्व है, परमात्म तत्त्व है, जीव-ईश्वर विभाग से रहित आत्म-स्वरूप है, वही प्रकाशित होता है, प्रकाश रूप से रहता है। आदित्य जो है उस सबको प्रकाशित कर देता है, सब स्पष्ट हो जाते हैं। अज्ञान के कारण जो बिना हुए प्रतीत होते थे उन्हें सूर्य प्रकाशित नहीं करता। सूर्य ठूंठ को तो प्रकाशित कर देता है पर उस ठूंठ में जो भूत दीखा था अंधेरे में, वह भूत सूर्य के प्रकाश में भी दीखता है क्या? यह नहीं कह सकते कि सूर्य सबका प्रकाशक नहीं है क्योंकि सबका प्रकाशक होता तो ठूंठ के भूत को भी दिखलाता! इसी प्रकार जो सच्चिदानन्द है वह सारा प्रकाशित हो जाता है पर अज्ञानरूप अंधकार से जो कल्पित पदार्थ हैं वे परमार्थ ज्ञान से प्रकाशित नहीं होंगे। जो परमात्म तत्त्व है, वह सूर्य की तरह सब चीज़ों को प्रकाशित कर देता है अर्थात् जो चीज़ है उसको प्रकाशित कर देता है।।१६।।

इसकी प्राप्ति कैसे होती है? ज्ञान कब उपलब्ध होता है, जो मूलाज्ञान को नष्ट कर देता है? उसके साधन का निरूपण करते हैं

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

जिनकी बुद्धि परमात्मा में ही लगी है, उसे ही जो अपना आत्मा जानते हैं, सब कर्म छोड़ कर उसी परमात्मस्वरूप से रहते हैं, उसी में जिन्हें रति है, ज्ञान से जिन्होंने अज्ञानरूप दोष मिटा दिया है, वे वह स्थिति प्राप्त करते हैं जहाँ फिर देह से संबंध नहीं है।

'तद्बुद्धिः' उसके विषय में ही जिनका निरंतर विचार चलता है, बुद्धि उसी का निश्चय करने में लगी रहती है। हम लोग असत् का निर्णय करने में लगे रहते हैं, घंटों लग जाते हैं इस चर्चा में कि प्रधान मंत्री यह बनेगा कि वह बनेगा! जहाँ थोड़ा आत्मा का विचार होने लगे, वहाँ आधे घंटे के बाद सिर में दर्द हो जाता है, कहते हैं 'अब बहुत हो गया, ज़रा हल्की-फुल्की बातें कर लो।' तो हमें अपुनरावृत्ति की प्राप्ति कैसे होवे? निरन्तर जो परमात्म-विषयक विचार में, परमात्मा के स्वरूप के विचार में ही लगे रहते हैं वे ही मुक्त

होते हैं। परमात्मा के विचार में बहुत-से उपासक द्वैतवादी लगे रहते हैं। वे रात-दिन परमेश्वर के चरित्रों का पुराणों के द्वारा विचार करते हैं। विचार तो परमात्मा के विषय में ही करते हैं पर परमात्मा के नाम-रूप का करते हैं, स्वरूप का ही नहीं करते। अतः कहते हैं 'तदात्मानः' विचार कैसा करना है? जो परब्रह्म है, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। जिस ब्रह्म का विचार कर रहे हैं, उस ब्रह्म का विचार अन्य रूप से नहीं, आत्म-रूप से करना है। अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि 'जो, देवता अन्य है और मैं अन्य हूँ ऐसा समझता है, वह समझता ही नहीं है।' 'तद्बुद्धयः' परमात्मा के विषय में विचार करते हैं कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है। और 'तन्निष्ठाः' उसी में निष्ठा वाले हैं। जब किसी को कहते हैं कि यह जपनिष्ठ है तब मतलब है कि बाकी व्यवहारों को किसी तरह निभाता है, हर समय जप में ही लगा रहना चाहता है। इसी प्रकार ये तन्निष्ठ हैं, जो ब्रह्म से अभिन्न आत्मा है, उसमें ही निष्ठा वाले हैं। इसलिए बाकी सब कर्मों का परित्याग करके परमात्मा में ही निष्ठा रखते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि निष्ठा मायने अभिनिवेश। सारे कर्मों को छोड़ करके, श्रौत-स्मार्त सभी कर्मों को छोड़ कर, केवल परमात्मा के विषय में जहाँ प्रतिपादन है, उन्हीं के विचार में लगे रहते हैं।

'तत्परायणाः' उसी के अंदर निरंतर 'अय' मतलब गति करते हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाते हैं, उसको अयन कहते हैं, जैसे सूर्य के उत्तर और दक्षिण अयन होते हैं। इसी प्रकार जो ब्रह्म का स्वरूप है, उसी में निरंतर उनका अयन है, उसी तरफ बार-बार जाते हैं। किसी भी अनुभव को, किसी भी विचार को तुरंत परमात्मा की तरफ ही ले जाते हैं। भाष्यकार अर्थ करते हैं कि वे आत्मा में रति वाले होते हैं। र का ल होकर हिन्दी में रति को 'लत' कहते हैं। जिसकी लत पड़ी होती है, उसी तरफ आदमी बार-बार जाता है। आजकल चाय पीने की लत होती है लोगों को। कैसी भी दुकान है, गन्दी से गंदी दुकान है, गंदे से गंदा प्याला है, फिर भी वहाँ चाय पी लेते हैं। जिसको चाट खाने की लत है, उसको कुछ पढ़ा-लिखा याद नहीं आएगा, सड़क पर खोमचे से लेकर खाने लगेगा। इसी प्रकार ये आत्म-रति हैं, किसी भी परिस्थिति के अंदर बार-बार हर चीज़ के अंदर आत्मा का ही पता लगाते रहते हैं। कहीं सत्-रूप से देखते हैं, कहीं चित्-रूप से देखते हैं, कहीं आनंद-रूप से देखते हैं और तुरंत पहचानने का प्रयत्न करते हैं कि सत् मेरा आत्मा है, चित् मेरा आत्मा है, आनंद मेरा आत्मा है। इस प्रकार से केवल आत्मा में ही, उस सच्चिदानंद में ही उनकी रति रहती है।

ज्ञान से उनके मल, आवरण, विक्षेप सारे ही नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा का एक बार नाम लेने से कई जन्मों के पाप कटते हैं, ऐसा शास्त्र कहता है। ये तो निरंतर परमात्मा का ही चिंतन कर रहे हैं अतः मल बीज से ही नष्ट हो जाते हैं। सच्चिदानन्द के सिवाय दूसरी चीज़ उनकी बुद्धि में आती ही नहीं, इसलिए विक्षेप भी दूर हो जाता है और क्योंकि बार-बार उपनिषदों के तत्त्वमस्यादि के ऊपर विचार करते हैं इसलिए आवरण भी नष्ट हो

जाता है। मल, आवरण और विक्षेप, तीनों ही कल्मष नष्ट हो जाते हैं अतः कहा कि वे 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' हैं। तब फिर आगे देह सम्बन्ध का कोई कारण रह नहीं जाता क्योंकि कल्मष सारे नष्ट हो गए।।१७।।

अज्ञान मिट जाने पर प्रारब्ध-भोगकाल में, व्युत्थान दशा में सर्वत्र तत्त्व कैसे देखा जाता है यह बताते हैं

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में पण्डित समदर्शी होते हैं।

पण्डित व्यवहार-काल में समदर्शी होता है अर्थात् उपाधियों के अंदर अधिष्ठान रूप से जो सच्चिदानन्द है, उसको ही प्रधानता देकर उपाधि में होने वाली विषमताओं का बाध करता रहता है। साधारण व्यक्ति को तो केवल उपाधि ही दीखती है। जो हर चीज़ का वास्तविक सच्चिदानन्द रूप है वह अज्ञानी को ग्रहण ही नहीं होता। वह उपाधि से एक हुआ ही प्रतीत होता है। रस्सी में साँप दीखता है तो रस्सी का ग्रहण तो हो रहा है क्योंकि जो तुम कहते हो 'यह साँप है', इसमें 'यह'पना और 'है'पना रस्सी का है। क्यों रस्सी का है? रस्सी दीखने पर भी 'यह रस्सी है', यही दीखता है। अर्थात् जब तुमको सच्ची चीज़ दीखती है तब भी 'यह' हिस्सा और 'है' हिस्सा रहता ही है, 'यह है' वाला हिस्सा तो रहता ही है। कौन-सा हिस्सा हटता है? सर्प का हिस्सा हट जाता है। इसलिए 'यह साँप है' में भी 'यह है' इतना तो रस्सी का ज्ञान है। 'यह' मतलब सामने होना। साँप भी सामने ही दीखता है पर 'सामने दीखनापना' तो रस्सी का है। यद्यपि यह है तुमको दीखता है, तथापि सांप से एक होकर दीखता है, साँप से अलग होकर नहीं दीखता है। इसलिए तुमको केवल यह है का बोध नहीं होता, साँप में ही यहपना और हैपना दीखता है। हैं वे दोनों रस्सी के। रस्सी देखने से ज्ञान होता है कि यह रस्सी है; फिर विचार करते हो कि साँप तो कल्पित, झूठ ही दीखा था। और सूक्ष्म विचार करते हो तो पता लगता है कि साँप में जो 'यह है' दीखा था, वह तो प्रमा में भी प्रतीत हो रहा है, इसलिए यह रस्सी के अंदर ही सचमुच में था, साँप में झूठमूठ ही दीखा था। झूठमूठ में दीखने को ही शास्त्रीय भाषा में अध्यास कह देते हैं। ठीक इसी प्रकार से हम को 'घड़ा है' दीखता है। 'है' वस्तुतः तो सत्-रूप परमात्मा है परन्तु वह घड़े से एक हुआ दीखता है। घड़े से अलग 'है' अधिष्ठान रूप से प्रतीत नहीं होता। जिसने रस्सी देख ली है और समझ लिया है कि यह हैपना रस्सी का है, वह जानता है कि 'यह साँप है' जो दीखा था, उसमें 'यह है' हिस्सा रस्सी का ही था। इसी प्रकार जो ज्ञाननिष्ठ हो गया, वह जब 'घड़ा है' देखता है तब जानता है कि 'है-पना' ब्रह्म का है, घड़ापना कल्पित है, मिथ्या है। 'है-पना' सबमें एक

जैसा है। घड़ा है, कपड़ा है, रसगुल्ला है, आदमी है, घोड़ा है, गधा है, सब जगह 'है' एक जैसा है।

ऐसे ही जब ज्ञानी प्राणियों को देखता है, ज़िन्दगी वाली चीज़ों को देखता है, तब उनके चलने-फिरने से यह चेतन है ऐसी प्रतीति भी होती है। जो खुद चल रहे हैं, हिल रहे हैं, डुल रहे हैं, बोल रहे हैं, खा रहे हैं, हग रहे हैं; ईट पत्थर ऐसा करते नहीं, इसलिए उनमें चेतनरूपता ज़रूर है। हम लोगों को दीखता है कि देवदत्त चेतन है। जैसे 'है-पना' घड़े में दीखता है इसी प्रकार साधारण आदमी को दीखता है 'देवदत्त चेतन है, घोड़ा चेतन है, चींटी चेतन है', अर्थात् देवदत्त, घोड़ा और चींटी से चेतन एक हुआ दीखता है। जिसने चेतन को सच्चिदानन्द रूप से पहचान लिया, ज्ञाननिष्ठ है, वह जानता है कि चेतन तो एक है, उसमें ये देवदत्त, घोड़ा, चींटी, अध्यस्त हैं, इसलिए उससे एक होकर प्रतीत हो रहे हैं। 'चेतन है' यह हिस्सा दीखता तो हम लोगों को भी है, लेकिन वह चेतन ब्रह्म है यह हम लोगों को नहीं पता लगता। ज्ञान-निष्ठ उसको समझ लेता है।

तीसरा है आनंदरूप। कलकत्ते का बाग बाज़ार का रसगुल्ला खाया, तो बड़ा आनन्द आया। अज्ञानी को तो लगता है कि 'रसगुल्ले से आनन्द आया।' ज्ञानी जानता है कि आनन्द तो ब्रह्म का रूप है। जो आनन्द आया वह तो ब्रह्मरूप है। जिस प्रकार से चींटी का चेतन ब्रह्म-रूप है, इसी प्रकार रसगुल्ले का आनंद ब्रह्मरूप है। जैसे रसगुल्ला, वैसे ही कोई अपना प्रिय मित्र दीख गया तो आनन्द होता है। वहाँ जो विषय प्रिय मित्र है वह चेतन भी है और आनंदरूप भी है। वह आनंद ब्रह्मरूप है। कैसे है? ज्ञानी इस बात को जानता है कि रसगुल्ला, मित्र आदि प्रिय पदार्थ को देखने से वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अन्तर्मुखी वृत्ति आनन्द को ग्रहण करती है। इसलिए जहाँ प्रियता होती है वहाँ सुख का अनुभव होता है। साधारण आदमी को लगता है कि रसगुल्ले से मज़ा आता है परंतु विचारशील जानता है कि रसगुल्ले से मज़ा नहीं आया, रसगुल्ले में जो प्रियता है उससे मज़ा आया। जिसे रसगुल्ला ना-पसंद है उसे ज़बरदस्ती खिलाओ तो वह परेशान होगा, दुःखी होगा, उसे आनंद नहीं आयेगा। विचारशील जानता है कि सुख का कारण प्रियता है। देवदत्त को कुछ प्रिय है तो यज्ञदत्त को उस चीज़ से आनंद नहीं आता। जब मेरे अन्तःकरण ने विषय के अंदर प्रियता को देखा तब वृत्ति अन्तर्मुखी हुई और उसने आत्मतत्त्व को ग्रहण किया, वही आनन्द है। सत् ब्रह्म सर्वत्र देखना सबसे सरल है। इसलिए साधक को हमेशा सत् के ऊपर ज़ोर देने को कहते हैं क्योंकि सीधा समझ में आ जाता है। चेतन में कुछ कठिनाई होती है, आनन्द में और ज़्यादा कठिनाई होती है। ज्ञान-निष्ठ जानता है कि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है। इसलिए रसगुल्ले से जो आनंद आया, वह आनन्द ब्रह्मरूप है, रसगुल्ले-रूपी उपाधि से प्रकट हुआ : रसगुल्ले की उपाधि से अन्तःकरण की वृत्ति अन्तर्मुखी हुई इसलिए प्रकट हुआ। जैसे घड़े के नाम-रूप के साथ सत् एक होकर प्रतीत होता है; देवदत्त, यज्ञदत्त के अंदर चेतन उपाधि से एक होकर प्रतीत

होता है, इसी प्रकार हम लोगों को रसगुल्ला और मित्र आनन्दरूप प्रतीत होता है। परन्तु सच्चिदानन्द वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं, मेरा स्वरूप हैं। किसी भी चीज़ का अनुभव होता है तो पाँच बातों का अनुभव होता है १. यह है, २. यह प्रतीत हो रहा है, ३. प्रिय है ४. इसका नाम रसगुल्ला है और ५. सफेद गोल इसका रूप है। जब हमें कोई ज्ञान होता है तब इन पाँचों चीज़ों का भान होता है। विवेकी जानता है कि 'है', 'प्रतीत होता है' और 'प्रिय है' ये तीनों ब्रह्मरूप हैं और बाकी जो बचे नाम-रूप, वे संसार का रूप हैं। इस तरह सब चीज़ों में ब्रह्म एकरूप है।

'पण्डिताः' अर्थात् जो आत्म-बुद्धि वाले हैं। पण्डा मतलब आत्मबुद्धि। ऐसे ज्ञान-निष्ठ 'समदर्शिनः' सबके अंदर एक जैसा जो ब्रह्म है उसको देखते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे अंधे हों या बहरे हों! नाम-रूप तो देखते हैं, लेकिन नाम-रूप को देखने के साथ ब्रह्मरूप को भी देखते हैं, और उसी को तात्पर्य से देखते हैं। जो जिसे तात्पर्य से देखता है, उसी को *देखने वाला* कहते हैं। जैसे कहते हैं 'सुनार गहने में सोने को देखता है', इसका मतलब यह नहीं है कि गहने का रूप उसको दीखता नहीं है! मतलब है कि रूप को वह कोई कीमत नहीं देखता, उसको प्रधानता नहीं देता। इसी प्रकार समदर्शी का मतलब है कि वे सर्वत्र जो ब्रह्म तत्त्व है, एक जैसा है, उसको ही ध्यान से देखते हैं।

नाम-रूपों का भेद ब्राह्मण आदि कहकर बताया। अन्त में सबसे कनिष्ठ का नाम ले लिया। सबसे श्रेष्ठ है विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण। विद्या आत्मा के विषय में जिसको जानकारी है। कम-से-कम परोक्ष आत्मज्ञान जिसको है, अपरोक्ष न भी हो, वह विद्या-सम्पन्न है। शास्त्रकारों ने कहा है कि आत्म-ज्ञान से विहीन मूढ होते हैं। आत्म-ज्ञान से जो रहित हैं वे चाहे जितने पण्डित होवें, विद्वानों की दृष्टि में वे मूढ ही हैं। जिन्होंने परमात्म तत्त्व के विषय में ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त किया है, चाहे परोक्ष ज्ञान है, 'अस्ति ब्रह्म' इतना ही ज्ञान है, लेकिन यह स्पष्ट है कि सृष्टि स्थिति प्रलय करने वाला, कर्म-फल देने वाला परमात्मा मेरे अंदर बैठा हुआ है, वे विद्या वाले हैं। कुछ लोग वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता होने पर भी उद्दण्ड होते हैं। उनको अपने उस ज्ञान का अभिमान होता है, घमण्ड होता है, गर्व होता है। ज्ञान उन लोगों के गर्व को बढ़ाने वाला होने से अज्ञान से भी ज़्यादा नुकसान करने वाला हो जाता है। शास्त्रकारों ने कहा है 'विद्या ददाति विनयम्।' विद्या से विनय आती है, नम्रता आती है। यदि विद्या ही किसी के विनय को दूर करके उसे उद्दण्ड बनाने वाली होवे तो उसका अत्यंत दुर्भाग्य ही है। अगर माँ किसी बच्चे को ज़हर देने लग जाए तो उस बच्चे को बचाने के लिए हम क्या कर सकते हैं! शिकायत भी किससे करें? दूसरा कोई बच्चे को नुकसान पहुँचाने वाला होवे तो जाकर माँ से कहते हैं, पर माँ ही ज़हर दे रही है तो किससे कहें? इसी प्रकार से यदि विद्या विनय को दूर करने वाली हो गई तो अब क्या कर सकते हैं और किससे शिकायत करें! विनय आने का तरीका तो

आत्म-ज्ञान ही है। जब तक वह प्राप्त न हो तभी तक अक्षरज्ञान विनयनाशक बन सकता है। यहाँ भगवान् ने विद्यासम्पन्न ही नहीं विनयसम्पन्न भी कहा। भगवान् गौडपादाचार्य ने भी लिखा है कि शम होना विप्रों का विनय है। जो विद्या वाला है, विनय से सम्पन्न है और ब्राह्मण है, वह अतिश्रेष्ठ है। शरीर की उपाधि ब्राह्मण श्रेष्ठ, सूक्ष्म शरीर की उपाधि विद्या और विनय भी श्रेष्ठ हैं। जिसके स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर श्रेष्ठ हैं, उत्तम संस्कारों वाला, जो सात्त्विक ब्राह्मण है, वह हो गया सबसे श्रेष्ठ क्योंकि वहाँ सत्त्वगुण पूरी तरह से विद्यमान है। ऐसी श्रेष्ठ उपाधि के अंदर भी तत्त्ववेत्ता अधिष्ठान रूप से सच्चिदानंन्द परमात्मा को देखता है।

मध्यम संस्कार वाली हुई गाय। इसलिए कहा 'गवि संस्कारहीनायाम्'। संस्कार से रहित है, उसका कोई संस्कार हो नहीं सकता। ब्राह्मण के तो गर्भाधान से लेकर सारे संस्कार होंगे, सोलह संस्कारों से युक्त होगा, और गाय सर्वथा संस्कार से रहित है। उसका स्थूल शरीर भी दूध इत्यादि देता है इसलिए राजस है और सूक्ष्म शरीर भी संस्कार से रहित है। उसके अंदर भी वह उसी ब्रह्म तत्त्व को अधिष्ठान रूप से ग्रहण करता है। तीसरा दृष्टान्त दिया हाथी का, जो केवल तमोगुणी है। गाय तो दूध इत्यादि देती है, कुछ करती है तो रजोगुणी है और हाथी तमोगुणी है। हाथी को रखने वाले जानते हैं, कैसा मस्त होता है, मार-मार कर उससे कराना पड़ता है। इसीलिये गाय को रजोगुणी कहा है और हाथी को तमोगुणी कहा। चौथा कहा, कुत्ता। हाथी को भी तमोगुणी कहा, कुत्ता भी तमोगुणी है पर कुत्ते का तमोगुण हाथी के तमोगुण से भी ज़्यादा है। हाथी तो वज़न ढोने का काम कर लेता है, ज़बरदस्ती से सही, लेकिन कर लेता है, पर कुत्ता क्या करेगा? कुछ नहीं। ऐसे अत्यन्त तमोगुणी उपाधि में भी समदर्शी परमात्मा देख लेता है। एक तो कुत्ता ही महातमोगुणी और उस कुत्ते को खाने वाला जो श्वपाक है, चाण्डाल है वह और भी घोर तमोगुणी। मनुष्य जाति में होते हुए भी सारे संस्कारों से रहित है। चाण्डालों के लिए न कोई खाने के संस्कार हैं, चाहे जो खाते हैं, न पीने के संस्कार हैं। मनुष्य शरीर के होकर भी सर्वथा संस्कार-रहित होने के कारण उस को अन्त में गिना। आदि और अन्त में ब्राह्मण और श्वपाक अर्थात् दोनों जगह मनुष्यों को रखा। तात्पर्य है कि जैसे सबसे श्रेष्ठ मनुष्य हो सकता है वैसे ही सबसे हीन मनुष्य हो सकता है। इन सबमें अविकारी ब्रह्म को ही देखना जिनका स्वभाव है, वे समदर्शी हैं। 'पण्डिताः समदर्शिनः'।

वर्तमान काल में समदर्शी की बात की जाती है तो केवल मनुष्यों की बात करते हैं। सबको एक-समान समझो इसका प्रचार करने वाले इस श्लोक को बोल तो देते हैं लेकिन अर्थ उसका यही करते हैं कि छोटे-बड़े मनुष्यों में भेद नहीं करो। ऐसे समदर्शी लोग बाकी प्राणियों के अंदर तो चेतन तत्त्व को भी मानने को तैयार नहीं होते तो वहाँ ब्रह्मदृष्टि की तो बात ही क्या! सौ आदमी मर जाएँ तो जितना हल्ला मचता है उतना एक अरब बैक्टीरिया (bacteria) मर जाएँ तो भी नहीं मचाते। क्षयरोग से ग्रस्त को इन्जैक्शन

देने वाले के विरोध में कोई कहीं हल्ला नहीं मचाता है कि 'यह अरबों को मारता है।' ऐसी समदर्शिता की प्राप्ति न हो जाए, इसलिए भगवान् ने ब्राह्मण और श्वपाक के बीच में बाकी सब प्राणियों को भी रख दिया अर्थात् ब्राह्मण और शवपाक को देखो तो बीच में जो हैं उन सबके अंदर भी सम ब्रह्म देखो, तभी समदर्शिता होगी।।१८।।

प्रश्न होता है कि धर्मशास्त्र मानता है कि समानों की समान ही पूजा करनी चाहिये, उनकी पूजा में विषमता करना दोषावह है, तथा विषमों की समान पूजा करना भी दोषावह है। ऐसा करने वालों का अन्न भी अभोज्य हो जाता है! यहाँ भगवान् ने अत्यन्त विषमों में समदर्शी की प्रशंसा की तो उक्त धर्मशास्त्र से विरोध कैसे नहीं? स्मृतिकार गौतम लिखते हैं 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' अर्थात् जो लोग एक-दूसरे के बराबर न हों, उनकी समान पूजा करो तो इतने दोष के भागी हो जाते हो कि तुम्हारा अन्न नहीं खाना चाहिए। इसी तरह जो विषम हों अर्थात् श्रेष्ठों के समान न हों, उनके जैसी पूजा तुम श्रेष्ठों की करो तो भी तुम्हारा भोजन खाने लायक नहीं रह जाता। अर्थात् बराबर के लोगों की बराबर पूजा न करना भी अपराध है और जो बराबर न होवें उनकी एक जैसी पूजा करना भी निषिद्ध है। जिनको भगवान् 'पण्डिताः समदर्शिनः' कह रहे हैं, ये क्या अत्यन्त दूषित नहीं हो जाएँगे? उत्तर है कि उनको दोष नहीं लगता। स्मृति उन अज्ञानियों के लिए है जो भेददर्शी हैं। पर जो पण्डित हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्व को देख लिया इसलिए सर्वत्र परमात्मा को देखते हैं, वे दोष वाले नहीं होते। क्योंकि

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

जिनका अन्तःकरण समभावरूप ब्रह्म में निश्चल हो चुका उन्होंने जीवित रहते हुए ही जन्मादि संसारचक्र वश में कर लिया। क्योंकि ब्रह्म समस्त दोषों से रहित और सर्वथा समान है, इसलिये वे समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित हैं।

भगवान् कहते हैं कि जिन समदर्शी पण्डितों का मैनें वर्णन किया उन्होंने 'इहैव' इस शरीर में जीवित रहते हुए ही सर्ग को जीत लिया। सर्ग अर्थात् सृष्टि स्थिति प्रलय आदि परमेश्वर के कार्यों को और जन्म-मरण आदि जीव के कार्यों को दोनों ही सर्ग शब्द से कहे जाते हैं जीत लिया। सृष्टि-स्थिति, जन्म-मरण, इनको माया का कार्य समझ कर अधिष्ठान-साक्षात्कार से बाधित कर दिया अर्थात् प्रत्यक्ष कर लिया कि तीनों काल में न जन्म-मरण है न स्थिति-संहार है। जितने नियम धर्मशास्त्र बतलाते हैं वे सारे सर्ग के अंदर रहने वालों पर लागू होते हैं, जो सर्ग जीत चुके उन पर नहीं। समदर्शी का ही अर्थ कर दिया कि जिनका मन तन्निष्ठ तत्परायण होने के कारण साम्य में ही स्थित है। साम्य सर्व भूतों में रहने वाले ब्रह्म का जो समभाव है। सारे जड-चेतन जगत् का एकमात्र कारण जो सत् सर्वत्र विद्यमान है उस अधिष्ठान के अंदर ही उनका मन स्थित है और उस अधिष्ठान

को ही वे व्यवहार में देखते हैं क्योंकि तत्परायण हैं। नाम-रूप देखकर उनके नाम-रूप के संस्कार नहीं जगते बल्कि उसके अंदर जो अस्ति-भाति-प्रियरूपता है उसके संस्कार प्रबल होने के कारण जग जाते हैं।

जो संस्कार तुम्हारे में प्रबल होता है, वही संस्कार उद्बुद्ध होता है। एक बहुत बड़े लेखक थे, उनका ग्रंथ बीच में रह गया, मरने का समय आ गया। उन्होंने सोचा 'मेरी किताब कौन पूरी करेगा?' बच्चों से पूछना शुरू किया। सामने एक ठूंठ था। पूछा 'यह क्या है?' एक लड़के ने सोचा कि इनकी आँख काम नहीं कर रही होगी, अन्तिम समय आया है, बोला 'सामने सूखा पेड़ खड़ा है।' उसे कहा 'तुम जाओ।' ऐसे सब लड़कों से पूछते-पूछते एक बच्चे से पूछा तो उसने कहा 'ऐसा लगता है मानो कोई प्रोषित-भर्तृका (जिसका भर्ता कहीं दूर देश में चला गया है) खाना-पीना छोड़ कर निर्निमेष दृष्टि से उसके आने की बाट जोह रही है।' बड़े प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा 'बेटा, तू मेरी किताब पूरी कर देना।' देखा तो सबने उसी ठूंठ को, परंतु जिसका साहित्यिक हृदय था, उसके मन में साहित्यिक वर्णन आया, और बाकियों को ठूंठ ही दीखता रहा। इसी प्रकार नाम-रूप को देख कर लोगों को दूसरे नाम-रूप याद आते हैं और पंडित नाम-रूप को देखते ही सच्चिदानन्द की तरफ दृष्टि करता है।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' सारी दोष वाली चीज़ों में, कुत्ता, चाण्डाल आदि दोष वाली चीज़ों में जो मूढ लोग हैं, आत्मज्ञान से विहीन हैं, उनको दोष वाली उपाधि दीखती है जबकि पण्डित, उपाधि का जो अधिष्ठान दोषों से रहित है, निर्गुण निराकार है, उसको देखते हैं। दोषों से सच्चिदानन्द अस्पृष्ट है। दूसरे लोग उस दोष वाली चीज़ को 'है' से एक देखते हैं, 'चेतन' से एक देखते हैं, 'आनन्द' से एक देखते हैं, इसलिए उनको दोष वाली चीज़ ही दीखती है। ज्ञानी चूंकि दोष वाली चीज़ का बाध करता है, इसलिए निर्दोष को ही देखता है, वह निर्दोष ही सम ब्रह्म है। इस प्रकार वह ब्रह्म में ही स्थित रहता है।

इस प्रकार स्मृति का विरोध नहीं क्योंकि स्मृति विषय करती है अज्ञानियों को और भगवान् यहाँ बतला रहे है ज्ञानियों की चर्या को। स्मृति-नियम कर्म करने वालों को विषय करता है और समदर्शन सर्वकर्मसंन्यासी को विषय करता है। एक कर्मी को विषय करता है, एक कर्मसंन्यासी को विषय करता है इसलिए दोनों में विरोध नहीं है। इस विचार से यह भी स्पष्ट कर दिया कि कर्मियों के लिए जो नियम हैं वे कर्मसंन्यासियों के लिए नहीं लग सकते। कर्मी द्वैत रूपी उपाधि को ही प्रधानता देता है और संन्यासी उपाधि को छोड़ कर जो दोषरहित ब्रह्म है उसकी तरफ ही दृष्टि रखता है। यहाँ 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी' से लेकर अध्याय की परिसमाप्ति तक जो विषय आया है वह सब सर्वकर्म-संन्यासियों के बारे में है। कर्मयोगी का प्रसंग, कर्मी का प्रसंग इसके पहले समाप्त हो गया।।१९।।

चूंकि ऐसा वह समग्र दोषों से रहित ब्रह्म ही पण्डित का आत्मा है इसलिए

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस तथ्य पर जिसकी बुद्धि टिकी रहती है, जिसमें संमोह नहीं है, अकर्मरूप ब्रह्मरूप से विद्यमान वह ब्रह्मवेत्ता इष्ट पाकर विशेष हर्ष से मस्त नहीं होता एवं अनिष्ट पाकर विषाद-ग्रस्त नहीं होता।

प्रिय को देख कर जो मोद होता है वही हर्ष है। आनन्दमय कोष का प्रिय ही सिर है और दाहिना बाजू मोद है। मोद कहें, हर्ष कहें, एक ही बात है। प्रिय को देखने से जो आनन्दमय कोष की वृत्ति बनती है वह हर्ष है, उस वृत्ति के साथ एक होकर जो हमें अपने में प्रतीति होती है, वह हो गया प्रहर्ष। 'बहुत अच्छा हुआ हमने उसको देख लिया।' ऐसी बड़ी प्रसन्नता होना प्रहर्ष है। जो अपनी इच्छा का विषय हो उसके प्राप्त होने पर 'मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई' ऐसा अनुभव न करे, यह साधक को अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार अप्रिय की, अनिष्ट प्राप्ति होने पर उद्वेग न करे, उद्विग्न न होवे। 'मेरे सामने यह क्यों आ गया' यह भावना उद्वेग है। यद्यपि 'प्रहृष्येत्, उद्विजेत्' ये विधियाँ हैं तथापि वस्तुतः यहाँ केवल कह रहे हैं कि ज्ञानी प्रसन्न नहीं होता और उद्विग्न नहीं होता। विधि का प्रयोग करके बतला रहे हैं कि जो ब्रह्म में निष्ठा वाला है, उसका तो ऐसा स्वभाव होता है पर जो साधक है, अभी ब्रह्म में नितराम् स्थित नहीं है, वह इस प्रकार के प्रसंग आने पर अपने अंदर प्रहर्ष और उद्वेग का अनुभव न करने का प्रयत्न करे। प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति होने पर हर्ष और विषाद उसी को होता है जो देहमात्र को आत्मा समझता है। इष्ट चीज़ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इनको ही इष्ट होगी। इसलिए जो शरीरादि को अपना स्वरूप समझता है कि 'यही मैं हूँ', उसी को प्रसन्न करने वाली चीज़ से 'मैं प्रसन्न हूँ' यह बोध होता है। इसी प्रकार शरीर को ही आत्मा समझने वाला जब कोई द्वेष की चीज़ आती है तब खुद उद्विग्न हो जाता है। परन्तु जो केवल आत्मदर्शी है, उसको शरीरादि के प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति से कोई भी फ़र्क नहीं पड़ता इसलिए उसको प्रिय और अप्रिय के दर्शन से प्रहर्ष या उद्वेग नहीं होता। वह तो सारे प्राणियों में एक-जैसा रहने वाला सारे दोषों से रहित जो आत्मा है उसके स्वरूप में ही स्थित रहता है। सचमुच में तो केवल निर्दोष आत्मा ही है ऐसी उसकी स्थिर बुद्धि है। साधक को आत्मा का निश्चय तो है परन्तु उपाधि देख कर उपाधि वाले आत्मा की उसको प्रतीति होती है। अतः बार-बार उपाधि का विचार से बाध करके, जो एक-जैसा सारे दोषों से रहित ब्रह्म है उसकी तरफ दृष्टि करनी चाहिये।

ब्रह्मनिष्ठ सम्मोह से रहित रहता है। प्राचीन संस्कारों के कारण सम्मोह होता है। पहले के संस्कार अन्तःकरण में पड़े हुए हैं कि यह अच्छा है यह बुरा है। उससे व्यक्ति सम्मूढ

होता है। संस्कार का अत्यन्त वेग जब होता है तब सम्यक् मूढ हो जाता है, अर्थात् उस समय आत्मतत्त्व को भूल ही जाता है। अतः संस्कारों से होने वाला जो सम्मोह है उसको साधक हटावे, सम्मोह-वर्जित बने। ब्रह्मविद् असम्मोह की प्राप्ति के लिए बारम्बार श्रवण-मनन के द्वारा ब्रह्म का ही निश्चय करे। सारे कर्मों से रहित जो अकर्मा ब्रह्म है उसमें स्थित होवे अर्थात् सर्वकर्म-संन्यासी ही होवे। प्रहर्ष और उद्वेग प्रवृत्ति और निवृत्ति की तरफ मनुष्य को ले जाते हैं। उस प्रवृत्ति और निवृत्ति को बिना किए हुए बार-बार अपना जो प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित अकर्ता आत्मा का बोध है, उसको लावे। प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति से जो प्रवृत्ति और निवृत्ति सामने आती है उसे हटा कर सारे कर्मों से रहित जो अपना ब्रह्म स्वरूप है, उसी के अंदर बार-बार स्थित होवे। सिद्ध तो स्वभाव से ही ब्रह्मनिष्ठ है, साधक बार-बार प्रयत्न करके वह स्थिति प्राप्त करे। किसी भी तरह की प्रवृत्ति-निवृत्ति करने से बचे। प्राचीन संस्कारों से सम्मोह हो जाता है कि 'मैं स्थित नहीं रह पाता तो कुछ और *करके* स्थिति हो जाएगी। यह अनुष्ठान कर लूँगा, पूजा पाठ कर लूँगा, जप आदि कर लूँगा तो मेरी ब्रह्म में स्थिति हो जाएगी।' किंतु ये सब करने से कर्तृत्व भाव का ही विकास होगा, अकर्मा ब्रह्म में स्थिति कैसे होगी! इसलिए ब्रह्मनिष्ठ को संन्यासी ही रहना चाहिय।।२०।।

ब्रह्म में अवस्थित का ही और वर्णन कर उसे प्राप्य फल बताते हैं

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

बाहरी विषयों में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है वह आत्मा में जो सुख है उसे पाता है। ब्रह्म में समाहित होने में जिसका मन लगा रहता है वह क्षीण न होने वाला सुख पाता है।

स्पर्श अर्थात् विषय, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ वृत्ति के द्वारा उन्हें स्पर्श करती हैं। जितने भी शब्दादि बाह्य विषय हैं उन सब के प्रति पंडित के अन्तःकरण में कोई आसक्ति नहीं होती। आसक्त मन से निर्दुष्ट ब्रह्म का ग्रहण किया नहीं जा सकता। विषय ही उपाधि है, विषय में आसक्ति होगी तो विषय से मन हट कर अधिष्ठान की तरफ नहीं जाएगा। इसलिए जरूरी है कि साधक सारे विषयों के प्रति प्रीति से रहित होवे।

इससे अपने आप में सुख का अनुभव करता है। विषयों के वैराग्य से अपने अंदर ही सुख होता है क्योंकि विषयों के प्रति जो वैराग्य होता है, उससे तृष्णा दूर होती है और शास्त्रकारों ने स्पष्ट बतलाया है कि जितना पदार्थों का सुख है उसकी अपेक्षा पदार्थों में वैराग्य का सुख अनेक गुणा ज़्यादा है। लौकिक भाषा में भी कहते हैं

'गौधन गजधन वाजिधन और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोषधन, सब धन धूल समान।'

गौरूप धन, गजधन हाथी इत्यादि का धन, घोड़े इत्यादि का धन और रत्नों का धन सोना चांदी हीरा पन्ना आदि; जब सन्तोष रूपी धन पास में आ जाता है तब ये सारे धन धूल के समान उपेक्षणीय हो जाते हैं। शुरू में, जब तक विषयों में आसक्ति है, तब तक वैराग्य के, या सन्तोष के, तृष्णाक्षय के सुख को आदमी पहचान नहीं पाता परन्तु एक बार आसक्ति टूट जाती है तो इस का पता लगता है। उदाहरण से समझो : जिस आदमी ने कभी मांस खाया नहीं और उसको मांस खाने की कोई इच्छा भी नहीं, मांस का भाव बढ़ने पर उसको कोई उद्वेग होगा क्या? और जो मांस खाने वाला है उसके लिए तो बड़ा भारी प्रश्न हो जाता है कि महंगाई का सामना कैसे करे। विचार करो तो समझ आता है कि जिसको मांस के प्रति कोई आसक्ति नहीं है उसको अपने आप उस सुख की प्राप्ति है जो मांस खाने वाले को महंगाई का सामना कर मांस खाने पर होगा। ठीक इसी प्रकार सारे बाह्य विषयों के अंदर जिसको आसक्ति नहीं है उसको अपने में समग्र सुख की उपलब्धि होती है।

'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा।' ब्रह्मयोग अर्थात् ब्रह्म में समाधि। योग का अर्थ जोड़ना भी होता है लेकिन ब्रह्म आत्मा का स्वरूप है इसलिए आत्मा और ब्रह्म मिलते तो कभी हैं नहीं। खुद से खुद कभी नहीं मिला करता। ब्रह्म का विक्षेप हट जाये, उसी को कहते हैं ब्रह्म में समाहित होना। उस ब्रह्मयोग से युक्त जो हो गया वह ब्रह्मयोग-युक्तात्मा है। आत्मा अर्थात् यहाँ अन्तःकरण। तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण ब्रह्म में समाहित रहता है। बाह्य स्पर्शों के अंदर सर्वथा आसक्ति न होने से अन्तःकरण ब्रह्मयोग वाला हो जाता है, ब्रह्म में स्थित हो जाता है। जैसे जब बाहर का कोई आदमी नहीं रहता, तब व्यक्ति स्वभाव से बिस्तर पर जाकर लेट जाता है कि 'अच्छा हुआ सब काम निपट गया, सब चले गए।' बिस्तरे पर लेटने के लिए उसको कोई प्रवृत्त करने वाला हेतु नहीं चाहिए, बाहर के लोग थे तो बिस्तर पर नहीं लेट सकता था, बाहर के लोग चले गए, अब कोई हेतु रहा नहीं अतः बड़े आनन्द से बिस्तरे पर लेट जाता है। इसी प्रकार विषयों की आसक्ति के कारण ही हमारी सारी प्रवृत्ति-निवृत्ति हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति अन्तःकरण की उपाधि से ही होती हैं। आसक्ति मिट गई तो अन्तःकरण ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है क्योंकि ब्रह्म ही उसका स्वरूप है। तब 'अक्षयम् सुखमश्नुते।' विषय-इन्द्रियादि के संबंध से जो सुख होता है वह तो क्षयिष्णु सुख है। विषय की प्राप्ति के पहले भी वह सुख नहीं है। रसगुल्ला जब तक नहीं मिला तब तक रसगुल्ले का सुख नहीं है और रसगुल्ला खा के ख़त्म हो गया, उसके बाद फिर भी वह सुख नहीं है। विषयभोग से आगे-पीछे सुख नहीं, बस थोड़े समय तक जब तक विषय तुम्हारे पास रहे तभी तक सुख होता है। इसलिए वैषयिक सुख क्षयिष्णु है। ब्रह्म तुम्हारा स्वरूप है। जब तक तुमने जाना नहीं था तब तक भी तुम्हारा स्वरूप ही था और जब प्राप्त हो गया, जब इसको जान लिया, तब भी आगे कभी तुम्हारे से अलग होगा नहीं। इसलिए अन्य सुख क्षयिष्णु सुख हैं और अन्तःकरण जब ब्रह्म में समाहित होता है तब अक्षय सुख

है। इससे सूचित किया कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। बाह्य स्पर्शों से आसक्ति हट जाने पर वह सुख प्रकट हो जाता है। ऐसा नहीं कि सुख कोई दूसरी चीज़ है जो विद्वान् को मिलता हो! उसका अपना स्वरूप ही है जो प्रकट होता है। इसीलिए वह अक्षय है। स्वरूप से भिन्न जो सुख होगा वह कभी अक्षय हो नहीं सकता; स्वरूप सुख ही अक्षय है क्योंकि किसी भी चीज़ का स्वरूप उससे अलग किया नहीं जा सकता। जब हमने नहीं जाना था तब भी वह सुख हमसे अलग था नहीं। कैसे पता लगता है कि अलग़ नहीं था? जैसे ही बाह्य स्पर्शों के साथ आसक्ति सुषुप्ति काल में नष्ट हो जाती है, वैसे ही असीम सुख होता है। गहरी नींद में चले गए तो उस गहरी नींद में तुमको किसी भी विषय का संग नहीं रहता है, कोई भी विषय तुमको आकर्षित नहीं करता है क्योंकि वहाँ विषय ही नहीं है! वहाँ किसी विषय के न रहने पर अपने आप सुख प्रकट हो जाता है। इससे पता चलता है कि जब तुमको ज्ञान नहीं है तब भी सुख तुम्हारा स्वरूप है। इसलिए कोई भी बाह्याकार वृत्ति से हटो और तुम को सुषुप्ति आ जाये तो सुख हो जाता है। जाग्रत्-स्वप्न में विषयों के प्रति तुम्हारे अंदर आसक्ति है अतः यह सुख प्रकट नहीं होता, प्रतीत नहीं होता।।२१।।

अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए बाह्य स्पर्शों से अनासक्त कैसे हुआ जाए? इसका उपाय बतलाते हैं

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

हे कुन्तीपुत्र! जो विषय-इन्द्रियों के संबंध से होने वाले भोग हैं वे दुःख के ही कारण बनते हैं यह निश्चित है। ऐसे भोग प्रारंभ और समाप्ति वाले हैं, उनमें समझदार रमण नहीं करता।

विषय और इन्द्रिय के संबंध से ही भोग होते हैं इसलिए संस्पर्शज कहे जाते हैं। स्पर्श मात्र से भी भोग होता है। विषय और इन्द्रियों का संबंध हुआ, इतने से भी भोग तो होता है लेकिन वह नहीं जैसा ही रहता है। तुम जा रहे हो गाड़ी में, सामने से पचासों गाड़ियाँ निकलती हैं। तुम्हारी आँख का उन गाड़ियों से संबंध होता ही है, देखते ही हो। लेकिन वे गाड़ियाँ तुमको याद नहीं रहती; क्योंकि उनमें तुमको कोई आसक्ति नहीं है, इसलिए उनका दृढ संस्कार नहीं बनता। उनमें कोई एक गाड़ी ऐसी निकले जिसको देखते ही तुम्हारा मन हो 'अरे! क्या बढ़िया गाड़ी है,' तो उससे संस्पर्श हुआ। जिसके साथ संर्स्पश हुआ, अर्थात् जिसे ध्यान से तुमने देखा और बढ़िया चीज़ समझा, उससे जो भोग होता है वह दुःख का ही कारण बनता है। क्यों? संस्पर्शज भोग अज्ञान के कारण होता है। विषयों के अंदर अच्छाई इत्यादि जो तुम गुणदर्शन करते हो वह सब अज्ञान के कारण, क्योंकि वस्तुतः वहाँ कुछ भी गुण नहीं है जो संस्पर्श के लायक हो। चीज़ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण ही, अज्ञान से ही गुणदर्शन-पूर्वक भोग होता है। अज्ञान से

जो भी होता है वह दुःख का ही कारण है। आध्यात्मिक आदि जितने दुःख हैं सब अज्ञान के ही कारण हैं। सामान्यतः भी विचार करो विषय के अर्जन में जितना ज़्यादा श्रम करते हो उतना ही उसकी रक्षा में करते रहना पड़ता है तथा भोग से और अन्य हेतुओं से उसका व्यय या नाश होने पर उतना ही अधिक दुःख होता है। सब का मूल है अज्ञानवश विषय में गुणदर्शन। अज्ञानसिद्ध होने से ही सारे दुःख होते हैं। विचारकर देखो तो चीज़ें दुःख का ही कारण होती हैं। या नष्ट होकर दुःख देती हैं या खराब होकर दुःख देती हैं। बेटा चाहे जितना अच्छा हो, बीमार होता है तो बड़ा दुःख होता है कि कहीं मर न जाए। और मर जाये तो बहुत दुःख होना ही है। इसलिए सब संस्पर्शज भोगों को दुःखयोनि 'एव' कहा, वे दुःख के ही कारण बनते हैं।

भगवान् ने कह दिया 'दुःखयोनय *एव*' संस्पर्शज भोग दुःख के *ही* कारण होते हैं। अतः भगवान् भाष्यकार ने कहा कि एव-शब्द के द्वारा बतला दिया कि जैसे विषयों का संबंध इस लोक में दुःख देता है, ऐसे ही परलोक में भी। स्वर्ग चले जाओ, वैकुण्ठ जाओ, वहाँ भी विषयों का संग रहते हुए दुःख ही होता है। ऐसा नहीं कि वहाँ जाकर विषयभोग सुख का कारण बन जाये! बहुत-से लोग बड़ा वर्णन करते हैं कि दिव्य विषयों का बड़ा ज़बरदस्त सुख होगा वैकुण्ठ आदि के अंदर। लेकिन जहाँ संस्पर्शज सुख प्रतीत होगा वहाँ भगवान् ने स्पष्ट कह दिया कि दुःख ही है। इसलिए आचार्य कहते हैं 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमपि अस्ति', चाहे ब्रह्मलोक में चले जाओ, चाहे वैकुण्ठ लोक में चले जाओ, जितना संसार है उसके अंदर सुख की खुशबू भी नहीं है! सुख तो क्या हो, सुख की गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसा निश्चय होने पर विवेकी विषयों के प्रति तृष्णा से इन्द्रियों को निवृत्त कर लेता है। ज्ञानी को तो यह निश्चय है इसलिए उसकी संस्पर्शज भोग के प्रति कभी प्रवृत्ति नहीं होती है। साधक को चाहिये कि बार-बार विषयों को मृग-तृष्णा की तरह निश्चय करके उनसे इन्द्रियों को निवृत्त कर ले।

'आद्यन्तवन्तः' जितने भोग हैं वे विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर प्रारम्भ होते हैं और विषय-इन्द्रिय संबंध टूटने पर समाप्त होते हैं। अतः वे आदि और अन्त वाले हैं। वैकुण्ठ लोक में, ब्रह्मलोक में पहुँचोगे तब वहाँ का सुख शुरू होगा और जितनी तुमने कर्म-उपासना की है, उतने समय वहाँ रह कर फिर वहाँ से जब पुण्य कम हो जायेगा तब वापिस लौट के आना पड़ेगा अतः वहाँ के सुख का अंत भी होगा। जितना ज़्यादा सुख हो उतना उसकी समाप्ति सन्ताप का हेतु बनती है। वातानुकूलित कमरे से बाहर जाओ तो ज्येष्ठ की गर्मी तुमको ज़्यादा सताती है। अगर सबेरे से तुम बाहर बैठे हो, तो भी दुःख होता है पर उतना नहीं। दो घंटे किसी के घर में वातानुकूलित कमरे में रह कर बाहर आओ तो दुःख ज़्यादा होता है। इसी प्रकार संसार में मृत्युलोक में रहते हुए हम लोगों को त्रिविधि ताप दुःख देते ही हैं परन्तु जब वैकुण्ठ लोक में, ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ के सुख का अनुभव कर वापिस इस संसार में आते हैं तब अधिक दुःख का अनुभव होता है।

भगवान् गौडपादाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जो पहले न हो और बाद में न होवे वह बीच में दीखते हुए भी नहीं है। यह नियम हम लोग रात-दिन देखते हैं हमने जब तक रस्सी में साँप नहीं देखा था, तब तक वहाँ साँप नहीं था। हमने ठीक प्रकाश के अंदर रस्सी को देख लिया, फिर साँप नहीं है। तो निश्चय होता है कि जिस समय साँप दीखा था, उस समय में भी नहीं ही था। ठीक इसी प्रकार से विषय और इन्द्रिय का संयोग जब नहीं हुआ था तब भोग नहीं था और विषय और इन्द्रिय का संयोग ख़त्म हो गया तब भी भोग नहीं है अतः विषय-इन्द्रिय संयोग के समय में जो भोग प्रतीत होता है वह भी वास्तव में नहीं ही है। अतः भोग मात्र रस्सी में साँप की तरह है।

इसलिए 'बुधः' अर्थात् विवेकी, 'ये विषय मृग-तृष्णा की तरह हैं' इस बात को जिसने विवेक करके समझ लिया, जिसने अधिष्ठान को अपना आत्मस्वरूप भली प्रकार से निश्चय कर लिया। मूढ को तो विषयों में आसक्ति होती है, वही आसक्ति उसको विचार करने नहीं देती, विवेक उत्पन्न होने नहीं देती। जो इस प्रकार विवेक से रहित हैं, उनके लिये भाष्यकार कहते हैं कि जैसे पशु इत्यादि को विवेक नहीं होता वैसे ही मूढों को विवेक नहीं है। वे मनुष्य-रूप में दीख रहे हैं परंतु वस्तुतः मनुष्य का जो असली उद्देश्य है उससे रहित हैं, पशु की तरह ही हैं। अतः श्लोक का तात्पर्य संस्पर्शज भोगों से विवेकमूलक वैराग्य उपजाना है जो विद्वान् में सहज है।।२२।।

ज्ञान के मार्ग में जाने का सबसे बड़ा प्रतिबंधक विषयों में मन का रमना है। उसी से सारे अनर्थों की प्राप्ति होती है। इसलिए इसके लिए अधिकतर प्रयत्न करे, यह बतलाते हैं

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

मरने से पूर्व, जीवित रहते हुए ही जो कामजन्य व क्रोधजन्य वेग को सह सकता है वह नर योगी है, वह सुखी है।

'इहैव' अर्थात् जीते हुए, इस मनुष्य लोक में ही। इसके द्वारा बतलाया कि आगे स्वर्ग लोक में, वैकुण्ठ लोक में जाएँगे, वहाँ विषयों से मन को हटाएँगे इत्यादि न सोच कर यह निश्चय करे कि यहीं इसको जीतना है। जीतना क्या है? सहन करने में समर्थ होना है। काम-क्रोध से होने वाले वेग को सहने की सामर्थ्य प्राप्त करनी है। यह कब तक कर लेना है? 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्।' जब तक जीवन है तब तक काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाला वेग आता ही है क्योंकि काम-क्रोध के अनन्त निमित्त हैं। कोई-न-कोई निमित्त बन ही जाता है। शरीर की निवृत्ति की सीमा करके बतलाया कि इस बारे में साधक कभी भी ढीला न पड़ जाए कि 'मुझे काम-क्रोध का वेग नहीं आएगा।' प्रायः मनुष्य के अंदर ढील आ जाती है और ढील आते ही अनन्त निमित्त वाली कामना कहीं-न-कहीं से किसी-न-किसी

रूप में आ जाती है। यश की, प्रतिष्ठा की, गौरव की कामना आक्रमण कर देती है। अति स्थूल विषय तो छूट भी जाएँ, परंतु ऐसे सब सूक्ष्म विषयों की कामना रह जाती है। सबसे ज़्यादा रहने वाली है कि 'शिष्ट लोग मुझे बुरा न समझें'।

कामना की उत्पत्ति विषय के स्मरण से भी होती है। कोई चीज़ याद आ जाती है तो तद्विषयक रमण होने लगता है, उसके बारे में सोचने लगते हैं। कभी सुनने के कारण स्मरण आ जाता है। किसी ने 'रसगुल्ला' कह दिया तो जो स्वादिष्ट रसगुल्ला खाया था वह याद आ जाता है। मन उसी में रमण करने लगता है। तो कभी स्मरण आ जाता है, कभी सुन लेते हैं तो याद आ जाता है, कभी देखने से स्मृति जग जाती है। अनन्त निमित्त वाली कामना है क्योंकि हमने अनन्त चीज़ों से सुखों का अनुभव किया है। उनमें से कोई भी चीज़ याद आ जाए, तो उसके विषय में तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, कामना उत्पन्न हो जाती है। किसी कारण से उस कामना में रुकावट आ जाए तो क्रोध आ जाता है। अथवा जिस चीज़ से हम को अत्यन्त दुःख हुआ था, उसकी याद आ जाए तो भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है, द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सुनने या देखने से भी द्वेष प्रकट हो जाता है। द्वेष के पदार्थ के स्मरणादि से एवं इष्ट विषय के लाभ में रुकावट से क्रोध के आकार की वृत्ति बनती है। जब तक शरीर रहता है, तब तक याद आने की, देखने की, सुनने की संभावना रहेगी ही और अन्तःकरण में पुराने संस्कार हैं, इसलिए उन संस्कारों से उधर रमण हो भी जाएगा। पर उसे उत्पन्न नहीं होने देना है। काम-क्रोध से होने वाला जो वेग है वह न आने पाये, इसका प्रयास करना है।

अच्छी चीज़ का स्मरण होने से शरीर में रोमांच हो जाता है, आँखें नाचने लगती हैं, चेहरा खिल जाता है, ये सब कामोद्भव वेग हैं। इसी प्रकार क्रोध से शरीर हिलने लगता है, शरीर से पसीना निकलने लगता है, होठ कसके बंद होने लगते हैं, आँखें लाल हो जाती हैं; ये सब क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग हैं। जैसे नदी स्वाभाविक रूप से बहती है पर अकस्मात् वृष्टि इत्यादि के कारण उसमें बाढ़ आ जाये तो नदी के किनारे वाले पेड़ों को गिरा देती है, आदमियों को डुबा देती है। नदी का जो वेग है, वह चीज़ों को नष्ट करता है। उसी को रोकने के लिए बाँध बनाए जाते हैं। इसी प्रकार काम क्रोध का वेग शरीर में विकार लाता है। उस वेग को पैदा नहीं होने देना है, उसको सहन कर लेना है। अन्तःकरण में कामना या क्रोध का उद्भव होगा; दुःख की स्मृति, दुःख के अनुभव इत्यादि से या सुख का स्मरण, सुख के अनुभव इत्यादि से काम-क्रोध सिर उठायें, तभी अन्तःकरण में ही विवेक के द्वारा उन्हें काट देना है। काम-क्रोध से होने वाला जो वेग अर्थात् शरीर के अंदर-बाहर प्रकट होने वाले असर को अंदर-ही-अंदर सहना है। जिस प्रकार बांध नदी के वेग को रोकता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति का विवेक रूपी बाँध काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को अंदर ही अंदर रोक लेता है, वही सुखी होता है। 'सः युक्तः', वही योग कर सकता है, श्रवण-मनन में लग सकता है और 'स सुखी नरः', वही सुख को प्राप्त कर

सकता है। क्रोध के वेग से सुख नहीं होता यह स्पष्ट ही है। काम के वेग से भी, जब तक काम की प्राप्ति नहीं होती है, सुख कहाँ होगा! प्राप्ति हो गई तो भी, जैसा भगवान् ने कहा, 'आद्यन्तवन्तः' वह नष्ट हो जाएगा, वियोग हो जाएगा, तब दुःख देगा। इसलिए काम क्रोध से होने वाले वेग को जो सहन नहीं कर सकता है, वह सुखी भी नहीं हो सकता है और श्रवण-मनन आदि योग नहीं कर सकता है।

'प्राक्शरीरविमोक्षणात्।' शरीर से मोक्ष दो प्रकार से होता है : या तो शरीर मर जाए तो शरीर से मुक्त हो गए, शरीर से छूट गए। मरण की सीमा करके बतला दिया कि जब तक मरण न हो तब तक साधक सावधान ही रहे। रामकृष्ण परमहंस से किसी ने कहा 'आप बहुत बड़े महात्मा हैं।' उन्होंने कहा 'चुप रहो, ऐसी बात मत कहो! जब मैं मर जाऊँ और मेरी राख उड़ जाए, तब कह सकते हो कि अच्छा है। नहीं तो, मरने के पहले, कब गड़बड़ हो जाऊँ, कोई नहीं कह सकता।' जब शरीर मरता है तब शरीर से छूटता है, इसलिए शरीर के मरण को सीमा बनाया। परन्तु वास्तविक शरीर से विमोक्ष देहाभिमान का छूटना ही है। मृत्यु से भी शरीर रहा नहीं इसीलिए शरीर का अभिमान छूट गया। इसी प्रकार श्रवण-मनन के परिपाक में शरीर रहते हुए ही शरीर का अभिमान छूट जाता है। शरीर अर्थात् स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, दोनों के अभिमान छूट जाने से अन्तःकरण के संस्कारों से होने वाला काम व क्रोध साक्षी को लगता नहीं, अतः वेग भी उत्पन्न हो नहीं सकता। 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' से कहा कि जब तक देहाभिमान सर्वथा निवृत्त न हो जाए, श्रवण-मनन की पूर्णता से जब तक ब्रह्मरूप में अपनी स्थिति न हो जाए, तब तक इसकी तरफ ध्यान देना ही चाहिए।

कुछ आचार्यों ने तो कहा है कि 'इह' अर्थात् गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही अगर काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने की सामर्थ्य अर्जित करने के बाद संन्यास लेता है, तब वह संन्यास ज्ञान और जीवन् मुक्ति का कारण बन जाता है और अगर काम क्रोध के वेग के रहते हुए, ('काम क्रोध के रहते हुए' नहीं कर रहे हैं, काम क्रोध के *वेग* के रहते हुए) संन्यास करता है तो ब्रह्मनिष्ठा और जीवन् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो पाती। इसलिए जवान शरीर हट कर बुड्ढा शरीर आवे, उसके पहले ही काम-क्रोध को जीत लेना चाहिए, ऐसा भी आचार्यों ने इसका तात्पर्य बतलाया है। हर हालत में, चाहे गृहस्थ आश्रम में हो, चाहे संन्यासाश्रम में हो, इतना स्पष्ट ही है कि काम-क्रोध के वेग को जीते बिना कोई व्यक्ति युक्त नहीं हो सकता, श्रवण मनन के अंदर एकाग्रता से नहीं लग सकता।।२३।।

जो श्रवण-मनन से सफल होकर अपने ब्रह्मरूप में स्थित होता है, उसका स्वरूप कैसा होता है, यह बताते हैं

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।।२४।।

जिसे अन्तरात्मा में ही सुख प्राप्त होता है, अन्तरात्मा में ही जिसकी क्रीडा है, बाह्य श्रोत्रादि साधनों व घटादि विषयों से निरपेक्ष ही जिसका ज्ञानरूप अन्तरात्मा अनावृत ही रहता है, ऐसा ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म में ही मोक्ष का अधिगम कर लेता है।

हम संसारी लोग बाहरी सुख वाले हैं। अपने से बाहर किसी चीज़ से हमें सुख होता है। चाहे बढ़िया खाना हो, बढ़िया पहनना हो, बढ़िया रहना हो, बढ़िया वातावरण हो, बाहर की किसी चीज़ से ही हमें सुख होता है। इसलिए किसी को सुखी देखें तो तुरंत विचार करते हैं कि इसके पास क्या है जो यह सुखी है। जब तक व्यक्ति अनात्मा से ही सुखी रहेगा तब तक धन उसके सिर में हमेशा बैठा रहेगा क्योंकि धन से बाह्य पदार्थ ही मिल सकते हैं और बाह्य पदार्थों के मिलने में धन एक बड़ा कारण होता है। इसलिऐ बाह्य पदार्थों से जो सुख को लेता है उसके लिए धन के आकर्षण का त्याग असम्भव हो जाता है। धन से यहाँ खाली नोट ही नहीं समझना। शास्त्रकारों ने कहा है 'न खलु सुखत्वं जातिः, यस्य यदिष्टं तस्य तदेव सुखम्।' सुखत्व कोई जाति नहीं है जो किसी चीज़ में रहती हो। जिसकी जिस चीज़ के अंदर इच्छा की विषयता है, वही उसके लिए सुख है। प्राचीन काल में राजा प्रसन्न होकर कहता था 'हज़ार गायें ले जाओ', ऋषि बड़े प्रसन्न होते थे। आज के युग में किसी को एक-दो गायें मिल जाएँ तो भी समझता है कहाँ झंझट में फँस गया! कौन इसकी सेवा करेगा? भगवान् कृष्ण की जगह-जगह लीलाएँ आती हैं कि माता उनसे छिपा कर दूध-दही-मक्खन रखती थीं और वे किसी तरह से उस रखी हुई चीज़ को निकाल कर खाते थे। उनको दूध-दही के अंदर सुख-बुद्धि थी। आजकल माताएँ बच्चों के पीछे-पीछे घूमती हैं, 'अरे! थोड़ा पी ले, थोड़ा तो पी ले', और बच्चा भागता है, 'मुझे नहीं पीना, मुझे नहीं पीना!' उसे टॉफी दें, चॉकलेट दें तो फटाफट खा लेगा। इससे सिद्ध होता है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं जो सुख हो, वरन् जिसे जब जो अच्छा लगे तब वह उसको सुख लगेगा। इष्ट पदार्थ को व्यक्ति इकट्ठा करता है, वही उसका धन है। बहुत-से लोगों को ज़मीन का शौक होता है, ज़मीन इकट्ठी करते चले जाते हैं। बाह्य पदार्थ जिन्हें सुख का कारण लगता है वे बाह्य सुख वाले हैं।

'युक्त' कैसा है? 'अन्तःसुखः' अंदर, अपने आत्मा में ही उसको सुख का बोध होता है, किसी भी बाह्य पदार्थ में सुख नहीं लगता। चूंकि आत्मा में ही सुख लगता है इसलिए 'अन्तरारामः' अंदर ही रमण करता है, बाहर के पदार्थों का रमण हट कर, केवल अंदर ही अपने आत्म-तत्त्व में रमण करता है। तरह-तरह से उसके बारे में श्रवण करता है, मनन करता है, निरंतर उसका निदिध्यासन करता है। यही उसका आराम है अर्थात् बगीचा है। जैसे बगीचे में आदमी सुख से कभी इस क्यारी को देखता है, कभी उस क्यारी को, उसी प्रकार आत्मा के कभी सत्-रूप का विचार किया, कभी चित्-रूप का विचार किया, कभी व्यापक-रूप का विचार किया, कभी सर्वज्ञ-रूप का विचार किया, कभी सर्वशक्ति-रूप का विचार किया यही उसकी क्रीडा होती है। आत्मा को समझने के जो अनेक तरीके हैं,

उन्हीं में वह रमण करता है, वही उसका बगीचा है। जैसे बगीचे में खेलते हैं, वैसे ही आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रकारों के अंदर ही वह खेलता है। ऐसे ही 'अंतर्ज्योतिरेव यः।' ज्योति अर्थात् ज्ञान भी अंदर के अर्थात् आत्मा के ज्ञान के विषय में ही निरंतर रहता है, बाह्य किसी विषय के ज्ञान के लिए उसकी प्रवृत्ति होती नहीं। यदि ज्योति का अर्थ मन होवे क्योंकि वेद में कहा है 'मनो ज्योतिः' तो अर्थ है कि उसका मन आत्मा में ही लगता है, अनात्मा में नहीं। मन को ज्योति क्यों कहा? लोक में जब मन की वृत्ति होती है तभी ज्ञान होता है इसलिये मन की वृत्ति ही ज्ञान कही जाती है। यह ठीक है कि मन की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब ज्ञान होता है; परंतु चेतन तो हमेशा एक-जैसा है, इसलिए घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञान ये भेद करने वाली चीज़ तो मन की वृत्तियाँ ही हैं। श्रुति में इसीलिए मन को ज्योति कहा। ज्योति अर्थात् प्रकाश, ज्ञान, वह मन की वृत्ति से ही होता है। अतः अन्तर्ज्योति से तात्पर्य है कि उसके द्वारा बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति बनायी जाती है। अन्तरात्मा का ही मन आकार लेता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही बनती है।

इस प्रकार, अन्तःसुख अर्थात् आत्मा में ही उसे सुख है इसके द्वारा श्रवण का विधान हो गया, क्योंकि जिसमें सुख देखता है, उसी के बारे में बार-बार चिंतन करता है। अंदर में, आत्मा में ही उसका आराम है, क्रीडास्थल है इसके द्वारा मनन बतलाया, तरह-तरह की युक्तियों से उसको ही सोचता है, उसी में रस लेता है। जैसे खेल से कोई नया ज्ञान नहीं होता परंतु व्यायाम हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान तो श्रवण से हो जाता है, मनन से कोई नया ज्ञान नहीं होता, परंतु अन्तःकरण का ऐसा व्यायाम हो जाता है जिसके फलस्वरूप जब प्रारब्ध के कारण विक्षेप काल आकर व्यवहार करता है, उस व्यवहार काल में पुनः पुनः आत्म-निरीक्षण करने का उसका अभ्यास बन जाता है कि किस-किस युक्ति से किस-किस परिस्थिति में आत्मा को ही देखे। और अन्तर्ज्योति से निदिध्यासन बतला दिया।

जिसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन पक्का हो गया है वह 'योगी' है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था में पहुँचा हुआ ही योगी है। दो तरह के योगी होते हैं, एक प्रयत्न करने वाले योगी और दूसरे युक्त योगी अर्थात् स्वभाव से ही उनका योग चलता है। यहाँ उस युक्त योगी को ही समझना। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की परिपक्वावस्था होने से वह निरंतर ब्रह्म में ही युक्त है अर्थात् कभी भी उसका ब्रह्मभाव निवृत्त नहीं होता। तब 'ब्रह्मनिर्वाण', ब्रह्म के अंदर सारे 'वाण' मायने दुःख ख़त्म हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाता है। ब्रह्मनिर्वाण कह कर केवल निर्वाण से इसको अलग कर रहे हैं। निर्वाण मायने दुःख-निवृत्ति। गौतमादि ऋषियों ने दुःख-ध्वंस को ही मोक्ष माना है कि दुःख का न होना ही मोक्ष है। उनके निर्वाण से अलग करके कहते हैं कि यहाँ मोक्ष है आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के साथ परमानन्द की प्राप्ति। ब्रह्म आनंदस्वरूप है। इसलिए खाली दुःखनिवृत्ति

नहीं, परमानन्द के अनुभवपूर्वक सारे दुःखों की निवृत्ति होना श्रुतिसंमत मोक्ष है। ऐसा सिद्ध 'ब्रह्मभूतः' जीते हुए ही ब्रह्मरूप हो जाता है। वह मोक्ष को अधिगत कर लेता है, प्राप्त कर लेता है। 'अधिगच्छति' का अर्थ है ज्ञान कर लेना, समझ लेना। ज्ञान के समकाल ही मुक्ति वेदान्त में स्वीकृत है। शरीर की निवृत्ति को मोक्ष वेदांती स्वीकार नहीं करता, अज्ञान की निवृत्ति को ही मोक्ष स्वीकार करता है। और, वह ज्ञान से ही प्राप्त होती है।।२४।।

इसी बात को फिर कहते हैं

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

जिन दान्त अहिंसकों के पापादि दोष क्षीण हो चुके हैं, संशय मिट चुके हैं, वे सम्यग्दर्शी मोक्ष प्राप्त करते हैं।

ऋषि कहते हैं जो किसी तत्त्व का दर्शन करने वाले हैं। मंत्र का दर्शन करने वाला ऋषि कहा जाता है। जिन्होंने 'तत्त्वमसि' महामंत्र का भली प्रकार से दर्शन कर लिया है अर्थात् उसका उनको साक्षात्कार हो गया है उनको यहाँ ऋषि कहा। 'क्षीणकल्मषाः' बार-बार श्रवण-मनन के अभ्यास से जिनके सारे कलुष, सारे कल्मष, सारे संशय-विपर्ययादि दोष, दाग नष्ट हो गए हैं अर्थात् सशंय विपर्यय से रहित जिनका ज्ञान हो गया है। मन्त्रार्थ-दर्शन के बाद भी यदि संशय-विर्पय रह जाते हैं तो वह ज्ञान मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसलिए संशय-विपर्य से रहित जिन्होंने तत्त्वमस्यादि महावाक्य का दर्शन कर लिया है वे ही मुक्त होते हैं। 'छिन्नद्वैधाः।' द्वैत की प्रतीति होने पर 'यह दूसरा *है*', ऐसी प्रतीति द्वैध प्रतीति है। यह जिनकी छिन्न हो गयी है अथात् द्वितीय कहीं दीखता ही नहीं। जहाँ भी द्वितीय दीखता है उसको अधिष्ठान के अंदर अज्ञानमात्र से प्रतीत समझने से 'दूसरा है' ऐसा बोध उन्हें नहीं होता। 'यतात्मानः' जिनकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, शरीर सर्वथा नियन्त्रित हो गए हैं अर्थात् शरीर आदि से कभी किसी का अहित उनसे नहीं होता। इसी को स्पष्ट करने के लिए कह दिया 'सर्वभूतहिते रताः।' सारे प्राणियों के कल्याण में जो रत हैं। सारे प्राणियों का कल्याण कहा; *अनेक* प्राणियों का कल्याण *सारे* प्राणियों का कल्याण तो हो नहीं जाएगा! इसलिए भाष्यकार ने स्पष्ट किया है सारे प्राणियों के अनुकूल अर्थात् हमेशा हर परिस्थिति में अहिंसक ही हैं। किसी के प्रति उनके मन में कोई द्वितीय-भावना न आने से हिंसा की भावना, द्वेष की भावना नहीं आती, 'इसका अनिष्ट हो' ऐसी भावना आती ही नहीं। 'हर एक का इष्ट ही हो' यही भावना रहती है। सारे प्राणियों का हितकारी क्या है? आनंद है। सब प्राणी किसको हितकारी समझते हैं? आनन्द को। चीटीं से ब्रह्मा तक सभी आनंद को अपना हित मानते हैं, दुख को तो कोई अपना हित नहीं मानता। इसलिए सर्वभूतहित हुआ आनन्द। वह जो सारे प्राणियों का हितकारी आत्मानन्द

है, उसी में वे रत हैं। सब प्राणियों का हित आत्मानन्द है। अथवा, हित का अर्थ 'अहित न करना' अर्थात् किसी भी प्राणी के प्रति किसी प्रकार की हिंसा अपने अंदर न रखना सर्वभूतहितेरत होना है। जो ऋषि हैं, क्षीणकल्मष हैं, छिन्नद्वैध हैं, यतात्मा हैं, सर्वभूतहिते रत हैं, ऐसे सर्वकर्मसंन्यासी 'ब्रह्मनिर्वाणम्' परमानन्द प्राप्ति-पूर्वक आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति प्राप्त करते हैं। चौबीसवाँ श्लोक और पच्चीसवाँ श्लोक मोक्ष के सारे साधनों को एकत्र करके बतला देता है।।२५।।

श्लोक २३ में काम-क्रोध के वेग को सहने का विधान किया था। अब बताते हैं कि स्वयं काम-क्रोध भी छोड़ने के ही योग्य हैं

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम-क्रोध से रहित एवं संयत अन्तःकरण वाले जो संन्यासी आत्मानुभव कर चुके, उनके लिये जीवित रहते और मरने पर, दोनों ओर मोक्ष है।

'कामक्रोधवियुक्तानां' जिनके अन्तःकरण में काम-क्रोध उत्पन्न नहीं होते, वे काम क्रोध से वियुक्त हैं। काम-क्रोध राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले ही विकार हैं। काम-क्रोध से वियुक्त वही होगा जो राग और द्वेष से वियुक्त हो जाए। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इन्हें जो अनुकूल लगता है वह राग का कारण होता है और जो इनके प्रतिकूल लगता है वह द्वेष का कारण होता है। अनुकूलता-प्रतिकूलता के संस्कारों से संस्कृत जो अहंकारात्मिका वृत्ति वही राग-द्वेष को बनाती है। जिसने उस अहंकार से अपने को सर्वथा अलग कर लिया, वह उन अनुकूलता-प्रतिकूलताओं से प्रभावित नहीं होता, इसलिए वहाँ पड़े हुए संस्कार काम-क्रोध को उत्पन्न नहीं होने देते। अतः काम-क्रोध-वियुक्त अर्थात् साक्षिरूप ही रहने के कारण, संस्कारों वाले अन्तःकरण में जो अहंकारात्मिका वृत्ति है, उसके साथ जिसका संबंध सर्वथा टूट गया है।

ऐसा कैसे होता है? 'विदितात्मनाम्' जिन्होंने आत्मा का भली प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो सम्यक्-दर्शी हैं अर्थात् संशय व विपरीत-भावना से रहित आत्मा के विषय में जिनको ज्ञान हो गया है। साधना की बात समझ लेनी चाहिए : व्यक्ति समझेगा अन्तःकरण के संस्कारों से। वस्तुतः तो आत्म-ज्ञान आत्मा को है ही। ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थिति इतने मात्र को आत्मज्ञान कह सकते हैं। ऐसे आत्मज्ञानका प्रयोजक अज्ञान-नाशक ब्रह्माकार वृत्ति है। उसके बिना अज्ञान नाश होकर के ज्ञान स्फुट नहीं होता। आत्मा तो ज्ञानरूप सबका ही है। प्राणिमात्र का आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परंतु अज्ञान से ढका हुआ है। अज्ञान को निवृत्त करने के लिये ब्रह्म और आत्मा की एकता की वृत्ति चाहिये। वह भी संशय और विपर्य से रहित होनी चाहिये। उस वृत्ति के संस्कारों का आपादन करना आवश्यक है। संस्काररूप में उस ज्ञान के परिणत हो जाने से अन्तःकरण में भी भाव आ

जाता है कि आत्मा अकर्त्ता-अभोक्ता है। संस्कार तो एक बार की वृत्ति से भी होगा लेकिन दृढ नहीं होगा। पहले के अनुभव किए हुए पदार्थ राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं लेकिन उसी समय, अकर्तृभोक्तृत्व के दृढ संस्कार मौजूद होने से रागादि को दबा लेते हैं। लोक में भी होता है : पहले किसी ने हमारी बहुत मदद की, हम उसके आभारी रहते हैं; पर यदि हाल ही में उसने हमारा कोई नुकसान कर दिया तो वही प्रधान हो जाता है, उपकार की बात गौण हो जाती है! अतः उसके प्रति राग के बजाये द्वेष मुखर हो जाता है। राग का कारण मौजूद तो है लेकिन राग नहीं होने देता। ऐसे ही आत्मा के कर्त्तापने के, परिच्छिन्नता के संस्कार तो मौजूद हैं, परन्तु दृढतर संस्कार आत्मा की अपरिच्छिन्नता के और अकर्तृत्व के हैं, अतः विषयों के प्रति जो राग-द्वेष के संस्कार हैं वे अपने कार्य काम-क्रोध को नहीं उत्पन्न कर पाते। आत्मा की ज्ञानरूपता, अकर्तृत्व, अभोक्तापना तो पहले भी यथावत् था, अब भी है, परंतु अकर्त्ता-अभोक्ता-अपरिच्छिन्नता के संस्कार इतने दृढ हो जाते हैं कि पूर्व के राग द्वेष को दबा लेते हैं। अतः सम्यक्-दर्शी लोग काम-क्रोध से वियुक्त हो जाते हैं।

'यतीनां'; ऐसे राग-द्वेष के संस्कारों से रहित सर्वकर्मसंन्यासी ही हो सकता है क्योंकि व्यवहार भूमि में जाने पर राग-द्वेष के संस्कारों को समाप्त करने वाले दृढ अपरिच्छिन्न आत्म-बोध के संस्कार बन नहीं पाते। इतना याद रखना चाहिए कि किसी के बन जाएँ, तो दृष्ट फल होने के कारण 'नहीं बने', ऐसा हम लोगों का आग्रह नहीं रहता। अगर किसी के बने हैं तो ठीक है, पूर्व जन्म के प्रभाव से हो सकते हैं, परमेश्वर की विशेष कृपा हो सकती है, अनेक कारण हो सकते हैं। परंतु ऐसा होने की संभावना प्रायः होती नहीं। इसीलिए आचार्य ने कहा कि ज्ञानमात्र में अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने में तो सभी आश्रम वालों को   चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थी हो, संन्यासी हो, ज्ञानमात्र में तो सबको   अधिकार है, परन्तु दृढ निष्ठा सर्व कर्मों को छोड़े बिना सम्भव नहीं होती। इसलिए यहाँ भी भगवान् ने कह दिया 'यतीनां'। 'यतीनां' को स्पष्ट कर दिया 'यतचेतसाम्' उनका चित्त सर्वथा संयत है। प्रवृत्ति करने में चित्त को अनियत भावों की तरफ ले जाना पड़ता है। कर्म के अंदर प्रवृत्ति करो तो लोगों से व्यवहार करने में लोगों के भेद का दर्शन करके ही कर्म-व्यवहार होगा। उनके भेद को देखे बिना तो व्यवहार हो नहीं सकेगा। इसलिए भेद के हेतुभूत उपाधियों को बार-बार अंतःकरण में लाना पड़ेगा। निवृत्ति के अंदर उपाधि के संस्कारों को लाना नहीं पड़ता क्योंकि वहाँ उपाधि के संस्कारों को छोड़ना है। इसलिए निवृत्ति में लगे हुए जो विदितात्मा यति हैं, उनके अंदर अभेदनिष्ठा हो सकती है।

उनको ब्रह्मनिर्वाण मिलता है। ब्रह्मनिर्वाण का मतलब परमानन्द की प्राप्ति पूर्वक आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष। पिछले श्लोक में ही कह दिया था 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं'। यहाँ फिर यही क्यों कह रहे हैं? पहला फ़र्क तो है 'ब्रह्मनिर्वाणं *वर्तते*।' पहले कहा था 'लभन्ते'   प्राप्त करते हैं और अब कहा 'वर्तते' अर्थात् मौजूद है। कैसा मौजूद

है? 'अभितः' शरीर छूटने के पहले जीवन् मुक्ति में ब्रह्मनिर्वाण है और शरीर छूटने के बाद विदेहावस्था में भी ब्रह्मनिर्वाण है। अभितः अर्थात् शरीर छूटने के पहले और शरीर छूटने के बाद, दोनों तरफ आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द में स्थिति है। जब तक अन्तःकरण ऐसा दृढ नहीं हो जाता है तब तक ज्ञानके फल से प्रारब्ध की निवृत्ति के बाद तो परमानन्द-लाभ और आत्यन्तिक दुःख निवृत्त होगा, परन्तु उसके पहले, जब तक अन्तःकरण दूसरे स्पन्द करता है तब तक, आत्माकार संस्कार से उन संस्कारों को दबाना इत्यादि कार्य करने हैं, इसलिए परमानन्द प्रकट नहीं है। दुःख दो तरह के हैं एक वैराग्य का दुःख और दूसरा राग का दुःख। वैराग्य का दुःख 'हाय अभी तक मेरा मन क्यों विषयों में जाता है!' यह दुःख साधक के लिए अपेक्षित दुःख है अर्थात् यदि इसको दुःख नहीं समझेगा तो साधक इसकी निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति ही नहीं करेगा। राग का दुःख भैंस से बड़ा प्रेम है, वह भैंस मर गई, तो दुःख है। वह दुःख राग-प्रवृत्त दुःख है। अतः साधक के लिये वह त्याग करने के योग्य है। 'हाय मुझे अभी तक परमात्मा का दर्शन नहीं हुआ!' यह दुःख भी साधक न करे, ऐसा उचित नहीं है क्योंकि यह दुःख करेगा, तभी परमात्मा की प्राप्ति के लिए पूरी कमर कस के लगेगा। राग से होने वाला दुःख तो त्यागने के योग्य है पर वैराग्य के कारण होनेवाला दुःख परमात्मप्राप्ति का साधन होने के कारण त्यागने योग्य नहीं है, इसके द्वारा जो प्रवृत्ति हो रही है उसे करना आवश्यक है। जब तक संशय और विपरीत भावना से रहित ज्ञान नहीं हुआ तब तक ज्ञान होने पर भी प्रतिबद्ध रहने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, वैराग्य वाला दुःख बचा ही रहता है। और परमानन्द की प्राप्ति भी स्फुट नहीं होती क्योंकि राग आदि के द्वारा अन्य सुखों में भी सुखबुद्धि हो जाती है। परन्तु जब दृढ संस्कार अपरिच्छिन्नता के पड़ जाते हैं तब कोई भी विषय सुख देने की सामर्थ्य वाला नहीं रह जाता क्योंकि उसकी अनुकूलता प्रकट ही नहीं हो पाती। वैराग्य से होने वाला दुःख संसार की प्राप्ति से होता है। जब हमेशा बाधित होने के कारण संसार की प्रतीति भी नहीं के तुल्य ही है तब आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति सहज है। यह स्थिति दृढ ज्ञानावस्था के अंदर जीवन् मुक्त में भी है और विदेह मुक्त में भी है। यह 'अभितः' का अभिप्राय है।।२६।।

श्रवण मनन से यह निश्चय हो गया कि दृश्य मिथ्या है, फिर भी 'दरवाजा है' यह बोध हटता नहीं। दरवाजा मिथ्या, ऐसा निश्चय होने पर भी दरवाजा है ऐसा ही लगता है अर्थात् विपरीत भावना नहीं हटती है। उस विपरीत भावना को हटाने के लिए ध्यान-योग की ज़रूरत पड़ती है अर्थात् जिस परमात्मा को हमने जाना है उस परमात्मा की ही अन्तःकरण में बारम्बार वृत्ति बनानी पड़ती है जिससे उसके ही संस्कार रह जाएँ और बाकी संस्कार चले जाएँ, क्योंकि पूर्व संस्कारों के कारण ही निश्चय होने पर भी विपरीत प्रतीति हो जाती है। ऐसा लोक में भी कई बार देखने में आता है : कुछ शब्द होते हैं जिनका लोक में एक अर्थ प्रसिद्ध है। साधारण भाषा में उस शब्द का एक अर्थ प्रसिद्ध

है। शास्त्रीय भाषा में, संस्कृत भाषा में उसका दूसरा ही अर्थ प्रसिद्ध है। संस्कृत व्याकरण पढ़ लिया, संस्कृत कोष पढ़ लिया, पता लग गया कि इस शब्द का संस्कृत में यह अर्थ है, फिर भी वह शब्द सुनने पर लौकिक अर्थ उपस्थित हो जाता है। हिन्दी में 'उपाधि' का मतलब होता है जो अध्ययनपूर्ति का द्योतक विशेषण दिया जाता है (डिग्री)। पूछो, इसकी उपाधि क्या है? तो उत्तर मिलेगा, बी.ए. है एम.ए. है। हिन्दी में उपाधि का यह अर्थ होता है। संस्कृत में जो अपने अधिष्ठान में परिवर्तन लाने की योग्यता के बिना उस पदार्थ में परिवर्तन प्रतीत कराये, उसको उपाधि कहते हैं। जैसे घड़ा आकाश में कोई फ़र्क नहीं लाता फिर भी घट के कारण आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है, अतः घड़ा आकाश की उपाधि है। कई बार जब शुरू-शुरू में बच्चा संस्कृत की किसी किताब को पढ़ते हुए उपाधि शब्द देखता है तब उसको पहले जिसमें बहुत प्रयोग किया है वही अर्थ याद आ जाता है मन में। हम लोग जब कहते हैं 'देवदत्त की उपाधि शरीर है' तब नये श्रोता को खटकता है कि शरीर थोड़े ही उपाधि होती है! शरीर तो सबका होता है, उपाधि मेहनत करके जब उत्तीर्ण होते हैं तब मिलती है। फिर धीरे-धीरे जब उस शब्द का उसी अर्थ में बार-बार प्रयोग करते हैं तब जाकर उपाधि शब्द का प्रथम उपस्थित अर्थ बदल जाता है। इसी प्रकार हम लोगों का दीर्घ काल से संस्कार पड़ा हुआ है कि 'दरवाजा है, दीवार है', आदि प्रतीति बताती है कि दरवाज़े में या दीवार में हैपना है। 'है' में दीवार कल्पित है यह श्रवण-मनन से निश्चय होने पर भी प्रतीति पहले जैसी होती रही है। जब दीर्घ काल तक ध्यान-योग का अभ्यास परमात्मविषयक होता है, तब पूर्व संस्कार हट कर नए संस्कार पड़ जाते हैं।

संस्कारों का खेल बड़ा विचित्र होता है। संन्यासियों को यह अनुभव होता है : जब से पैदा हुए तब से आज तक देवदत्त थे। संन्यास लिया, गुरु जी ने कह दिया 'तुम्हारा नाम हरिगिरि हो गया।' गुरु जी ने कह दिया, निश्चय भी हो गया कि 'अब मेरा नाम हरिगिरि हो गया', फिर भी किसी को ज़ोर से आवाज देते सुनता है 'देवदत्त!' तो खट उधर सिर मुड़ जाता है। जब बीस साल संन्यासी रह गया तब क्योंकि हमेशा हरिगिरि नाम का ही प्रयोग करता रहा इसलिये वही संस्कार दृढ हो गया। अब कोई उसके गाँव का आकर उसको देख कर 'देवदत्त' कहे, तो भी उसके मन में नहीं होता कि 'मुझे बुलाया होगा', उधर देखता भी नहीं। फिर वह पकड़ करके, हिला कर कहे 'अरे देवदत्त! रात-दिन तेरे साथ रहता था और तू मेरी बात ही नहीं सुन रहा है!' तब कहीं पुराना संस्कार जाग्रत् होता है, और कहता है 'हाँ-हाँ भाई! हमने पहचाना नहीं।' अन्तःकरण के संस्कारों का ऐसा खेल है।

इसी प्रकार अनादि काल से पड़े हुए संस्कार हैं 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ'। ये संस्कार बार-बार ध्यान-योग के अभ्यास से समाप्त होंगे। उस सम्यक् दर्शन की निष्ठा के लिए जो अन्तरंग साधन है उसे भगवान् को अगले अध्याय में विस्तार से बतलाना है। उसके

सूत्रपात के लिए यहाँ अत्यन्त संक्षेप में ध्यान-योग का वर्णन कर देते हैं। इसी का फिर छठे अध्याय में विस्तार करेंगे।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

इन्द्रिय-मन-बुद्धि को संयत रखने वाला, इच्छा-भय-क्रोध से रहित, मोक्ष को ही परा गति समझने वाला जो मननशील, बाहरी विषयों को (चित्त से) बाहर कर, नेत्रों को भौंहों के बीच एकाग्र कर, नासिका के भीतर चलने वाले प्राण-अपान को बराबर की गति वाला बना लेता है, हमेशा ऐसी साधना में लगा रहता है, वह मुक्त ही है।

'स्पर्श' शब्द का प्रयोग गीता में और महाभारत में, अनेक जगह पर विषयों के लिये हुआ है। साधारणतया हिन्दी में स्पर्श मायने छूना। पर गीता में 'मात्रा स्पर्शाः' आदि स्थल में भी विषयों को स्पर्श कहा है। स्पर्श अर्थात् रूप रस गंध शब्द स्पर्श ये विषय। उनको 'बहिःकृत्वा' अर्थात् अन्तःकरण से बाहर करके। कान इत्यादि दरवाज़ों से अर्थात् इन्द्रियों से विषय अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं, अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं। अन्तःकरण में प्रविष्ट जो शब्दादि विषय हैं उन्हें वहाँ से बाहर निकाल देना है। मन का कार्य है सोचना, इसलिए मन से बाहर करने का मतलब है कि विषयों का चिंतन न करना। अभी तो जो हमने देखा, सुना, सूंघा है उसका मन बार-बार चिंतन करता है, और जो उनके बारे में जितना सोचे, बाह्य प्रवृत्ति मार्ग वाले उसको उतना ही अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ मानते हैं! अधिक चीज़ों को याद रखे, किसी को लंबे समय बाद देखकर भी खट से पहचान ले, तो कहते हैं 'बड़ा अच्छा आदमी है।' किंतु साधक विषयों का अचिंतन करता है, जिससे उन चीज़ों को बाहर ही रखता है। अंदर तो आ गई थी इन्द्रियों के द्वारा, लेकिन अब उनका चिंतन नहीं करता इसलिए वे संस्कार रूप में मौजूद नहीं रह पातीं। इसी को कहा विषयों को बाहर करके अर्थात् किसी भी *विषय* का चिंतन न करते हुए रहना।

फिर 'चक्षुश्च भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा।' आँखों को भौहों के बीच में एकाग्र करता है। वर्तमान भाषा में जिसको आज्ञा-चक्र कहते हैं, वहाँ चक्षु को स्थिर रखना पड़ता है। 'नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा' नाक के अंदर चलने वाली जो प्राण और अपान वृत्तियाँ उन्हें समान रखना ज़रूरी है। साँस अंदर आती है वह प्राण है और साँस बाहर जाती है, वह अपान है। अभी प्राण और अपान की गति विषम होती है कभी प्राण की गति ज़्यादा होती है, अपान की कम होती है, कभी अपान की ज़्यादा होती है, प्राण की कम होती है। बीच में ऐसा भी समय आता है जिसमें प्राण और अपान की गति (सम) एक जैसी हो जाती है। हठयोगी इसी को कहते हैं कि कभी इडा चलती है, कभी पिंगला

चलती है। प्राण की गति को वे 'इडा' संज्ञा से कहते हैं और अपान की गति को 'पिंगला' संज्ञा से कहते हैं। जब कभी इडा-पिंगला एक जैसी चलती हैं उस समय सुषुम्णा में गति है ऐसा हठयोगी कहते हैं। अतः उनकी भाषा में कह सकते हैं कि सषुम्णा में स्थित होना यहाँ 'समौ कृत्वा' का अर्थ है।

'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः' इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को अपनी-अपनी क्रियाओं से वह रोक लेता है। आँख को तो तुमने भ्रूमध्य में रखा लेकिन दूसरी इन्द्रियाँ तो खुली हुई हैं, वे विषयों को ग्रहण करने जाएँगी। वे विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त न होवें यह नियंत्रण करना है। एकान्त या नीरव स्थान में जाकर ही ऐसा प्रायः सम्भव होता है। एकान्त स्थान में जाकर भी पहले की जो अनेक बातें मन में पड़ी हुई हैं, उनका चिंतन चलता है। मन को उनका चिंतन नहीं करने देना है। शुरू में इसका साधन होता है परमात्मा का कोई रूप या नाम लेकर उसके चिंतन का मन में अभ्यास डालते हैं। एक काल में मन एक चीज़ का चिंतन करे तो उसी काल में दूसरी चीज़ का चिंतन नहीं कर सकता है। तत्त्वमस्यादि, ओंकारादि मंत्र के सहारे पहले मन और बुद्धि को रोकना पड़ता है। फिर 'मुनिः' अर्थात् संन्यासी 'मोक्षपरायणः'.मोक्ष को ही अपनी एकमात्र परम गति समझे। 'मोक्ष के सिवाय और कोई दूसरी चीज़ मेरे प्राप्त करने के योग्य नहीं है' यह निश्चय रखे। साधना करने पर अनेक सिद्धियाँ आती हैं जिनकी तरफ मनुष्य आकृष्ट हो सकता है कि 'ये भी रहें, क्या हर्ज़ा है।' अतः तरह-तरह के कर्म, उपासनाएँ, तरह-तरह के ध्यान, जिनसे अणिमा आदि सिद्धियाँ आती हैं, उन सबकी तरफ प्रवृत्ति होती है। उनमें से किसी में भी प्रवृत्ति होगी तो जीवन्-मुक्ति की स्थिति नहीं बन सकती। राजा, राष्ट्रपति, तुम्हारे घर आने वाला है, जिस कुर्सी पर उसको बैठाओगे, उस पर किसी दूसरे को तो नहीं बैठाओगे, अन्यथा राजा उस पर बैठेगा ही नहीं! इसी प्रकार, मोक्ष को तुम अपना उद्देश्य मानते हो, हृदय-सिंहासन के ऊपर बैठाना चाहते हो और साथ कहो, 'अरे! रसगुल्ला भी मिल जाए तो क्या हर्ज़ा है!' तो क्या मोक्ष बैठेगा वहाँ पर? रसगुल्ला हो चाहे इन्द्र का पद हो, सारे संसार की दौलत एक-जैसी ही है। सभी को एक-समान निष्प्रयोजन समझकर एकमात्र मोक्ष को अपनी एकमात्र गति समझना पड़ता है।

मोक्षपरायण कैसे होता है? 'विगतेच्छाभयक्रोधः।' किसी भी चीज़ में सुखानुभव की सम्भावना न होने से किसी चीज़ की इच्छा नहीं करता है। मोक्ष के सिवाय किसी चीज़ की इच्छा नहीं रखता है। मेरे सुख का मोक्षातिरिक्त कोई साधन हो सकता है यह इच्छा नहीं करता है। बहुत बार, इच्छा न होने पर भी भय से मनुष्य पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति करता है। बहुत बड़ा भय तो समाज का होता है। 'लोग क्या कहेंगे' यह भी भय होता है। नरकादि का भी भय होता है। 'सारे नित्य-नैमित्तिक कर्मों का परित्याग कर दिया और मोक्ष नहीं मिला तो हमें पाप की प्राप्ति होकर नरकादि जाना पड़ सकता है' इस भय से भी बहुत-से लोग सोचते हैं कि 'चलो, नित्य नैमित्तिक करते रहेंगे तो प्रत्यवाय नहीं होगा।'

यों अनेक प्रकार के भयों से भी प्रवृत्ति हो जाती है। निवृत्ति के लिये सर्वथा निर्भय होना पड़ता है। कई बार क्रोध से प्रवृत्ति हो जाती है। 'हमें संसार में कुछ नहीं चाहिए पर इस आदमी को तो हम नष्ट करके ही रहेंगे।' ऐसा क्रोध प्रवर्तक बन जाता है। ऐसे लोगों को जानते हैं जो कहते हैं 'मैं चाहे दिवालिया हो जाऊँ लेकिन इस आदमी को तो मैं फुटपाथ पर ले जाकर ही छोड़ूंगा!' उनसे कहो 'अरे! इतना रुपया तुम बरबाद करोगे, उससे थोड़े में समझौता हो जाएगा', तो कहते हैं 'समझौता काहे का! उसको तो बरबाद करके रहूंगा।' ये प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो एक की दूसरे को समझ में नहीं आतीं। जो क्रोधी व्यक्ति नहीं है, उसकी समझ में नहीं आ सकता कि क्रोध के कारण आदमी क्या-क्या नहीं कर लेता। उसकी समझ में ही नहीं आता कि अपनी बरबादी भी वह चाह लेगा। इसी प्रकार जिसको संसार के पदार्थों की इच्छा नहीं है, सिद्धियों की इच्छा नहीं है, उसे समझ में नहीं आता कि कोई इच्छा के पीछे काहे के लिए जाता है! ऐसे ही समाज का, या नरकादि का जिसको भय नहीं है, वह भी नहीं समझ सकता कि भय कैसे प्रवर्त्तक होता है, प्रवृत्ति कराने वाला होता है। इनमें से कोई एक भी प्रवृत्ति होवे तो मोक्ष की प्राप्ति संदिग्ध हो जाती है। इसलिए कहा कि जिसके इच्छा, भय और क्रोध चले गये हैं; और केवल 'गत' नहीं कहकर '*विगत*' कहा अर्थात् ऐसे निकल गए हैं कि अब वे 'हैं' करके बोध भी नहीं रहता; जो इस प्रकार का संन्यासी है वह सदा मुक्त है। जिसको पहले (श्लोक २६) 'अभितः' कहा था उसी को यहाँ 'सदा' कह दिया; हमेशा ही अर्थात् जीते रहते हुए भी और जीवन समाप्त होने पर भी वह मुक्त ही है।।२७-२८।।

इस प्रकार ध्यान की प्रक्रिया बतलाई कि ध्यान कैसे किया जाता है। अब ध्यान जिसका करना है उस ध्येय का निरूपण करते हैं

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२६।।

।। इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः।।

यज्ञों व तपों का भोक्ता, सब लोगों का महान् ईश्वर, सब प्राणियों का सुहृद् (मित्र) जो मैं (परमात्मा, उसे) साक्षात् जानकर साधक शान्ति प्राप्त करता है।

'मां ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति' मुझे जान कर शांति मिलती है। 'माम्' की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं 'सर्वप्रत्ययसाक्षिणम्' वही सब अनुभवों का प्रकाशक है। प्रमा-रूप हों या भ्रम-रूप हों, सभी प्रतीतियों का वही साक्षी है। रस्सी को रस्सी देखना प्रमा-रूप प्रतीति है, रस्सी को साँप देखना झूठी, भ्रमरूप प्रतीति है। प्रमा और भ्रम दोनों प्रत्यय हैं, प्रतीतियाँ हैं। इस प्रकार के सारे प्रत्ययों का, प्रतीतियों का जो साक्षी आत्मरूप नारायण है, वही

ध्येय है। आत्मरूप नारायण का ध्यान करना है। नारायण कैसे हैं? 'यज्ञतपसां भोक्तारम्।' यज्ञ अर्थात् जितनी भी परमेश्वर के लिए पूजाएँ करते हैं। परमात्मा के उद्देश्य से अथवा देवता के उद्देश्य से किसी-न-किसी चीज़ का मन्त्रपूर्वक त्याग करना यज्ञ कहा जाता है। सभी पूजाओं के अंदर कुछ-न-कुछ त्याग किया जाता है, देवता के उद्देश्य से किया जाता है और किसी-न-किसी मंत्र का प्रयोग होता है। जिसमें द्रव्य का त्याग नहीं है, भोग का त्याग है अर्थात् भोग नहीं करना है वह तप है। यज्ञ में कुछ देना है, चाहे वाणी-रूप से दो, चाहे मन की वृत्तिरूप से दो, चाहे घी आदि पदार्थों के रूप में दो। तप के अंदर देना नहीं है, अपने किसी भी भोग का त्याग करना है परमात्मा के उद्देश्य से। अन्न नहीं खाया, अन्न का त्याग किया। जल नहीं पिया, जल का त्याग किया। भोजन का त्याग तो गद्दी पर बैठा हुआ सेठ भी करता है! भोजन पड़ा हुआ ठंडा हो जाता है, सेठ नहीं खाता क्योंकि ग्राहकों में फँसा रहता है। परंतु वह धन के उद्देश्य से त्याग किया है, देवता के उद्देश्य से नहीं, इसलिए उसको तप नहीं कहते। देवता उद्देश्य हो और भोग का त्याग हो, तब तप है। यज्ञ और तप, इनके कर्त्तारूप से इनके फल को प्राप्त करने वाला है परमेश्वर। ईश्वरार्पण बुद्धि से करने पर परमेश्वर को ही उस के फल का अर्पण करने से वही भोक्ता है। परमेश्वर वह जिसके निमित्त से यज्ञादि में त्याग किया, जिसके उद्देश्य से भोग का त्याग किया, इसलिए वह परमेश्वर ही उनका भोक्ता है।

और वह कैसा है? 'सर्वलोकमहेश्वरम्।' जो भी भूआदि ब्रह्मलोक पर्यन्त भिन्न-भिन्न प्राणिनिकायों के स्थान हैं, वे सब 'लोक' कहे जाते हैं। उन सारे लोकों का अन्तिम शासक महेश्वर है। ईश्वर अर्थात् जिसके शासन में कोई रहता है। राजा के शासन में राज्य है, गुरु के शासन में शिष्य है, पिता के शासन में पुत्र हैं, राजा, गुरु पिता ये सब ईश्वर हुए, शासन करने वाले। स्वयं राजा आगे किसी दूसरे के अधीन है, वह भी किसी तीसरे के अधीन है, परन्तु जो अन्तिम महेश्वर है वह सबका शासक होते हुए किसी के द्वारा शासित नहीं है। सभी लोकों का वही अन्तिम शासन करने वाला है।

और वह नारायण कैसा है? 'सर्वभूतानां सुहृदम्।' सुहृद् कहते हैं बदले में किसी उपकार की अपेक्षा किए बिना जो उपकार करता है। दो तरह से उपकार करने वाले होते हैं एक, जो अपेक्षा रखते हैं कि जिसका वे उपकार कर रहे हैं वह भी उनका उपकार करेगा। उपकार चाहे वाणी से हो, चाहे किसी चीज़ या क्रिया से हो। किसी ने तुमको एक गिलास पानी दिया, तुमने वाणी से 'धन्यवाद' कह दिया। वह पानी का गिलास इसलिए देता है कि तुम धन्यवाद कहो, उपकार की अपेक्षा रखता है। अगर नहीं कहते हो तो आगे वह देना नहीं चाहता! कहीं पैसे से प्रत्युपकार की अपेक्षा होती है। पहले आबू में बहुत बड़े-बड़े राजा आते थे। मौसम का पहला फल या फूल माली उन्हें भेंट करते थे तो वे खुश हो कर एक-दो गिन्नी दे देते थे। स्वतंत्रता के बाद जब यहाँ मंत्री लोग आए तब मालियों ने समझा अब ये राजा हैं, तो उनको जाकर दिया। उन्होंने खुश होकर रख

लिया, 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कह दिया, बस, कुछ इनाम आदि देना उन्हें था नहीं। तीन चार साल तो माली लोग देते रहे, फिर सब ने समझ लिया, कि ये दूसरी तरह के राजा हैं, तो देना बंद कर दिया। यहाँ धन इत्यादि किसी चीज़ की अपेक्षा थी। प्रत्युपकार चाहे शब्द से हो, चाहे और किसी प्रकार से हो, जहाँ किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा हो वहाँ प्रत्युपकार नहीं किया तो उपकार करना बंद कर देते हैं। इस प्रकार किसी उपकार की अपेक्षा न रख कर जो उपकार करता है, उसको सुहृद् कहते हैं।

परमेश्वर सारे प्राणियों के ऊपर बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए उपकार करता रहता है। पृथ्वी पर हम रात-दिन चलते हैं। पृथ्वी किसी उपकार की अपेक्षा करके हम को थोड़े ही खड़े होने की जगह देती है! सूर्य हमें प्रकाश देता है, ताप देता है। किसी उपकार की अपेक्षा करके थोड़े ही देता है। कोई सवेरे उठ कर पृथ्वी को नमस्कार करता है, पृथ्वी से क्षमा माँगता है कि 'तुम्हारे ऊपर पैर रखना पड़ता है।' सूर्य को कोई अर्घ्य देता है, जल, कुमकुम, पत्र पुष्प इत्यादि अर्घ्य में रख कर अर्पण करता है। अर्पण करने वाले को सूर्य कोई अधिक प्रकाश नहीं देता, नहीं करने वाले को कम प्रकाश नहीं देता। प्रातःकाल नमस्कार करने वाले को पृथ्वी खड़े होने में कोई विशेष सुविधा नहीं देती और जो नहीं करता, उसकी कोई सुविधा कम नहीं करती। परमेश्वर बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए उपकार करता ही रहता है। इसलिए परमात्मा को सुहृद् कहते हैं। सबसे बड़ा उपकार है कि हमें चेतना देता है। अंदर आत्मा-रूप से नारायण रह रहा है। वह न होवे तो हम भी ईंट पत्थर की तरह जड होवें। प्रतिक्षण यह उपकार करते हुए भी अनादि काल से आज तक हमने उसकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया। चन्द्रमा में क्या है? मंगल में क्या है? परमाणु में क्या है? सब चीज़ों को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं पर मैं के अंदर चेतन क्या है? इसको जानने का कोई प्रयत्न नहीं करते, कोई ध्यान ही नहीं है। अगर तुम से कोई मिलने आवे, और तुम उसकी तरफ ध्यान ही न दो, दूसरे-दूसरे काम करते रहो, तो उठ कर चला जाएगा, दूसरी बार आएगा ही नहीं। परंतु अनादिकाल से तुमने ध्यान नहीं दिया, फिर भी परमेश्वर तुमको ज्ञान-स्वरूप से उपकृत करता ही रहता है! तुम्हारा जो अहम् है उसके अंदर वह अपने को प्रतिबिम्बित करता ही रहता है। बिना किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे हुए निरन्तर हमें चेतन रखने का उपकार कर रहा है। सारे प्राणियों के हृदय के अंदर रहने वाला है और सभी कर्मों के फल को देता रहता है। जो 'कृष्णार्पणमस्तु' करता है उसको भी कर्म-फल मिलता है और जो नहीं करता, उसको भी कर्मफल मिलता है।

ऐसा जो वह आत्मा से अभिन्न नारायण सत्य है उसको 'ज्ञात्वा' इस प्रकार ध्यान करके उसका दर्शन करके, जैसा नारायण का वास्तविक स्वरूप है, उस रूप से ही उसको जान कर, 'शान्तिमृच्छति' संसार का स्वरूप निरंतर अशान्ति है, इसे नष्ट करके संसार का उपरतरूप जो तत्त्व है, उसको प्राप्त कर लेता है। शान्त, परमशांत हो जाता है

अर्थात् उसके बाद कोई दुःख अनुभव में आता नहीं। इस प्रकार ध्येय का निरूपण हो गया।।२६।।

इस अध्याय का नाम है कर्मसंन्यासयोग, क्योंकि इसमें सर्वकर्मसंन्यास के अंदर सारे कर्मयोग की समाप्ति बताई। अन्त में ध्यान योग को परमात्म-दर्शन के प्रति अन्तरंग साधन बताया। यह जो तीन श्लोकों से साधन और साध्य का निरूपण किया, इसी की व्याख्या करते हुए सारा छठा अध्याय आयेगा। वहाँ ध्यान-योग का निरूपण करेंगे।

।। पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

छठा अध्याय : आत्मसंयमयोग

श्रीभगवान् उवाच
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

जो कर्मांगभूत अग्नियों की सेवा न करे ऐसा नहीं और अग्निनिरपेक्ष तप आदि क्रियाएँ भी न करे ऐसा नहीं, किन्तु कर्मों के फल का सहारा लिए बिना कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, उसे संन्यासी और योगी मानना चाहिये।

कर्म के फल का आश्रय लिए बिना अर्थात् कर्म के अंदर प्रवृत्ति कराने वाली जो कामना, वह कामना पूर्ण हो इस उद्देश्य से जो कर्म का आश्रयण नहीं करता। कर्म करने पर भी वह नहीं चाहता कि कर्म का फल उसे हो। कर्म जो भी करोगे, वह फल के उद्देश्य से ही, अन्यथा प्रवृत्ति ही नहीं होगी। परन्तु 'वह फल *मुझे* न मिले' यह भाव रख सकते हो। जैसे, चाहे तुम खुद की दुकान करो, चाहे किसी सेठ की मुनीमगिरी करो, दोनों ही के अंदर तुम जो कर्म करते हो उसका फल है माल बिक कर फायदा होना। माल बेच कर फायदा करने के लिए ही तुम अपनी दुकान भी चलाते हो और मालिक की दुकान भी चलाते हो। फायदा हो यह फल तो मुनीम के सामने है, परंतु 'फल मुझे हो' ऐसा वह नहीं चाहता क्योंकि दुकान का मालिक दूसरे को जानता है, फल उसके अर्पण करता है। इसी प्रकार 'कर्म-फल मुझे प्राप्त होवे' ऐसी कर्मफल की तृष्णा का आश्रय करके साधक को कर्म नहीं करना है, कर्मफल परमेश्वर को ही अर्पण करने के लिए कर्म करना है।

वह कौन-सा कर्म करता है? 'कार्यं कर्म करोति' जो उसका कर्त्तव्य है, उसको करता है। सामान्य रूप से नित्य नैमित्तिक कर्मों का फल शास्त्रों में बताया नहीं है, परन्तु ये कर्त्तव्य हैं। शास्त्रों में जो तत्तत् फलों वाले न कहकर भी करने के लिए कहे गये हैं, उन्हें साधक अवश्य करता है। फल पर आश्रित होकर जो करता है, वह तो जिस फल

की इच्छा होगी उसके उपायभूत कर्म को ही करेगा। जिन कर्मों का फल चाहता नहीं उन कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करेगा। एक नियम याद रखना : तुम्हें स्वर्ग की इच्छा हुई और तुमने ज्योतिष्टोम शुरू कर दिया। इस बीच में तुमको विवेक उत्पन्न हो गया और तुम्हारी स्वर्ग की इच्छा नहीं रही। तब के लिये भी शास्त्रों ने यह निर्णय किया है कि प्रारंभ किया हुआ कर्म तो पूरा करना ही होगा। उसका भी फल तुम परमेश्वर के अर्पण कर दो क्योंकि तुमको विवेक उत्पन्न हो गया है, जिससे तुमको स्वर्ग की इच्छा नहीं रही, पर कर्म पूरा करो। इसीलिए कहीं पर कहा है कि काम्य-कर्मों को भी परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करे तो वे भी अन्तःकरण की शुद्धि में कारण हो जाते हैं। परंतु कामना न रहने पर किसी काम्य कर्म का आरंभ नहीं कर सकते। साधक प्रधान रूप से नित्य-नैमित्तिक कर्म करता है क्योंकि कर्म के फल को आश्रय नहीं करता अर्थात् 'कर्म का फल मुझे हो', ऐसा नहीं चाहता। जो कर्म श्रुति-स्मृति में कर्तव्य बताए गए हैं उनको फलेच्छा से रहित होकर जो करता है, ऐसे कर्मी को कर्मयोगी कहते हैं। योग अर्थात् चित्तवृत्ति को निरुद्ध करना। जिसका चित्त समाहित होता है उसको योगी कहा जाता है। उक्त साधक निष्काम होने से समाहितचेता ही है। और उसे संन्यासी भी कहते हैं। संन्यास का मतलब होता है परित्याग करना। कर्मफल का परित्याग करता है इसलिए संन्यासी कहा जाता है। लोक में भी कोई कह देता है 'आज से मुझे राजनीति नहीं करनी', तो कहते हैं 'इसने राजनीति से संन्यास ले लिया।' इसी प्रकार कर्मफल का आश्रय न करने वाला, कर्मफल छोड़ने वाला, संन्यासी भी कहा जाता है।

परंतु संन्यासी होने पर भी वह निरग्नि नहीं है अर्थात् कर्म के अंग जो गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणा नामक अग्नियाँ हैं, उन अग्नियों को भी उसने नहीं छोड़ा है और स्मार्ताग्नि का भी परित्याग नहीं किया है। वह अग्निरहित नहीं हुआ है फिर भी संन्यासी कहा जाता है। इसी प्रकार से उसने यद्यपि तप, व्रत, दान इत्यादि क्रियाओं को नहीं छोड़ा है अर्थात् जो अग्नि-संबंध से होने वाली क्रियाएँ नहीं हैं उन क्रियाओं को छोड़े बिना भी, क्रियाओं के रहते हुए भी, वह योगी कहा जाता है। साधारण योगी तप दान आदि सारी क्रियाओं को छोड़ करके केवल योगाभ्यास में संलग्न रहता है। क्रिया न छोड़ने पर भी प्रकृत साधक योगी कहा जाता है और अग्नियों का परित्याग न करने पर भी संन्यासी कहा जाता है। यह प्रशंसा है उसकी। प्रायः करके जो अग्नियों से रहित होता है उसको संन्यासी कहते हैं और जो अन्य सारी क्रियाओं का परित्याग करता है उसको योगी कहते हैं, परंतु भगवान् कर्मयोगी को संन्यासी और योगी रूप से प्रसिद्ध कह रहे हैं। यह उसकी स्तुति है। ऐसे प्रयोगों को गौण प्रयोग कहते हैं, किसी एक गुण के होने से जहाँ किसी शब्द का विषय बना दिया जाये वह गौण प्रयोग है। किसी के मुख को देखते ही आह्लाद होता है, प्रसन्नता होती है; सुन्दर मुख देखो तो प्रसन्नता होती है, चित्त में आह्लाद होता है; इसलिए मुँह को भी चन्द्रमा कह देते हैं 'चन्द्रमुखी

स्त्री', ऐसा प्रयोग करते हैं। मुख चन्द्रमा तो नहीं है, परंतु जैसे चंद्रमा प्रसन्न करता है ऐसे ही उसका मुख हृदय में आह्लाद ले आता है, इस गुणवृत्ति से कह देते हैं। इसी प्रकार चित्तविक्षेप के हेतु दान तप आदि का त्याग न करने पर भी उसको योगी कह देते हैं और अग्नियों का त्याग न करने पर भी उसको संन्यासी कह देते हैं क्योंकि उसने फलाश्रयण छोड़ा है। ऐसी गौणवृत्ति के प्रयोग से मुख्य वृत्ति को हटाया नहीं जाता है! जैसे चंद्रमुखी कहने का मतलब यह नहीं कि शशी चंद्रमा शब्द का अर्थ नहीं रहा! कवियों ने लिख दिया है कि 'उस गाँव में कभी अमावस नहीं होती, हमेशा पूर्णिमा बनी रहती है। क्योंकि अमुक लड़की वहाँ रहती है।' पर ऐसे गौण प्रयोग से मुख्य प्रयोग हटाया नहीं जाता है, उसका अभिप्राय प्रशंसा में होता है। कोई छोटा गाँव है, वहाँ थानेदार ही सबसे बड़ा अफसर है। कोई बात होती है तो कहते हैं 'हमारे लिए तो आप ही सुपरइन्टेण्डेण्ट हैं।' इसका यह मतलब नहीं कि सच में हम वैसा समझ रहे हैं। जैसे सुपरइन्टेण्डेन्ट अन्तिम निर्णय ले लेता है वैसे ही गाँव में थानेदार ले सकता है इस गौण वृत्ति से थानेदार को वैसा कह रहे हैं। इस गुणवृत्ति को न समझने के कारण अनेक लोग इस श्लोक में गड़बड़ अर्थ समझ जाते हैं कि भगवान् कर्मयोगी को *ही* संन्यासी कह रहे हैं! भगवान् भाष्यकार ने विस्तार से इस भ्रम को हटा कर यहाँ उक्त तात्पर्य स्पष्ट किया है।।१।।

संन्यासी व योगी कहने का अभिप्राय स्वयं भगवान् दिखाते हैं

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

हे पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसे योग जानो क्योंकि जिसने संकल्प छोड़ा नहीं ऐसा कोई योगी नहीं होता।

भगवान् कहते हैं सारे कर्मों के फलों का परित्याग-लक्षण जो संन्यास है, उसको तुम कर्मयोग ही जानो। सारे कर्मफलों का त्याग योग ही जानो। कर्मयोग प्रवृत्ति-लक्षण है। कर्मयोगी को हमेशा विधि-निषेधों के अनुसार ही करना या करने से रुकना पड़ता है। प्रवृत्तिलक्षण से सर्वथा विपरीत होता है निवृत्तिलक्षण परमार्थ संन्यास, जिसमें विधि-निषेधों को हमेशा दूर ही रखना है। ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण वाली चीज़ों को भगवान् क्या समझ कर, किस गौणवृत्ति से, एक कह रहे हैं? भगवान् स्वयं समझाते हैं जो परमार्थ संन्यासी होता है उसने सारे कर्म और उसके साधनों को कैसे छोड़ा? सारे कर्मों और फलों के विषय का संकल्प छोड़ दिया। उसे संकल्प कर्म का भी नहीं है और कर्मफल का भी नहीं है। इसी प्रकार कर्मफल का संकल्प इस कर्मयोगी ने भी छोड़ दिया। संन्यासी कर्म को *भी* छोड़ता है और कर्म के संकल्प को अर्थात् फल की इच्छा को भी छोड़ता है। योगी फल की इच्छा को तो छोड़ देता है, कर्म को नहीं

छोड़ता। जिसने कर्मफल का संकल्प छोड़ा नहीं है, ऐसा कोई भी कर्मयोगी नहीं होता। संन्यासी में कर्म-त्याग और कर्मफलत्याग दोनों हैं। योगी में कर्मफलत्याग है, कर्मत्याग नहीं है। किंतु क्योंकि असन्न्यस्तसङ्कल्प कोई कर्मयोगी नहीं होता इसलिए यहाँ कर्मयोगी को संन्यासी कह दिया। दोनों की एकता का जो पूर्व श्लोक में संकेत था, उसे यहाँ पर स्पष्ट कर दिया।

उसको योगी क्यों कहते हैं? फलसङ्कल्प से ही चित्त का विक्षेप होता है। ओ.एन.जी.सी. का चेयरमैन अरबों रुपयों की कम्पनी को सम्भालता है, सब जगह का नफा-नुकसान देखता है। पर रात को मज़े से नौ बजे सो कर खुर्राटे भरता है! और जिसकी पचास हज़ार की आटा-दाल की दुकान है अपनी, उसे अकस्मात् सरकार की घोषणा सुनाई देती है कि 'आटे का अमुक दाम ही हो सकता है, उसमें ही बेचना पड़ेगा', उसने महंगे आटे को लेकर रखा हुआ है, तो चाहे पचास हज़ार का ही कारोबार है, पर उसे रात में नींद नहीं आती है, सोचता रहता है, 'अरे! यह तो बहुत घाटा हो गया।' उसे चित्त का विक्षेप है और अरबों की कम्पनी वाले चेयरमैन को नहीं है। क्यों? अरबों की कम्पनी वाले का घाटा-नफा किसी और का है, *उसका* नहीं है। और पचास हज़ार की दुकान वाले का नुकसान भले ही बीस हज़ार का है परन्तु वह *उसका* है। फल के प्रति सङ्कल्प है इसलिए उसे नींद नहीं आ रही। चित्त के विक्षेप का कारण कर्मफल का सङ्कल्प ही है। इसी प्रकार से 'परमेश्वर का काम मैं कर रहा हूँ, उसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ! मुकदमे में हार हो या जीत, युद्ध में हार हो या जीत, वह उसी की होनी है, महेश्वर वही है, मेरी होनी नहीं।' ऐसे निश्चय वाले का चित्त का विक्षेप कम हो जाता है। अतः कर्मफल का त्याग किए बिना कर्मयोगी होता नहीं इसलिए उसको संन्यासी *कह दिया* और कर्मफल का त्याग करने से अत्यधिक चित्तविक्षेप भी होता नहीं इसलिए उसको योगी भी *कह दिया।* इस प्रकार कर्मयोगी की प्रशंसा हो गई।।२।।

दो तरह के साधन होते हैं अन्तरंग साधन और बहिरंग साधन। मुख्य कार्य को करने में साक्षात् जिन चीज़ों का उपयोग है उन्हें अन्तरंग साधन कहते हैं और जिन्हें किए बिना मुख्य कार्य को करना प्रारम्भ नहीं किया जा सकता, उन्हें बहिरंग साधन कहते हैं। ध्यान-योग करने के अन्तरंग साधन आगे बतलाएँगे प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, जो साक्षात् ध्यान-योग की सिद्धि में कारण हैं। एवम् ध्यान-योग करना प्रारम्भ ही नहीं हो सकता जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाए, इसलिए वह बहिरंग साधन है। फल-आशा को छोड़कर कर्म करना रूप कर्मयोग के बिना ध्यान-योग में प्रवृत्ति बन नहीं सकती। उसी कर्मयोग की भगवान् ने प्रशंसा की। प्रशंसा के द्वारा भगवान् ने उसके उपयोग का संकेत से कथन कर दिया। कर्मयोग करने में फल की कामना का परित्याग करना पड़ता है, इस परित्याग की समता से कर्मयोग को संन्यास कहा है। और चित्त-विक्षेप का बहुत बड़ा कारण फल के प्रति आसक्ति है। फल के प्रति आसक्ति

हटने से चित्त का विक्षेप न्यूनतम हो जाता है। क्योंकि कर्मयोग से चित्त-विक्षेप भी बहुत हद तक दूर होता है इसलिए इसको योग भी कहा। ससाधन कर्म और फल का सर्वथा परित्याग मुख्य संन्यास है, जबकि फलत्याग-पूर्वक काम्य व निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर्मयोग है। त्याग की समानता से कर्मयोग को संन्यास कह दिया। इस प्रकार फलाशा से रहित होकर जो कर्मयोग है, वह ध्यान-योग का बहिरंग साधन है। कर्मयोग ध्यान-योग का साधन है, इसको भगवान् अपने मुख से कहते हैं। कर्मयोग करने पर ही ध्यान-योग की सामर्थ्य आती है, अधिकारिता आती है

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योग पर आरूढ होने के इच्छुक मुनि के लिये साधन बताया गया है कर्म, और वही जब योग पर आरूढ हो जाये तब उसी के लिये सब कर्मों से निवृत्ति साधन बतायी गयी है।

कर्मफल को इसने त्याग दिया, कर्मफल का संन्यास कर दिया है, इसलिए योगी को यहाँ मुनि कहा है। वह जब तक 'आरुरुक्षु' है, चढ़ने की इच्छा वाला है। जूता इत्यादि पहन कर आदमी घोड़े पर चढ़ने के लिए तैयार है, घोड़े की लगाम पकड़ ली, तब उसको आरुरुक्षु कहेंगे कि घोड़े पर चढ़ना चाहता है। अर्थात् वह अभी अनारूढ है, घोड़े पर बैठा नहीं है। वैसे यहाँ भाव है कि ध्यान-योग का प्रारम्भ अभी नहीं किया है, ध्यान-योग पर आरूढ होने की अर्थात् ध्यान-योग का अभ्यास करने की इच्छा वाला है। ऐसा जो मुनि है, 'कर्म कारणम्' उसके लिए कर्म अर्थात् कर्मयोग ही कारण है, साधन है। कर्मयोग करेगा तभी ध्यानयोग पर आरूढ हो सकेगा। यहाँ कर्म का मतलब कर्मयोग। अब, 'योगारूढस्य' जब ध्यान-योग करने में समर्थ हो गया, ध्यान-योग का अधिकारी हो गया, ध्यान करने में सशक्त हो गया, तब 'शमः कारणमुच्यते' सब नित्य-नैमित्तिक कर्मों का त्याग करना ही उसका साधन बनेगा! नित्य-नैमित्तिक आदि जो भी कर्म होगा वह विक्षेप का कारण होगा, ध्यान-योग पर आरूढ नहीं होने देगा। जैसे ही ध्यान शुरू करेगा, किसी कर्म का समय आ जायेगा, कर्म की आवश्यकता पड़ जायेगी, तो उसका चित्त विक्षिप्त हो जाएगा, शान्त होकर ध्यान नहीं कर सकेगा। काम्य-निषिद्ध तो पहले ही छोड़ चुका था, अब नित्य-नैमित्तिक कर्मों की भी निवृत्ति कर देता है। जिनके बिना शरीर नहीं रह सकता वे केवल शारीर कर्म, पहले ही कह आए हैं कि, निवृत्त हो नहीं सकते। खाना-हगना आदि करना ही पड़ेगा। परंतु अन्य जितने कर्म हैं, उन सबका परित्याग यहाँ साधन कहा जा रहा है। योगारूढ होकर ध्यान-योग खुलकर कर सके, इसके लिए शम ही कारण है, सारे कर्मों की निवृत्ति ही कारण है।

शंका आ जाती है कि कर्म और शम इनका अभ्यास करने के अधिकारी आरुरुक्षु

और योगारूढ क्या अलग-अलग हैं? अर्थात् क्या कर्म करने वाला फलाशा छोड़कर कर्म ही करता रहेगा के एवं शम करने वाला शम ही करता रहेगा? इस शंका को हटाने के लिए भगवान् ने कह दिया *'तस्यैव'* अर्थात् यह दो साधकों का प्रसंग नहीं है। एक ही साधक के लिये क्रमशः दोनों साधन हैं। जिसने कर्मयोग का अभ्यास किया है, उसे ही कर्मों से निवृत्ति करनी है। साधन होने से इनके बारे में समझ लेना चाहिये कि कोई बिजली का खटका नहीं है कि जैसे खटका दबा दिया तो पंखा चल पड़ता है, दूसरी ओर दबा दिया तो रुक जाता है, ऐसे कर्मयोग एकाएक किया और छोड़ा जा सके! जितनी-जितनी कर्मों से उपरामता होगी उतना ही उतना मनुष्य निरायास हो जाएगा, आयास से रहित हो जाएगा। कर्म करने में जो विक्षेप है, वह जितना कर्म कम करता जाएगा, उतना ही कम होता जाएगा। आयास-रहित तो तमोगुणी भी होता है! आलासी प्रमादी भी कर्म नहीं करता है, लेकिन उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, मन वश में नहीं है, अतः वह ध्यान-योग नहीं कर सकता। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, वही आयास से रहित होने पर ध्यान कर सकेगा क्योंकि ध्यान करना बड़ा ही क्लिष्ट कर्म है, मुश्किल काम है। लोग सोचते हैं कि ध्यान करने में मेहनत नहीं है! ध्यान करने में पूरी मेहनत होती है। जो जितेन्द्रिय नहीं होगा उसका मन आयास न होने पर भी शांत नहीं होगा, कर्मों से उपरामता जब जितेन्द्रिय की होती है तब उसका जो श्रमरहित चित्त है वह ध्यान-योग में अधिकाधिक समाहित होता जाता है। उसपर जितना-जितना कर्म का दबाव हटता है, उतना ही उतना ध्यान योग दृढ होता जाता है। जब शम पूर्ण हो जाता है, कर्ममात्र का संन्यास पूरा हो जाता है, तब ध्यान-योग का अभ्यास भी पूरी तरह से हो सकता है।

बहुत-से लोग घोड़े पर बैठते हैं, पर मुश्किल से घोड़े पर अपने आपको सम्भाल के रखते हैं कि कहीं गिर न जावें! वे घोड़े पर रूढ तो हैं, पर ऐसे आरूढ नहीं कि उस पर नियंत्रण रख आराम से चला सकें। इसी प्रकार यदि इन्द्रियों की उपशान्ति नहीं है तो ध्यान करने के लिए बैठने पर नींद आने लगेगी। कई लोगों की शिकायत रहती है कि जब घर का या कोई भी काम करते रहते हैं तब उसमें मन खूब लगता है परंतु जब भगवान् का ध्यान करने बैठते हैं, तब दुनिया-भर की बातें याद आती हैं। इसका कारण क्या है? जितेन्द्रियता का अभाव। ऐसे लोग अभी कर्मयोग के अधिकारी हैं, ध्यान-योग के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए भगवान् व्यास ने कहा है

'नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानम् आर्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः।।'

वित्त कहते हैं धन को। धन होने पर बाह्य पदार्थों को खरीद सकते हो, पा सकते हो। नोट हो, डॉलर हो, जमीन हो, सब वित्त है। जिस क्रैडिट कार्ड से तुमको चीज़ मिलती है उसे भी वित्त ही कहा जाता है। इसी प्रकार यदि तुम ब्रह्म के ग्राहक हो तो क्या वित्त चाहिये, यह व्यास जीने बताया। यहाँ ब्राह्मण-शब्द का अर्थ वह है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा कि जो ब्रह्म में निष्ठा वाला है वही ब्राह्मण है, 'अथ ब्राह्मणः' जिसने सारे साधन पूर्ण कर लिए, वह अब ब्राह्मण हुआ। ब्राह्मण को भी ब्राह्मण इसीलिए कहते हैं कि मनु इत्यादि के अनुसार ब्राह्मण शरीर की प्राप्ति भगवान् कृपा करके इसलिए नहीं देते हैं कि बाकी किसी चीज़ के लिए प्रयत्न करो, वरन् इसलिये कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। इस उद्देश्य से जो शरीर मिला है, उसे ब्राह्मण शरीर कहते हैं। इसलिए ब्राह्मण शरीर को स्मृतियों के अंदर चलता-फिरता नारायण का रूप बतलाया है। ऐसा जो ब्राह्मण है, उसका ब्रह्मप्राप्ति के लिए वित्त क्या है? क्या चीज़ें हैं जिनसे वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा?

'एकता' बार-बार मैं की वास्तविकता का विचार करना; मैं नहीं, मैं की वास्तविकता ब्रह्म है बार-बार इस एकता का जितना चिंतन होगा उतना ही ब्रह्म के ज्ञान के नज़दीक पहुँचेगा। 'समता' प्राणिमात्र के अंदर रहने वाला जो, वह मुझ से अभिन्न है। प्राणिमात्र के हृदय में एक ही है। प्राणिमात्र समान हैं क्योंकि उनके अंदर एकमात्र परमात्मा ही विद्यमान है। 'सत्यता च' जो चीज़ जैसी हो, उस चीज़ को मन, वाणी और शरीर से वैसा ही प्रकट करना और वैसा ही जानने का प्रयत्न करना। ब्रह्म सत्य है। अतः जो सत्य को जानना चाहेगा वही ब्रह्म को जानना चाह रहा है। जो वास्तविकता की तरफ जाने वाला होगा वही इस संसार का सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है, इस बात को जान पाएगा। 'शीलम्' सदाचार जिसका स्वभाव हो गया है अर्थात् दुराचार का उसके मन में उदय ही नहीं होता। सदाचार स्वभाव बने, तभी शील कहा जाता है। 'स्थितिः' अपने हर निर्णय में स्थित रहना। संसार के अंदर वह कुशल माना जाता है जो समय के अनुसार झट बदल जाए। बच्चों को समझाते भी हैं कि मौका होवे वैसा काम कर लेना चाहिए। ऐसे व्यक्ति परमात्म-प्राप्ति में लगे नहीं रह सकते। इसके लिये तो सिद्धान्त-निश्चय कर उसी पर टिके रहना, विरोधों का सामना करके स्थिर रहना आवश्यक है। 'दण्डनिधानम्' किसी को भी दंड देना जिसने छोड़ दिया है। चाहे कोई कितना भी अपकार करे, परंतु 'यह इसकी सज़ा पाए' ऐसा जिसके मन में आता ही नहीं है। बहुत-से लोग बाहर से तो दूसरे को दंड नहीं देते परंतु मन से देते हैं 'इसने मेरा काम बिगाड़ा है, भगवान् इसको देखेगा'; अर्थात् चाहते हैं कि उसे दंड मिले। अगर उसका कुछ बुरा होता है तो बड़े खुश भी होकर कहते हैं 'देखो! इसने मेरा अपकार किया था तो भुगत लिया न!' इस प्रकार विचार मन में न आना दंडनिधान है। 'आर्जवम्' मन, वाणी, शरीर के अंदर सरलता। मन में कुछ रखना, वाणी से कुछ और कहना, शरीर

से कुछ अन्य ही करना यह कुटिल आदमी का स्वभाव है। जैसा मन ने सोचा, वैसा ही वाणी बोले, वैसा ही शरीर करे यह ब्राह्मण का स्वभाव है। 'ततः ततः क्रियाभ्यः उपरमः' अन्त में उन-उन बाह्य क्रियाओं से शरीर को उपरत करना। ब्राह्मण को पूर्णता प्राप्त करने के लिए उपरामता अवश्य कर्त्तव्य हो जाती है। अतः ब्रह्मप्राप्ति के लिये शम की आवश्यकता निःसन्दिग्ध है।।५।।

भगवान् बताते हैं कि साधक योगारूढ कब कहा जाता है

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

जब, क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता इसलिये सारे संकल्पों का स्वभाव से परित्याग कर देता है, तब योग पर आरूढ कहा जाता है।

'कर्मयोग का मेरे लिये उपयोग पूरा हो गया, अन्तःकरण शुद्ध हो गया, अब मैं योगारूढ होने के योग्य हो गया।' यह कब समझना चाहिये? योगी जिसने कर्मयोग का अभ्यास कर लिया और ध्यान-योग में तल्लीन होने को उत्सुक है जब समाधि के लिये बैठे अर्थात् चित्त को समाहित, सम नाम ब्रह्म पर एकाग्र करने का प्रयत्न करे, और तब उसे ऐन्द्रिय विषयों व चेष्टाओं के प्रति आसक्ति महसूस न हो, तभी समझना चाहिये कि कर्मयोग का उपयोग पूरा हुआ। इन्द्रियों के रूप-रस आदि विषय एवं इहलोक-परलोक संबंधी कर्म जब प्राप्तव्य और कर्तव्य न लगें तभी चित्त शुद्ध समझा जा सकता है। यह तभी हो जब विषयों व कर्मों से जो हो सके उसे प्रयोजन समझना ख़त्म हो। जिस प्रकार जिसके घर में बारह लड़के पहले ही मौजूद हैं उसे पुत्रकामेष्टि करने की इच्छा नहीं होती, इसी प्रकार नित्य नैमित्तिक काम्य प्रतिषिद्ध इत्यादि से जो भी इहलोक में और परलोक में प्राप्त हो सकता है, उस सबको प्राप्त करने की इच्छा जब नहीं है तब प्रयोजन के अभाव का निश्चय होने से कर्मों में कर्त्तव्य-बुद्धि नहीं होती। इन्द्रिय-अर्थों में अनासक्ति कारण बनती है कर्मों में अनासक्ति के प्रति।

यह भी क्यों होता है? 'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी।' कामना सङ्कल्प से ही होती है। शास्त्रकारों ने कहा है

'काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् त्वं हि जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।।'

हे काम! मैंने तेरी जड़ को जान लिया कि तू कहाँ से आता है। किसी भी चीज़ के बारे में वह अच्छी है, सम्यक् है, ऐसी जब कल्पना होती है तब उस चीज़ की कामना आती है। जिसने सारे पदार्थ और सारे लोकों को विवेक के द्वारा समझ कर उनके प्रति

'सम्यक्, अच्छे हैं,' यह बुद्धि हटा ली, उसे सङ्कल्प नहीं होगा। सङ्कल्प से कामना उत्पन्न होती है। मैं जब सङ्कल्प करूँगा ही नहीं तो फिर कामना आएगी कहाँ से! जितने भी शास्त्रीय और लौकिक कर्म हैं सब सङ्कल्प-मूलक हैं। पहले संकल्प होगा तब कर्म होंगे। सङ्कल्प-मूलक ही सारी कामनाएँ हैं। सङ्कल्पों के परित्याग से स्वतः सारे कर्मों का परित्याग प्राप्त हो जाता है। इसलिए भगवान् ने कहा सर्वसङ्कल्प-संन्यासी। कर्म का परित्याग कामना के परित्याग से करने को कह रहे हैं। कर्मों से जो प्राप्त होगा, उसकी अभिलाषा नहीं है, कामना नहीं है, इसलिए कर्म का त्याग है। चीज़ें प्राप्त करने के योग्य ही नहीं हैं यह निश्चय होने पर सर्वसङ्कल्पसंन्यासी बन सकता है। सर्व शब्द इसलिए कहा कि इहलोक-परलोक दोनों जगहों के विषय संकल्प-कामनापूर्वक कर्म में प्रेरित करते हैं। इस प्रकार कामहेतुक संकल्पमात्र छोड़ना ही जिसका स्वभाव बन गया है उसको कहते हैं सर्वसङ्कल्पसंन्यासी। सारी कामनाओं के परित्याग करने पर कर्म असम्भव होकर सर्वकर्मसंन्यास स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जब ऐसा हो जाता है, उस काल में 'योगारूढ उच्यते' उसे योगारूढ कहा जाता है। तब तक कर्मयोग का अभ्यास करे जब तक इन्द्रियों के विषयों के संकल्प छूट नहीं जायें। अन्यथा, कर्म से जो प्राप्त होगा उसके अंदर सम्यक् बुद्धि नहीं हटेगी तो कामना होती रहेगी। इसी बात को उपनिषद् ने इस तरह से कहा कि कृत से अकृत की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो *किया जाता* है, वह *नहीं किए जाने वाले* की प्राप्ति नहीं करा सकता। अनुभव भी यही होता है कि जिस चीज़ के संकल्प का त्याग हो जाता है उस की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। हम लोगों के देखते-देखते यह फ़र्क आया : पहले शास्त्रों के अध्ययन के प्रति संकल्प होता था कि 'मेरा बेटा शास्त्र-अध्ययन करने वाला हो', तो उसके लिए ही प्रयत्न करते थे। अब उसकी जगह हो गया कि शास्त्र-अध्ययन नहीं, इंजीनियर या डाक्टर बने, तो उसी के लिये घोर प्रयत्न करते हैं। हम लोगों की पाठशालाओं में भोजन मुफ्त, वस्त्र मुफ्त, पुस्तकें मुफ्त, पढ़ाना मुफ्त, ये सब सुविधाएँ होने पर भी पढ़ने वाले नहीं हैं! इंजीनियरी, डाक्टरी की शिक्षा के लिये लाखों रुपये देकर भर्ती कराते हैं, फिर भी होड़ लगी रहती है, जगह नहीं मिलती! जिस चीज़ का संकल्प हट जाता है उस के प्रति कर्म होता ही नहीं। जिसका ऐहिक-आमुष्मिक काम का कारण संकल्प हट गया, उससे किसी भी कर्म में प्रवृत्ति होगी नहीं। भाष्यकार लिखते हैं कि बिना संकल्प के कोई स्पंद अर्थात् शरीर हिला भी नहीं सकता। कोई बैठा हुआ उठता है तो हर-एक पूछता है 'किसलिए उठे?' वह भी कोई प्रयोजन बताता है। उठने का कोई-न-कोई संकल्प होता है, तभी उठने की क्रिया भी करता है। इसलिए सर्वसंकल्प-संन्यासी का अर्थ है कि सारी कामनाएँ और सारे कर्मों को छोड़ देता है, तब योगारूढ है।।५।।

जब योगारूढ हो जाता है तब उसे क्या करना है

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

स्वयं अपना उद्धार करे, खुद की अधोगति न कराये। आत्मा ही आत्मा का बन्धु और शत्रु है।

हमारा आत्म-स्वरूप अज्ञान के कार्यरूपी संसार के अंदर डूबा हुआ है; अज्ञान के समुद्र में और अज्ञान से होने वाली जितनी ये संसार की प्रवृत्तियाँ हैं, उनके अंदर डूबा हुआ है। 'उद्धरेत्' उसका उद्धार करे, वहाँ से दूर करे। किधर को? 'उत्'; उत् ब्रह्म का नाम है। अज्ञान सागर में जो हमारा आत्मा पड़ा हुआ है, उसको ब्रह्म के अनुभव की तरफ ले जावे। किससे ले जावे? 'आत्मना।' खुद तुमको ही उसमें से अपने को निकालना है। इसमें से निकालने में सिवाय तुम्हारे और कोई सामर्थ्य वाला नहीं है। तात्पर्य है कि योगारूढ होकर ध्यान-योग का अभ्यास पूरी तरह से कर लेवे क्योंकि इसके द्वारा ही उद्धार संभव है। कर्मों को छोड़ करके 'आत्मानं न अवसादयेत्' आत्मा को और ज़्यादा तमोगुण के अंदर डुबा न देवे। कर्मों को छोड़ दिया और ध्यान-योग का पूरी तरह से अभ्यास किया नहीं तो तमोगुण में डूब जाएगा, अवसन्न हो जाएगा। ऐसा कर स्वयं को नीचे न ले जाए वरन् ऊपर उठावे। सांख्यों ने इस सन्दर्भ में बड़ा सूक्ष्म विचार करके कई तरह के सन्तोषों को बतलाया है। 'मैंने सारे कर्म छोड़ दिए, बस अब मुझे क्या करना है!' ऐसी तुष्टि अनेकों को हो जाती है पर यह अपने अवसादन का हेतु बनता है। साधक सोचे कि 'अभी तो ज्ञान की प्राप्ति करनी है। संसार में भले ही कुछ प्राप्त नहीं करना है।' तभी साधना में लगा रह सकेगा।

मैं ही अपना उद्धार क्यों करूँ? क्योंकि तुम ही तुम्हारे बन्धु हो। जो दूसरे बन्धु हैं वे मोक्ष के मार्ग में प्रतिकूल ही रहेंगे क्योंकि वे स्नेहादि बन्धनों को लाने वाले हैं। दूसरे बन्धु तुम्हारे मुक्ति-पथ के सहायक नहीं होंगे उल्टा अपने स्नेह आदि के द्वारा तुम को संसार सागर में ही रखना चाहेंगे। इसलिए आत्मा ही, खुद ही अपना बन्धु हो सकता है। इसी प्रकार, अगर तुम पूरे प्रयत्न से ध्यान-योग में नहीं लगते हो तो तुम खुद ही अपने रिपु हो, शत्रु हो। जिस प्रकार से शत्रु तुम्हारा अपकार करता है, तुमको नुकसान पहुँचाता है, उसी प्रकार पूरे प्रयत्न से ध्यानयोग का अभ्यास न करने पर परमात्मा की प्राप्ति के रास्ते पर आगे चलते नहीं, इसलिए तुम ही अपने शत्रु बनते हो, अपकारी बनते हो, नुकसान करने वाले बनते हो। बाकी चीज़ों में बन्धु-बांधव तुम्हारी मदद कर सकते हैं, कोई भी मदद कर सकता है, लेकिन अपने आत्मा का उद्धार करने के लिए तुमको खुद ही प्रयत्न करना पड़ेगा।।५।।

ध्यान-योग का बहिरंग साधन जो कर्मयोग अर्थात् फलाशा को छोड़ कर विहित कर्मों के अंदर प्रवृत्ति, यह बड़ा कठिन काम है। दो ही चीज़ें मनुष्य की समझ में आती

हैं यदि फल प्राप्त करना है तो काम करो और यदि फल नहीं प्राप्त करना है तो काम मत करो। ये दो बातें समझ में आती हैं। काम करो और फल प्राप्त न करो यह अत्यन्त कठिन मामला है। मोक्ष की साधना में यह पहला कदम है। पहले फल की कामना छोड़ोगे तब कर्म की कामना छोड़ोगे, तभी योगारूढ होने की सम्भावना आएगी। यदि आलस्य के कारण मन में फल की इच्छा रहते हुए कर्म का त्याग करोगे तो चित्त कभी भी समाहित नहीं हो पाएगा। कर्म तो छोड़ दिया आलस्य के कारण, पर चाहते ये हैं कि फल हो जाए किसी तरह से यह भावना प्रायः लोगों में देखी जाती है। बिना कर्म के, फल मिल जाए यह इच्छा रहती है। फल की इच्छा तो है, उसके लिए जो प्रयत्न करना चाहिए वह करने के लिए तैयार नहीं हैं। अधिकतर संसार के अंदर ऐसे लोगों को ही अन्धविश्वास के सहारे बहुत कुछ ठगा जाता है! बिना किए तुमको मिल जाएगा यह प्रलोभन बहुतों को फँसा लेता है। इस खतरे से बचने के लिये, शास्त्रों में तरीका बतलाया कि पहले फल की कामना छोड़ने के लिए साधना करो और जब फल की कामना छूट जाए तभी कर्म को छोड़ो। तब चित्त फल की कामना से व्याकुल नहीं होगा। कर्म करने का अभ्यास है, अतः कर्म छोड़ने पर उसके लिए जो थोड़ी-बहुत व्याकुलता होती है, वह कर्म को छोड़ कर नियंत्रित की जा सकती है, उपशम की प्राप्ति की जा सकती है। इसी लिये ध्यान-योग के बहिरंग साधनरूप से फल-आशा को छोड़ कर कर्म करने का भगवान् ने कर्मयोग के रूप में उपदेश दिया और उसकी प्रशंसा की। त्याग आदि धर्मों की समानता से उसे भी एक तरह से संन्यास ही समझो यहाँ तक कह दिया। चित्त-विक्षेप का कम-से-कम एक कारण जो फल-आशा, वह हटी है, इसलिए उसे योग भी मान लिया। यों कदम-कदम प्रयास करते रहने पर ही योगारूढ हुआ जा सकता है। इस मार्ग में खुद तुम ही अपना साथ दे सकते हो और अगर तुम अपने लिए प्रयत्न नहीं करते हो तो तुम ही अपने को नीचे ले जाने वाले बनोगे।

कब मनुष्य अपने को ऊपर ले जाता है और कब नीचे ले जाता है इत्यादि बातों को बतलाते हैं

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्।।६।।

अपना बन्धु वह आत्मा है जिसने स्वयं अपने पर (देहादि संघात पर) विजय पा ली है। अपने पर नियंत्रण न पाये हुए के प्रति तो आत्मा ही शत्रु-सा बर्ताव करता है।

आत्मा अर्थात् शरीर-इन्द्रियादि का जो संघात है। आत्मा शब्द से 'मैं' को कहते हैं। समग्र लौकिक व्यवहारों के अंदर मैं का मतलब शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त होता है। इन्हीं का हम 'मैं' शब्द से व्यवहार करते हैं 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं काणा हूँ, मैं लूला हूँ, मैं बेवकूफ हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ' इत्यादि। अतः यही लौकिक या

व्यावहारिक आत्मा है। इसलिए यहाँ आत्मा अर्थात् कार्य-करण-संघात। जिस जीवात्माने अर्थात् उक्त उपाधियों वाले चैतन्य ने इन्हें अपने वश में कर लिया वह जितात्मा है।

मैं-शब्द के द्वारा अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति भी कही जाती है और मैं-शब्द के द्वारा चेतन भी कहा जाता है। ऐसे समझ लोः शरीर शब्द के द्वारा शव को भी कहा जाता है; मरने के बाद जो पड़ा हुआ शरीर है वह शव, मुर्दा भी शरीर कहा जाता है और शरीर का अर्थ इसमें रहने वाला चेतन भी होता है। इनमें से कोई *एक* शरीर शब्द का वाच्य नहीं है। केवल चेतन को भी शरीर नहीं कह सकते और बिना चेतन के देह को शव कहना पड़ेगा, शरीर नहीं कह सकते। शरीर-रूपी उपाधि का जब प्रयोग करते हैं तब दोनों चीज़ें सामने हैं, लेकिन अलग-अलग हो कर सामने नहीं आतीं। शरीर ही चेतन है, चेतन ही शरीर है यों दोनों का सर्वथा ऐक्येन अध्यास है, तादात्म्येन अध्यास है। जब हम कहते हैं 'मैं गोरा हूँ', तब हमारा यह अनुभव नहीं है कि 'मैं जो चेतन, वह गोरा नहीं हूँ, मैं जो शरीर, वही गोरा हूँ'; ऐसा लगता है कि मैं ही गोरा हूँ, मैं ही ब्राह्मण हूँ। विवेक करने वाला, शरीर और चेतना को अलग-अलग कह सकता है परंतु व्यावहारिक अनुभव के अंदर दोनों का तादात्म्य अध्यास रहता है। यह बात दूसरी है कि तुलनात्मक दृष्टि से शरीर बाह्य होने से इससे विवेक जल्दी हो जाता है परंतु बिना विवेक के तो कभी भी 'मैं शरीर से अलग' ऐसा *अनुभव* नहीं होता। विष्णु की मूर्ति को देखते हैं, वहाँ सचमुच में क्या है? संगमर्मर है। उसमें चतुर्भुज आदि आकार खुदा हुआ होने से विष्णु की प्रतीति है। परंतु भक्त पूजा करता है तो ऐसा अनुभव करके नहीं कि 'है पत्थर, दीख रहा है विष्णु', वरन् 'विष्णु ही है' ऐसा मान कर पूजा करता है। उसका निश्चय होता है कि 'मैं जो पूजा कर रहा हूँ वह विष्णु की ही पूजा हो रही है।' इसीलिए इसको उपासना-शास्त्रियों ने 'अध्यास उपासना' कहा है, यहाँ तादात्म्य अध्यास होने से अध्यास-उपासना है।

इसकी अपेक्षा, मैं-रूपी अहंकारात्मिका वृत्ति सबसे आन्तरिक है। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन इन सबकी अपेक्षा बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति सबसे अंदर है। अतः यहाँ विवेक करना सबसे कठिन है। मैं के अंदर एक अहंकारात्मिका वृत्ति है, और दूसरा चेतन है; ऐसे दो का *भान* होना बहुत मुश्किल होता है। मैं, मैं नहीं हूँ यह कैसे समझ में आवे! यही कहना पड़ेगा कि 'मैं चेतन, मैं नहीं हूँ अर्थात् मैं की वृत्ति नहीं हूँ'; तो यह 'मैं मैं नहीं हूँ' कहने जैसी बात हो जाती है। परमेश्वर अत्यन्त दयालु हैं, उन्होंने सोचा कि मनुष्य इस बात को कभी समझ नहीं सकेगा, इसलिए उन्होंने अत्यन्त दया कर एक अवस्था हमें दे दी सुषुप्ति, गहरी नींद। गहरी नींद में हमें दो 'मैं' का अनुभव होता है, 'मैं सो रहा था परंतु मुझे मैं का भान नहीं था।' जाग्रत्-स्वप्न में कभी भी ऐसा नहीं होता कि मैं का भान न हो, इसलिए मैं से चेतन का विवेक असम्भव है। परंतु गहरी नींद की यह स्मृति नहीं आती कि 'मैं नहीं था', और 'मैं गहरी नींद में हूँ'

यह भी कभी प्रतीति नहीं होती। इसलिए मानना पड़ता है कि मैं-शब्द से दो बातें कही जाती हैं   जाग्रत्-स्वप्न में मन रहता है इसलिए मन की वृत्ति मैं और चेतन दोनों हैं। सषुप्ति में मन नहीं रहता इसलिए मन की वृत्ति, अन्तःकरण की वृत्तिरूप मैं नहीं है, परंतु चेतन है। सुषुप्ति का अनुभव देना परमेश्वर की अत्यन्त दया है, करुणा है जिसके कारण यह विवेक सम्भव होता है कि मैं के अंदर दो चीज़ें हैं। एक चीज़ वह है जो सुषुप्ति में रहती है, और दूसरी चीज़ वह है जो सुषुप्ति में नहीं रहती।

अहम् में दो चीज़ें हैं   वृत्ति और चेतन। वृत्ति के द्वारा तो हम इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर से और आगे शरीर-संबंधी से गौणाध्यास करके सबसे संबंधित होते हैं, वे अन्तःकरण के संबंध हैं। और जो चेतन है, वह परमात्मा का स्वरूप है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। जब तुम वृत्ति को चेतन परमात्मा की तरफ ले जाते हो, तब तुम कार्य-करण-संघात को जीतने में प्रवृत्त होते हो। इनके पीछे न जाकर के, जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही अपने को समझना   आवश्यक उपाय है। मैं को जब शरीरादि से संबंध वाला करोगे, तभी शरीर आदि को जीतोगे, बिना संबंध वाला हुए तो जीत नहीं सकते, परंतु शरीरादि से संबंध वाला होने पर भी शरीरादि सारे संघात को ऐसा बनाना है कि वह उस चेतन परमात्मा की तरफ जाए, यही उस को जीतना है। शरीर इन्द्रियादि तुम को चेतन की तरफ नहीं ले जाना चाहते, ये तो तुमको संसार की तरफ ले जाना चाहते हैं। ये महाभूतों से पैदा हुए हैं, उन्हीं की तरफ जाते हैं। इनको जीतोगे तुम अहंकारात्मिका वृत्ति के सहारे ही, परंतु उसको परमात्मा की तरफ लगा कर ही। जीवात्मा में अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति में जो चेतन है वह अन्तःकरण के सहारे से संघात पर विजय हासिल करेगा। चेतन तो निर्विकार है। इसलिए चेतन अन्तःकरण रूपी उपाधि के द्वारा ही जीतने इत्यादि का कार्य कर सकता है। जीतना अथात् वश में कर लेना। इन्द्रियादि अब चेतन के श्रवण-मनन में ही लगेंगी, शरीर आदि के सुख-दुःखों की तरफ ध्यान नहीं देंगी। जिसने ऐसे जीत लिया, उसका आत्मा अर्थात् उसके देह इन्द्रियादि उस जीवात्मा के बंधु हो गए। इससे विपरीत, 'अनात्मनः'   जिसने इस प्रकार से अपने आपको नहीं जीता, उसके ये देह-इन्द्रियादि उसके शत्रु की तरह हैं क्योंकि उसको ब्रह्म की तरफ न ले जा कर जगत् की तरफ ही ले जाते हैं। देह-इन्द्रियादि-संघात यदि परमात्मा की तरफ जाता है तो आत्मा का बंधु है और संसार की तरफ जाता है तो शत्रु है, अर्थात् जैसे शत्रु अपकारी होता है वैसे ही ये देहादि अपकारी हो जाते हैं।

यह जो भगवान् का वाक्य है इससे शास्त्रों के दोनों प्रकार के वचन ठीक-ठीक बैठ जाते हैं : अनेक वचन वैराग्य-प्रकरण में शरीरादि को अत्यन्त बुरा बतलाने वाले हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन ये क्या-क्या तुम्हारा नुकसान करते हैं यही बतलाते हैं। और फिर अनेक प्रकरणों में इन सबको बहुत ख्याल से रखने के लिए कहा गया! जहाँ कर्म करने का विचार आया, वहाँ कहा कि सबसे पहले शरीर की ज़रूरत पड़ती है धर्म करने के

लिए। 'शरीरम् आद्यम् खलु धर्मसाधनम्' सारे धर्मों का साधन सबसे पहले शरीर है। दोनों प्रकार के वाक्यों को देख कर कई बार संदेह हो जाता है। समाधान भगवान् ने यहाँ बतला दिया जब देहादि-संघात परमेश्वर की तरफ जाने के लिए ठीक कर दिया गया, तब तुम्हारा बन्धु है और जब संघात परमेश्वर से दूर करके संसार की तरफ ले जाने वाला हो, तब शत्रु है, निन्दनीय है। अर्थात् शरीरादि स्वरूप से न बंधु हैं, न शत्रु हैं; किस तरफ प्रवृत्त हैं इसी को लेकर बंधु या शत्रु होते हैं। शरीर का ध्यान नहीं रखोगे, बीमार पड़ोगे, तो श्रवण ही नहीं कर सकोगे। पेट खराब हो गया, हर पंद्रह मिनट में तुम को शौच करने जाना है तो कैसे मनन करोगे? इसलिऐ शरीर को ठीक भी रखना पड़ता है। किन्तु शरीर को ठीक रखना ही प्रधान नहीं हो जाना चाहिये अर्थात् धर्म का, साधनों का विरोध करके शरीरादि को ठीक रखें, ऐसा भी नहीं करना है। शारीरादि तो शत्रुता का परिचय देने के लिये वैसा करने की प्रेरणा देंगे, लेकिन विवेकपूर्वक उस ग़लती से बचे रहना पड़ेगा, तभी वे बंधु बने रहेंगे। इस प्रकार ये शत्रु भी हैं, मित्र भी हैं, इसीलिए इनकी प्रशंसा भी बनती है और निन्दा भी।।६।।

अब बताते हैं कि यह संघात बन्धु होने से क्या लाभ करता है

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

जिसने संघात पर विजय पा ली और बाह्य-आन्तर करणों को अत्यधिक उपरत कर लिया उसे ही परमात्मा का दृढ अपरोक्ष होता है। ऐसे साधक को सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और सम्मान-अपमान में सम रहना चाहिये।

कार्य-करण संघातको जिसने अपने वश में कर लिया, वह सर्दी-गर्मी आदि परेशानियों से अपने रास्ते से इधर-उधर नहीं भटकता। कहीं भी जाओ, कभी सर्दी कभी गर्मी होनी ही है। कहीं गर्मी ज़्यादा हो जाएगी, कहीं सर्दी ज़्यादा हो जाएगी। सर्वथा तो एक जैसा कहीं रहेगा नहीं। यह ठीक है कि जो तुम्हारे शरीर की प्रकृति के अनुकूल हो, उससे मिलती-जुलती जो परिस्थिति हो, उसमें रहो। लेकिन वहाँ भी सर्दी-गर्मी आदि से घबरा कर अगर स्थान ही परिवर्तन करते रहोगे तो साधना नहीं कर सकोगे। सर्दी-गर्मी से ऐसे कौन प्रभावित नहीं होगा? जो जितात्मा है। सर्दी-गर्मी से सुख-दुःख नहीं होगा, यह नहीं कह रहे हैं। शरीर के प्रतिकूल सर्दी या गर्मी होगी तो अनुकूल नहीं होगी इसलिए सुख-दुःख तो होगा, परंतु उससे प्रभावित न होने का मतलब है कि उसके कारण अपने श्रवण आदि का त्याग नहीं करना। जितात्मा उसे सहन करके साधना में रत रहेगा। शीतोष्ण की तरह दूसरे सुख-दुःख भी समझ लेने चाहिए। जैसे सर्दी-गर्मी दुःख देती है वैसे ही कोई ज़ोर से डण्डा मारे तो जो दुःख होता है, वह भी शरीर के कारण ही। डण्डा तो शरीर पर ही मारा जाता है। अथवा, गर्मी में पसीना बह रहा है,

किसी ने पंखे से हवा कर दी तो सुख भी होता है। वह भी शरीर को लेकर ही। कोई तुम्हें गाली देता है तो तुम्हारे शरीर को कोई चोट नहीं लगती, मन को ही चोट लगती है, दुःख होता है। कोई तुम्हारी प्रशंसा करता है तो शरीर को कोई आराम नहीं मिलता परंतु मन को सुख होता है। इसलिये यहाँ 'शीतोष्ण' के द्वारा शरीर को प्रधान करके कहा, 'सुख-दुःख' के द्वारा मन को प्रधान करके कहा। जितात्मा बनो ताकि उन सुख-दुःखों के द्वारा परमात्मा की तरफ जाने को कम न करना पड़े। किसी ने गाली दे दी। उपनिषद् का श्रवण करने बैठो तो तीन चौथाई समय मन कहता रहता है 'उसने देखो, गाली दे दी! मेरा अपमान कर दिया!' ऐसे में उपनिषद् का श्रवण ही पूरा नहीं हो पायेगा, आधी बात समझ में आयेगी, आधी समझ में ही नहीं आयेगी। शीतोष्ण में और सुख-दुःख में तुमको अपने मार्ग से विचलित करने की सामर्थ्य न होवे, यही उनको जीत लेना है, वश में कर लेना है। इसी प्रकार मान और अपमान हैं। मान अर्थात् तुमको कोई पूज्य समझे, तुम्हारी पूजा करे। अपमान, कोई तुम्हारा परिभव करे, तिरस्कार करे। पूजा और तिरस्कार से भी तुम अपनी साधना को मत छोड़ो, तब जितात्मा हो।

इस प्रकार जो जितात्मा होता है, वही प्रशान्त होता है। प्रशान्त मायने प्रसन्न; जैसे कार्तिक के महीने में तालाब प्रसन्न होते हैं, सारी गंदगी नीचे बैठ जाती है, ऊपर पानी बिल्कुल निर्मल होता है। वर्षा में गंगा जी इतनी मटमैली हो जाती हैं कि हाथ डालो तो दीखता नहीं। उसके बाद जब कार्तिक आता है तब धीरे-धीरे ऐसी निर्मल हो जाती हैं कि गहरे तले में जो पत्थर हैं वे चाहे तो ऊपर से गिन लो! गंदगी सारी बैठ जाती है। ऐसे स्वच्छ नदी, सरोवर आदि को कहते हैं कि प्रसन्न हो गये। इसी प्रकार, अन्तःकरण में राग-द्वेषादि संस्कारों का मैलापना है। जितना-जितना तुम कार्य-करण-संघात को जीतते चले जाते हो उतना-ही-उतना अंतःकरण शांत, प्रशान्त होता चला जाता है अर्थात् विकार नहीं रहते। ऐसा जो प्रसन्न अन्तःकरण वाला, अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित, सर्वथा निर्मल अन्तःकरण वाला, परमात्मा उसके अत्यन्त पास में बैठा हुआ है अर्थात् उसकी अपनी अहंकारात्मिका वृत्ति के अंदर प्रतिबिम्बित हो रहा है। अपने ही स्वच्छ हृदय में परमात्मा प्रकाशित होता है, जिस प्रकार मुख साफ काँच में प्रकाशित होता है। मुख तो अपने को कभी नहीं देख सकता, परंतु साफ काँच में पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है वह जैसा मुँह है वैसा ज्ञान करा देता है, ठीक बतला देता है कि मुँह कैसा है। गंदा काँच होता है तो मुँह जैसा है वैसा नहीं दीखता, काँच में पड़े हुए धब्बे भी मुँह पर दीखते हैं, काँच के दोषों वाला मुँह दीखता है। वैसे ही अन्तःकरण के दागों से, अन्तःकरण के हिलने से, दाग और हिलने वाला मैं चेतन ही प्रतीत हो रहा हूँ। अन्तःकरण में प्रतीत चेतन वही है, परंतु अन्तःकरण के दोषों वाला लग रहा है। निर्विकार होने पर भी विकारी, अकर्त्ता होने पर भी कर्त्ता, अभोक्ता होने पर भी भोक्ता दीख रहा है क्योंकि अंतःकरण के विकारादि से 'मैं ऐसा हूँ' यह दीख रहा है।

जितना-जितना अन्तःकरण प्रशान्त होता है उतना-ही-उतना अपना अकर्तापना-अभोक्तापना प्रकट होने लगता है। जब सर्वथा प्रशान्त हो जाता है तब 'परमात्मा समाहितः।' उसी अंतःकरण में शुद्ध ब्रह्मरूप का प्रतिभास होता है, साक्षात्कार होता है।।७।।

प्रसन्न मन वाले समाहितचेतस्क यति का ही वर्णन करते हैं

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

शास्त्रोक्त पदार्थों की समझ और अनुभूति से जिसका मन संतुष्ट है, जो हर्षादि से निर्विकार रहता है, जितेन्द्रिय है, मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण जिसके लिये समान हैं, वह परमहंस परिव्राजक समाहित कहा जाता है।

प्रशान्त अन्तःकरण की प्राप्ति कब होती है? ज्ञान अर्थात् शास्त्र में कही हुई बातों को जानना। शास्त्रोक्त विषय के जानकार को अन्यत्र श्रोत्रिय कहा है। शास्त्र के ज्ञान में तृप्तात्मा अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान जिसे पूर्ण लगता है, और कुछ जानने की इच्छा नहीं रह जाती। योगी केवल ज्ञान में ही नहीं रुकता, शास्त्र से जिनको जाना है, उनके विषय में संशयों को मनन के द्वारा दूर करके, अपने अनुभव के साथ मिला करके अनुभवगम्य बनाता है। शास्त्र ने जो बात कही, उसमें जितने संदेह हैं, वे सारे हटा लेता है और अपने अनुभव से मिलाता चलता है। अनुभवपूर्वक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जिसे शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त है और शास्त्रीय ज्ञान का अपने अनुभव के साथ सर्वथा मिलान भी हो गया है, वह ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा है, उसका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण तृप्त हो गया है। तृप्त अर्थात् यह निश्चय होना कि बस, और नहीं चाहिये। जैसे भोजन से तृप्त हो गया, अर्थात् और भोजन करने की इच्छा नहीं रह गई। इसी प्रकार इसके अंदर निश्चय होता है कि जितना शास्त्र को मैं समझना चाहता था समझ लिया, उससे तृप्ति हो गई, और जितना अनुभव में उसको मिलाना था वह भी मिला लिया, उससे भी तृप्ति हो गई।

इसीलिए वह कूटस्थ है। कूट कहते हैं उस लोहे के बड़े खंड को जिसके ऊपर गर्म लोहा रख कर पीटा जाता है। गर्म लोहा पीटा जाता है, परंतु नीचे जो कूट है, वह वैसा-का-वैसा रहता है। इसी प्रकार, उसका अनुभव है कि मुझ शुद्ध चैतन्य के अंदर अध्यस्त जो कार्य-करण- संघात हैं वे तरह-तरह से सुख-दुःखों के प्रवाह में चल रहे हैं परंतु मैं केवल कूट हूँ, अधिष्ठान हूँ, इसलिए प्रकम्पित नहीं होता, उससे प्रभावित नहीं होता। 'विजितेन्द्रियः', उसकी इन्द्रियाँ कभी भी कामनाओं से प्रवृत्त होकर विपरीत आचरण नहीं करती। भगवान् के पूर्व कथन में आ चुका है कि इन्द्रियों की अपनी भी कामना होती है 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।' प्रायः करके लोग ऐसा मानते हैं कि मन में ही कामना रहती है, परंतु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियों की भी कामना होती

है। यहाँ विजितेन्द्रिय कह कर बतला दिया कि इन्द्रियों की भी कामनाएँ शांत कर दी गई हैं।

ऐसे यतिका व्यवहार होता है 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'; मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण इन तीनों के अंदर वह सन्मात्र ब्रह्म की ही दृष्टि रखता है इसलिए वह सम ही रहता है। मिट्टी का लोन्दा भी है, पत्थर भी है, सोना भी है; एकमात्र है के अंदर ये तीनों अध्यस्त हैं। सींप में चाँदी का अध्यास हो तो क्या, मोती का अध्यास हो तो क्या! सींप तो सींप ही रहेगी। इसी प्रकार, सन्मात्र ब्रह्म के अंदर प्रारब्धशेष से प्रतीत होने वाला लोष्ट जैसे अध्यस्त है वैसे ही अश्म, वैसे ही स्वर्ण। तीनों में एक-जैसी रहने वाली जो सद्रूपता, उसी की तरफ ध्यान होने से वह सम रहता है। भगवान् आगे कहेंगे 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' सम शब्द का अर्थ है ब्रह्म, वही एकमात्र दोषरहित सम है। इसलिए समलोष्टाश्मकाञ्चन अर्थात्, सब में उसकी ब्रह्म-बुद्धि अक्षुण्ण रहती है। ऐसा योगी 'समाहित हो गया, समाधि में स्थित हो गया' यह कहा जाता है।।८।

जब अपने कार्य-करण आदि संघात को सर्वथा नियंत्रण में कर लेता है तब शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा जैसा है वैसा प्रकाशित होता है। परमात्मा का प्रकाश होने पर साधक शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान इस सबसे प्रभावित नहीं होता। जिसे शास्त्रीय ज्ञान जितना चाहिए उतना हो गया और शास्त्रीय ज्ञान में जो कहा गया है उसका अनुभव भी उसको तृप्ति दे चुका है, उस ज्ञानी की स्थिति बतला रहे हैं। जड पदार्थों के प्रति तो बतला दिया कि चाहे सोना हो, चाहे मिट्टी का लोंदा हो, वह सबके अधिष्ठान रूप निर्दुष्ट सम ब्रह्म को ही देखता है। अब, चेतनों के विषय में कहते हैं कि जैसे जड में समता है, वैसे ही चेतनों में भी समता है

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

सुहृत्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, पुण्यकारी और पापकारी इन सब के प्रति सम-बुद्धि वाला सर्वोत्तम है।

किसी भी प्राणी से किसी भी उपकार की न अपेक्षा है, न आवश्यकता है परंतु फिर भी सबके प्रति वह हमेशा उपकार करता ही रहता है। परमात्मा का स्वरूप बतलाया था (५.२९) कि वह किसी प्रकार के उपकार की अपेक्षा किए बिना सब का उपकार करता है। जैसे परमात्मा को किसी उपकार की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसको सब पहले से ही उपलब्ध है और कोई भी चीज़ उसको उपलब्ध करने लायक लगती नहीं, इसी प्रकार से जिसने इस तत्त्व-निष्ठा को प्राप्त कर लिया, ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा हो गया, उसको भी किसी उपकार की अपेक्षा है नहीं। जो कुछ भला होना था, वह हो चुका। इसके बाद, कोई उसका भला कर सके, ऐसा कुछ है ही नहीं। अन्यत्र शास्त्रों

में स्पष्ट बतलाया है कि सारे संसार की प्राप्ति हो जाए, तब भी 'मुझे कुछ मिला' ऐसी उसकी बुद्धि होती नहीं। अतः उसको किसी के द्वारा उपकार की अपेक्षा नहीं है। उपकार की अपेक्षा नहीं है तो क्या वह भी दूसरों का उपकार नहीं करता? लोक में उपकार आदान-प्रदान के रूप में ही प्रसिद्ध है। तुम किसी के लिए कुछ करो तभी वह तुम्हारे लिए कुछ करता है। इसीलिए सामान्यतः बुद्धि होती है कि जब उसे किसी से कोई चीज़ चाहिए नहीं तो वह किसी के प्रति कोई भाव क्यों रखेगा? इस शंका को हटाने के लिए सबसे पहले 'सुहृत्' कहा अर्थात् वह तो दूसरों का उपकार करता ही है। उसमें कर्तृत्त्व-बुद्धि नहीं है, वह उपकार *करता* नहीं, उससे उपकार *होता* है; 'मैं कर रहा हूँ', ऐसी बुद्धि उसकी होती नहीं है परंतु उसके शरीर मन आदि के द्वारा लोक उपकृत होते हैं। दर्शन करके भी लोगों को पुण्य की प्राप्ति होती है, संसार के जिस ऐश्वर्य की इच्छा से उसकी जो सेवा करता है, वही ऐश्वर्य उसको प्राप्त हो जाता है। उपनिषत् में कहा है कि सारे ही ऐश्वर्यों की कामना वाला आत्मज्ञानी की अर्चना करे, सेवा करे। जो वह वचनादि का प्रयोग करता है, बोलता है, वह भी हमेशा दूसरों को मार्ग-दर्शन के लिए ही। प्राचीनों ने बताया है कि इस प्रकार के जो ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा हैं, सद्ब्रह्म से जो एक हैं, उनके पास हमेशा ही जाना चाहिये, वे उपदेश नहीं देते हों, तब भी उनके पास जाना चाहिए क्योंकि वे प्रसंग से साधारण बातें भी जो कहेंगे, वे तुम्हारे लिए उपदेश का ही काम करेंगी। ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा होने के कारण शास्त्रसम्मत और अनुभव से पुष्ट हुआ ही उनका सामान्य वचन भी निकलता है। उनके सभी वचनादि तुम्हारे लिये उपदेश का काम करते हैं। जब वे तुम्हारी जिज्ञासाशान्ति के लिए प्रयास करते हैं तब तो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न ही उपदेश की प्राप्ति उनसे होती है। इस प्रकार से स्वभाव से ही वे प्राणि-मात्र का उपकार ही करते हैं। अतः सबसे पहले सुहृत कहा। क्योंकि वे सबके सुहृत् हैं इसलिये अधिकतर सज्जन उनके भी सुहृत् ही होते हैं। किन्तु वे अपने सुहृदों के प्रति भी कोई पक्षपात नहीं करते, सम ही रहते हैं।

मित्र जिसके साथ स्नेह होता है, प्रेम होता है, उसको मित्र कहते हैं। जो तत्त्वनिष्ठों के प्रति स्नेह का भाव रखता है, उसके प्रति भी वे सम रहते हैं। अरि जो शत्रुभाव रखता है उसके प्रति भी सम रहते हैं। जो प्रकट में तुम्हारे साथ दुश्मनी करता है वह 'अरि' पद से कहा और जो प्रच्छन्न-रूप से, छिपकर दुश्मनी करता है, उसको द्वेष्य कहा। सभी के प्रति तत्त्वज्ञ समबुद्धि रहता है। वह जानता है कि चाहे सुहृद्-भाव से व्यवहार करे, मित्र-भाव से व्यवहार करे, चाहे अरिभाव से व्यवहार करे, व्यवहार करने वाले तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं। शरीर को क्रियाशील बनाने वाला अधिष्ठान तो मेरा अपना आत्म-तत्त्व ही है। इसलिए कार्य-करण-संघात को लेकर उसके मन में विपरीत भावना नहीं होती। शत्रु ज़्यादा-से-ज़्यादा क्या नुकसान करेगा? मार डालेगा, इससे

ज़्यादा क्या नुकसान करेगा! देह मैं हूँ नहीं। देह-रूपी उपाधि के जाने से मुझमें कोई फ़र्क आएगा नहीं। अतः प्रकट शत्रु के प्रति उसकी अरि भावना नहीं होती। कहीं-कहीं तो यह विचार भी समबुद्धि की प्राप्ति के लिए बतलाया हैः 'शरीर ने मुझे अब तक क्या सुख दिया है जो आगे सुख देगा! ऐसे शरीर से जो मुझे छुड़ा दे वह बड़ा अच्छा ही है।' अतः उसमें उसे शत्रु भावना नहीं होती।

उदासीन दो पक्ष जहाँ होते हैं वहाँ दोनों में से किसी भी पक्ष को जो न अपनाये, अर्थात् कभी किसी का पक्षधर नहीं बने, वह उदासीन कहा जाता है। तत्त्वज्ञ के प्रति यदि कोई उदासीन है तो वह जानता है कि यह ठीक ही है, ऐसा ही होना चाहिए। उदासीन का वास्तविक तात्पर्य है कि उत् में आसीन रहना। उत् ब्रह्म का नाम बतलाया है उपनिषदों ने। जैसे परमात्मा किसी का पक्षधर नहीं बनता, उसी प्रकार जो मेरे प्रति उदासीन व्यवहार करता है, वह किसी का पक्ष नहीं लेता। इसका मतलब है कि उसका जो परमात्मस्वरूप है वही प्रकट हो रहा है। अतः उदासीन के प्रति भी विद्वान् की सम-बुद्धि ही रहती है।

मध्यस्थ जो व्यक्ति उन सबका हित चाहे जो परस्पर विरोधी हैं, वह मध्यस्थ कहलाता है। किसी का हित नहीं चाहने वाले को मध्यस्थ नहीं कहते हैं! जो दोनों या सभी पक्षों का हित चाहे, लाभ पहुँचाना चाहे, वह मध्यस्थ है।

दो भाईयों में बहुत झगड़ा था। उन्होंने किसी को मध्यस्थ बना दिया। धीरे-धीरे उसने सब झगड़ा निपटा दिया। एक अंगूठी को लेकर झगड़ा रह गया, दोनों कहें 'अंगूठी हमको ही मिलनी चाहिए।' मध्यस्थ दोनों का हितैषी था, उसने कहा 'अच्छा ज़रा थोड़े दिन सोच लेते हैं, फिर इसका निर्णय करेंगे।' उसने किसी अच्छे जानकार जौहरी को बुला कर ठीक वैसा नग लगी वैसी ही अंगूठी बनवा ली। फिर एक भाई को बुलाकर कहा 'देखो, हम अंगूठी तुमको दे तो देंगे परंतु एक शर्त है तुम यह बात किसी को कहोगे नहीं और भाई को चिढ़ाने के लिए अपनी अंगूठी पहनोगे भी नहीं। दे तुम को दूंगा लेकिन यह शर्त है।' उसने कहा 'ठीक है, हम को तो मिलनी चाहिए।' एक अंगूठी उसको दे दी। दूसरे भाई को बुलाकर भी यही बात कही 'किसी से कहना नहीं और किसी को दिखाना नहीं। अंगूठी तुमको देना चाहता हूँ।' उसने भी शर्त मान ली, उसको दूसरी अंगूठी दे दी। तीन-चार साल के बाद भाइयों का आपस में मेल-जोल हो गया। कभी बात के प्रसंग में बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा 'अंगूठी तो मुझे मिल गई, पर तू मेरा छोटा भाई है, तेरी ज़िद है तो तू ले ले, तेरे को दे देता हूँ।' उसने कहा 'जी, अंगूठी तो मेरे को मिली थी।' दोनों ने देखी तो अंगूठी एक जैसी! फिर उस मध्यस्थ से जाकर कहा 'वह अंगूठी आप ने किसको दी?' उन्होंने कहा 'तुम्हारा झगड़ा मिट गया, किसको दी इससे क्या मतलब? जिसको भी दे दी।' दोनों का भला हो जाए इसके लिये अपनी तरफ से उसने अंगूठी बनाकर दे दी। दोनों का हित चाहने वाला

ऐसा होता है, उसी को मध्यस्थ कहते हैं, दोनों के झगड़े से फायदा लेने वाले को नहीं।
द्वेष्य जो अपना अप्रिय होवे। बाहर से तो झगड़ा नहीं करता है पर अंदर ही अंदर हमारी अप्रियता को ही चाहता है, वह द्वेष्य है। हमारा कुछ-न-कुछ अनिष्ट होवे, कुछ-न-कुछ खराबी होवे यही चाहता है। बाहर से अच्छी बातें करेग पर भीतर अनिष्ट चिंतन करेगा, यह द्वेष्य का स्वभाव है। बन्धु जिसके साथ अपना किसी-न-किसी प्रकार का खून का संबंध है। उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधु, इनके प्रति भी यति की समदृष्टि ही रहती है, इनके प्रति उसके मन में कहीं विषम बात नहीं आती। सबके प्रति उसकी समबुद्धि ही रहती है कि सुहृत्त्व इत्यादि सब कार्य-करण-संघातों में होने वाली चीज़ें हैं, सबका अधिष्ठान तो मैं ही हूँ।

ये हो गये जो अपने साथ साक्षात् संबंध वाले हैं। जिनसे साक्षात् संबंध नहीं है वे दो तरह के होंगे साधु और पापी। जो अच्छा कार्य करने वाले हैं, शास्त्र का अनुवर्त्तन करने वाले हैं, शास्त्र में कहे हुए ढंग से चलने वाले हैं, सत्पुरुष हैं; और उनसे विरुद्ध 'पापेषु', शास्त्र के अंदर जिनका निषेध किया है, उन कर्मों में जो लगे रहते हैं। चाहे शास्त्रानुवर्ती लोग होवें, चाहे शास्त्र से विरुद्ध चलने वाले लोग होवें, इन सबके प्रति उसकी समबुद्धि रहती है। अर्थात् संन्यासी जिससे भी व्यवहार करता है उसके अधिष्ठान की तरफ दृष्टि करता है। जैसे मिट्टी और सोना, दोनों उपाधि से तो अलग-अलग दीखते हैं, एक सात हज़ार रुपया तोला है और दूसरा सात पैसा तोला भी नहीं है; पर दोनों का अधिष्ठान जो 'सत्' वह एक है, यही उनमें समबुद्धि है, अर्थात् उपाधि को छोड़ कर जो अधिष्ठान है, उसको समझना है। इसी प्रकार इन लोगों के कार्य-करण-संघातों में सारे फ़र्क हैं। साधु पुरुष का भी कार्य-करण-संघात ही अच्छा आचरण कर रहा है, शास्त्रानुकूल कर रहा है। जो अधिष्ठान ज्ञानस्वरूप है, वह निर्विकार ही है क्योंकि ज्ञान अकर्त्ता होता है। अकर्त्ता-अभोक्ता यही ब्रह्म का स्वरूप है। और पाप-कर्म करने वाले भी कार्य-करण-संघात ही हैं। अधिष्ठान अकर्त्ता तो एक जैसा ही है। वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वज्ञ 'कौन कर रहा है' न इसका ख्याल रखता है, 'किस कर्म को करने वाला है', न यह ख़्याल रखता है। उपाधि-धर्मों में अपनी बुद्धि को व्यापृत नहीं करता, उनमें अपनी बुद्धि नहीं लगाता।

लौकिक लोग चेतनों से व्यवहार करते समय ये दोनों चीज़ें ही अपने सामने रख लेते हैं एक तो, 'कौन है?' एक समझेगा कि यादव है तो जो भी करेगा ठीक ही है! दूसरा कहेगा 'राजपूत है, तो जो भी करे ठीक है।' कोई दुश्मन यदि अच्छा काम भी करता है तो लौकिकों को लगता है कि अपने किसी मतलब से कर रहा है, सचमुच थोड़े ही कर रहा है! क्योंकि वे देखते हैं कि सचमुच में वह दुश्मन है। जैसे लोगों का 'किसने किया' इस पर ज़ोर रहता है, वैसे ही 'कैसे कर्म करने वाला है' इसे भी वे सदा सामने रखते हैं। जिसे पाप कर्म करने वाला मानते हैं, कभी उसने अच्छा भी कर

लिया तो स्वीकारते नहीं, यही सोचते हैं कि मौके पर या ग़लती से उससे यह भलाई हो गयी। सामान्य व्यक्तियों की बुद्धि कार्यकरण-उपाधि का विवेचन करने में लगी रहती है। जो ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा है वह उपाधि को मिथ्या जान कर उसके अधिष्ठान की ही दृष्टि करता है, जो निर्दुष्ट अधिष्ठान ब्रह्म है, उसका निश्चय करता है कि रूप आदि के अंदर जो प्रतीत हो रहा है वह उपाधि वाला नहीं, उपाधि-रहित है।

'विशिष्यते' अर्थात् जो योगारूढ है, जो समबुद्धि वाला है, वही विशेष है अर्थात् सबसे उत्तम है, श्रेष्ठ है। किसी प्राचीन ग्रन्थ में **'विमुच्यते'** पाठ भी रहा ऐसा भाष्य से पता चलता है। जब ऐसा समबुद्धि हो जाता है तभी मुक्त होता है। जब तक कार्यकरण-संघात को सत्य मानता रहता है, किञ्चित् भी उसमें सत्यता का अनुवर्त्तन रहता है, तब तक मुक्ति की संभावना नहीं। जब एकमात्र अधिष्ठान को ही सत्य मान कर उपाधियों का बाध करता है, जब स्वभाव से ऐसा ही होने लगता है, तभी मुक्त होता है। मुक्त सर्वोत्तम है ही, इसलिये दोनों पाठों का तात्पर्य यही है कि सभी योगारूढों में ऐसा समबुद्धि ही उत्तम है।।९।।

यहाँ तक बतलाया कि योगारूढ होने पर किस प्रकार से योगियों में श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है। चूँकि योगारूढ होने से मुक्ति की प्राप्ति होती है इसलिए अब आगे बतलाएँगे कि योग कैसे करे और योग के क्या अंग हैं। यहाँ से लेकर बत्तीसवें श्लोक तक योग का स्वरूप, योग के अंग, योग कैसे करना चाहिए इत्यादि इतिकर्तव्यता, ये सब विषय संक्षेप में भगवान् बतायेंगे

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

ध्यानाभ्यासी को चाहिये कि तृष्णा व परिग्रह से रहित होकर, अन्तःकरण व शरीर को संयत कर, बिना कोई सहायता लिये, एकांत में रहते हुए, अतंःकरण को सर्वदा समाहित (आत्मा पर एकाग्र) करे।

यहाँ से जो बातें बताई जा रही हैं वे केवल समझने की नहीं हैं, सब करने की हैं। दो प्रकार की चीज़ें होती हैं एक, जिनके ज्ञान का फल होता है, जिनको जानने से फल हो जाता है, करना कुछ नहीं पड़ता। जैसे, 'झूठ मत बोलो।' यह सुन कर कुछ *करोगे* नहीं वरन् झूठ बोलने से निवृत्त रहोगे ताकि झूठ का पाप नहीं हो। अधर्म का ज्ञान तुमको अधर्म से बचाने के लिए है, उस ज्ञान से कुछ करना नहीं है। कई बातें हैं जिन्हें जानने मात्र से कोई फायदा नहीं। 'ज्योतिष्टोम यज्ञ करने से स्वर्ग होता है'; ज्योतिष्टोम की विधि जान लो, उसका फल कुछ नहीं होगा। ज्योतिष्टोम करोगे तब स्वर्ग मिलेगा, जानने मात्र से कोई फल नहीं मिलेगा। सारे धर्म जान लो पर करो नहीं, तो कुछ फल नहीं होगा। इससे विपरीत, परमात्मा को जानने से ही मोक्ष हो जाता है। परमात्मा

अव्यवहार्य है। परमात्मा को जानने से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है। जानकर कुछ न करना पड़े इस समानता से निषेध वाक्यों को ब्रह्मबोधक वाक्यों जैसा बताया जाता है। 'झूठ बोलना हितकर है' यह अज्ञानजन्य भ्रम है। निषेध सुनकर उसकी अहितकरता के ज्ञान से अज्ञान मिटते ही उक्त भ्रम दूर हो जाता है। अब बिना कुछ किये ही झूठ बोलने के पाप से बच जाते हैं। झूठ नहीं बोलना चाहिए यह बहुतों को पता है, पर बोलते हैं! कई बार कहते भी हैं कि 'जानते तो हैं कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, लेकिन अदालत में जाते हैं तो झूठ बोलना पड़ता है।' उनका ज्ञान संशय से और विपर्यय से ग्रस्त है। उन्हें संशय है कि पता नहीं झूठ बोलने से नरक जाना पड़ता है या नहीं? नरक लोक भी है कि नहीं है, क्या पता! प्रत्यक्ष से लग रहा है कि झूठ बोलने से फ़ायदा है, झूठ बोलने का नुकसान शास्त्र-वचन से मालूम पड़ रहा है। शास्त्र पर दृढ श्रद्धा है नहीं, अतः संशय ही रहता है। किसी वकील के चक्कर में पड़ गए तो वह समझा देगा कि झूठ बोलोगे तो मुकदमा जीत जाओगे। यों विपर्ययज्ञान हो गया कि झूठ बोलने से फ़ायदा होता है। संशय-विपर्यय से ग्रस्त ज्ञान कि 'झूठ बोलना नरक का द्वार है', निश्चय रूप न होने से अज्ञान नहीं मिटाता। गीता में आगे भगवान् बतलाएँगे कि तीन दरवाज़े हैं नरक के काम, क्रोध और लोभ। पर हमें लगता है कि कामना के बिना कुछ हो ही नहीं सकता, कामना के बिना कैसे होगा! ऐसे ही, यदि किसी पर गुस्सा नहीं करेंगे तो उसको ठीक कैसे करेंगे? बच्चे को एक बार, दो बार, चार-बार समझाएँगे, फिर भी नहीं मानेगा तो क्रोध करना पड़ेगा, नहीं तो बच्चा बिगड़ जाएगा।

वृंदावन में एक स्वामी जी थे। पहले निवृत्ति से रहते थे, धीरे-धीरे शिष्य बहुत हो गए तो आश्रम बन गया। जो आश्रम की व्यवस्था करते थे वे कई बार लोगों को कुछ कहें तो लोग उनकी बात उतनी मानते नहीं थे। वे जाकर स्वामी जी से शिकायत करते थे। स्वामी जी बुला करके प्रेम से समझा देते थे, कोई मानता था, कोई नहीं मानता था। धीरे-धीरे पता लग गया कि स्वामी जी तो खाली कहेंगे, और तो कुछ करेंगे नहीं! एक बार सब कार्यकर्त्ताओं ने जाकर उनसे शिकायत की 'महाराज! आप किसी को डाँटते नहीं, कुछ दंड देते नहीं, सब व्यवस्था बिगड़ रही है।' उन्होंने कहा 'भाई! जिसके बारे में तुम कोई बात बतलाते हो, या हमें पता लगता है, उसे हम समझा तो देते हैं।' वे बोले 'ऐसे समझाने से थोड़े ही होता है, डाँटना पड़ता है। ऐसे इन लोगों की समझ में नहीं आती बात।' उन्होंने कहा 'तुम्हारा कहने का मतलब है कि मैं क्रोध करूँ और नरक जाऊँ? लोगों को सुधारने के लिए मैं अपना बिगाड़ तो करने को तैयार नहीं हूँ!'

जिसे निःसंशय ज्ञान है, वह तो जानता है कि कामना हमेशा दुःख देगी, नरक का द्वार है; क्रोध नरक का द्वार है। परंतु जिसे क्रोध के विषय में संशय और विपर्यय रहता है, वह सुनकर भी क्रोध करता रहता है। इसी प्रकार लोभ के विषय में है : 'लोभ नहीं

करेंगे तो आगे की व्यवस्था कैसे करेंगे?' यह प्रतीत होता है। ऐसे लोग इन चीज़ों का परिहार सोचने लगते हैं कामना मायने बुरी कामना नहीं करे, क्रोध मायने बिना कारण क्रोध न करे, इत्यादि। बिना कारण क्रोध तो पागल किया करते हैं! इसी प्रकार तात्पर्य निकालते हैं कि अत्यधिक लोभ न करे। अत्यधिक क्या है? कोई सोचता है पाँच सौ रुपए से ज़्यादा की चीज़ का लोभ न करो, कोई कहता है पाँच लाख से ज़्यादा की चीज़ का लोभ न करो। 'झूठ बोलना बुरा है', इसका हमें जब निःसंशय और विपर्ययभावना से रहित ज्ञान होगा, तब फल होगा कि हमसे झूठ बोला ही नहीं जाएगा। हमें सामने झलकेगा कि झूठ बोला तो आगे जाकर दंडे खाने पड़ेंगे।

इसी प्रकार सब लोग कहते हैं कि 'परमात्मा है, यह तो हम जानते हैं।' उपनिषत् कहती है कि 'परमात्मा है ऐसा जिसने निश्चय कर लिया वह सत्पुरुष हो गया!' फिर सब लोग सत्पुरुष क्यों नहीं हो गये? क्योंकि संशय-विपर्यय से रहित नहीं जानते। हमें लगता है कि भगवान् कर्मफल देने वाला है, फिर भी दूसरे देवी, देवता, ग्रह, नक्षत्र, भूत, पिशाच ये सब भी मदद करते ही हैं। किसी को मनाओ तो कोई-न-कोई कुछ काम कर ही देगा। अपने मन में पहले ही श्रद्धा कमज़ोर है। किस्से-कहानी सुनकर और ज़्यादा संशय आ जाता है। अज्ञान निवृत्त तब होता है जब संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान हो। परमात्मा के विषय में संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान होगा तो केवल आत्म-स्वरूप है, अधिष्ठान मात्र है यह निश्चय होगा, तब परमात्मा के विषय में अज्ञान ख़त्म होगा।

यहाँ से जो बतला रहे हैं वे सब करने के कार्य हैं। भगवान् का वचन मान कर उसमें संशय-विपर्यय को छोड़ो और अभ्यास में लगो। अगर संशय-विपर्यय आते हैं तो विचारपूर्वक उनको दूर करो। ये करने के काम हैं, केवल जानने से कुछ नहीं होगा। अगर तुम्हें योग का संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान हो भी गया, पर योग का अभ्यास नहीं किया, तो काम बनेगा नहीं।

योगांग बतलाते हुए पहले ऐसे स्थान को बतलाते हैं जहाँ योगाभ्यास करना चाहिए 'रहसि स्थितः योगी युञ्जीत।' 'रहः' अर्थात् जहाँ किसी और का हस्तक्षेप न होवे, ऐसी जगह अर्थात् एकान्त में, जहाँ दूसरे के आने की जल्दी संभावना नहीं है। जैसे पहाड़ की गुफा, नदी का किनारा, नदी में कई जगह खोह बन जाती है वहाँ, अथवा पहाड़ के शिखर पर। इस प्रकार के स्थान को 'रहः' कहते हैं। यद्यपि घर के किसी कोने में भी एकान्त मिल सकता है तथापि वहाँ दूसरे के किसी भी समय आकर के विक्षेप करने की संभावना रहती ही है। जहाँ दूसरे के आने की संभावना भी न होवे वहाँ पर स्थित होकर बैठे। आज यहाँ ध्यान किया, कल वहाँ किया, ऐसा भी नहीं! जिस स्थान में योगाभ्यास किया जाता है वहाँ अपने मन का वातावरण बन जाता है। नियम से कोई भी कार्य कहीं करते हो तो वहाँ जाते ही उस काम का एक माहौल मन के अंदर खड़ा हो जाता है।

ऐसी जगह रह कर भी दो-चार जने इकट्ठे होकर ध्यान कर सकते हैं, ऐसा न करें इसलिए कहा 'एकाकी', और कोई साथ न होवे, किसी की सहायता न होवे। साधक संन्यासी है तो शिष्य, सतीर्थ्य इत्यादि को वहाँ न रखे। सर्वथा किसी की सहायता से रहित रहे। 'रहसि स्थितः' और 'एकाकी' इन शब्दों से ध्वनि हो जाती है कि यह संन्यासी अभ्यासी का प्रसंग है क्योंकि गृहस्थ के लिए सर्वथा एकान्त में स्थित रहना भी कठिन है और अकेले रहना भी। वह ध्यान करने के लिए अकेला ऐसी जगह जाए, वापिस आ जाए, यह तो कर भी सकता है लेकिन वहीं *स्थित* रहे, यह संभव नहीं है। अतः संन्यास-आश्रमी ही इस अभ्यास में अधिकारी है यह ध्वनित है।

'यतचित्तात्मा' चित्त अर्थात् अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् शरीर। शरीर, इन्द्रियाँ और मन सारे यत होवें, संयत होवें। जैसा पहले कह आए हैं, इन्द्रियों में और मन-बुद्धि में कामना रहती है और कामना ही कर्म की तरफ प्रेरित करती है। प्रायः लगता है कि अंतःकरण में ही कामना है, परंतु भगवान् ने स्पष्ट किया कि अन्तःकरण के अंदर भी कामना होती है और इन्द्रियों में भी कामना होती है। इसलिए भगवान् ने पहले (२. ६०) कहा है कि साधना करने बैठने के बाद भी इन्द्रियाँ मन को ज़बरदस्ती खींच के बाहर ले जाती हैं। यदि इन्द्रियों में कामना न होती तो मन को कैसे खींच कर ले जातीं! प्राण में भूख-प्यास रहती हैं, भूख-प्यास प्राण के धर्म हैं। प्राण में भी जीवन-निर्वाह करने की कामना है ही। अतः साधक की भूख-प्यास भी नियन्त्रित होनी चाहिए। भूख-प्यास के नियंत्रण का इतना ही तात्पर्य है कि परिमित भोजन और वह भी केवल समय पर लेते रहने पर भूखादि न सताएँ। शरीर भी एक आसन पर बैठे-बैठे अकड़ जाता है। अंग सो जाते हैं। यह सब शरीर का धर्म है और मनुष्य को साधना में विक्षेप कर देता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने बतलाया है, यहाँ आगे भगवान् भी कहेंगे, कि आहार-विहार युक्त होवें। यदि अपने शरीर-प्राण के अनुकूल भोजन-पानादि का प्रसंग नहीं होता है तो धातुओं का कोप होता है और धातुओं के कुपित हो जाने पर विक्षेप होगा ही। इसलिए आहार प्राण के लिए और विहार शरीर के लिए नियंत्रित रखना चाहिये। आसन आदि भी शरीर के नियमन के लिए उपयोगी हैं ताकि दीर्घ काल तक बैठ सकें। प्राणायाम आदि के द्वारा भूख और प्यास के नियंत्रण का ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए कि जो उपलब्ध होता है, वही शरीर-रक्षण के काम आ जाए। यद्यपि आधुनिक विज्ञान में बात करते हैं संतुलित भोजन की जिसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, चिकनाई, खनिज-तत्त्वादि सब हों, तथापि यदि किसी डॉक्टर से पूछो तो बतला देगा कि शरीर में ऐसी शक्ति है कि यदि शरीर में प्रोटीन ज़्यादा पहुँच जाता है तो उसे वह कार्बोहाइड्रेट बना लेता है, कार्बोहाइड्रेट को फैट बना लेता है, फैट से कार्बोहाइड्रेट तैयार कर लेता है। शरीर स्वयं संतुलन करने में समर्थ है। अतः साधक अपरिग्रही होने से सभी तरह का भोजन तो कर नहीं सकेगा पर इससे उसमें दुर्बलता भी नहीं आयेगी।

इन्द्रियाँ और मन नियंत्रण में आते हैं कामनाओं के नियंत्रण के द्वारा और शरीर-प्राण, योगासन और प्राणायाम आदि के अभ्यास से संयत होते हैं कि जैसी भी परिस्थिति हो उसमें अपने-आप अपना काम कर लेते हैं। एकाकी होने से क्या आहारादि उपलब्ध होगा इसका कोई नियम नहीं कर सकते। अतः जो कुछ भी उपलब्ध होने पर शरीर अपनी शक्ति से संतुलन ठीक कर लेवे, इस प्रकार की शक्ति शरीर में प्राणायाम और आसनों के द्वारा लानी पड़ती है।

'निराशीः' किसी भी प्रकार की आशा से रहित; एकमात्र परमात्मा को छोड़ कर और किसी चीज़ की आशा नहीं रखने वाला। 'अमुक चीज़ होती तो काम हो जाता', या 'ऐसा होवे तो अच्छा हो जाए' इस प्रकार मन की भावनाओं को सर्वथा छोड़ देवे। जिस समय जो हो रहा है, परमेश्वर की इच्छा से हो रहा है, उसमें ही सर्वथा संतुष्ट होकर अन्य किसी चीज़ की मन में आशा, तृष्णा आने ही नहीं देना है। इसलिए भाष्यकार ने कहा कि यति की तृष्णा केवल चली नहीं गई है वरन् ऐसी चली गई है कि अब तृष्णा आती ही नहीं। 'अपरिग्रहः' परिग्रह से रहित। संन्यासी के लिये परिग्रह का सामान्यतः ही निषेध है। योगी के लिये भी प्रथम सोपान में ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यों किसी प्रकार के परिग्रह का निषेध है ही। फिर यहाँ अपरिग्रह को इसलिए कहा कि जो देहरक्षणार्थ कौपीन कन्था इत्यादि प्राप्त हैं, उनमें भी 'ये मेरे ही हैं' यह बुद्धि छोड़कर रहे। जो देहरक्षा के लिये अनुमत आवश्यकता है उसके अंदर भी परिग्रह की भावना नहीं रखे कि 'यह मेरा ही है।'

इस प्रकार का होकर 'आत्मानं सततं युञ्जीत' अपने अन्तःकरण को, बुद्धि को सर्वदा अर्थात् शरीर-रक्षणार्थ जो आहार-विहार आदि अपेक्षित है तदतिरिक्त सारे काल में समाहित करे। शरीर-रक्षणार्थ प्राप्त आहार-विहार के अंदर ही निद्रा भी आ जाती है। सिवाय इनके, और किसी भी कर्म में न लगे, योगाभ्यास छोड़कर कोई भी कर्म न करे। 'योगी' योगाभ्यास करने वाला, ध्यान करने वाला, 'युञ्जीत' अन्तःकरण को योग में लगावे अर्थात् समाधि के अभ्यास को करे। समाधि के लिए अपेक्षित जो धारणा ध्यान हैं वे समाधि के लिए करने ही पड़ते हैं। अतः निरन्तर संगोपांग ध्यान के ही अभ्यास में लगा रहे। कुछ देर धारणा चलेगी, फिर ध्यान होगा, तब समाधि होगी। ऐसा नहीं कि सवेरे एक घंटा कर लिया, शाम को एक घंटा कर लिया, तो हो गया योगाभ्यास! यहाँ जिस साधक का प्रसंग है उसे सतत लगे रहना पड़ता है।।१०।।

अभ्यासार्थ कैसे आसन का प्रयोग करे यह बताते हैं

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

जो ज़्यादा ऊँचा या नीचा न हो ऐसे शुद्ध स्थान पर पहले कुशासन, उस पर मृगचर्म

और उस पर वस्त्र यों अपना आसन व्यवस्थित कर (ध्यान करने बैठे)।

कोई देश तो स्वभाव से ही शुद्ध होते हैं जैसे गंगा का किनारा, हिमालय पर्वत की गुफा आदि। इसी प्रकार तीर्थ क्षेत्र भी शुद्ध हैं। लेकिन तीर्थ स्थान में ख्याल रखना कि जहाँ दुनिया के लोग स्नान करने आते हैं वहीं आसन लगाकर नहीं बैठो। उससे लोग पैसे तो दे जाएँगे, मन एकाग्र नहीं होगा। तीर्थस्थान शुद्ध तो हैं लेकिन एकांत नहीं हैं। परंतु तीर्थों के अंदर दूर का जो स्थान, जहाँ लोगों का आवागमन नहीं हो, वह शुद्ध है, सेवन के योग्य है। और यदि स्वभाव से शुद्ध जगह न होवे तो उसको लीप कर, गोमय इत्यादि से शुद्ध करके, मन्त्रादि से शुद्ध करके वहाँ ध्यान करे। चाहे स्वभाव से शुद्ध हो, चाहे संस्कार से शुद्ध किया गया हो, शुद्ध ही स्थान पर बैठे अशुद्ध स्थान में नहीं। ध्यान के लिये अपना एक आसन रखे, अपने आसन पर बैठे। दूसरे का आसन होगा तो समय इत्यादि में उसका हस्तक्षेप होगा। जब तुम बैठना चाहोगे, यदि तभी उसे बैठने की इच्छा है तो विक्षेप का कारण हो जायेगा। इसलिए अपना आसन होवे जिसमें किसी भी प्रकार की रुकावट के बिना जब चाहो तब बैठ सको। 'आत्मनः आसनं' कहने से जो अपरिग्रह कहा था, उससे कुछ विरोध प्रतीत होगा, लेकिन विरोध इसलिए नहीं क्योंकि उस आसन का भी परिग्रह नहीं करना है, यदि कोई उसको लेकर चला जाये तो विक्षेप का कारण नहीं होना चाहिए। वही आसन मिले इसमें आग्रह न रखे, अपने लिये निर्विवाद कोई आसन हो इतनी ही कोशिश रखे। कौपीन-कन्था आदि में भी यही न्याय रखना चाहिये। ध्यानादि के अनुकूल अपना आसन होने पर भी उसमें परिग्रह-बुद्धि का तो त्याग ही करना है।

आसन का स्थान कैसा होवे? 'नात्युच्छ्रितं' बहुत ऊँचे स्थान में न होवे क्योंकि ऊँचे स्थान पर समाधि का अभ्यास करते हुए जब स्थान का सर्वथा विस्मरण हो जाएगा तब कहीं इधर-उधर होकर शरीर के गिरने का डर रहता है। इसलिए बहुत ऊँची जगह न बैठे जहाँ से गिरने का भय होवे। कुछ ऊँचा तो होवे, इसलिए अति-उच्छ्र का निषेध किया। गोबर इत्यादि से शुद्ध करोगे तो थोड़ी-सी ऊँचाई हो जायेगी। उच्छ्रित तो हो, ऊपर तो हो, लेकिन अत्युछ्रित न होवे। 'अतिनीचं न' गड्ढा इत्यादि बना कर उसमें लीप कर ध्यानार्थ बैठो, ऐसा नहीं, क्योंकि वहाँ गर्मी ज़्यादा हो सकती है हवा नहीं आने से, सर्दी ज़्यादा हो सकती है चारों तरफ कच्ची ज़मीन होने से, पत्थर इत्यादि के कारण शरीर में चोट इत्यादि लगने का भय हो सकता है। इसलिए अत्यन्त नीचा स्थान भी नहीं हो, अत्यन्त ऊँचा भी नहीं हो। और उसके ऊपर 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' अगर संस्कार से शुद्ध किया है, गोबर से लीपा इत्यादि है, स्थण्डिल है, तो उसके ऊपर, अथवा स्वभाव से पवित्र स्थान है, गंगा का किनारा इत्यादि है, तो वहाँ पर ज़मीन को समतल करके, बालू को एक-जैसा बनाकर, फिर उसके ऊपर बैठे। लकड़ी इत्यादि के ऊपर नहीं बैठे। पहले ज़मीन पर कुशासन रखे। ज़मीन के ठीक ऊपर कुशासन रखे।

फिर कुशासन के ऊपर शेर का चमड़ा या हिरन का चमड़ा रखे। फिर उसके ऊपर कपड़ा रखे। सबसे नीचे होगा कुशासन, उसके ऊपर होगा मृगचर्म, उसके ऊपर होगा वस्त्र। आसन के लिये वस्त्र कहने से भी पता लग जाता है कि संन्यासी का प्रसंग है। सामान्यतः जप आदि में वस्त्र का आसन दरिद्रता का हेतु माना जाता है। संन्यासी के अतिरिक्त के लिए दरिद्रता अच्छी नहीं, संन्यासी के लिए ही ठीक है। अतः प्रायः सामान्य गृहस्थादि साधकों को वस्त्र पर बैठने का निषेध है। परंतु यहाँ तो 'रहसि' और 'एकाकी' की तरह ही संन्यासी होने से चैलासन का कोई विरोध नहीं। उल्टा न करे, कि पहले वस्त्र बिछाये, उस पर चर्म और सबसे ऊपर कुश! चैल, अजिन, कुश ये एक-दूसरे के ऊपर हों।।११।।

ऐसी जगह आसन लगाकर क्या करे

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगम् आत्मविशुद्धये।।१२।।

जिसने चित्त व इन्द्रियों की क्रियाएँ संयत कर ली हैं वह उस आसन पर बैठकर, मन एकाग्र कर समाधि का अभ्यास करे ताकि अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाये।

आसन पर बैठ कर दूसरे काम नहीं करना शुरू कर देवे! मोबाइल पास रखकर उस पर दूसरों से बातचीत करना ही शुरू न कर देवे! अगर उस आसन पर तुमने अन्य कार्य किया तो उस पर भी असर आ जाता है, वैसा ही वातावरण बन जाता है। इसलिए आसन के ऊपर बैठ कर मन को एकाग्र ही करे। एकाग्र-शब्द में एक-से आत्मा को कहा है। जो समग्र सृष्टि का कारण है उसी को श्रुति ने एक कहा है। एक अर्थात् जीव जगत् और ईश्वर इन तीनों भावों से रहित, केवल चिन्मात्र तत्त्व। उसमें मन को स्थिर करे अर्थात् बार-बार उसी की तरफ मन को ले जाए। अभ्यास के समय मन हमेशा बहुत की तरफ जाएगा क्योंकि अनादि काल से मन की अनेक चीज़ों में लगने की ही प्रवृत्ति हो गई है। परंतु योगाभ्यासी को मन क़ो उन सब चीज़ों से निवृत्त कर केवल एक चिन्मात्र में लगाना है। जिसका मन अत्यन्त विक्षिप्त होता है उसके लिए यह सम्भव नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि ने क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, ये सब अवस्थाएँ बताई हैं। इन सब अवस्थाओं में सहायता के लिए सोपाधिक चिन्तन कर सकते हैं। जब अभ्यास प्रारम्भ करते हैं तब सगुण मूर्ति को सामने रख सकते हैं। प्राण, आदित्य, विष्णु, शंकर आदि का ध्यान किया जा सकता है। अन्य चिंतनों को छोड़ करके मन को इनमें से किसी एक पर लाते हैं। मूर्ति के पैर देखो, मुँह देखो, हाथ देखो, हाथ के अलंकार देखो, देख तो भगवान के पैर आदि रहे हो; इस तरह अतिबहुत्व को छोड़ कर थोड़े बहुत्व में ले आ सकते हो, परंतु इसे एकाग्र नहीं कह सकते। जो पदार्थ एक नहीं है, जिसके अंदर सजातीय, विजातीय, स्वगत में से एक भी भेद विद्यमान है, वह एक तो

रहा नहीं! अतः वहाँ मन अनेकाग्र ही कहा जा सकता है, एकाग्र नहीं। फिर भी, बहुत ज़्यादा बिखराव की अपेक्षा थोड़े-से भेद वाला है इसलिये ऐसे ध्यान की अवस्था को भी एकाग्र कह देते हैं परन्तु यह वास्तविक एकाग्रता नहीं है। वास्तविक एकाग्रता तो तब है जब जीव, जगत्, ईश्वर इन तीनों भेदों को छोड़कर जो इस सबका मूल कारण है, जिससे ये सब हैं, उस चिन्मात्र तत्त्व में मन की स्थिरता हो।

ऐसा कब हो सकता है? जब 'यतचित्तेन्द्रियक्रियः' चित्त अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियाँ, इनकी क्रियाओं को जिसने नियन्त्रित कर लिया, संयत कर लिया। 'यतचित्तात्मा' पहले कहा था, यहाँ ज़ोर दिया कि इनकी क्रियाओं को छोड़ना है। यह योगाभ्यास का प्रकरण है; पूजा आदि के समय तो चित्त-इंद्रियों आदि की क्रियायें होंगी। योगाभ्यास के समय न अन्तःकरण किसी भी प्रकार की क्रिया करे व न इंद्रियाँ करें। अन्तःकरण का काम है विषय-चिंतन जो चाहे स्मृतिरूप हो, चाहे और कोई रूप हो। अभ्यासदशा में चित्त में, इन्द्रियों में क्रिया न होवे और देह में भी क्रिया न होवे तभी मन पूरी तरह से एकाग्र हो पाएगा। 'योगं युञ्जीत' तब योग का अर्थात् समाधि का अभ्यास करे।

इस योगाभ्यास का फल क्या है? योगाभ्यास पुण्यादि क्रिया नहीं है। इसलिए योग के दार्शनिकों ने पहले ही कर्मों को चार भागों में बाँटा। एक तो है पुण्य क्रिया, शास्त्र में जो करने को कहा है उसको करना पुण्य क्रिया है। उससे स्वर्गादि सुख होंगे। दूसरे हैं जिनका शास्त्रों ने निषेध किया है, नहीं करने को कहा, वे क्रियाएँ पाप को उत्पन्न करेंगी, नरकादि को देंगी, अन्य हीन योनियों में ले जायेंगी। पुण्य कर्मों को वे लोग शुक्ल कर्म कहते हैं, पापकर्मों को कृष्ण कर्म कहते हैं। 'कृष्ण कर्म' प्रयोग वैसा ही है जैसे आजकल लोग कहते हैं 'काला धन'; धन में कहीं कालापन दीखता नहीं है! इसी प्रकार न पुण्य में शुक्लपना दीखता है, न पाप में कृष्णपना दीखता है। फिर कुछ कर्म होते हैं जो इन दोनों के मिले हुए रूप हैं मिश्र कर्म। उनमें कुछ पाप भी है, कुछ पुण्य भी। जैसे किसी भक्त के बारे में आता है कि वह लोगों को लूटता था और लूटे हुए धन से भगवान् की सेवा करता था। लूटना तो कृष्ण कर्म हो गया और भगवान् की सेवा करना शुक्ल कर्म हो गया। अतः उसका समग्र कर्म मिश्र कर्म कहलायेगा। इन तीनों से अतिरिक्त मानते हैं अशुक्लकृष्ण कर्म, जिससे न पुण्य होता है न पाप होता है। योगाभ्यास को न पुण्य-जनक मानते हैं न पाप-जनक मानते हैं। साधारण आदमी तो यही समझते हैं कि योगाभ्यास कर रहे हैं तो पुण्य कर्म कर रहे हैं। लेकिन योगियों के मत में यह पुण्य कर्म नहीं है। इसीलिये श्लोक ३७ में अर्जुन का प्रश्न संगत होता है कि कुछ दूर तक अभ्यास करके छोड़ देने वाले की क्या गति होगी? यदि योग पुण्यकर्म होता तो जितना योग किया उतने का सत्फल पाना उचित होने से उभयविभ्रंश का प्रश्न ही नहीं उठता। योगी, संन्यासी नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्म भी छोड़कर निरंतर

अभ्यास करने में लगा रहता है, कोई पुण्य कर्म नहीं करता है, इसीलिए प्रश्न होता है कि कर्म के द्वारा तो उसको कोई प्राप्ति हुई नहीं क्योंकि सारे कर्मों को छोड़ दिया; एकमात्र योग का सहारा लिया और वह पूरा हुआ नहीं अर्थात् निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा नहीं, तो उसकी क्या गति होगी? यदि आसन-प्राणायाम पुण्य उत्पन्न करने वाले होते तो समाधि तक नहीं पहुँचने पर भी उतने अंगों का फल मिल जाता। किंतु ऐसा कुछ नहीं है। योग का फल पुण्य है नहीं, स्वर्गादि की, या ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण तो योग नहीं बनेगा। योगशास्त्र वाले इस बात को नहीं मानते हैं कि योग पुण्य उत्पन्न करने वाला है और न भगवान् ने ही ऐसा माना है।

योग का फल क्या है? यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है 'योगमात्मविशुद्धये।' अन्तःकरण की शुद्धि सारे योग का फल है। ऐसे शुद्धान्तःकरण में किया हुआ जो श्रवण है वह सत्य अपरोक्ष को दे देता है। अन्तःकरण की शुद्धि आत्म-ज्ञान के लिए बड़ी सहायक हो जाती है। ज्ञान की प्राप्ति तो हर हालत में श्रवण से होगी, पर ऐसे शुद्ध अन्तःकरण के अंदर ही उसका प्रकाश हो पाएगा। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट कह दिया 'योगमात्मविशुद्धये।' योग का फल अन्तःकरण की शुद्धि ही नहीं, विशेष शुद्धि है। अन्तःकरण की विशेष शुद्धि क्या है? अन्तःकरण के अंदर राग-द्वेष और उनके संस्कार भरे हुए हैं, यही अशुद्धि है। यही ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देती। योगाभ्यास करने से राग, द्वेष और उनके संस्कार निवृत्त हो जाते हैं तब शुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है।।१२।।

आसन-शब्द से दोनों को कहते हैं   जिन वस्त्रादि पर बैठा जाता है उन्हें और शरीर की स्थिति-विशेष को, जैसे पद्मासन, वज्रासन इत्यादि। पूर्व श्लोक में बिछाने वाला आसन कहा, शरीर-स्थिति वाले आसन को अब बतलाते हैं

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

धड़, गर्दन व सिर को एक सीध में स्थिर रखे व कम्पन आदि स्पंद न होने दे। दिशाओं को न देखते हुए मानो अपनी नासिका की नोक को ही देखता रहकर (आत्मध्यान करे)।

कटि-प्रदेश से लेकर अर्थात् मूलाधार से लेकर, जहाँ रीढ़ की हड्डी खत्म होती है, वहाँ से लेकर, गर्दन तक के भाग को काय या धड़ कहते हैं। काय, ग्रीवा अर्थात् गर्दन और शिर अर्थात् सिर खोपड़ा, सबको एक सीध में रखा जाए। सिर से यदि एक लम्ब गिराया जाए तो वह सीधा मूलाधार तक आ जाए, बीच में कोई रुकावट न होवे। अर्थात् बिल्कुल सीधा बैठे। ध्यान के अंदर रीढ़ की हड्डी के मध्य में जो नसों का पुंज है उसके अंदर स्पंद होते हैं। यदि उसको सीधा नहीं रखा जाएगा तो विक्षेप करेगा,

इसलिए धड़ को सीधा रखना ज़रूरी है। सिर व धड़ को सीधा रख कर भी आदमी स्पन्दन कर सकता है, दायें-बायें घूम सकता है। अतः कहा कि स्पंद भी न करे, अचल रहे। किसी प्रकार का चलन उसमें नहीं होना चाहिए, किसी भी प्रकार की गति का अभाव रखना है। दो-पाँच मिनट बैठे, फिर थोड़ा इधर-उधर हो जाये, पुनः सीधा हो जाये, ऐसा भी नहीं करना अतः कहा 'स्थिरः', एक स्थिति में टिक कर बैठा रहे। न्यूनतम दो घड़ी तक बैठने के लिये योगशास्त्र में बतलाया है। धीरे-धीरे स्थिर बैठने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। यदि शरीर में स्पंद होगा तो सर्वथा एकाग्रता नहीं आ सकती। शरीर और मन ये दोनों ऐसे संबंधित हैं कि एक का असर दूसरे पर पड़ता ही है।

आँखों की स्थिति बतलाने के लिए कहा कि आँखें आधी खुली हों, आधी बंद हों, मानों नाक के अग्रभाग को देख रहे हैं। यदि कहते कि 'नाक के अग्रभाग को देखे' तो सामने कोई बैठा होवे उसकी नाक देखते रहते! तब तो आँखें सर्वथा खुली रहेंगी। यह तात्पर्य नहीं है, इसलिए कह दिया 'स्वं नासिकाग्रं' अपने नासिकाग्र को देखो। ऐसा करने पर आँखें न खुली रहेंगी, न पूरी बंद होंगी। यहाँ एक 'इव' शब्द का लोप समझ लेना चाहिए अर्थात् नासिका के अग्रभाग को देखने की विधि नहीं है। नासिका के अग्रभाग को देखने से तुम्हारा देखना बंद नहीं होता और नज़र एक जगह पर लग जाने से इधर-उधर नहीं जाती। नेत्र की दृष्टि बाह्य पदार्थों की तरफ, विषयों की तरफ न जाते हुए सर्वथा बंद भी न होवे। सर्वथा बंद होने से नींद आने की संभावना होती है और विषयों के दर्शन से विक्षेप की संभावना रहती है। जो भी विषय तुम्हारे सामने आएगा, वह बहुत-सी स्मृतियों को ला सकता है। हम लोगों के ज्ञान-तन्तु ऐसे बने हैं कि एक तन्तु छिड़ते ही उससे संबंधित जितने ज्ञानतन्तु हैं सभी छिड़ जाते हैं। व्यवहार के लिए तो इसकी बहुत ज़रूरत है। हम जैसे ही किसी आदमी को देखते हैं, देखने से ही हमारे ज्ञान-तन्तु छिड़ कर उसके बारे में बहुत कुछ याद दिला देते हैं, बता देते हैं कि उसकी आवाज़ कैसी है; अगर जैसी आवाज़ उसकी हमेशा होती है वैसी नहीं आएगी तो तुरंत प्रश्न उठता है, 'अरे! आज तुम्हारा गला कुछ खराब लगता है।' अतः सभी व्यवहारों में संबद्ध ज्ञानों का उद्बोधन अत्यावश्यक है। किंतु ध्यान के लिये यही विक्षेपकारी प्रतिबंधक बन जाता है। विषय-दर्शन होने से अन्य संस्कारों के जाग्रत् होकर विक्षेप का खतरा रहता है इसलिए आधी खुली और आधी बंद आँखें रहें यह कहने का तात्पर्य है। यद्यपि यहाँ कहा तो है चक्षु को तथापि सभी इन्द्रियों के लिए समझ लेना चाहिए अर्थात् शब्दादि विषयों का भी ग्रहण न होवे परंतु इन्द्रियों की जागृति बनी रहे। ऐसे आधी आँखें खुली और आधी बंद रखने पर भी, विषय न देखने पर भी, दिशाओं का भान हो जाता है। उसको भी मना कर दिया 'दिशश्च अनवलोकयन्' दिशाओं की तरफ ध्यान न देते हुए रहे। यदि नेत्रों का अर्धोन्मीलन न मानकर नाक के अग्रभाग को देखना ही मानें तो मन नाक के अग्रभाग में ही समाहित रहेगा,

परमात्मा में समाहित होगा नहीं क्योंकि जो देखोगे उसी की वृत्ति अन्तःकरण में रहेगी। इसलिए यहाँ 'इव' का लोप मानना ही पड़ता है। मन का समाधान कहाँ करे? आत्मा में करे। किसी भी तरह की बाह्य चीज़ों का ग्रहण नहीं करे, दिशाओं का अर्थात् अगल-बगल का भी ग्रहण नहीं करे और आत्मा पर चित्त एकाग्र करे।।१३।।

अन्य भी साधन बताते हुए समाधिका विधान करते हैं

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

विशेषकर शान्त अन्तःकरण वाला, निर्भय, ब्रह्मचर्यका अनुष्ठाता, मनोवृत्तियाँ उपसंहृत कर, मुझमें चित्त लगाकर, मुझे परम समझकर समाहित हुआ बैठे।

'प्रशान्तात्मा' प्रकर्ष से शान्त हो गया है अन्तःकरण जिसका। अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं मल, विक्षेप और आवरण। पहले किए हुए जो पाप कर्म हैं, या पुण्य कर्म हैं, वे सब मन में संस्कार रूप से रहते हैं। वे मल दोष हैं। विक्षेप दोष जो परमात्मा है, उसे हम परमात्मा न जान कर संसार जान रहे हैं। सचमुच में परमात्मा है परन्तु हमारा भ्रम ऐसा है कि हमें संसार दीख रहा है। जिस प्रकार सामने सोना है परंतु सोने को किरीट कुण्डलादि की जो शक्ल दे दी है, उसके कारण जो वहाँ वस्तुतः सोना है वह सोना न देखकर हम केवल किरीट कुण्डल आदि गहनों को देखते हैं। देखने वाला आकारों की सुंदरता से इतना मुग्ध होता है कि सोने की परीक्षा भी नहीं करता! जिस आकार के राग से गहना खरीदते हैं वह आकार वैसा ही रहे परंतु पता चल जाये कि सोना नहीं पीतल है, तो उस आकार से सुख नहीं होता है। अतः असली चीज़ सोना है पर उसी को नहीं देखते। सुनार गहने की शक्ल के लोभ में नहीं आएगा, वह तो देखेगा कि सोना कैसा और कितना है। इसी प्रकार अन्तःकरण का सम्पर्क तो चैतन्य से होता है परंतु उस चैतन्य के ऊपर माया के द्वारा जो बने आकार हैं, वे हमारे मन को ऐसा आकृष्ट कर लेते हैं कि उन्हीं के प्रति राग हो जाता है और हम भूल जाते हैं कि असली चीज़ कौन-सी है! इसी को विक्षेप कहते हैं। वास्तविक चीज़ जो सच्चिदानन्द परमात्मा, उसकी जगह जगत् के सारे आकारों का ग्रहण करते हैं, परमात्मा मौजूद होने पर भी ग्रहण होता नहीं। इसी का नाम विक्षेप है। हमारी वास्तविकता परमात्म-स्वरूप है परंतु उस परमात्मा को ग्रहण नहीं कर पाते हैं क्योंकि वह अज्ञान से आवृत है। अहम् से ढका हुआ परमात्मा हमें दीखता है, सब समय दीखता है, एक क्षण भी ऐसा नहीं है जब हमारा परमात्मा के साथ संबंध न होवे; जाग्रत्-स्वप्न में एक क्षण भी हम 'मैं'-भाव के बिना नहीं हैं और मैं-भाव परमात्मा में ही कल्पित है; परंतु उसको न जानने के कारण ही वह अहम् से आवृत है, जिससे हम अहम् को जानते हैं परंतु अहम् जिस पर रह रहा है उसका पता नहीं करते। इसी को आवरण कहते हैं।

मल दोष की निवृत्ति शुभ कर्मों से होती है। अन्तःकरण के अंदर ज़ो अशुद्ध चीज़ें

भरी हुई हैं, उनको शुद्ध चीज़ों से हटा दिया जाता है तो मल दोष दूर हो जाता है। मन को एकाग्र करके जब हम सच्चिदानन्द को ग्रहण करते हैं, शक्लों को, आकारों को नहीं, तब विक्षेप-दोष दूर होता है। सूक्ष्म चीज़ को देखने के लिए चित्त को एकाग्र करना ज़रूरी है। कोई टेढ़ा-मेढ़ा हिसाब कर रहे हो और पोता वहाँ गाना गाकर शोर मचा रहा हो तो उसको डाँटते हो, 'चुप रहो, काम करने दो।' रोज़-मर्रा का हिसाब लिख रहे हो तो बच्चा शोर मचाता रहे, कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। चित्त एकाग्र करना पड़े तब विक्षेप से दूर होना पड़ता है। इसी प्रकार जौहरी जब हीरे को देखता है, परीक्षा करने के लिए चित्त एकाग्र करता है, तब थोड़ा भी इधर-उधर उसका ध्यान नहीं जाता। इसी प्रकार से हर आकार के अधिष्ठान को ग्रहण करने के लिये, अधिष्ठान सूक्ष्म होने से, चित्त को एकाग्र करने की ज़रूरत है। एकाग्रता से विक्षेप-दोष दूर हो कर जो सच्चिदानन्द वास्तव में है उसको ग्रहण कर सकेंगे।

'मैं' के द्वारा जो ढका हुआ परमात्मा है, आवरण दोष से ज्ञायमान नहीं हो रहा है, उसके ज्ञान के लिए श्रुति और गुरु से उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्य से पदार्थ-शोधन के द्वारा पहचानना पड़ेगा कि सचमुच में 'मैं' किसको विषय कर रहा है। जैसे घड़े शब्द का अर्थ मोटे पेट, लम्बी गर्दन वाला बर्त्तन है, घोड़े का अर्थ चार पैर वाला दौड़ने वाला प्राणी है, यों जब तुम पदार्थ का नाम लेते हो तो झट पता लगता है कि किस चीज़ का नाम ले रहे हो क्योंकि तुमको पहचान करा दी गई है कि घड़ा इसको कहते हैं, घोड़ा इसको कहते हैं। यदि कोई शब्द तुम्हारा पहचाना हुआ नहीं है तो चीज़ सामने आने पर भी तुमको पता नहीं लगेगा कि इस चीज़ का अमुक नाम है।

इसी प्रकार अहम्-प्रत्यय के अंदर प्रतीति तो परमात्मा की होती है पर उसको परमात्मा करके हम पहचान नहीं पाते। श्रुतिवाक्यों से पदार्थों का शोधन करके अहम् शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है यह बतला दिया जाता है। उसके बाद जब तुम अहम् पदार्थ को देखोगे तब तुम्हारा पहचाना हुआ जो शुद्ध चेतन है, वह अनावृत हो जायेगा। हर बार 'मैं' शब्द आएगा तो तुम्हें तुरंत पता लगेगा कि तुम चेतन को कह रहे हो। शब्द का प्रयोग न करके भी 'मैं' का बोध होता है। जैसे, कहीं बैठे हुए गप्पें लग रही हैं, तुम्हारा घड़ी पर ध्यान जाता है आठ बजने में तीन मिनट बाकी हैं, भोजन का घण्टा बजने वाला है; किसी से कहते नहीं हो परंतु अंदर भाव बनता है कि 'अब मैं चलूँ।' तुमने कहा नहीं, 'मैं'-शब्द का प्रयोग नहीं किया, लेकिन मैं-प्रतीति हुई। प्रतीति होते ही मैं-शब्द का जो वास्तविक चिन्मात्र अर्थ है वही तुरंत पता लग जाएगा। चाहे मैं-शब्द का प्रयोग करो, चाहे मैं-प्रत्यय में प्रतीति होवे, एक बार अनावृत होने के बाद हमेशा उसकी प्रतीति रहेगी। अत्यन्त मूढ भी 'मैं' कह तो उस चेतन को ही रहा है परंतु पहचान न होने से कभी 'मैं' का अर्थ शरीर समझ लेता है, कभी मैं का अर्थ आँख-कान समझ लेता है, कभी मैं का अर्थ मन-बुद्धि समझ लेता है। अलग-अलग अर्थ 'मैं' के

समझता रहता है क्योंकि किसी ने पहचान कराई नहीं कि 'मैं' सचमुच में कौन है। विक्षेप दोष जब दूर होता है जब शान्तात्मा बनता है तथा जब मल दोष नहीं है, विक्षेप दोष नहीं है और आवरण-दोष भी नहीं है तब *प्रशान्तात्मा।* अन्तःकरण के तीनों दोष दूर होने पर प्रशान्तात्मा होता है।

प्रशान्तात्मा होने से ही 'विगतभीः' निडर हो जाता है। एक तो चोर, डाकू, इन्कम टैक्स अफसर इन सबका भय होता है। अपरिग्रही होने के कारण ये भय तो उसको हैं नहीं। सारे परिग्रह पास में होने से ही भय सम्भव है। परंतु संन्यासी होने के कारण 'भिक्षा मिलेगी कि नहीं मिलेगी?' यह भय बना रहता है! गंगा-किनारे जाओ, वहाँ लोगों को भिक्षा देने का अभ्यास है। वहाँ जाओ तो भिक्षा मिल जाती है। जहाँ किसी गाँव से बारह बजे के करीब निकलो, कोई भी तुम को देखेगा तो ॐ नमो नारायणाय करके पहला प्रश्न करेगा 'स्वामी जी, भिक्षा कर ली? नहीं, तो चलिए भिक्षा कर लीजिए।' दिल्ली जैसे शहर में चले जाओ, खड़े होकर पाँच मिनट तक ज़ोर-ज़ोर से 'नारायण हरि' करो, तो वहाँ के लोग सोचेंगे कि भगवान् का भजन कर रहे हो ! बहुत अच्छे संस्कार वाले होंगे तो वे भी कहेंगे 'नारायण हरि स्वामी जी।' उनकी समझ में ही नहीं आएगा कि बारह बजे का समय है तो भिक्षा के लिए आया होगा। अतः शहर में जाने से भय लगता है कि भोजन मिलेगा कि नहीं मिलेगा। इसी प्रकार से अपरिग्रही होने के कारण अनेक सम्भावनाओं का भय रहता है। प्रशान्तात्मा होने से निश्चय है कि प्रारब्ध-भोग से अतिरिक्त कुछ मिल नहीं सकता और प्रारब्ध-भोग की प्राप्ति परमात्मा का संकल्प खुद ही कराता है। इसलिए कोई भय उसको नहीं रह जाता।

कई बार साधकों को यह भय भी होता है कि 'सतत योगाभ्यास में लगे हुए हैं, नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों का त्याग कर दिया; अगर योगसिद्धि नहीं मिली तो क्या होगा?' 'मैं परमेश्वर के मार्ग में चल रहा हूँ, अतः परमेश्वर खुद ही मेरी संभाल रखते रहेंगे।' ऐसी ईश्वरार्पण की भावना वाला होने के कारण 'सिद्धि होगी या नहीं', इसका भी उसको भय नहीं रहता है। भगवान् ने कहा है कि निरन्तर चिंतन करने वाले का संसार का जितना लौकिक व्यवहार खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना है, वह सारा का सारा मैं खुद ही प्राप्त कराता हूँ 'योगक्षेमं वहाम्यहम्', क्योंकि प्रारब्ध कर्म परमेश्वर का संकल्प है, अतः परमेश्वर ही उसकी व्यवस्था करेगा, उसी ने संकल्प कर लिया है। अतः संन्यासी को न इह लोक की चिन्ता, न परलोक की चिन्ता रहती है। इसलिए सर्वथा निर्भय होता है।

'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।' ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहता है। ब्रह्मचारी का व्रत है गुरुशुश्रूषा, भिक्षा, इत्यादि, सब ब्रह्मचारी के व्रत हैं। उनका वह अनुष्ठान करता है। ब्रह्मचारी का मुख्य व्रत ब्रह्मचर्य है। अतः किसी भी प्रकार का स्त्री-भोग इत्यादि का व उसकी कामना का त्याग करता है। कहीं स्मृतियों में आठ प्रकार के स्त्री-भोगों का वर्णन

किया है, कहीं पाँच प्रकार का किया है, उनमें से एवं अन्य भी किसी प्रकार के स्त्री-भोग का मन में भी न आना ब्रह्मचर्य है। इसके साथ ही गुरुसेवा, नियमित स्नान, यथाविधि भिक्षा इत्यादि जो नियम ब्रह्मचारी के लिए कहे हैं वे सब भी यह पालन करता है। 'ब्रह्मचारि-*व्रते* स्थितः' इसीलिए कहा कि ब्रह्मचारी के कुछ *कर्म* भी हैं, अग्नि-शुश्रूषा, स्वाध्याय आदि, वे यति के लिए अनुष्ठेय नहीं हैं। केवल व्रतमात्रों का ही यहाँ संग्रह करना चाहिए।

'मनः संयम्य', मन का संयमन करके अर्थात् मन की वृत्तियों का उपसंहार करके, मन में संकल्प विकल्पादि की वृत्तियों को न उठने देकर। अभ्यास से ही यह सब सिद्ध होता है; ऐसा नहीं है कि हमने कह दिया, तुम बैठ गए तो मन संयत हो जाएगा! मन वृत्तियों को उठाएगा, तुम उन वृत्तियों को हटाओ इस प्रकार करते-करते, मन का उपसंहार होता है। साधन का मतलब है कि निरंतर दीर्घ काल तक अभ्यास करते रहो। 'दो महीने, चार महीने हो गए, अभी कुछ हुआ ही नहीं', ऐसा सोचकर हताश नहीं होना चाहिये। आमरण करेंगे ऐसा निश्चय होना चाहिए। दस मिनट रोज़ किया ऐसा भी नहीं, निरंतर अर्थात् आवश्यक क्रियाओं को छोड़कर बाकी समय इसी के अंदर लगना पड़ेगा। और इसके ऊपर पूरी सद्भावना रखनी पड़ेगी, श्रद्धा रखनी पड़ेगी कि यह साधन ठीक ही है। अन्यथा, थोड़े दिनों में फल सामने न आने पर आदमी घबरा जाता है।

पतञ्जलि महर्षि ने मन की वृत्तियों को शान्त करने वाली तीन अवस्थाएँ कही हैं धारणा, ध्यान, समाधि। इन तीनों मन की अवस्थाओं को मिला कर कहा है 'त्रयम् एकत्र संयमः,' तीनों को मिलाकर संयम कहते हैं। इसलिए 'मनः संयम्य' अर्थात् पहले धारणा करे। धारणा में स्थलविशेष पर चित्त स्थिर करते हो, ज़्यादा समय मन विचलित होता है, अन्यान्य वृत्तियाँ बनाता है, बीच-बीच में थोड़े समय स्थिर रहता है। धारणा के दौरान अधिकतम काल मन नहीं लगता, थोड़ा-सा बीच-बीच में लगता है। परंतु बार-बार तुम लगाते उसे अपने इष्ट पर ही हो। सूर्य, चन्द्र, आकाश आदि सब बाह्य देश हैं, इनमें कहीं एक जगह एकाग्र करते हो, यह भी धारणा है। इसी प्रकार हृदय, मूर्धा, भ्रूमध्य आदि सब अंदर के देश हैं, इनमें कहीं स्थिर करना भी धारणा है। पहले मन इधर-उधर जाता रहेगा, फिर धीरे-धीरे अधिकतर समय इष्ट का ध्यान रहेगा। जब धारणा पकेगी तब इष्ट के आकार की वृत्ति लगातार रहेगी, बीच में विचलन नहीं होगा, टूटेगी नहीं; जब यह प्रत्यय की एकतानता, लगातारता हो, तब उसे ध्यान कहते हैं। इसके परिपाक में जब वृत्तिनिरोध हो जाये तब उसे समाधि कहेंगे। धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों संयमन ही हैं।

अन्यत्र सर्वत्र से उपसंहार करके चित्त कहाँ लगावे?'मच्चित्तः'। अहम् की वास्तविकता जो परमेश्वर उसमें चित्त को लगावे। 'मत्' का मतलब अहम्-पद का लक्ष्यार्थ चिन्मात्र

भी हो सकता है, अथवा अहम् का प्रेरक अन्तर्यामी भी हो सकता है। अर्थात् चाहे सगुण का ध्यान करे, चाहे निर्गुण का ध्यान करे, लेकिन है ध्यान परमेश्वर का ही। जिस चीज़ में मनुष्य को प्रेम होता है, उसी में चित्त एकाग्र होता है। अगर किसी को स्त्री से प्रेम है, तो उसका स्त्री में चित्त एकाग्र हो जाएगा। लोग कहते हैं 'किसी का ध्यान करो, है तो वह भी परमात्मरूप। जब सारा संसार परमात्मा है तो मेरी पत्नी भी परमात्मा ही है! वह अच्छी लगती है तो उसी का ध्यान क्यों न करें?' ऐसी शंकाओं को हटाने के लिये भगवान् ने 'मच्चित्तः' कह दिया कि मोक्ष चाहने वाला यति अन्य किसी में नहीं, परमेश्वर में ही चित्त लगाये, उसी का ध्यान-चिन्तन करता रहे।

'मत्परः'। चाहे जितनी स्त्री प्रिय लगे लेकिन उस स्त्री को कोई 'यही सबसे परे है, बस इसी को प्राप्त करना चाहता हूँ, और कुछ प्राप्त करना नहीं चाहता' ऐसा नहीं मानता। धन को प्राप्त करना चाहता है, रोटी खाना भी चाहता है, कपड़ा पहनना भी चाहता है। परंतु जब परमेश्वर को हम अपना प्रिय समझते हैं तब परमेश्वर को हम 'पर' भी मानते हैं कि बस, एकमात्र परमेश्वर के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। संन्यासी स्वयं भोजन वस्त्रादि की भी इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे निश्चय है कि विश्वंभर महादेव उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता कि उसे खुद के लिये कुछ सोचना पड़े। वह विश्वंभर है, सारे संसार का भरण करता है, वह हमें थोड़े ही छोड़ देगा जबकि हम उसके भक्त हैं। इसलिए भोजनाच्छादन इत्यादि की भी यति को चिन्ता नहीं रहती है, वह मिले यह इच्छा नहीं होती है। शरीर-रक्षणार्थ जो प्रारब्धानुसार आवश्यक होगा वह भगवान् अपने-आप देंगे। उसे तो केवल परमेश्वर की ही इच्छा है, उसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता। ऐसी विशेषताएँ अपने में पनपा कर 'युक्तः' समाहित होकर 'आसीत' बैठा रहे, जहाँ तक हो सके, व्युत्थान-दशा न आने दे।।१४।।

योग का फल कहते हैं

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।१५।।

आसनादि पूर्वोक्त विधि से हमेशा मन को समाहित करने वाला संयतचेता ध्यानाभ्यासपरायण संन्यासी, वह उपरति प्राप्त करता है जिसका स्वरूप मैं परमेश्वर हूँ और जो मोक्ष में पर्यवसित होती है।

भगवान् ने ध्यान की विस्तृत विधि बतायी शरीर की कैसी स्थिति हो, बैठने का स्थान और बिछाने के आसन कैसे हों, इन्द्रियों को जाग्रत् रखकर विषयों की ओर न जाने दिया जाये, मन को संयम में रखा जाये, ध्येय क्या हो, इत्यादि। ये सभी पूर्वोक्त विधि हैं जिनके अनुसार दीर्घकाल तक अभ्यास चाहिये। जल्दबाजी में मन की एकाग्रता, विषय-विमुखता, ये प्राप्त होते नहीं। यह भूल प्रायः साधक कर लेता है कि

एक बार विषय का दोष-दर्शन कर लिया तो वहाँ से मन हट जाएगा! ऐसे मन हटता नहीं है। बहुत-से लोग कहने लगते हैं कि दोषों का दर्शन करने से भी मन हटता नहीं है तो दोष-दर्शन का कोई लाभ नहीं! यह भूल जाते हैं कि विषयों में राग कल्प-कल्पन्तरों से हमारे अंदर बैठा हुआ है, उसका भी इतना लम्बा अभ्यास किया हुआ है। एक बार गुणदर्शन करने से राग भी नहीं होता। किसी चीज़ को सामान्य रूप से खाते हैं तो पहली ही बार ऐसा नहीं हो जाता कि उसकी याद आने लग जाए। जब उसको दीर्घकाल तक खाते हैं तब संस्कार दृढ होता है। हम लोगों को आधा कच्चा, आधा पक्का भोजन खाने का बिल्कुल अभ्यास नहीं है। पहले-पहल उसे खाते हैं तो बिल्कुल बेकार लगता है, परंतु कई बार खा लेते हैं तो आजकल के बच्चों को वही अच्छा लगता है क्योंकि उनको उसका संस्कार हो गया। विषयों का जो इतने जन्म-जन्मान्तरों का संस्कार है उसको हटाने के लिए दीर्घकाल लगता है। विषयों के दोष का वैसा ही संस्कार बन जाए जैसा अभी तक राग का संस्कार विषयों के प्रति है, इस के लिए अभ्यास करना पड़ता है, बारंबार विचार करना पड़ता है। इसी प्रकार से अभी हम लोगों को चाहे जैसे बैठने का, चाहे जहाँ बैठने का अभ्यास पड़ा हुआ है। जब दीर्घकाल तक इस प्रकार योगानुष्ठान का अभ्यास हो जाएगा तभी फिर हमारे अंदर योग का संस्कार स्थिर बनेगा। इसलिए कहा 'सदा' अर्थात् जब तक ऐसा दृढ संस्कार नहीं हो जाता। कोई फौजी आदमी रास्ते में जा रहा होवे और पीछे से कोई इतना कह-भर देवे 'अटैन्शन', तो खट उसकी दोनों एड़ी मिल जाएगी, वह खड़ा हो जाएगा। सैकेंड-भर बाद सोचेगा कि 'अरे! मैं तो यहाँ चाँदनी चौक में घूम रहा हूँ', फिर पीछे की तरफ देखेगा कि किसने क्या कह दिया। यह संस्कार का प्रभाव है। कोई ब्राह्मण संन्यासी बन जाता है; संन्यास लेने के एक-आध दिन बाद लघुशंका करने जाता है तो कंधे के ऊपर हाथ रखता है, जनेऊ उठाने के लिए! इधर-उधर देखता है, तब याद आता है 'अरे! हमने तो संन्यास ले लिया।' संस्कार नैरन्तर्य व दीर्घकाल अपेक्षित रखता है, इसलिए कहा 'सदा' अर्थात् दीर्घकाल तक; जब तक आसन इत्यादि ऐसा न हो जाए कि स्वभाव से ही आदमी उसी ढंग से बैठे और उसे अच्छा लगे।

'नियतमानसः' मन जिसने संयत कर लिया है, नियत कर लिया है। पूर्व श्लोक में जिसे कहा था 'मनः संयम्य', वह अब 'नियतमानसः' हो गया, अर्थात् संयम करते-करते अब नियम से रहना मन का स्वभाव हो गया। शुरू में बड़े ज़ोर से हम लोगों को ध्यान करने बैठना पड़ता है और जैसे ही हम ध्यान से उठें, विषयों की तरफ जाने के लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता! जब बैठते हैं तब तो मन को इधर-उधर से हटाना पड़ता है पर जब उठते हैं तब उसे विक्षिप्त करने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता! जब धीरे-धीरे योग का अभ्यास दृढ हो जाता है तब कभी भी काम करते हुए थोड़ा-सा समय मिले तो खट मन अन्तर्मुखी हो जाता है, परमात्म-चिंतन करने लगता है। मुश्किल

से परमात्मा से मन को हटा कर प्रारब्ध-भोगों के लिए जब विषय हमारे सिर पर आते हैं तब ऐसा लगता है जैसे जबरदस्ती मन को उधर खींच कर ले जा रहे हैं।

ऐसा नियतमानस योगी 'आत्मानं युञ्जन्' बार-बार अपने आपको अर्थात् अन्तःकरण को उस तत्त्व में लगाता रहता है। ऐसा सदा करते हुए 'निर्वाणपरमां शांतिं' वाण नाम दुःख का है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति निर्वाण है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति सुषुप्ति काल में भी हो जाती है परन्तु वह *परम* नहीं है क्योंकि थोड़े ही समय रहती है। परमात्म-साक्षात्कार होने पर तो दुःख का आविर्भाव ही असम्भव हो जाता है। अन्तःकरण दुःखाकार बनने पर भी 'मैं दुःखी' ऐसा अध्यासरूप अनुभव नहीं होता। अज्ञानी को तो अन्तःकरण की दुःखवृत्ति बनने पर 'मैं दुःखी' अनुभव हो जाता है क्योंकि उसे अन्तःकरण से एकता का अध्यास है, किन्तु अज्ञान दूर हो चुकने पर वह अध्यास न रह जाने से अन्तःकरणरूप उपाधि में दुःखरूप विकार का आभास होते हुए भी 'मैं दुःखी' आदि निश्चयात्मक अनुभव नहीं होता। उसे परम-निर्वाणरूप शान्ति अर्थात् अत्यन्त उपरामता रहती है, किसी भी अनात्मा में मन रमता नहीं, हमेशा आत्मा में ही रमण करता है। जिस प्रकार, विद्यारण्य स्वामी कहते हैं, कि चाहे कितने ही घर के कामों में लगी हुई हो, परन्तु स्त्री के अन्तःकरण के अंदर तो हमेशा अपने प्रिय की ही याद बनी रहती है, उसी के अंदर चित्त रमण करता है, इसी प्रकार ध्यानी का चित्त हमेशा परमात्मा में ही रमण करता है, चाहे जितना प्रारब्ध इसके सामने जगत् को उपस्थापित करता रहे!

शान्ति भी कैसी है? 'मत्संस्थाम्'। भगवान् एक परम रहस्य बतला रहे हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि मत्संस्था का अर्थ है कि यह शांति परमात्मा के ही अधीन है। योगाभ्यासादि जितना भी कर लिया जाए, अन्ततः ऐसी स्थिति बिना परमात्मा के अनुग्रह के होती नहीं। इसीलिए आचार्य श्रीहर्ष कहते हैं 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसाम् अद्वैतवासना' अद्वैत की वासना ईश्वर के अनुग्रह से ही होती है। अगर यह किसी कर्म का फल होती तो अनित्य होती। जो भी कर्म का फल होता है वह अनित्य होता है। कुछ करके जो मिलता है वह जितने करने से मिलता है उतने करने का फल खत्म होने पर चला भी जाता है। परंतु परमेश्वर का जो अनुग्रह है वह कुछ करके तो मिलता नहीं। ऐसे समझ लो : नौकर चाहे जितना काम कर लेवे लेकिन उसकी यथानियम तरक्की सीमित ही हो सकती है। परंतु बेटे को, पुत्र को पिता अपनी सारी धन-दौलत दे देता है! उसका तो कभी काम देखकर हिसाब से नहीं देता कि इसने इतना काम किया तो इतना दे दें। पुत्र में पिता अपना स्वरूप देखता है। उसको गौण रूप से अपना आत्मा समझता है। आत्मरूप की गौणभावना होने से उसके ऊपर अनुग्रह है। इसी प्रकार परमात्मा का ही स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ जीवरूप में है इसलिए जीवरूप के ऊपर उसका अनुग्रह होता है।

ऐसी शान्ति को 'अधिगच्छति', प्राप्त करता है। 'अधि' पूर्वक 'गम्' धतु से 'जानना' अर्थ भी कहा जाता है। ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान का नाश करती है पर इसीलिए कि वह ब्रह्म के आकार की है। घटाकार वृत्ति जब यथार्थ ज्ञान होता है तब घट के अधीन होती है, ज्ञाता के अधीन नहीं। ज्ञान में और क्रिया में यह मूलगत भेद है। अतः आचार्यपाद कहते हैं 'वस्त्वधीना भवेद् विद्या कर्त्रधीनो भवेद् विधिः'। विद्या, ज्ञान वस्तु के अधीन है। सामने घड़ा है इसलिए तुमको घड़े का ज्ञान होता है। विधि वह है जो तुम करो तब संपन्न होगी, अन्यथा नहीं होगी। चाहे जितना शास्त्र कह लेवे 'प्रतिदिन सन्ध्या करो', पर जब तक करोगे नहीं तब तक संध्योपासना होगी नहीं। इससे विपरीत, ज्ञान वस्तु के अधीन है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान, ब्रह्माकार वृत्ति, ब्रह्म के अधीन है, जैसा ब्रह्म है वैसी ही वृत्ति बनेगी। ब्रह्माकार वृत्ति का *विषय* ब्रह्म नहीं बन पाता, वह तो हमेशा ज्ञानस्वरूप ही है। ब्रह्म *का* ज्ञान भी वास्तव में निर्विषय ज्ञान है। शांति की प्राप्ति ज्ञानरूप ही है अतः 'अधिगच्छति' कहा। ब्रह्म के अधीन ही वह अधिगति है।।१५।।

योग का फल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और शाश्वत उपरति है यह पूर्व श्लोक में बतला दिया। अब योगी के लिए जो कुछ और नियम हैं उन्हें बतलाते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

हे अर्जुन! उक्त योग ऐसों को सिद्ध नहीं होता अत्यधिक खाने वाला, सर्वथा न खाने वाला, अत्यधिक सोने वाला और अत्यधिक जगा रहने वाला।

आत्मसम्मित जो अन्न का परिमाण है वह हो गया अशन, उससे जो अधिक होगा वह है अत्यशन। आत्मसम्मित हर व्यक्ति अपने शरीर को और देश-काल-अवस्था को देख कर प्रयासपूर्वक निश्चय कर सकता है कि उसके लिये 'मित', परिमित, सही मिकदार का कितना व कौन-सा भोजन है, कितने से शरीर स्वस्थ रहता है। उतना भोजन आत्म-सम्मित, अपने लिए सम्मित है, उतना परिमाण ही लेना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में इसीलिए कहा है कि आत्म-सम्मित, अपने लिए जो विचार-सिद्ध परिमाण है वह हर एक का अलग-अलग होगा उतना अन्न तो तुम्हारी रक्षा करेगा, वह कभी नुकसान नहीं करता, किंतु जो उससे ज़्यादा होगा, वह नुकसान देगा और जो उससे कम होगा वह देहकी रक्षा नहीं कर पायेगा। इसलिए योगाभ्यासी के लिए अनशन आदि का नियम नहीं है। उससे पित्त इत्यादि धातु भी कुपित हो जाते हैं इसलिए योगी के लिए वैसे नियम नहीं हैं। ऐसे ही अत्यंत खाने वाले के लिए योग नहीं है। सर्वथा नहीं खाने से भी योग सफल नहीं होगा। योगाभ्यासी को आवश्यक परिमाण से कम या ज़्यादा नहीं खाना चाहिये। आत्मसम्मित कितना होता है यह जानने के लिये स्मृतिकारों ने

बताया है व्यंजनों समेत अशन जितना पेट में समाये, उससे आधी मात्रा में खाये। चावल, गेहूँ आदि अन्न अर्थात् उनसे बने भात, रोटी आदि अशन हैं और उन्हें खाने के लिये आवश्यक दाल, साग आदि व्यंजन कहे जाते हैं। व्यंजनों समेत अशन आधा पेट ही खाना चाहिये। पेट का तीसरा भाग अर्थात् चौथाई हिस्सा जल के लिये है और चौथा भाग वायु के संचार के लिये रखना चाहिये। बहुत बार खा लेते हैं, फिर साँस लेने में ही तकलीफ़ होती है! यों ठूंसकर खाने वाला योगी नहीं हो सकता। अपना आत्मसम्मित पता लगा लेना चाहिए। इसमें नकल से काम नहीं चलेगा, गुरु भी मात्रा नहीं बता सकेगा, खुद प्रयोग कर निर्णय करना पड़ता है।

जैसे खाने का नियम है, न अत्यधिक खाए और न अतिन्यून खाए, ठीक जितना सम्मिमत है उतना ही खाए, इसी प्रकार से सोना और जगना भी नियमित करे। जो बहुत ज़्यादा सोता या जगता है, वह भी योगी नहीं है। योगाभ्यास करने वाले के लिए कहा है कि रात के प्रथम चार घंटे जगे, बीच के दो याम सोए और फिर अन्तिम याम में जग जाए। इस प्रकार चार यामों में से प्रथम और अन्तिम जगने में निकलें और मध्य के याम सोने में निकलें। अधिक सोने से तमोगुण बढ़ता है और सोना कम होगा तो रजोगुण बढ़ेगा। दोनों ही योगी के लिए अच्छे नहीं। भगवान् ने केवल 'जाग्रतः' कहा है पर यहाँ 'अतिमात्रम्' ऐसा विशेषण जोड़ लेना चाहिए अर्थात् उपयुक्त से अधिक मात्रा में जगने वाला योगाभ्यासी नहीं बन सकता। अत्यधिक जागने वाले को योग सिद्ध नहीं होता, वह अत्यन्त विक्षिप्त बना रहता है।।१६।।

क्या नहीं करना चाहिए यह बतला कर, अब उसी को क्या करे इस रूप से बतला देते हैं

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

जिसके आहार-विहार नियत परिमाण के हैं, कर्मों में चेष्टाएँ नियत हैं, सोना-जागना नियत समय पर होता है, उसका किया योग दुःखों का क्षय करता है।

आहार का मतलब जिसका आहरण करके अपने अंदर ले जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ कहा 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' वहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जैसे अन्न को मुँह से खाते हो वैसे ही आँख रूप का आहरण करती है, कान शब्द का आहरण करते हैं, आदि। जो-जो चीज़ें अंदर ली जाती हैं, वे सब आहार ही हैं। इन सबकी शुद्धि होने पर ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्यथा, प्रत्यक्ष में भी देखोगे कि बहुत-से लोग खाते तो बिल्कुल शुद्ध भोजन हैं। पर फिर भी अन्तःकरण की शुद्धि देखने में नहीं आती। वे खुद ही अपने अन्तःकरण से नित्य निरन्तर दुःखी होते रहते हैं, दूसरे भी उनसे दुःखी होते रहते हैं। कई बार लोग पूछते हैं कि अगर खाने से शुद्धि होती है तो

ये लोग ऐसे क्यों? उसका जवाब आचार्य ने स्पष्ट कर दिया कि बाकी जो चीज़ें वे अंदर लेते हैं वे दोष से युक्त हैं इसलिए विकारों को पैदा करती रहती हैं। यहाँ भी भगवान् ने आहार शब्द के प्रयोग से सारे ही आहार ग्रहण कर लिये। सारे ही आहार युक्त होने चाहिए। युक्त अर्थात् शास्त्र में विहित हों और योगाभ्यास के अनुकूल हों। शास्त्र-निषिद्ध लोगे तो अन्तःकरण के मल को बढ़ाएँगे, चित्त-शुद्धि नहीं होने देंगे। योगाभ्यास के प्रतिकूल होंगे तो शास्त्र द्वारा अनुज्ञात होने पर भी, अयुक्त रहेंगे। जैसे शास्त्र ने यह नहीं कहा कि कितनी रोटी खाओ, परंतु योग-शास्त्र कहता है, आधा पेट खाओ। तुमने आधे पेट से ज़्यादा खा लिया तो कोई पाप नहीं लगेगा, पर योग के अनुकूल न होने के कारण तुम्हारे अन्तःकरण की शुद्धि में रुकावट करेगा। इसलिए युक्त से दोनों ही ले लेने हैं, शास्त्र-विहित हो और योग का विरोधी न हो।

जैसे आहार से सभी प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों का और अन्न का ग्रहण है, वैसे ही विहार से सभी प्रकार की कर्मेन्द्रियों के आचरण को ले लेना। विहार का मुख्य अर्थ तो घूमना-फिरना ही है, पर उपलक्षण से समस्त क्रियाएँ समझनी चाहिये। जहाँ संन्यासी के लिये भिक्षाचर्या का विधान किया है वहाँ सुरेश्वराचार्य ने 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या' कहकर समझाया है कि उसका सारा आचार भिक्षावृत्ति से चले, यह विधि का तात्पर्य है। अधिकार अर्थात् हक की भावना छोड़कर आवश्यकता पूर्ति उसी से करे जो भिक्षा में मिल जाये, वस्तुओं के अर्जन के लिये अतिरिक्त कोई साधन न अपनाये। इसी प्रकार यहाँ विहार का प्रधान अर्थ तो चलना-फिरना है, पैरों से घूमना है, पर उससे सभी क्रियाओं का संग्रह हो जाना चाहिये। अतः जिसने अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सर्वथा शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास की विरोधी नहीं रहने दी हैं, उसका आहार-विहार युक्त है। इसलिए स्मृतियों ने बतलाया है कि संन्यासी बहुत ज़्यादा नहीं चले, थक जाएगा तो योग के अनुकूल नहीं रहेगा। ऐसे जितने स्मार्त-वचन हैं उन सबका भाव भगवान् ने एक ही पद में कह दिया 'युक्ताहारविहारस्य।'

'युक्तचेष्टस्य' चेष्टा भी युक्त होनी चाहिए अर्थात् शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास से अविरोधी। क्रिया के पहले जो रहती है, वह चेष्टा है। चेष्टा हमेशा जानने के बाद होगी और क्रिया के पहले होगी। ज्ञान चाहे विषय-दर्शन-रूप होवे और चाहे विषय-स्मृति-रूप होवे। कई बार विषय की स्मृति से भी चेष्टा कर लेता है। उन्हीं क्रियाओं को करने की प्रवृत्ति, इच्छा और चेष्टा रूप में होनी चाहिए, जो शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास की अविरोधी हों। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सारे ही नियत हो गए हैं जिसके वह यति दुःखनाशक योग का सफल अभ्यासी हो सकता है, यह स्पष्ट किया।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य' में स्वप्न से स्वप्न और सुषुप्ति दोनों को कहा है। 'स्वपिति', सो रहा है, जब कहते हैं, तब सपना देख रहा हो या सुषुप्ति में हो, दोनों ही हालात

में हो सकता है। सोना दोनों ही अवस्थाओं को कहता है। अवबोध अर्थात् जाग्रत्। भगवान् गौडपादाचार्य की दृष्टि में तो जाग्रत्, स्वप्न ये दोनों स्वप्न हैं क्योंकि अन्यथा ग्रहण स्वप्न है। जाग्रत् में भी अन्यथा ग्रहण है है ब्रह्म और ग्रहण हो रहा है नाम-रूप का। और स्वप्न तो सभी कहते हैं, अन्यथा ग्रहण है। लेटा हुआ है आबू में, सपने में दशाश्वमेध घाट पर स्नान कर रहा है, तो अन्यथा ग्रहण है। विवेकी को पता है कि जाग्रत् भी उसी तरह अन्यथा ग्रहण ही है। इनसे विलक्षण, जो तत्त्व का अज्ञान है, वह निद्रा है, सुषुप्ति है। इस दृष्टि से यहाँ जो स्वप्न कहा है उससे जाग्रत् का ग्रहण हो जाएगा। तब अवबोध अर्थात् जैसे विषय हैं वैसा ही उनको न समझ करके, उनका बाध करके, जो उनका वास्तविक स्वरूप है, उसको ग्रहण करना। ये दोनों ही योगी के युक्त होने चाहिये है। अवबोध अर्थात् विषयों का याथात्म्य कैसे समझे? जो शास्त्रानुकूल हो और योग के प्रतिकूल न हो, वैसा ही समझे। जाग्रत् के अंदर संस्कार इतने दृढ हो जाएँ कि स्वप्न के अंदर भी शास्त्र से विरुद्ध और योगाभ्यास के विरुद्ध वृत्तियाँ उपस्थित न होवें।

ऐसे के द्वारा अभ्यस्त जो योग है वह 'दुःखहा भवति', सारे दुःखों का हनन कर देता है। जिसको हम लोग सुख समझते हैं, वह भी विचारशील के लिए दुःख का ही प्रकार है! बादाम का सीरा खाते समय सुख देता है, इसलिए उसको सुख का पदार्थ मानते हैं परंतु बादाम के सीरे के लिए जो सारा श्रम है बादाम को भिगाओ, छीलो, घोटो, फिर उसके बाद उसको कढ़ाई में डाल कर भूनो इत्यादि सब जो कर्म है, वह दुःखरूप ही है। उतनी सब झंझट करो तो बदाम का हलुआ खाने को मिले। खा लिया, उसके बाद बार-बार याद आता है 'फिर बादाम का हलुआ खाना है!' जब याद आती है तब दुःख होता है कि आज भी बादाम का हलुआ नहीं मिला। इसलिए जो विवेक करने वाला है, उसको तो सारा संसार ही दुःखरूप लगता है। भगवान् ने इसलिए इस सृष्टि का नाम ही रख दिया दुःखालय, दुःख का घर है। जो क्षणिक सुख प्रतीत होते हैं वे भी आद्यन्त की दृष्टि से देखते हैं तो दुःख ही सिद्ध होते हैं। अतः दुःखहा का मतलब 'सर्वसंसारदुःखक्षयकृत्' सारा संसार ही जो दुःखरूप है उसका क्षय करने वाला हो जाता है।।१७।।

यह जो समाधि का अभ्यासी है, इसे कब युक्त कहा जाता है? अर्थात् इसका अभ्यास ठीक हो रहा है, ऐसा कब कहा जाएगा? प्रयत्न करते हुए योगी कब समझे कि योग ठीक हो रहा है?

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

एकाग्र हुआ चित्त जब बाह्य चिंताएँ छोड़कर केवल आत्मा में ही स्थिर रहे और

योगी दृष्ट-अदृष्ट सब विषयों के प्रति निष्काम हो जाये, तब 'युक्त' ऐसा कहा जाता है।

जब तक प्रयत्नपूर्वक आत्मा में लगता है तब तक चित्त नियत है और वि-नियत, विशेष करके नियत तब है जब प्रयत्न छोड़ने पर भी उधर लगा रहे, अर्थात् जब क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ इन तीन भावों के अंदर अन्तःकरण स्वभाव से नहीं जाये। शरीर-निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति को छोड़कर बाकी समय में योगी का चित्त न क्षिप्त होता है, न विक्षिप्त होता है, न मूढ होता है, वरन् संयत ही होता है, तब कहा जाता है कि अब इसका चित्त एकाग्र भाव को प्राप्त हो गया। ऐसा चित्त परमात्मा में ही स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है, जैसे अभी हम लोगों का चित्त स्वभाव से ही विक्षेप में स्थिति-लाभ करता है। थोड़ी देरे आत्मविचार करने के बाद लोग कहते हैं 'अरे! सिर गर्म हो गया, थोड़ी हल्की-फुल्की बातें करो, कोई कहानी सुना दो।' गम्भीर विषय का चिंतन थोड़ी देर करने के बाद लोग थक जाते हैं। इधर-उधर की सांसारिक बातों को घण्टों तक करते रहेंगे, उनसे उनके चित्त में कोई विक्षेप नहीं होता! विक्षिप्त अवस्था अयोगी लोगों के लिये स्वाभाविक है। साधक इससे विपरीत हो जाए अर्थात् उसे एकाग्रता से हटने की इच्छा ही न होवे। उसका चित्त आत्मा में ही 'अवतिष्ठते'; अव-पूर्वक स्था-धातु का प्रयोग है, अर्थात् उसका चित्त उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब आत्मा में एकाग्रता स्वाभाविक हो चुकी है।

'सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः' दृष्ट और अदृष्ट, दोनों विषयों से तब स्पृहा अर्थात् तृष्णा हट जाती है। न किसी दृष्ट विषय को वह अपनी अभिलाषा का विषय बनाता है, न अदृष्ट को। दृष्ट अर्थात् सांसारिक सारे पदार्थ, चाहे बड़ा भारी राज्य ही होवे, वह भी उसकी स्पृहा का विषय नहीं होता। योगसूत्रों में कहा कि अणिमादि सिद्धियों के प्रति वह समझ लेता है कि ये सब भी विक्षेप का ही कारण हैं। वहाँ से भी उसको वैराग्य हो जाता है। यद्यपि बहुत बड़ा समाधिपाद भगवान् पतञ्जलि ने बतलाया है, तथापि अन्त में कहा है कि वे सब चित्त की एकाग्रता के लिए विघ्न हैं, जो सांसारिक लोगों के लिए व्युत्थान काल के अंदर सिद्धियाँ कही जाती हैं। उन्होंने ऐसे स्पष्ट कर दिया कि योगी के लिए ये सिद्धियाँ उपयोगी नहीं हैं। योगी तो उनको उपसर्ग ही समझता है, व्यवधान ही समझता है। वह दृष्ट चीज़ों के प्रति सर्वथा निःस्पृह होता है, तृष्णा से रहित होता है, उसकी प्राप्ति हो, ऐसी कोई भावना नहीं रखता। प्राप्त होने पर भी 'मैं उनका उपयोग करूँ' ऐसा कुछ मन में नहीं आता है। जैसा दृष्ट, वैसा ही अदृष्ट उसकी तृष्णा का विषय नहीं। स्वर्ग, स्वर्ग की अप्सराएँ, ब्रह्मलोक, ब्रह्मलोक के आनंद सबके प्रति उसकी वितृष्णा ही है। उसको उन सबके प्रति कोई तृष्णा नहीं होती। ब्रह्मलोक के ही अन्तर्गत वैकुण्ठ लोक, गौलोक आदि सब समझ लेने चाहिए। उन सबसे जब सर्वथा वितृष्ण हो जाता है तब कहा जाता है 'अब इसका चित्त समाहित

हो गया' अर्थात् स्वभाव से उसे परमात्मा का आनन्द आने लगता है, बाकी सब आनंद व्यर्थ हो जाते हैं। अर्थात् दो-चार घंटे चित्त एकाग्र रहा इतने मात्र से किसी को युक्त अर्थात् समाहित नहीं कह सकते।।१८।।

समाहित अवस्था कैसी है, यह एक दृष्टान्त से समझाते हैं

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।।१६।।

जहाँ हवा बह न रही हो वहाँ रखे दीपक की लौ जैसे हिलती-डुलती नहीं, आत्म-संबंधी योग के अनुष्ठाता योगी के संयत अंतःकरण के लिये वह दृष्टांत माना गया है।

भाष्यकार ने 'दीपः प्रदीपः' ऐसा अर्थ किया है। प्रायः जिसके अंदर दीया जलाते हैं उस दिवोटिए को दीप कह देते हैं। पर यहाँ दीप का अर्थ है जो ज्वाला, दीपशिखा जलती है। निवात अर्थात् जहाँ किसी प्रकार की वायु नहीं चल रही। निवात का अर्थ वात रहित भी हो सकता था लेकिन जहाँ वायु सर्वथा नहीं होगी वहाँ तो दीप बुझ जाएगा! वैसे, 'वात' शब्द के अंदर यह ध्वनि तो है ही कि जो बह रही है; 'वाति' अर्थात् बहती है इसलिये वायु को वात कहते हैं। इसलिए निवात से कहा कि वायु के होने पर भी किसी प्रकार का बहना अर्थात् चलन नहीं है। निवातस्थ अर्थात् निवात देश में स्थित दीपक दृष्टांत है। वह दीपशिखा 'न इङ्गते' बिल्कुल नहीं हिलती, चलायमान नहीं होती, एकदम एक-जैसी स्थिर जलती है। जैसे उसका बिना हिले हुए एकाकार प्रकाश होता है, वैसे ही योगी का अन्तःकरण सर्वथा एकाकार हो जाता है, प्रत्यय का एक-जैसा प्रवाह रहता है। 'यतचित्तस्य योगिनः', जिसका अन्तःकरण धारणा, ध्यान, समाधि से संयत हो गया है वह योगी जिस समय योग का अनुष्ठान कर रहा है अर्थात् जिस समय समाधि के अभ्यास में लगा है; शरीर-निर्वाह के लिए जब भिक्षाटन आदि करेगा उस समय तो ऐसी वृत्ति नहीं रह सकती कि एक ही प्रत्यय रहे, परंतु जिस समय उन कार्यों से निवृत्त होकर योग का अभ्यास करने के लिए अर्थात् समाधि के अभ्यास के लिए बैठा है, जब वह अपने अन्तःकरण को समाधि में लगा रहा है, उस समय एकदम स्थिर रहता है। धारणा के अंदर मन की वृत्ति आत्माकार बनती तो है पर अत्यंत अस्थिर रहती है, बहुत प्रयत्न करने पर आत्माकार बनती है पर तुरंत अनात्माकार हो जाती है। फिर ध्यान के अंदर लम्बे समय तक आत्माकार बनेगी, बीच-बीच में थोड़ी देर के लिए अनात्माकार बन जाएगी। समाधि में पहुँचने पर जितनी देर बैठता है उतनी देर निरंतर आत्माकार ही चलती रहेगी अनात्माकार वृत्ति बीच में आएगी ही नहीं। समाधि का अभ्यास करने वाले योगी के संयत चित्त की यह उपमा बतलाई गयी है।।१६।।

इस प्रकार से योगाभ्यास के बल से जब चित्त एकाग्र हो गया, वायुरहित स्थल में

जलते दीपक की तरह स्थिर हो गया, उस समय

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

योगानुष्ठानद्वारा सब विक्षेपों से निवारित चित्त जब समाधिकाल में उपशांत हो जाता है और जब योगी समाधि से संस्कृत अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए निजस्वरूप में तुष्ट होता ही है, तब योग की सिद्धि (=पूर्णता) होती है।

योग का सेवन, अभ्यास करने से चित्त निरुद्ध होकर 'उपरमते' सर्वथा दृष्ट और अदृष्ट सब विषयों की ओर जाने से रुक जाता है। दीपक एक जैसा जले इसका मतलब है कि प्रकाश के बीच में अंधकार की कोई जगह नहीं आए अर्थात् आत्माकार वृत्तियों के बीच में अनात्माकार वृत्ति नहीं आए। योगसेवन से जब ऐसा चित्त निरुद्ध होकर उपराम हो जाता है तभी सिद्धि संभव होती है। दीर्घकाल तक सादर अभ्यस्त समाधि के द्वारा अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। 'आत्मा' अर्थात् ऐसा अत्यन्त शुद्ध हुआ जो अन्तःकरण, उस अन्तःकरण से 'आत्मानम्' जो परमात्मा का ज्योति-स्वरूप है उसको योगी उपलब्ध करता है। अन्तःकरण सीधा तो उस को उपलब्ध कर नहीं सकता क्योंकि वह विषय है नहीं, इसलिए अन्तःकरण में वह जैसा प्रतिबिम्बित होता है वही उसका ग्रहण है। जैसे बिल्कुल साफ, नहीं हिलने वाले काँच में जब हम अपना चेहरा देखते हैं, तब देखते तो हैं चेहरे के प्रतिबिम्ब को, परंतु ज्ञान होता है मुख का; भस्म-त्रिपुण्ड्र दीख तो रहा है प्रतिबिम्ब में पर ज्ञान हो रहा है कि मेरे चेहरे पर त्रिपुण्ड्र ठीक लगा है। इसी प्रकार, समाहित अंतःकरण में देखकर पता परमात्मा का चल जाता है। उसकी उपलब्धि इस रूप में करते हुए 'आत्मनि एव तुष्यति' जो आत्मा का आनन्दघन स्वरूप उसको ज्ञात हो रहा है, उसी से उसको तुष्टि होती है, परमानन्द का अनुभव होता है। संतोष क्यों होता है? क्योंकि जो चीज़ दीखती है वह आनन्दघन है। उसके सामने बड़े से बड़े आनंद सर्वथा घृणित हो जाते हैं अर्थात् सुख का विषय नहीं रहते।।२०।।

योगसिद्धि का काल ही अन्य ढंग से समझाते हैं

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

जो इन्द्रियातीत, केवल स्वानुभव से ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख है, उसे जब अनुभव करता है और आत्मस्वरूप में स्थिर रह कर उससे प्रच्युत नहीं होता, तब योगी योग की सिद्धि प्राप्त करता है।

'आत्यन्तिकं सुखं' जिससे बड़ा कोई सुख नहीं, जिसके जैसा भी कोई सुख नहीं। अब तक हमने व्यवधान से ही सुख का अनुभव किया है। रसगुल्ला खाया; रसगुल्ले से रसनेन्द्रिय का संबंध हुआ, रसगुल्ले को रसनेन्द्रिय ने देखा। पहले हमारे व रसगुल्ले के बीच रसनेन्द्रिय आई, रसगुल्ले को सीधा *हमने* तो जाना नहीं। फिर, उस रसनेन्द्रिय को भी हमने देखा नहीं, मन ने देखा, अन्तःकरण ने देखा; तो दूसरा अन्तःकरण का व्यवधान है। अन्तःकरण को हम देखते हैं। इसलिए संसार के जितने सुख हमको मिलते हैं सब व्यवहित सुख हैं। व्यवधानों में कोई भी विकार हो तो वह भी हमारे सुख में विकार ले आता है। ज़ोर का जुकाम हो जाता है तो रसनेन्द्रिय प्रतिबद्ध हो जाती है। उस समय कुछ भी खाओ, सही स्वाद आता नहीं, सब चीज़ें बेस्वाद लगती हैं। रसनेन्द्रिय का दोष हमारे सुख का बाधक हो जाता है। अगर मन में कोई दोष आया हुआ है तो वह भी व्यवधान कर देगा। बढ़िया पकौड़ा है, स्वस्थ रसनेन्द्रिय से संबंध भी है, हमारा प्रिय भी है, लेकिन उसे जबान पर रखने के साथ ही किसी ने कहा 'आपकी फैक्ट्री में आग लग गई है', तो तत्काल स्वाद गायब हो जाता है, आगे खाया ही नहीं जाता। इस तरह, बढ़िया बना हुआ पकौड़ा भी सुख नहीं देता है। किन्तु जो आत्म-सुख है, उसमें न इन्द्रिय का व्यवधान है, न मन का व्यवधान है। यदि शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से देखें तो मन और आत्मा के बीच में भी अनेक आचार्यों ने अविद्या या अविद्यावृत्ति का व्यवधान माना है। आत्मसुख में उस का भी व्यवधान नहीं है क्योंकि अविद्या के द्वारा आत्मा का ग्रहण है नहीं। इसलिए वह आत्यन्तिक सुख है, साक्षात् सुख है, किसी व्यवधान से सुख नहीं है। वह सुख अपना स्वरूप होने के कारण न आदि वाला है, न अन्त वाला है, हमेशा एक जैसा रहता है। अन्य सुखों के अंदर तो प्रारंभ-समाप्ति हैं। पकौड़ा बनाने के लिए गर्मी के मौसम में चूल्हे पर बैठे हुए को तो कोई सुख नहीं होता है! वही जब खाने बैठता है, पंखा चला कर ठंडा हो जाता है, तब खाने पर उसे सुख होगा। खाकर पकौड़ा गले के नीचे गया और सुख खत्म! विषय-सुख अन्त वाला भी है। आदि और अन्त से रहित है आत्मा का सुख इसलिए वह अत्यधिक सुख है, अनन्त सुख है।

वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों का विषय नहीं, उनसे उस सुख का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका बुद्धि से ही ग्रहण होता है। उपनिषद् ने साफ ही कहा है कि बुद्धि से ही आत्मसुख ग्रहण होता है। बुद्धि भी कैसी? 'अग्र्यया' एकाग्र, समाहित। जो बुद्धि सर्वथा दोषरहित हो गई है वही इसको ग्रहण करती है। इन्द्रिय का अगोचर होने से वह विषय से अजनित है। संस्कार आदि का भी इसके अंदर कोई स्थान नहीं, इसलिए अन्तःकरण का दोष भी इसमें आड़े नहीं आएगा। स्वरूप सुख तो जब बुद्धि ग्रहण नहीं करती, तब भी रहता है, जैसे गहरी नींद के अंदर भी हम तो हैं; लेकिन 'हम हैं', इस बात को हम तब जानते नहीं हैं। हैं तो सही, तभी उठ कर कहते हैं 'मैं सोया', परंतु

हम उस समय जानते नहीं हैं। उसके बाद जब अन्तःकरण आता है, तब जानते हैं। इसी प्रकार से वह सुख तो हमेशा है लेकिन ऐसी समाधि के द्वारा शुद्ध की हुई जो बुद्धि है, उसी में प्रकट होता है अन्यथा प्रकट नहीं होता।

आत्म-सुख अतीन्द्रिय है, यह भगवान् ने स्पष्ट कह दिया। दिव्य लोकों के अंदर रूप, रस, गंध आदि का जो अनुभव है, वह सारा इन्द्रिय-जनित होने के कारण, अतीन्द्रिय नहीं होने के कारण, आत्म-सुख नहीं कहा जा सकता। आत्मसुख किसी विषय से जनित नहीं है क्योंकि आत्मा कभी विषय नहीं होता। बुद्धि इसको ग्रहण करने जाती है परंतु ग्रहण तो केवल प्रतिबिम्ब का ही होता है, उसके आगे जो है वह अग्राह्य है, फिर भी उसका ज्ञान है। बुद्धि के अंदर उस आनन्द का स्फुरण होता है और पता लगता है कि यह कोई विषय-आनन्द नहीं है, निर्विषय मेरा आत्म-स्वरूप है।

'स्थितः' इसलिए कह रहे हैं कि पहले जब यह अनुभव होता है तब बिजली की चमक की तरह होता है। जैसे बिजली की चमक दीखी और फिर नहीं है, फिर दीखी, फिर नहीं है। ऐसे यह अनुभूति क्षणिक होती है। धीरे-धीरे यह अनुभूति बनी रहती है। जब सर्वथा बनी रहे, तब कहा जाएगा, उसमें स्थित है। जब उसमें योगी स्थित हो गया, प्रतिष्ठित हो गया, तब 'तत्त्वतः न चलति' अर्थात् स्थित होने के बाद उस तत्त्व स्वरूप से उसका चलन नहीं होता, सच्चिदानन्दरूप को छोड़कर वह अन्तःकरण इत्यादि को अपना स्वरूप नहीं समझता। वेदान्त की भाषा में कहें तो अधिष्ठान का ज्ञान होने के बाद अध्यस्त पदार्थ दीखने पर भी 'है' ऐसा नहीं लगता। चित्र कपड़े पर आँका गया है यह जानने वाला चित्र की विशेषताएँ देखते हुए भी समझता है कि वास्तव में कपड़ा ही है, अन्य दृश्य दीखने पर भी वास्तविक नहीं है। अहमदाबाद में स्वामी नारायण सम्प्रदाय वालों ने अक्षरधाम में प्रदर्शनी लगायी है। वहाँ, उनके जो मूल-पुरुष थे उनकी 'प्लास्टर ऑफ पैरिस' से बहुत सुंदर मूर्ति बनाई है और उसके अंदर ऐसा यंत्र लगा दिया है कि उनका हाथ भी थोड़ा हिलता है, आँखें झपकती हैं, होठ बुदबुदाते हैं। एक टेपरिकॉर्ड बजा देते हैं उनके भाषण का। लोग बतलाते हैं कि जैसे ही प्रदर्शनी में जाते हैं, ऐसा लगता है कि स्वामी जी प्रवचन कर रहे हैं! यह अध्यास का काल हुआ। फिर जब पास जाकर देखते हैं तब समझ आता है कि सब टेपरिकॉर्ड और यंत्रों का खेल है। उसके बाद भी मूर्ति तो वैसी ही दीखती है, पर अब भ्रम नहीं होता। अब आँख और होठ हिलते दीख रहे हैं पर भ्रम नहीं है। इसी प्रकार से स्थिर हुए योगी को संसार के सारे खेलों को देखते हुए भी, 'ये विषय हैं' ऐसा नहीं लगता वरन् यह बोध रहता है कि 'ये विषय दीख रहे हैं, मायिक हैं, माया से प्रतीत हो रहे हैं।' इसलिए तत्त्व से अर्थात् अपना जो आत्मस्वरूप है, उससे कभी भी चलन नहीं होता।।२१।।

––प्रकारान्तर से उक्त योग का वैशिष्ट्य स्पष्ट करते हैं

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

जिस आत्मलाभ को पाकर (योगी) यह नहीं सोचता कि इससे अधिक कोई और भी लाभ है, एवं जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुए को महान् दुःख भी विचलित नहीं करता, (उसे योग समझना चाहिये)।

आत्मस्थिति को प्राप्त करके और कोई लाभान्तर प्रतीत ही नहीं होता। पाँच टन सोना मिल जाए, पृथ्वी का राज्य मिल जाए, इन्द्र-पद मिल जाए ऐसी कोई भावना संभव नहीं रह जाती। इनके मिल भी जाने पर 'मुझे कुछ प्राप्त हो गया' ऐसा उसको नहीं लगता। लोक में भी देखने में आता है; कोई अरबपति चल रहा है; सड़क पर चलते हुए उसको एक दुअन्नी पड़ी दीखे, तो क्या उसके मन में होता है 'अरे! बहुत बढ़िया हुआ, एक दुअन्नी मिल गई!' दुअन्नी के मिलने से 'मुझे कुछ मिल गया' ऐसा उसको बोध नहीं होता। दूसरी ओर, चार दिन से भूखा कोई आदमी जा रहा है, उसके पास खाने का कोई इन्तज़ाम नहीं है, उसको दुअन्नी दीखती है तो लपक कर ले लेता है कि दो आने में चबैना तो खा लेगें, कुछ तो पेट में जाएगा। उसको तो वह लाभ लगता है पर अरबपति को उसमें कोई लाभ नहीं लगता। आत्मज्ञ को जो प्राप्त है उसमें अनात्मलाभ से कुछ जुड़ गया ऐसा नहीं लगता। यह बड़ी भारी परीक्षा है अपने अन्तःकरण की। जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक भाव रहता है कि आत्मा तो ठीक है, परंतु व्यवहार के लिए कुछ चीज़ें चाहिए ही। *व्यवहार के लिए* लाभ अर्थात् अधिक लाभ हुआ, परमार्थ लाभ से अतिरिक्त लाभ हुआ। कई बार देखने में आता है कि बड़े उच्चकोटि के साधक भी, परमात्मा के मार्ग पर चलते हुए भी 'किसी का फायदा हो जायेगा' मानकर अनुष्ठान आदि में लग जाते हैं। यह द्योतक है कि वे परमात्म-दर्शन से अन्य किसी को फायदा मान रहे हैं। भगवान् ने यहाँ बतला दिया कि अपने अन्तःकरण की परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कुछ भी मिलने पर यदि होता है कि 'यह मेरा अधिक लाभ है', तो अब तक 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' हुआ नहीं है। भगवान् ने बड़ी स्पष्ट परीक्षा बतला दी।

किं च आत्मतत्त्व में स्थित होने पर 'गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते।' जैसे बड़ी-से-बड़ी चीज़ मिलने से उसको कोई अधिक की प्रतीति नहीं, वैसे ही चाहे जितना बड़ा दुःख हो, उसमें विचलन नहीं होता। अपने सिर के ऊपर तलवार भी पड़े तो भी वह उसको अपने स्वरूप से विचलित नहीं करती। चाहे जितना बड़ा दुःख आवे, उसमें किसी प्रकार यह नहीं होता कि 'मेरे आत्मस्वरूप में कोई फ़र्क आया।' उस दुःख के कारण अन्तःकरण के अंदर जो भी विकार आवे, उससे अपने को वह सर्वथा अविकृत जानता है, अनुभव करता है।

इस प्रकार, समाधि के अंदर जब सिद्धि हो जाती है तब कैसी स्थिति होती है, यह भगवान् ने बतला दिया।।२१।।

'यत्रोपरमते चित्तं' से लेकर अर्थात् बीस, इक्कीस और बाईस इन तीन श्लोकों में जो योग बतलाया उसके बारे में कहते हैं

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

दुःखों से संबंध के वियोगरूप उस (पूर्वोक्त आत्मस्थिति) को योग नाम से समझना चाहिये। अव्याकुल और निश्चयपूर्ण चित्त से उस योग का अभ्यास करना चाहिये।

योग का मतलब होता है जोड़ना, जब रुधादिगण के 'युजिर् योगे' धातु से योग-शब्द बनायें। किन्तु दिवादिगण के 'युज समाधौ' धातु से योग-शब्द बनने पर अर्थ होता है चित्तवृत्तियों का निरोध। इसलिए योग का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने जोड़ना नहीं किया, चित्तवृत्ति का निरोध ही किया। निरोध, वृत्तियों को न उठने देने अर्थात् चित्त का अपने स्वरूप में स्थित होना। चित्त तो वहाँ है; उसके लीन हो जाने पर तो सुषुप्ति की अवस्था जा जाएगी, जैसे सुषुप्ति में कुछ पता नहीं लगता, ऐसे ही कुछ पता नहीं लगेगा। अतः चित्त-निरोध नहीं कहा, चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा। जब चित्त की वृत्ति बनती है तभी सारे संसार का उसमें ज्ञान होता है। वृत्ति के द्वारा ही हम घट पट आदि पदार्थों को भी जानते हैं, बाह्य विषयों को भी जानते हैं और अंदर के सुख-दुःख को भी जानते हैं, राग-द्वेष को भी जानते हैं, मान-अपमान को भी जानते हैं। दोनों ही के लिए चित्त की वृत्ति चाहिए। जब हम बाह्य घड़े इत्यादि को जानते हैं तब विषय के अनुसार चित्त की वृत्ति है, विषय को आलम्बन करके वृत्ति है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, काम-क्रोध इत्यादि आकार किसी विषय के अनुकारी नहीं होते, केवल चित्त की वृत्ति ही हैं। चित्त की सुखाकार वृत्ति ही सुख है, दुःखाकार वृत्ति दुःख है, रागाकार वृत्ति राग है, द्वेषाकार वृत्ति द्वेष है। चाहे विषय को आलम्बन करके वृत्ति बने और चाहे बिना विषय को आलम्बन किए हुए केवल अपने ही स्पंद से वृत्ति बने, जब वृत्ति बनेगी तभी कोई ज्ञान होगा।

दुःख दो तरह का है। एक तो प्रसिद्ध है कि जो प्रतिकूल प्रतीति होती है वह दुःख है। परंतु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि विवेकियों के लिए सभी वृत्तियाँ एक जैसी दुःखरूप हैं। 'परिणामतापसंस्कारैः, गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२.१५)। वेदान्त की दृष्टि से, जो अविद्या का कार्य होगा, आदि-अन्त वाला होगा और भी सारे परिच्छेदों वाला होगा, अतः दुःख ही होगा। जिसने संसार के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है उसके लिए संसार के सभी अनुभव दुःखरूप ही हैं। अतः विवेकी के लिए चित्त-वृत्ति दुःखरूप ही है। लोक में भी ऐसा देखने में आता है : घर में बच्चा हुआ,

थाली बजाई, बड़ी प्रसन्नता हुई। ग्यारहवें दिन पण्डित जी को बुलाया तो उन्होंने उसकी पत्री बना दी, और कह दिया 'यह तो तीसरे साल में मर जाएगा।' अब जब उस बच्चे को देखोगे, खिलाओगे तब तुरंत तुम्हारा संस्कार जग जाएगा 'यह तीसरे साल मर जाएगा' और तुम दुःखी हो जाओगे। किलकारी मारेगा, बाहर के लोग तो बड़े प्रसन्न होंगे 'कैसी किलकारी मारता है!' पर तुम्हारे हृदय में शूल चुभेगा कि 'कैसी सुंदर किलकारी मारने वाला बच्चा मर जाएगा।' उसकी किलकारी वगैरह तुम्हें सुखकारी नहीं होगी, दुःखकारी होगी। इसी प्रकार जो संसार के स्वरूप को जानता है, उसको हर चीज़ का चाहे, जितनी सुख वाली लगे, पता है कि नष्ट होने वाली है। भगवान् पहले ही (५.२२) कह आए हैं 'आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः' बुध रमण कर नहीं सकता क्योंकि उसको पता है कि अन्त वाली चीज़ है।

जब सब वृत्तियों को निरुद्ध कर लिया तब दोनों ही प्रकार का दुःख कभी हो नहीं सकता। इसलिए योग का लक्षण भगवान् ने कर दिया कि दुःखसंयोग के वियोग का नाम योग है। दुःख का संयोग हुआ वृत्ति का उठना, वृत्ति का उठना बंद हो गया तो दुःखसंयोग से वियोग हो गया। इस प्रकार, दुःखसंयोग का वियोग ही शास्त्र में योग कहा गया है।

जब हम घड़े को जानते हैं तब तीन वृत्तियाँ हैंः 'मैं' यह अहम् के आकार की वृत्ति है। 'घड़ा' यह विषयाकार वृत्ति है और 'जानता हूँ' यह ज्ञानाकार वृत्ति है। देखता हूँ, सुनता हूँ, छूता हूँ, चखता हूँ, सूंघता हूँ इन सब में मतलब है कि, आँख से जानता हूँ या कान से जानता हूँ इत्यादि; ये सब ज्ञान के ही प्रकार हैं। 'मैं घड़े को देखता हूँ' इसका मतलब है कि मैं घड़े को आँखों से जानता हूँ। इस प्रकार उक्त अनुभव में मैं अर्थात् द्रष्टा, घड़ा अर्थात् दृश्य और जानना अर्थात् दर्शन, तीन वृत्तियाँ हैं। मैं को वृत्ति की आवश्यकता है क्योंकि जब तक अहम्-इत्याकारक वृत्ति नहीं बनेगी तब तक मैं द्रष्टा नहीं बनूँगा। ऐसे ही विषयाकार वृत्ति बने बिना घड़ा दृश्य नहीं बनेगा। इन दोनों वृत्तियों को तुम रोक दो अर्थात् न जानने वाले 'मैं' का भान रहे, न जानने के विषय घड़े का भान रहे, केवल दर्शनमात्र का भान रहे। दर्शनमात्र का भान भी जब तक चित्त है तभी तक है। वृत्ति के बिना अन्तःकरण जब अपने स्वरूप में स्थित है तब भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा ही, दर्शन-मात्र वहाँ रह जाएगा। उसको नहीं हटाना, क्योंकि उसको हटाओगे तो सुषुप्ति हो जाएगी। द्रष्टा और दृश्य को हटाना है क्योंकि इनके कारण ही दुःख-संयोग होता है। दुःख हमेशा किसी विषय से होगा। चाहे विषय इन्द्रिय-गोचर हो या इन्द्रिय-गोचर न हो। राग-द्वेष, सुख-दुःख ये सब कोई बाहरी विषय नहीं हैं पर विषय हैं ही। दुःख हमेशा *किसी को* होता है, *किसी विषय से* होता है। जब द्रष्टा और दृश्य भावों से रहित चित्त रह गया तब चित्त में ब्रह्म का दर्शन रूप प्रतिबिम्ब पड़ेगा।

भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा कि सुषुप्ति में जाने लगे तो चित्त को उठावे क्योंकि चित्त नहीं रहेगा तो दर्शन भी नहीं करेगा। चित्त को जैसे ही उठाते हैं वैसे ही या इन्द्रियादि के द्वारा बाह्य विषय अथवा पुराने पड़े हुए संस्कारों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ विक्षेप की हेतु बनने लगती हैं। विक्षेप हो जाने पर उन विक्षेप की चीज़ों को हटावे। संस्कारों से होने वाली वृत्तियाँ अथवा विषयों से होने वाली वृत्तियाँ, दोनों को हटा दिया तो चित्त रह गया। किंतु चित्त के अंदर खुद अपने अनेक संस्कार, मल भरे हुए हैं। इसलिए उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तो पड़ता है परंतु जैसे दर्पण के मैले होने के कारण मैला प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक जैसा बिंब है वैसा नहीं पड़ता, वैसे समल चित्त में ब्रह्म का सही प्रतिबिंब नहीं पड़ता। इसलिये ज़रूरत है कि उसमें जो सारे दोष छिपे पड़े हैं, उन सबको जान कर हटावे। दोष सारे या रजोगुण के हैं या तमोगुण के हैं। अन्तःकरण खुद तो सत्त्वगुण से बना है। अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ महाभूतों के सत्त्वगुण से बने हैं। कर्मेन्द्रियाँ और प्राण रजोगुण से बने हैं। विषय तमोगुण से बने हैं। अंतःकरण का स्वभाव सत्त्व है, उसमें रज-तम का मल होता है। अंतःकरण को रजोगुण और तमोगुण रूपी कषाय से रहित करना पड़ेगा और वृत्ति बनने नहीं देनी होगी। सत्त्वगुण की भी यदि वृत्तियाँ बनेंगी तो द्रष्टा और दृश्य भाव रह ही जाएँगे। अतः सत्त्वगुण की भी वृत्तियाँ नहीं बनने देनी हैं। तब जो शुद्ध सत्त्व रह जाएगा उसमें जो प्रतीति होगी वह परमात्मा के शुद्ध रूप की प्रतीति होगी। जैसे, जब घड़ा बनाते हो तो बनते हुए घड़े में आकाश रहता ही है। आकाश को कहीं से लाकर तो नहीं भरते! इसी प्रकार चित्त में जो तुमने रजोगुण तमोगुण और वृत्तियाँ भरी हैं उन्हें निकाल दो तो शुद्ध सत्त्व ही रह जायेगा। तमोगुण के संस्कार अर्थात् विषयों के संस्कार। रजोगुण के संस्कार अर्थात् कर्मों के संस्कार कि यह करना है, यह नहीं करना है इत्यादि। यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह रसगुल्ला है ये सब विषयों के संस्कार भी भरे हुए हैं। रजोगुण और तमोगुण के संस्कारों को हटा दिया, सत्त्वगुण की भी वृत्ति को बनने नहीं दिया, तब उस अन्तःकरण में जो सत्त्वगुण है उसमें ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। वही योगी की स्थिति है। पतंजलि ने चित्तवृत्ति-निरोध को क्यों योग कहा? क्योंकि चित्त-वृत्तियाँ ही दुःख हैं। अतः उनका अभिप्राय भी दुःखनिरोध से है, यह भगवद्वाक्य से स्पष्ट होता है।

ऐसा दुर्लभ योग सिद्ध कैसे होवे? 'निश्चयेन योक्तव्यः।' अत्यधिक दुःखनिवृत्ति करने वाला जो यह योग है उसको निश्चय के साथ करना चाहिए। यहाँ संक्षेप में भगवान् शमादि छह साधनों को बतला देते हैं। सबसे पहले श्रद्धा को बतलाया। गुरु और शास्त्र के वचन में पूरा निश्चय करके लगेगा, तभी योगसिद्धि होगी। जिसके मन में गुरु और शास्त्र के वचन में श्रद्धा नहीं होगी या अपूर्ण होगी, उसको इसमें सफलता नहीं मिलेगी। निश्चय अर्थात् श्रद्धा के साथ लगना चाहिए। अतीन्द्रिय विषय में श्रद्धा

के बिना काम नहीं चलता। ऐन्द्रिय ज्ञान तो तुमको इन्द्रियों के द्वारा हो जाता है अतः उसमें शब्द प्रमाण की ज़रूरत नहीं पड़ती, अर्थात् शब्द से ही जानो यह ज़रूरी नहीं होता है। परंतु जो इन्द्रियों से अतीत विषय है, उसको इन्द्रियाँ तो जान नहीं सकेंगी अतः दूसरा जानने का प्रकार तुम्हारे पास शब्द ही है। रोगी तुम्हारे पास आकर कहता है कि सिर में दर्द है। अगर तुमको उसकी बात पर श्रद्धा ही नहीं है तो तुम इलाज क्या करोगे! दर्द अतीन्द्रिय है, दर्द को न तुम सूंघ सकते हो, न देख सकते हो, न चख सकते हो। 'मुझे दर्द है,' यह कहने वाले का शब्द ही प्रमाण है कि उसे दर्द है। आजकल के डाक्टर रोगी पर श्रद्धा नहीं करते। परीक्षणों के आधार पर घोषित कर देते हैं 'तुम्हें कोई रोग नहीं है। दर्द तुम खुद कल्पित कर रहे हो!' अतः उपचार भी नहीं कर पाते। ठीक इसी प्रकार से स्वर्ग, धर्म, परमेश्वर इत्यादि पदार्थ शब्द से ही ज्ञात हो सकते हैं। शब्द की तुम भली प्रकार परीक्षा करो। श्रुति ने स्वयं ही विधान कर दिया 'श्रोतव्यः मन्तव्यः' सुन करके उसको अपनी बुद्धि में 'ठीक है' ऐसा बैठा लो। परंतु कही हुई बात ही नहीं है यह नहीं कह सकते। जो श्रवण और मनन से निश्चय हो जाता है, उसी को यहाँ निश्चय कहा। हमारी श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है। अंधविश्वास के अंदर तो जो चीज़ जैसी कही हुई है, उस पर विचार ही नहीं करना है। जो बात कही गई है, वह युक्ति से विरुद्ध नहीं है यह समझने के लिये श्रद्धा चाहिये। युक्ति से वस्तु का पता तो नहीं लगता लेकिन वस्तु युक्तियुक्त है या नहीं यह तो पता लग ही जाता है। अंधविश्वास के अंदर तुम को युक्ति का कोई प्रयोग नहीं करना है। जबकि श्रद्धा में युक्ति का प्रयोग करना है लेकिन कही हुई बात को समझने के लिए करना है, उसके खण्डन के लिए नहीं। तभी निश्चय होगा। कही हुई बात क्यों झूठी हो सकती है जब सोचोगे तब केवल संशय रह जाएगा। चाहे कितनी युक्तियुक्त बात हो, वह है ऐसा तो निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि जो युक्तियुक्त हो, वह होता है ऐसा नहीं कह सकते। है इसका निश्चय तो गुरु व वेदान्त के वाक्य से होगा। कहने वाले को विश्वासी समझ कर उसकी बात का विश्लेषण करके कि 'ऐसा असंभव तो नहीं प्रतीत होता', निश्चय प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार 'निश्चयेन योक्तव्यः' द्वारा श्रद्धा बता दी।

'अनिर्विण्णचेतसा।' चित्त निर्विण्ण न होवे। अध्यात्म-विद्या में प्रवेश करने वाले में धैर्य का अभाव प्रायः होता है। थोड़े समय के बाद ही धीरज छूटने लगता है 'अरे! दो साल तो हो गए, कुछ हुआ ही नहीं। मुझ से तो हो ही नहीं सकता!' यह है चित्त की निर्वेदता जिसमें लगता है 'मैं कर ही नहीं सकता, मेरे बूते का नहीं है।' कई बार काशी में विद्यार्थी आते हैं। परिभाषा-प्रकरण कौमुदी का शुरू होता है, थोड़ा रटते हैं और जितना रटते हैं उतना ही अगले दिन भूल जाते हैं! पड़ती है डाँट गुरु जी से। महीना-भर तक परिभाषा प्रकरण से आगे चल नहीं पाते और निर्वेद हो जाता है 'क्या

रखा है पढ़ने-लिखने में। पढ़ने वाले भी मरते हैं, नहीं पढ़ने वाले भी मरते हैं!' ऐसा व्यक्ति साधना में लगा नहीं रह सकता। इसलिए कहा 'अनिर्विण्णचेतसा।' योग के अभ्यास में जाएँगे और धैर्य नहीं हो तो काम नहीं होगा। कैसा अनिर्वेद होना चाहिए? भगवान् गौडपादाचार्य ने एक कहानी बताई है : एक टिट्टिभी (टिटहरी) पक्षी अण्डे देने वाली थी। उसने पति से कहा 'यह समुद्र का किनारा है, कहीं दूर चल कर अण्डे दे दें। समुद्र में ज्वार-भाटे आते हैं तो बहुत आगे पानी आ जाता है, हमारे अण्डे नष्ट हो जाएँगे।' टिट्टिभ खूब जवान था, मस्ती में था। उसने कहा 'यहीं दे दे, क्या हिम्मत है समुद्र की जो हमारे अण्डे को कुछ नुकसान पहुँचा देवे!' टिट्टिभी ने सोचा कि होगी कोई इनके पास सिद्धि, वहीं अण्डे दे दिए। दो-चार दिनों में ज्वार आया तो अण्डे ले गया, टिट्टिभी रोने लगी 'मैंने पहले ही कहा था, अब वह ले गया।' टिट्टिभ बोला 'अरे! रो नहीं, मैं वापिस लाऊँगा।' वह एक-एक बूँद करके समुद्र से पानी बाहर लाने लगा! लोगों ने पूछा 'क्या कर रहा है?' वह बोला 'समुद्र को सुखा दूँगा, अंदर हमारे अण्डे मिल जाएँगे।' पहले तो लोग हँसे, फिर कुछ लोग उसके साथ हो गए कि अपनी जाति का पक्षी है, इसकी मदद करें। किंतु उससे समुद्र में क्या होना था! टिट्टिभ के कर्म अच्छे थे। उधर से नारद जी निकले, तो देखा कि पक्षी लोग समुद्र खाली कर रहे हैं। जाकर पूछा 'क्या कर रहे हो?' टिट्टभ ने कहा 'समुद्र को खाली कर रहा हूँ, मेरे अण्डे लेकर चला गया।' नारदजी ने कहा 'अरे! तुम्हारे ऐसा करने से क्या समुद्र सूखने वाला है!' वह बोला 'आप चिन्ता नहीं करो, हम खाली कर लेंगे।' नारद जी को दया आ गई, जाकर पक्षियों के राजा गरुड से कहा 'देखो, समुद्र तुम्हारी प्रजा को दुःखी कर रहा है। तुम ध्यान ही नहीं देते हो।' गरुड ने कहा 'मेरे रहते समुद्र क्या कर सकता है!' नारद जी ने बताया 'टिट्टिभ पक्षी के अंडे लेकर चला गया है।' गरुड जोश में आए और अपने पंखों से प्रलयकारी वायु छोड़ने लगे जो समुद्र को सुखा दे। समुद्र हाथ जोड़कर सामने आकर कहने लगा 'महाराज! आप कृपा करो। मैं सूख जाऊँगा।' गरुड ने पूछा, 'मेरी प्रजा को क्यों दुःखी करते हो?' वह बोला 'मैंने क्या किया है?' गरुड बोले 'टिट्टिभ के अंडे क्यों ले गये?' समुद्र ने कहा 'महाराज! मेरी तो लहरे हैं, आती जाती हैं। इनसे कहो ये कहीं दूर अंडे दिया करें। इस बार इनके अंडे तो मैं वापिस कर देता हूँ।' अंडे वापिस कर दिए, गरुड शांत होकर चले गए। टिट्टिभ का काम बन गया। ठीक इसी प्रकार, हम लोग अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने में लगते हैं। अगर हमारा चित्त निर्वेद से रहित है, अनिर्विण्ण है कि हम ज़रूर कर लेंगे। तब दृढतापूर्वक धैर्य से लगते हैं तो नारदरूप गुरु के द्वारा गरुडरूप परमेश्वर की कृपा होती है और उनकी दृष्टि पड़ते ही काम हो जाता है। परंतु जब तक अनिर्वेद वाले चित्त से लगे नहीं रहते हैं तब तक सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार अनिर्वेद कहकर साधनों में तितिक्षा का विधान किया। चाहे जितनी समस्या आये, उसका सामना करके साधनाभ्यास में लगे ही रहना तितिक्षा

है, वह यहाँ बतायी।२३।।

श्रद्धा और तितिक्षा बतलाकर अब शम दम आदि बतलाते हैं

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

संकल्प अर्थात् शोभनाध्यास से पैदा होने वाली सब कामनाओं को वासना और आसक्ति सहित छोड़कर तथा मन से इन्द्रिय-समूह को हर तरफ से नियमित कर (धीरे-धीरे उपरति करनी चाहिये)।

संकल्प अर्थात् 'यह अच्छा है' इस प्रकार का भाव आना। इसलिए छठे श्लोक की व्याख्या में कहा था कि स्मृतिकारों ने भी कहा है कि कामना संकल्पमूलक होती है। प्रवृत्ति का हेतु शोभनाध्यास है। वस्तुतः तो संसार के सारे पदार्थों के बारे में भगवान् ने कह दिया 'अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्' इदन्ता-बुद्धि से जो कुछ भी लौका जाता है, देखा या विषय किया जाता है, वह सारा-का-सारा अनित्य है, असुख अर्थात् सुखरहित है। सुखरहितता का बोध न होकर हमें उसमें सुख है ऐसा बोध होता है। भगवान् ने जो वास्तविक बात बतलाई उसे ढाँक कर ही कोई चीज़ अच्छी लगती है। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि मनुष्य के शरीर को भगवान् ने जिन चीज़ों से बनाया मांस का लोथड़ा, रक्त की नाडियाँ, आंतड़ियाँ इन सबको देखकर महा घृणा आती है। परंतु इसके ऊपर एक अत्यंत सूक्ष्म चमड़े की खोली भी चढ़ा दी। कारण तो इसमें भगवान् की करुणा है : यह न बनाते तो पिण्डलियाँ देखकर नीचे से कुत्ते खाने के लिए लपकते और ऊपर से कऊए खाने के लिए लपकते। लोगों को दोनों हाथों में दो डंडे लेकर ऊपर-नीचे पक्षियों व जानवरों को भगाते रहना पड़ता। अतः अत्यन्त करुणामय होने के कारण भगवान् ने यह झिल्ली चढ़ा दी कि ये दीखें नहीं, तो आदमी अपने काम कर सके। परंतु उस पतली-सी खोली से ही स्त्री-पुरुष का इतना आकर्षण हो जाता है कि अंदर की चीज़ को भूल ही जाता है!

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है एक राजा के लड़के को किसी सेठ की लड़की पसंद आ गई, उसने ज़िद पकड़ ली कि 'मुझे उसी से ब्याह करना है।' पहले तो राजा ने समझाया 'अरे! वह वैश्य है, तू क्षत्रिय है।' पर वह नहीं माना, खाना-पीना छोड़ दिया तो राजा ने उस सेठ को बुला कर कह दिया कि 'राजकुमार तुम्हारी लड़की से शादी करना चाहता है, कर दो।' सेठ घर गया और महाचिन्ता में पड़ गया कि बिरादरी में मैं क्या मुँह दिखलाऊँगा बेजात में लड़की देकर। उसको कई दिन चिन्ता में देखकर लड़की ने पूछ लिया 'पिता जी, आप बहुत चिन्ता में हैं, बात क्या है?' पिता ने कहा 'तेरी चिन्ता है, और कुछ नहीं।' 'मेरी क्या चिन्ता है?' 'राजकुमार से तेरा ब्याह करने के लिये राजा ने खबर भेजी है। राजा को मना नहीं कर सकता हूँ, ना कर भी दूँ तो

वह ज़बरदस्ती पकड़ कर मँगा लेगा। और, करता हूँ तो समाज में बड़ी भारी बदनामी होगी।' लड़की ने कहा 'आप चिन्ता नहीं करें। उसको खबर भेज दें कि आज से दसवें दिन सगाई कर लेंगे फिर शादी की बात तय कर लेंगे।' उसने कहा 'अरे! ऐसी बात मैं कैसे कहूँ!' बोली 'आप बिल्कुल निश्चिन्त होकर कह दें, कोई घबराने की बात नहीं है, मैं सँभाल लूँगी।' यह खबर भिजवा कर लड़की ने जमालघोटा ले लिया और बड़े-बड़े मटके मँगवा कर रख लिए अपने कमरे में। जमालघोटे के प्रभाव से उसे दस्त लगने लगे, सारा मल उसने मटकों में भर लिया। दस दिन में सारा शरीर निस्तत्त्व हो गया, बिल्कुल पीली पड़ गयी। राजकुमार आया तो सेठ ने लड़की को दिखला दिया। उसने कहा 'यह तो वह लड़की नहीं है, वह तो बड़ी सुंदर लड़की है, किसको यहाँ ले आया?' लड़की ने उसको पास बुला कर क्योंकि आवाज़ भी मुश्किल से निकल रही थी कहा 'अरे! मैं तो वह ही हूँ जिससे तुझे मोह है वह इन मटकों में भरा हुआ है।' उसने जाकर एक मटके का ढक्कन हटाकर देखा तो उसमें से महाबदबू आई, घबरा गया। लड़की ने कहा 'यदि पहले वाली से ब्याह करना है तो ये मटके भरे रखे हैं और मुझसे करना है तो मैं वही हूँ।' राजकुमार ने कहा 'नहीं-नहीं सेठ जी, मुझे ब्याह नहीं करना है।' जो बड़ी-से-बड़ी विश्व-सुंदरी है, वह है केवल मटकों में भरा हुआ मल, और कुछ नहीं! ऊपर की झिल्ली से सारा आकर्षण और मोह होता है।

संसार के सब पदार्थों की वास्तविकता इसी तरह ढकी हुई है इसलिए उनमें शोभनाध्यास कर लेते हैं। हर चीज़ अनित्य है, हर चीज़ प्राप्त करने में दुःख झेलना पड़ता है, नष्ट हो जाए तो दुःख होता ही है, जिस कारण से उत्पन्न होती है वह अशुद्ध होता है इस प्रकार संसार अनित्य, अशुद्ध, दुःखरूप होने पर भी यह तथ्य छिप जाने से हमें शोभन लगता है, अच्छा लगता है। जितना पदार्थों का विचार कर उनकी वास्तविकता का पता लगे, उतना शोभन-अध्यास होता नहीं है। पदार्थों की कामना सङ्कल्प से ही पैदा होती है। सङ्कल्प अर्थात् शोभन-अध्यास, अशोभन को शोभना समझना।

भगवान् ने 'सङ्कल्पप्रभवान्' इस दृष्टि से भी कह दिया कि कुछ प्राणादि के धर्म भूख-प्यास आदि हैं जो शोभन-अध्यास के कारण नहीं हैं। प्राणों का धर्म है इसलिए भूख-प्यास लग जाती है। भूख-प्यास आदि की निवृत्ति शोभन-अध्यास के कारण नहीं करते हैं। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए संकल्प-प्रभव कामनाओं के त्याग की बात कही। पहले कह आए हैं कि केवल शारीर कर्म करने से पाप नहीं होता, वे शारीर कर्म संकल्पप्रभव नहीं होते, आवश्यकता-पूर्ति के लिये होते हैं। भूख का मतलब होता है खाने की इच्छा। सङ्कल्पप्रभव खाने की इच्छा होगी जब रसगुल्ला खाना चाहेंगे। भूख तो कुछ भी खाकर निवृत्त होती है। इस भेद को बताने के लिए भगवान् ने संकल्पप्रभव कहा। शोभन-अध्यास से होने वाली जितनी कामनाएँ हैं उन सबको छोड़ना है।

'अशेषतः।' वैसे तो अशेष का मतलब भी सर्व हो जाता है लेकिन भगवान् ने एक-साथ कहा अतः भाष्यकार ने 'अशेषतः' का अर्थ बताया 'निर्लेपेन'। जैसे किसी बर्तन में लहसन का छौंक दे दिया जाता है, उसके बाद उस बर्तन को माँज लेते हैं तो लहसन नहीं रह जाता परंतु उसकी गंध रह जाती है। इसी प्रकार कामनाओं के हट जाने पर भी उनका कुछ अवशेष रह जाता है जो पुनः कभी जग जाया करता है। इसलिए अशेषतः का भाष्यकार ने अर्थ किया कि कामनाओं का लेप भी न रह जाए, ऐसा छोड़ देवे। शोभन-अध्यास का कारण शोभन संस्कार है। अशेषतः अर्थात् शोभन संस्कार भी हट जाएँ; अशोभन संस्कार इतने दृढ हो जाएँ कि शोभन संस्कार जग ही न पाएँ। इसके द्वारा शमको बतला दिया।

अब दम को बतलाते हैं 'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य'। इन्द्रियाँ दस हैं इसलिए इन्द्रियग्राम कह दिया। उन सब का नियंत्रण कर लेना है। दो प्रकार से नियमन हो सकता है इन्द्रियों का एक तो, इन्द्रियों से पदार्थों का भोग न करना। यह इन्द्रिय-नियमन का एक प्रकार है। योगी इसी का ज़्यादा प्रयोग करते हैं। परंतु शास्त्रों में कहा कि यदि तुम विषयों से इन्द्रिय को दूर भी रखोगे तो भी जो अंदर की वासना है वह ख़त्म नहीं होगी। इसलिए भगवान् कहते हैं 'मनसा।' विवेक वाला मन वासना-सहित इन्द्रियों का नियंत्रण कर लेता है अर्थात् वासना भी नहीं रह जाती। विवेकयुक्त जो मन है उसके द्वारा नियंत्रण करना है। यहाँ भगवान् ने 'एव' दे दिया, 'मनसा एव', इसके द्वारा बतला दिया कि इन्द्रियग्राम का विनियमन करने पर भी जब तक देह रहेगा तब तक देह-संचरणार्थ इन्द्रियों का प्रयोग होगा, परंतु वासनारहित ही होगा। उनका प्रयोग करेंगे ही नहीं यह वैदिकों का कहना नहीं है क्योंकि वैदिक तो रोज़ प्रार्थना करते हैं कि हम सौ सालों तक देखते-सुनते-बोलते आदि हुए जियें, कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण देखें इत्यादि। किंतु वासना से रहित होकर प्रयोग करना है। जब वासना से रहित होकर मन के द्वारा इन्द्रियग्राम का प्रवर्त्तन होगा तब, चूंकि मन नियत है इसलिए शास्त्र में जो कहा गया है तदनुकूल इंद्रियों की प्रवृत्ति होगी। शास्त्र से विरुद्ध, प्रतिकूल जो प्रवृत्ति होती है वह अपनी वासनाओं से ही होती है। 'समन्ततः', सभी प्रवृत्तियों के ऊपर इस प्रकार शास्त्र का विनियमन रहेगा। शास्त्र से जो अनुज्ञात नहीं है ऐसी किसी भी प्रकार की थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं होगी।।२५।।

शम-दम के बाद कर्तव्य उपरति बताते हैं

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे उपरति करे। मन को आत्मा में स्थिर कर किसी का चिंतन न करे।

उपरति के लिए पहली बात कही 'शनैः शनैः उपरमेत्'। उपरति का अभ्यास धीरे-धीरे किया जाता है। 'धृतिगृहीतया बुद्ध्या' धैर्य के द्वारा जो बुद्धि पकड़ ली गई है उससे उपरति की जा सकती है। उपरामता बड़े धैर्य से ही होती है, जल्दी होती नहीं। भाष्यकार ने उपरामता का अर्थ संन्यास किया है। संन्यास की प्राप्ति धीरे-धीरे होती है। संन्यास में सारे कर्मों को छोड़ना है। एक-साथ कर्मों को यदि छोड़ने का प्रयत्न किया जाता है तो संभव नहीं होता। मन का स्वभाव है कि क्षणमात्र भी बिना कुछ किए हुए नहीं रहेगा, या प्रवृत्ति करेगा या निवृत्ति करेगा, कुछ तो करेगा ही। तब सर्वकर्म-संन्यास की सिद्धि कैसे होगी? जब भगवान् कह रहे हैं कि क्षणमात्र भी बिना किए हुए नहीं रह सकता, तो सर्वकर्मसंन्यास यावत् जीवन के लिए कैसे करेगा? इसके लिये समझना चाहिये कि कौन बिना कर्म किए हुए नहीं रह सकता हैः जिसको शरीर के साथ अध्यास है। जब तक शरीर के साथ अध्यास अर्थात् देहाध्यास है, देहाभिमान है, तब तक कर्म किए बिना नहीं रह सकता। और जब स्थूल, सूक्ष्म शरीर से अभिमान दूर हो जाता है तब क्षणमात्र भी कर्म कर नहीं सकता। बिना कार्य-करणसंघात में अध्यास किये आत्मा कर्म नहीं करता। इसलिए ब्रह्मसूत्र में कहा कि कौन करता है? जीव करता है; जैसा करता है, वैसा भोगता है। किंतु जीव क्या है? तो कहा अकर्त्ता है, अभोक्ता है! दोनों बातें बिल्कुल विरुद्ध लगती हैं। सूत्रकार ने परिहार बताया कि जैसे औजारों को लेकर बढ़ई सब काम कर लेता है पर बिना औजार के नहीं कर सकता, इसी प्रकार शरीर और मन का परिग्रह करके तो आत्मा सब कुछ करता है पर इनका परिग्रह किए बिना कुछ भी कर सकता नहीं। आत्मा जब तक कार्यकरण संघात को अपने से एक करके प्रयुक्त नहीं करेगा, तब तक कुछ भी कर्म नहीं होगा। कार्यकरणसंघात से अपना संबंध, सिवाय मायिक, आध्यासिक के और कोई हो नहीं सकता, न संयोग हो सकता है, न समवाय हो सकता है। बार-बार उपनिषदों का आवर्त्तन करके जितना-जितना दृढ निश्चय होगा, बुद्धि बनेगी कि मेरा, आत्मा का, शरीर से कोई सच्चा संबंध नहीं है, उतना ही कर्मत्याग कर पाएगा। चूंकि यह करने में बड़ा समय लगता है, धीरे-धीरे यह निश्चय होता है, इसलिए भगवान् ने शनैः-शनैः करने को कहा जो तभी कर पाएगा जब धैर्य हो। बहुत-से साधक समझ लेते हैं कि जब तक प्रारब्ध है तब तक कर्त्ता-भोक्ता-बुद्धि रहती ही है। किंतु यदि रहती ही हो, तो सर्वकर्म-संन्यास की बात ही न की जाये! अतः यह भ्रम नहीं रखकर उपरति का अभ्यास करते रहना चाहिये।

अब समाधान बतलाते हैंः 'मनः आत्मसंस्थं कृत्वा।' मन जहाँ भी जाता है वहाँ वास्तविकता को देखो तो सिवाय सच्चिदानन्द के और कुछ नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही अध्यस्त होकर सारा जगत् प्रतीत हो रहा है। कोई भी चीज़ सत् अर्थात् 'है' के बिना नहीं होती। 'है' के साथ ही घड़े की प्रतीति होगी। 'नहीं है' के *साथ* घड़े की प्रतीति नहीं हो सकती, उलूक दर्शन वालों के मत को छोड़कर! नैयायिक कहते हैं

कि घटाभाव भी *दीख* जाता है। परंतु लोगों को पदार्थ की 'है' के साथ ही प्रतीति होती है; घड़ा है, तभी प्रतीत होता है। 'घड़ा नहीं है' यों कभी *घड़ा* प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार से जीवों की प्रतीति चेतनरूप से ही होती है कि ये चेतन हैं। चेतन में ही सारे जीव अध्यस्त हैं, सत् में ही सारा जड जगत् अध्यस्त है। इस विचार से मन को अधिष्ठान सच्चिदानंद में स्थित करना पड़ता है।

अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है इस निश्चय पर स्थिर रहना पड़ता है। तब, क्योंकि आत्मभिन्न कुछ है ही नहीं, अतः 'न किञ्चित् अपि चिन्तयेत्', उसके सिवाय और किसी का चिन्तन संभव ही नहीं है।

भगवान् ने जो समाहितता का प्रकार बतलाया है वह योग-पक्ष में नहीं बनेगा क्योंकि योगपक्ष प्रकृति को भी वास्तविक मानता है। इसलिए उनके मत में प्रकृति के कार्यों की मोक्ष में प्रतीति नहीं होगी। जबकि भगवान् कह रहे हैं कि कुछ है ही नहीं इसलिए प्रतीति नहीं है। इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये साधन बतला दिये।।२५।।

समाधान करने का तरीका समझाते हैं

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

साधक को चाहिये कि चंचल व अस्थिर मन जिस-जिस निमित्तवश आत्मा से विमुख होता है उस-उस निमित्त को आभासमात्र जानकर वैराग्य से मन को नियंत्रित कर आत्मा के ही वशीभूत करे।

मन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध के निमित्तों को लेकर आत्मा से बाहर जाता है, यह मन का स्वाभाविक दोष है। मन कैसा है? 'चञ्चलम् अस्थिरम्।' चंचल अर्थात् अत्यन्त चलायमान है। इसलिए उपनिषदों ने कहा है कि सबसे तेज़ चलने वाला मन है। मन से तेज़ कुछ नहीं चलता। मन से तेज़ तो आत्मा प्रतीत होता है क्योंकि मन जहाँ से चले वहाँ भी आत्मा है और चाहे जितनी तेज़ी से पहुँचे, वहाँ भी आत्मा है ही! अतः मन को लगता है कि 'अरे! मैं यहाँ आया, उसके पहले ही आत्मा तो पहुँच गया!' मन स्वभाव से सबसे तेज़ चलने वाला है। और कैसा है? अस्थिर है। किसी भी चीज़ में स्थिर होता नहीं। जहाँ जाता है वहाँ से फिर भागता है। बड़ी इच्छा है दाल का सीरा खाएँ। दाल भिंजाई, धोई, पीसी, कढ़ाई के अंदर घी डाल कर सेकी। अब लगता है कि मन स्थिर होकर खायेगा। पर जैसे ही आठ दस कौर खाए, मन कहता है 'अरे, अचार होना चाहिए, थोड़े नमकीन के बिना मीठा कैसे चले?' घंटों इतना परिश्रम करके सीरा बनाया है, कम-से-कम आधा घंटा तो मन चुप रहे ' यह संभव नहीं है। वह अत्यंत चंचल है, चलायमान है और अत्यन्त अस्थिर है, कहीं पहुँच कर शांत होता नहीं।

भगवान् एक बड़ा भारी सूत्र बतलाते हैं मनोनियंत्रण का 'ततः ततः नियम्य' जिस शब्दादि निमित्त से मन आकृष्ट होता है उस निमित्त को ही 'नियम्य', उस शब्दादि निमित्त के यथार्थ का निरूपण, उसकी वास्तविकता का अवधारण करने से निमित्त की आकर्षण-क्षमता समाप्त हो जाती है। जब विषयों की यथार्थता देखोगे तब पता लग जाएगा कि ये तो केवल आभासमात्र हैं, हैं कुछ नहीं! इससे संकेतित एक को दूसरे में लय करने की प्रक्रिया भी समझ लेनी चाहिए। उपदेशसाहस्री के निदिध्यासन-प्रदर्शक प्रकरण में (गद्यभाग के 'परिसंख्यान प्रकरण' में) भाष्यकार ने विस्तार से यह प्रक्रिया बताई है। शब्द में मन जाए तो विचार करे कि शब्द क्या है? शब्द आकाश का गुण है। गुण-गुणी का अभेद है। इसलिए शब्द आकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। आकाश क्या है? अव्यक्त का कार्य है इसलिए आकाश अव्यक्त से अतिरिक्त नहीं है। और वह अव्यक्त अधिष्ठान ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। यदि गंध में मन जाये तो सोचे कि गंध पृथ्वी का गुण है, पृथ्वी से अतिरिक्त नहीं है। पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है। इसलिए जल से अतिरिक्त नहीं है। जल तेज से अतिरिक्त नहीं है, तेज स्पर्श से अर्थात् वायु से अतिरिक्त नहीं है, वायु फिर आकाश से अतिरिक्त नहीं है। यह जो लय-प्रक्रिया है इसके द्वारा गंध आभास मात्र रह जाएगी। तब उससे जो वैराग्य होगा वह स्वाभाविक हो जाता है। शब्दादि जिस निमित्त को लेकर मन गया, उस निमित्त को आभास बना देना है, प्रतीति मात्र बना देना है।

तब 'आत्मन्येव वशं नयेत्' अर्थात् मन को आत्मा के वशीभूत करना है। आत्मा जो अधिष्ठान है, बस उसमें ही स्थिर कर देना है। योगी जितना-जितना यह अभ्यास करेगा, उतना-उतना चित्त समाहित होता चला जाएगा। अतः यहाँ चित्त को कहीं जाने से रोकने की बात नहीं कही है क्योंकि इस ढंग से वह अपने आप रुक जाएगा। जिस निमित्त को बना कर वह बाहर जाना चाहता है, जब उस निमित्त को ही आभास कर दिया, तब धीरे-धीरे वह निमित्त असमर्थ हो जाएगा। पदार्थों का स्वरूप है कि उनकी वास्तविकता को जब तक न जानो तभी तक वे मन को खींचते हैं और जब वास्तविकता को जान लो तो मन उधर जाता नहीं। इसलिए कहा है कि जैसे जिसे मालूम है कि इस वेश्या के उपस्थ में कुष्ठ रोग है, उसके संमुख वह वेश्या स्वयं निवृत्त हो जाती है, सामने नहीं आती, शरमा जाती है, ऐसे जगत् के रूप की वास्तविकता का जब पता लग जाता है तब वह स्वयं निवृत्त ही हो जाता है। आचार्य ने जो तरीका बतलाया, वह किसी एक चीज़ का ही विश्लेषण करने की अपेक्षा, जो भी चीज़ सामने आ रही है, उसको ही लय-प्रक्रिया से आत्मस्वरूप करते चले जाने का है। इसी को भगवान् ने कहा 'आत्मन्येव वशं नयेत्।' अनात्मा से हट जाने पर मन स्वभाव से आत्मा में ही प्रशान्त हो जाता है। जैसे कुत्ते की पूंछ छह महीने भी सीधी पाईप में रख दो, छह महीनों तक तो वह सीधी रहेगी, परंतु जैसे ही पाईप में से हटाओगे, वैसे ही फिर टेढ़ी हो जाएगी

क्योंकि उसका स्वभाव टेढ़ा रहना है, इसी प्रकार मन को चाहे तुम जितने समय तक समाधि में रख लो, जैसे ही समाधि अवस्था से निकालोगे, वैसे ही फिर चंचल और अस्थिर हो जायेगा। किंतु जब वास्तविकता का पता लग जाता है तब मन का जो बाहर खींचने वाला निमित्त था, वह नहीं रहने से, मन उधर जाता ही नहीं है। यह उसकी 'आत्मवश्यता' है।।२६।।

जब मन ऐसा हो जाता है तब

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

जिसका मन प्रशान्त हो चुका है, जिसके मोहादि क्लेश क्षीण हो गये हैं, सभी कुछ ब्रह्म है ऐसा जिसे निश्चय है और अधर्म आदि से जो रहित है, ऐसे इस योगी को प्रसिद्ध उत्तम सुख मिलता है।

उपर्युक्त शम दम आदि साधनों से जो सम्पन्न योगी है वही प्रशांत मन वाला बनता है अर्थात् उसका मन सर्वथा प्रशान्त हो जाता है बाहर नहीं जाता है। जैसे घोड़ों को एड़ी मारते हो, ऐसे उस मन को एड़ी मारो तब भी उसकी शान्ति हटती नहीं है। कारण है कि कुछ रहा ही नहीं जिसकी तरफ वह चंचल होकर जाए। आत्मा के सिवाय अनात्मा पदार्थ है ही नहीं तो मन जाए कहाँ? उसे शास्त्रादि में प्रसिद्ध जो उत्तम सुख वह मिल जाता है। लौकिक सुख भी है तो परमात्मा का रूप ही, परंतु श्रेष्ठ नहीं है। जैसे शराब की बोतल धोकर भी यदि उसमें शुद्ध दूध भर दो तो वह दूध पीने योग्य नहीं होता, इसी प्रकार आनन्द परमात्मा का रूप है पर रसगुल्ला इत्यादि उपाधि के स्पर्श से उत्पन्न हुआ हो तो हेय है, ग्राह्य नहीं है। योगी को प्राप्य उत्तम सुख है क्योंकि किसी प्रकार के विषय-संबंध से रहित है, निर्विषय है। अगाध समुद्र से भी यदि बर्तन में पानी भरो तो परिच्छिन्न, सीमित ही आता है। इसी प्रकार आनन्द को विषय परिच्छिन्न ही करता है। विषय के बिना वह अपने आप अपरिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्नता कोई नई विशेषता नहीं आती, परिच्छिन्नता हट गई तो अपरिच्छिन्नता अपने आप रह जाती है। निर्विषय अतः उत्तम जो सुख है उसे 'उपैति' प्राप्त कर लेता है।

कैसा योगी प्राप्त करता है? 'शान्तरजसम्' मोहादि जितने क्लेश हैं, वे सारे धूल की तरह, रज की तरह हैं। योगी के वे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाने चाहिये। राग-द्वेषादि क्लेशों की निवृत्ति से ही 'अकल्मषम्' वह सर्वथा अधर्म से रहित होता है। इसीलिए 'ब्रह्मभूतम्', ब्रह्मरूप हो गया है; 'ब्रह्म ही सब कुछ है' इस प्रकार का निश्चय हो जाना ही ब्रह्मभूत हो जाना है। ब्रह्म से अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं और ये कुछ भी नहीं यह निश्चय ब्रह्मभूतता है। ब्रह्म ही सब कुछ है ऐसे जो निश्चय वाला, उसी को ब्रह्मभूत कहते हैं। प्रायः मरने के बाद की अवस्था वाले के लिये ब्रह्मभूत शब्द का प्रयोग करते

हैं पर यहाँ जीवन् मुक्त को ब्रह्मभूत कहा है। जीवन् मुक्त के शरीर आदि के व्यवहारों को देख कर, 'यह ज़रूर ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ देखता होगा' ऐसी हम लोगों की कल्पना बनी रहती है जबकि वस्तुतः जीवन् मुक्त भी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं करता। न अनुभव करने वाले को और न जिसका अनुभव करता है उसे ब्रह्म से अन्य देखता है। परंतु तत्त्वज्ञ के देहादिकाल में हम लोगों को प्रतीत होता है, कि वह भी भेददर्शी है। जब देहादि नहीं रहते तब हमें लगता है कि सब कुछ ब्रह्मरूप हो गया। अतः हम लोगों की प्रतीति को लेकर विदेहावस्थ को ब्रह्मभूत कह देते हैं। जब मन आत्मवश्य हो जाता है तब जीवनूमुक्ति की उपलब्धि हो जाती है।।२७।।

योगी को होने वाले उत्तम सुख को और स्पष्ट करते हैं

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

उक्त क्रम से मन को सदा योगाभ्यास में लगाते हुए योगी पापरहित हो जाता है तथा अनायास परब्रह्मरूप उत्तम सुख प्राप्त करता है।

चौबीसवें श्लोक से प्रारंभ कर बताये क्रम से अभ्यास करने पर उत्तम सुख मिलता है। साधना में क्रम से कदम लेना ज़रूरी है, इसमें जल्दबाजी या मन-माने क्रम से लाभ नहीं हो पाता। सिद्धि पाने की उतावल का रूप उत्साह तो होना चाहिये किंतु शास्त्रोक्त क्रम को लांघने का प्रयास नहीं होना चाहिये। अभ्यास को लगातार करने वाला ही योगी है। जिसका योग से हमेशा का संबंध है, 'योगेन नित्य-संबंधी', वह योगी है अर्थात् नित्य संबंध अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। ऐसे अभ्यासी के ही योग के अंतराय अर्थात् विघ्न दूर होते हैं। चित्त को चंचल करने वालों को अन्तराय कहते हैं। पतंजलि ने व्याधि, आलस्य आदि नौ दोष गिनाये हैं जो चित्तविक्षेप करने वाले होने से अन्तराय कहे जाते हैं। मूल रूप से राग-द्वेष अन्तराय हैं जिन्हें दूर करने पर ही अभ्यास सफल हो पाता है। यहाँ जो फल बताया वह उसी योगी को मिलता है जिसके अन्तराय दूर हो चुके हैं। निरंतर अभ्यास से पापनिवृत्ति होने पर चित्त ज्ञान के योग्य होता है। ज्ञान होने पर तो पापों के साथ पुण्य भी दूर हो जाते हैं। संसरण का हेतु बनने वाले होने से पुण्य भी पाप की तरह मोक्ष के मार्ग में रुकावट ही डालते हैं यदि उनका विनियोग विविदिषा द्वारा ज्ञान में न कर लिया जाये अर्थात् पुण्यों से केवल ज्ञान पाना अभीष्ट बना लिया जाये। यहाँ ज्ञानमार्ग का योगी विवक्षित होने से इसका अभ्यास वेदान्तोक्त लय-प्रक्रिया से होगा। उपदेशसाहस्री के परिसंख्यान प्रकरण में यह ढंग स्पष्ट किया गया है। शास्त्रोक्त व गुरु द्वारा समझाये तरीके से करने पर ही आराम से, आसानी से सफल साधना हो पाती है। योग से अनावृत होने वाले सुखको 'ब्रह्मसंस्पर्श' कहा। परब्रह्म से जिसका संस्पर्श है वह ब्रह्मसंस्पर्श है। स्पर्श मायने छूना, सम्बन्ध। सम्यक् अर्थात् बहुत

भलीभाँति होने वाला सम्बन्ध तो एकरसतारूप तादात्म्य ही हो सकता है, भेदघटित सम्बन्ध कभी सम्यक् नहीं हो सकता। केवल ब्रह्मसंस्पर्श वाला सुख तभी सम्भव है जब विषयों का किंचित् भी स्पर्श न रहे। विषय-सम्बन्ध रहते केवल अर्थात् सर्वात्मना ब्रह्मस्पर्श नहीं होगा। इसलिये विषयों से सर्वथा असम्बन्ध रहते जो ब्रह्मस्वरूप है वही यहाँ अत्यंत अर्थात् निरतिशय उत्कर्ष वाला सुख है। चित्तवृत्तियाँ रहते विक्षेप का अनुभव होता है, चित्त भी न रहे तो लयका अनुभव होता है; वृत्तियाँ न रहें पर चित्त रहे यह समाधि में ही होता है, तभी यह उत्तम सुख अनावृत होता है।।२८।।

योगफल ब्रह्मसंस्पर्श २६वें श्लोक में स्पष्ट करते हैं क्योंकि सब बंधन काटने का वही उपाय है। 'ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिः' यह वेद का निश्चित सिद्धान्त है। एकमात्र ब्रह्म ही है इस बात का जानने के लिये ही गुरु शिष्य को कहता है। एकमात्र आत्म-तत्त्व के प्रतिपादक जो उपनिषद् वाक्य हैं उनके सिवाय बाकी जितने भी वाणी के विलास हैं, उन सबको छोड़ने का विधान श्रुति ने किया है।

ब्रह्मसंस्पर्श का मतलब क्या

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२६।।

समाहित अन्तःकरण वाला और सब भूतों में सम ब्रह्म को ही जानने वाला, सब भूतों में स्थित स्वात्मा को एवं आत्मा में सब भूतों को देखता है।

सारे प्राणियों में चेतन रूप में आत्मा एक-जैसा स्थित हूँ अर्थात् जैसे इस शरीर में स्थित हूँ, ऐसे ही सारे प्राणियों के अंदर मैं स्थित हूँ। चेतन ही मेरा एकमात्र रूप है। चाहे ब्रह्मा में हो, चाहे अत्यन्त निम्न प्राणी में हो, सारों में आत्मा की, मेरी स्थिति से ही चेतनता है। जो सारा अचेतन जगत् है उसमें मेरा जो सत्-रूप है वह एक-जैसा स्थित है। चित्-रूप से अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ व सद्-रूप से सर्वत्र अनुविद्ध हूँ। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ-वहाँ मेरा ही प्रतिबिम्ब है। जैसे, यदि सौ काँचों को सूर्य के सामने रखो तो उनमें सौ प्रतिबिम्ब हैं पर उन सब काँचों में प्रतिबिम्बित रूप से स्थित तो एक ही सूर्य है, इसी प्रकार, सारे प्राणियों में जो अन्तःकरण हैं उनमें प्रतिबिम्बित होने वाला मैं चिन्मात्र ही एकरूप से ही विद्यमान हूँ।

'सारे प्राणियों में स्थित हूँ' कहने से लगता है कि उपाधियाँ अलग हैं जिनमें मैं स्थित हूँ; सब में मैं हूँ तो *सब* कुछ हुआ *जिसमें* मैं हूँ। इस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं 'आत्मनि सर्वभूतानि', जो मेरा सत्-चित् रूप है उसके अंदर ही सारे जड-चेतन भूत हैं। चेतन अर्थात् अन्तःकरण आदि जो सूक्ष्म महाभूतों के कार्य हैं और जड अर्थात् स्थूल महाभूत व उनके कार्य। ये सब एकमात्र मुझ में ही अविद्या से कल्पित हो रहे

हैं। मुझ सच्चिदानन्द अधिष्ठान के अंदर सारे जड और चेतन भूत कल्पित हैं। अतः जो उपाधियाँ हैं वे सारी मुझे में कल्पित हैं और उनके अंदर मैं सत्-चित्-रूप से प्रतीत हो रहा हूँ। इस प्रकार उपाधियाँ भी मुझ से भिन्न होकर कुछ नहीं हैं। जैसे रस्सी में साँप कल्पित है, वैसे ही मुझमें आकाश से लेकर मिट्टी के एक कण तक सब कुछ कल्पित है।

'योगयुक्तात्मा' योग बतलाया था 'मनसैव इन्द्रियग्रामम्' से 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं' तक, उस योग के द्वारा जिसका चित्त सर्वथा समाहित हो गया है अर्थात् जिसके अन्तःकरण के अंदर कोई भी दोष नहीं रह गया है; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष कुछ भी रह नहीं गया है, जिसे 'विगत-कल्मषः' कहा था। यहाँ आत्मा मायने अन्तःकरण। योगयुक्तात्मा ही इस बात को देखता है अर्थात् साक्षत्कार करता है कि सारे प्राणी मुझ में और सब प्राणियों में मैं हूँ। सारे प्राणी मुझ में कल्पित हैं, मैं सब प्राणियों में प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रतीत होता हूँ। सारी विषमताओं का अधिष्ठान एक सम ब्रह्म ही है। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब बड़े विषम हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि अत्यन्त सात्त्विक, श्रेष्ठ उपाधि वाले हैं, घास का तिनका अत्यन्त निकृष्ट उपाधि वाला, करीब-करीब जड जैसा ही है; इन सारे प्राणियों के अंदर विषमता रहते हुए भी निर्विशेष ब्रह्म आत्मस्वरूप तो एक जैसा है। 'समदर्शन' में दर्शन का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान है, आँखों से दीखना नहीं है।।२९।।

सारी उपाधियाँ मुझ में कल्पित और मैं सब उपाधियों के अंदर कल्पित इस आत्मैकत्वदर्शन का फल बतलाते हैं

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो सर्वत्र मुझे और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं परोक्ष नहीं होता, न वह मेरे परोक्ष होता है।

'मां' जो अपना आत्म-स्वरूप वासुदेव है, आत्मा से अभिन्न वासुदेव है, उसको ही सर्वत्र देखना है। पूर्व श्लोक की प्रथम पंक्ति का ही यहाँ प्रथम अर्धाली में अनुवाद किया है। जो मुझ परमात्मा को सब भूतों में, प्राणियों में देखता है एवं ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक, सबको मुझ सर्वात्मा में जो वासुदेव से एक है, उसमें ही 'पश्यति' देखता है, ऐसा जो आत्मैकत्वदर्शी है, 'तस्य अहम् न प्रणश्यामि' उसके लिये मैं परमेश्वर कभी नष्ट नहीं होता। 'नश अदर्शने' धातु है, इसलिये अदर्शन अर्थात् कभी भी मैं उसके सामने अपरोक्ष रूप से विद्यमान न होऊँ, ऐसा नहीं होता। कभी भी परमेश्वर ऐसे तत्त्वनिष्ठ से परोक्ष नहीं रहता। और, ऐसा जो ज्ञानी है, वह भी मुझ परमेश्वर की आँखों से कभी ओझल नहीं होता।

यद्यपि परमात्मा तो कभी भी किसी से दूर नहीं है, सबका आत्म-स्वरूप होने से, तथापि अज्ञान के कारण अपरोक्ष होने पर भी परोक्ष हुआ-सा है। कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला परब्रह्म परमात्मा कभी भी किसी की आँखों से ओझल नहीं होता और कोई भी चीज़ ऐसी नहीं हो सकती जो उसकी आँखों से ओझल होवे क्योंकि सर्वज्ञ है, तथापि कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला परमेश्वर अज्ञान के कारण हम से हमेशा ओझल रहता है। लगता है न जाने कब परमेश्वर के दर्शन होंगे। दर्शन तो उसके हर क्षण हो रहे हैं। पर जीव पहचानता नहीं है। तभी प्रार्थना करता है 'आपके कृपाकटाक्ष प्राप्त हो जाएँ तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।' उनके कृपाकटाक्ष के सामने मैं न होऊँ, यह हो ही नहीं सकता है। वह सर्वज्ञ है, उसके कटाक्ष हमेशा ही हम पर पड़ रहे हैं। परंतु अज्ञान के कारण ऐसी प्रतीति होती है कि हम उन्हें नहीं जान रहे, उनकी कृपा दृष्टि हम पर नहीं है। यह अज्ञान की महिमा है। अज्ञान बिल्कुल सामने की चीज़ को अतिदूर कर देता है। अल्मारी में घड़ी रखी है, कभी तुमको घड़ी लेकर जाना है। देखते हो तो वहाँ नहीं दीखती है। कपड़े इधर पलटते हो उधर पलटते हो, पता नहीं चलता कि घड़ी कहाँ चली गई! बाहर से कोई आदमी आकर पूछता है, 'क्या ढूंढ रहे हो?' तुम बताते हो 'घड़ी ढूंढ रहा हूँ।' 'यह सामने पड़ी तो है!' जब वह कहता है तब दीखता है कि हाँ, सचमुच ही तो सामने पड़ी है! यद्यपि घड़ी तुम्हारे सामने थी, अपरोक्ष थी, फिर भी तुम्हारे लिए परोक्ष हो गयी थी। कई बार, गले में पहनी हुई माला पीछे की तरफ चली जाये तो ही लगता है कि 'अरे! माला कहीं गिर गई या किसी ने काट ली।' शरीर पर पड़ी हुई चीज़ का भी कई बार ज्ञान नहीं होता, सर्वथा अपरोक्ष चीज़ भी परोक्ष हो जाती है। इसी प्रकार अन्तःकरण में पड़ने वाला जो आत्म-प्रतिबिम्ब, उसके बिना हम को किसी चीज़ का कभी ज्ञान नहीं हो सकता। उसका ज्ञान होता है तभी बाकी सब ज्ञान होता है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' फिर भी अन्य ज्ञान होते हुए लगता है कि परमात्मा का ज्ञान नहीं है। हम चीज़ें देखते हैं, चीज़ों के बारे में खूब सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है, पर इस तरफ ध्यान ही नहीं जाता कि रोशनी भी दीख रही है! पहले रोशनी दीखेगी तब सब चीज़ें दीखेंगी, परंतु रोशनी दीख रही है ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार संसार में सब चीज़ें एकमात्र परमात्मा में ही प्रतीत हो रही हैं परंतु हमें वह परमात्मा परोक्ष लगता है।

भगवान् कहते हैं कि जो इस प्रकार सर्वत्र मुझको जान लेता है और सबमें मुझे जान लेता है उसे ऐसा भ्रम नहीं होता। अंदर-बाहर सर्वत्र सिवाय उसके और कुछ नहीं है यही कहने का तरीका बुद्धिसंगत होता है। विचार करो तो पता चलता है कि घड़ा जहाँ है वह आकाश, घड़े में जो है वह आकाश और स्वयं घड़ा भी आकाश, क्योंकि पहले तो घड़े के परमाणुओं के बीच में आकाश और फिर उन परमाणुओं में भी आकाश ही है। जैसे घड़े के अंदर, बाहर, दीवालों में सब कुछ आकाश है, ठीक इसी प्रकार

एकमात्र अभिन्न-निमित्त उपादान कारण जो आत्मा वह सर्वत्र विद्यमान है और सभी कुछ उसी में कल्पित है। इस बात को जब जान लेता है तब कभी भी वह परमात्मतत्त्व ओझल नहीं हो सकता। आत्मा ही आत्मा को प्रिय है। परमात्मा सबको ही देखता है, अपने आत्म-स्वरूप को प्रेमपूर्वक देखता है। वही कृपा-कटाक्ष है, अनुकम्पा से होने वाला देखना है। ज्ञानी ही परमात्मा को सर्वत्र देखता है, उसी को परमात्मा अत्यंत प्रेम से देखता है।।३०।।

जिसके साथ प्रेम होता है। उसके लिए कहते हैं कि 'वह मेरी आँखों से ओझल कभी न होवे।' जो चीज़ सामने होगी, वही आँखों से ओझल नहीं होगी। पर अत्यन्त प्रेम को दिखलाने के लिए कहा जाता है कि मेरी आँखों से ओझल नहीं होवे। यही भगवान् ने पूर्व श्लोक से कहा कि परमार्थदर्शी उन्हें अतिप्रिय है। पुनः उस सिद्ध की मुक्ति का कथन करते हैं

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जो (जीव-ईश्वर के) अत्यन्त अभेद में निश्चयपूर्वक स्थित हुआ सब प्राणियों में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करता है, जिस किसी तरह का व्यवहार करते हुए भी वह योगी मुझ में ही रहता है।

सब प्राणियों में स्थित जो परमात्म-तत्त्व वासुदेव है, उसी के प्रति जिसे एकान्त प्रेम है वही उसका भजन करेगा अर्थात् प्रेम-पूर्वक सेवन करेगा। सब प्राणियों में स्थित एकमात्र आत्मा के साथ ही वह प्रेम कर सकता है। कौन ऐसा भजन कर सकता है? 'एकत्वमास्थितः। 'आत्मा ही मेरा स्वरूप है' इस प्रकार एकता में जो स्थित होता है। सारे प्राणियों में स्थित वासुदेव कोई अन्य है और मैं कोई अन्य हूँ ऐसा समझना 'एकत्वमास्थितः' नहीं है। सर्वत्र सद्रूप से अनुस्यूत तत्पदार्थ से मेरा साक्षिस्वरूप सर्वथा एक है यह 'अहं ब्रह्मास्मि' साक्षात्कार ही एकत्व में आस्थिति है, निश्चयपूर्वक निष्ठा है। वह अपने आपको, अपने वासुदेव रूप को सब के अंदर एक-जैसा देखता है। वह चाहे जैसा व्यवहार करे, रहता परमेश्वररूप ही है। जिसने सब प्राणियों में अपने को देख लिया, वह विधि-निषेध का विषय रह नहीं जाता। वह किसी भी प्रकार का व्यवहार करे, रहता योगी ही है अर्थात् वास्तविक तत्त्व को अनुभव करने वाला, सम्यक्-दर्शी ही है। अतः मुझ वासुदेव में ही रहता है अर्थात् वस्तुतः मुझ आत्मा में ही रहता है। 'वर्तमानोऽपि' का मतलब है कि उसके शरीर-मन चाहे जैसा व्यवहार करते हुए दीखें, इससे उसके वास्तविक स्वरूप में अंतर नहीं आता। वस्तुतः वह अपने व्यापक आत्मरूप में प्रतिष्ठित रहता है। कोई कर्म अब उसके लिये बंधक नहीं होता। अन्यत्र उपनिषदों ने कहा है कि कोई भी देवता उसके मोक्ष का प्रतिबंध करने में समर्थ नहीं है।।३१।।

चाहे जैसा व्यवहार करने की बात योगी की प्रशंसा के लिये कही है, ऐसा नहीं कि वह परपीडा आदि स्वैर-आचार में प्रवृत्त होता है! इसे स्पष्ट करते हुए योग का माहात्म्य व्यक्त करते हैं

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुन! जो स्वयं की उपमा से सर्वत्र सुख व दुःख को सम देखता है वह उत्कृष्ट योगी समझा जाता है।

'आत्मौपम्येन' खुद आत्मा को अर्थात् खुद अपने आपको दृष्टांत बनाकर 'सर्वत्र' सारे प्राणियों में 'समं पश्यति' एक-जैसा ही अपरोक्ष अनुभव करता है। सुख जैसे मुझे प्रिय है वैसे ही, जहाँ भी मैं स्थित हूँ, वहाँ मुझे सुख प्रिय है। प्राणिमात्र को सुख की अभिलाषा रहती है। परंतु जिसको वे सुख समझते हैं, वह सचमुच में सुख होता नहीं, दुःख होता है। वास्तविक सुख तत्त्व-ज्ञान से ही संभव है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। अतः योगी को लगता है कि जिस प्रकार से मैंने आत्म-ज्ञान प्राप्त करके सुख पाया, कृतार्थता का अनुभव किया, वैसे ही प्राणिमात्र आत्मज्ञान को प्राप्त करके कृतार्थता का अनुभव करे। इस तरह सबके सुख के लिये वह अपने को उपमा बनाता है। 'जैसे भ्रान्ति से मैं समझता था कि धन मिल जाएगा तो सुखी होऊँगा परंतु धन मिलने से सुखी हुआ नहीं, वैसे ही ये समझते हैं कि धन मिलने से सुखी होंगे पर हो सकेंगे नहीं।' अपने को ही उपमा बना कर वह सबका हित निर्धारण करता है। उसे निश्चय है कि विषयों से जैसे मुझे सुख नहीं हुआ वैसे किसी को भी नहीं हो सकता। अतः किसी को भी धन आदि लौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये इसे वास्तविक अभिलाषा नहीं होती। वह जानता है कि वास्तविक अभिलाषा तो तभी पूरी होगी जब अज्ञान निवृत्त होगा। जैसे सुख वैसे ही 'यदि वा दुःखं', जैसे संसाररूप दुःख मुझे अप्रिय है वैसे ही सबको वस्तुतः वही अप्रिय है। जो धन को सुख समझ कर प्रवृत्त हो रहा है वह भी चाहता है दुःख की निवृत्ति, दरिद्रता की निवृत्ति तो भ्रम से चाहता है, वस्तुतः चाहता दुःख की निवृत्ति है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तत्त्वज्ञान के बिना नहीं हो सकती। इसलिए योगी का यही संकल्प होता है कि सब तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके आत्यन्तिक दुःख से निवृत्त हों और परम सुख को प्राप्त हों। वह इस बात को देखता है कि जैसे सुख ही मेरा इष्ट है, वैसे ही प्राणिमात्र को भी सुख ही इष्ट है। 'आत्मौपम्येन' कह कर इस बात को स्पष्ट कर दिया कि क्षणिक सुख और दुःख-निवृत्ति किसी प्राणी का वास्तविक इष्ट नहीं है। अतः 'सर्वथा वर्तमानोपि' का अभिप्राय हुआ कि जो कुछ भी उसके शरीर-मन से होगा, उसके व्यवहार का आधार यही रहेगा कि सभी आत्यन्तिक दुःख की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द को प्राप्त करें। इस प्रकार से जो 'वर्तते' व्यवहार करता

है, 'स योगी परमो मतः' वह योगियों में श्रेष्ठ है। जिस योगी ने इस सत्य को जान लिया वह प्राणिमात्र के हृदय में होने वाले सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख जैसा समझकर व्यवहार करता है, अतः योगियों में उत्तम है, श्रेष्ठ है। इसलिये उसके द्वारा स्वैर आचरण नहीं हो सकता है। प्राणिमात्र को उपदेश आदि के लिए व्यवहार करना, न करने की अपेक्षा योगी को श्रेष्ठ बनाता है।।३२।।

इस प्रकार योग का जो प्रकरण भगवान् ने बतलाना शुरू किया था, उसको यहाँ समाप्त किया। योग का परम फल बतला दिया, परम योगी भी बतला दिया कि आत्मनिष्ठा छोड़ कर अनात्म-व्यवहार करने वाला श्रेष्ठ नहीं है। इसको सुनकर अर्जुन के मन में आया कि सम्यक् दर्शन इस पर निर्भर है कि चित्त को एकाग्र करके श्रवण-मनन आदि किया जाए। परंतु यह होना अत्यन्त कठिन है! पहले भगवान् ने कहा कि सिर को और काय को सीधा रख करके बैठो; यही मुश्किल काम है। फिर कुम्भक का अभ्यास भगवान् ने बतलाया। वह और कठिन लगता है। एक मिनट भी साँस को रोककर बैठना भारी लगता है। फिर इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकना कहा। यह अत्यंत कठिन है। आगे जितनी-जितनी बातें हैं वे और कठिन-कठिन होती जाती हैं। इसलिए यह बड़ा कठिन मार्ग है। इसलिये अर्जुन कहता है

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधु-नामक राक्षस के हन्ता श्रीकृष्ण! समता के रूप से जो यह योग आपने बताया, इसकी स्थिर स्थिति हो सके ऐसा मुझे नहीं लगता क्योंकि (यह स्थिति संपन्न करने वाला मन) चंचल है।

'योऽयं योगः'। अर्जुन इस योग को दोनों कह रहा है यह योग 'यः', 'जो' अर्थात् परोक्ष है और 'अयं', 'यह', अर्थात् अपरोक्ष है। अर्जुन कहता है 'महाराज! आपकी बात सुनते हैं तब तो बिल्कुल साफ लगता है कि समझ आ रहा है कि आप क्या कह रहे हैं। पर जैसे ही उस बात के बारे में सोचते हैं, वह बड़ा दूर लगता, दुःसम्पाद लगता है। किसी भाषा के कवि ने भी कहा है 'कथनी मीठी खांड-सी, करनी ताता लोह' यह कहना तो खांड जैसा मीठा लगता है कि ऐसा मोक्ष हो जाएगा जब सर्वथा वर्तमान रहते हुए भी कोई विकार नहीं होगा, देवता भी मोक्ष को रोकने में समर्थ नहीं होंगे! यह सब कहने में तो बड़ा मीठा लगता है, परंतु इसको करना तो तपे लोहे पर बैठने जैसा लगता है। अर्जुन का भी भाव है कि कोई सीधा उपाय बताइए, कढ़ी-चावल खाते रहें और सब काम हो जाए। साफ करके बताया हुआ होने पर भी योग अत्यन्त दूर लगता है।

योग कैसा है? 'साम्येन'। समता से योग है। हे मधुसूदन! मधु राक्षस को आपने मार डाला था। इसी प्रकार से हमको जो अत्यन्त कठिन साधना लगती है, इसके काठिन्य को आप दूर करें। मधु राक्षस को मारा भगवान् ने और उससे त्रस्त बाकी सब लोग बिना कुछ किए ही सुखी हो गए, अलग से तो कुछ करना नहीं पड़ा। ऐसे ही आप किसी प्रकार से ऐसा कीजिये कि हमारा काम अनायास बन जाए। यह जो आपने योग बतलाया, इसकी 'स्थिराम् स्थितिं', अचल प्रतिष्ठा कैसी होगी, यह समझ नहीं आता। प्रायः साधकों का यही अनुभव रहता है कि जब तक सत्संग आदि श्रवण करते हैं तब तक लगता है कि बिल्कुल सीधी बात है सब प्राणियों के अंदर आत्मा है; बिल्कुल समझ में आता है। परंतु सुनकर कमरे से बाहर निकले, किसी ने एक पत्थर मारा, बस, गया वह सब ज्ञान! उसी समय गुस्सा आता है 'इसको मार कर ठीक कर दूँ'। अचल स्थिति अर्थात् वहाँ से हटें ही नहीं, हमेशा उसी भाव में बने रहें, यह असंभव लगता है। यह सारा काम मन, अंतःकरण के ऊपर निर्भर करता है, मन ही समाहित हो तब काम बने। मन अत्यंत चंचल है। जब तक शास्त्रादि के विचार में लगते हैं तब तक वह इस तरफ स्थिर रहता है लेकिन चंचल होने से किञ्चित् भी दूसरा व्यवहार करते ही उधर चला जाता है। इसकी अचल स्थिति कैसे होवे? ।३३।।

अर्जुन और स्पष्ट करके अपनी समस्या कहता है

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! क्योंकि मन अत्यन्त अस्थिर, क्षुब्ध करने वाला, ताकतवर और मजबूत है इसलिये उस पर नियंत्रण पाना मैं वैसा ही अत्यंत मुश्किल मानता हूँ जैसा वायु को नियंत्रित करना है।

मन चंचल है; हमेशा, या अत्यधिक चलना इसका स्वभाव है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में यह खट-से जाता है। देर तक समता का अभ्यास करो, लेकिन विषम सामने आते ही मन झट विषम बन जाता है। और मन कैसा है? प्रमाथि, मथ डालता है। चाहे जितना विचार करो लेकिन शरीर और इन्द्रियों को मथ कर, विवशकर उनसे पुनः वैसी ही प्रवृत्ति करा देता है। शरीर भी भेद को प्रधान मान करके प्रवृत्ति करता है और इन्द्रियाँ भी भेद को ही मान कर प्रवृत्ति करती हैं; उनसे कराने वाला तो मन ही है। दही मथते समय मथनी को एक बार दाहिनी तरफ चलाते हैं, एक बार बाईं तरफ चलाते हैं। इसी प्रकार मन संकल्प-विकल्प से मथ डालता है। प्रयासपूर्वक समता की भावना बनाओ तो यह तुरंत विषमता की अनिवार्यता उपस्थित करता है। प्रमथन करता है, विक्षिप्त कर देता है, मनुष्य को लगता है कि मैं परवश हूँ।

और कैसा है? 'बलवत्' होना तो बुद्धि को बलवान् चाहिए पर संकल्प-विकल्पात्मक

मन बुद्धि से भी ज़्यादा बल वाला पड़ जाता है! इसका कारण है कि अनादिकाल से मन के बहुत्व-दर्शन से ही बुद्धि के अंदर भी बहुत्व-दर्शन दृढ हुआ है। श्रवण, मनन, योगाभ्यास करके अभी साम्य योग बुद्धि में प्रारंभ हुआ है। परंतु इतने लम्बे समय के निर्बाध अभ्यास से मन मजबूत है।

लोक में ऐसा होता है : लम्बे समय से अतिकुशलतापूर्वक कोई मुनीम सब काम सँभालता है तो धीरे-धीरे मालिक रोज़मर्रे के कामों को, ग्राहकों को उसी पर छोड़े रहता है। काफी समय बाद अगर पता भी लग जाये कि वह मुनीम कुछ हेरा-फेरी करने लगा है, तो मालिक एका-एक उसे निकाल नहीं सकता क्योंकि व्यापार की सारी-जानकारी उसे ही है। धीरे-धीरे पहले सारी बातें समझ कर ही उसको निकालना पड़ता है। वह मुनीम सचमुच में मालिक से कमज़ोर है पर दीर्घकाल तक उसके अनुसार ही मालिक व्यापार करता रहा इसलिए इस समय वही बल वाला है। इसी तरह से जो संकल्प-विकल्पात्मक मन संसार को सत्य मानने वाला है, उसमें भेद-दर्शन आदि के अतिदीर्घ काल से संस्कार पड़े हुए हैं अतः अब श्रवण-मनन से निश्चय भी कर लेने पर कि भेद मिथ्या है, वे संस्कार फिर कार्यकारी हो जाते हैं। इसीलिए अनेक लोग मान लेते हैं कि ब्रह्म तो अव्यवहार्य है, माया ही व्यवहार्य है। इसलिए साम्यदर्शन निरन्तर स्थित रहने वाला बन नहीं पाता है। मन सचमुच में बलवाला न होने पर भी, अभी अविवेकदशा में बलवत् बना हुआ है। और कैसा है? 'दृढम्'। इसको काटना, इसके अंदर किसी प्रकार का छेद करना वैसे ही असम्भव है जैसे समुद्र में होने वाले 'वरुण पाश' नामक कीड़े को काटना।

क्योंकि ऐसा है, इसलिए ऐसे मन का निरोध करना दुष्कर समझ आता है। मन तो संकल्प-विकल्प करके बहुत्व को ही सामने लाएगा। उसका निग्रह अर्थात् ऐसा निरोध करें कि वह हमारी बुद्धि के समता के निश्चय को हटा न सके, इसको अर्जुन ऐसा मानता है जैसे हवा को पकड़ कर रखना अर्थात् असंभव। कोई चाहे कि हम हवा को पकड़ लें तो नहीं पकड़ सकते, इसी प्रकार इस मन को पकड़ना अत्यन्त दुष्कर है। कहा तो यह कि वायु पकड़ने की तरह सुदुष्कर है किंतु भाष्यकार कहते हैं कि इसका अर्थ है कि उससे भी ज़्यादा मुश्किल है। 'की तरह' अर्थात् दोनों में कुछ भेद होना चाहिये; भेद यह है कि वायुनिग्रह से भी मनोनिग्रह कठिन है। अर्जुन 'कृष्ण' सम्बोधन से कहता है कि आप कर्षण करने वाले हैं, आप ही कर्षण करके इसको ठीक कर दें। हम लोगों से तो यह नियंत्रित होना संभव नहीं लगता। भाष्यकार लिखते हैं 'भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात् कृष्णः' भक्तजनों के पापादि दोषों को कर्षण कर देते हैं, नष्ट कर देते हैं अतः कृष्ण हैं। चांचल्यादि दोष ही हैं अतः वे ही इन्हें दूर कर सकते हैं।।३४।।

अर्जुन की समस्या को वाजिब मानते हुए भगवान् समाधान बताते हैं

श्रीभगवान् उवाच
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

हे महाबाहो कौन्तेय! इसमें संशय नहीं कि मन चंचल है व इसका निग्रह कठिन है, किंतु अभ्यास और वैराग्य से यह निगृहीत हो जाता है।

भगवान् जवाब देते हैं महाबाहो! तू अत्यन्त दृढ भुजाओं वाला है। साक्षात् महादेव से तूने इन हाथों से लड़ाई लड़ी थी। इसलिए तेरा यह कहना बिल्कुल अनुचित है कि 'मैं नहीं कर सकता।' मन की चलस्वभावता की बात जो तुमने कही, उसमें संशय नहीं है। मन का निग्रह सहज में नहीं होता, यह तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। तुमने मन को चंचल कहा, वह भी बात बिल्कुल ठीक है, मन का स्वरूप ऐसा ही है। परंतु तू केवल महाबाहु नहीं, कौन्तेय भी है। कुन्ती ने असंभव कार्य संपन्न किया था; दुर्वासा महर्षि को बड़े-बड़े राजा लोग चातुर्मास्य कराने में घबराते थे। जिस राजा से वे कहते थे, 'तुम्हारे यहाँ चातुर्मास्य करूँगा', वही राजा हाथ जोड़कर कहता था 'मेरी सामर्थ्य नहीं है।' क्योंकि दुर्वासा पहले ही कह देते थे 'तुम समझ लेना कि मैं महाक्रोधी हूँ।' उनको इस बात का घमंड था कि उनके जैसा क्रोधी कोई जल्दी मिलेगा नहीं! उन्होंने अपने ग्रंथ की पुष्पिका में लिखा है 'क्रोधभट्टारकेण दुर्वाससा।' क्रोध को वे अपना प्रधान साथी मानते थे। अतः जिस राजा के पास जाते थे, उसे पहले ही कह देते थे कि 'महाक्रोधी हूँ। कभी मैं नहाने चला गया और मुझे देर हो गई, मैं आया और तुमने कहा कि 'भोजन तो पहले बना लिया था', तो मेरा क्रोध भड़क जाएगा! उसी समय ताजे फुलके होने चाहिए। और कभी मैं वापिस आऊँगा, कहूँगा 'आज मुझे कुछ नहीं खाना', तो सारा भोजन पड़ा रह जाएगा। पर मेरे सामने ऐसा कभी नहीं कहना 'जी, आप आज आए क्यों नहीं भोजन करने?'' इसी तरह सब गिना देते थे कि 'मेरी ऐसी-ऐसी आदतें हैं, उनमें से थोड़ा भी गड़बड़ किया तो मैं महाक्रोधी हूँ।' राजा लोग हाथ जोड़कर कहते थे 'महाराज, हमसे नहीं हो सकेगा।' ऐसे महाक्रोधी दुर्वासा की कुन्ती ने चातुर्मास्य में पूरी सेवा की, अत्यन्त नहीं होने वाले काम को उसने अपने सारे सुख साधनों का परित्याग करके किया। न अपने सोने की चिन्ता, न अपने खाने की चिन्ता की। अपने समग्र राग के विषयों को उसने दूर रखा और जैसा वे कहते थे, वैसा ही अभ्यास करती रही, वैसे ही कर लेती थी। तू उसी का पुत्र है और ये ही दो साधन मन को वश में करने के हैं : हे कौन्तेय! दुर्निग्रह होने पर भी अभ्यास और वैराग्य से इसका निग्रह हो सकता है। बैठ कर सोचो कि मन को इधर-उधर नहीं जाने देंगे, तो कुछ काम नहीं बनेगा!

पहला उपाय वैराग्य है। मन जिस-जिस विषय में जाता है उसको सुख का साधन

समझता है। जिसको सुख का साधन समझता है, उधर ही मन जाता है। जब उस चीज़ पर विचार करते हो कि वह आद्यन्त वाली है, आगे जन्म-मरण देने वाली है इत्यादि, तब राग-विरोधी वृत्ति बना पाते हो, तभी धीरे-धीरे वहाँ से मन हटता है। होता यह बहुत धीरे-धीरे है। पहले भगवान् कह आए हैं योगाभ्यास के समय 'शनैः शनैः उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' अत्यन्त धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे इसका नियंत्रण किया जाता है। मन चंचल है। इसलिए कहीं गए बिना तो रहेगा नहीं। इसलिये जितना ज़रूरी संसार के दोषों का दर्शन करना है उतना ही परमात्मा के गुणों का चिंतन करना है। अभ्यास का मतलब है कि जो शास्त्रों में अनेक चीज़ें बताई हैं, उनमें से किसी एक पर समान प्रत्ययावृत्ति, उसमें बार-बार मन को गुणदर्शन करके स्थिर करना। वैराग्य दृष्ट-अदृष्ट दोनों चीज़ों में करना है दृष्ट विषयों में राग होता है, रसगुल्ला, बढ़िया कपड़ा इत्यादि दृष्ट पदार्थ हैं, इनमें सुख की प्रतीति होती है। इनके अंदर भी दोषदर्शन करना है। जो अदृष्ट विषय हैं स्वर्ग, अप्सराएँ, ब्रह्मलोक, ब्रह्मलोक के सुख, वैकुण्ठ लोक, गौ-लोक, उनके सुख ये सब अदृष्ट हैं, हमने अभी देखे नहीं हैं, शास्त्रों में उनको सुन कर उनके प्रति राग हो जाता है। श्रुति ने सभी विषयों की वास्तविकता काट डालने के लिये हथियार दे दिया 'नास्ति अकृतःकृतेन' जो अकृत परमात्मा है वह किसी भी कृत, कर्म के द्वारा प्राप्त हो नहीं सकता। अतः कृत के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह सब कृत ही रहेगा, अकृत नहीं होगा। चाहे वैकुण्ठ जाओ, चाहे गौ-लोक जाओ, ब्रह्मलोक जाओ, जहाँ मर्जी जाओ, पर गए हो तो फिर लौटना भी पड़ेगा।

आत्मा की *प्राप्ति* नहीं है। क्योंकि जिस समय तुम नहीं जानते हो तब भी आत्मा तुम हो ही। संसार में यह देखा जाता है कि प्रमा से अज्ञान हमेशा के लिये निवृत्त होता है। किसी शब्द का अर्थ हमें नहीं आता, कोष देखा, उस शब्द का अर्थ जान लिया तो अब उस शब्द का अर्थ नहीं जाना हुआ नहीं रहता। इसी प्रकार से आत्मा हमारा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसका हमें अज्ञान है। जब अपने सच्चिदानन्द रूप का ज्ञान हो गया तब कोई नयी चीज़ प्राप्त हुई नहीं। वही हमेशा हमारा स्वरूप था, अतः उसके ह्रास का भी प्रश्न नहीं आता। दृष्ट और अदृष्ट सब पदार्थों के अंदर दोष-दर्शन करना पड़ता है; तब सर्वत्र तृष्णा हटकर, अब मन कहाँ जाए? मन को तब इष्ट रह जाता है केवल आत्म-तत्त्व। क्योंकि जिन दोषों को हमने देखा है वे उसी में नहीं हैं, अन्यत्र सर्वत्र हैं। जब आत्मा ही इष्ट रह जाता है। तब चित्त के विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार वैराग्य से चित्त की स्थिरता हो जाती है। अभ्यास भी चाहिये, बार-बार प्रत्ययावृत्ति करनी पड़ती है। समान प्रत्यय की आवृत्ति और विषम प्रत्ययों को निवृत्त करना, हटाना यह अभ्यास है।

कौन्तेय से भगवान् कह रहे हैं कि तू कुन्ती का पुत्र है, कुन्ती ने ये दोनों ही काम सीमित काल में किए थे। जो उसने किया वह तू भी कर सकता है।

ये ही साधन पतंजलि ने योगसूत्रों में कहे हैं 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' जिस निरोध को वहाँ बतलाया है, उसको प्राप्त करने के दो ही साधन हैं अभ्यास और वैराग्य। वहाँ भी उन्होंने द्विवचन दिया 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' अर्थात् दोनों मिलकर कारगर होते हैं। यहाँ भी भगवान् ने चकार दे दिया, अतः अभ्यास और वैराग्य दोनों करने हैं। इनमें से एक करने से काम नहीं होता। इस प्रकार, युक्तिपूर्वक मन का निरोध हो सकता है, हठपूर्वक, बलपूर्वक नहीं। बहुत-से लोग सोचते हैं कि इन्द्रियों से विषयों की तरफ नहीं जाएँगे तो मन स्थिर हो जाएगा। ऐसे हठ से यह कभी स्थिर होता नहीं, इसके लिए तो युक्ति की ही ज़रूरत है। मन की तरह चंचल साँप को जैसे ज़ोर-जबरदस्ती से नहीं वरन् युक्ति से वश में किया जाता है वैसे ही मन को हठ से नहीं, युक्ति से वश में किया जा सकता है। अगर चाहो कि साँप को जबरदस्ती नचा लेंगे, तो नहीं हो सकता, युक्ति से ही होगा। इसी प्रकार मन के निग्रह के लिए युक्ति चाहिए और यही उसकी युक्ति है अभ्यास और वैराग्य। 'गृह्यते', कठिन है परंतु इसका निरोध हो जाता है।।३५।।

किसके लिए मन का निरोध करना असम्भव है? कौन कर सकता है? इसका उत्तर देते हैं

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

मेरा निश्चय है कि असंयमित मन वाले को योग सिद्ध होना अतिकठिन (या असंभव) है किंतु जो मन को वश में कर चुका है वह (अभ्यास-वैराग्य रूप) उपाय से यत्न करता रहे तो योग सिद्ध कर सकता है।

जो संयम वाला नहीं है अर्थात् जिसने अभ्यास-वैराग्य के द्वारा मन को संयत नहीं कर लिया है, जिसका अन्तःकरण वैराग्य और अभ्यास के द्वारा संयम में नहीं ले आया गया है, उसके लिए तो योग दुष्प्राप है, उसको कभी प्राप्त नहीं हो सकता। 'इति मे मतिः' मैं निश्चय जानता हूँ कि ऐसा ही है। 'तु' लेकिन, 'वश्यात्मना' अभ्यास-वैराग्य के द्वारा जिसने मन को वश में कर लिया है, वश में करके भी चुपचाप नहीं बैठ गया है वरन् 'यतता' आगे भी यत्न करता रहता है, वह अवश्य योग पा जाता है। कभी यह न सोचे कि हमारा मन अब वश में हो गया, आगे साधन करने की ज़रूरत नहीं है। वशीभूत मन को श्रवण-मनन के अंदर बार-बार लगाना ही वह उपाय है जिसके लिये यत्न आवश्यक है। अभ्यास और वैराग्य रूप उपाय से मन को वश में करने पर फिर श्रवणादि उपाय से सिद्धि संभव है।

योग के लिए वैराग्य और अभ्यास दोनों की ज़रूरत है। बहुत-से लोग अभ्यास करते हैं पर वैराग्य की तरफ नहीं जाते। उनकी शिकायत रहती है कि मन बहुत दौड़ता

है। दौड़ता राग के विषयों की तरफ है। कुछ लोग वैराग्य का अभ्यास करते हैं परंतु आगे परमात्मा के प्रत्ययों की आवृत्ति नहीं करते, बार-बार श्रवण-मनन में नहीं लगे रहते। उनकी शंका होती है कि एक-दो बार पढ़ लिया, समझ लिया, अब बार-बार सुनने से या पढ़ने से क्या होगा? यदि मन को तुम प्रत्ययावृत्ति में नहीं लगाओगे तो अन्य प्रत्ययों में जाएगा। इसलिए खाली वैराग्य से भी कार्य नहीं होता, खाली अभ्यास से भी नहीं होता। दोनों ही करने ज़रूरी हैं। दोष-दर्शन के द्वारा अन्य विषयों से हटाना है, जबरदस्ती नहीं, और उस हटे हुए मन को परमात्मा के प्रत्यय जो शास्त्र ने बतलाए हैं, उनके अंदर बार-बार आवृत्ति करके लगाना है।।३६।।

मुमुक्षु के बारे में एक शंका प्रायः उठती है कि मोक्ष पा लिया तब तो ठीक, पर अगर साधना में कमी रहने से मोक्ष नहीं पाया तो उसकी क्या गति होगी? कर्म दृष्ट या अदृष्ट फल देता है, नित्य-नैमित्तिक भी पितृलोक या चित्तशुद्धि फल देते हैं, जिसे वैराग्य हो चुका वह कर्म इसीलिये छोड़ ही देता है कि उसे कोई फल नहीं चाहिये अतः वह कर्म में अधिकारी रह नहीं जाता। वेद भी कहता है कि जिस दिन वैराग्य हो जाये उसी दिन प्रव्रज्या कर देनी चाहिये। जिसका प्रसंग चल रहा है वह मुमुक्षु विरक्त होकर योगाभ्यास में पूर्णतः प्रवृत्त होने के लिये कर्मत्याग करता ही है, तदनन्तर श्रवण-मनन का यत्न ही कर्त्तव्य रह जाता है। ऐसे साधक को ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष मिल गया तब तो उसके बारे में प्रश्न नहीं उठता। लेकिन सम्यग्दर्शन पाये बिना जो साधक मर जाता है उसके बारे में अवश्य प्रश्न होता है कि उसकी क्या गति होगी? यद्यपि अन्तकालिक वृत्ति के अनुसार गति शास्त्र में कही है तथापि मृत्यु के समय व्यक्ति इतना परवश रहता है कि तब परमात्माकार वृत्ति बननी अतिदुर्लभ है। इसलिये ऐसे साधक के भविष्य के बारे में अर्जुन जिज्ञासा करता है

अर्जुन उवाच
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

हे कृष्ण! अल्प यत्न वाला, श्रद्धालु, जिसका मन योगमार्ग से विचलित हो गया, वह योग का फल बिना पाये कौन-सी गति (पुरुषार्थ) पाता है।

'अयतिः' जिसका यत्न पूरा नहीं हुआ है। यहाँ पर अकार का अर्थ निषेध नहीं लेना कि जो यत्न करता ही नहीं है! उसकी बात नहीं है। जितना यत्न चाहिए, उतना यत्न जिससे नहीं हो पाया उसे अयति कहा अर्थात् अकार (नञ्) का अर्थ 'अल्प, कम' है, जैसे बहुत कम नमक हो तो कह देते हैं कि इसमें नमक नहीं है। यत्न की कमी में प्रधान कारण हो सकता है कि मृत्यु हो गई, थोड़ा ही समय मिला, अभ्यास पक्व नहीं हो पाया, सफलता के लिये जितना प्रयत्न चाहिए था, उतना नहीं हो पाया। अथवा

कभी ऐसा भी होता है कि प्रबल विरोधी प्रारब्ध के कारण पूरा प्रयत्न नहीं कर पाता है। शरीर इतना बीमार हो जाये तो प्रयत्न नहीं कर सकता है क्योंकि प्रारब्ध अपना भोग देने के लिए जबरदस्ती चित्त को अन्यत्र प्रवृत्त करा देता है। किंच, वैराग्य की पूर्णता में तो प्रारब्ध-भोग के कारण प्रवृत्ति होती है पर जैसे ही प्रारब्ध-भोग पूरा हो गया, वैसे ही साधक पुनः अपने अभ्यास में लग जाता है। परंतु यदि वैसा पूर्ण वैराग्य नहीं होता है तो प्रारब्ध-भोगवश उधर जाकर फिर अटक जाता है, तब भी योग के प्रयत्न में रुकावट आ जाती है। किसी भी कारण से जिसका यत्न पूरा नहीं हुआ पर 'श्रद्धया उपेतः' गुरु और शास्त्र के वचन में पूर्ण श्रद्धा वाला है अर्थात् उसके अंदर संदेह नहीं रखता है, वह यदि 'योगाच्चलितमानसः' योग में जैसा स्थिर होना था वैसा स्थिर नहीं हो पाया, मन चलित रह गया तो 'योगसंसिद्धिम् अप्राप्य' योग की संसिद्धि सम्यक् ज्ञान और उसका फल मोक्ष को नहीं पाकर 'कां गतिं गच्छति?' क्या गति पाता है? यहाँ पुण्य न करने से न पितृलोक को जा सकता है, उपासना भी न करने से न ब्रह्मलोक को जा सकता है, पाप न करने से न नरक लोक को जा सकता है; वह किस गति को प्राप्त होगा? ।३७।।

अर्जुन ने उस श्रद्धालु साधक की मरणोत्तर गति का प्रश्न उठाया जो समय या वैराग्य की कमी से तत्त्वनिष्ठा नहीं पा सका और ऐहिक-आमुष्मिक विषयों में राग न होने से शास्त्राज्ञानुसार कर्म-उपासनाएँ छोड़कर ही जीवन बिताता रहा। अतः पितृयाण और देवयान की उसे प्राप्ति संभव नहीं, पाप न करने से नरक जायेगा नहीं तो क्या कीट-पतंग आदि गतियाँ पायेगा? उपनिषत् ने ये तीन ही प्रधान गतियाँ बतायी हैं अतः मोक्षप्रद आत्मज्ञान से वंचित की गति का प्रश्न संगत है। प्रश्न को ही और स्पष्ट करता है

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग पर मोहवशीभूत (अतः गन्तव्य तक न पहुँच पाया) वह बेसहारा साधक क्या कर्म व योग इन दोनों के मार्ग से भटका वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे तेज़ हवा से हलका बादल?

बाह्य कर्म और मानसिक कर्म अर्थात् उपासना, इन्हें छोड़ चुकने के कारण इनसे भ्रष्ट हो गया और ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई इसलिए ज्ञान से भी भ्रष्ट हो गया अतः 'उभयविभ्रष्टः', दोनों तरफ से भ्रष्ट है। लोक में प्रायः यही कहा जाता है कि कर्म-उपासना तुमने छोड़ दिये और ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो बिल्कुल भ्रष्ट हो जाओगे। ऐसा कहने वाले ज़ोर देते हैं कि कर्म-उपासना को मत छोड़ो ताकि यदि ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तो कर्म और उपासना तुम्हें सद्गति तो दे ही देंगे। 'छिन्नाभ्रमिव नश्यति' जैसे

कोई बादल जा रहा है, उसमें से एक छोटा टुकड़ा टूट गया तो प्रायः वह छूटा हुआ टुकड़ा आगे जाने वाले किसी बादल से मिल जाता है तो उसका वर्षा में विनियोग हो जाता है। पर कई बार ऐसा होता है कि आगे का बादल तेजी से चला गया, पीछे के बादल से टुकड़ा छूट ही गया था, तो हवा उस छोटे से टुकड़े को टुकड़े-टुकड़े करके नष्ट कर देती है। इसी प्रकार, कर्म के द्वारा जो मिलता, वह छूट गया क्योंकि सर्वकर्मसंन्यास कर दिया; योग से जो फल मिलता मोक्ष, वह ज्ञान की सिद्धि न होने से नहीं मिला, तो बीच में उस बादल की तरह वह क्या नष्ट हो जाएगा? या नष्ट नहीं होगा, कोई और गति पायेगा? 'अप्रतिष्ठः' बिना प्रतिष्ठा का अर्थात् बिना आश्रय का हो चुकने से उसके बारे में प्रश्न है। मनुष्य को या कर्म का अश्रय है या ज्ञान का आश्रय है। इसका कर्म का आश्रय भी चला गया और ज्ञान का आश्रय भी सफल हुआ नहीं, इसलिए निराश्रय हो गया, इसका कोई सहारा रहा नहीं। 'ब्रह्मणः पथि विमूढः' ब्रह्म के मार्ग में चला पर विमूढ अज्ञानी ही रह गया, उसका फल भी पा न सका। और चूंकि योग-मार्ग की सिद्धि हुई नहीं इसलिए वह आश्रय भी मिला नहीं अतः निराश्रय हो कर नष्ट हो जाता है या नहीं? यह प्रश्न है।

सम्बोधन दिया 'महाबाहो!' भगवान् ने भी सम्बोधन दिया था 'महाबाहो!' भगवान् की ध्वनि थी कि तू मन को वश में कर सकता है क्योंकि तून पहले बड़े-बड़े असंभव काम किए हैं। अर्जुन भगवान् को याद दिलाता है कि आपने भी बड़े-बड़े राक्षसों को मारा है, अतः जो आपके रास्ते में चला उसका आप उद्धार कर सकते हैं; वह सर्वथा नष्ट हो जाए, यह तो ठीक नहीं। उनकी सद्‌गति लगती तो असंभव है क्योंकि कर्म भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, लेकिन जैसे मन का निग्रह करना असंभव लगता है पर भगवान् ने कहा, था कि 'तू कर सकता है', ऐसे ही अर्जुन का कहना है कि 'आप महाबाहु हैं। अतः जिस कार्य को करने का उपाय सहज नहीं लगता वह भी आप कर ही सकते हैं।' ।३८।।

अर्जुन प्रश्न को समाप्त करते हुए उत्तर की प्रार्थना करता है

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३६।।

हे कृष्ण! क्योंकि आपसे अतिरिक्त कोई व्यक्ति यह संशय मिटा सके यह संगत नहीं है इसलिये यही उचित है कि मेरा यह संशय आप ही पूरी तरह मिटायें।

हे कृष्ण! आप केवल महाबाहु ही नहीं, कृष्ण भी हैं, सब प्राणियों को फल देने वाले आप ही हैं इसलिए चाहे देवयान से ले जाएँ, चाहे पितृयान से ले जाएँ, चाहे नरक ले जाएँ, सर्वत्र खींचकर, कर्षण करके ले जाने वाले तो आप ही सर्वज्ञ परमात्मा हैं। इसलिए मेरा जो यह संशय है, इसको आप ही काटने में समर्थ हैं। कोई चाहे ऋषि

हो, चाहे देवता हो, वह इस बात का जवाब नहीं दे सकता। कर्म से क्या होता है, उपासना से क्या होता है इतना तो शास्त्र के द्वारा जान कर देव भी कह सकते हैं, ऋषि भी कह सकते हैं, लेकिन इन दोनों से जो निराश्रय है, उसकी क्या गति है यह आप ही जान सकते हैं क्योंकि आप ही सबको ले जाने वाले हैं, कर्षण करने वाले हैं।

संशय अर्थात् द्विकोटिक ज्ञान। ठीक मार्ग में लगा है इसलिए इसका कल्याण होना चाहिए यह भी संगत है; और शास्त्र में कहे हुए कर्म-उपासना दोनों छोड़कर ज्ञान की भी सिद्धि प्राप्त की नहीं, अतः सद्गति संभव नहीं है यह भी समझ में आता है। दोनों ही बातें एक-जैसी लग रही हैं, इसलिए संशय है। 'अशेषतः छेत्तुमर्हसि' कुछ भी संशय बाकी नहीं रह जाए ऐसा इसका छेदन आप ही कर सकते हैं। बाकी लोग अपने ज्ञानानुसार थोड़ा-बहुत जवाब देंगे लेकिन निश्चित नहीं कह सकते। किसी आदमी की मर कर क्या गति हुई है इस विषय में सिवाय भगवान् के और कोई सर्वज्ञ नहीं है जो बतला सके। 'अशेषतः' अर्थात् निश्चित रूप से, कोई शंका न रह जाए ऐसा। इस संशय को काटने वाला 'त्वदन्यः न ह्युपपद्यते' आपको छोड़कर और कोई होना उपपन्न ही नहीं है। किसी भी युक्ति से कोई दूसरा इस संशय को काट सके, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। दूसरा जो भी कहेगा वह परोक्षता से ही कहेगा, आप ही इसको ठीक-ठीक बतला सकते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने अपना संशय प्रकट किया।।३९।।

भगवान् जवाब देते हैं

श्रीभगवानुवाच
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

श्री भगवान् ने कहा हे पार्थ! हे तात! इहलोक और परलोक में उसका विनाश नहीं है क्योंकि कोई कल्याणकारी व्यक्ति दुर्गति नहीं पाता।

भगवान् ने अपना अन्तिम निर्णय बतला दिया, किसी संदेह का मौका नहीं छोड़ा। 'हे पार्थ!' पार्थ-संबोधन से बतलाते हैं कि तू मेरा इतना नज़दीकी व्यक्ति है इसलिए इस बात का जवाब मैं बिल्कुल स्पष्ट रूप से देता हूँ। 'इह तस्य विनाशः नैव' इस लोक में उसका नाश नहीं है। इस लोक में नाश अर्थात् शिष्टों के द्वारा उसको हेय, बुरा समझना। हम लोगों के प्राचीन दृष्टिकोण में शिष्ट पुरुषों के द्वारा निंदा बहुत ही दुःख की बात मानते हैं। 'उत्तमा यश इच्छन्ति मानमिच्छन्ति मध्यमाः अधमा धनमिच्छन्ति'; उत्तम लोग यश चाहते हैं कि अच्छे लोग उन्हें बुरा न कहें, अच्छा कहें। मध्यम लोग चाहते हैं कि लोग उनको सम्मान देवें। अधम लोग चाहते हैं कि धन मिले। आजकल यही प्रवृत्ति है कि चाहे जितना अपयश हो जाए, लोग बुरा कहें, लेकिन किसी तरह से धन मिल जाए। इस लोक में विनाश यह है कि शिष्ट पुरुष अपकीर्ति करें। जिसके बारे

में अर्जुन ने पूछा है ऐसे साधक का यही नहीं होता क्योंकि शिष्ट लोग इस बात को जानते हैं कि वह कल्याण के रास्ते में लगा था, उसने किसी संसार के पदार्थों के राग के कारण कर्मों का त्याग नहीं किया, आलस्य के कारण कर्मों का त्याग नहीं किया वरन् श्रेष्ठ योग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया है। अतः वे उसके कर्मत्याग की कभी भी निन्दा नहीं करते।

और 'तस्य विनाशः अमुत्र न विद्यते।' यद्यपि मूल रूप से 'का गतिः' का मतलब यही है कि मर कर क्या गति होती है, इस विषय में ही लोग 'गति' कहते हैं, तथापि साथ में कहा 'अशेषतः' इसलिए भगवान् ने मरकर क्या गति होती है वह भी बतला दिया और मरने के पहले क्या गति होती है, यह भी बतला दिया कि इह लोक में अपयश की प्राप्ति नहीं होती। और 'अमुत्र' अर्थात् मर कर भी नाश नहीं होता। जैसा अब है उससे हीन जन्म की प्राप्ति होवे तब नाश कहा जाएगा। योग मार्ग में लगा हुआ ज्ञान की सिद्धि नहीं करता है तब भी यहाँ से श्रेष्ठ जन्म ही होता है। हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होती। अर्जुन ने कहा था 'अप्रतिष्ठः' उसके पास कोई कर्म या उपासना का आश्रय नहीं है; उसके जवाब में कह दिया कि आगे भी उसको हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होगी, श्रेष्ठ जन्म की ही प्राप्ति होगी। इस प्रकार दोनों लोकों में योगभ्रष्ट का नाश नहीं है।

ऐसा क्यों? तो भगवान् सामान्य नियम बताते हैं कि 'कश्चिद् कल्याणकृत् दुर्गतिं न गच्छति' जो कल्याण का काम करता है, शुभ काम करता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। भगवान् ने यह बहुत बड़ी बात सबको उत्साह देने के लिए कही है कि कल्याण का काम करते हुए कोई किसी दुर्गति को नहीं प्राप्त करता है। जिस काम को कर रहा है, उसमें सिद्धि मिले या न मिले, परंतु दुर्गति कभी नहीं हो सकती। ऐसा नहीं हो सकता कि शुभ करते हुए सफलता न मिली तो उसकी दुर्गति हो जाए। अर्जुन से भी भगवान् ने कहा था कि यह धर्म युद्ध है, धर्म के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध है। अगर इसमें तुमको सफलता नहीं मिली अर्थात् जीते नहीं, मारे गए, तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और अगर जीत गए तो राज्य की प्राप्ति होगी। शुभ कर्म में लगने पर सफलता मिले या असफलता मिले, दुर्गति नहीं होती। यह एक बड़ा भारी संदेश है क्योंकि लोगों के मन में शंका रहती है कि अगर असफलता रही तो सब जायेगा। किंतु ऐसा नहीं है। सत्य बोलने से हम मुकदमा हारे तो भी सत्य बोलने के फल से हमारी सद्गति है और मुकदमा जीते तो जिस काम के लिए हमने प्रयत्न किया था उसमें सफल हो गये। सत्य बोल कर मुकदमा हारें या जीतें, दोनों में बुरी गति नहीं होती। झूठ बोलकर मुकदमा हारें, तो यहाँ भी कुछ नहीं मिला और आगे के लिए भी पाप इकट्ठा हो गया, दुर्गति का रास्ता खुल गया। और अगर जीत गये, तो यहाँ का रास्ता खुलने पर भी परलोक का रास्ता रुक ही गया। अतः सफलता-असफलता को इह लोक में ही न देखकर शुभ

कार्य ही करना चाहिए, अशुभ कार्य नहीं करना चाहिए, यह यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया।

भगवान् अर्जुन को कहते हैं 'तात' 'तातस्तु जनकः पिता' तात पिता को कहा जाता है। शिष्य अर्जुन को भगवान् ने तात कैसे कह दिया? 'तनोति आत्मानं पुत्ररूपेण' पुत्र रूप से पिता अपना ही विस्तार करता है इसीलिये तात है। चूंकि अपना विस्तार पुत्र-रूप से करता है इसलिए पुत्र को भी तात कह सकते हैं। उपनिषद् के अंदर कहा है कि आदमी के तीन जन्म होते हैं। तीसरे जन्म में पुत्ररूप से वह खुद ही जन्म लेता है। इसलिए श्रुति ने कहा है 'आत्मा वै पुत्रनाम'। इसी दृष्टि से पुत्रस्थानीय शिष्य को भगवान् ने तात कह दिया। शिष्य के हृदय में गुरु का ही ज्ञान जाता है। ज्ञान अनेक नहीं है। अन्तःकरण की वृत्तियों से होने वाले तो अन्तःकरण-भेद से अलग-अलग हैं। तुम्हारे अन्तःकरण से जो क्षणिक ज्ञान हुआ वह तुम्हारे अन्तःकरण का ज्ञान या तुम्हारा ज्ञान, हमारे अन्तःकरण से जो ज्ञान हुआ वह हमारा ज्ञान, हमारे अन्तःकरण की उपाधि से होने वाला ज्ञान। परंतु ब्रह्माकार वृत्ति से जिस ज्ञान-रूप ब्रह्म का प्राकट्य होता है, वह ज्ञानरूप ब्रह्म तो एक ही है। तुम्हारे अन्तःकरण की वृत्ति ने अज्ञान को नष्ट किया यहाँ तक तो तुम्हारे अन्तःकरण की वृत्ति है, लेकिन अज्ञान को नष्ट करने के बाद ज्ञानस्वरूप ब्रह्म जो प्रकट हुआ, वह तो वही ब्रह्म है जो गुरु को प्रकट हुआ था। अलग-अलग ब्रह्म तो हैं नहीं कि तुमको एक प्रकट हो, हमें अलग प्रकट हो! अविद्या निवृत्त होने पर एक ही ब्रह्म प्रकट होता है। गुरु के लिये विधान किया कि जिस तत्त्वज्ञान से धर्म-अधर्म आदि सबको छोड़ता है उस ज्ञान को शिष्य के हृदय में छोड़े। जो तुम्हारा ज्ञान है उसे तुम शिष्य के हृदय में प्रकट करते हो, यही तुम्हारी ओर से उसका त्याग कहा जाता है। इसलिए जैसे पुत्र आत्मा का स्वरूप है वैसे ही शिष्य भी, क्योंकि गुरु का जो आत्मज्ञान वही शिष्य-हृदय में प्रकट होता है। इसलिए उसको भी तात कह देते हैं। कुछ कोशकार अनुकम्पनीय के लिये भी तात-शब्द स्वीकारते हैं, तदनुसार शिष्य के लिये तात कहना उचित ही है।।४०।।

योगभ्रष्ट यदि कुत्सित गति को प्राप्त नहीं होता तो फिर किस गति को प्राप्त होता है? यह भगवान् बताते हैं

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

योगमार्ग में प्रवृत्त किंतु जीवनकाल में तत्त्वनिष्ठ न हो पाया संन्यासी मरने के बाद पुण्यकारियों के लोकों में पहुँचकर, दीर्घ समय वहाँ रहकर, पुनः ऐसों के घर जन्म लेता है जो शास्त्रानुसारी जीवन-यापन करते हैं तथा वैभवसम्पन्न हैं।

पुण्य कर्म करने वालों को जिन दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है, वे ही साधक प्राप्त

करता है। जहाँ पञ्चाग्नि-विद्या का उपनिषदों में फल कहा है वहाँ साथ ही बताया है कि पञ्चाग्निवेत्ता अर्थात् पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले जहाँ जाते हैं वहीं सत्य और श्रद्धा का सेवन करने वाले आरण्य भी जाते हैं (छां. ५.१०.१)। जो संन्यासी श्रद्धा वाला है, जिसे यहाँ कह भी दिया 'श्रद्धयोपेतः', और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि स्वरूप वाले ब्रह्म की उपासना में भी लगा हुआ है, वह पुण्यलोक पायेगा ही। कर्म और उपासना करने वाले जिन लोकों को जाते हैं, उन लोकों को प्रकृत साधक भी चला जाता है। अश्वमेध आदि यज्ञ करके जहाँ दूसरे लोग जाते हैं, वहाँ संन्यासी भी चला जाता है। वहाँ जाकर 'शाश्वतीः समाः'; शाश्वत वैसे नित्य को कहते हैं लेकिन यहाँ मतलब है, अतिदीर्घकाल, 'समाः' अर्थात् साल। वर्ष तो सीमित कालखंड है। अतः उसके साथ शाश्वत कह रहे हैं तो सापेक्ष नित्य ही हो सकता है, निरपेक्ष नित्य तो हो नहीं सकता। इसलिए अतिदीर्घकाल तक अर्थात् जितना उसका योगाभ्यास सिद्ध हुआ है, उसी हिसाब से वहाँ रहने का अनुभव करता है। जो पञ्चाग्निवेत्ता इत्यादि गए हैं पुण्य लोकों को, वे तो बचे हुए कर्मों के अनुसार पैदा होंगे। जिसका प्रसंग चल रहा है, इस साधक ने कर्म और उपासना तो सब छोड़ रखे हैं, अतः यह कहाँ पैदा होगा? 'शुचीनां श्रीमतां गेहे।' यह पैदा होगा श्रीमानों के घर में अर्थात् ऐश्वर्य वालों के घर में जैसे जनक, अश्वपति आदि। कर्म-उपासना छोड़ दिये लेकिन जो किया वह शुभ है, कल्याण है, इसलिए ऐश्वर्य वाले बड़े राजा इत्यादि के घर पैदा होता है।

राजा इत्यादि के घर पैदा होगा तो क्या भोग-परायण हो जाएगा, फिर संसार के चक्र में पड़ जाएगा? इसके जवाब में भगवान् कहते हैं कि 'शुचीनां' जो विभूति वाले होकर भी परमात्मा के मार्ग में लगे होने के कारण सत्कर्म-परायण लोग हैं, वहीं पैदा होता है। मनुष्य पैदा होकर दो चीज़ों से ही अपना निर्माण करता है : कुछ तो उसको वंशानुगत लक्षण मिल जाते हैं। माँ-बाप में जैसा गुणादि होता है, वैसा ही बच्चे में आ जाता है जिसका आजकल बड़ा भारी आनुवंशिकी का विज्ञान बना दिया है। माता-पिता शुचि होने के कारण वंशानुगत उसके अंदर सत्कर्मपरायणता ही आती है। दूसरी चीज़ मनुष्य को बनाने-बिगाड़ने वाली है परिवेश। जिस परिवेश में रहता है तदनुसार व्यक्तित्व बनता है। कई बार देखने में आता है कि वंशपरंपरा के विरुद्ध व्यक्तित्व बन जाता है। जिन कुलों की सैकड़ों पीढ़ियों में संन्ध्यावंदन नहीं छोड़ा गया उन्हीं में पैदा हुए बच्चे जनेऊ तक नहीं पहनते! जहाँ हमेशा बुजुर्गों की सेवा होती रही उन्हीं घरों के बच्चे बड़े-बूढ़ों का तिरस्कार करते देखे जाते हैं।

जैसे वंशानुगत गुण-दोष आता है वैसे ही परिवेश से भी गुण-दोष आते हैं। हमने उन बच्चों को जिन स्कूलों में भेजा वहाँ किस-किस प्रकार के बच्चे व अध्यापक एकत्र होते थे, अध्यापक क्या-क्या पढ़ाते थे इत्यादि की जाँच करें तो समझ आयेगा कि परिवेशवश यह प्रभाव है। हमारे संस्कारों से बिल्कुल विपरीत उनको वहाँ परिवेश

मिला। उसके बाद काम-काज में लगे, वहाँ भी हम से विरुद्ध परिवेश मिला। वंशक्रम ठीक मिलने पर भी यदि परिवेश विरोधी होता है तो उलटा प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह भी मनुष्य को बनाता-बिगाड़ता है। वंश-परम्परा और परिवेश इन दो से ही व्यक्तित्व बनता है। योगभ्रष्ट क्योंकि पवित्र घरों में पैदा होगा इसलिए वंशानुगत भी इसके अंदर पवित्रता आएगी और चूंकि पवित्र वातावरण भी मिलेगा इसलिए उसका विकास उचित दिशा में ही होगा। पहले ब्रह्मपुरी में खाली ब्राह्मण ही रहते थे, कोई दूसरी जाति वाला वहाँ मकान नहीं ले सकता था। सुनारों के पास सुनार ही रहते थे, लुहारों के पास लुहार ही रहते थे। शादी-ब्याह भी अपने ही वर्ण वालों में होता था। ब्राह्मण अपने घर में सुनता भी यही था 'अरे! तुम्हारे काका जी तो तीन वेद जानने वाले थे।' विद्या की प्रशंसा सुनकर विद्यार्जन की ही प्रेरणा पाता था। ननिहाल में, मामा के घर में भी वे ही बातें होती थीं। और भी सब साथी ब्राह्मण ही होते थे, उनसे भी ऐसी ही प्रेरणा मिलती थी। अतः प्रायः ब्राह्मणों का व्यक्तित्व विद्या-प्रधान होता था। इसलिए मालवीय जी कहा करते थे कि 'बाकी सब चीज़ों में हम एक हैं परंतु रोटी-बेटी अपनी-अपनी।' प्रायः जिसके साथ खाना-पीना होता है, उसी के साथ मिलना-जुलना पड़ता है। रोटी अपनी रहेगी तो दूसरों से बातें होंगी नहीं। और बेटी अपनी होगी तो अपने रिश्तेदारों का भी वातावरण वही होगा। धीरे-धीरे हमारे समाज में दोनों तरफ की गड़बड़ी आयीः खान-पान सबके साथ होने लगा अतः मैत्री आदि में प्रतिबंध न रह जाने से कोई स्पष्ट वातावरण नहीं रहा। ब्राह्मण का उठना-बैठना बनियों के साथ होगा, रोज़ धन की महिमा सुनेगा तो विद्या से विमुख होकर धन को ही प्रधान मानने लगेगा, उसका चरित्र बदल जायेगा। और अन्तर्जातीय विवाहों के कारण वंशानुगत गुणों का भी नियंत्रण समाप्त हो गया। अतः अब व्यक्तित्व के निर्माण के दोनों घटक अनियंत्रित होने से सभी का व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता जा रहा है।

किंतु भगवान् कहते हैं कि योगभ्रष्ट तो वंश और वातावरण दोनों तरह से शुचि गृहस्थों के घर ही जन्मेगा अतः उसका उचित ही विकास होगा। यह जन्म दुर्लभ है। कर्मानुसार तो कभी घर शुचि मिला तो श्रीसम्पन्न नहीं मिलेगा, श्रीसम्पन्न मिला तो शुचि नहीं मिलेगा किंतु योगभ्रष्ट तो नियम से शुचि व श्रीसम्पन्न घर में जन्म लेगा। इसलिए आगे भी उससे शुभ कर्म ही होगा। जनक विदेह के बारे में कहा जाता है कि उस कुल में अठारह पीढ़ियों तक सब विदेह हुए! इसलिए उस परिवार को ही विदेह परिवार कहने लगे। एक-जैसा वातावरण होने पर, एक-जैसी आनुवंशिक परम्परा होने पर पुनः सत्कर्म की ओर जाना सरल होता है।

योगभ्रष्ट का पुनर्जन्म वैभव-सम्पन्न घरों में क्यों होता है इस पर टीकाकार आनन्दगिरि स्वामी ने कहा है 'वैराग्याभावविवक्षया विभूतिमतां गृहे जन्मेति विशेष्यते'। योगमार्ग पर चलते हुए भी परम निष्ठा नहीं पा सकने में एक मुख्य कारण होता है

वैराग्य की कमी। उसी से अभ्यास में भी शिथिलता हो जाती है। ऐसे साधक को पुण्य लोकों में भी भोग मिलते हैं और पुनर्जन्म भी ऐश्वर्य-संपन्न घरों में होता है। किंतु यदि वैराग्य नहीं उपजा पाया तो शुचिता रखते हुए भी भोग में लग जायेगा, प्रारंभ से ही परमात्ममार्ग पर नहीं चल देगा। शुचि घर के कारण अवसर तो उपलब्ध रहेगा पर भोगोन्मुखता की सम्भावना भी रहेगी। इसलिये यह जन्म दुर्लभ तो है पर इससे भी दुर्लभ जन्म संभव है यह अगले श्लोक में बतायेंगे।।४१।।

जो योगाभ्यासी विरक्त तो पूर्ण था पर विपरीत प्रारब्ध आदि के कारण अभ्यास पूर्ण नहीं कर पाने से योगभ्रष्ट हुआ, उसे पुण्य लोकों के व्यवधान से या उनके व्यवधान के बिना भी अत्यन्त दुर्लभ जन्म मिलता है यह बताते हैं

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में पैदा होता है। लोक में ऐसा जो जन्म है वह अवश्य दुर्लभतर है।

'अथवा' अर्थात् जिसमें वैराग्य की पूर्णता थी, अभ्यास की कमी रह गयी थी, उसका जन्म होता है जो योगी हैं उनके कुल में। 'योगिनाम् एव' अर्थात् ऐश्वर्य वालों से भिन्न अर्थात् जिनके पास ऐश्वर्य नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं 'दरिद्राणां कुले।' भोग की इच्छा तो उसको थी नहीं इसलिए ऐश्वर्य वाले घर में वह जाना चाहेगा नहीं। क्योंकि प्रायः जहां ऐश्वर्य धन आदि होता है, वहाँ भोग की तरफ प्रवृत्ति होती है, भोग की संभावना होती है। भगवान् ने अन्यत्र स्पष्ट कहा है कि जिन पर मैं अनुग्रह करता हूँ उनके धन का मैं धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ। धन के कारण ही मनुष्य की भोगों में प्रवृत्ति होती है; धन न होने पर यदि भोग की कोई इच्छा भी हुई तो वहीं खत्म हो जाती है। जैसे बाजार में गए, बढिया चाट मिल रही है, तो मन में आ गया 'चाट खा लेवें।' पर यदि पास में पैसा ही नहीं है तो खा न सकने से इच्छा वहीं ख़त्म करनी पड़ेगी। अगर अविवेकी हो, तब तो धन कमाने की सोचोगे, पर यदि विवेक वैराग्य से संपन्न हो तो विचार से इच्छा को काट दोगे। सोचोगे कि धन न होने से आज चाट नहीं खायी इसलिये पेट खराब होने से बच गये। अतः दरिद्र कुल में जन्म को श्रीसम्पन्न कुल के जन्म से बेहतर माना। योगभ्रष्ट का जन्म कैसे दरिद्रों के घर होता है? 'धीमताम्।' कई ऐसे भी योगी, हठ-योगी होते हैं, जो योगी तो हैं परंतु वेदान्त के संस्कारों से रहित हैं, श्रवण-मनन से रहित हैं। उनकी व्यावृत्ति के लिये कहा 'धीमताम्'; जो न केवल दरिद्र वरन् बुद्धिमान् भी हैं, श्रवण-मनन के द्वारा आत्म-स्वरूप को जानने वाले भी हैं, निरंतर उसी के अंदर स्थित रहने का अभ्यास करने वाले हैं। ऐसे दरिद्र, श्रवण-मनन के संस्कारों से युक्त, निरंतर ब्रह्म-संस्थता को प्राप्त करने में

लगे हुए कुल में योगभ्रष्ट का जन्म होता है। साधारण लोग दरिद्रों की अपेक्षा धनिकों के घर जन्म बेहतर समझते हैं, उन्हे भ्रम न हो जाये कि पूर्व श्लोकोक्त जन्म बेहतर है इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि यही जन्म अधिक दुर्लभ है। वैराग्य की पूर्णता होने के कारण ही ऐसा जन्म संभव है। पहले जो कहा था ऐश्वर्य वाले पवित्र घरों में पैदा होना, वह भी दुर्लभ है, परंतु यह जन्म दुर्लभतर है, मिलना और भी मुश्किल है। प्रायः धीमान् हो और योगी हो तो पुत्र आदि उत्पन्न करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। प्रायः ऐसों की प्रवृत्ति पुत्रादि-उत्पादन में होती ही नहीं। फिर भी किसी प्राचीन कर्म के फल-स्वरूप ऐसी प्रवृत्ति होती भी है, जैसे व्यास जी से शुकदेव पैदा हो गये, अतः असंभव नहीं, दुर्लभतर है, होना अत्यन्त कठिन है।।४२।।

ऐसे माता-पिता होना कठिन है यह तो एक बात हुई, लेकिन ऐसों के घर उत्पन्न होकर कोई खास विशेषता आ जाती है क्या? इसका जवाब देते हैं

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

हे कुरुनंदन! उस जन्म में वह उसी आत्मविषयक बुद्धि से संबंध पा लेता है जिसके लिये पूर्व शरीर में साधना की थी और मोक्ष के लिये वह पूर्वकृत की अपेक्षा अधिक प्रयत्न करता है।

भगवान् बताते हैं कि बुद्धिमान् योगियों के घर जन्म में क्या विशेषता हैः पहले तो योगी-बुद्धिमान् माता-पिता मिलना दुर्लभतर होने से विशेष है, फिर वहाँ अर्थात् योगी कुल में उसे यह बुद्धि प्रारंभ से ही आ जाती है कि जीवन का एकमात्र उद्देश्य परमात्म-प्राप्ति है। पूर्व जन्म में भी उसने अभ्यास-पूर्वक निश्चय किया था कि एकमात्र परमात्मा ही पाने के योग्य है, और कोई चीज़ संसार में पाने के योग्य नहीं है। सामान्य रूप से चार पुरुषार्थ मान लिए जाते हैं। काम एक पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति का साधन अर्थ भी पुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि पुरुष जैसे काम-भोग को चाहता है वैसे ही उसकी प्राप्ति के साधन अर्थ को भी चाहता है। पुरुष जिसकी अर्थना, प्रार्थना, इच्छा करे उसे पुरुषार्थ कहते हैं। व्यक्ति जैसे बढ़िया गद्दे पर सोना चाहता है वैसे ही उस गद्दे को खरीदने के लिए पैसा भी चाहता है। दोनों ही उसके द्वारा चाहे जाते हैं अतः दोनों ही पुरुषार्थ हुए। धन की प्राप्ति बिना धर्म के होती नहीं। इसीलिए भाषा के किसी कवि ने कहा है 'सकल पदार्थ हैं जग माहि, कर्महीन नर पावत नाहीं।' कोई ऐसी कामना तुम्हारी नहीं है जिसको पूर्ण करने वाला पदार्थ संसार में न होवे। जिसकी कभी भी किसी को भी कामना होती है, वह पदार्थ तो संसार में है, परंतु जब तक पुण्य का उदय नहीं होता तब तक उसकी प्राप्ति होती नहीं। केवल धन से भी पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिनको प्राप्त करने की इच्छा तो होती है परंतु

धन पास में होने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती। हम ऐसे कई लोगों को जानते हैं जो सारी दुनिया में जाकर टक्कर मार कर आ गए परंतु उनके बच्चा नहीं हुआ, दुनिया-भर के अनुष्ठान भी कर लिए परंतु संतति हुई ही नहीं। दूसरी तरफ, भारत सरकार परेशान है कि लोगों के बच्चे बहुत होते हैं! सरकार कहती है बच्चे कम करो और कई बेचारों ने सारा प्रयत्न कर लिया पर कोई बच्चा नहीं हुआ। तो, धन से कहाँ बेटे की प्राप्ति हुई! धन भी कई बार साधन बन जाता है परंतु असली चीज़ है पुण्य। उस पदार्थ के भोग के लिए जो पुण्य चाहिए वह नहीं किया हुआ है तो पदार्थ नहीं मिलेगा। इस तरह काम पुरुषार्थ है, काम को प्राप्त कराने वाला अर्थ पुरुषार्थ है, और इनको प्राप्त कराने वाला धर्म भी पुरुषार्थ है। पुरुष इन सबकी अर्थना रखता है इसलिए ये तीनों पुरुषार्थ हैं। इसी प्रकार से जब कभी दुःखी होता है तब दुःख की निवृत्ति चाहता है। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति रूप जो मोक्ष है वह भी पुरुषार्थ है। यद्यपि चारों पुरुषार्थ हैं तथापि प्रथम तीन चौथे के साथ इकट्ठा रहना नहीं बनता, क्योंकि मोक्ष है आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति जबकि काम जिसके लिए अर्थ और धर्म की ज़रूरत है वह है क्षणिक दुःख-निवृत्ति। क्षणिक निवृत्ति और आत्यन्तिक निवृत्ति एक साथ नहीं रह सकती। क्षणिक निवृत्ति चाहने से जीव जब हटे तब आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति चाहेगा। अन्यथा, क्षणिक दुःखनिवृत्ति में ही मनुष्य का सारा परिश्रम चला जाता है, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के लिए न उसको बुद्धि रहती है, न समय रहता है। क्षणिक दुःख तो मानो दण्डा लेकर सामने खड़ा हो जाता है, वह निवृत्त न हो तो मन अत्यन्त विक्षिप्त हो जाता है। रोग से पीडा तीव्र हो तो बस, उसे दूर करना ही एकमात्र इच्छा होती है। किंतु दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की यों अनिवार्य ज़रूरत प्रतीत नहीं होती, उसे जितना टालना चाहो टाल सकते हो। क्षणिक निवृत्ति की आवश्यकता तो लगातार आती रहती है अतः प्राणी उसी के लिये यत्न करता रहता है, आत्यन्तिक निवृत्ति की कोशिश में लगता ही नहीं।

यह बुद्धिसंयोग दुर्लभ है कि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का कारण जो परमात्मा उसी को पाने का प्रयत्न करना है। दुर्लभतर जन्म वाले को यह संयोग 'पौर्वदेहिक' से प्राप्त होता है। पूर्व देह में वैराग्य की साधना के कारण ही उसे योगी के घर जन्म मिला, उसमें विरक्ति सहज है। संस्कृत में 'वि-रक्ति' का 'रक्ति से विरुद्ध' तथा 'विशेष रक्ति' दोनों अर्थ हैं : 'परमात्मनि यो रक्तः, विरक्तोऽपरमात्मनि', परमात्मा में विशेष करके जो रक्त है, और अपरमात्मा अर्थात् अनात्मा के अंदर जो रक्त, रागवान् से विरुद्ध है। पूर्व जन्म में वैराग्य प्राप्त किया था, केवल अभ्यास की जिस-किसी कारण से कमी रहने से तत्त्वनिष्ठ नहीं हुआ था। इसलिए पौर्वदेहिक वैराग्य था जो यहाँ भी उपलब्ध हो जाता है। पूर्व देह में इतनी साधना कर रखी थी इसलिए इस दुर्लभतर जन्म में परमात्मा में विशेष प्रेम और तुच्छ भोगों के प्रति सर्वथा मन में राग न होना यह बुद्धिसंयोग प्राप्त

हो जाता है। 'ततः' जो पूर्व जन्म में एकत्र संस्कार थे उनके कारण 'भूयः यतते' और ज़्यादा प्रयत्न करता है। किस के लिए? 'संसिद्धौ', ब्रह्मसंस्थता की प्राप्ति के लिए, कि ब्रह्म में ही स्थिर हो जाये।

'हे कुरुनन्दन!' हे कुरुवंश को प्रसन्न करने वाले, कुरुवंश में उत्पन्न! कुछ लोगों ने यहाँ ऐसा माना है कि जैसे भगवान् अर्जुन को जगह-जगह अन्य बातें समझाकर कहते हैं 'इसलिए युद्ध कर' अर्थात् चूंकि तू उस सर्वकर्मों से निवृत्ति का अधिकारी नहीं है, अन्तःकरणशुद्धि का अधिकारी है, इसलिये अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्म कर, वैसे ही यहाँ उनका अभिप्राय है कि तू कुरुवंश को अर्थात् श्रीसम्पन्न घरवालों को प्रसन्न करने वाला है इसलिए तू अभी कर्म का ही अधिकारी है, संसिद्धि का तू अधिकारी नहीं है।।४३।।

उसका पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग क्या करता है यह बतलाते हैं

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

उसी पूर्वकृत अभ्यास से विवश हुआ भी वह (संसिद्धि के उपायों में) आकृष्ट होता है। योग के रास्ते चलने वाला आत्मजिज्ञासु भी कर्म-विधायक वेद के क्षेत्र से बाहर हो जाता है।

मनुष्य जिस चीज़ का एक जन्म में अभ्यास करता है, उसके संस्कार विद्यमान रह करके अगले जन्म में भी प्रर्वतक हो जाते हैं। फाइल रखने के दो तरीके हैं एक ब्रिटिश, दूसरा अमेरिकन। ब्रिटेन के अंदर ऐसा तरीका है कि जो पहला कागज़ आया वह सबसे ऊपर होगा और जो सबसे ताज़ा कागज़ है, वह सबसे नीचे होगा। इसलिए अगर इंग्लैंड के तरीके की फाइल है तो तुम को पहले पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ तक सारा इतिहास पता चल जाता है। अमेरिका का तरीका है कि पुराने कागज़ नीचे रहते हैं, नये कागज़ उनके ऊपर लगते जाते हैं। जो सबसे अन्तिम कागज़ है वह सबसे ऊपर रहता है। अमेरिकन ढंग की फाइल देखो तो तुम को पहले देखते ही पता लग जाता है कि आज की क्या स्थिति है, इस स्थिति तक कैसे पहुँचा गया यह जानना हो तो आगे-आगे कागज़ पलटते जाओ। भगवान् भी जो संस्कारों की फाइल रखते हैं वह अमेरिकन तरीके से रखते हैं। इसलिए तुम्हारे पहले इकट्ठे किए हुए जो संस्कार हैं वे नष्ट नहीं होते लेकिन नीचे दबे रहते हैं जबकि नए बटोरे हुए संस्कार ऊपर रहते हैं। अनुभव करके भी देखते हैं कि दसियों साल हिंदी, मारवाड़ी बोलते हैं, किसी निमित्त से पाँच-छह साल इंग्लैंड रह कर आते हैं तो हिंदी बोलने में दिक्कत हो जाती है। वहाँ हिंदी बोलने का काम ही नहीं पड़ा तो उसके संस्कार दब गए और अंग्रेजी के संस्कार प्रबल होकर जम गये। संस्कार नष्ट तो नहीं हुए हैं, लेकिन नीचे दब

गए हैं। अंग्रेजी का ताज़ा अभ्यास किया है इसीलिए उसी के संस्कार ज़्यादा सामने हैं। जो नए अनुभव होते हैं उनके संस्कार स्फुट रहते हैं, झट से सामने आते हैं। योगभ्रष्ट ने ठीक पूर्व के जन्म के अंदर अभ्यास किया है, श्रवण-मनन-निदिध्यासन का, ब्रह्मसंस्थिति का अभ्यास किया है, इसीलिए वे ही संस्कार ऊपर अर्थात् प्रबल हैं, बल वाले हैं। अतः उनके द्वारा ही वह प्रवृत्त किया जाता है। दूसरे संस्कार चाहे अनंत जन्मों के हैं पर दबे हुए हैं, ऊपर नहीं आ पाते। पूर्वाभ्यास से मतलब दस जन्म पहले के अभ्यास से नहीं है वरन् अव्यवहित पूर्वजन्म में जो अभ्यास किया, उससे है। वे बलवान् होकर उसको 'ह्रियते' उधर ही खींचकर ले जाते हैं। 'अवशोऽपि' मानो जबरदस्ती ले जाया जा रहा हो; अपनी तरफ से प्रयत्न न करने पर भी उधर ही प्रवृत्ति होती है। जैसे दस साल इंग्लैंड में रहकर आया तो चाहे भी कि हिंदी बोले पर चाहने पर भी अवश की तरह बीच-बीच में अंग्रेजी निकल जाती है। उसे ख्याल ही नहीं रहता कि अंग्रेजी बोल रहा है। इसी को अवश होना कहते हैं। इसी प्रकार योगभ्रष्ट को कोई सांसारिक सामान्य किसी कारण से यदि संसार की तरफ खींचे भी तो एक-आध कदम लेते ही उसको साधना के संस्कारों के कारण विरक्ति हो जाती है। योगभ्रष्ट साधना की ओर ही ले जाया जाता है, जहाँ पैदा हुआ वहाँ के भी वे ही संस्कार हैं एवम् पूर्वार्जित भी वे ही उद्बुद्ध हुए, इसलिये अतितीव्र प्रगति कर पाता है।

एक शंका होती हैः योगाभ्यास के संस्कार से अगर अधर्मादि-लक्षण कर्मों के संस्कार बल वाले होवें, तब क्या होग? योगभ्रष्ट है, इसलिए कुछ तो अभ्यास की कमी है ही, अर्थात् दूसरे संस्कार भी हैं ही; तो क्या उनसे योग के संस्कार अभिभूत हो जाते हैं? समाधान समझना चाहिये कि ऐसे अभिभव की प्राप्ति होने पर भी जैसे ही उस अधर्म के संस्कार का क्षय होता है वैसे ही तुरंत योग के संस्कार बलवत्तर होने से प्रकट हो जाते हैं अर्थात् हर हालत में योग के संस्कार ही बलवान् पड़ते हैं। ऐसा क्यों है? 'योगस्य जिज्ञासुरपि शब्दब्रह्मातिवर्तते' परमात्मा के मार्ग में चलने वाला जो अभी जिज्ञासु ही है वह भी शब्द-ब्रह्म को लाँघ जाता है। जो योगभ्रष्ट है वह जिज्ञासु है ही क्योंकि तभी संन्यास के बावजूद अभ्यास की कमी से योगभ्रष्ट हुआ। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद। वेद में कहे हुए जितने कर्म और उपासना के वाक्य हैं उन सब को 'अतिवर्तते', उनसे परे हो जाता है। योग के संस्कार अन्य सब से अत्यन्त प्रबल पड़ते हैं। देखा जाता है कि जो इस मार्ग के अंदर जिज्ञासु होकर प्रवृत्त हो गया, वह कभी किसी विषय की कामना से प्रवृत्त होकर उस विषय की तरफ जाता ज़रूर है लेकिन जाने के साथ ही या थोड़ा आगे चल करके ही तुरंत उसके मन में आता है 'अरे! इतनी झंझट करने की अपेक्षा छोड़ो, इसमें क्या रखा है।' प्रत्येक सत्संगी को यह बात अनुभव में आती है। जो लोग सत्संगी नहीं हैं, वे जितना खुलकर संसार के पदार्थों की तरफ दौड़ते हैं, वैसा सत्संगी नहीं दौड़ पाता। वैराग्य की ऐसी पूर्णता तो नहीं है कि सर्वथा प्रवृत्त न

होवे, लेकिन प्रवृत्ति की तेज़ी को सत्संग रोक लेता है। झूठ बोलने की मन में आती है, छोटा-मोटा झूठ बोल भी लेते हैं, लेकिन जब बिल्कुल बड़े झूठ को बोलने की बात आती है तब कहता है 'अरे! इतना झूठ तो नहीं बोलेंगे।' *इतने* झूठ से बचाने वाला सत्संग ही है। इसलिए कहा कि जो जिज्ञासु भी इस रास्ते में चल पड़ा है वह भी कर्म-उपासना के संस्कारों से तो आगे चला ही जाता है तब योगभ्रष्ट उसको 'अतिवर्तते' पार कर जाता है इसमें कहना ही क्या है! कर्मादि संस्कारों को वह सर्वथा जीत ही लेता है और अवश हुआ फिर उसी प्रवृत्ति में लग जाता है जिसमें पूर्वभव में लगा था क्योंकि उसी के संस्कार बाकी सब कर्म-उपासनाओं के संस्कारों से प्रबल पड़ जाते हैं।

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न का मूलभूत उत्तर भगवान् ने दे दिया : अर्जुन का संशय था कि जैसे टूटा हुआ बादल हवा में खत्म हो जाता है इसी प्रकार कर्म और उपासना छोड़ चुका और ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त न कर पाया साधक क्या सर्वथा नष्ट हो जाता है? भगवान् ने जवाब दिया कि कोई भी कल्याण करने वाला इस प्रकार से दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कह दिया कि इस मार्ग के अंदर जिसको जानने की इच्छा भी हो गई, जिज्ञासु भी हो गया, परमात्म-मार्ग पर चल पड़ा, वह भी बाकी सारे जितने शास्त्रीय कर्म और उपासनायें हैं, उनसे आगे चला जाता है।।४४।।

और भी कहते हैं कि योगी क्यों दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

प्रयत्नतः प्रयास करता रहने वाला योगी पापों से निवृत हो अनेक जन्मों में एकत्र प्रभूत संस्कारों से सम्पन्न होकर उनके बल पर सम्यग्ज्ञान पाकर परम गति प्राप्त करता है।

'प्रयत्नाद्यतमानः' जो जिज्ञासु होकर रुक नहीं जाता, वरन् प्रयत्नपूर्वक यत्न करने वाला है वह मोक्ष पाता है। 'जिज्ञासु भी कर्म-क्षेत्र से बाहर हो जाता है' कहकर ध्वनित की गयी जो ज्ञानी की श्रेष्ठता, उसे यहाँ मुखतः कह दिया। 'तु' से पक्ष-व्यावृत्त कर दिया कि जिज्ञासु नहीं, वरन् प्रयत्नपूर्वक साधनाभ्यासी की बात कर रहे हैं। उस योगी के 'संशुद्धकिल्बिषः' जितने पाप हैं सब नष्ट होते चले जाते हैं। यहाँ पाप से पुण्य भी समझ लेने चाहिए क्योंकि जैसे पाप नरकादि योनियों में ले जाने के कारण बनते हैं, जन्म-मरण से छुटकारा देते नहीं, ऐसे ही पुण्य स्वर्ग आदि में ले जाने के कारण हैं, जन्म-मरण से छुटकारा वे भी नहीं देते। योगी के सारे पाप-पुण्य नष्ट होते चले जाते हैं। जो प्रयत्न से यत्न कर रहा है परंतु सफलता नहीं मिलती है वह 'अनेकजन्मसंसिद्धः' होगा। कुछ किल्बिष इस जन्म में नष्ट हो जायेंगे, कुछ किल्बिष अगले जन्म में नष्ट

हो जायेंगे, कुछ किल्बिष उससे अगले जन्म में नष्ट हो जायेंगे, इस प्रकार एक जन्म में पर्याप्त न होने पर भी पुनः पुनः अभ्यास से संस्कार बलवत्तर होते हैं। हर अगले जन्म में वे संस्कार ही उद्बुद्ध होकर उसको उधर ही प्रवृत्ति कराते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संस्कार इकट्ठे हो जाते हैं और अनेक जन्मों में उसको संसिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। अनेक जन्मों में धीरे-धीरे प्रयत्न करते हुए वह सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लेता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर लेता है।

यहाँ 'अनेक' शब्द का प्रयोग है। अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक; 'न' मायने नहीं है एक; अर्थात् एक से ज़्यादा। परंतु संस्कृत भाषा में तीन वचन हैं एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। हिन्दी में तो दो ही वचन हैं, अतः एक नहीं तो बहुत हैं किंतु संस्कृत के अंदर एक नहीं होने मात्र से बहुत नहीं होते हैं। एक नहीं तो दो हो जाते हैं, दो से ज़्यादा हों तो उन्हें बहुवचन से कहते हैं। इसलिऐ जहाँ बहुवचन का प्रयोग वेद में आ जाता है वहाँ प्रश्न होता है कितने समझे जायें? यही निर्णय है कि दो से अधिक तीन होने पर ही बहुवचन गतार्थ हो जाता है अतः बहुवचन-मात्र से समझनी पड़े तो तीन-संख्या समझनी चाहिये। यदि संख्या कही हुई है तब तो उतनी आवृत्ति आदि समझेंगे, परंतु केवल बहुवचन दिया है तो तीन ही समझेंगे। अतः अनेक आचार्यों ने माना है कि 'अनेकजन्म-संसिद्ध' अर्थात् साधक तीन जन्मों में सिद्ध हो ही जाता है। ऐसे कई दृष्टान्त भी मिलते हैं : भरत-रूप में एक जन्म, उसके बाद मृग शरीर में दूसरा जन्म और तीसरे जडभरत जन्म में वे सिद्ध हो गये। हर हालत में, चाहे तीन मानो, चाहे तीन से ज़्यादा जन्म मानो, इतना निश्चित है कि एक बार जो जिज्ञासु हो गया और यतमान हो गया, प्रयत्नपूर्वक लग गया साधना करने में, उसे चाहे कितने भी जन्म लगें, संसिद्ध हो ज़रूर जाता है, इसमें संदेह नहीं है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन को प्राप्त करके 'ततः' अर्थात् उस सम्यक् दर्शन से सिद्ध होकर 'पराम् गतिम् याति' जो मोक्ष-रूप ब्रह्मसंस्थत्व है, ब्रह्मनिष्ठत्व है, उसको प्राप्त कर लेता है। गति का अर्थ जाना भी होता है और ज्ञान भी। हिंदी में भी 'जाना' के दोनों अर्थ होते हैं 'मैंने जाना' और 'मुझे वहाँ जाना है'; 'मुझे वहाँ जाना है' इसमें जाना का मतलब गति है और 'मैंने जाना' इसमें मतलब ज्ञान है। ऐसे ही संस्कृत में 'गति' के दोनों अर्थ हो जाते हैं। जो संसिद्ध हो गया, ब्रह्मनिष्ठ हो गया, उसके बारे में वेद कहता है 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उसका मर कर कहीं जाना होता नहीं। अतः अभिप्राय है कि उस परम ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जिस ज्ञान के बारे में वेद स्पष्ट कहता है कि उसे जानने के बाद फिर और कुछ बेजाना नहीं रह जाता, उसको जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। इसीलिए वह परम ज्ञान है। उस परम ज्ञान के फलस्वरूप वह परम ब्रह्मसंस्थत्व को प्राप्त कर लेता है।।४५।।

भगवान् ने बतलाया कि जितने कर्मादि होते हैं वे पूर्ण हो जाएँ तब तो फल होता

है और पूर्ण न होवें तो विफल चले जाते हैं। तुम यहाँ से हरिद्वार गंगास्नान करने गए। वहाँ पहुँच कर स्नान कर लिया तब तो पुण्य हो गया, परंतु लक्सर पहुँचते-पहुँचते तुम थक गए और वापिस आ गए तो तुम्हारे हाथ कुछ नहीं आएगा। इसी प्रकार युद्ध करने लग गए और युद्ध पूरा हो गया, तब तो उसका फल मिल जाएगा पर यदि बीच में ही कोई विघ्न आ गया और युद्ध पूरा नहीं हुआ तो जितना तुमने आधा-चौथाई युद्ध किया वह सब बेकार जायेगा। परंतु परमात्मा की प्राप्ति की साधना में लग कर सर्वकर्मत्याग-पूर्वक जो योगाभ्यास है उसकी यह विशेषता है कि जितना कर लिया, उतना आगे के लिए लाभदायक हो जाता है, जितना करते हो उतना भी सफल है क्योंकि तुमको बार-बार भगवान् मौका देते रहते हैं जिससे जितने समय में तुम कर पाओ उतना तुम्हें उपलब्ध हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में चलने वालों की यह विशेषता बतलाई। ज्ञान के रास्ते में यही बात होती है क्योंकि ज्ञान से तुम्हारे अन्तःकरण में संस्कार बनेंगे और जितने संस्कार बनेंगे उतनी उनकी दृढता होगी, वे व्यर्थ नहीं जाएँगे। चूंकि इस प्रकार से इस रास्ते में तुमको बार-बार बढ़ने का मौका मिलता रहता है इसलिए भगवान् कहते हैं

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

हे अर्जुन! तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से भी योगी श्रेष्ठ है अतः योगी बनो।

चान्द्रायणादि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के पाप को नष्ट करने के साधन अर्थात् प्रायश्चित्त के रूप में शास्त्र में वर्णित तप हैं, उन सबसे ज़्यादा फल योग से हो जाता है। इसीलिए महाराजा मनु ने लिखा है कि पाप को प्राणायाम के द्वारा नष्ट किया जाता है। कई जगह बतलाया है कि अमुक गलती होवे तो सौ प्राणायाम कर लेवे, अमुक गलती होवे तो दो सौ प्राणायाम कर लेवे आदि। इसी प्रकार से सर्दी के मौसम में गंगा जी में गोता लगाना तप है। ठंड के मौसम में माघ के महीने में संगम में जाकर गोता लगाते हैं तो पापों को नष्ट करता है। संन्यासियों के अखाड़ों में अभी तक ऐसा होता है किसी से कोई ग़लती होती है तो पंच निर्णय कर देते हैं 'जाओ, सौ डुबकी लगा कर आओ।' इससे गलती का प्रायश्चित्त हो जाता है। इसी प्रकार पञ्चाग्नि तपते हैं, अपने चारों तरफ आग जला लेते हैं, ऊपर से सूर्य की गर्मी रहती है। जितने तप बतलाए हैं उन सबकी अपेक्षा योग का जो अभ्यास है, वह अधिक फल देता है अर्थात् अधिक पापों को नष्ट करता है।

भगवान् कहते हैं कि खाली तपस्वी से ही नहीं, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है। यहाँ ज्ञान अर्थात् शास्त्रों का पांडित्य। शास्त्रज्ञान की अपेक्षा भी योग का फल अधिक है। चाहे उपनिषदों का ही पाण्डित्य प्राप्त कर लो परंतु जो उपनिषदों में बताई बातों का

ज्ञान योगाभ्यास के द्वारा अप्रतिबद्ध कर लेता है, वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि कर्मों के बड़े फल बतलाए हैं। अग्निहोत्र-मात्र से भी स्वर्ग की प्राप्ति बतलायी है। दर्शपौर्णमास से स्वर्ग फल बतलाया है। उन सब फलों को योगी योग की पूर्ण सिद्धि न होने पर भी पा लेता है। अभी दो चार श्लोक पहले ही कहा था 'प्राप्यपुण्यकृतां लोकान्'। संगोपांग अग्निहोत्रादि यावत् जीवन करके कर्मी स्वर्गादि जाता है जबकि योगी असफल होकर भी वहाँ चला जाता है अतः उससे भी अधिक ही है।

योग चूंकि कर्म, ज्ञान और तपस्या से भी अधिक है इसलिए हे अर्जुन! तुम योग का अभ्यास करो।।४६।।

यहाँ तक भगवान् ने कर्म का और ध्यानयोग का निरूपण किया। अब, जिसका ध्यान करना है उसे बतलाएँगे। ध्यान-योग कैसे किया जाए यह तो छठे अध्याय में बतला दिया, लेकिन किसका ध्यान किया जाए यह बताना बाकी है। ध्यान तो किसी भी चीज़ का किया जा सकता है। लौकिक लोग पुत्र-पत्नी का ही ध्यान करते हैं! आजकल के लोग अधिकतर नोटों का ही ध्यान करते हैं। कई व्यापारी हिसाब का ही ध्यान करते हैं, रात में बारह बजे तक बैठ कर हिसाब पूरा करते हैं। अच्छे लोग कर्माङ्ग ध्यान कर लेते हैं; बहुत-से कर्मों के अंग रूप से ध्यान बतलाया है। जैसे, तुम पूजा करने बैठो तो पहले ही पहले गणेश जी का ध्यान करो। पूजा का एक अंग ध्यान है। प्राणादि का भी ध्यान किया जाता है, स्वरोदय-शास्त्र के अनुसर्ता प्राणों का ध्यान करते हैं। कुछ ध्यान इह लोक में फल देने वाले हैं, कोई परलोक में फल देने वाले हैं। अतः भगवान् जिस योग को बतला रहे हैं उसमें किसका ध्यान करना है, इसको बतलाना ज़रूरी है। उसकी भूमिका बनाते हैं

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

।।ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः।।

जो श्रद्धालु मुझ में समाहित अन्तःकरण द्वारा मेरा भजन करता है वह मुझे सभी योगियों में श्रेष्ठ योगी स्वीकृत है।

जितने योगी हैं चाहे कर्माङ्ग ध्यान करने वाले हैं, चाहे इह लौकिक विषय का ध्यान करने वाले हैं, चाहे देवता-विशेषों का ध्यान करने वाले हैं, चाहे प्राणादि का ध्यान करने वाले हैं, सारे ही योगियों में श्रेष्ठ कौन है? जिसका अन्तरात्मा अर्थात् अन्तःकरण 'मद्गत' है। परमात्मा ही अहम्-प्रत्यय से मिल कर एक है। 'मिल कर एक'

केवल योग शब्द के अनुरोध से कह रहे हैं। जैसे कहते हैं 'जो तुमने साँप देखा वह रस्सी ही था'। इसका मतलब होता है कि साँप नहीं था, रस्सी थी। इसी प्रकार तुम अहम् पद से जिसको कर्त्ता-भोक्ता समझ रहे हो, वही पर-ब्रह्म परमात्मा है। कहने में तो आया कि कर्त्ता-भोक्ता और परमात्मा एक है, लेकिन तात्पर्य है कि कर्ता-भोक्त नहीं ही है, केवल परमात्मा ही है। ऐसा जो मैं अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ, उसके अंदर ही मन समाहित करना है, अर्थात् वही ध्येय है, अन्तरात्मा। अन्तःकरण से ही उसको जानते हो। अन्तःकरण में ही ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। जिस प्रकार दीयासलाई के जलते ही दीपक जल जाता है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के बनते ही 'मैं सच्चिदानन्द परब्रह्म हूँ' यह प्रकट हो जाता है। जैसे दीपक तो अपनी ज्योति से ही प्रकाशित होता है परंतु दीया-सलाई घिसने को प्रकाश के प्रति कारण कह देते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति के बनने से ज्ञान नहीं होता, परमात्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, वही प्रकट हो जाता है, परंतु वृत्ति के बनते ही ढाँकने वाला अज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिए कहा जाता है कि वृत्ति से ज्ञान हुआ।

इसका प्रधान साधन क्या है? 'श्रद्धावान्' परमात्मा के इस रूप में श्रद्धा प्रधान साधन है। श्रद्धा अर्थात् यह निश्चय कि 'वेदादि सत्-शास्त्र ठीक की कहते हैं कि मैं वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता नहीं, वासुदेव ही हूँ।' वेद कहता है, परंतु वेद का अर्थ समझने के लिए श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा के बिना वाक्य पढ़ने पर भी ज्ञान नहीं होता। परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि वाक्य सुनते ही सब विरोधी प्रत्यय उपस्थित हो जाते हैं, लगता है 'मैं दीन-हीन, अनादि काल से संसार के चक्र में पड़ा हुआ, मैं कैसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हो सकता हूँ?' वेद ने ऐसा नहीं कहा कि तुम ब्रह्म हो *जाओगे*। अगर यह कहा होता तब तो ठीक था; कुछ करने से हम ब्रह्म हो जाते। किंतु वेद ने कहा कि तुम *ब्रह्म* हो, इसी क्षण हो, जैसे हो वैसे ही ब्रह्म हो। जब तक वेदवाक्य पर पूर्ण श्रद्धा न होवे, तब तक इसका ध्यान बनेगा ही नहीं। इसीलिए इससे घबरा कर अनेक सम्प्रदाय बने जो प्रयत्न करते हैं कि 'तत्त्वमसि' का उक्त अर्थ नहीं है। कोई कहता है 'तू ईश्वर का दास है इसलिए 'तत्त्वमसि' कह दिया', कोई कहता है 'तू ईश्वर का हिस्सा है इसलिए 'तत्त्वमसि' कह दिया' इत्यादि। अनेक प्रकार के जो वाद हैं उनका आधर यही है कि वेद तो कहता है पर विरोधी प्रत्यय इतने हैं कि उसे मानना कठिन हो जाता है। जिसको वेदवाक्य पर अत्यन्त विश्वास है, वह तो मानेगा कि हमारे जितने अनुभव हैं वे गलत हो सकते हैं, वेद गलत नहीं हो सकता। वेद-वाक्य कह रहा है कि हमारे सब अनुभव मिथ्या हैं। हमारे जन्म से लेकर के आज तक के जितने अनुभव हैं, वे सभी हमें यही बतलाते हैं कि मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मैं जन्मने-मरने वाला हूँ। वेदान्त कहता है कि मैं अनादि हूँ, जन्म-मरण का प्रश्न ही नहीं है। सारे ही अनुभवों से विरुद्ध बात वेद कह रहा है, परंतु जिसको श्रद्धा है वह जानता है कि वेद ही ठीक कह रहा

है, हमारे सारे अनुभव गलत हैं। श्रद्धा वाला होगा तभी इस ध्यान-योग में लगेगा, नहीं तो कहेगा, 'ये सब फालतू बाते हैं!' शास्त्रों में बताया है कि इंद्र से कहो 'मैं इंद्र हूँ' या आदित्य से कहो 'मैं आदित्य हूँ' तो वे तुमको दंडित करेंगे। लोक में भी यदि मैं कहूँ कि 'मैं एस.पी. हूँ' तो एस.पी. पकड़ कर मुझे जेल में बंद करेगा कि झूठी बात बोल रहा है। इसी प्रकार बाकी जितने देवता हैं उनको यदि कहो कि 'मैं ही तुम्हारे पद वाला देवता हूँ' तो वे सब तुमको दंडित करेंगे। एक शिव ही ऐसे हैं जिनसे कहो 'शिवोहम्' तो प्रसन्न होते हैं। यह परमात्मा की ही विशेषता है, परमेश्वर की ही विशेषता है। अतः भगवान् ने 'मद्गतेनान्तरात्मना' कहा कि जिसका अन्तरात्मा मुझमें प्रविष्ट है, मुझसे अभिन्न है, वही श्रेष्ठ है। ध्यान-योग का प्रयोग जो 'तत्त्वमसि' के दृढ साक्षात्कार के लिये करता है वही योगियों के अंदर सबसे श्रेष्ठ है।

इस अध्याय के अंदर प्रारम्भ किया कर्म से, कर्मयोगी को ही संन्यासी और योगी कहा। उस कर्मयोगी की मर्यादा बतलाई कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाए तब तक इसका अभ्यास करे। अन्तःकरण की शुद्धि का पता कैसे लगे? वैराग्य से, क्योंकि अन्तःकरण की अशुद्धि राग ही है। जब कर्मयोग के अभ्यास से वैराग्य की प्राप्ति हो जाए तब ध्यान कैसे किया जाए यह वर्णन किया। और अन्त में बतलाया कि युक्ततम होने के लिए भगवान् का ध्यान कैसे किया जाए। इस पर अर्जुन का प्रश्न तो बनता था कि 'मद्गतेन' में 'मत्' कौन है? सामने खड़ा हुआ वसुदेव-देवकी से पैदा हुआ शरीर है, अथवा इसके अंदर आया हुआ विष्णु देवता है, अथवा सच्चिदानन्द-रूप है? अर्जुन का यह प्रश्न बनता था, परंतु वह पूछ न सका। फिर भी भगवान् अत्यन्त दयालु गुरु हैं, इसलिए उसके बिना पूछे ही उस पर अनुग्रह कर यह रहस्य अगले अध्याय में बतलायेंगे।।४७।।

।।छठा अध्याय।।

ॐ

सातवाँ अध्याय : ज्ञानविज्ञानयोग

गीता के पहले छह अध्याय प्रधानरूप से कर्मसंन्यासरूप साधन को एवं त्वम्पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। सातवें से बारहवें अध्याय तक उपास्य तत्त्व को, तत्पद के अर्थ को समझाया जायेगा। छठे अध्याय की समाप्ति में 'मद्गतेन' शब्द से सातवें अध्याय की भूमिका बाँध दी थी। अर्जुन को जो जिज्ञासा होना उचित है उसका समाधान करते हुए अस्मत्-शब्दार्थ, 'मद्' से कहे तत्त्व का वर्णन करेंगे एवं उसमें समाहित मन वाला कैसे हुआ जाये यह समझायेंगे।

अर्जुन के प्रश्न की प्रतीक्षा किये बिना उस पर अनुग्रह करते हुए

श्रीभगवान् उवाच
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

भगवान् ने कहा 'हे पार्थ! मुझमें आसक्त मन वाले होकर और मुझे ही अपना आश्रय बनाकर मनका समाधान करते हुए समग्रता से मुझे जिस तरह निःसन्देह जानोगे वह सुनो।'

'मद्गतेन' में जो 'मद्' अर्थात् अस्मत्-शब्द का अर्थ मैं हूँ, 'मां' उसको 'यथा ज्ञास्यसि', जिस प्रकार से तू जानेगा, अर्थात् योग के द्वारा साक्षात् अनुभव करेगा, वह सुन। करेगा कैसे? पहले कहा 'मय्यासक्तमनाः' जो मेरा स्वरूप है, जिसे मैं आगे बतलाने जा रहा हूँ, उसके अंदर आसक्त मन वाला हो कर ही जान पायेगा। योग दो तरह से होता है एक तो, जबरदस्ती से ध्यान लगाओ। दूसरा, जिस पर ध्यान लगा रहे हो, वह तुम्हें अच्छा लगता हो। इसलिये भगवान् पतंजलि ने अनेक चीज़ों के ध्यान का निरूपण किया है पर साथ में उन्होंने यह भी कहा 'यथाऽभिमताद् ध्यानाद् वा', जो तुम को खूब अच्छा लगे उसी का ध्यान करो। जिसमें मन लग जाता है, आसक्त हो जाता है उसका ध्यान करना सरल हो जाता है। शास्त्रकारों ने बतलाया है कि कोई

ध्यान सीखने आया, उसको ध्यान बताया पर उससे ध्यान लगे ही नहीं। जब कई बार नहीं लगा तब गुरु जी ने पूछा 'अरे! तैने संसार में किसी से प्रेम किया है?' उसने कहा 'किसी और चीज़ में तो मेरा मन नहीं जाता है, परंतु मेरी एक भैंस थी, बड़ी सुंदर थी, मैं आया तब वह ब्याने वाली थी। बाकी तो मेरे मन में कुछ नहीं आता है, लेकिन बार-बार यही आता है कि वह ब्यायी कि नहीं और उसके पाड़ा हुआ या पाड़ी? केवल उस भैंस की ओर बार-बार मेरा मन जाता है।' गुरु जी ने उससे कहा 'तू उस भैंस का ही ध्यान कर।' तब उसका मन लग गया! भैंस का ध्यान करने लगा तो चित्त एकाग्र हो गया। संसारी लोग सांसारिक व्यक्तियों और पदार्थों में आसक्त मन वाले हैं। मनुष्यों में, देवताओं में या अन्यत्र मन आसक्त रहता है। जिसका मन अहम्-पदार्थ में ही अत्यंत आसक्त है वह 'मय्यासक्तमनाः' है। वह चाहता है कि आखिर मैं कौन हूँ   यह तो पता लगे। कर्ता भोक्तापने में तो सबकी आसक्ति हर समय रहती है। परंतु मैं खुद में कैसा है   इसे जानने में और उसी शुद्ध स्वरूप में प्रायः आसक्ति नहीं होती। मैं-पदार्थ के अंदर स्वाभाविक आसक्ति लोगों की है ही। कहने को कह देते हैं बहुत से लोग, 'मैं अपने लिये तो कोई चिंता नहीं करता, पर घर के बाल-बच्चों के लिये करता हूँ।' इतने ज़ोर-ज़ोर से कहते हैं कि उन्हें बुरा न लगे इसलिये 'हाँ' भी लोग कह देते हैं। परंतु आखिर घर वालों के लिये भी तो इसीलिये चाहते हैं कि *उनके* घर वालों को सुख होगा तो उनके मन में शांति आयेगी। 'हमें शांति मिले' यही न उनका प्राप्तव्य है। जो लोग प्रेमी या प्रेमिका के पीछे आत्महत्या कर लेते हैं वे भी इसीलिये कि उस प्रेमी या प्रेमिका को पा न सकने से वे स्वयं दुःखी होते हैं, अपने ही दुःख को दूर करने की मंशा से वे मरते हैं, दूसरे के लिये मरते हों ऐसा नहीं। 'मैं दुख से छूटूं'   यही चाहते हैं। अंदर घुस कर देखोगे तो पाओगे कि सबका अपने अंदर ही चित्त आसक्त है। लेकिन अपने किस रूप में? मन सहित जो अपना कर्त्ता-भोक्ता रूप है उसमें। सुख दुःख आदि का अनुभव मन सहित आत्मा में ही होता है। कर्त्ता भोक्ता वही है। इस तरह अस्मत् प्रत्यय में आसक्ति तो सबकी है, परंतु उसके शुद्ध रूप में नहीं। सचमुच में मैं जो हूँ, उसमें आसक्ति नहीं है। 'मय्यासक्तमनाः' का मतलब है कि सचमुच में जो चेतन है, मेरी वास्तविकता है, उसके प्रति जो आसक्त मन वाला है। श्रद्धावान् होगा, तभी ऐसा होगा। अश्रद्धालु तो मानता है कि मैं कर्त्ता-भोक्ता ही हूँ। मन वाले रूप को ही 'मैं' मानता है और मन वाले रूप में ही आसक्त है। परंतु श्रद्धा वाला व्यक्ति वेदवाक्य से जानता है, कि यह मेरा असली रूप नहीं है। इसलिये वह शुद्ध रूप को ही चाहता है और है वह मैं, जिसके प्रति आसक्ति स्वाभाविक है। 'मय्यासक्तमनाः'   जो परमेश्वर का आगे रूप बतलायेंगे उस रूप में जिसका मन आसक्त है।

'योगं युञ्जन्' योगाभ्यास, मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुए। बहुधा मनुष्य का मन किसी में आसक्त होता है, आश्रय किसी और का लेता है। मन आसक्त

तो है बढ़िया दाल का सीरा खाने में। पर आश्रय लेता है सौ रुपया के नोट का। कहीं किसी परिस्थिति में जन का आश्रय लेता है। सांसारिक प्राप्तियों के लिये भिन्न-भिन्न चीज़ों का आश्रय लेता है। स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये कर्म का आश्रय लेता है ये कर्म करेंगे तो स्वर्ग जायेंगे। जो युक्ततम है, इसके लिये आश्रय कौन है? 'मदाश्रयः,' जिस परमेश्वर में इसका मन आसक्त है, उस परमेश्वर का ही आश्रय लेता है अर्थात् अन्य सारे आश्रयों को छोड़ देता है। इसलिये धन का परिग्रह, कर्म उपासना का साधन, इन सब आश्रयों को छोड़ देता है। परब्रह्म परमात्मा ही उसका आश्रय है। अन्य सारे आश्रयों को छोड़ना भी युक्ततम बनने के लिये ज़रूरी है। गोरखनाथ जी एक बार सिंहल गये अपने शिष्य के साथ। वहाँ पर सोने के ही मकान, सोने की ही ईंटें, सब कुछ सोने का ही बना हुआ था। वहाँ से वापिस आने का समय हुआ तो चेले ने सोचा कि सोना तो सारा यहीं छूट जायेगा, ले जायेंगे तो कुछ काम आयेगा। एक ईंट उठाकर उसने अपने झोले में रख ली, कि कभी ज़रूरत पड़ेगी तो काम आयेगा। झोले में सोने की ईंट हो गई, तो हमेशा उसको संभालकर रखने लगा। नहाने को डुबकी भी लगाने जाना हो तो, कहे 'गुरुजी, ज़रा झोले का ध्यान रखियेगा।' गोरखनाथ जी ने सोचा कि ऐसा क्या है इसके पास कि इस पर इतना ख्याल रखता है? चार-पाँच दिनों के बाद, उनके मन में जिज्ञासा हुई, उन्होंने झोले को खोल कर अंदर देखा, तो सोने की ईंट रखी हुई थी। उन्होंने सोचा कि वहाँ से सोने की ईंट उठा लाया, कैसा बेवकूफ है! मैं इसके साथ हूँ मुझे पहचानता नहीं, सोने की ईंट उठा लाया, इसका आश्रय ले रहा है। गोरखनाथ जी उस शिष्य से प्रेम करते थे। अगले दिन कहीं दूसरी जगह जाने के लिये चल रहे थे तो रास्ते में उन्होंने उससे कहा, 'मैं, ज़रा लघुशंका करके आता हूँ।' शिष्य खड़ा रह गया। वे चट्टान के ऊपर गये और वहाँ उन्होंने लघुशंका कर दी, तो सारी चट्टान सोने की हो गई! आकर शिष्य से कहा 'अब उठा ले इसको! क्या एक बूंद को लेकर चल रहा है!' अब शिष्य की आँखें खुलीं कि जिस ईंट को मैं इतनी कीमती समझ रहा हूँ वह तो इनके लिये पेशाब की बूंद से ज़्यादा कीमत वाली चीज़ है नहीं। ईंट उठा कर फेंक दी।

इसी प्रकार जितने संसार के पदार्थ हैं सब परमेश्वर के एक संकल्पमात्र से उत्पन्न होने वाले हैं। अतः जो परमेश्वर में आसक्त मन वाला होगा, वह उसके आश्रय के अंदर ही रहेगा, और कोई दूसरा आश्रय नहीं लेगा। जब ऐसा होता है, तब 'समग्रम् असंशयं मां ज्ञास्यसि', मेरे समग्र रूप को संदेहग्रस्त हुए बिना जान लेगा, जिस रूप का वर्णन आगे करने वाले हैं, उसको ठीक तरह से जान सकेगा। ऐसा भगवदाश्रय वाला होना सरल नहीं है। एक दृष्टांत आता है कि एक बार भगवान् खड़े हुऐ, फिर बैठ गये। लक्ष्मी जी ने पूछा, 'खड़े होकर आप बैठ गये, बात क्या है?' कहने लगे, 'एक भक्त था, उसके ऊपर शेर झपटा तो उसने कहा 'हे राम!' मैंने सोचा कि मैं जाऊँ मदद करने

के लिये; तब तक उसने तो ईंट उठा ली! जब ईंट ही उठा ली तो अब मैं जाकर क्या करूँ, उसको तो सहारा मिल गया।' अंग्रेज़ लोगों का आश्रय लेना भी ऐसा ही है, इसलिये वे लोग कहते हैं 'Trust in God but keep your powder dry' लड़ाई लड़ने के लिए ईश्वर पर तो भरोसा रखो ही लेकिन अपना जो बारूद है उसको सूखा रखना, उसको गीला नहीं होने देना। सूखे बारूद से ही मार कर सकते हो, गीले से नहीं। ऐसे लोग भगवान् की सम्पूर्णता को नहीं जान सकते। समग्र रूप अर्थात् जो भगवान् की विभूति है, बल है, शक्ति है, ऐश्वर्य है, इन सब गुणों से सम्पन्न जो परमात्मा है वह आश्रय न हुआ तो संशय-युक्त ही ज्ञान रहेगा। भगवान् वेदव्यास ने भी बताया कि परमात्मा कौन है? जो सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। किसी एक चीज़ की सृष्टि करने वाला नहीं, जहाँ भी जो कुछ पैदा होता है, परमात्मा ही उस रूप में अपने को पैदा करता है। जब तक वह अपने को उस रूप में रखता है, तभी तक उसका रक्षण है। जब उस रूप को वह अपने में लीन कर लेता है, तब वही उसको लय करने वाला है। कण-कण और क्षण-क्षण के सृष्टि-स्थिति-लय वही करता है। जो भगवान् पर आश्रित नहीं हो पाता उसे संशय बना रहता है कि सृष्टि के आदि में तो परमेश्वर ने जगत् उत्पन्न कर दिया, अब बुड्ढा हो गया, 'रिटायर' हो गया होगा! अब तो देवता, नक्षत्र और आजकल के ज़माने में इनकम टैक्स ऑफीसर, इन्हीं को खुश करके काम होगा, भगवान् को खुश करके क्या होगा! जो निःसंशय नहीं जानता है, वह ऐसा समझता है : भगवान् बहुत बड़े हैं, उन्होंने सृष्टि की, एक दिन संहार भी करेंगे, परंतु बाकी कामों के लिये तो और चीज़ें ज़रूरी हैं। भगवदासक्त मन वाला और उन्हीं पर आश्रित योगी उन्हें समग्र जान पाता है इसलिये भगवान् की विभूति भी इस अध्याय में बतलायेंगे, भगवान् के बल, शक्ति, सबका निरूपण करेंगे। जगत् का एकमात्र कारण परमेश्वर ही है ऐसा जो परमेश्वर का समग्र ज्ञान है वह जैसे होगा वह तरीका भगवान् बतलाने जा रहे हैं।।१।।

भगवान् ने कहा 'ज्ञास्यसि' अर्थात् भविष्य में जानेगा। इससे लग सकता है कि यदि आत्मतत्त्व (अस्मत्-पदार्थ) नित्य अपरोक्ष होता तो उसका वर्तमान में भी ज्ञान हो ही रहा होता अतः भगवान् भविष्य के ज्ञान की बात न करते, इसलिये वह तत्त्व नित्य अपरोक्ष न होने से भविष्य में भी उसका ज्ञान परोक्ष की हुआ करता होगा। किंतु तब वह ज्ञान अपरोक्ष होते अज्ञान तत्कार्यों का बाध न कर सकने से मोक्षप्रद नहीं होगा। इसलिये भगवान् स्पष्ट कर देते हैं कि वे अपरोक्ष ज्ञान की ही बात कर रहे हैं

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यद् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते।।२।।

तुझे यह स्वानुभवयुक्त ज्ञान पूर्णतः बताऊँगा जिसे जानकर व्यवहार-भूमि में फिर

और कुछ जानने लायक नहीं रह जाता।

आत्मवस्तु स्वयं भी ज्ञान है और इसे विषय करने वाली मनोवृत्ति भी ज्ञान कही जाती है। आत्मरूप ज्ञान स्वरूप से ही अपरोक्ष है क्योंकि प्रत्यक् है, अभिन्न है। अतः वेदान्तमतानुसार वही विषय भी अपरोक्ष कहा जाता है जो प्रमातृचैतन्य से अभिन्न हो और वही ज्ञान अपरोक्ष कहा जाता है जिसका स्वरूप है प्रमाण और विषय चैतन्यों का अभेद। इसलिये विषय की, पदार्थ की अपरोक्षता की परिभाषा की जाती है अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्नता। चैतन्य में तो अभिन्नता स्वाभाविक है जबकि जड वस्तुओं में इसलिये अभेद होता है कि वे चैतन्य पर ही अध्यस्त होती हैं। इस प्रकार, आत्मा का स्वरूप ही अपरोक्ष ज्ञान है अतः उसकी प्रमा अपरोक्ष ज्ञानरूप ही होना उचित है क्योंकि अपरोक्ष वस्तु की अपरोक्षता का भान हुए बिना उसका अज्ञान मिटता नहीं। इसलिये 'जानेगा' से जो ज्ञान भगवान् ने कहा वह ज्ञानरूप आत्मा का विज्ञान अर्थात् स्वानुभव, अपरोक्ष ही है। 'इदं ज्ञानं' यह ज्ञान बताऊँगा यों इदं-शब्द से ('यह'-शब्द से) ज्ञान की स्वाभाविक अपरोक्षता सूचित की अर्थात् ज्ञान वस्तु ही ऐसी है जो परोक्ष नहीं होती। फिर भी आत्मा के परोक्ष ज्ञान की चर्चा होती है, वह इस दृष्टि से कि जब तक असंभावना आदि से प्रतिबद्ध रहता है तब तक अपरोक्ष भी ज्ञान अविद्यानिवृत्तिरूप फल नहीं पैदा करता अतः मानो परोक्ष है। विचार आदि से प्रतिबंधक मिट जाने पर वही ज्ञान सफल हो जाने से अपरोक्ष कह दिया जाता है। वास्तव में तो अपरोक्षार्थ की प्रमा अपरोक्ष होती ही है। भगवान् ज्ञान अर्थात् आत्मा के बारे में और विज्ञान अर्थात् उसके साक्षात्कार के बारे में इस अध्याय में बतायेंगे। कथन भी 'अशेषतः' करेंगे, कुछ वक्तव्य बच नहीं जायेगा, बताने लायक सारी बातें कह देंगे अर्थात् साधन, फल, इतिकर्तव्यता आदि सबका उल्लेख कर देंगे।

उक्त विषय में श्रोता का सद्भाव बढ़ाने के लिये उसकी स्तुति करते हुए भगवान् ने कहा कि इसे जानकर कुछ न जाना नहीं बचता। परमात्मा के ज्ञान की यह महत्ता श्रुति में तत्र-तत्र कही है और इसी 'प्रतिज्ञा' का महत्त्व सूत्रकार ने जगह-जगह (१.४. २३, २.३.६) प्रकट किया है। यद्यपि ज्ञानरूप आत्मा को जानकर भी अविद्या-विलासों के भेद समझ आ जाते हों ऐसा नहीं तथापि ज्ञातव्य अर्थात् जानने योग्य कुछ रह जाये यह नहीं होता। ज्ञातव्य क्या है, भगवान् भाष्यकार ने कहा 'पुरुषार्थसाधनम्' पुरुष का प्रधान अर्थ या प्रयोजन मोक्ष है, उसके उपाय ही ज्ञातव्य हैं। आत्मरूप ज्ञान का साक्षात्कार होते ही मोक्ष सिद्ध हो जाने से अब उसके साधन जानने लायक नहीं रह जाते। साधन जानने का प्रयोजन यही है कि उन्हें अपनाकर फल पाया जाये। जब फल मिल गया तब साधन जानना बेकार है। किं च, क्योंकि आत्मरूप ज्ञान अधिष्ठान तत्त्व है इसलिये उसे जानने पर उस पर कल्पित सब वस्तुओं का बाध हो जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य कुछ जानने योग्य है ही नहीं। अत एव मैं-वस्तु की वास्तविकता

का ज्ञाता सर्वज्ञ हो जाता है। एवं च कृतार्थ हो जाने के लिये यह ज्ञान अवश्य प्राप्तव्य है यह भगवान् का अभिप्राय है।।२।।

वह ज्ञान दुर्लभ है यह दिखाते हुए भगवान् कहते हैं

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

हज़ारों मनुष्यों में कोई ही ऐसा होता है जो सिद्धि के लिये यत्न करता है तथा प्रयास करते सिद्धों में से कोई ही ऐसा होता है जो मुझे यथावत् जानता है।

मनुष्य मायने क्या? जो स्वीकार करते हैं कि वेद ही धर्म और परमात्मा का ज्ञान दे सकता है वे मनुष्य हैं। मोटी भाषा में कहें, तो जो वर्णाश्रम-धर्म को मानने वाले हैं, अर्थात् सनातन-धर्मी हैं, वेद को प्रमाण मानते हैं वे मनुष्य हैं। चार वर्णों और चार आश्रमों के अनुसार जो जीवन-निर्माण करने के प्रयत्न में है, उन्हीं को हम लोग मनुष्य कहते हैं। मनुष्य शब्द 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (४.१.१६१) सूत्रानुसार मनु की सन्तान अर्थ में व्युत्पन्न होता है। मनु के वंश वाले को मनुष्य कहते हैं। परमात्मज्ञान की अति-दुर्लभता इस लिये है, कि पहले तो चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि मिलना ही दुर्लभ है। हम लोग जब चौरासी लाख योनियाँ कहते हैं तब उनके अवान्तर भेदों को पृथक् नहीं गिनते, मछलियों के अंदर आगे हजारों तरह के भेद हैं परंतु मछली को हम एक योनि मान लेते हैं। इसी प्रकार अवांतर भेद मिलाकर अनंत योनियाँ हो जाती हैं। जितने संसार में प्राणी हैं, सब किसी-न-किसी योनि में होंगे; सब योनियों में से शास्त्र में अधिकार मनुष्य को ही है। मनुष्य को ही शास्त्राधिकार है, बाकियों को नहीं। मनुष्य पैदा होना यह पहली दुर्लभता। अनंत योनियों के अंदर मनुष्य शरीर की प्राप्ति हो जाये यही पहले दुर्लभ है। बरसात में कितनी तरह के कीट पतंग आ जाते हैं। एक-एक घर में उनकी संख्या लाखों में हो जाती है। गिनते चले जाओ तो एक मोहल्ले में ही इतने हो जायेंगे, जितने सारे मनुष्य हैं! यों गिनो तब पता लगता है कि मनुष्य का जन्म मिलना कितना दुर्लभ है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है, 'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' इतनी योनियों में मनुष्य योनि मिल जाये यह दुर्लभ है। आचार्य 'दुर्लभं त्रयमेवैतत्' तीन चीज़ों को दुर्लभ मानते हैं 'मनुष्यत्वम्, मुमुक्षुत्वम्, महापुरुषसंश्रयः'। ये दुर्लभ चीज़ें किससे मिलती हैं? आचार्य कहते हैं 'देवानुग्रहहेतुकम्' परमेश्वर के अनुग्रह से। परमेश्वर की कृपा होती है तभी मनुष्य शरीर मिलता है। इस बात को अच्छी तरह से समझना बड़ा ज़रूरी है। वर्तमान काल में चारों तरफ योरप वालों का किया हुआ प्रचार तो है कि हम लोग बंदर थे, पूंछ घिस गई, इसलिये आदमी हैं! योरप वाले बंदर रहे होंगे; वैसे, उनके चहरे-मोहरे हैं तो बंदरों की तरह ही, व्यवहार भी बंदरों की तरह का ही है। परंतु हम लोग न आज बंदरों जैसे हैं, न हमारे पूर्वज बंदर थे।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता आजकल के लोग नकारना चाहते हैं। हम तो पशु पक्षियों की तरह ही हैं यह उनकी मान्यता है। किन्तु अगर मनुष्य पशु-पक्षियों की तरह हैं, तो उनके आचरणों के बारे में क्यों विचार करके कहते हो, कि 'इसने अमुक अपराध किया?' शेर किसी को मारता है तो उसको फांसी नहीं देते। आदमी मारता है तो फांसी देते हो। तुम्हारे देश के अंदर तो शेर भी रह रहा है। अगर मनुष्य की विशेषता नहीं मानते हो तो मनुष्यों के लिये विशेष नियम क्यों बनाते हो? मनुष्य जीवन की दुर्लभता को बार-बार विचार कर मन में बैठाना बहुत ज़रूरी है।

दुर्लभ मनुष्य शरीर मिल भी गया तो 'सहस्रेषु' उनमें हज़ारों में कोई एक ही आत्मजिज्ञासु होगा। संस्कृत के अंदर ऐसे प्रसंगों में सहस्र का मतलब होता है बहुत, अनगिनत; अतः अनेक मनुष्यों में कोई ही साधक बनेगा, यह भाव है। अनेक मनुष्यों में कोई एक ही परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, प्रवृत्त होता है। इसीलिये आचार्य ने कहा कि जैसे मनुष्य होना दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्यों में परमात्मा की इच्छा करने वाला मुमुक्षु होना दुर्लभ है। संसार की बाकी सब चीज़ों के लिये हम लोगों को निरंतर प्रयत्न करना अनुकूल और आवश्यक होता है, कौन-सी चीज़ हम हमेशा टालते हैं? मर कर जहाँ जाना है उसका इन्तज़ाम करना हमेशा टालते रहते हैं। क्योंकि परमेश्वर संसारियों की तरह डंडा लेकर तुम से कुछ वसूल करने को खड़ा नहीं होता! किसी को लाख रुपये देने हैं और तुमने समय पर ब्याज नहीं दिया, तो वह डंडा लेकर पहुँच जाता है, 'क्या बात है? दो महीने हो गये, तुमने हमारा ब्याज नहीं दिया।' जब से जन्मे हैं तब से अब तक हम भगवान् का दिया पानी पी रहे हैं, भगवान् की ज़मीन पर रह रहे हैं, भगवान् की धूप से गर्मी और प्रकाश पा रहे हैं। पर हम लोगों को सवेरे उठ कर सूर्यनारायण को अर्घ्य देने के लिये समय नहीं है! अगर तुम इलैक्ट्रिक बोर्ड को पैसा न दो तो वह कनैक्शन काट देगा। लेकिन 'तुमने अर्घ्य नहीं दिया तो तुम्हारा आज से सूर्य का प्रकाश बंद', ऐसा तो भगवान् करते नहीं। पानी के बिल का पैसा नहीं जमा करो तो पानी वाले कनेक्शन काट देते हैं कि पानी नहीं मिलेगा। इसलिये पानी का बिल तो समय पर दे देते हो, पर दिन भर में, यहाँ तक कि स्नान के समय में भी जल की वंदना करने की हमें फुर्सत नहीं मिलती। और एक दिन नहीं, सालों-साल कभी समय नहीं है। जब कभी हम भजन करने का कहते हैं तो लोग यही कहते हैं, 'महाराज! करना तो बहुत चाहते हैं, समय नहीं मिलता।' पानी कम्पनी को कोई नहीं कहता 'जी, हम तुम्हारे पैसे तो देना चाहते थे, लेकिन हमारे पास समय अभी नहीं है। इसलिये अभी नहीं देंगे।' उसको नहीं कहेगा कोई। ज़मीन पर निरंतर खड़े हैं, लेटते हैं, सब कुछ ज़मीन के सहारे करते हैं। हम लोग कहते हैं कि सवेरे उठते ही भूमि को नमस्कार करो, बोल सको तो मंत्र बोलो

समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

यदि इतना भी न बोल सको तो मंत्र न भी बोलो, नमस्कार तो करो। पर वह भी करना नहीं चाहते। अगर तुमने ज़मीन का टैक्स नहीं दिया तो सरकार तुम्हारी ज़मीन वापिस ले लेगी। भगवान् तुम्हारे पास से ज़मीन कभी खींचते नहीं। इसलिये उसके लिये तुमको समय नहीं। हमेशा परमात्मा की तरफ वृत्ति बनाने को हम टालते रहते हैं और यहाँ जब तक जीवित हैं, तभी तक काम आने वाली चीज़ों के लिये हमारा सारा प्रयत्न होता है। एक क्षण को नहीं सोचते कि सौ साल पूरे होने के बाद आगे जायेंगे, उसका भी कोई इंतज़ाम करें। इसलिये भगवान् कहते हैं 'कश्चिद्यतति सिद्धये', परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले ही लोग बहुत कम हैं।

'यततामपि', जो सिद्धि के प्रयत्न में लगते हैं उन में भी 'कश्चिन्मां तत्त्वतो वेत्ति' कोई एक ही सत्य को समझ पाता है। साधना में लगने वालों में भी जब तक सत्य को नहीं जान लें तब तक लगे ही रहें ऐसे लोग और कम हैं। थोड़ा प्रयत्न किया, दो चार महीने किया, चित्त शांत नहीं हुआ तो हताश हो जाते हैं कि 'बहुत मुश्किल है, हम से नहीं होगा।' जब तक साक्षात्कार न हो जाये परमात्मा का जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न रूप है उ्ग तत्त्व को जब तक जान न लेवें, तब तक लगे रहने वाले लोग बहुत ही कम हैं। भगवान् ने बड़ी ज़बरदस्त बात कही है। 'यततामपि *सिद्धानां*' सिद्ध का मतलब होता है जिसने चीज़ को प्राप्त कर लिया। भगवान् ने यहाँ प्रयत्न करने वालों को ही सिद्ध कह दिया! 'साधकानां' नहीं कहा 'सिद्धानां' कह दिया। इसके द्वारा जो पूर्व अध्याय में कहा था उसकी तरफ संकेत कर दिया, कि यदि मेरे रास्ते पर चल पड़ा तो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, ज़रूर मुझे प्राप्त कर लेगा, ज़रूर सिद्धि को प्राप्त कर लेगा। परमात्मा की तरफ चलने के जितने कदम उठाओगे, वे सब तुम्हें आगे ही बढ़ायेंगे, कभी पीछे नहीं सरकायेंगे। इसीलिये जो अभी साधक ही है उसे भी भगवान् कहते हैं, कि सिद्ध ही समझो। अन्यत्र भी भगवान् इस बात को कहते हैं कि जिसने ठीक निश्चय कर लिया, समझ लो कि उसकी सारी बुराई दूर होकर वह अच्छा हो ही गया 'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' (९.३०) भली प्रकार जिसने व्यवसाय, अर्थात् निश्चय कर लिया कि 'मुझे परमात्मा प्राप्त करना है', उसे साधु ही मानना चाहिये। जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना प्रयत्न किसी कारण से नहीं भी करे तो भी भगवान् उसको कभी भी दुर्गति में नहीं जाने देते। इसलिये भगवान् ने साधक को भी सिद्ध कह दिया।

कोई कह सकता है कि सारा संसार परमात्मा का ही रूप है तो हम लोग ब्रह्म को जान ही रहे हैं। जिस भी चीज़ को जानते हैं वह ब्रह्मरूप ही है। किन्तु यह कहना

इसलिये नहीं बनता कि भगवान् ने केवल यह नहीं कहा 'कश्चिन्मां वेत्ति', क्योंकि सप्रपंच रूप में सब जान रहे हैं, वह दुर्लभ नहीं है, किंतु कहा 'तत्त्वतः वेत्ति', इन सारे नाम-रूपों का बाध करके, जो इसका अधिष्ठान सच्चिदानंद परमात्मा है उसको जानना दुर्लभ बता रहे हैं। उपाधि वाले रूपों को तो जानते हैं, निरुपाधिक रूप को नहीं जानते, वही दुर्लभ है।।३।।

जो ज्ञान बताने की प्रतिज्ञा की थी उसका अब वर्णन प्रारंभ करते हैं। हम लोगों को जो रूप हमेशा अपरोक्ष दीखता है, सामने दीखता है उस सबका भगवान् ने पहले संग्रह कर लिया

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार बस यह ही मेरी आठ तरह बँटी हुई प्रकृति है।

इदं रूप से जो सारा जगत् प्रतीत होता है वह सब 'मे प्रकृतिः', मेरी प्रकृति है, मैं नहीं हूँ। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि उस परब्रह्म परमात्म देव का यह स्वभाव है कि वह अपनी मायाशक्ति, अज्ञानशक्ति के द्वारा संसार के रूप में दीखता है। जैसे रस्सी मंद अंधकार में साँप दीखती है। रस्सी का स्वभाव ही है कि मन्दान्धकार के अंदर साँप आदि जैसी दीखती है। सींप का स्वभाव है कि तेज प्रकाश के अंदर चाँदी की तरह दीखती है। बालू का स्वभाव है कि धूप के अंदर पानी की तरह दीखती है। रस्सी में साँप का नाम नहीं पर रस्सी में ही साँप दीखता है। सींप में चांदी का नाम नहीं लेकिन सींप में ही चाँदी दीखती है। बालू में पानी का नाम नहीं पर बालू ही पानी की तरह दीखती है। इसमें बालू का, रस्सी का, सींप का कोई प्रयोजन नहीं है। उसका स्वभाव ही है कि मंदान्धकार में ऐसा दीखे। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मदेव का स्वभाव है कि अज्ञान के द्वारा देखने पर जगत्-रूप में दीखे। ऐसे ही यहाँ भगवान् ने बताया कि जो 'इदम्' है वह मेरा स्वभाव है। है यह *मेरी* प्रकृति, और किसी की नहीं है! जैसे रस्सी की ही प्रकृति है कि साँप की तरह दीखे, इसी प्रकार उस सच्चिदानंदघन परमात्मा की ही प्रकृति है कि संसार की तरह दीखे।

किस समय ऐसी दीखती है? 'भिन्ना' जब भेद वाली होती है तब ऐसी दीखती है। अन्यथा, अव्यक्त रूप में इनमें से कुछ नहीं दीखता, जैसे गहरी नींद में। गहरी नींद में कोई भिन्न चीज़ नहीं दीखती कोई अलग चीज़ नहीं दीखती, कुछ भी नहीं दीखता यही कह सकते हैं। एक तो वहाँ मैं देखने वाला हूँ और मुझ से भिन्न केवल कुछ नहीं है जिसको मैं देखता हूँ। सुषुप्ति का अनुभव दो बातों को बतलाता है १) मुझे २) वहाँ कुछ भी भिन्न नहीं दीखता। वहाँ भिन्न क्या है? कुछ नहीं। जब भेद होता

है तब *कुछ* होता है। जब भेद ही नहीं है तब कुछ नहीं है, पर देखने वाला मैं सुषुप्ति में भी हूँ ही। दीखने वाली चीज़ भिन्न होकर मौजूद नहीं है, उसका एक ही रूप है कुछ नहीं। ऐसा ही महाप्रलय में होता है।

भगवान् का स्वभाव (प्रकृति) जब अलग-अलग दीखता है तब उसका 'अष्टधा' आठ प्रकार का वर्गीकरण कर दिया जाता है। 'भूमिः' भूमि का यहाँ मतलब है गन्ध-तन्मात्रा। भूमि उसी को कहते हैं जिसमें गंध होती है। नाकरूप इंद्रिय से जिस किसी चीज़ का हमें अपरोक्ष होगा, वह सब पृथ्वी ही है। 'आपः' जीभ से हमें जिसका अनुभव होगा, वह रसतन्मात्रा अप् (जल) है। आँखों से जिसका अनुभव होता है वह सारा का सारा अनल अर्थात् तेज है। 'वायुः' त्वगिन्द्रिय से जिसका अनुभव होता है वह स्पर्शतन्मात्रा वायु ही है। 'ख', आकाश, शब्द तन्मात्रा; कान से जो भी अपरोक्ष होता है, वह सारा आकाश है। बाह्य जगत् के अंदर इन्द्रियों के द्वारा ही हमें अनुभव होता है। बाह्य संसार को हम बिना इंद्रियों के नहीं जान सकते। किसी-न-किसी इंद्रिय से ही हम बाह्य जगत् को जानते हैं। प्रकृति के बाहरी हिस्से को बताकर अब आंतर जगत् को कहते हैं 'मनः', हमारे अंदर संकल्प-विकल्प होते हैं, तो हमें पता चलता है कि संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। सोने का भाव डेढ़ सौ गिर गया, और ज़्यादा गिरने की संभावना है। तो संकल्प-विकल्प शुरू होता है कि 'दस-बीस तोले खरीद लूँ, दस बीस तोले बेच दूँ।' स्वयं को पता भी लगता है कि संकल्प-विकल्प हो रहा है। अगर परीक्षा देनी है तो जब इम्तिहान की तैयारी करने बैठता हूँ, उसी समय रात को हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का क्रिकेट मैच हो रहा है। अगले दिन इम्तिहान है। 'क्रिकेट देखूँ? नहीं। पढ़ूँ। यह मेरा पढ़ा हुआ है, तैयार ही है। क्रिकेट देख लूँ। नहीं नहीं, इसमें तीसरा-चौथा अध्याय तो मैंने ठीक से तैयार किया ही नहीं है। पढ़ लूँ।' यों 'पढ़ूँ नहीं पढ़ूँ।' चलता रहेगा। इस तरह पता लगता है कि संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। यह ज्ञान अपरोक्ष ही है, अपने को साक्षात् अनुभव होता है, किसी के कहने से पता लगता हो ऐसा नहीं है। अंदर में एक तो यह संकल्प-विकल्प करने वाला मन है। दूसरा अनुभव होता है 'मैंने निश्चय कर लिया, सारी दुनिया मुझे समझावे, कि 'ऐसा नहीं कर, इसमें ये नुकसान हैं', पर उनका बताया हुआ कोई नुकसान मुझे समझ में नहीं आता, जँची बात पर दृढ रहता हूँ'। इस प्रकार का जो निश्चय होता है उसको ही बुद्धि कहते हैं। यह भी साक्षात् पता लगता है कि मैंने निश्चय कर लिया। लड़का निश्चय कर लेता है, 'इस लड़की से ब्याह करना है।' अब घर वाले समझाते हैं। अड़ौसी-पड़ौसी समझाते हैं, दोस्त समझाते हैं, पर नहीं मानता, उसको तो उसी से शादी करनी है। और तीसरी चीज़ है करने वाला और भोगने वाला मैं। कौन करता है? मैं करता हूँ। सुखी-दुःखी कौन होता है? मैं होता हूँ। इसका भी साक्षात् अनुभव होता है।

ऐसा मानने से एक विरूपता आती है कि पृथ्वी आदि तो सब प्राणियों के लिये

साधारण ही हैं, परंतु मन, बुद्धि, अहंकार ये तो अपने-अपने अलग-अलग हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि मन-शब्द से उसके कारण को समझना चाहिय। सांख्यमत की रीति में प्रकृति-महान्-अहंकार-तन्मात्राएँ यह क्रम है। भूमि आदि से तन्मात्राएँ ग्रहण की अतः क्रमप्राप्त अहंकार मन-शब्द से समझना चाहिये। अतः बुद्धि से भी अहंकार के कारण अर्थात् महान् को, महत्तत्त्व को समझना चाहिये। महत् तत्त्व को ही समष्टि बुद्धिरूप हिरण्यगर्भ कहते हैं। इसी क्रम में आये अहंकार-शब्द से अविद्यारूप अव्यक्त का ग्रहण उचित है। अव्यक्त मूल कारण है पर अहंकार की वासना वाला होने से यहाँ उसे अहंकार कह दिया। अव्यक्त से प्रकट होकर अहंकार ही सारी प्रवृत्ति का बीज है। वेदांत-प्रक्रिया में ईक्षण को यहाँ बुद्धि (महान्) और संकल्प को यहाँ मन-शब्दित अहंकार कहा। अव्यक्त उपाधि वाला परमात्मा ही संकल्प करता है 'बहु स्याम्' 'मैं बहुत हो जाऊँ।' संकल्प करके आकाश वायु इत्यादि सब प्रकट करता है। संकल्प से पूर्व 'एकोऽहम्' यों ईश्वर का अहंकार समझ सकते हैं। अतः अहंकार से अव्यक्त अवस्था को, महाप्रलय के पहले जो इस संसार का रूप है उसे समझना है। अव्यक्त मायने अप्रकट। व्यक्त प्रकट को कहते हैं। कोई भी चीज़ प्रकट होने के पहले जो है उसे अव्यक्त कहना पड़ता है। भगवान् ने भी कहा है 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनानि' सारी चीज़ें प्रकट होने के पहले क्या है? अव्यक्त है। और नष्ट होने के बाद क्या है? अव्यक्त है। बस, बीच में व्यक्त है। इसलिये पहले है परमात्मा का अव्यक्त रूप जो अहंकार से युक्त है। फिर उससे समष्टि बुद्धि, 'बहु स्याम्', संकल्प आ गया। फिर उसके बाद हिरण्यगर्भ के जितने हिस्से हैं वे सब अलग-अलग प्रकट हो गये, सारे जीव अलग-अलग प्रकट हो गये। इस प्रकार से सारा 'इदम्' बतला दिया इतनी ही प्रकृति है। व्यापक रूप से ही समझने के लिये मन, बुद्धि, अहंकार के द्वारा व्यापक मन बुद्धि अहंकार को ग्रहण कर लेना चाहिये। यह सारी परमात्मा की प्रकृति है, परमात्मा का स्वभाव है, इस रूप में वह प्रकट होता है।

भगवान् शंकर की अष्ट मूर्त्तियों का ध्यान इसी प्रकृति का है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र और यजमान ये भगवान् की आठ मूर्त्तियाँ हैं। यजमान कर्त्ता-भोक्ता जीव है ही। चंद्रमा को परमात्मा का मन बतलाया है, 'चंद्रमा मनसो जातः।' सूर्य बुद्धि का प्रेरक है। रोज़ प्रातः काल हम लोग कहते हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' बुद्धि को प्रेरणा करने वाल वह सविता, सूर्य ही है। इस तरह यहाँ आठ तरह की जो प्रकृति बतायी वही भगवान् की आठ मूर्तियाँ है।।४।।

महाभूतों से जड संसार को और मन से जीवों को एकत्र कर लिया। जीव मतलब चेतन नहीं, जीव की उपाधि अर्थात् अंतःकरण, जिसके कारण चेतन जीव होता है। फिर उसका कारण समष्टि हिरण्यगर्भ और उसका भी कारण अविद्या से संयुक्त अव्यक्त जो महाप्रलय में भी रहता है, संकल्प करता है, कि 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, सब चीज़ों

को उत्पन्न करूँ', फिर सृष्टि करता है; उस तक को प्रकृति में गिन लिया। पूर्व श्लोक में केवल उपाधियों की उत्पत्ति बतलाई जिसके कारण चेतन जीव प्रतीत होता है। अब उपहित को परा प्रकृति रूप में बताते हैं

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

हे महाबाहो! (पूर्वोक्त) यह (प्रकृति) अनर्थकारी है। इससे अन्य मेरी परा प्रकृति जीवरूप को समझो जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।

पंच महाभूत भी हम लोगों के अनुभव की चीज़ें हैं और मन-बुद्धि-अहंकार भी हमारे अनुभव की चीज़ें है, इसलिय 'इयम्' 'यह' कहा। अपरा अर्थात् निकृष्ट है। इसलिये निकृष्ट है कि ये हमेशा दूसरे के लिये होते हैं। पंच महाभूत, अंतःकरण, अव्यक्त ये सब चेतन नहीं होने के कारण किसी प्रयोजन को सामने नहीं रख सकते। इसलिये इन्हें निकृष्ट कहते हैं। और भी इनकी निकृष्टता का कारण है कि इन्हीं में सब प्रकार की अशुद्धियाँ हैं। इनकी अशुद्धि से चेतन अशुद्ध दीखता है यद्यपि चेतन अशुद्ध होता नहीं। जो इनका शुद्ध रूप है वह तो परमात्मदर्शन में सहायक है। पर जो इनका अशुद्ध रूप है वह परमेश्वर को ढाँकता है। सत्य बोलते हो यह वाणी की शुद्धि है, सत्य बोलने से परमेश्वर की तरफ जाते हो। उसी जबान से झूठ बोलते हो यह वाणी की अशुद्धि है और इससे परमात्मा से दूर जाते हो। आँख से तुम भगवान् की मूर्त्ति का दर्शन करते हो तो परमात्मा की तरफ जाते हो। और इसी आँख से नंगी औरतों को या उनके चित्रों को देखते हो तो आँख की इस अशुद्धि के कारण परमात्मा से विमुख होते हो। ये जितनी चीज़ें हैं ये परमात्मा की तरफ जाने के साधन भी हैं और परमात्मा से दूर ले जाने के भी उपाय हैं। इसलिये इसको अपरा कहा। इसी को संसार के बंधन का कारण कहा जाता है, बंधनस्वरूप कहा जाता है। ये सब इसको अपरा कहने में कारण हैं।

'इतस्त्वन्यां', 'तु' मायने दूसरी तरफ 'इतः अन्यां', इससे भिन्न जो कभी भी अशुद्ध हो ही नहीं सकती वह 'परां प्रकृतिं', परा प्रकृति है। परा है क्योंकि श्रेष्ठ है। हमेशा शुद्ध रहती है, उसमें कोई अशुद्धि नहीं आती। अपरा में तो अशुद्धि आती है, भले ही परमात्मा की तरफ ले जाना चाहो तो शुद्ध भी हो जाती है। परंतु परा तो हमेशा शुद्ध ही रहती है। और अपरा तो किसी चेतन के लिये है क्योंकि जड है। कहीं भी तुम बढ़िया मकान देखो तो पूछते हो 'इसमें कौन रहता है?' कभी ऐसा नहीं होता कि मकान इसलिये बना है कि बस मकान सुंदर है, रहने वाला कोई नहीं है! ऐसे मकान होते भी हैं, जैसे ताजमहल में रहता कोई नहीं, जो देखने के लिये हैं। किन्तु वे भी बनवाने वाले की संतुष्टि के प्रयोजन से बनाये जाते हैं। इससे विपरीत, परा प्रकृति

किसी के लिये नहीं है, दूसरी चीज़ें इसके लिये हैं इसलिये यह परा है, श्रेष्ठ है। परा भी मेरी ही (भगवान् की ही) प्रकृति है। जैसे सारा पृथ्वी आदि संसार मेरा स्वरूप है, ऐसे ही परा भी स्वरूप है। किंतु परा मेरा आत्मरूप है।

शरीर ही प्रायः लोगों का स्वरूप होता है। शरीर मर गया तो वे मर जाते हैं। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं, यश ही जिन का शरीर होता है। इसलिये कहा गया है

'जयंति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।'

जिन्होंने अत्यंत सुंदर रचनायें की हैं वे रससिद्ध कहे जाते हैं। साहित्य में नौ रस माने गये हैं वीर, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स, भयानकर, करुण, हास्य, शृंगार और शांति। साहित्य का अध्ययन करके लोग इनका अनुभव करते हैं। जिन्होंने इन रसों को सिद्ध कर लिया है, अर्थात् जब जिसे चाहते हैं उसी रस को अपने काव्य से पैदा कर सकते हैं, ऐसे कवियों के जो अधिपति हैं उनका जो यश का शरीर है, उसमें न बुढ़ापे का भय है, न मरने का भय है। यश ही उनका स्थायी शरीर है। इस शरीर के लिये ऐसे राजा हुए हैं जो किसी गाय की रक्षा करने में जब समर्थ नहीं हुए और शेर ने कहा 'मैं भूखा हूँ, मुझे खाने को चाहिये', तो जिन्होंने अपना सिर झुका कर कहा, 'मुझे खा लो, परंतु मेरे गुरु जी की नंदिनी गाय को छोड़ दो।' शेर ने कहा भी 'अरे! क्या बेवकूफी कर रहे हो! शरीर रखोगे तो तुम को और हज़ार फायदे होंगे। गुरु जी को एक गाय के बदले में हज़ार-पाँच सौ गायें दे देना।' पर राजा ने उसे जवाब दिया कि 'तुम्हें मुझ पर दया करनी है तो मेरे इस शरीर के ऊपर दया नहीं करो। इसको तो खा लो। यदि मेरे रहते गाय को खाओगे तो मेरा जो यश-रूपी शरीर है कि 'यह सबकी रक्षा करता है', वह नष्ट हो जायेगा। तुम मेरे यशरूपी, कीर्तिरूपी शरीर के ऊपर दया करो।' ऐसा जो यशरूपी शरीर है उसमें न बुढ़ापा होता है न उसकी मृत्यु होती है।

इसी तरह भगवान् की यह परा प्रकृति है। चेतन की ही प्रसिद्धि है। कालिदास काला था, गोरा था किसको पता है? लम्बा था, नाटा था, किसको पता है? आज तक यही झगड़ा चलता है कि कालिदास कहाँ का था। परंतु इतने पर भी कालिदास के ऊपर कोई आँच नहीं आयी। 'जीवभूतां', जीवरूप भगवान् की परा प्रकृति है, श्रेष्ठ रूप है। आगे भगवान् इसी को क्षेत्रज्ञ कहेंगे। शरीर को क्षेत्र कहेंगे, क्षेत्र मायने खेत, और जीव को क्षेत्रज्ञ कहेंगे। क्योंकि शरीर में तुम खेती करते हो शुभ कर्म करते हो तो आगे शुभ फलों को पाते हो। अशुभ कर्मों को करते हो तो आगे अशुभ कर्मों के फलों को पाते हो। परमात्म-ज्ञान करते हो तो तुम बंधन से मुक्त भी हो जाते हो। ये सब करना तो इसी क्षेत्र में पड़ेगा, इसी खेत में पड़ेगा, शरीर को इसलिये भगवान् ने खेत कहा।

जीवरूप से 'इदं जगत् धार्यते' जगत् का धारण किया जाता है। संस्कृत में 'जीव प्राणने' धातु है, जीव का अर्थ होता है प्राण धारण करना। अन धातु से ही उपसर्ग के द्वारा प्र + अन = प्राण, अप + अन = अपान, वि + अन = व्यान, सम + अन = समान आदि शब्द बनते हैं। जीव का स्वरूप यही है कि यह प्राण धारण करता है। जब तक जीव शरीर में है तब तक प्राण धरण होता है और जैसे ही जीव चला जाता है, प्राण का भी धारण नहीं होता। हम लोगों को यह स्पष्ट अनुभव है। जब तक शरीर में जीव चेतन है तब तक यह धृत है, और मरने के दो घण्टों के अंदर शरीर विशीर्ण होने लगता है, सड़ने लगता है। विचार करोः इतनी बड़ी पृथ्वी है, यह विशीर्ण नहीं होती! इसमें कुछ भी करो खेत बो दो, मकान बना दो। मकान टूट जाये, खेती कहीं बंजर हो जाये, लेकिन दस-बीस-पचीस-पचास सालों में फिर ज़मीन स्वाभाविक हो जाती है। खेती करने वाले इस बात को जानते हैं। निरंतर एक चीज़ की खेती करते हैं तो खेत खराब हो जाता है। हर दो साल बाद एक साल उसको छोड़ देते हैं तो अपने आप ताज़ी हो जाती है। विचार करके देखो तो यह इसलिये कि पृथ्वी के अंदर भी कोई चेतन तत्त्व ज़रूर है जिसके कारण यह धृत रहती है। सारा ब्रह्माण्ड, सूर्य इत्यादि के चारों तरफ घूमने वाले नक्षत्र नीहारिकायें, सबका एक अद्‌भुत संतुलन देखने में आता है। यदि कोई चेतन सत्ता इसमें अनुस्यूत न होवे तो, जैसा उपनिषद् कहती है, मिट्टी का ढेला जैसे पानी के बिना बिखर जाता है ऐसे ही सारा संसार बिखर जाये। जैसे शरीर प्राण से धारित होता है, चेतन से धारित होता है, वैसे ही 'यया इदं जगत् धार्यते' सारे जगत् को धारण करने वाला जीव ही है। यह बड़ी खास चीज़ समझने की है। हम कर्म करते हैं, उसके फलस्वरूप ही, स्वर्गादि होते हैं। हमें स्वर्ग का सुख भोगना है इसलिये स्वर्ग है। वैसे ही नरक का दुःख हमें भोगना है अतः नरक है। इसलिये स्वर्ग और नरक के मूल कारण तो हम हैं। हम हैं तब स्वर्ग या नरक बनता है। मोटी भाषा में समझ लो, अगर हम सड़क के ऊपर कूड़ा फैंकते हैं, तो उसमें होने वाले मक्खी मच्छर किसको काटेंगे? और यदि हम सब चीज़ों को साफ रखते हैं, बढ़िया फूल उगाते हैं तो सुगंधि को कौन सूँघेगा? चाहे आगे के लोकों को समझो, चाहे यहीं संसार में समझो, जगत् को बनाने-बिगाड़ने वाले हम हैं। जीव नाम भगवान् ने इसलिये रखा कि प्राणन-क्रिया से जैसे शरीर को जीवित रखता है वैसे ही अपने द्वारा ही सारे संसार को शुभ या अशुभ बनाता रहता है। जीव अपने शरीर में हमें प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी को अर्थात् स्वयं को जगत् का धारण करने वाला समझ लेना चाहिये। प्रायः हम यह सोच कर कि 'कोई और करेगा', किसी भी सुधार में व बिगाड़ रोकने में प्रवृत्त नहीं होते। जिसके मन में आ जाये कि 'हम क्या कर सकते हैं?' वही अपने उद्देश्य को ख़त्म करने में प्रधान कारण बन जाता है।

अमरीका में सन १९२१ के अंदर, शराब-बंदी हुई थी। आठ साल के बाद हटा दी

गई क्योंकि बंदी का प्रयास असफल हो गया। सन् २६ के आस-पास गांधी जी से किसी अमरीकन पत्रकार ने पूछा, कि 'शराब-बंदी हमारे देश में विफल हो गई तो आप क्या सोचते हैं आपके यहाँ सफल हो जायेगी?' गांधी जी ने कहा, 'हाँ, हमारे यहाँ सफल हो जायेगी। तुम्हारे यहाँ भाई-भाई, बाप-बेटा साथ बैठकर पीते हैं। हमारे यहाँ पीने वाला छिप कर, घर वालों को किसी को पता न लगे, समाज में किसी को पता न लगे, बदनामी न हो जाये, इस तरह पीता है। छिपकर पीता है इसलिये उसके अन्तःकरण में है कि यह बुरा है। समाज का भी भय है। जब तक 'बुरा है' यह मन में है तब तक सुधार की आशा है।' जब मन में आ जाता है कि 'इसमें बुराई है क्या?' तब सुधार असम्भव हो जाता है। अब सन् १९२६ के बाद २००६ हो गया है। शराब पीने वाले दृढ रहे। उन्होंने हिम्मत नहीं हारी कि 'हम नहीं बिगाड़ सकेंगे।' दुनिया उनको कुछ भी कहती रही, वे पीते रहे और जो मिले उस से इसकी तारीफ ही करते रहे, मुफ्त में पिलाते रहे। धीरे-धीरे आज हमें भी यही कहना पड़ेगा, कि हिन्दुस्तान में अब शराब-बंदी नहीं हो सकती। जैसे शराब वैसे ही काला-बजारी शुरू में 'बुरी है' जानते हुए अत्यावश्यक होने पर ही करते थे। तब कोशिश करते तो रोकी जा सकती थी। आज उसे लगभग सब सही मान चुके हैं अतः अब रोकना असम्भव-सा हो चुका है। यही स्थिति घूसखोरी की है। यदि बुराई इस प्रकार से बढ़ाई जा सकती है तो अच्छाई भी इसी प्रकार से बढ़ाई जा सकती है। हम अच्छे बनेंगे, यह संकल्प बेकार कभी जाने वाला नहीं है। अच्छाई भी ठीक उसी तरह से बढ़ती है जैसे बुराई। जीव संसार का धारण करने वाला है, इसलिये इसके कर्मफलों के लिये ही सब कुछ पैदा होता है। यह अपने शुभ कर्मों के द्वारा संसार को स्वर्ग बना सकता है, अशुभ कर्मों के द्वारा नरक बना सकता है। क्यों? आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं 'प्रकृत्येदं धार्यते जगदन्तःप्रविष्टया' इसके कण-कण और क्षण-क्षण के अंदर परमात्मा जीवरूप से प्रविष्ट है। प्रत्येक उपाधि को धारण करने वाला कोई-न-कोई जीव है। अतः तुम किसी भी चीज़ से व्यवहार करते समय हमेशा ध्यान रखो कि जिससे तुम व्यवहार कर रहे हो, वह चेतन परमात्मा का ही शरीर है। सदा इस बात की सावधानी रखनी है। इससे न केवल व्यवहार शुद्ध रहता है वरन् परमात्म-चिंतन भी लगातार बना रहता है।।५।।

दोनों प्रकृतियों को युक्ति से भी समर्थित करते हैं

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

जन्मवान् सब चीज़ें इन प्रकृतियों के कारण बनी हैं यह निश्चय रखो। (अपनी प्रकृतियों के द्वारा) मैं सारे जगत् का उत्पत्तिकारण और विनाशकारण हूँ।

संसार में जितने भी भूत हैं, जितने भी प्राणी और अचेतन हैं वे सब मेरी

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूप परा प्रकृति और अपरा प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति ही सारे संसार का कारण हैं। जितना जड-चेतन जगत् है वह इन दो का ही खेल है। प्रकृतियों के कारण ही सारे भूत हैं इतना ही कह कर नहीं छोड़ा, विधान भी किया 'उपधारय', निश्चय करो। हर समय इस तथ्य को सामने रख कर ही, व्यवहार करना है। 'धारण करो', का मतलब है स्वीकार करो। लेकिन भगवान् इससे ज़्यादा कहते हैं। प्रायः शुरू में ऐसा होता है कि जब हमें कोई याद दिलाता है तब बात जँचती है पर मन नहीं मानता। जैसे कोई कठिन परिस्थिति आ जाये, और कोई याद दिलावे, कि 'जैसा भगवान् चाहेंगे वैसा ही होगा।' तो यह सुन कर याद आता है कि बात तो ठीक है, फिर भी मन नहीं मानता। यहाँ भी ऐसा न समझें, इसलिये भगवान् ने कहाँ 'उपधारय' हर समय तुम्हारे सामने बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिये कि जहाँ-कहीं जो-कुछ भी है उसके अंदर कारण केवल परमेश्वर की परा और अपरा प्रकृति ही हैं, और कुछ कारण नहीं है। चूंकि भगवान् ने कहा 'मेरी प्रकृति ही कारण है', इसलिये कोई यह न समझ ले कि प्रकृति की ही कारणता बतायी होगी, इसलिये स्पष्ट करते हैं कि अधिष्ठानरूप मैं हूँ, तभी इस प्रकृति की कारणता है। जैसे हमारे पैर की प्रकृति है चलना, परंतु कौन चलता है? मैं चलता हूँ। पैर चलता है ऐसा तो किसी को अनुभव नहीं है। सब जानते हैं मैं चलता हूँ। क्योंकि पैर में जो चलने की शक्ति है, वह शक्ति मेरी है। इसी प्रकार से परा प्रकृति और अपरा प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों ही परमेश्वर की शक्ति हैं। इसलिये असली कारण तो परमेश्वर ही है। संसार में अनेक प्रकार के विचारक हुऐ हैं। प्राचीन काल में कोई परमाणुओं को कारण मानता था, कोई प्रकृति को कारण मानता था। वर्तमान काल में भी तरह-तरह के कारण माने जाते हैं। उन सब को हटाकर भगवान् कहते हैं 'मैं ही कारण हूँ समस्त जगत् का'।

'प्रभवः' उत्पत्ति। प्रभव उसका होता है जो चीज़ पहले न हो और फिर सत्ता में आवे। जिस चीज़ की सत्ता पहले न हो और फिर वह चीज़ सत्ता में आवे, उसका 'प्रभव' होना कहेंगे और जिससे उसका प्रभव हुआ उस कारण को भी प्रभव कहेंगे। इसलिये चीज़ के हिस्सों को इधर-उधर कर दो तो उसे हम लोग 'प्रभव' नहीं कहते हैं। लम्बी लकड़ी थी, हमने उसे काट कर चार टुकड़े किये, चार पाये बना दिये, उसके ऊपर लकड़ी का एक हिस्सा रख दिया इस प्रकार चौकी को हमने बनाया, लेकिन न चौकी का प्रभव हुआ और न हम चौकी के प्रभव हैं। जो लकड़ी थी पहले से, उसी के टुकड़ों को इधर-उधर करके हमने केवल एक नई शक्ल दे दी। ऐसे परमेश्वर ने किसी अन्य चीज़ को लेकर इस सृष्टि को बनाया हो, ऐसा नहीं है। पहले यह सृष्टि नहीं थी, फिर उन्होंने बनाई है। भगवान् ने सृष्टि के पहले की अवस्था को अव्यक्त कहा है। जब प्रकट नहीं है, उस समय में महाप्रलय के अंदर सारी सृष्टि भगवान् के अंदर लीन है, प्रकट नहीं है। जब वे संकल्प करेंगे तभी प्रकट होगी। हम लोग जो स्वप्न देखते हैं

उस स्वप्न का प्रभव करने वाले हम ही हैं। स्वप्न की सृष्टि हम ही बनाते हैं। वहाँ हम प्रभव करते हैं। हमारे पास चीज़ों के संस्कार हैं तभी स्वप्न की चीज़ें बना लेते हैं। संस्कार ही तो पदार्थ नहीं हैं, उनसे स्वप्न के पदार्थों का हम निर्माण करते हैं। घड़े के संस्कार को तो घड़ा नहीं कह सकते हो पर उससे सपने का घड़ा बना सकते हो। इसी प्रकार अव्यक्त में सब कुछ था   इसका मतलब है कि सब कुछ अप्रकट था। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' हो सकता है   यह तो कोई आस्तिक नहीं मानते। कुछ भी होगा तो किसी चीज़ से ही होगा। अव्यक्त होना ही हमारे यहाँ 'नहीं होना' है; चीज़ प्रकट नहीं है, तो वह नहीं है। भगवान् ने कहा 'अहं जगतः प्रभवः'   सारे जगत् को मैं ही ईक्षण करके सत्ता में लाया हूँ। वे ही संसार के अधिष्ठान हैं।

'प्रलयस्तथा' भगवान् ने कहा   महाप्रलय के अंदर इस सबको मैं अपने अंदर ही लीन करूँगा, और कहीं यह जाने वाला नहीं है! मैंने ही प्रकट किया है और मैं ही इसको फिर अपने में लीन करूँगा। अन्यत्र इस को समझाने के लिये मकड़ी का दृष्टांत लिया है : जैसे मकड़ी अपने में से ही सारे जाले को प्रकट करती है, और फिर सारे जाले को अपने अंदर ही ले लेती है, इसी प्रकार परमात्मा, अपने में से ही सारा जगत् पैदा करता है और अंत में अपने में ही लीन कर लेता है। जगत् का प्रभव और प्रलय कहा, किन्तु 'तथा' शब्द से समझ लेना कि स्थिति काल, जिसको हम देख रहे हैं, उस का भी मैं ही कारण हूँ। ऐसा नहीं है कि ईश्वर ने पैदा किया और फिर 'रिटायार' (सेवानिवृत्त) हो गया! लोग यही समझते हैं, कि भगवान् संसार के दौरान कोई मतलब नहीं रखते हैं, किंतु ऐसा नहीं, भगवान् का कहना है कि स्थिति काल में भी सारी व्यवस्थायें करने वाला मैं ही हूँ। पृथ्वी इत्यादि सब विशीर्ण नहीं हो रहे हैं। इतनी बड़ी नीहारिकायें, तारे इत्यादि सब एक तरीके से चल रहे हैं; परमेश्वर हैं, इसलिये ही तो सारा तरीका कायम है। मैं प्रभव भी हूँ, प्रलय भी हूँ और इस सारे जगत् को स्थिति काल में भी धारण करने वाला हूँ।।६।।

जगत् के प्रति अपनी प्रकृतियों द्वारा भगवान् स्वयं ही कारण हैं यह समझाकर अब स्पष्ट करते हैं कि भगवान् से परे कुछ नहीं, उनसे अन्य कुछ भी नहीं है जिस प्रकार स्वप्न का एकमात्र अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण मैं हूँ अतः स्वप्न मुझ से अन्य कुछ नहीं है। संस्कार इत्यादि तो मुझ से एक ही हैं। जब हम 'मैं' कहते हैं तब मतलब शरीर, इंद्रियाँ, अंतःकरण, अंतःकरण में होने वाले सारे संस्कार इत्यादि सब से होता है। इसी प्रकार से परमेश्वर की प्रकृति परमेश्वर से अलग है नहीं इसलिये एकमात्र परमेश्वर ही जगत् के एकमात्र स्थिति, सृष्टि और प्रलय के कारण हैं। चूंकि ऐसा है इसलिये

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

हे धनंजय! मुझ परमेश्वर से अन्य कोई स्वतंत्र कारण इस जगत् का नहीं है। धागे में विभिन्न मणियों की तरह यह सारा संसार मुझमें पिरोया हुआ है।

जो मैं न होऊँ वह मुझसे पर होगा। जैसे स्वप्न के अंदर जिस हाथी पर मैं बैठता हूँ, वह हाथी मेरे सिवाय तो कुछ नहीं है, मैं ही उस पर बैठने वाला भी हूँ, और मैं ही उसके ऊपर बिठाने वाला भी हूँ। मेरे सिवाय वहाँ कुछ है नहीं; सारे भिन्न प्रतीत होते हैं, स्वप्न में सब अलग दीखते हैं, परंतु वस्तुतः हैं नहीं; इसी प्रकार परमात्मा से भिन्न और कोई कारण नहीं है, और कुछ भी नहीं है। संसार में हर चीज़ का कारण देखा जाता है और उस कारण का पुनः कारण देखा जाता है। जैसे कपड़ा धागे से पैदा हुआ है, आगे धागा रुई से पैदा हुआ है, फिर स्वयं रुई मिट्टी से पैदा हुई है। इस प्रकार संसार में जितनी चीज़ें दीखती हैं वे किसी का कारण हैं तो किसी का कार्य भी हैं, किसी से पैदा भी हुई हैं। किंतु परमेश्वर सबका कारण तो है, उसका कोई कारण नहीं है। इसलिये उपनिषद् के अंदर एक-से-एक पर (परे) बतलाते चले गये, परंतु अंत में कहा कि उस परमेश्वर से आगे और कुछ नहीं है। परमेश्वर सबका कारण है पर स्वयं किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। इसीलिये भगवान् ने कहा, उससे 'परतर' कुछ नहीं है। अतः यह प्रश्न नहीं उठता है कि सब किसी-न-किसी चीज़ से बनते हैं तो परमेश्वर भी किसी चीज़ से बनता होगा!

भगवान् बताते हैं कि यह मेरा अद्भुत ऐश्वर्य है। 'इदं सर्वम् मयि प्रोतं' जो अनुभव में आता है जड-चेतनात्मक जगत्, वह मुझ परमेश्वर में 'प्रोत' है अर्थात् अनुगत है, अनुस्यूत है, जैसे कपड़े में धागा ही सर्वत्र अनुस्यूत है। संस्कृत में 'प्रोत' कहते हैं, हिंदी में 'पोना' कहते हैं। माला बनाने के लिये सब मणियों को एक धागे के अंदर पो दिया जाता है। ऐसे ही भगवान् ने कहा कि सारा जड-चेतन जगत् मुझमें ही अनुस्यूत है। कैसे? दृष्टांत दे दिया, 'सूत्रे मणिगणा इव।' सूत्र अर्थात् धागा, जिसमें तुम मणियाँ पुवाते हो। रुद्राक्ष की माला हो, मोतियों की माला हो, स्फटिक की माला हो, लकड़ी की माला हो, सोने के दानों की माला हो, सब उस सूत्र में ही, उस धागे में ही पिरोई जाती हैं। माला में रुद्राक्ष के दाने में तुमको धागा दीखता नहीं है, पर तुम अपनी बुद्धि से इस बात को समझते हो कि नहीं दीखने पर भी वहाँ धागा है क्योंकि किसी कारण से वह टूट जाता है तो दाना अलग हो जाता है। धागा टूटने से बिलकुल अलग हो जाते हैं, इससे पता लग जाता है, बुद्धि के द्वारा, कि इसके अंदर धागा था, वही इसको धारण किये हुआ था, माला में बाँधे हुए था। इसी प्रकार संसार के पदार्थों में परमात्मा दीखता नहीं है, परंतु पदार्थ व्यवस्थित हैं, इससे पता लग जाता है कि इसके अंदर परमात्मा मौजूद है। न दीखने पर भी बुद्धि से निश्चय हो जाता है कि इसके अंदर परमात्मा है।

प्रश्न होता है, फिर भी मणिगण अलग हैं, और सूत, अलग है। सूत्र के अ़ंदर

मणियाँ हैं, पर मणियाँ सूत से अलग हैं। इसी प्रकार हम सब में परमात्मा होगा, पर हम सब उससे अलग तो हैं ही। इस दृष्टांत से यह शंका हो सकती है। पर विचार करने पर पता लगेगा कि दाना, चाहे रुद्राक्ष का हो, चाहे मोती का हो, स्फटिक का हो, सोने का हो, चाँदी का हो, है पार्थिव ही पृथ्वी से ही सब निकले हैं, पृथ्वी से ही उत्पन्न हैं; और धागा भी रुई के द्वारा पृथ्वी से ही निकला है। इसलिये चाहे जितना अलग दीखें, हैं दोनों ही पार्थिव। पार्थिव होने से वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यदि सोना आदि को कोई पार्थिव के बजाये तैजस माने तो भी सब भौतिक तो हैं ही। भौतिक होने से सब एक हैं। अथवा पंजाबी लोग एक माला बनाते हैं, जिसमें धागे को ही गोल-गोल करके, मणियाँ भी बना लेते हैं। इस प्रकार बनी माला सारी एक धागे की ही होती है। उसे यहाँ समझने से दृष्टांत ठीक बैठता है।

कुछ लोगों ने इसका ज़रा सूक्ष्म अर्थ किया हैः 'सूत्र' मायने 'सूत्रात्मा', हिरण्यगर्भ में। हिरण्यगर्भ के अंदर ही सारे के सारे 'मणिगण' हैं। समष्टि अंतःकरण में ही सारे व्यष्टि अंतःकरण हैं, इसलिये उससे भिन्न नहीं जैसे तुम्हारे शरीर में अनेक कोषा हैं, अनंत हैं, गिनना भी संभव नहीं। उन कोषाओं से बने हुए, यकृत, हृदय, गुर्दा आदि अंग हैं। परंतु वे सब तुम से अलग तो नहीं हैं। इसी प्रकार से हिरण्यगर्भ के सारे अंग हैं इसलिये हिरण्यगर्भ में सारे प्रोत हैं।

भगवान् यहाँ दृष्टांत प्रधानरूप से धारक का दे रहे हैं इसलिये सीधा ही अर्थ समझ लो जैसे धागा, सारे मणियों को धारण करता है। ऐसे ही परमेश्वर सब चीज़ों को धारण करते हैं।।७।।

धागे में मणियों की तरह मुझ में सब प्रोत हैं इसकी व्याख्या आगे कर रहे हैं कि किन चीज़ों से हमें प्रोतपाना दीख सकता है। आचार्यों ने बतलाया है कि यहाँ से जो प्रकरण चला है वह उपासना का प्रकरण है। अर्थात् उन-उन उपाधियों का परमात्मा में किस रूप में प्रोतत्व है, पिरोयापना है इस बात को उन चीज़ों से व्यवहार करते समय, ध्यान में रखना है। उनमें दृष्टि रखनी है कि किस रूप में उनमें परमात्मा मौजूद है। जो कुछ हमारे सामने आता है उसमें इन रूपों को देखते रहेंगे तो हमारा परमात्मभाव दृढ होता चला जायेगा

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शाशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

हे कुंतीनंदन! मैं जल में रस हूँ, चंद्र-सूर्य में प्रभा हूँ, सब वेदों में प्रणव हूँ, आकाश में शब्द और नरों में पौरुष हूँ।

सबसे पहले भगवान् ने जल में रस को अपना स्वरूप कहा, रसरूप भगवान् में जल प्रोत हैं। संस्कृत में जलवाचक अप्-शब्द नियमतः बहुवचन में प्रयुक्त होता है। अतः

जितना पानी है सर्वत्र यह नियम समझ लो। पानी का अपना स्वाद है मधुर, मीठापना। दूसरे जितने स्वाद हैं वे सारे जल में किसी दूसरी चीज़ का स्पर्श होने पर आते हैं। आज के वैज्ञानिक इस बात को नहीं मानेंगे, वे लोग कहते हैं कि पानी में कोई स्वाद नहीं होता! वे जल को स्वाद-रहित मानते हैं। पर हम लोग कहते हैं कि पानी में अपना मिठास होता है। अगर इसका पता लगाना हो तो थोड़ी-सी हरड़ पहले खा लो, उसके बाद बिल्कुल शुद्ध किया हुआ पानी लो, जिसको स्वादरहित कहते हैं, उस पानी को पियो, तब तुमको मीठा लगेगा। उसमें मिठास कहाँ से आया? हरड़ तुमने निगल लिया, वह तो मुँह में है नहीं। वह मिठास जल का अपना है। मिठास ही उसका स्वाद क्यों है, जल के अपने स्वरूप में ही मिठास क्यों है? इसका जवाब भगवान् थोड़ा आगे देंगे कि जो पुण्य रस है, शुभ रस है वह मेरा स्वरूप है। इसी तरह जो शुभ गंध है वह मेरा रूप है। पुण्य शब्द आदि में भी यही न्याय समझ लेना। क्यों? परमात्मा ने जो संसार पैदा किया वह सारा शुभ ही है। उसमें अशुभता जितनी है, वह मनुष्य ने अपने कर्मों के द्वारा लाई है। अविद्या और कर्म के कारण अपुण्यता आती है। पदार्थ स्वयं अपने अंदर हमेशा पुण्यरूप ही हैं, क्योंकि शुद्ध परमात्मा से पैदा हुए हैं। उनमें जो अपुण्यता है वह हमने अपने अविद्या, काम और कर्म के द्वारा प्रकट की है। इसलिये पुण्यरूप में परमात्मा को अनुस्यूत देखना है। इस तरह जल का जो अपना स्वाभाविक मधुर रस है वह परमात्मा का रूप है। जल के मधुर रूप के अंदर परमात्मदृष्टि अर्थात् वह परमात्मा है ऐसी उपासना करनी है।

कौन्तेय! हे कुन्तीपुत्र। कुन्ती की याद इसलिये दिलाई कि कुंती ने तीन पुत्र अपने पैदा किये थे और दो पुत्र मंत्रों के बल से पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री से उत्पन्न कराये थे। कुंती वह थी जिसके कारण माद्री से भी पुत्र पैदा हो गये। इसी प्रकार दो प्रसूतियाँ हैं माया से प्रसूत, और माया के साथ काम-कर्म मिल करके प्रसूत। भगवान् का इशारा है कि तू शुद्ध माया के द्वारा प्रसूत है, इसलिये इस बात को समझ सकता है कि मुझसे जो उत्पन्न है वह शुभ है, और जीव जो अपने अविद्या काम व कर्म से करता है वह अशुभ है।

'शशिसूर्ययोः प्रभाऽस्मि'। शशि अर्थात् चंद्रमा, और सूर्य इन दोनों के अंदर प्रभारूप से मैं मौजूद हूँ। प्रभा अर्थात् चमकदार रोशनी। जैसे अगर पानी में अपना मधुर रस न होवे, तो पानी ही नहीं होगा क्योंकि उसके द्वारा ही जल धृत है, वैसे ही सूर्य-चंद्र यदि चमक वाले नहीं होंगे तो सूर्य-चंद्र ही नहीं रह जायेंगे। प्रभा के कारण ही वे सूर्य-चंद्र हैं। 'सर्ववेदेषु प्रणवः।' स्वयं वेद ने ही कहा है कि जैसे पत्ते के अंदर जो सूक्ष्म चारों तरफ फैला जाल होता है कभी किसी पत्ते को किसी रोशनी के सामने करके देखो तो उसमें सर्वत्र जाल दीखेगा उसी प्रकार प्रणव, ओंकार, सारे वेद में व्यापक रूप से विद्यमान है। इसीलिये वैदिक मंत्र का जप करते हैं तो पहले ॐ बोलकर

तब मंत्र का जप शुरू होता है। ॐ सारे मंत्रों के अंदर अनुस्यूत है। ओंकार को यहाँ प्रणव कहा है। 'नव' मायने नया, 'प्र' मायने प्रकर्ष से; 'प्रणव' हर मंत्र के साथ मानो नये रूप में दीखता है। सारे मंत्रों को धरण करने वाला ॐ है। इसलिये स्मृतिकारों ने लिखा है कि यदि आदि-अंत में प्रणव का उच्चारण नहीं किया जाता है तो मंत्र का प्रभाव *बह* जाता है, नहीं रहता है। इसलिये सारा मंत्रब्राह्मणात्मक जो वेद है, उसके अंदर सर्वत्र प्रोत प्रणव भगवद्रूप है। अतः भगवान् ने कहा कि मेरे ओंकार रूप में सारे वेद प्रोत हैं, पिरोए हुऐ हैं।

'खे शब्दः।' आकाश में मैं शब्दरूप में हूँ। आकाश शब्द-गुणक है। शब्द न होवे ऐसा आकाश नहीं हो सकता। पहले तो लोगों की समझ में यह कुछ कठिनता से आता था, परंतु अब भौतिक विज्ञान ने इसको समझना बड़ा सरल कर दिया है इस कमरे के अंदर कोई आवाज़ न होवे, तो लगेगा कि यहाँ शब्द-रहित आकाश है। किंतु यहीं रेडियो का खटका दबा कर तुम आकाशवाणी चालू कर दो तो इसी आकाश में से आवाज़ निकलती है क्योंकि शब्द यहाँ मौजूद है जिसे यंत्र प्रकट करता है। जहाँ तुम समझते हो कोई शब्द नहीं है वहाँ भी इन यंत्रों के माध्यम से तुरंत शब्द प्रकट हो जाता है। आकाश जहाँ भी है वहाँ शब्द ज़रूर है क्योंकि आकाश शब्द गुण वाला ही है।

'पौरुषं नृषु'। पौरुष उद्यम को कहते हैं। उद्यम करके जिस चीज़ को प्राप्त किया जाता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। जिसमें उद्यम है, उसको पुरुष कह सकते हैं। जो उद्यमहीन है, उसको, साधारण लोग भी कहते हैं 'अरे! तुम भी कोई आदमी हो!' उद्यमहीन को लोक में, 'यह आदमी भी नहीं है', ऐसा कह दिया जाता है। सामान्य रूप से लोक में पुत्र उत्पन्न करने की सामर्थ्य को पुरुषत्व कहा जाता है। जिसमें पुत्रोत्पादन की सामर्थ्य नहीं होती उसे नामर्द कहते हैं। संस्कृत में ऐसे को कहते हैं नपुंसक। जिसके कारण व्यक्ति में पुंबुद्धि होती है, वह पौरुष है। उसे भगवान् कह रहे हैं कि मेरा रूप है। भगवान् ने खास करके नृषु, अर्थात् 'मनुष्यों में' कहा। तात्पर्य है कि जो धर्म, अर्थ, काम के लिये पौरुष करता है, या अविद्या-निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है, उसी को पुरुष कहा जा सकता है। जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किसी के लिये कुछ नहीं करता, वह काहे का आदमी है!।।८।।

सातवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायों के अंदर भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। दसवें में ज़्यादा विस्तार से किया है, यहाँ संक्षेप में किया है, परंतु संक्षेप में आधारभूत सारी चीज़ें इसके अंदर कह दी हैं। दसवें के अंत में स्पष्ट कह देते हैं कि 'मेरी विभूतियों का अंत नहीं हैं क्योंकि संसार के कण-कण और क्षण-क्षण के अंदर मैं विद्यमान हूँ। सारे संसार को मैं ही आविष्ट करके रखता हूँ।' इस बात को यहाँ भी भगवान् ने शुरू में ही कह दिया था। सब अपने में प्रोत बताने के लिये और भी प्रकारों का उल्लेख करते हैं

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथ्वी में मैं सुगंध हूँ, अग्नि में दीप्ति हूँ, सब प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।

आकाश के अंदर अपना स्वरूप बतलाया था शब्द, जल के अंदर अपना स्वरूप बतलाया था रस, अर्थात् तन्मात्राओं के गुणों को बतला रहे हैं। उसी क्रम में आगे पृथ्वी को कहा। यहाँ पृथ्वी कह रहे हैं गंधतन्मात्रा को, पृथ्वीतन्मात्रा को। जो जल हमें मिलता है उस में तो बहुत सी चीज़ें मिली हुई हैं उसमें पृथ्वी आदि सब के गुण मिले हुए हैं। आजकल की भाषा में उसमें लवण, खनिज आदि मिले हुए हैं। सभी का उसमें असर आयेगा। यहाँ जल जैसे रसतन्मात्रा कही, इसी प्रकार पृथ्वी भी सूक्ष्म को कहा। सामान्य रूप से जिस पर हम खड़े हैं उसको पृथ्वी कहते हैं। लेकिन हम शास्त्रीय भाषा में जहाँ गंध होती है उसी को पृथ्वी कहते हैं। दूसरे लोकों में पृथ्वी है या नहीं, जल है या नहीं? हम लोगों का लक्षण है कि जिस इंद्रिय के द्वारा जो चीज़ गृहीत है वही उसका रूप है। जैसे जीभ स्वाद को लेती है इसलिये वह रस ही है। इसी तरह से नासिका के द्वारा जहाँ भी गंध मिलती है वह पृथ्वी है, चाहे जहाँ ब्रह्मांड में चले जाओ। सारा ब्रह्माण्ड, सब कुछ वेदांत के अनुसार पंचमहाभूत से ही बना हुआ है। भगवान् ने कहा 'पुण्यो गन्धः।' पूर्व श्लोक में समझाया था कि मधुर रस परमात्मा का रूप है। उसका कारण यहाँ आकर भगवान् ने कह दिया 'जो अच्छी सुगंध होती है, वह मेरा रूप है।' जो खराब गंध होती है वह जीव के अपने अविद्या-काम-कर्मों से प्रसूत है। भगवान् ने जो पृथ्वी बनाई, गंध तन्मात्रा, वह तो सुरभि ही है, हमारे कर्मों के कारण ही उसमें दुर्गन्ध आती है। जैसे खराब रस जितने हैं, सारे के सारे हमारे कर्मों के कारण हैं, ऐसे ही परमेश्वर ने जो बनाई वह पुण्य अर्थात् सुखद गंध है। इसलिये वही उनका स्वरूप है। अतः कहा कि सुगंधरूप मुझ में पृथ्वी प्रोत है। यहाँ पुण्य कहा है, इसी से रस, शब्द आदि सब में पुण्य-विशेषण समझ लेना चाहिये। कुछ आचार्यों ने खासकर शब्दस्थल में माना है कि चित्त सर्वथा एकाग्र होने पर हृदयाकाश के अंदर जिस अनाहत ध्वनि का योगी लोग दर्शन करते हैं उसका भगवान् ने उल्लेख किया है। हम लोग जितनी ध्वनि सुनते हैं वह आहत है, अर्थात् दो चीज़ों के भिड़ने से पैदा होने वाला शब्द है। परंतु आकाश में जो सर्वदा रहता है वह अनाहत ध्वनि है, जो किन्हीं चीज़ों के आपस में टकराने से पैदा नहीं होती। वही पुण्य शब्द है। शब्द के अंदर जो कर्कशता आदि आती हैं वे सब हमारे कर्मों के फल से आती हैं। इसी प्रकार जब नासिका के ऊपर योगीजन चित्त एकाग्र करते हैं, तब जिस सुगंध को अनुभव करते हैं, वही यहाँ भगवान् की विभूति कही है। इस प्रकार यहाँ जो पुण्य कहा वह सर्वत्र उपलक्षणा के

लिये है। कुछ आचार्यों ने यह भी कहने का प्रयत्न किया है कि 'पृथिव्यां' के आगे जो 'च' लगा हुआ है वह जलादि का संग्रह करने के लिये है। भाष्यकार ने तो यहाँ उपलक्षणा ही की है, चकार से पुण्य को सर्वत्र नहीं लगाया है।

'विभावसौ तेजः अस्मि' विभावसु कहते हैं अग्नि को, अग्नि में जो तेज अर्थात् दीप्ति है, वह मेरा रूप है। प्रभा और दीप्ति या तेज में बहुत थोड़ा फ़र्क है : प्रभा के द्वारा केवल चमकीले प्रकाश को कहा जाता है, और तेज से गर्मी-युक्त प्रकाश को कहा जाता है। यद्यपि दोनों शब्द प्रकाश को कहते हैं, तथापि सूर्य के अंदर हमारी दृष्टि से चमक बहुत तेज़ है, और अग्नि के अंदर गर्मी ज़्यादा होती है। लोक में भी जहाँ प्रकाश को कहना होता है वहाँ प्रभा शब्द का प्रयोग करते हैं। अग्नि के अंदर जो गर्मी वाला प्रकाश है, तेज, वह भगवद्-रूप है। यहाँ भी पुण्य की अनुवृत्ति कर लेना, अर्थात् जो तेज सुखद होता है; जैसे सर्दी के मौसम में आग के पास बैठने से सुखानुभूति होती है, अतः वह पुण्य का फल है जबकि गर्मी में उसी आग के पास बैठना दुखद होता है अतः वह पुण्य का फल नहीं, पाप का फल है! परमेश्वर का तेज रूप तो सुखद ही है, उसके अंदर जो दुःख, पीडा इत्यादि हैं वे जीव के अपने अविद्या ओर अधर्म से उत्पन्न हैं।

'सर्वभूतेषु जीवनं' जितने जीवित पदार्थ हैं, अर्थात् सारे प्राणियों में भगवान् जीवन हैं। प्राणी 'प्राणी' इसीलिये कहे जाते हैं कि उनमें प्राणन क्रिया हो रही है। जैसे ही प्राणन क्रिया बंद होती है वैसे ही कहते हैं 'अब तो ठंडा पड़ गया, ले जाओ।' ले जाते हैं श्मशान घाट पर। प्राण को चाहे नासिका के अंदर देखो, चाहे आँख के अंदर देखो। आँख से भी परीक्षा करते हैं प्रकाश इत्यादि डाल कर। जीवित मनुष्य होता है तो आँख के अंदर प्रतिक्रिया होती है, अन्यथा नहीं होती। आँखों में क्रिया करने वाला भी प्राण है। नासिका में मुख्य प्राण है ही। नाडी में भी प्राणन देखते हैं, हृदय में भी देखते हैं। हर हालत में, आदमी मरा है या नहीं यह प्राणन क्रिया से ही पता लगता है। जिससे सब प्राणी जीते रहते हैं उसी का नाम जीवन है। जीवन को हिंदी में कहेंगे जीना। अतः भगवान् का कहना है कि जीवित प्राणियों में जीना नाम की जो चीज़ है वह मेरी विभूति है। कहीं-कहीं जल को जीवन कहा है। कुछ लोगों ने यहाँ भी जीवन का जल अर्थ किया है। भाष्यकार ने तो कह दिया 'येन अन्नरसेन जीवन्ति' जिस अन्नरस से जीते हैं वह जीवन है। कुछ प्राणी संसार में ऐसे भी मिलते हैं जिनको जल की आवश्यकता नहीं है, जल के बिना जीते हैं। अग्नि में भी कुछ प्राणी हुआ करते हैं। वहाँ पर जल का नाम-निशान नहीं है। आधुनिक लोग प्रायः मान कर चलते हैं कि जहाँ पानी है वहीं जीवन है। इसलिये जीवन का जल अर्थ किया जाये तो कोई विरोध नहीं है। परंतु उसमें वे प्राणी छूट जाते हैं जो बिना जल के रहते हैं।

'तपश्चास्मि तपस्विषु।' तपस्वी तपस्वी कब तक कहा जा सकता है? जब तक

उसमें तप है। कृच्छ्र चांद्रायणादि तप हैं। उजले पंद्रह दिनों तक एक-एक कौर बढ़ा कर खाना, और काले पक्ष में एक-एक कौर घटा कर खाना। इस प्रकार चंद्रमा की गति के साथ भोजन को घटाना-बढ़ाना, इसको कहते हैं 'चांद्रायण।' चंद्र की गति के अनुसार होने से चांद्रायण कहलाता है। कौर कितना बड़ा होवे? जितना बड़ा मुर्गी का अण्डा होता है उतने बड़े को एक कौर कहते हैं। जो भी तुमको दाल, भात, रोटी, साग खाना है, सब मिलकर उतना ही होना चाहिये। खाली 'कौर' कहते तो किसी का मुँह बड़ा होता है, वह एक पूरी पूड़ी मुँह में डाल लेता! इसलिये परिमाण बतला दिया। पंचाग्नि तपना भी तप है। चारों तरफ आग जला लो, ऊपर में सूर्य तप रहा हो यों पंचाग्नि तपते हैं। सर्दी के मौसम में, माघ के महीने में पूरे महीने तक संगम में स्नान करके गंगा-यमुना के मध्य में जो ज़मीन छूट जाती है वहीं रहना भी तप है। तप का मतलब कष्ट-सहन होता है। जैसे ये तप हैं ऐसे ही 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।' मन और इन्द्रियों को परमात्मा के चिंतन में लगाना परम तप है। केवल परमात्मा ही मन व इंद्रियों की सारी क्रियाओं का उद्देश्य होवे इसको परम तप कहते हैं। परम अर्थात् श्रेष्ठ है। जैसे शरीर के तप हैं वैसे यह मन व इंद्रियों का तप है। परमात्मा को अग्र में रखने के लिये तुम को श्रवण-मनन करना पड़ता है, इसलिये श्रवण-मनन भी तप है। हर हालत में, जो जब तक तप को करेगा वह तभी तक तपस्वी कहा जायेगा। यह इसलिये कह रहे हैं कि लोक में बहुधा किसी ने कुछ समय तप किया तो उसका नाम तपस्वी पड़ जाता है, फिर भले ही वह तप छोड़ दे, नाम उसका तपस्वी चलता रहता है। किंतु भगवान् का अभिप्राय है कि जब तक तप है तभी तक तपस्वी है। अतः कहा कि तपस्वियों के अंदर तप-रूप से मैं स्थित हूँ। इसलिये तपस्वी को देखो तो याद रखो कि उसमें जो तप है वह परमात्मा का रूप है।।९।।

इस प्रकार से स्थूल चीज़ों का वर्णन करके, अब सूक्ष्म का वर्णन करते हैं

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

हे पार्थ! सभी भूतों का मुझे चिरन्तन बीज समझो। बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में मैं प्रगल्भता हूँ।

बीज उसको कहते हैं जो अपने पूर्ण आकार को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। उपनिषदों में बीज की विशेषता को कहानी रूप से बतलाया : शिष्य से गुरु ने कहा 'सामने बरगद का पेड़ है, उसके फल को ले आओ।' वह फल ले आया। 'इसको तोड़ो।' शिष्य ने उसको तोड़ा। 'देख इसमें क्या है?' बटके फल में छोटे-छोटे बहुत बीज होते हैं, हज़ारों की तादाद में। उसने कहा 'ये छोटे बीज दीख रहे हैं।' उन्होंने कहा 'इसको भी तोड़ो।' उस छोटे से दाने को भी उसने तोड़ा। 'इसमें देखो, क्या दीख

रहा है?' शिष्य ने कहा, 'इसमें तो कुछ नहीं दीख रहा है।' तब उन्होंने कहा 'जहाँ तुम को कुछ नहीं दीख रहा है उसी में यह सारा पेड़ छिपा हुआ है। इसको बोने से ही इतना बड़ा बरगद का पेड़ निकल आता है। इसलिये उसी में छिपा हुआ है। इस बात को श्रद्धा से ही जानना पड़ता है।' बीज बो कर सारा पेड़ पैदा होता है यह बीज लगाने वाला तुम से कहता है, उसकी बात का विश्वास ही करते हो। अन्यथा, तुम खुद लगा कर देखो तो तुम को पता लगेगा, परंतु लगाने में प्रवृत्ति भी तभी करोगे, जब उसकी बात का विश्वास करोगे। अगर पहले ही कहोगे 'इसमें कुछ नहीं दीख रहा है। इसको बोने को क्यों कह रहे हो, मैं बेवकूफ हूँ क्या?' तो न तुम्हारी प्रवृत्ति होगी, न तुम्हें पता ही लगेगा। इसी प्रकार, श्रुति कहती है कि तुम्हारे हृदय रूपी गुहा के अंदर जितना बड़ा यह संसार है वह सारा मौजूद है। हृदय के अंदर ध्यानादि अभ्यास करके तुम इस चीज़ का अनुभव कर सकते हो। लेकिन उसके पहले अगर तुम शंका करो कि इतने छोटे-से हृदय में इतना बड़ा संसार कैसे हो सकता है? तो समाधान दुर्लभ है। कुछ उसका उपपादन बतला देते हैं स्वप्न के अंदर इतना बड़ा संसार कहाँ पैदा हो जाता है? तुम्हारे हृदय में, मन में ही तो होता है अतः हृदय में संसार का होना नामुमकिन नहीं है। हृदय के अंदर एक अत्यंत सूक्ष्म छिद्र है, छिद्र के अंदर खाली जगह, आकाश है। जब ध्यान के द्वारा तुम इस का साक्षात्कार करते हो, तब तुम को पता लगता है कि वहीं वह परमात्मा है जो इस सारे जगत् का कारण है। परंतु पहले श्रद्धा करोगे तब तुम ध्यान करना शुरू करोगे। जैसे बीज बोने में प्रवृत्ति के लिये, तुमको श्रद्धा रखनी पड़ती है वैसे ही इस अव्यक्त से यह सब निकलकर आया है इस बात को समझने के लिये भी श्रद्धा से ही प्रवृत्ति करनी पड़ती है।

'भूत' अर्थात् जीते हुए लोग। जीवित व्यक्ति की सबसे बड़ी विलक्षण शक्ति क्या है? कौन-सी ऐसी शक्ति है जो जीवित सब लोगों में होती है और जड किसी चीज़ में होती नहीं? अपने जैसे ही गुण-धर्म वाले को पैदा करना यह जीवित चीज़ की विशेषता है। केंचुआ केंचुए को ही पैदा करेगा, साँप साँप को ही पैदा करेगा, ठीक अपने जैसे साँप को पैदा करेगा। मनुष्य मनुष्य को उत्पन्न करेगा। इसी को बीज शक्ति कहते हैं। जीवित प्राणी की विशेषता है कि अपने जैसा दूसरा बना देना। यह शक्ति तुम को किसी जड़ चीज़ में नहीं मिलेगी। पहाड़, पहाड़ को पैदा नहीं कर पायेगा। पर छोटा-सा अमीबा भी दूसरे अमीबा को अपने जैसा ही पैदा कर देगा। सारे प्राणियों में, प्ररोह का जो कारण है, वह शक्ति परमात्मा है। इसीलिये वेदे में पुत्रोत्पत्ति को धार्मिक कार्य माना गया है। हम लोग पुत्रोत्पत्ति को भोग के लिये नहीं मानते, क्योंकि यह परमात्मा की शक्ति है। गृहस्थ का धार्मिक कर्त्तव्य है योग्य संतति को पैदा करना। जब बच्चा पढ़कर घर जाता है तब उसको उपदेश देते हुए गुरु कहता है कि अब तुम पढ़ चुके, समावर्त्तन हो रहा है, विदा कर रहे हैं तुम्हें, आचार्य के लिये प्रिय धन अर्थात् उनके

लिये दक्षिणा देकर अब घर जाकर के 'प्रजातंतु' को मत तोड़ना। अर्थात् योग्य पुत्र को उत्पन्न करना तुम्हारा धर्म है।' प्रजा का मतलब ही होता है तुम्हारे जैसी चीज़; जा मायने जो उत्पन्न होवे। शास्त्रों में बड़े नियम बतलाये हैं, उन नियमों के अनुसार अर्थात् प्रकर्ष से उत्पन्न करो। एक वेद को जानने वाला पुत्र चाहिये तो क्या करना चाहिये, दो वेदों को जानने वाला पुत्र चाहिये तो क्या करना होगा इत्यादि शास्त्र में विस्तार से बताया है। इसी प्रकार, यदि विद्वान् लड़की चाहते हो तो तुम को क्या करना चाहिये यह भी बताया। योग्य पुत्र उत्पन्न करोगे नियमों से, फिर उसको शिक्षा-दीक्षा दोगे, तब तुम्हारे जैसा ही वह होगा। यह जो शक्ति है, यह भगवान् की विभूति है। शंका होगी कि प्राणी जब पैदा होगा तब यह शक्ति पैदा होगी, प्राणी के मरने के बाद वह शक्ति समाप्त भी हो जायेगी; परमात्मा तो नित्य हैं, इसे कैसे परमात्मा की विभूति समझें? इसके समाधान में कहा 'सनातनम् बीजं मां विद्धि।' हमेशा होने वाली शक्ति को विभूति जानो। जैसे तुम में प्रजनन-शक्ति है वैसे ही आगे जिसको तुमने पैदा किया, उसमें भी प्रजनन शक्ति है। इस तरह यह शक्ति हमेशा ही बनी रहेगी, उपाधि बदलती रहेगी। अथवा, सनातन बीज का अर्थ है सृष्टि के पहले जो बीज रूप से अव्यक्त मौजूद है जिस अव्यक्त से सारी सृष्टि बाहर निकल कर आई है, वह इस सारी सृष्टि का बीज है। हर महाप्रलय के बाद सब कुछ बीज रूप में रह जाता है। फिर सृष्टि-काल में बीज का प्ररोह होता है, सब चीज़ें पैदा होती हैं। उसको भी 'सनातनम् बीजं' समझ सकते हैं।

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।' बुद्धि का अर्थ हमारे यहाँ होता है धर्म और अधर्म का, आत्मा और अनात्मा का विवेक होना। आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, धर्म क्या है और अधर्म क्या है इस बात को निश्चित रूप से, ठीक तरह से समझना बुद्धि है। वर्तमान काल में हिंदी भाषा में बुद्धि शब्द का प्रयोग चाहे-जहाँ करते हैं। जो वकील झूठी गवाहियाँ देकर हत्यारे को बचा लेता है उसकी बड़ी तारीफ़ की जाती है, कि 'वह बहुत बुद्धि वाला है, जिसको किसी तरह से कोई नहीं बचा सकता था, उसको इसने बचा लिया।' परंतु हमारे यहाँ उसको बुद्धि वाला नहीं कहेंगे। अधर्म को धर्म सिद्ध करने वालों को हम लोग बुद्धिमान् नहीं मानते हैं। धर्म और अधर्म को ठीक प्रकार से निश्चित रूप से जाने, आत्मा और अनात्मा को ठीक रूप में निश्चित रूप से जाने, उसको बुद्धिमान् कहते हैं। यह विवेक शक्ति परमात्मा की विभूति है। वकील की जिसे बुद्धि कहते हो वह जीव के अविद्या और पाप के कारण होती है, वह परमात्मा की विभूति नहीं है। वैदिक संस्कृति में बुद्धि कहते हैं विवेक-शक्ति को। ठीक प्रकार से धर्म और अधर्म का निश्चित ज्ञान होना यह बुद्धिमान् में रहता है और वह शक्ति परमेश्वर की विभूति है। इस बात का संकेत इसलिये भी कर देते हैं कि आगे (१०.४१) भगवान् कहेंगे कि जहाँ कहीं भी तुम्हें विशेष शक्ति का दशर्न होता है उसे मेरी विभूति समझो।

वहाँ शंका होगी कि विशेष शक्ति किसको माना जाये? दुनिया-भर को ठग कर जिसने करोड़ों रुपये इकट्ठे कर लिये हैं, क्या वह परमात्मा की विभूति होगा? वह परमात्मा की विभूति नहीं होगा। जो धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसके अनुसार जीवन व्यतीत करता है, उसको जो श्री की प्राप्ति होती है, वह परमात्मा की विभूति हम लोग मानते हैं।

'तेजस्तेजस्विनामहम्' जैसे अंतःकरण की शक्ति जब धर्माधर्म का ठीक तरह से विवेक करती है तब बुद्धि कही जाती है उसी प्रकार किसी भी चीज़ का तुरंत सही जवाब उपस्थित हो जाना अंतःकरण का तेज कहा जाता है। बहुत बार देखोगे कि किसी ने कोई बात कही, तुम्हें पता है कि वह बात गलत है, लेकिन वह ऐसी युक्ति से कहता है कि तुम उसका जवाब नहीं दे पाते! जानते हो कि ग़लत है, लेकिन तुम्हारे पास युक्ति नहीं है। पाँच-सात दिनों बाद अकस्मात् तुम्हें याद आता है, 'अरे! उसको यह जवाब दे सकते थे।' इसका मतलब है कि तुम में तेज शक्ति जिसे कहते हैं उसकी कमी है अतः समय पर विषय उपस्थित नहीं होता। ठीक बात समय पर तुरंत उपस्थित हो जाये, यह तेज भगवान् की विभूति है। कभी किसी से दबने की ज़रूरत तेजस्वी को नहीं पड़ती। तेजस्वी का जो तेज है, वह परमात्मा की विभूति है। जब तेजस्वी को देखो तब उसके तेज में परमात्मदृष्टि करो।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतकुल-भूषण! बलवानों में मैं कामना और राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध कामना हूँ।

बल का महत्त्व बाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा 'बलं वाव विज्ञानाद् भूयः, अपि ह शतं विज्ञानवताम् एको बलवान् आकम्पयते' कि सौ बुद्धिमान् इकट्ठे होवें और एक तगड़ा लठैत आ जाये तो सौ बेचारे कुछ नहीं कर सकते, लठैत के सामने चुप हो जाना पड़ता है! लठैत का मतलब खाली लाठी वाला ही नहीं समझना; कई बार किसी से बात करो और भगवान् ने उसको गला अच्छा दिया है तो वह चिल्लाकर भी चुप कर देता है। इतने ज़ोर से बोलता है कि जिसकी आवाज़ हल्की होती है वह बेचारा बात ठीक कर रहा हो, तो भी उसकी कोई सुनता ही नहीं है। सब सोचते हैं कि ऊँचा बोलने वाला ही ठीक कह रहा है। किसी भी प्रकार से दूसरे को दबा लेना बल है। इसलिये आचार्य कहते हैं 'बलम् सामर्थ्यम् ओजः'। भगवान् स्पष्ट करते हैं कि कौन-सा बल मेरा रूप समझना। अत्याचार, दुराचार, दूसरों को पीडित करने इत्यादि वाले को भगवान् अपनी विभूति नहीं कह रहे। भगवान् ने कहा 'कामरागविवर्जितम् बलं' जिस बल का किसी कामना को लेकर प्रयोग नहीं किया जाता है, अपनी किसी इच्छा के कारण नहीं

किया जाता है, वह विभूति है। वैसे तो काम और राग दोनों मिलती-जुलती वृत्तियाँ हैं काम मायने भी इच्छा ही होता है, राग मायने भी इच्छा ही होता है परंतु यहाँ दोनों कहा है, इसलिये दोनों में सूक्ष्म भेद है : जो विषय अपने सामने नहीं है उसकी कामना होती है और जो विषय प्राप्त है उसके प्रति राग होता है। जो अपने पास नहीं है उसकी इच्छा को कामना कहते हैं। जो चीज़ अपने पास है उसके लिये जो इच्छा होती है कि हमारी ही बनी रहे, वह राग है। विभूति होने के लिये बल इन दोनों से रहित होना चाहिये। न किसी प्राप्त विषय को अपना बनाये रखने के लिय जिस बल का प्रयोग हो और न किसी अप्राप्त विषय को प्राप्त करने के लिये हो, वह बल विभूति है।

लोक में बल तो इन्हीं दो के लिये प्रयोग किया जाता है। इसलिये आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं 'देहादिधारणमात्रार्थं बलम्' कि शरीर-धारणमात्र के लिये जो बल है वह यहाँ विवक्षित है। अर्थात् इच्छाओं से प्रेरित होकर जो बल प्रयोग में लाया जाता है वह भगवान् की विभूति नहीं है, जो शरीर-धारणमात्र के लिये आवश्यक है वही बल विभूति है। इसलिये भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं 'न तु यत् संसारिणां तृष्णारागकारणम्।' सांसारी जो जीव हैं, उनके अंदर जो बल होता है, वह तृष्णा और राग को पैदा करता है। तृष्णा अर्थात् काम। सांसारिक बल काम और राग को बढ़ाता है। सामान्य रूप से देखोगे, कि बल के कारण लोग अनुचित काम करते हैं, यदि बल पास नहीं होता तो ऐसे कार्य नहीं करते। जो बल तुम्हारे काम और राग वाला होता है तथा राग और काम को बढ़ाने वाला होता है, वह भगवद्-विभूति नहीं है। बुद्धि और तेज के साथ भी काम-राग-विवर्जितता समझ लेना : काम और राग को बढ़ाने वाली बुद्धि को विभूति नहीं समझना, इसी प्रकार काम और राग को बढ़ाने वाला जो प्रागल्भ्य है, दूसरे को गलत जवाब तुरंत देकर चुप कर देना है, वह भगवान् की विभूति नहीं है। जैसे नौवें श्लोक के 'पुण्यः' शब्द का सर्वत्र संबंध समझना चाहिये वैसे 'कामरागविवर्जितम्' का भी सभी जगह संबंध समझ लेना चाहिये।

'भूतेषु कामोऽस्मि' प्राणियों में कामना मैं हूँ यह भगवान् ने कहा। पहले भगवान् ने कहा था 'सर्वभूतेषु जीवनं'; वहाँ किसी विशेषण को नहीं दिया था। अर्थात् जिसके द्वारा जीवित रहते हैं वह जीवन तो प्राणियों में स्वाभाविक है। पर कामना अज्ञान के कारण होती है। अविद्या-काम-कर्म यह क्रम आचार्य शंकर बार-बार हमें याद दिलाते हैं। जब हम अपने व्यापक भाव को भूलते हैं तब कामना होती है। जब इस बात को समझते हैं कि 'इंद्र के रूप में स्वर्ग का राज्य भी मैं ही कर रहा हूँ, क्योंकि इंद्र के शरीर में जो राज्य करने वाला चेतन है वह मैं ही हूँ', तब किस विषय के लिये, कामना होगी? अतः कामना इस तथ्य को न जानकर शरीर-मन को मैं समझकर ही होती है। हमारी सब कामनाएँ शरीर-मन के उपयोगों से ही संबंधित होती हैं। शरीर-मन का संदर्भ हटा दें तो कोई काम्य विषय रह ही नहीं जाता। मेरे कारण शरीर और मन कार्य कर रहे

हैं। मैं हूँ, इसलिये वे कामना भी कर रहे हैं। उनके किये को मैं अपने सिर पर ओढ़ लेता हूँ। इस तरह अज्ञान होता है तभी *हम* कामना करते हैं। खूब विचार करके देख लो जो भी कामना आती है, वह या तो शरीर के लिये आती है कि शरीर को यह चीज़ मिले, या मन के लिये आती है, अथवा शरीर-संबंधियों के लिये आती है; पत्नी के साथ हमारा संबंध शरीर को लेकर ही है। यह शरीर छूट जायेगा, उसके बाद पत्नी से क्या संबंध है? कुछ नहीं। पुत्र के साथ संबंध शरीर को लेकर है। शरीर छूट जायेगा उसके बाद पुत्र से क्या संबंध है? कुछ नहीं। अतः संबंधियों के लिये कामना भी शरीर केन्द्रित ही है। शरीर की शांति के लिये शरीर की तृष्णा पूरी होगी, मन की शांति के लिये मन की तृष्णा पूरी होगी, वास्तविक मैं तो उससे असंबद्ध हूँ। जिससे जीते रहते हैं वह जीवन तो जब तक हम जीवित हैं रहेगा ही, पर कामना तभी तक रहेगी जब तक अविद्या है, अज्ञान है। स्वाभाविक होने से 'जीवन' को धर्माविरुद्ध इत्यादि नहीं कहना पड़ा किंतु कामना के लिये विशेषणा दे दिया 'धर्माविरुद्ध' अर्थात् धर्म से जो विरुद्ध नहीं है, उस कामना को मेरा रूप समझो। धर्म से विरुद्ध जो कामना होती है वह छोड़ने के लायक है, उपास्य नहीं है।

मन में कामना उठती कैसे है? जब हमारा संस्कार प्रारब्ध के अनुकूल फल देने में प्रवृत्त होने वाला हो तभी हमारे मन में कोई भी संकल्प आता है। कामना संकल्प से होती है। किसी चीज़ को हम अच्छा सोचेंगे तब उसकी कामना होगी कि उसे प्राप्त करें। कामना के बीज में 'अच्छा-बुरा' पड़ा है। जिसको हम अच्छा समझेंगे, उसकी ही कामना होगी। जिसको अच्छा नहीं समझेंगे उसकी कामना नहीं होगी। कभी मन में यह कामना नहीं आती। कि बहुत दिनों से पेट खराब नहीं हुआ, थोड़ी दस्त लग जाये तो बहुत अच्छा रहे। जिसको हम अच्छा समझते हैं उसकी कामना होती है। इसलिये भगवान् आगे कहेंगे 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं' मुझ से ही संकल्प आता है, मुझसे ही स्मृति आती है। स्मृति संस्कारजन्य होती है, संस्कार से पैदा होती है। प्रारब्ध का फल देने के लिये संस्कार खड़ा होता है और संकल्प रूप से किसी चीज़ में 'अच्छा' बोध कराता है। बिना अच्छा या बुरा की भावना के संकल्प बनेगा नहीं। इसलिये जो धर्म से विरुद्ध है उसमें 'यह अच्छा नहीं वरन् बुरा है' यह संकल्प बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सारे संकल्प संस्कारों से उठते हैं। धर्म-विरोधी संस्कार हमें आगे दुःख देने वाले हैं। इसलिये धर्म से अविरुद्ध कामना को तो होने देना है, अधर्म की कामना को संकल्प के स्तर पर ही ख़त्म करो अर्थात् उससे विरुद्ध संस्कार को प्रबल करने का प्रयत्न करो। संस्कारों को धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ता है, एक दिन में संस्कार प्रबल नहीं हो जाते। अगर पुराने संस्कार प्रबल हुए हैं तो भी इसलिये कि हम उनको बहुत प्रश्रय देते रहे। हमारे सामने कोई रसगुल्ला लाया, रसगुल्ला खाया, अच्छा लगा; संस्कार क्या बनता है? 'रसगुल्ला अच्छा होता है।' इस संस्कार को वहीं रोकने का प्रयत्न ऐसे विचार

से होता है कि रसगुल्ला अच्छा लगा क्योंकि उस समय पुण्य का प्रारब्ध था, पुण्य के फल वाला होने से रसगुल्ला हमें अच्छा लगा। जिस समय पुण्य का प्रारब्ध नहीं होता है, उस समय रसगुल्ला भी सुख नहीं देता। तुम्हारी दुकान में आग लग गई, उस समय रसगुल्ला सुख देगा क्या? उस समय रसगुल्ला जहर की तरह लगता है। रसगुल्ला अगर सुख देने वाली चीज़ होती तो सब परिस्थितियों में सुख देती। देती नहीं है। इसलिये पता चलता है कि रसगुल्ले के द्वारा सुख नहीं मिलता है सुख तो हमारे, शुभ कर्म, पुण्य के कारण मिलता है। जितना यह संस्कार दृढ होता जायेगा, उतना जो अभी संस्कार है कि 'चीज़ों से सुख होता है', उसकी जगह 'पुण्य से सुख होता है' यह दृढ होगा, तब पुण्य के विरुद्ध जो भी कामना होगी वह प्रबल हो नहीं पायेगी।।११।।

कुछ चीज़ें तो भगवान् ने गिना दीं उपासना की दृष्टि से, अब भगवान् अपनी सर्वरूपता को बतलाते हैं। शुरू में कहा था 'मत्तः परतरं नास्ति' मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। प्रश्न हुआ कि परमेश्वर सब में अनुस्यूत किस रूप से है, कैसे हम समझें कि परमेश्वर अनुस्यूत है? इसके उत्तर में भगवान् ने बताया कि परमात्मा को किस प्रकार सर्वत्र देखा जाये, समझा जाये, यदि ज्ञान की दृष्टि से देखे; और किस प्रकार से चिंतन किया जाये, उपासना की जाये। उसके लिये कुछ दृष्टांत दिये। अब भगवान् मूल विषय पर आते हैं कि वस्तुतः तो मैं सर्वरूप ही हूँ

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

जो भी सात्त्विक, राजस, व तामस पदार्थ हैं, उनके बारे में जानो कि वे मुझसे ही पैदा हैं। मैं उन पर आश्रित नहीं, वे मुझपर आश्रित हैं।

सात्त्विक भाव प्राप्त करने के लिये और अभ्यास करने के लिये बताये हैं जबकि राजस-तामस छोड़ने के लिये कहे हैं। बतलायेंगे भगवान् तीनों तरह की विभूतियाँ, लेकिन तीनों में से राजस-तामस छोड़ने के लिये हैं और सात्त्विक प्राप्त करने के लिये हैं। राजस-तामस परमात्मा के भाव नहीं हैं यह बात नहीं है, पर करने के नहीं हैं, छोड़ने के लिये जानने के हैं।

'ये सात्त्विका भावाः' जो सत्त्व गुण से होने वाले पदार्थ हैं; शम, दम, शांति, धैर्य आदि सत्त्वगुण से होने वाले भाव हैं। वे सब मुसझे ही हैं। हर्ष, दर्प आदि राजसिक भाव हैं जो छोड़ने के हैं। हिंदी में तो हर्ष का मतलब केवल खुशी होती है परंतु संस्कृत में केवल खुशी उसका अर्थ नहीं है, खुशी से जो मन में एक घमंड आता है वह हर्ष है। हर्ष की प्राप्ति होती है तो मनुष्य के अंदर दर्प अर्थात् घमंड आता है। भगवान् बतलायेंगे (१६.१३) कि सफलता से किस तरह घमंड होता है। जब हर्ष का कारण नहीं रहता है तब विषाद हो जाता है। स्वामी विद्यारण्य कहते हैं कि जिस राजा को दूसरे

ने हरा करके बंदी बना लिया है, उसको एक गाँव का अधिपति बना देवें, तो भी वह संतुष्ट हो जाता है जबकि जिस राज्य के ऊपर कोई आपत्ति नहीं आई है, किसी साम्राज्य से भी उसकी तृप्ति नहीं होती, अड़ौसी-पड़ौसी साम्राज्यों को जीतना चाहता है! इस प्रकार सफलता से होने वाला जो हर्ष-विशेष है, उससे दर्प होता है।

धर्मसूत्र नियम बतलाता है कि जब मनुष्य के अंदर दर्प आता है तब वह धर्म के विरुद्ध जाता है, धर्म का अतिक्रमण करता है। इसीलिये इसे राजस भाव कहते हैं। 'तामसाः' शोक, मोह, प्रमाद, आलस्य ये सब तमोगुण से होने वाले पदार्थ हैं। ये सारे भाव प्राणियों के अपने-अपने कर्मों के वश से होते हैं। भगवान् ने कहा है कि 'कर्म करना तुम्हारे हाथ में है, फल देना मेरे हाथ में है।' कर्म करने में जीव स्वतंत्र है। कर्म करने में तुम्हारा *ही* अधिकार है पर कर्म करने के बाद फल के बारे में तुम कुछ नहीं बोल सकते। कर्मफल का नतीजा देनेवाला परमेश्वर है। पहले हमने जो-कोई राजस-तमस कर्म किय हैं, उनके राजस-तामस संस्कार हैं, वे जब फल देने वाले होंगे तब कर्मफल देने वाला परमेश्वर हमारे अंदर राजस-तामस संस्कारों को जगायेगा। आगे उनके अनुसार हम काम करें या न करें इसमें हम स्वतंत्र हैं। मन में तो आयेगा, परंतु मन में आने पर भी अगर अच्छी तरह से समझ लिया है कि इन राजस-तामस भावों को रख कर हमारा नुकसान ही होगा, फायदा नहीं, तो तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। किंतु फलदाता ईश्वर से ही ये भाव जीव के अंदर आते हैं।

'तान्विद्धि' उनको जानो। जो राजस-तामस भाव आ रहे हैं, ये करने के लिये नहीं हैं यों इन्हें जानना है। भाव आयेगा पहले के संस्कार से, उसको नहीं रोक सकते। इसी प्रकार सात्त्विक को भी जानो कि यह सात्त्विक भाव आ रहा है, इसके अनुसार करना है। हर बात जो मन में आई है उसे मानना ही है, ऐसा नहीं। मन में तो सब तरह की बातें आयेंगी, माननी चुनकर ही हैं। अंदर में सभी इच्छायें पैदा करता तो परमात्मा है लेकिन क्यों करता है? तुम्हारे कर्मों के फलानुसार ही परमेश्वर तत्तत् भाव तुम्हारे अंदर लाता है। अभी हम लोग ये राजस-तामस भाव आ रहे हैं, इन्हें छोड़ना है, ये सात्त्विक भाव आ रहे हैं, इन्हें करना है इस प्रकार मन के भावों को समझते नहीं हैं, जो मन में भाव आता है, हमें लगता है कि उसके अनुसार करना ही है। इस प्रवृत्ति से रुकने के लिये भगवान् ने कहा 'तान्विद्धि'।

प्रश्न होता है कि ये सब आप से आये हैं, ये सात्त्विक-राजस-तामस भाव बदलने वाले हैं तो आप भी क्या बदलने वाली चीज़ हैं, विकारी हैं? सारे शास्त्र परमेश्वर को निर्विकार कहते हैं। अतः भगवान् कहते हैं 'न त्वहं तेषु', यद्यपि ये मुझ से उत्पन्न होते हैं फिर भी उनमें मैं हूँ नहीं अर्थात् उनके अधीन मैं नहीं हूँ। मेरे अंदर वे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाते। जिस प्रकार मरु भूमि के अंदर दीखने वाला मृग-मरीचिका का जल क्यों दीख रहा है? मरुभूमि है इसलिये दीख रहा है। परंतु क्या उस पानी से

मरुभूमि थोड़ी भी गीली होती है? नहीं। इसलिये कहा 'न त्वहं तेषु' मैं उनके वश में नहीं हूँ। यही फ़र्क है कर्मफलदाता परमेश्वर में और संसारी हम लोगों में। भगवान् राजस, तामस भावों को उत्पन्न करते हुए राजस, तामस नहीं होते और सात्त्विक भाव को उत्पन्न करते हुए सात्त्विक नहीं होते। संसारी जीव सात्त्विक-राजस-तामस जो करता है, वैसा ही *हो* जाता है, वैसा ही अपने को विकारी समझ लेता है। वास्तव में सारे भाव मेरे अंदर कल्पित हैं जैसे मृगमरीचिका का पानी मरुभूमि में कल्पित है।

भगवान् ने पहले विभूतियों को बतलाते हुए कहा था कि मैं उनमें किस रूप से हूँ। यहाँ 'न त्वहं तेषु' कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि मैं अपने शुद्ध रूप से उनमें नहीं हूँ, कल्पित रसादि रूपों से ही वहाँ हूँ। रस्सी है, रस्सी का है-पना रस्सी के साथ हमेशा है, आज रस्सी है, कल भी रस्सी रहेगी; यहाँ रस्सी है, बरामदे में ले जायेंगे तो भी रस्सी रहेगी। किंतु रस्सी में जो साँप दीखता है उस साँप में भी एक है-पना दीखता है, यही दीखता है कि 'साँप है'; वह साँप का है-पना कैसा है? रस्सी के है-पने की तरह नहीं है। रोशनी आई तो साँप का है-पना गायब! रस्सी को जला दोगे तो राख बचेगी, कह सकते हो कि पहले यहाँ साँप था। किंतु ऐसे, रस्सी साँप थी यह नहीं कह सकते हो। जब तुम को साँप दीख रहा था तब भी रस्सी ही थी। रस्सी के है-पने से साँप के है-पने की प्रतीति है। रस्सी है तभी तक सर्प है, रस्सी को वहाँ से उठा लो तो सर्प को अलग से नहीं उठाना पड़ता। साँप में जो है-पना है वह रस्सी का है-पना है, परंतु वह है-पना कल्पित है रस्सी का है-पना साँप के संबंध से कल्पित है, साँप के साथ उसका जो संबंध है वह कल्पित है, सच्चा नहीं है क्योंकि साँप ही सच्चा नहीं है! इसी प्रकार परमेश्वर में सारा जगत् है। परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता जगत् में प्रतीत होती है, है वह परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता। इसीलिये कहा जाता है कि परमेश्वर सब चीज़ों में है। जैसे रस्सी का है-पना ही साँप में है, इसी प्रकार परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता ही संसार में हैं परंतु जैसे रस्सी में है-पना सचमुच है जबकि साँप में जो दीख रहा है, वह कल्पित है, वैसे जब कहते हैं कि परमात्मा सब चीज़ों में है, तब उसका मतलब है कि परमात्मा की सच्चिदानन्दरूपता पदार्थों में कल्पित है। परमात्मा की सच्चिदानंदरूपता को हम लोग संसार के विषयों में कल्पित करते हैं। इसलिये भगवान् ने दोनों बातें कही, 'न त्वहं तेषु', वास्तविक रूप से मैं उनमें नहीं हूँ, परंतु 'ते मयि' वे सारे मेरे अंदर हैं। मेरे अंदर होने के कारण मेरी सच्चिदानंद-रूपता उनमें कल्पित हो जाती है।

हम लोगों ने अपने को एकतावादी नहीं कहा है। हम अपने को अद्वैतवादी कहते हैं। आचार्यों ने लिखा कि द्वैत जहाँ नहीं है वह अद्वैत है। एक है यह हमारा कहना नहीं है। द्वैत नहीं है इतना ही कहना है। द्वैत उपस्थित है तो अधिष्ठानरूप से ब्रह्म उपस्थित है ही, परंतु द्वैत के कारण ब्रह्म सामने होने पर भी प्रतीत नहीं हो रहा, प्रकट

नहीं हो रहा है। जैसे ही द्वैत का निषेध हो जाता है, तो जिसका निषेध नहीं किया जा सकता वह अपने आप बच जाता है। अतः उस एक ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है। जैसे ही द्वैत का निषेध हो जाता है, वैसे ही जो बच जाता है वह ब्रह्म है। उपाधियों को हटाने से अधिष्ठान स्वतः बच जाता है, अधिष्ठान को कहीं से लाना नहीं पड़ता। 'न त्वहं तेषु' से द्वैत का निषेध कर दिया, 'ते मयि' से अपनी अधिष्ठानरूपता को बतला दिया।।१२।।

स्वतंत्र परमेश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है तो जगत् की अनित्यता अशुद्धता आदि क्यों और अपरा प्रकृति अर्थात् जीव की संसारिता क्यों? इसका उत्तर अगले श्लोक से देते हैं

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

गुणकार्य रागादि तीनों (प्रकार के) पदार्थों से यह सारा जगत् (प्राणिसमूह) अविवेकग्रस्त हुआ इन गुणों से विलक्षण मुझ निर्विकार को नहीं जानता है।

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला परमात्मा सारे जड-चेतन का वास्तविक रूप है। स्वयं उसके अंदर कोई रूप नहीं है। यह एक बड़ी कठिनाई हम लोगों के सामने आती हैः अधिकतर लोग समझते हैं कि हम बहुत-से देवताओं को मानते हैं जबकि वेद कहता है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' देव तो एक ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जब याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं कि कितने देवता हैं, तब वे कहते हैं 'तैंतीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस'। फिर पूछता है 'कितने देवता हैं यज्ञवल्क्य?' वे कहते हैं 'तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तीन सौ तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तीन।' 'फिर बताओ कितने हैं? 'दो।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'डेढ़।' 'फिर बताओ कितने हैं?' तब कहा 'एक। बाकी सब उसी का प्राकट्य है।' एक ही परमात्मा है, उसका अपना रूप कोई नहीं है, अनेक रूपों को धारण करके उसने बतलाया कि मेरा रूप कोई नहीं। अगर परमात्मा एक ही रूप में होता तब तो निश्चय हो जाता कि यह परमात्मा का रूप है। अनेक रूपों में होने से ही यह निश्चय होता है कि वह निर्गुण निराकार है, बाकी सारे आकार उसने धारण किये हैं, वे उसके वास्तविक रूप नहीं हैं।

आजकल की भाषा में समझ लो कोई फिल्मों का एक्टर है देवदत्त। कभी वह बड़ा बहादुर बन जाता है किसी बाइसकोप में, किसी में बड़ा डरपोक बन जाता है, भागने वाला बन जाता है। किसी में बदमाश डाकू बन जाता है, किसी में डाकू को पकड़ने वाला पुलिस का आदमी बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप वह धारण करता है परंतु उनमें से कोई रूप उसका है नहीं। इसी प्रकार परमात्मा अनेक रूप धारण करते हुऐ दीखते

हैं उनका अपना रूप कोई नहीं है। जो उसका रूप है नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, निराकार; वह संसार रूपी जो दोष है, उसके बीज अज्ञान को जलाने वाला है। उस रूप को समझोगे तो संसार का सारा दाह ख़त्म हो जायेगा। इसीलिये उस रूप को कोई पहचानता नहीं। क्यों भगवान् पहचान में नहीं आते? क्योंकि जैसे ही भगवान् पहचान में आयेंगे वैसे ही संसार का मूल कारण अज्ञान ख़त्म हो जायेगा, जिस प्रकार रस्सी को जानते ही सर्प ख़त्म हो जाता है। अथवा किसी कपड़े पर राम जी बने हुए हैं, हाथ में धनुष-बाण लिये हुए हैं, सामने दशमुख रावण रथ के ऊपर बैठा हुआ है, भगवान् पैदल खड़े हैं यह सब तुम को वहाँ दीख रहा है पर सचमुच में वहाँ क्या है? सिवाय कपड़े के और कुछ तो नहीं है! कपड़े को देखोगे तो तुम को यह सब कुछ नहीं दीखेगा। कपड़ा राम भी बना हुआ है, रावण भी बना हुआ है। ऐसा कुछ नहीं है कि राम वाला कपड़ा कुछ अच्छा होवे, और रावण वाला कुछ बुरा होवे! कपड़े की दृष्टि लोगे तब तो वहाँ सिवाय कपड़े के कुछ नहीं है। परंतु चित्र की दृष्टि लोगे तो राम जी को नमस्कार करोगे और रावण को बहुत बुरा बतलाओगे। इसी प्रकार से यदि परमात्मा के निर्गुण निराकार रूप को तुम समझ लेते हो, पहचान लेते हो, तब तो जितना भेद का दोष है, वह सारा का सारा हट जाता है, एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं रहता है। इसलिये कपड़ा जानने में नहीं आता।

कल्पित कपड़े को तो जानते हो! रामचन्द्र जी पीला कपड़ा पहने हुए हैं। रावण नीला कपड़ा पहने हुए है। नीला कपड़ा और केसरिया कपड़ा जो तुम को दीख रहा है वह कपड़ा होने पर भी कल्पित कपड़ा है क्योंकि असली कपड़ा तो सफेद है। चित्र जिस पर आंका है वह कपड़ा तो सफेद ही है। नीले कपड़े में तुम को जो कपड़ापना दीख रहा है वह तो कपड़े का कपड़ापना है परंतु वह सच्चा कपड़ापना नहीं है क्योंकि उसमें कल्पित नीलापना है। ठीक इसी तरह से भगवान् कहते हैं 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' ये जो सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गुणमय भाव हैं, इनसे सारे-के-सारे प्राणी मोहित हैं। अर्थात् परमात्मा के ऊपर जो यह जगत् चित्र है उससे हम सब लोग मोहित हैं। और इसलिये 'मामेभ्यः परमव्ययम् नाभिजानाति', सात्त्विक, राजस, तामस इन सब भावों से परे जो मेरा अव्यय रूप है, अविकृत रूप है, जिसमें जन्मादि सारे विकार भाव नहीं होते, उस मेरे पर रूप को कोई पहचान नहीं पाता। जब तुम चित्र में राम को देख रहे हो, तब भी कपड़ा वही है; जिस कपड़े के ऊपर सारे आकार देखे जा रहे हैं वह कपड़ा कहीं अन्यत्र नहीं है, वहीं है; पर बना हुआ चित्र तुम्हारे मन को इतना मोहित कर देता है कि उस चित्र को देखते हो, चित्र जिसमें है उसको नहीं देखते। पता ही नहीं लगता है कि चित्र का आधारभूत कपड़ा कैसा है क्योंकि कपड़ा दीखता ही नहीं है। ऐसे ही इन भावों के द्वारा मोहित होने के कारण ही जीव परमात्मा को नहीं जान पाते।

किसी चीज़ को सर्वथा नहीं जानना अज्ञान है, परंतु चीज़ को जानते हुए भी नहीं

जानना मोह है। जैसे, ऐसा नहीं है कि पिता अपने लड़के की कमज़ोरी नहीं जानता। लेकिन जानते हुए ही, उस कमज़ोरी को नज़र-अंदाज़ करता है। दूसरे के बच्चे में वही कमज़ोरी हो तो हर समय पता रहता है कि यह इसकी कमज़ोरी है परन्तु अपने लड़के की कमज़ोरी का पता होते हुए भी उसको नज़र-अंदाज़ किये रहते हैं। इस मोह से परवश होकर प्राणी समझ-बूझकर भी उचित कदम न लेकर अनुचित निर्णय ले लेता है। मोह- ग्रस्त व्यक्ति विवेक के अयोग्य ही हो जाता है। अज्ञानी तो ज्ञान ग्रहण कर लेगा पर मोही क्योंकि सच को जानकर छिपा रहा है इसलिये वह ज्ञान को भी स्वीकारता नहीं। अतः भगवान् ने बताया कि मोहित होने से परमार्थ वस्तु की अभिज्ञा से जीव वंचित है, इसी का नाम मोह है।।१३।।

माया, जीव को तो मोह में डालती है, पर ईश्वर को मोह में नहीं डालती। ईश्वर में नहीं रहती यह बात नहीं है। रहते हुए भी उसको मोह में नहीं डालती। इस माया को पार कैसे किया जा सकता है, इसे बतलाते हैं

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

क्योंकि मेरी यह गुणात्मिका माया मुझ ईश्वर के अधीन है और इसे पार कर पाना अतिकठिन है इसलिये जो मेरे ही प्रपन्न होते हैं वे ही इस माया को पार कर जाते हैं।

'एषा' जो हम लोगों को रात-दिन दीखती है। जो तीनों गुणों के भाव बतलाये थे, उनमें से एक-न-एक जाग्रत् अवस्था में हमेशा बना ही रहता है। कभी सात्त्विक भाव बनेंगे, कभी राजस बनेंगे, कभी तामस बनेंगे। बिना इन तीन भावों के हम लोग कभी नहीं हैं। इसलिये यह माया प्रत्यक्षसिद्ध है। 'गुणमयी माया' सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप ही यह माया है। है तो एक, एक होने पर भी इसके अंदर ये तीन गुण प्रकट होते हैं। इसलिये कहा कि माया तीनों गुणों से भरी हुई है। कभी एक गुण प्रकट होता है तो कभी दूसरा गुण प्रकट होता है।

क्या माया, कापिल लोग जिसे प्रकृति कहते हैं वही है? इसके उत्तर में कहा कि वही नहीं है क्योंकि यह 'दैवी' है। माया को समझने के लिये तीन गुणों को बताते हैं फिर भी सांख्यों की प्रकृति से इसमें मूल फ़र्क है कि यह दैवी है। 'दिव्' धातु का अर्थ चमकना, प्रकाश, ज्ञान, खेलना आदि होता है। माया सच्चिदानंदरूप परम ब्रह्म परमात्मा में ही रहती है इसलिये यह दैवी है। रहती किस लिये है? ताकि परमात्मा इसके द्वारा यह सारा खेल कर लें! परमात्म देव के लिये तो यह खेल है। परंतु मोहित, मुग्ध जो जीव हैं उन्हें इसमें सुख-दुःख का अनुभव होता है। पुराणों में वर्णन आता है भगवान् शंकर प्रदोष की शाम को नृत्य कर रहे हैं। नाचने में हाथ-पैर हिलते ही हैं। जब उनका हाथ ऊपर जाता है, तब ब्रह्माण्ड फटने की स्थिति हो जाती है और जब पैर की एडी

से ताल देते हैं तब पृथ्वी डावाँडोल हो जाती है! वे तो खेल के लिये नाच रहे हैं पर लोगों में ऐसा असर हो रहा है। इसलिये क्रिया एक-साथ खेल भी है और घबराहट पैदा करने वाली भी है। शिव के लिये जो नृत्य है उसी से हम लोगों को लगता है कि पृथ्वी डोल गई! एक भूकम्प हुआ और सारा का सारा सौराष्ट्र ध्वस्त हो गया। इतनी बड़ी पृथ्वी है, उस में एक छोटी-सी जगह में थोड़ा-सा डोल जाना कोई बड़ी बात नहीं है। पृथ्वी की दृष्टि से कोई बड़ा भयंकर काम नहीं हुआ। लाखों मील की पृथ्वी में दो-चार मील के अंदर ही ज़्यादा नुकसान हुआ। लेकिन वहाँ रहने वालों के लिये कैसी आपत् हो गयी। इसी प्रकार से कभी सोचो कि तुम्हारे बालों में जब जूएँ होती हैं और तुम कंघी फेरते हो तो उनका क्या हाल होता होगा! तुम कोई उनको दुःखी करने के लिये कंघी फेर नहीं रहे हो, लेकिन उनके लिये तो बड़ी भयंकर परिस्थिति हो जाती है। परमात्मा के लिये तो क्रीडा है परंतु हम लोगों के लिये 'दुरत्यया' है, जिसका अतिक्रमण करना, जिसके पार जाना बड़ा भारी दुःख है : पहले तो शुभ कर्म करो; वही महा दुःख लगता है। सवेरे चार बजे उठकर, स्नान आदि करो यही भयंकर दुःख लगता है। माया का स्वरूप क्या है? गर्मी के मौसम में रातभर गर्मी रहती है, धीरे-धीरे थोड़ी ठंडक होते हुऐ, ठीक चार बजे ठंडी हवा चलती है। छत पर सोये हुए हो तो उसी समय नींद का बहुत मीठा झोंका आता है। रात-भर तो गर्मी के मारे नींद ठीक से आ नहीं पाती। किंतु धर्म के लिये उसी समय उठ जाना है। अतः दुःख लगता है। इसी प्रकार सर्दी के अंदर रात-भर लिहाफ में हो और शरीर बिलकुल गर्म है, उसी समय चार बजे बाहर खूब ठंडक होती है तथा धर्म के लिये वही उठने का समय है। अतः दुःख लगता है। उठने से लेकर सोने तक जो धर्म का कार्य होगा उसमें दुःख ज़रूर महसूस होगा। इसलिये माया दुरत्यया है। शुभ कर्म करना ही कठिन मामला है। इस कठिनाई के कारण लोग अन्य-अन्य पंथों की तरफ चले जाते हैं। फिर, भजन करने आसन से बैठो। छठे अध्याय में यही सब भगवान् ने बतलाया था। कुर्सी पर बैठ कर क्या भजन नहीं कर सकते? लोग पूछते हैं। किन्तु भगवान् कहते हैं आसन से बैठो। कोई कहता है, 'अरे! क्या फ़र्क पड़ता है? भजन ही तो करना है। बिछौने पर लेटे-लेटे ही भजन कर लो, हर्जा क्या है?' तो लोगों को जँचता है 'हाँ, यह ठीक बात कर रहा है।' फिर भगवान् कहते हैं, कर्म ही करो, उसके फल की आशा मत करो। हम लोग दो चीज़ें चाहते हैं कर्म और फल। शास्त्र कहता है कि कर्म ही करो, यही तुम्हारा काम है। फल देना भगवान् का काम है। इसलिये फल उनको अर्पण कर दो। यह और कठिन मामला है।

जब ऐसा दुःख वाला तरीका अपनाया जाये तब जाकर तुम्हारे में विवेक शक्ति आयेगी, सत्य-असत्य का विवेक आयेगा। फिर, इस सारे असत्य संसार को छोड़ो। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इनमें से हर कार्य दुःख वाला है। मन जिधर चाहे उधर न जाने दो यह शम है। इद्रियाँ जहाँ चाहें, उधर न जाने दो यह दम है।

ये सभी साधन करने में अत्यन्त दुष्कर लगते हैं। उसके बाद, शास्त्रों का श्रवण करो, मनन करो, युक्ति-पूर्वक विचार करके निश्चय करो कि शास्त्र जो कह रहा है वही ठीक है तब जाकर परमात्मतत्त्व तुम्हारे सामने प्रकट होता है। इसलिये कहा 'दुरत्यया।' परमात्मा को प्राप्त करना कढ़ी खिचड़ी खाने की तरह नहीं है! आज-कल लोगों की यह समस्या बहुत ज़्यादा है। लोग कहते हैं, 'महाराज, कोई सरल तरीका होना चाहिये।' पर भगवान् ने ही कह दिया 'दुरत्यया', सरल तरीका नहीं है। बहुत कठिन है।

'ये' जो लोग यह निर्णय कर लेवें, कि परमात्मा का साक्षात्कार करना ही है। मैं ईश्वर, इस सारी माया को धारण करने वाला, तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ हूँ। किस रूप से बैठा हुआ हूँ? हृदय में जो चैतन्य रूप है, उसी रूप से बैठा हुआ हूँ। उसकी ही शरण में जो जाते हैं, प्रपन्न होते हैं अर्थात् एकमात्र उसका आश्रय लेते हैं, वे इस माया का अतिक्रमण कर जाते हैं जो सारे प्राणियों को मोहने वाली, पूर्व श्लोक में कही गई माया है। जो कठिन साधनों द्वारा अपने अंदर स्थित परमात्मदेव का साक्षात्कार करते हैं वे तर जाते हैं अर्थात् फिर उनको माया के सात्त्विक, राजस, तामस भावों से मोह नहीं होता। माया से मोह नहीं होता है इसी का नाम मुक्ति है। वेदान्त का सिद्धांत है कि अज्ञान से बंधन है और ज्ञान से मुक्ति है। किसी लोकान्तर में जाना अथवा नहीं रह जाना ये दोनों ही वेदांत में मुक्ति नहीं है। अनेक लोगों ने तरह-तरह की कल्पनायें कर रखी हैं लोकान्तरों के बारे में। यह नहीं कह रहे हैं कि लोकान्तर नहीं हैं, पर यह कि लोकान्तरों में जाना कैवल्य मुक्ति नहीं है। क्यों? परमात्मा तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है, कहीं जाकर उनकी प्राप्ति कैसे होगी! जहाँ जाओगे, वहाँ से तो फिर वापिस आना पड़ेगा। भगवान् ने कह ही दिया 'पुनरावर्तिनः' (८.१६) कि सभी लोकों का स्वभाव पुनरावर्तन है। इसलिये कहीं जाना कैवल्य नहीं है। अपने हृदय में बैठे हुए परमात्मा को न जानना यही बंधन है, और उसमें बैठे हुए को जानना यही मुक्ति है। जो इस प्रकार से दुःख से किये जाने वाले काम कर लेते हैं वे ही आत्मबोध पा सकते हैं।।१४।।

यदि इस प्रकार आपकी प्रपत्ति से बंधन निवृत्त हो सकता है तो सब लोग क्यों नहीं ऐसा करते? आपकी ही प्रपत्ति, आपकी ही शरण में सब लोग क्यों नहीं आ जाते? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

माया से जिनकी समझ चुरा ली गयी है, हिंसा झूठ आदि आसुरी भावों पर जो आश्रित हैं, ऐसे पापकारी मूढ अधम नर मेरी प्रपत्ति नहीं करते।

'दुष्कृतिनः' जो पाप कर्म ही करने वाले हैं। पाप का कारण राग द्वेष हैं। पाप कभी

स्वभाव से नहीं किया जाता। किसी से पूछो 'तुम्हारा नाम क्या है?' जो नाम है वही बतायेगा। कोई उससे नहीं कहता, 'तुमने अपना सच्चा नाम क्यों बताया?' किन्तु अगर हमें पता है कि हमारे नाम का वारंट निकला हुआ है, पूछने वाला सी.आई.डी. विभाग का है, तो पूछने पर हम झूठा नाम बता देते हैं क्योंकि पकड़े जाने से बचना चाहते हैं। सच बोलने में कारण कुछ नहीं होता, स्वभाव से बोला जाता है। झूठ बोलने में कारण होता है। ठीक इसी प्रकार से जितने दुष्कर्म हैं, सब राग या द्वेष से होते हैं। जो राग-द्वेष से प्रवृत्त होंगे वे सारे दुष्कर्म हो जाते हैं।

'मूढाः' मूढ आदमी तुरंत होने वाले फल को ही देखता है, दूर के फल को नहीं देखता। शक्कर का जो मूढ रोगी होता है, वह मिठाई सामने आने पर खा लेता है। इसी प्रकार जो अम्ल-पित्त का रोगी होता है, वह चांदनी चौक में जाकर चाट खा लेता है। उस समय भी कोई उससे पूछे 'अरे! तुम्हें तो अम्ल-पित्त है, तुम ऐसी चाट खा रहे हो!' कहेगा 'जी, कई दिनों से नहीं खाई थी आज सुबह से तो पेट ठीक है।' उसे पता है कि चाट खाने से रात में तकलीफ होगी, परंतु कल्पना करता है कि शायद न होवे। बस, यही मूढता है। राग द्वारा जो प्रवृत्त होते हैं वे आसक्ति वाली क्रिया के अंदर मूढ हो जाते हैं। इसलिये वे लोग 'नराधम' हैं। नर किसको कहते हैं? श्रुति कहती है 'न कर्म लिप्यते नरे', नर वे हैं जो कर्म से लिप्त नहीं होते। कर्म से व्यक्ति लिप्त राग के कारण होता है। अमुक कर्म किया तो अमुक फल मिलेगा यह फल के प्रति जो राग है, इसके कारण कर्म में व्यक्ति लिप्त होता है। नर वह है जिसने राग को हटा दिया है इसलिये कर्मफल में उसे कोई लेप नहीं है, कोई राग नहीं है। विषयों में जो रमण न करे वही नर है। जो दुष्कृति है, वह हर काम के लिये फल देखता है।

मीमांसा शास्त्र कहता है कि नित्य नैमित्तिक कर्म करने ज़रूर हैं और उनका फल कुछ नहीं! नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करोगे तो दंड मिलेगा, करोगे तो कुछ नहीं मिलेगा। लोग कहते हैं कि फिर काहे के लिये करें? कर्त्तव्य कर्म भी बिना फलाशा के नहीं करना चाहते। और बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें धर्म की दृष्टि से हम लोग करने को कहेंगे। रोज़ सवेरे तुलसी चरणामृत लिया करो। लोग पूछते हैं 'तुलसी लेने से क्या फ़ायदा?' उनको बतला देवें कि तुलसी रोग-नाशक है तब तो कहेंगे 'हाँ हाँ, इसीलिये तो शास्त्र ने इसे लेने को कहा है।' अर्थात् यह मानना नहीं चाहते कि तुलसी लेना कर्त्तव्य है। हम लोग भी कह देते हैं प्रवृत्त करने के लिये कि अमुक फल होता है, परंतु विचार करो जो तुलसी चरणामृत के साथ ली जाती है वह कितनी थोड़ी होनी चाहिये? इतनी कि दाँतों के नीचे न आवे। औषधि के लिये लेना होवे तो उसकी मात्रा और तरीका ही अलग हो जाता है। फिर भी ऐसा कहना पड़ता है क्योंकि अगर फल कहो, तब तो लोगों की प्रवृति होती है, नहीं तो कोई प्रवृत्ति नहीं होती। आजकल एक चाल चली है कि धार्मिक कृत्य का इहलौकिक प्रभाव बताया जाये। किसी प्राचीन ज़माने के अंदर

भी ऐसा कोई मत था। आचार्य कुमारिल भट्ट लिखते हैं 'प्रायेणैवेह मीमांसा लोके लोकायतीकृता' लोक में साधारण लोगों ने मीमांसा को लोकायत शास्त्र बना दिया! मायने यह मानना कि जो कुछ शास्त्र में कहा है उसका फल यहीं है। लोकायत होते हैं जो कहते हैं कि बस इस लोक के अंदर ही सब कुछ है, आगे-पीछे कुछ नहीं है। सारे धर्म को केवल यहीं फल देने वाला मान कर गतार्थ समझना यह नरों में अधमता है। अगर राग है तो कम-से-कम स्वर्ग में राग करो, ब्रह्मलोक में राग करो, तब तो कर्म-उपासना करोगे। केवल इस संसार में राग करोगे तो पहले तुम तुलसी लोगे, फिर कोई कहेगा 'अरे! तुलसी की अपेक्षा तो ऐंटीबायटिक ज़्यादा फ़ायदा करेगी', तो तुलसी छोड़ वह लेने लग जाओगे। इसलिये लोकायत सिद्धांत को मानने के कारण इनको नरों में अधम कहा। इनकी अपेक्षा जो कम-से-कम स्वर्गादि लोक में फल की इच्छा रखते हैं वे नर तो नहीं हैं लेकिन सर्वथा अधम भी नहीं हैं।

ऐसे जो दुष्कर्म करने वाले मूढ नराधम वे 'मां न प्रपद्यन्ते', मेरी प्रपत्ति कर ही नहीं सकते, मेरी शरण आ ही नहीं सकते। क्यों नहीं आ सकते? परमात्मा से कुछ छिपा नहीं रहता। देवताओं से तो काम बनाया जा सकता हैः हमने हनुमान् जी से कहा 'मैं इम्तिहान पास हो जाऊँ प्रथम श्रेणी में तो आपको ग्यारह रुपये के लड्डू चढ़ाऊँगा।' मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि हनुमान् जी को क्या पता कि सालभर मैंन पढ़ा तो है ही नहीं! किंतु परमात्मा के साथ ऐसा कर नहीं सकते। इसलिये परमात्मा के सामने वह जा ही नहीं सकता, जिसने भली प्रकार से धर्माचरण नहीं किया है। इसलिये ऐसों के लिये कहा 'मां न प्रपद्यन्ते।' मुझ परमेश्वर की शरण वे लोग नहीं आ सकते क्योंकि 'माययापहृतज्ञानाः' माया ने ऐसा उनको मोह में डाला हुआ है कि ज्ञान, विचार कभी सुन भी लें तो वह अपहृत हो जाता है। जिसको पहले मोहित से कहा था उसी को यहाँ पर अपहृत से कह दिया। माया अपहरण कर लेती है तुम्हारे ज्ञान का। ज्ञान नहीं है ऐसी बात नहीं है। जब तुम अपने नौकर को डाँट कर कहते हो 'पाँच रुपये का सामान है, तुम हमें सात रुपये बतला रहे हो, झूठ बोलते शर्म नहीं आती है?' तब तुम्हें यह पता है कि झूठ बोलना बुरा है, तभी उसको कह रहे हो, डाँट रहे हो। उसकी पीठ थपथपाते तो नहीं कि 'कलियुग है, इसके अंदर सच कहाँ बोला जाता है! तुमने ठीक किया, झूठ ही बोलना चाहिये था।' परंतु जब तुम उसी झूठी बात को करते हो तब कैसा लगता है? 'अजी, कलियुग का ज़माना है, सच से चल नहीं सकता ऐसा तो करना ही पड़ता है।' ज्ञान है, परंतु त्रिगुणात्मिका माया के कारण वह ज्ञान उस समय अपहृत होता है।

इसलिये मूढ लोग कैसे होते हैं? 'आसुरं भावमाश्रिताः' आसुर भाव का आश्रयण करते हैं। असु कहते हैं प्राणों को। 'गतासून्', जिनके असु चले गये और 'अगतासून्' जिनके असु हैं, अर्थात् ज़िंदा और मरे, दोनों का ही पण्डित शोक नहीं करते ऐसा दूसरे

अध्याय में कहा था। असु अर्थात् प्राण, उसमें ही जो रमण करे, वह असुर है। अर्थात् जो खाना, पीना, मौज करना बस इसी में रमण करते हैं। इसका दृष्टांत भारतवर्ष की वर्तमान सरकारें स्पष्ट हैं। कोई कहता है कि भारत चमक रहा है, कोई कहता है कि सब लोग अच्छा महसूस कर रहे हैं। पूछो 'क्यों?' जवाब देते हैं 'इतनी सड़कें बन गईं, इतनी गाड़ियाँ बढ़ गईं, इतना लोगों के पास कपड़ा हो गया।' पूछो कि झूठ बोलना बढ़ा कि कम हो गया? कहते हैं 'चलिये, वह बात और है। हम तो प्रगति की बात कर रहे हैं।' अर्थात् प्रगति तो केवल इन बाह्य चीज़ों से होती है। पहले साम्यवादी (कम्युनिस्ट) कहा करते थे : रोटी, कपड़ा और मकान बस ये ही ठीक होने चाहिये। इसी की बढ़त को वे उन्नति मानते थे। अब वही बात हर व्यक्ति उन्नति की बात करता है तो कहता है। धर्म की, नैतिकता की बात कभी करता ही नहीं। एक डाक्टर बता रहे थे, कि विश्व स्वास्थ्य संगठन की बैठक में गये थे। वहाँ आँकड़ों से बताया गया कि भारत का बावनवाँ नम्बर है स्वास्थ्य की दृष्टि से। उसके बाद जब आपस में बात-चीत कर रहे थे तब किसी अमरीकन ने उनसे कहा, 'तुम इतने बड़े देश होकर स्वास्थ्य-दृष्टि से बावनवें क्रम में हो, तुम्हें शर्म नहीं आती?' उन्होंने कहा 'नहीं, हमें शर्म नहीं आती। तुमने उन्नति के अपने मापदंड बना रखे हैं। जिन चीज़ों में तुम उन्नत हो उन्हीं को तुमने उन्नति का मापदंड बना लिया। उसके अनुसार हम बावनवें क्रम में हैं। आगे हम पूछें कि तुम्हारे यहाँ कितनी चोरी होती है? कितनी डकैती होती है? कितनी पत्नियाँ पतियाँ को छोड़ जाती हैं, पति पत्नियों को छोड़ जाते हें? कितने लोग मानसिक तनाव से ग्रस्त रहते हैं? इन सब आँकड़ों से मापदंडों को बनायेंगे तो हम पहले-दूसरे क्रम में आ जायेंगे और तुम बावनवें नंबर पर चले जाओगे!' उन्नति का जो मानदंड पाश्चात्य देशों ने बनाया, हमारे यहाँ भी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वही मानने लग गये। अतः मोटर आ गई तो मानते हैं कि उन्नति हो गई। पर झूठ बोलना शुरू कर दिया तो अवनति हो गई यह नहीं जँचता है। रोज़ कितने घोटाले होते रहते हैं, अपराध बढ़ते जाते हैं, फिर भी सरकारी घोषणा होती है कि भारत चमक रहा है! यह आसुर भाव का आश्रयण लेने से ही संभव है।

असु अर्थात् प्राणों में, खाना-पीना-मौज करना बस इसी में रमण करने वाला जो भाव है वह आसुर भाव है। उसका आश्रय लेते हैं तो भगवान् का आश्रय लेवें कैसे! भगवान् का आश्रय इसलिये नहीं ले पाते हैं कि उन्होंने आसुर भाव का आश्रय लिया हुआ है, उसी को अपना सहारा मानते हैं।

क्यों भगवान् की तरफ लोग नहीं जा पाते? भगवान् ने बतला दिया कि जो आसुर भाव वाले हैं वे उनकी तरफ नहीं आ सकते क्योंकि आसुर भाव होगा तो दुष्कर्म होगा; जो दुष्कर्मी होगा उसकी भगवान् की ओर आने की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। दुष्कर्मी के अंदर हमेशा आसुरी भाव प्रधान रहते हैं। भगवान् की शरण में आने के लिये

सात्त्विक भाव की प्रधानता चाहिये। क्यों उनमें राजसी-तामसी भावों की प्रधानता है? क्योंकि वे हमेशा ही आसुर भावों में रमते हैं, खाना, पीना, मौज करना बस यही उनके जीवन में एकमात्र महत्त्व की बात है। क्योंकि माया के द्वारा उनका जो ज्ञान है वह अपहृत है, इसलिये इस रहस्य की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता कि मैं कौन हूँ। 'मैं'-रूप से उनके अंदर विद्यमान तो परमात्मा है पर वे 'मैं' को समझना नहीं चाहते, केवल संसार की चीज़ों को ही समझते हैं। उसी तरफ जाते हैं। अतः उनको भगवान् ने कहा 'नराधमाः' कि वे अत्यंत निकृष्ट लोग हैं। इसके द्वारा भगवान् ने संकेतित कर दिया कि ऐसे अधम जनों के साथ संग करने वाला भी ऐसा ही हो जाता है क्योंकि वे बार-बार आसुरी भावों के लिये ही प्रेरणा देते हैं।।१५।।

जो नराधम नहीं हैं, नरोत्तम हैं, उनके बारे में भगवान् कहते हैं

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

भरतोत्तम अर्जुन! चार तरह के पुण्यकर्मा लोग मेरा भजन करते हैं दुःखी, ज्ञानेच्छुक, अर्थेच्छुक और तत्त्ववेत्ता।

पूर्व श्लोक में कहे गये थे दुष्कृति और ये हैं सुकृति। वे हिंसा झूठ इत्यादि में प्रवृत्त थे, ये उससे भिन्न, नित्य नैमित्तिक काम्यादि शास्त्रीय कर्मों से युक्त हैं। वे निषिद्ध कर्मों में लिप्त थे, ये वैध कर्मों को करते हैं, पुण्य कर्मों को ही करने में रुचि लेते हैं। इनकी कामना चाहे अभी ख़त्म नहीं हुई, इसलिये कामना की पूर्ति के लिये काम्य कर्म भी करते हैं। लेकिन कामना की पूर्ति के लिये *अधर्म* का सहारा नहीं लेते, दुष्कर्म नहीं करते। 'जनाः' हैं, अपने को जन्म लेने वाला मानने वाले। 'जनाः' मायने लोग। लोगों को 'जनाः' क्यों कहते हैं? वे जने जाते हैं इसलिये। अर्थात् उनको निश्चित अभिमान है कि 'मेरा जन्म हुआ है।' दुष्कृति लोग तो सर्वथा मूढ हैं क्योंकि जो चीज़ जैसी नहीं है उसे वैसा समझते हैं, किन्तु सुकृति यद्यपि अपने को जन्मने-मरने वाला समझते हैं इसलिये जन तो हैं, तथापि 'मां भजन्ते' इस बात को निश्चित जानते हैं कि इस संसार को चलाने वाला परमेश्वर है अतः उसकी आज्ञा के खिलाफ कार्य न करें। दुष्कृति तो मूढ होने के कारण उनकी शास्त्रादि की तरफ वृत्ति ही नहीं बनती, जबकि ये, चाहे जन्म-मरण के अध्यास वाले हैं परंतु, 'मां भजन्ते', समझते हैं कि सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला परमेश्वर है इसलिये परमेश्वर की आज्ञा में चलना चाहिये। इसलिये परमेश्वर का ही सेवन करते हैं।

'चतुर्विधाः भजन्ते' चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं। सब एक ही कोटि के नहीं हैं। दुष्कृतियों को तो भगवान् ने एक ही कोटि में रखा कि वे आसुर भावों का आश्रयण करने वाले हैं। भक्त केवल प्राणों में रमण नहीं करते, इतना तो ठीक है, पर

इतने मात्र से सब एक प्रकार के नहीं हो जाते। 'चतुर्विधाः' चार प्रकार के लोग भगवान् की सेवा करते हैं। पहले हैं 'आर्त' अर्थात् चोर, शेर, रोग आदि द्वारा जो आक्रांत होते हैं। सामान्य अनुभव सबका है कि साधारण व्यक्ति को जब दुःख आता है तब देवताओं की तरफ जाता है। विद्या चाहिये तो सरस्वती की तरफ जाता है, धन चाहिये तब लक्ष्मी की तरफ जाता है। उसको यह भ्रम रहता है कि अमुक कर्म से अमुक देवता से फल की प्राप्ति हो जायेगी। रोग से आक्रांत हो तो सूर्य की उपासना करता है एक परमेश्वर की तरफ नहीं जाता, लगता है कि सरस्वती जी की उपासना करेंगे तो सरस्वती जी विद्या देंगी, सूर्य की उपासना करेंगे तो सूर्य हमें स्वास्थ्य दे देंगे। ऐसा व्यक्ति सूर्य या सरस्वती को जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला मानकर उपासना नहीं करता।

देवतोपासना की बात दृष्टांत से समझो : भगवान् आगे अपनी विभूतियाँ बताते हुए कहेंगे कि, मनुष्यों में राजा-रूप से मेरी उपासना करो। अगर राजा की उपासना करते हैं और राजा हमें अधर्म का मार्ग बतलाता है, तो क्या करें? यह शंका होती है। समाधानार्थ समझना चाहिये कि नराधिप में परमेश्वर की उपासना करनी है। परमेश्वर का कोई एक ही रूप तो है नहीं, वह सर्वरूपों में है। जिस रूप में उपासना करने को कहा है उस रूप में परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये। नराधिप की उपाधि में परमेश्वर की उपासना करनी है, नराधिप की उपासना नहीं करनी है! समझना यह है कि उसका जो विभूति, ऐश्वर्य है, वह परमेश्वर का ही है। परमेश्वर का ही ऐश्वर्य राजा में दीख रहा है। ऐसे समझ लोः शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी पत्थर में हम विष्णु की उपासना करते हैं। हम उस पत्थर को विष्णु समझते हैं परंतु जानते हैं कि वह पत्थर है। इसलिये जितनी देर तक हम ध्यान करेंगे, पूजा करेंगे, उतनी देर तक उसमें परमेश्वर बुद्धि होगी लेकिन जब स्नान करवायेंगे तब यह नहीं कहेंगे 'पीठ मल लो।' अगर विष्णु सामने होते और उनको स्नान करवाते, तब तो कई कार्य वे स्वयं करते। वह पत्थर है इस बात को हम जानते हैं। फिर भी हम प्रार्थना विष्णु से करते हैं, पूजा विष्णु की करते हैं। करते तो पत्थर के संमुख हैं। हमने जो भगवान् से प्रार्थना की, वह जब पूरी हो गई तब हम यह नहीं मानते हैं कि 'इस पत्थर ने मेरी प्रार्थना पूरी कर दी।' हम मानते हैं कि 'विष्णु ने हमारी प्रार्थना सुन ली।' अधिक अविचारशीलों की यहाँ भी भूल होती है बहुत-से लोग समझते हैं कि पत्थर ही कामनापूर्ति करता है! ऐसे लोग कहेंगे, 'निगमबोध घाट वाले हनुमान् जी ज़्यादा ताकत वाले हैं। कनाट प्लेस के पास वाले हनुमान् जी में इतनी शक्ति नहीं।' इसका मतलब है कि दो हनुमान् जी हुए! ऐसे लोग हनुमान् जी को नहीं समझ रहे हैं, पत्थर-विशेष को ही फल देने वाला समझ रहे हैं। जो थोड़ा भी सत्संगी है उसको ऐसी भ्रांति नहीं होती। वह जानता है कि हनुमान् जी एक हैं। जैसे मूर्ति में, इसी प्रकार नराधिप में, राजा में हमें परमेश्वर की दृष्टि करनी है, राजा को ही परमेश्वर नहीं मान लेना है। इसलिये परमेश्वर ने जो वेद में आज्ञा दी

है उसको हम मानेंगे, उस राजा की आज्ञा को अगर परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध है, तो हम नहीं मानेंगे।

इसी प्रकार देवताओं में उपासना परमेश्वर की करनी है, देवताओं की ही उपासना नहीं करनी है। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला जो एक अखंड परमेश्वर सगुण-ब्रह्म है उसकी आराधना करनी है। यदि आदित्य, सरस्वती इत्यादि मूर्तियों में परमेश्वर फल देने वाला है इस दृष्टि से उनकी पूजा करते हैं, तब तो परमेश्वर की ही पूजा है। परंतु जैसे हमने अभी हनुमान् जी का कहा, वैसे ही कुछ लोग कहेंगे, 'अरे, धन चाहिये तो सरस्वती की पूजा से क्या होगा! लक्ष्मी की पूजा करो।' कहने वाला मानता है कि सरस्वती के द्वारा परमेश्वर नहीं फल दे रहा है, लक्ष्मी के द्वारा परमेश्वर फल नहीं दे रहा है, फल देने वाले तो ये देवता-विशेष हैं। वास्तव में परमेश्वर की उपासना उन-उन मूर्तियों में करनी है। उपासना परमेश्वर की होगी, मूर्ति के माध्यम से होगी।

तब अलग-अलग मूर्तियाँ क्यों? तुम एक ही हो। रात में सोने जाते हो तो पायजामा-कुर्ता पहन लेते हो। सवेरे पूजा करने बैठते हो तो धोती पहन लेते हो। तैयार होकर दफ्तर जाते हो तो पेंट कोट नैक-टाई लगा लेते हो। कहीं भोजन करने जाते हो तो रेशमी धोती पहन लेते हो। अलग-अलग काम करने के लिये अगल-अलग कपड़े पहन लेते हो। पर तुम तो अलग-अलग नहीं हो जाते हो! जब तुम शादी करते हो तो जिसे तुम्हारी पत्नी बनना है वह एक लाख रुपयों का लहंगा पहन लेती है। और सारे शरीर के ऊपर पाँच लाख के हीरे भी पहनती है। तुमने उससे ब्याह किया, घर गये। वह लहंगा आदि उतार कर साधारण साड़ी पहन कर तुम्हारे कमरे में आये और तुम कहो 'अरे! अंदर क्यों आई?' 'मैं आपकी पत्नी हूँ।' तुम कहो 'नहीं, मेरी पत्नी तो लाख रुपये लहंगे वाली है। साड़ी वाली से थोड़े ही मैंने ब्याह किया था!' तो शायद वह सोचेगी तुम्हें पागल-खाने में भर्ती करना पड़ेगा! कपड़ा-गहना बदलने से औरत नहीं बदली। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न काम करने के लिये, परमेश्वर की अलग-अलग विभूतियाँ में उपासना की जाती है, परंतु याद रखने की बात है कि उपाधि के अंदर स्थित परमेश्वर ही फल देने वाला है, देवता आदि उपाधि फल देने वाली नहीं है।

भगवान् यहाँ जिन भक्तों की चर्चा कर रहे हैं वे दुःख पड़ने पर आर्त होकर इस प्रकार से देवता-बुद्धि से नहीं भजते हैं, वे तो एक ही परमेश्वर को सामने रखकर उसकी शरण जाते हैं। ऐसा वही होगा जो सुकृति है। अन्यथा अपहृतज्ञान होकर परमेश्वर को समझेगा ही नहीं।

दूसरा है जिज्ञासु जो परमेश्वर के स्वरूप को जानने की इच्छा करता है कि भगवान् कैसे हैं कैसी उनकी विभूति, ऐश्वर्य इत्यादि हैं, कैसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार परमेश्वर के विषय में जो जानना चाहता है वह जिज्ञासु है। वह यदि समझता

है कि परमेश्वर ही भिन्न-भिन्न गुरु शरीरों के द्वारा ज्ञान देते हैं, ज्ञान देने वाले एक परमेश्वर हैं, तभी उसे यहाँ जिज्ञासु भक्तों में गिना जायेगा। जिस प्रकार अलग-अलग दीखने वाले देवता नहीं, उनमें स्थित परमेश्वर ही फल देने वाला है, उसी प्रकार परमेश्वर गुरुमूर्ति से ज्ञान देते हैं। गुरुमूर्ति द्वारा ज्ञान देने वाला परमेश्वर ही है। इसलिये जैसे राजा की धर्मविरुद्ध बात हम नहीं मानेंगे, उसी प्रकार से कोई कितना ही बड़ा गुरु दीखता होवे, परंतु यदि वह वेदविरुद्ध उपदेश देता है तो उसे हम नहीं मानेंगे। गुरु मूर्ति को जब परमेश्वर कह रहे हैं तब उसके अंदर जो ज्ञानस्वरूप मूर्ति है उसको लेकर ही कह रहे हैं। जैसे राजा में उसकी विभूति, ऐश्वर्य, शक्ति के रूप में प्रकट होती है वैसे ही गुरु-शरीर के अंदर उसकी ज्ञान शक्ति प्रकट होती है।

अर्थार्थी जो अर्थ की, धन की इच्छा वाला है। धन खाली नोट नहीं समझना। हमारे यहाँ गोधन, गजधन, वाजी धन, रत्न धन आदि सब को धन माना है। हाथी धन होता है, घोड़ा भी धन होता है। आजकल के जमाने में मोटर गाड़ी धन है। खाली नोट को धन नहीं समझ लेना। जितने पदार्थ हैं उन पदार्थों में नोट भी आ जाता है। जो धन की इच्छा रखने वाला है वह हुआ अर्थार्थी। आर्त वह है जो जिसको दुःख का कारण समझता है उससे छूटना चाहता है, अर्थार्थी वह है जो जिसको सुख का कारण समझता है उसको पाना चाहता है। भगवान् ने आर्त और अर्थार्थी के बीच में जिज्ञासु को रखा। बीच में रखने का तात्पर्य है कि आर्त भी जिज्ञ.सु हो सकता है और अर्थार्थी भी जिज्ञासु हो सकता है, जिज्ञासु भी आर्त हो जाता है। परमेश्वर के मार्ग पर चल रहा है, जिज्ञासु है, पर भयानक रोग आ गया तो आर्त भी हो जायेगा। नारायण तीर्थ के बारे में कहते हैं कि उन्हें भयंकर उदर-विकार हो गया था। अत्यंत दुःखी होकर उन्होंने भगवान् की स्तुति की, भगवान् ने प्रसन्न होकर उनका रोग दूर कर दिया। ऐसे कोई जिज्ञासु होने पर भी आर्त हो सकता है। जिज्ञासु होने पर भी अर्थार्थी हो सकता है। प्रधानता आर्ति की रहेगी लेकिन साथ में जिज्ञासु भी हो सकता है। इसी प्रकार से अर्थार्थी प्रधानता से पदार्थों को चाहता है परंतु जिज्ञासु भी हो सकता है। इसलिये आर्त और अर्थार्थी के बीच में भगवान् ने जिज्ञासु को रखा।

इनसे अलग है 'ज्ञानी च भरतर्षभ'। ज्ञानी से यहाँ अदृढ अपरोक्ष वाला या जिसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं उससे संपन्न को कहा है। जिसे साक्षात्कार तो नहीं हुआ है परंतु उपनिषदों का भली प्रकार जिसने श्रवण मनन किया है, जिससे निश्चय-मात्र हुआ, ऐसा परोक्ष ज्ञानी या अदृढ अपरोक्ष ज्ञानी यहाँ भक्त कहा गया है। वह दृढ अपरोक्ष के लिये, विज्ञान के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है। परमेश्वर की कृपा से ही उसमें निष्ठा की प्राप्ति होती है। ज्ञानी ने शास्त्र-दृष्टि से जान लिया है कि 'शरीर मन से भिन्न मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ।' फिर भी अनन्त जन्मों की वासना के कारण 'मैं शरीर हूँ या मन हूँ' ऐसे संस्कार का उदय हो जाता है। जब ऐसे संस्कार का उदय होता है, तब उस को तुरंत

बाधना पड़ता है। ज्ञानी भक्त निरंतर कर्ता-भोक्ता भाव का बाध करता ही है, शरीर-मन की प्रारब्ध से होती प्रवृत्ति की स्वयं कोई चिंता नहीं करता, ईश्वरेच्छा पर उसे छोड़ देता है। 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ' ऐसा जो दृढ अपरोक्ष है, जिसको उपनिषद् ने और भगवान् ने भी विज्ञान शब्द से कहा है, उसके लिये ज्ञानी भजन करता है। परमेश्वर मेरा आत्मरूप है ऐसा उसने जान लिया है, इसके सिवाय और कोई चीज़ सत्य नहीं है यह भी जान लिया है, परंतु उस अनुभव में स्थिर होते समय डिग जाता है। वह भगवान् का भजन करता है, अर्थात् बार-बार बाध-प्रक्रिया से अहम् प्रत्यय के अंदर आत्मा का दर्शन करता है, वृत्तिसाक्षी सच्चिदानन्द है इस निश्चय को कायम रखता है और इसमें सफलता के लिये प्रार्थना भी करता है। इस प्रकार भगवान् ने जो सुकृति हैं उनके अंदर आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी को भी ले लिया और ज्ञानी को भी लिया है।।१६।।

क्या ये चारों एक जैसे भक्त हैं? इसके जवाब में कहते हैं

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

इन भक्तों में एकमात्र मुझमें अतिशय प्रेम वाला अत एव सदा समाहित मन वाला ज्ञानी सर्वोत्कृष्ट है। क्योंकि ज्ञानी के लिये मैं अत्यधिक प्रिय हूँ इसलिये वह भी मुझे प्रिय है।

इन चारों के बीच में ज्ञानी नित्ययुक्त है। जो इस बात को जानता है कि परमात्मा वस्तुतः मैं ही हूँ वही नित्ययुक्त, हमेशा परमात्मा में एकाग्र हो सकता है। चूंकि हर बार अनात्मा का और अपने में अनात्म धर्मों का बाध करके अपने सच्चिदानन्द रूप का निश्चय करता है इसलिये नित्ययुक्त है। वह जानता है कि जितना परिदृश्यमान जगत् है यह सारा दुःख का ही कारण है, एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मा मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार तत्त्व के बारे में ठीक प्रकार से जानने के कारण ही वह नित्ययुक्त है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी जो होगा वह भी भगवान् से युक्त तो होता ही है, उन्हीं से प्रार्थना करता है, लेकिन भगवान् की तरफ जाने के साथ में दुःख को हटाना भी चाहता है क्योंकि दुःख को वास्तविक समझता है; इसी प्रकार जिस चीज़ को सुख समझता है उसकी प्राप्ति भी चाहता है। जिज्ञासु परमात्मा का रूप समझने के लिये उपनिषदों को भी देखता है। कभी गौतम ऋषि के ग्रंथ में देख लेता है कि ईश्वर केवल निमित्त कारण है। जब ईश्वर को केवल निमित्त के रूप में समझता है, उस समय में परमात्मा से युक्त रहा नहीं क्योंकि परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण ही है। कभी कपिल के उपदेश को देख लेता है कि ईश्वर है ही नहीं, केवल जीव के लिये ही सारी सृष्टि है। सांख्य मानते हैं कि जीव के भोग-मोक्ष के लिये ही सृष्टि प्रकृति अपने आप करती है, ईश्वर को मानने की क्या ज़रूरत है! ईश्वर के विषय में ऐसी अनेक

भ्रान्तियाँ हैं, चाहे गौतम-कपिल से आवें, चाहे आजकल के विज्ञान के द्वारा आवें। और कुछ आधुनिक लोग मानते हैं कि धनाणु-ऋणाणु ही सत्य हैं, उन्हीं से सारा संसार बन गया, बनाने वाले परमेश्वर की क्या ज़रूरत है। समुद्र में एक बुद्बुदा उठ आया, वह किसी तरह से संश्लिष्ट बन गया, उसमें कार्बन (carbon) आ गया, डी. एन. ए. शृंखला बन गई, उससे एक कोषा वाले प्राणी बन गये, इत्यादि आधुनिकों की कल्पनायें हैं। यह सब प्रकृति कर रही है आधुनिक विज्ञान के अनुसार। प्रकृति चुनती रहती है, जो सफल होते हैं उनको आगे बढ़ाती रहती है। इस प्रकार से होते-होते हम आदमी बन गये। जितने प्राणी हैं वे इसी तरह से बनते चले जाते हैं। आजकल के विद्यालयों में जहाँ तुम लोग फीस देकर पढ़वाते हो, वहाँ पढ़ाते हैं कि परमेश्वर को मानने की क्या ज़रूरत है? सभी नास्तिकों की बात वही है कि कोई चेतन कारण नहीं चाहिये सृष्टि बनाने के लिये।

परमेश्वर नहीं चाहिये यह बौद्धों का भी कहना है। वे लोग मानसिक कारणों को मानते हैं। क्षणिक विज्ञान का प्रवाह चलता रहता है, उस विज्ञान-प्रवाह के लिये भी परमेश्वर की कोई ज़रूरत नहीं है। उन्होंने अणु आदि पदार्थों को कारण नहीं माना लेकिन विज्ञान-प्रवाह भी चेतन तो है नहीं, इसलिये उनके मत में भी परमेश्वर की ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार जैनी पदार्थों के पुद्गल मानते हैं जिनसे सारी रचना हो जाती है, परमेश्वर की कोई ज़रूरत नहीं है। जिज्ञासु जब इन मतों के बारे में विचार कर रहा है तब परमेश्वर के बारे में विचार नहीं कर रहा। इन विचारों को छोड़ कर जिस समय वेद आदि का अध्ययन करता है उस समय परमेश्वर के विषय में विचार कर रहा है। परमेश्वर के विषय में बताने वाले ग्रंथ तो एकमात्र वेद ही हैं। इसलिये जिज्ञासु भी *नित्य युक्त* नहीं है। परमात्मा की तरफ जाने में रुकावटों में शास्त्र-वासना को भी गिना है। इसको भी जान लें, उसको भी जान लें ऐसी उत्कण्ठा ब्रह्मस्थिति नहीं होने देती। कई लोग कहते हैं कि सबकी बात सुनने में क्या हर्जा है? हर्जा यह है कि अन्यों की बातों को सुनते समय हम परमात्मा की जिज्ञासा नहीं करते हैं। पहले ही अनादिकाल के परमात्मा-विरोधी संस्कारों का प्रवाह है, उस पर नये संस्कार और अर्जित कर रहे हो, यह प्रबल नुकसान है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी नित्ययुक्त नहीं है। आर्त दुःखनिवृत्ति चाहता ही है। अर्थार्थी जिस चीज़ को सुख का साधन समझता है उसको चाहता है। अभी उसको पता नहीं है कि सुख का साधन तो एकमात्र सच्चिदानंद परमात्मा है। इसलिये जब सुख के साधन को चाहता है उस समय परमात्मा को नहीं चाहता है। अतः भगवान् ने कहा 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' वही इस बात को समझता है कि संसार के यावत् पदार्थ दुःख देने वाले हैं इसलिये किसी अर्थ का अर्थी नहीं रह जाता है। इसी प्रकार से जानता है कि 'दुःख प्रारब्ध का फल है, अपने ही किये हुए कर्मों से प्राप्त हुआ है और भोग समाप्त होने पर अपने आप चला जायेगा। सारे कर्म

शरीर व मन के द्वारा हुए हैं इसलिये दुःख भी शरीर और मन को हो रहा है, मेरा इससे क्या लेना देना!' अतः वह नित्ययुक्त रहता है।

'एकभक्तिः' ज्ञानी एकमात्र सगुण परमेश्वर की भक्ति करता है। सारे देवतादियों को माध्यम न बना कर सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा की ही, सगुण निराकार की ही भक्ति करता है। इसलिये 'विशिष्यते' अन्यों से खास है। वह जानता है कि सिवाय सगुण परमेश्वर के कोई दूसरा भजनीय है ही नहीं और सिवाय र्निगुण निराकार परमेश्वर के न कोई जानने के योग्य है। प्राप्तव्य भी वही है और जिससे प्राप्ति होगी वह भी वही है। जिससे प्राप्ति होगी वह हो गया उसका सगुण रूप, और जिसकी प्राप्ति होगी वह है उसका निर्गुण स्वरूप। क्योंकि जानता है कि उस परमेश्वर से अतिरिक्त और कोई भजनीय है ही नहीं इसलिये 'विशिष्यते', अर्थात् सब भक्तों से उच्च कोटि का हो जाता है, पूर्वोक्त तीनों तरह के भक्तों से ऊपर हो जाता है।

क्यों उसको विशेष कहते हैं? 'प्रियो हि ज्ञानिनाः अत्यर्थम् अहम्'। मैं आत्मस्वरूप हूँ। वह चूंकि मुझे आत्मस्वरूप जानता है इसलिये उस का मुझे से जो प्रेम है वह बिना किसी कारण के है। तुमको रसगुल्ला क्यों अच्छा लगता है? जीभ पर उसका स्वाद अच्छा लगता है इसलिये। रसगुल्ला प्रिय है अच्छे स्वाद के लिये। स्वाद क्यों प्रिय है? मन को मज़ा आता है इसलिये। मन के मज़े के लिये स्वाद प्रिय है। मन बिगड़ जाये तो बढ़िया चीज़ खाना भी अच्छा नहीं लगता, बल्कि बुरा लगता है। यदि मन के लिये प्रिय नहीं है तो वह स्वाद भी प्रिय नहीं लग सकता। आगे प्रश्न होता है कि मन को अच्छा लगने वाले को *तुम* क्यों चाहते हो? क्या जवाब दोगे? यही कि, 'मैं अपने को मन मानता हूँ इसलिये मन के प्रिय लगने को ही मैं अपना प्रिय समझता हूँ।' अतः जिस चीज़ को मैं अपना स्वरूप समझता हूँ उसको प्रिय लगने पर ही मुझे चीज़ प्रिय होती है। जब मैं अपने सच्चिदानन्द रूप को प्रिय समझता हूँ तब उसके लिये ही मुझे सब चीजें, प्रिय होती हैं। सबसे ज़्यादा प्रेम अंततोगत्वा आत्मा से ही होता है, अपने आप से ही होता है। इसलिये अतिधन्य वेद कहता है 'यो न्याम् देवताम् उपास्ते' जो अपने से भिन्न मान कर देवता की उपासना करता है वह परम फल को नहीं प्राप्त कर पाता; तुच्छ फल तो मिल जायेंगे। बाकी सब चीज़ें आत्मा के लिये प्रिय होती हैं अर्थात अपने लिये प्रिय होती हैं पर अपना आपा हमें क्यों प्रिय है, हम क्यों सुखी होना चाहते हैं? इसका क्या जवाब दोगे! इसलिये सबसे ज़्यादा प्रिय कौन होता है? जो आत्मा हो। ज्ञानी सच्चिदानन्द परमात्मा को ही अपना आत्मा समझता है इसलिये ज्ञानी के लिये मैं अत्यधिक प्रिय हूँ अर्थात् सर्वाधिक प्रिय हूँ, अत्यर्थ प्रिय हूँ। और मुझे भी वह अत्यर्थ ही, अत्यन्त ही, बिना कारण ही प्रिय है क्योंकि, अगले ही श्लोक में कहेंगे कि, ज्ञानी मेरा आत्मा ही है। मैं उसका आत्मा हूँ अतः उसे मैं अत्यधिक प्रिय हुआ तथा वह मेरा आत्मा है अतः वह मेरा अत्यधिक प्रिय हुआ। इस प्रकार चार तरह के भक्तों में ज्ञानी

भक्त की विशेषता स्पष्ट की।।१७।।

'ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है' सुनने से तुरंत उपस्थित हो जाता है कि बाकी तीन आपको प्रिय नहीं होंगे! यद्यपि भगवान् ने 'अत्यर्थम्' अत्यधिक कहा, इसका मतलब हो गया कि प्रिय तो दूसरे भी हैं तथापि इसे नज़रन्दाज़ करने से यह शंका उठ जाती है। जिस तरह से, वेद कहता है कि जो श्रद्धा और उपनिषद् अर्थात् उपासना-सहित कर्म किया जाता वह 'वीर्यवत्तरं भवति' अधिक बल वाला होता है। भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि तरप्-प्रत्यय का प्रयोग किया है, इससे पता लग जाता है कि बिना श्रद्धा व उपनिषद् के भी जो किया जाता है वह फल तो देता ही है। श्रद्धा व उपनिषद् के साथ करो तब अधिक फल मिलता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् ने 'अत्यर्थम्' कह कर बतला दिया कि दूसरे भी प्रिय हैं। 'अत्यर्थं' की तरफ ध्यान नहीं जाये तो प्राप्ति हो जाती है कि अन्य प्रिय नहीं होंगे। और यह प्राप्ति केवल काल्पनिक नहीं समझना। वर्तमान में अनेक लोग आर्त, और अर्थार्थी को भगवान् का प्रिय मानते ही नहीं! कहते हैं कि आर्तिनिवृत्ति के लिये या अर्थ प्राप्ति के लिये भक्ति करने की अपेक्षा तो भक्ति नहीं करना अच्छा है! निष्काम भक्ति ही करनी चाहिये, सकाम करनी ही नहीं चाहिये ऐसा बहुत-से लोग कहते हैं। यह शंका न होवे, इसलिये भगवान् स्वयं ही इसका जवाब दे देते हैं

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

ये सभी भक्त उत्कृष्ट हैं (मुझे प्रिय ही हैं) किन्तु मेरा मानना है कि ज्ञानी मेरा आत्मा ही है क्योंकि समाहित चित्त हुआ वह सर्वोत्तम गन्तव्यरूप मुझे ही पाने को प्रवृत्त है।

भगवान् कह रहे हैं कि जो चार भक्त बतलाये वे सभी उत्कृष्ट हैं, श्रेष्ठ हैं। क्यों श्रेष्ठ हैं? आगे बतलायेंगे कि जो केवल कामनाओं के द्वारा प्रवृत्त होते हैं वे विभिन्न देवताओं की तरफ जाते हैं, मुझ परमात्मा की तरफ नहीं आते। ये लोग यद्यपि अब तक अपनी कामना चाहे दुःखनिवृत्ति की हो, चाहे अर्थप्राप्ति की हो को नहीं छोड़ पा रहे हैं, तथापि कम-से-कम, इतना तो समझते हैं कि हृदय में परमेश्वर स्थित है, परमात्मा को अपना आत्मा तो मान ही रहे हैं। ईश्वर के विषय में उनका निश्चय ठीक है ही। वेद ने भी कहा है कि ब्रह्म है इतना भी जिसने जान लिया, वह सत्पुरुष हो गया। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण केवल परमेश्वर है, और वही हमारे हृदय के अंदर स्थित है यह जिसने समझा, परमात्मा चेतन है और मेरे अंदर जो चेतन रूप है वह परमात्मा ही है इस बात को जिसने समझा है, वह उदार तो है ही, भले ही अपनी कामनाओं को नहीं छोड़ पाया हो। इस आत्मरूप परमेश्वर का भक्त उस परमेश्वर को

कभी भी अप्रिय नहीं हो सकता।

'तु' अर्थात् उक्त चारों में से पृथक् किया जो ज्ञानी है वह मेरा स्वरूप ही है। मेरा आत्मा ही है अर्थात् मुझसे सर्वथा अभिन्न है, ज्ञानी में और मुझमें कोई फ़र्क नहीं है। श्रुति कहती है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसी बात को भगवान् कह रहे हैं 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' जिसने अपने आत्मरूप को ब्रह्मरूप समझ लिया वह मेरा स्वरूप ही है, मैं ही हूँ। श्रुति ने तो कहा ही है, भगवान् अपनी बात भी कह देते हैं, 'मे मतम्', यह बात मैं भी निश्चय रूप से स्वीकार करता हूँ। 'मे मतम्' कहना इसलिये ज़रूरी लगा ताकि इस वाक्य का कोई अन्य अर्थ न लगा दिया जाये। ज्ञानी आत्मा क्यों है? 'स हि' वह ज्ञानी 'आस्थितः', परोक्षबुद्धि द्वारा इस सत्य के अंदर भली प्रकार से स्थित है और मुझ वासुदेव-स्वरूप के अंदर पूर्णतः आरूढ होने के लिये दृढसाक्षात्कारार्थ प्रवृत्त है। चाहे परोक्ष कहो, चाहे अदृढ अपरोक्ष कहो, उससे जिसने अद्वैत को पूरी तरह से समझ लिया है, निश्चय भी है उसको कि ऐसा ही है, परंतु सब समय उसमें स्थित नहीं रह पाता इसलिये बार-बार बाध प्रक्रिया के द्वारा परमेश्वर का भजन करता है, वह यहाँ ज्ञानी कहा गया। रागादि प्रवृत्तियों को बाधित करके वह मुझमें ही स्थित होने के लिये प्रयत्नशील है। यही सबसे बड़ा भजन है। विषयों का बाध करके बार-बार अधिष्ठान कारण का निश्चय करना यही सर्वोत्तम भजन है। 'आस्थितः' अर्थात् मुझ वासुदेव भाव में आरूढ होने के लिये प्रवृत्त है। मैं वासुदेव उससे भिन्न नहीं हूँ यह तो उसने समझ ही लिया है, उसमें आरूढ होने में प्रवृत्त है। इसके लिये वह युक्तात्मा बार-बार चित्त को समाहित करके अधिष्ठान-ज्ञान के लिये ही प्रवृत्ति कर रहा है।

मैं क्या हूँ? 'अनुत्तमां गतिम्' परमेश्वर से उत्तम कोई दूसरा नहीं है, वही सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है, गन्तव्य है। परमब्रह्म ही ज्ञानी का गंतव्य है, उसे ही पाने में वह प्रवृत्त है। इस उत्तम गति के अलावा और कोई उसका अभीष्ट नहीं है। इस उत्तम गति को ही प्राप्त करना चाहता है, इससे अतिरिक्त कुछ सामने आने पर भी उसकी प्रवृत्ति का हेतु नहीं बनता। संस्कारों का क्षय न होने से, अन्यान्य विषय सामने आते हैं, परंतु वह उनका बाध करके ब्रह्मरूपता का ही निश्चय करता है। मुझ वासुदेव में स्थित होने के अलावा और कुछ नहीं चाहता, इसलिये कहा 'माम् एव अनुत्तमां गतिम्'।।१८।।

कोई पूछ सकता है कि फिर सब लोग इसी भजन को क्यों नहीं करते? इसके जवाब में भगवान् कहते हैं

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१६।।

जिनमें ज्ञानार्थ संस्कार बटोरे जाते हैं ऐसे बहुत जन्मों की समाप्ति पर परिपक्व

ज्ञान वाला हुआ जो मेरा यों भजन करता है कि 'वासुदेव ही सब कुछ हैं', वह दुर्लभ महात्मा है।

बहुत-से जन्म अर्थात् ज्ञान के लिये अपेक्षित जो अंतःकरण की शुद्धि, श्रवण मनन के संस्कार, इन्हें जिन जन्मों में अर्जित किया गया, ऐसे बहुत-से जन्म। अन्यथा, बहुत से जन्म तो सभी के हुए ही हैं! जिन जन्मों में परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये अन्तःकरण-शुद्धि आदि साधनों का अनुष्ठान किया गया है, साधनों को साधा गया है, ऐसे बहुतेरे जन्म हो चुकने पर जब वह अंतःकरण शुद्ध अवस्था में होकर वैदिक संस्कारों से युक्त हो गया है, तब जन्म-परम्परा का अंत आने का समय हो जाता है। ऐसे जन्मों के प्रवाह में जब अंतिम जन्म आता है तब साधक ज्ञानवान् हो जाता है अर्थात् उसे भली प्रकार परमात्मस्वरूप का निश्चय हो जाता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता के स्वरूप का वह निश्चय कर पाता है। इसीलिये 'मां प्रपद्यते', मैं जो उसके प्रत्यगात्मा स्वरूप से उसके हृदय में बैठा हुआ हूँ, उसी के प्रपन्न होता है, अन्य सब शरणों को छोड़कर एकमात्र इसी शरण को लेता है। प्रपत्ति का स्वरूप क्या है? वासुदेवः सर्वम् इति' संसार में कण-कण और क्षण-क्षण जिसका भी अनुभव होता है वह सब एकमात्र वासुदेव ही है। 'वासुदेवः सर्वमिति' कहते हैं तो तुरंत विरोध आता है कि चोर, डाकू, कोढ़ी आदि वासुदेव कैसे? ग़लती यह है कि ये सारे रूप शरीरों और मनों को लेकर आत्मा के माने जा रहे हैं। शरीर कोढ़ी है इसलिये हम आत्मा को कोढ़ी समझ लेते हैं, मन कामी, तो हम आत्मा को कामी समझ लेते हैं। किंतु ये उपाधियाँ, उस परमात्मा तत्त्व में कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं।

ऐसे समझ लोः मैं कहता हूँ 'मैं देखने वाला।' मेरी आँखों में कोई ख़राबी आ गई, अन्धा हो गया तो मैं कहता हूँ 'मैं अन्धा।' तो प्रश्न होता है कि दस साल पहले तुम कह रहे थे, 'मैं देखने वाला, मैं आँखों वाला', अब कह रहे हो 'मैं अन्धा', तो ऐसे विरुद्ध धर्म तुम्हारे अंदर कैसे रह सकते हैं? यही कहोगे कि जब तक आँखें थीं तब तक देखने वाला था, जब आँखें नहीं रहीं तब देखने वाला नहीं, अन्धा हूँ। इसका मतलब हुआ कि आँखें हों तो तुम देखते हो और आँखें नहीं हों तो तुम नहीं देखते। तब देखना तुम्हारा स्वरूप तो हुआ नहीं। इसी तरह कान हैं तो सुनने वाले, और कान नहीं तो बहरे हो जाते हो। इसका मतलब हुआ कि सुनना तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार से देहादि जब होते हैं तब आत्मा सब व्यवहार करता है, और जब देहादि नहीं होते तब कुछ नहीं करता। भगवान् ने कृपा करके हमें यह समझाने के लिये सुषुप्ति, गहरी नींद दे दी जहाँ हमें साफ अनुभव होता है कि मैं न देख सकता हूँ, न सुन सकता हूँ, न जान सकता हूँ कि कौन आया कौन गया। न चल ही सकता हूँ। सुषुप्ति में क्योंकि हमारे पास आँख-कान नहीं हैं इसलिये हम कुछ नहीं जान या कर सकते। इस बात को ठीक से समझ लेने पर पता लगता है कि आत्मा अपने आप में कर्ता भी नहीं

और भोक्ता भी नहीं। आत्मा की एकता में जितने दोष दिखलाये जाते हैं वे सब औजारों को लेकर हैं, आत्मा में नहीं। देखने वाला, न देखने वाला, चोर, सज्जन आदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। परंतु इन सब स्वरूपों में आत्मा तो वही है। आँखें थीं तब तुम जो थे, वे चली गईं तब भी तुम वही रहे। जब तुम्हारा मन ठीक था, बुद्धि ठीक थी, तब तुम जो थे, मन और बुद्धि खराब होने पर भी तुम वही रहते हो। जब अपने शरीर में समझ लेते हो कि औजारों के भेद से तुम में भेद नहीं आता तब सर्वत्र एक आत्मा समझना संभव हो जाता है। चेतन शरीर में है, तब सब व्यवहार हो रहा है, अगर चेतनरूप आत्मा शरीर में न होवे तो न आँखें देख सकती हैं, न कान सुन सकते हैं। इसलिये आँखें देखने वाली हों यह भी बात नहीं है। चेतन होगा तब आँखें देखेंगी, कान सुनेंगे, मन सोचेगा, सब व्यवहार होगा। इन सब औजारों के बदल जाने पर भी चेतन बिना बदले हुए रहता है। जैसे एक शरीर में, ऐसे सब में एक चेतन रहता है। कोढ़ी शरीर या स्वस्थ शरीर, दोनों में चेतन एक ही है। रागी मन है या विरागी मन, चेतन एक ही है। एक ही चेतन में उपाधियों के कारण सब प्रतीतियाँ हो रही हैं। जब कहते हैं, 'वासुदेवः सर्वमिति' तब यह नहीं कह रहे कि कोढ़ी और रागी, स्वस्थ और विरागी एक हैं, वरन् यह कह रहे हैं कि इन उपाधियों के बिना, वासुदेव एक ही है।

'वासुदेवः सर्वमिति', या वेदों में आता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म;' इसे यदि समझा न जाये तो सारा व्यवहार गड़बड़ हो जायेगा। चोर आवे तो उसके साथ जो *व्यवहार* करो, भला आदमी आवे तो उसके साथ भी वही *व्यवहार* करो यह अर्थ नहीं है। व्यवहार तुम कर रहे हो शरीर-मन के साथ, जो भेद से कल्पित हैं और जिस चेतनता को अद्वितीय कहा जा रहा है वह इन उपाधियों से रहित तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। इसलिये कोढ़ी का आत्मा और स्वस्थ का आत्मा अलग नहीं है, शरीर-मन अलग हैं। जो इस निश्चय को प्राप्त कर गया है कि वासुदेव सर्वात्मा है, उसकी यही शरणागति है। अर्थात् अद्वैत- निश्चय का विचारपूर्वक पुनरावर्तन, उस निश्चय पर कायम रहने का प्रयास उसकी शरणागति है, प्रपत्ति है।

उपाधियों के बारे में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। 'स महात्मा', उसी को महात्मा कहते हैं, उसके जैसा भी कोई नहीं तो उससे बढ़ कर कौन हो सकता है! 'सुदुर्लभः' वह अत्यन्त दुर्लभ है। तीसरे श्लोक में कहा था कि वह अतिविरला ही होता है जो भगवान् को तत्त्वतः जानता है, उसी 'तत्त्व' को यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि 'वासुदेवः सर्वम्' यही तत्त्व है।।१८।।

प्रश्न उठता है कि ऐसा महात्मा सुदुर्लभ क्यों है? क्यों यह ज्ञान इतना कठिन है? वही सर्वरूप है तो सरलता से उसे सर्वात्मा क्यों नहीं जान पाते? इसका उत्तर भगवान् देते हैं

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

विभिन्न काम्य विषयों द्वारा जिनका विवेक चुरा लिया गया है वे अपने स्वभाव के वशीभूत हुए विभिन्न नियमों का सहारा लेकर ईश्वरभिन्न देवताओं की शरण लेते हैं।

जीव इसलिये परमेश्वर को नहीं जान पाते कि उनके अंदर जो विषयों की कामना है वह उनके विवेक को चुरा लेती है, ढांक लेती है, कार्य नहीं करने देती। काम तो एक ही है, पर विषय-भेद से उसको अनेक कह देते हैं। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कामनाओं द्वारा अपहृत कर लिया जाता है। विभिन्न शास्त्रीय व अशास्त्रीय विषयों के शास्त्रीय व लौकिक कारण प्रसिद्ध हैं। जो विषयों की कामना से ग्रस्त हैं वे उन साधनों को ही अपनाने से पुरुषार्थ-सिद्धि समझते हैं। उन्हें लगता है कि अगर शास्त्रीय फल चाहिये तो कर्म और उपासना से मिलेगा, भगवान् से क्या! और अगर लौकिक फल चाहिये तो नेताओं के, अफसरों के परिचय आदि से या रुपयों से मिलेगा, भगवान् से क्या लाभ! यों कामनाओं द्वारा विवेक लुट जाने से यह निश्चय नहीं हो पाता कि सारे संसार के सृष्टि-स्थिति-लय का एकमात्र कारण परमात्मा है। सब चीज़ों को करने वाला एकमात्र परमात्मा है इस बात को न समझने के कारण लौकिक-अलौकिक विभिन्न कारणों को मानकर उनकी शरण लेते हैं। परमात्मा की एकता समझने के लिये पहले अपने में घटा कर देख लो : मैं आँख से देखता हूँ, आँख के बिना नहीं देख सकता, लेकिन देखता मैं हूँ। सुनने वाला मैं ही हूँ। सोचने वाला मैं ही हूँ, निश्चय करने वाला मैं ही हूँ। मन के बिना नहीं सोचता, लेकिन मन के द्वारा सोचने वाला कौन है? मैं हूँ। मेरे बिना मन नहीं सोच सकता। निश्चय तो बुद्धि से करेंगे, लेकिन निश्चय करने वाला कौन हैं? मैं हूँ। इसी प्रकार से इन्द्र, प्रजापति, लक्ष्मी, सरस्वती ये सब फल देंगे, लेकिन उनके द्वारा फल देने वाला कौन है? एकमात्र परमेश्वर है। क्योंकि ऐसा निश्चय नहीं कर पाते इसलिये 'अन्य देवताः प्रपद्यन्ते।' अविवेकी इस बात को समझ नहीं पाते कि देवताओं के द्वारा देने वाला तो परमेश्वर है, उसने जो नियम बनाये हैं उन्हीं के अनुसार वे चलेंगे। नियमों के अनुसार नहीं चलेंगे तो डंडा खायेंगे।

मार्कण्डेय के बारे में कह दिया था ज्योतिषी ने कि आठ साल की अवस्था में मर जायेगा। छोटी उम्र थी, इधर-उधर की ज़्यादा कामनायें आई नहीं थीं; तीन साल की उम्र से ही उसे भगवान् शंकर की सेवा में पिता ने लगा दिया था। मरने का दिन आया तो उससे कहा 'तुम बिल्कुल चित्त को एकाग्र करके शिव-सन्निधि में बैठो।' वह बैठा रहा। समय आया तो यमराज खुद पहुँचे क्योंकि उनके दूतों को तो उसका पता ही नहीं लग रहा था! वे बलपूर्वक परमेश्वर से मार्कंडेय के मन को हटाने लगे। तुरंत भगवान् शंकर ने प्रकट होकर यमराज को बड़े ज़ोर से लात मारी! जो परमेश्वर में स्थित हो रहा

है, उसके ऊपर यमराज का अधिकार कहाँ से आ गया! अधिकार का उल्लंघन करने पर यमराज को भी लात खानी पड़ती है। इसी प्रकार से इंद्र का हाल हुआ; उसने इतनी वृष्टि की, सोचा वृज को डुबा देगा। कहाँ डुबा पाया! उसका सारा गर्व खत्म हो गया।

जो इस बात को समझते हैं वे जानते हैं कि एकमात्र परमेश्वर कुछ भी कर सकता है। उसके सिवाय और कोई कुछ नहीं कर सकता। परंतु कामनाओं से जिसका ज्ञान अपहृत होता है वह इस बात को नहीं समझ पाता, बल्कि समझता है कि 'ये काम तो कलक्टर साहब ही करेंगे'! इसलिये लोग अन्य देवताओं की प्रपत्ति करते हैं। 'अन्य देवता' को ठीक से समझना : अन्य भाव से जिस देवता को समझते हो वही अन्य देवता हो जाता है। अर्थात् आत्मा से अन्य ये देवता हैं ऐसा मानकर जब उनकी उपासना करते हो तब वे अन्यदेवता हैं; जबकि आत्मा ही उस देवता के रूप में है इस बात को समझते हो, तब तुम आत्मा की ही शरण ले रहे हो। अन्य रूप से जिसको समझा जाता है वह अन्य देवता। इसलिये कोई एक रूप परमेश्वर का हो, ऐसा नहीं। सारे ही रूप परमात्मा के हैं। किसी एक रूप को लेकर सोचो कि उस रूप से पृथक् हैं अतः ये दूसरे देवता हैं, तो ग़लत समझ होगी क्योंकि रूप जितने हैं वे सब परमेश्वर के ही हैं। सनातन धर्म में इसकी शिक्षा के लिये हर चीज़ की परमेश्वररूप में पूजा की जाती है। यज्ञ के औजार, मकान बनाने के औजार, जड़ी-बूटी, पुरोहित-मिस्त्री आदि सभी का पूजन उन्हें परमेश्वर से अभिन्न मानकर करते हैं। पूजा वहाँ करनी की नहीं है, ईंट की नहीं है, पूजा तो उनमें स्थित परमेश्वर की है। 'अन्य देवता' का अर्थ किसी एक विग्रह से भिन्न सारे अन्य देवता हो गये ऐसा नहीं है। जब उनको परमेश्वर से अन्य समझते हैं तब वे अन्य देवता कहे जा रहे हैं।

'तं तं नियममास्थाय'। ऐसे लोग जिस देवता का आराधन करने के लिये जो नियम है, उस नियम का ही आश्रयण करते हैं, वही आस्था रखते हैं। पूर्व श्लोक में ज्ञानी को आस्थित कहा था कि वह मुझ वासुदेव में आस्थित है, और यहाँ बता रहे हैं कि कामी लोग नियमों में आस्थित हैं इसलिये उस-उस नियम का पालन करते हैं। कोई सात्त्विक पूजा करने वाला है, कोई राजस करने वाला है, कोई तामस करने वाला है। तामस वाले को तामस करने वाला नियम ही ठीक लगता है। वह कहता है 'मुझे मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण करना है, इसके लिये इस-इस प्रकार से बलि आदि दूँगा तभी काम होगा।' राजस को राजस नियम ही अच्छे लगते हैं। सात्त्विक को सात्त्विक नियम अच्छे लगते हैं। नियमों के अंदर ये भेद क्यों हैं? भगवान् कहते हैं 'स्वया प्रकृत्या नियताः'। प्रकृति मायने स्वभाव। स्वभाव किस से होता है? जन्मान्तर में अर्जित जो संस्कार हैं वे लोगों के अलग-अलग हैं। पूर्व जन्मों में जो तामस रहा उसके तामस संस्कार हैं, पूर्व जन्मों में जो राजस रहा उसके राजस संस्कार हैं, पूर्व जन्मों में जो सात्त्विक रहा उसके

सात्त्विक संस्कार हैं। प्रायः लोगों के मिश्र संस्कार होते हैं। किसी पूजा के लिये सात्त्विक साधन कर लेते हैं और कभी उनको मारण-मोहन-उच्चाटन करना हुआ तो तामस उपाय भी कर लेते हैं। दोनों के संस्कार हैं इसीलिये दोनों जँच जाते हैं। अन्यत्र (३.३३) भी भगवान् ने कहा है कि प्रकृति के अनुसार ही हर एक आचरण करता है, उसका निरोध कैसे किया जाये! धीरे-धीरे अपने संस्कार बदल कर ही प्रकृति को बदला जा सकता है। किसी दबाव से थोड़े समय के लिये तुम उसके ऊपर नियंत्रण रख भी लो, लेकिन जैसे ही दबाव थोड़ा कम होगा, फिर वही प्रकृति प्रकट हो जायेगी। आवासीय विद्यालयों में सवेरे पाँच बजे बच्चों को जगा देते हैं, सब जगते ही हैं। जब गर्मी की छुट्टियों में घर आते हैं तब जिस दिन आते हैं उसी दिन नौ बजे उठने लग जाते हैं! प्रकृति उनकी नौ बजे उठने की है। धीरे-धीरे तुम्हारे संस्कारों को परिवर्तित करना पड़ेगा, तभी तुम दूसरी प्रकृति के, दूसरे स्वभाव वाले कार्यों को स्वाभाविक ढंग से करोगे।

भगवान् ने एक पद कह दिया 'स्वया'; प्रकृति तुम हो नहीं, उसके अंदर तुमने आत्मीय दृष्टि कर ली है कि 'ये मन शरीर आदि मैं हूँ। मुझसे संबंधित हैं, मैं ही हूँ।' अगर यह समझ लेते हो कि कोई भी प्रकृति सचमुच में *मेरी* नहीं है, मुझ से संबंध वाली भी नहीं है, सारे संबंध तो अस्थिर हैं, तो उन-उन नियमों को छोड़ दोगे, केवल परमेश्वर की ही प्रपत्ति रह जायेगी। परंतु जब तक उस प्रकृति को, अर्थात् उस शरीर-मन को अपना समझते हो, तब तक उनकी प्रकृति के वश में ही रहोगे। इसलिये 'प्रकृत्या' के साथ भगवान् ने 'स्वया' लगा दिया। अर्थात् वह वास्तविक 'स्व' नहीं है, केवल अविद्या द्वारा अध्यास से उसको अपना मान लिया है। वस्तुतः मैं चेतन हूँ तो सारा ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है, सारे अंतःकरण मेरे अंतःकरण हैं, तो मेरी कोई एक प्रकृति रही नहीं। इसलिये सात्त्विकादि कोई प्रकृति मेरी वास्तविक नहीं है, जिसमें अध्यास हो गया बस उसे अपना समझ लिया गया। वर्तमान से पहले वाला जो शरीर था, उसमें रह कर भी तुम खूब ज़ोर-शोर से कहते थे कि 'इस परिवार का जिम्मा भगवान् ने हमें दिया है इसलिये हमें निर्वाह करना है।' किंतु यहाँ आकर उस परिवार की क्या कोई चिंता रहती है? पिता जी मर गये, दादाजी मर गये, माँ मर गई, नानी मर गई; किसी ने एक पाँच पैसे का पोस्ट कार्ड भी तुमको डाला? उनको कोई चिंता है तुम्हारी? कुछ नहीं! यदि वास्तविक संबंध होता तो हमेशा बना रहता। जैसे शरीर के साथ तुम्हारा अध्यास जन्म के साथ होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में जब परमात्मा तुम्हारा अंतःकरण बनाता है, तुम्हारा अहम् बनाता है, तब उसके साथ तुम्हारा संबंध उसी समय से हो जाता है। यदि सूक्ष्म विचार करके देखो तो गहरी नींद में तुम चले जाते हो तो तुम्हारा अहम् भी नहीं रह जाता। तुम्हारा एक 'अहम्' इस अहंकार से अलग है, उसको प्रत्यगात्मा कहते हैं। दो 'मैं' का अनुभव सुषुप्ति में स्पष्ट हो जाता

है : उठकर यही कहते हो कि 'मैंने कुछ नहीं जाना।' अर्थात् तब एक मैं था जिसने कुछ नहीं जाना। किंतु क्या तुम उस समय जान रहे थे कि मैंने कुछ नहीं जाना? क्या ऐसा अनुभव कर रहे थे? जैसे अकस्मात् बिजली चली जाये तो तुम्हें कुछ नहीं दीखता, तुम जानते हो कि मुझे कुछ नहीं दीख रहा। ऐसे क्या सुषुप्ति के समय तुम जानते रहते हो कि 'मैं कुछ नहीं जान रहा?' कहोगे कि 'ऐसा नहीं है, मैं तो सो रहा था।' अतः एक मैं वह जिसने जाना कि 'मैंने कुछ नहीं जाना', और दूसरा वह मैं जो 'कुछ नहीं जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं जान रहा था। इन्हीं को शुद्ध आत्मा और जीवात्मा कह देते हैं। जीवात्मा तभी बनता है जब इस सोने वाले अहंकार के साथ संबंधित होता है जो उठकर कह रहा है 'मैंने कुछ नहीं 'जाना'। यह संबंध अनादि अविद्या से है, इसलिये लगता है कि हमारा संबंध हमेशा का है। परंतु वह भी आध्यासिक संबंध से ही है। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर में साथ रहने वाला अहंकार भी वास्तव में मैं नहीं हूँ यह शास्त्रानुसार सुषुप्ति के विचार से स्पष्ट होता है। शरीर के साथ अपना संबंध सर्वथा अनित्य है, यह तो सामान्य विचार से भी पता चल ही जाता है। अतः जन्म को, शरीर को निमित्तकर जो प्रकृति प्रकट हुई है, वह वास्तव में मेरा स्वभाव नहीं, भ्रमवश उसे अपना स्वरूप समझकर उसके वशीभूत हो रहा हूँ यह बोध कराने के लिये 'स्वया' कहा। जब हमने प्रकृति को अपना स्वरूप मान लिया तब उसके द्वारा नियत हो गये। वह सात्त्विक है तो हम सात्त्विक प्रवृत्ति करने लगे, राजस हैं तो राजस प्रवृत्ति करने लग गये। इस प्रकार प्रकृति के बारे में भ्रम के कारण ही उसके परवश हो हम विभिन्न देवताओं की शरण लेते हैं।

किं च, यह भी भ्रम रहता है कि देवता हमारी कामनापूर्ति करेंगे, भले ही वह कामना ग़लत हो। परमेश्वर की शरण लेने के लिये तो परमेश्वर के नियमों का पालन आवश्यक है, सदाचार आवश्यक है। जीव कामनापूर्ति तो चाहता है पर परमेश्वर के नियम नहीं मानना चाहता, इसलिये तत्तद् देवताओं की तरफ चला जाता है, उनकी आराधना के नियम उतनी देर पालकर कामनापूर्ति चाहता है। इसमें कारण है शरीर-मन को अपना मान लेने से उनके द्वारा नियंत्रित होना। अतः अपने आत्मस्वरूप से नियमित नहीं हो पाता अर्थात् शरीर-मन के सुख पर ही दृष्टि रखता है, आत्मतत्त्व के सुख की तरफ ध्यान ही नहीं ले जाता। इसमें भी हेतु है कि कुछ लोग तो परमात्मस्वरूप को मानते ही नहीं इसलिये उधर ध्यान दें इसकी संभावना नहीं। कुछ अन्य लोग मान कर भी सोचते हैं कि आज की आवश्यकता पूरी हो जाये, कल से हम भगवान् की तरफ लगेंगे! जो थोड़ा भी आस्तिक है वह जानता है कि परमेश्वर के नियमों का पालन ज़रूरी है। परंतु शरीर-मन की आवश्यकता चूंकि उपस्थित है इसलिये सोचता है कि इसको जैसे-तैसे पूरी कर लूँगा, फिर परमेश्वर की तरफ लगूँगा। जब तक मृत्यु न आ जाये तब तक ये आवश्यकताएँ बनी ही रहती हैं इसलिये परमेश्वर हमेशा कल के

लिये टल जाता है।।२०।।

शंका हो सकती है कि विभिन्न देवताओं की आराधना से भी क्या कभी परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति हो जायेगी? कई बार लोग कहते हैं कि कामना से प्रवृत्त होंगे, और कामना पूरी हो गयी तो फिर उधर ही आगे बढ़ जायेंगे। किंतु भगवान् कहते हैं कि ऐसा कभी होता नहीं! यह ज़रा कड़ी बात है पर भगवान् स्पष्ट बता रहे हैं

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो-जो कामी भक्त श्रद्धा से जिस-जिस देवतामूर्ति की अर्चना करना चाहता है उस-उस की उसी श्रद्धा को मैं स्थिर बन देता हूँ।

भगवान् कहते हैं मैं तो सब के लिये एक-जैसा हूँ। 'जो जो' अर्थात् कामी; कोई धन का कामी है तो लक्ष्मी की तरफ जाता है, ज्ञान का कामी है तो सरस्वती की तरफ जाता है। इस प्रकार से जिन-जिन कामनाओं की पूर्ति के लिये, जो-जो कामी है, कामना वाला है, वह 'यां यां तनुं' जिस-जिस देवता शरीर को भजता है, वही उसे फलप्रद प्रतीत होती है। भगवान् ने 'तनु'- शब्द इसलिये प्रयोग किया कि वस्तुतः चाहे आधिकारिक देवता भी होवें, आधारभूत रूप से हैं तो जीव ही, इसलिये जिस शरीर में हैं, उस शरीर को वे अपना ही शरीर मानते हैं। इतना समझ लेना कि देवताओं में भी कोई जैसे इन्द्र ने ब्रह्मा से ज्ञान प्राप्त करके अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं। परन्तु जैसे जिस प्रारब्ध से हमारा शरीर बना है उस प्रारब्ध के भोगने तक सब कुछ इस शरीर से ऐसा ही होता रहेगा, इसी प्रकार जिस प्रारब्ध से देवता का शरीर बना है उसके कारण उसका भी जीवन चलता रहेगा। हमारी अपेक्षा उनका बहुत लम्बा जीवन होगा, उनके अधिकार भी बहुत बड़े होंगे, परंतु ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध की समाप्ति तक उनका उस शरीर के साथ संबंध रहेगा। अध्यास तो हट जायेगा पर प्रतीति बनी रहेगी। 'तनु' का मूल अर्थ होता है छोटा। शरीर हमें छोटा बना देता है। हैं तो हम सारे ब्रह्मांड में व्याप्त परंतु शरीर के कारण हम सोचते हैं कि आबू के अंदर एक छोटा-सा शंकर मठ, उसके अंदर एक छोटा-सा कमरा, उसके अंदर भी एक छोटी-सी चार वर्ग फीट की जगह पर हम हैं। इस तरह शरीर हम को छोटा बना देता है। अज्ञानियों को अर्चनीय भी परिच्छिन्न ही लगता है यह बताने के लिये 'तनु' कह दिया। शरीर अर्थात् देवता में ही उन भक्तों को श्रद्धा होती है कि इन से ज़रूर हमारा काम सिद्ध हो जायेगा अतः उन्हीं की अर्चना करने की इच्छा करते हैं, पूजा करने की इच्छा करते हैं और उनकी अर्चनाओं के नियमों का पालन करते हैं।

'तस्य तस्य' उस-उस कामी की 'अचलां श्रद्धां' स्थिर श्रद्धा उसी आराध्य में हो जाती है। भगवान् उन देवता-शरीरों में भी है ही, इसलिये जिस देवता को वह अपना

पूज्य मान कर पूजा करता है, उस देवता-शरीर के द्वारा ही उसको फल मिलता है। फल मिल जाने से उसकी उसी देवता तनु में श्रद्धा हो जाती है। परमात्मा की तरफ वृत्ति जाने का प्रसंग ही नहीं आता। वह परमेश्वर को न समझ कर उस देवता को तनु अर्थात् शरीर में सीमित समझता है। 'तामेव अहम् विदधामि' भगवान् कहते हैं कि मैं ही उसकी श्रद्धा वहाँ दृढ करता हूँ। सचमुच में कर्मफल देने वाला तो मैं हूँ, परंतु उस शरीर में श्रद्धा से वह प्रवृत्त हुआ इसलिये उस शरीर में ही स्थिरभाव से श्रद्धा करा देता हूँ। पहले स्वभाव के कारण प्रवृत्त हुआ जिस श्रद्धा में, उसी में उसको और दृढता हो जाती है। इसलिये परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति होती नहीं।।२१।।

यद्यपि अन्य देवता के भक्त यह समझ नहीं पाते तथापि उन्हें फल भगवान् ही देते हैं यह वे स्वयं घोषित करते हैं

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।।२२।।

वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता-शरीर की आराधना करता है और उससे उन्हीं अभीष्ट विषयों को पाता है जो (वस्तुगत्या) मेरे द्वारा ही निर्मित हैं।

'तया' अर्थात् पूर्व श्लोक में कहे अनुसार मैंने जो उसके अंदर श्रद्धा स्थिर की है उसी श्रद्धा से युक्त हुआ 'तस्याः' उस देवता-तनु की ही 'राधनमीहते', आराधना के लिये और चेष्टा करता रहता है, वही पूजा करता रहता है। 'ततः' उस आराधित देवता से ही, 'कामान् लभते', जो उसकी कामना के विषय हैं उन्हें प्राप्त करता है। उसे देवता शरीर से क्यों कामनाओं की पूर्ति होती है? 'हि' क्योंकि 'मयैव तान् विहितान्' वेदादि शास्त्रों में मैंने ही यह विधान किया है कि अमुक प्रकार की पूजा करने से अमुक शरीर से ये फल होंगे। ऐसा मेरा ही बनाया हुआ विधान है। होता मेरे विधान के अनुसार है, पर न समझ कर कामी तो यही समझता है कि इस देवता ने ही फल दिया है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो कर्म-फल-विभाग किया है उसी के अनुसार सबको प्राप्ति होती है। परंतु अल्पज्ञ होने के कारण जीव इस बात को समझ नहीं पाता।

श्लोक के अन्त में 'हि' 'तान्' दो पद हैं, पृथक् शब्द हैं, यह मानकर पूर्वोक्त व्याख्या है। 'हितान्' ऐसा एक शब्द भी माना जा सकता है। तब वाक्य बनेगा 'हितान् कामान् लभते' अर्थात् हितरूप कामों को, काम्यों को प्राप्त करता है। किन्तु कामना कभी हितकारी नहीं होती! आचार्य लिखते हैं 'न हि कामना हिता कस्यचित्' कामना किसी के लिये हितकारी नहीं है, कामना से हमेशा नुकसान ही होगा, कभी फायदा होगा नहीं। इसलिये यदि 'हितान्' पद मानें तो कामनाओं के अंदर हितता उपचरित है, ऐसा मानकर के भगवान् ने कह दिया। कामी कामना को अपने हित में समझते हैं, इसी का भगवान् ने अनुवाद कर दिया। अर्थात् भगवान् यह नहीं कह रहे कि कोई-कोई

कामना हितकारी भी होती है; चाहे स्व के लिये कामना हो चाहे पर के लिये हो, कामना अकल्याण की तरफ ही ले जाती है। अपने शरीर-मन के स्वार्थ को घटाने के लिये परार्थ कामना का प्रयोग भले ही उपयोगी है, पर वह भी कामना होने से है अहित ही, हेय ही। किसी भी परिस्थिति में कामना कभी हितकारी होती ही नहीं है। हित कहते हैं स्थायी लाभ को। विषयकामना से प्रेरित होकर अन्य देवताओं की आराधना करने वालों की आराधना भी सीमित, सान्त होती है और आराधना के साधन भी सीमित, सान्त होते हैं, इसलिये उन्हें मिलने वाला फल भी सीमित, अस्थायी ही हो सकता है जिससे निश्चय हो जाता है कि कामना हितकारी नहीं हो सकती।।२२।।

कामनाग्रस्त व्यक्ति नियमतः अविवेकी ही होता है और अविवेकी हित समझता ही नहीं कि उसके लिये सचेष्ट हो! अतः सारे प्रयास के बाद भी वे सीमित फल ही पा सकते हैं यह बताते हैं

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

उन अल्प प्रज्ञा वालों को तो विनाशी फल मिलता है। अन्य देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त करते हैं, मेरे भक्त (यदि आर्तादि त्रिविध हैं तो अपनी अभीष्ट सिद्धि के साथ) मुझे भी प्राप्त होते हैं।

जो अंत वाले साधन-व्यापार से सिद्ध होगा वह भी अंत वाला ही होगा। अतः जिसको कामियों ने हितकारी समझा, उसका अंत होते ही फिर दुःखी ही होना पड़ेगा। हमारे पास दस लाख रुपया नहीं था, हम दुःखी थे। हमने श्रीसूक्त का अनुष्ठान किया। हमको दस लाख ही नहीं, बीस लाख रुपये मिल गये। हमको बड़ा हितकारी लगा। फिर एक दिन डाकू आये, दस लाख रुपये भी ले गये और सिर के ऊपर डंडा मारकर उसको भी फोड़ गये! फिर दस लाख न होने का दुःख शुरू हो गया, डंडे की मार का दुःख और जुड़ गया। इसलिये भाष्यकार ने कहा था कि कामना तो हितकर कभी नहीं हो सकती। जो फल *मिलेगा* वह विनाशी ही होगा। उनको क्यों ग़लत समझ आती है? 'अल्पमेधसाम्'। उनकी जो बुद्धि है वह तुच्छ है, समझ नहीं पाती। 'मेधा' बुद्धि को तो कहते ही हैं, लेकिन 'मेधा' विशेषकर ग्रन्थ-धारण-सामर्थ्य को कहते हैं। ग्रन्थ में जो बात आई वह याद रहे, यह मेधा से होता है। वेदादि शास्त्रों के अंदर यह बात तो सब जगह आती है कि अनित्य का फल अनित्य होगा। पर अर्थवाद वाक्यों में कह देते हैं कि अमुक कर्म का फल हमेशा के लिये होगा, तो जो मेधावी नहीं उसको याद नहीं रहता कि कुछ भी करके जो मिलेगा वह कभी भी नित्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् ने पहले (२.४२) कहा था कि अर्थवाद वाक्यों के द्वारा उनकी बुद्धि हृत कर ली जाती है। इसलिये यहाँ कहा कि जो अल्पमेधा हैं उनको ग्रंथ धारण नहीं हो पाता

अतः अपनी कामना की पूर्ति की बात कहीं शास्त्र में आती है तो वहीं अटक जाते हैं। पहले क्या कहा, आगे क्या कहा इसकी तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। इसलिये उनको अल्प ही फल होता है। अल्प बुद्धि वाले होने से उनको तुच्छ ही फल मिलता है। इसके द्वारा भगवान् संकेतित कर रहे हैं कि जिसकी बुद्धि विवेकी है, जो शास्त्र के वचनों का ठीक प्रकार से निर्णय कर सकता है कि शास्त्र का तात्पर्य किस में है, वही कामनाओं से बच सकता है। जो ऐसा मेधावी नहीं है, वह अपने अविवेक के कारण इस संसार चक्र में घूमता ही रहेगा।

'देवान् देवयजः यान्ति', देवता की पूजा करने वाले देवभाव को ही प्राप्त कर सकते हैं। 'मद्भक्ता यान्ति मामपि', जो अपने हृदय में स्थित आत्मतत्त्व को ही परब्रह्म परमात्मरूप से जानते हैं, इसलिये उसी की भक्ति करते हैं, वे 'माम्' मुझ ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, जो स्वरूप होने से कभी समाप्त नहीं हो सकता। जो, कुछ करके मिलेगा वह तो समाप्त हो जायेगा, पर जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है वह कभी भी तुम से दूर नहीं हो सकता। पानी में स्वभाव से स्वाद होता है। पानी चाहे जितना ठंडा हो जाये चाहे जितना गर्म हो जाये, स्वाद तो उसमें रहेगा ही। जितनी देर तुमने उसको चूल्हे पर रखा है, चूल्हे से हटाने के बाद जल्दी या देर से ठंडा हो जायेगा। तुमने चूल्हे पर चढ़ाना आदि करके उसको गर्म किया है, वह गर्मी ज़रूर ख़त्म होगी; पर जो जल का स्वरूप स्वाद है, वह नहीं जाने वाला। जब तक जल रहेगा, तब तक स्वाद वाला ही रहेगा। इसी प्रकार आत्मा चूंकि परमात्मरूप है इसलिये आत्मा परमात्मरूप तो रहेगा ही। इसलिय भगवान् ने कहा 'मद्भक्ता यान्ति मामपि।' 'अपि' का तात्पर्य क्या है? आचार्य कहते हैं कि देवताभक्ति और परमेश्वर भक्ति दोनों में मेहनत तो एक जैसी है, प्रयत्न, चेष्टा तो एक जैसी है, पर फल में इतना बड़ा भेद है एक के अंदर दुःख से शुरू होकर फिर दुःख में ही ख़त्म होता है, बीच में थोड़ी देर के लिये लगता है सुख हो गया, जबकि दूसरे में दुःख से शुरू होकर दुःख का बीज नष्ट होकर जो अपना सुख स्वरूप है वह प्रकट हो जाता है और हमेशा रहता है। ऐसा होने पर भी, समान श्रम होने पर भी, अनन्त फल की प्राप्ति करने के लिये जीव मेरी शरण में नहीं आते इस बात का भगवान् अत्यंत दुःख प्रकट कर रहे हैं। भगवान् अपनी करुणा प्रकट करते हुऐ कह रहे हैं कि उतनी मेहनत में ही मुझे प्राप्त कर सकते हैं लेकिन फिर भी नहीं करते।।२३।।

लोग भगवान् की शरणागति क्यों नहीं करते हैं? भगवान् कारण बताते हैं कि ऐसे लोग मुझे भी एक देवता ही समझते हैं! उन्हें लगता है कि परमात्मा भी एक देवता ही है

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

अविवेकी लोग मेरे वास्तविक निरतिशय अव्यय स्वरूप को न जानते हुए मुझे अव्यक्त से व्यक्त हुआ मानते हैं!

'अबुद्धयः' जो अल्प मेधा वाले बुद्धिरहित हैं अर्थात् शास्त्र का आगे-पीछे विचार करने में समर्थ नहीं हैं, विवेक कर नहीं पाते हैं, ऐसे लोग परमात्मा को अव्यक्त समझते हैं। है तो वह अव्यक्त ही, व्यक्त है नहीं। व्यक्त मायने प्रकट, जो सामने होवे। परमात्मा तुम्हारे अंदर नित्य मैं-रूप से तो प्रकट है, प्रत्यगात्मा के रूप से प्रकट है। कभी भी बाहर, सामने प्रकट हो नहीं सकता। इसलिये अविवेकी को लगता है कि परमात्मा अव्यक्त है, उसे समझना बड़ा कठिन है। भगवान् भी कहते हैं (१२.५) 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम्' अव्यक्त को समझने में लोग घबरा जाते हैं। इसलिये भगवती श्रुति अत्यन्त करुणा करके उसको व्यक्त के द्वारा समझाती है। कैसे? श्रुति कहती है कि सृष्टि से पहले एकमात्र परमात्मा था। शंका होती है कि, पहले था, तो अब नहीं है क्या? आचार्यों ने समाधान दिया है कि इस काल में भी एक परमात्मा ही है। परंतु यदि अबुद्धि लोगों को कहते हैं कि 'इस समय परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो जैसे पानी में डुबकी लगा कर आँखें खोलकर देखने की चेष्टा करने से व्यक्ति विह्वल हो जाता है, उसी प्रकार शिष्य घबरा जायेंगे कि इतना बड़ा संसार हमें दीख रहा है और यह है ही नहीं ऐसा कैसे हो सकता है! इसलिये उसको समझाने के लिये श्रुति पहले कहती है कि सत् परमात्मा से ही, एकमात्र प्रत्यगात्मा से ही, आकाश आदि क्रम से सारी सृष्टि बनी है। जो व्यक्त, भेद-युक्त संसार तुम देख रहे हो, यह सब परमात्मा से बना है। इतना बुद्धि में बैठाकर श्रुति को कहना है कि इसलिये सब परमात्मा ही है। लोग इस बात को नहीं समझ कर परमात्मा को व्यक्त भाव वाला ही समझते हैं। इसलिये पूछते भी हैं कि 'परमात्मा एक है यह तो ठीक है, लेकिन कौन है? देवी है, गणपति है, विष्णु है, शंकर है, कौन है?' मायने किसी-न-किसी *व्यक्ति* को (अभिव्यक्त नाम-रूप को) बताइये। बुद्धि की अल्पता के कारण वे मुझ परमात्म तत्त्व को व्यक्त ही मानते हैं कि किसी एक रूप में परमेश्वर ज़रूर होंगे।

ऐसा इसलिये कि नित्यसिद्ध ईश्वर का जो परभाव है, प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मस्वरूप है, उस परभाव को अबुद्धि होने के कारण, अविवेकी होने के कारण, समझ ही नहीं पाते। वह किसी भी मूर्त्त रूप में सीमित नहीं है। उसका परभाव तो हमेशा ही अव्यक्त है, निराकार ही है। इस बात को दृष्टान्तों से समझाने के लिये प्रायः श्रुतियों में अनेक जगह परमात्मा को आकाश शरीर वाला कह दिया। निराकार क्या है इसे सोचने पर हम लोग आकाश तक ही समझ पाते हैं कि आकाश निराकार वस्तु है। आकाश के आकार की कल्पना जल्दी होती नहीं। अगर आकाश के बारे में कोई जिज्ञासा करे कि 'घड़े में भी आकाश है, कमरे में भी आकाश है, मठ में भी आकाश है। पचास मंजिला मकान में भी आकाश है, परन्तु *असली* आकाश कौन-सा है?' तो

आकाश कौन-सा कहा जायेगा! इसीलिये भगवान् शंकर के लिंग का स्वरूप बतलाते हुऐ यही कहा है कि आकाश ही लिंग है। सामान्यतः किसी खुली जगह में खड़े होकर देखो तो आकाश आधे अण्डे या उलटे कड़ाहे की तरह दीखता है। इसलिये परमेश्वर की पूजादि करने के लिये लिंग के रूप में आकाश की शक्ल बना देते हैं। परंतु आकाश भी उस *आकार* का है तो नहीं! हमको अपनी आँखों से दीखता वैसा है, इतना ही कह सकते हैं।

वह पर भाव कैसा है? 'अव्ययम्' ऐसा नहीं कि जब परमात्मा जगत् बन गया तब उसके अंदर अकेलापन नहीं है। इस समय में भी वह अकेला ही है। उससे सब बना यह तो समझाने के लिये है कि उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार, मंद अंधकार में रखी हुई रस्सी, देवदत्त को दंड दीख रही है, यज्ञदत्त को जल-धारा दीख रही है, भानुदत्त को माला दीख रही है; जिस समय ये सब भिन्न-भिन्न रूप दीख रहे हैं, क्या उस समय रस्सी में कोई परिवर्तन हुआ है? जैसी रस्सी प्रकाश में थी, वैसी ही रस्सी प्रकाश आने पर फिर दीखेगी। इन सब रूपों को धारण करता हुआ कौन है? यही कहोगे कि रस्सी ही इन सब रूपों में दीख रही थी। इन सब रूपों में दीखने पर भी रस्सी में क्या कोई परिवर्तन हुआ? नहीं। इसी प्रकार अज्ञान-अंधकार के काल में इतना बड़ा सारा ब्रह्माण्ड दीखने पर भी परमभाव में कोई व्यय नहीं हुआ है, कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

'अनुत्तमम्'। लोग समझते हैं कि पत्थर को हमने अमुक रूप दे दिया तो वह पहले की अपेक्षा बढ़िया बन गया, उसमें कुछ श्रेष्ठता आ गई। मामूली पत्थर पड़ा हुआ था, कारीगर ने ठोक-पीट कर उसमें बहुत बढ़िया सुंदर मूर्ति बना दी। पर विचार करके देखो कि उस पत्थर में क्या कोई विशेषता आई? पत्थर तो पत्थर ही रहेगा, और तो कुछ होना नहीं है। मंद अंधकार में रस्सी पड़ी थी। एक को उसमें साँप दीखा, दूसरे को उसमें मोतियों की माला दीखी। मोतियों की माला दीखने से वह रस्सी कुछ श्रेष्ठ हो गई क्या? रस्सी तो वही रही। सर्प दीखने से वह कुछ कम उत्तम रह गई क्या? सर्प दीखने से, मोतियों की माला दीखने से रस्सी में न कोई उत्तमता आती है न निकृष्टता आती है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा इतनी बड़ी सृष्टि के रूप में बनता है तो कुछ श्रेष्ठ नहीं हो जाता! भगवान् कहते हैं कि वह परमभाव 'अनुत्तमम्' जैसे है वैसा ही निरतिशय है, कोई भी चीज़ उसमें कुछ जोड़ नहीं सकती। अतः शक्ति के बिना शिव व्यर्थ है इत्यादि मान्यता भी यही मानकर है कि कार्य व्यक्त होने से शिव में कोई विशेषता आती है और कार्य न रहे तो कोई कमी है। तभी सशक्त को अशक्त से बेहतर बताते हैं। इस प्रकार सविशेष के ध्यानादि को निर्विशेष के ध्यानादि से बेहतर तभी समझा जाता है जब विशेष से परमतत्त्व में कोई अंतर माना जाता है। इस तरह के भ्रमों को भी हटाने के लिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि परभाव अनुत्तम है, निरतिशय

है। किसी कार्यादि की प्रतीति से वह बेहतर हो सके यह संभव नहीं। ऐसे भाव को न समझ कर निर्बुद्धि लोग परमेश्वर को व्यक्त ही मान पाते हैं।।२४।।

पूर्वोक्त अबुद्धि लोगों के अज्ञान का निमित्त बताते हैं

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

योगमाया से भली भाँति ढका मैं हर किसी के लिये प्रकाशित नहीं हूँ। यह मोहग्रस्त लोक जन्म-व्ययरहित मुझको पहचानता नहीं है।

'योगमाया' में योग अर्थात् गुणों का युक्त होना। सात्त्विक, राजस, तामस ये तीनों गुण सृष्टिकाल में असम रूप में मिले रहते हैं अर्थात् कभी सात्त्विक भाव प्रधान हो जाता है राजस-तामस दब जाते हैं, कभी राजस प्रधान हो जाता है तो सात्त्विक-तामस दब जाते हैं, कभी तामस प्रधान हो जाता है तो सात्त्विक-राजस दब जाते हैं। इस प्रकार से गुणों का जो मिल जाना उसे यहाँ योग कहा। उनका योग क्यों होता है? भगवान् कहते हैं कि मेरी माया शक्ति से होता है। मेरी माया शक्ति इन गुणों के अंदर उठा-पटक करती रहती है। ये निरंतर बदलते रहते हैं इसलिये परमात्मा सामने होने पर भी प्रतीत नहीं होता। ऐसे समझ लो : तुम चलचित्र देखते हो, तो जो कपड़े का पर्दा है वह कहीं जाता नहीं है, वहीं रहता है, पर चूंकि एक के बाद दूसरे चित्र आते रहते हैं जिन्हें देखते रहते हो, इसलिये वह कपड़ा कभी दीखता ही नहीं है। चल-चित्रों को देखते रहते हो इसलिये पट आवृत प्रतीत होता है। कभी यदि सामने चित्र न रहे, तब तुम को तेज़ प्रकाश के अंदर बिलकुल साफ पर्दा नज़र आ जाता है। परंतु चित्र जब तक सामने रहते हैं तब तक वह पट नज़र नहीं आता यद्यपि नज़र तो पट पर ही रहती है! पट पर जाकर पट को देखते हुऐ भी, 'पट दीख रहा है' ऐसा नहीं लगता। ठीक इसी प्रकार से माया गुणों का परिवर्तन करते हुए, इस संसार चित्र को दिखाती रहती है। इसलिये उससे मानो वह परमेश्वर ढका हुआ है, नहीं ढका होने पर भी ढका हुआ लगता है।

अतः भगवान् ने कहा कि योग-माया से समावृत हुआ मैं 'सर्वस्य प्रकाशः न', सभी लोगों को प्रकाशित नहीं होता। सभी को प्रकाशित नहीं होता इसका मतलब है कि कुछ लोगों को ही मैं प्रकाशित होता हूँ। कुछ लोग अर्थात् जो मेरे भक्त हैं उन लोगों को ही मैं प्रकाशित होता हूँ, क्योंकि वे ही उस चलचित्र से अपनी दृष्टि को हटा पाते हैं। जो सामान्य लोग हैं वे सारे 'मूढः' योगमाया से समावृत हुए मूर्खता के भाव को प्राप्त हो जाते हैं। चित्रों को देखने के अंदर जीव मशगूल हो जाता है और उन्हें अच्छा-बुरा के विभाजन में बाँटने लगता है। कोई चित्र अच्छा लगता है, कोई चित्र बुरा लगता है। एक आदमी ने बुरी गाली दी तो बुरा लगने लगता है, दूसरे आदमी ने दंडवत्

करके ॐ नमो नारायणाय किया तो अच्छा लगने लगता है! इन बदलते चित्रों को देख कर उनका अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द परमात्मा है उस पर नज़र नहीं जाती। मुर्दा होता तो गाली देता नहीं; उसके अंदर चेतन मौजूद है, अंतःकरण में चेतन प्रतिबिम्बित है, तभी गाली दी। परंतु उस चेतन की तरफ दृष्टि नहीं जाती; प्रतिबिम्बित चेतन की तरफ भी दृष्टि नहीं जाती, तो अधिष्ठान चेतन का तो कहना ही क्या है! बस, गाली ही हमारे सामने रह जाती है। इसी प्रकार प्रणाम तभी किया जब उस में चेतन मौजूद है, मुर्दा प्रणाम नहीं करता। लेकिन उसके भी चेतन अधिष्ठान की तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती, बस प्रशंसा और साष्टांग दण्डवत् ही याद रहता है। यही मूढता है। कहीं नीतिकारों ने कहा है कि यदि ब्रह्मा जी भी ज्ञान देने वाले मिल जायें तो भी मूढ को ज्ञान नहीं हो सकता! 'व्यवहार करना ही है' यह जो आग्रह बुद्धि है, यही मूढता को जाने नहीं देती। अधिष्ठान को हम प्रधानता नहीं दे पाते, अध्यस्त की ही हमारे अंदर प्रधानता रहती है। इसलिये कितना भी युक्ति से समझ में आये लेकिन फिर भी व्यवहार तो करना ही है   यह जो व्यवहार का, अध्यास का बाध न करने की प्रवृत्ति है यही उस ज्ञान को दृढ होने नहीं देती। इसलिये कहा कि जो मूढ है उसको यदि विरंचि अर्थात् ब्रह्मा जैसे भी उपदेशक मिल जायें, तो भी ज्ञान नहीं होता।

इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत विरोचन का है : विरोचन ब्रह्मा जी के पास गया, उन्होंने उसको उपदेश दिया, खुश होकर चला गया। ब्रह्मा जी समझ गये कि विरोचन बिना समझे ही लौट गया। विरोचन को दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक ब्रह्माजी के पास रहना पड़ा था, तब उसे उपदेश मिला था। अतः उसके मन में था कि 'इतने समय से यहाँ हूँ, वहाँ राज्य की क्या व्यवस्था हो रही होगी? कहीं किसी दूसरे ने ज़मीन कब्जे न कर ली हो!' राज्य की सच्चाई के बारे में उसको इतनी दृढता थी कि ब्रह्माजी के उपदेश पर मनन करने में प्रवृत्त ही नहीं हुआ। उसी उपदेश को इंद्र ने भी सुना, इंद्र में ऐसी आसक्ति नहीं थी। वह विचार करके रास्ते से वापस आया और कहा, 'आपने उपदेश तो दिया, मेरी समझ में ठीक से आया नहीं।' ब्रह्मा जी ने उसको कई बार समझाया, अंत में उसको ज्ञान हुआ, क्योंकि उसे यह आग्रह नहीं था कि 'मेरे राज्य का क्या होगा? उसको संभालने जाना ही है।' इसलिये भगवान् ने कहा कि जो मूढ लोग हैं वे सत्य नहीं जानते।

जो परमेश्वर का भक्त होगा वह अध्यस्त की चिंता करेगा नहीं। हम भक्त तो हैं जगत् के और भगवान् की तरफ *भी* जाते हैं! जो भगवान् का भक्त होगा, उसको जगत् में रहना *पड़ता* है, वह जगत् में रहना चाहता नहीं है। क्योंकि वह अधिष्ठान का भक्त है इसलिये अध्यस्त का बाध करने में प्रवृत्त होता है। अध्यस्त कैसे चलेगा   इसकी तरफ प्रवृत्त नहीं होता। जिसको परमेश्वर के प्रति प्रेम नहीं होगा, वह अध्यस्त संसार में प्रेम वाला होने से इसकी रक्षा में, प्रवृत होने से ही मूढ बना रहता है। जिसको

परमेश्वर से प्रेम होता है, वह अध्यस्त का बाध करने में मूढता नहीं करता। इसलिये भगवान् ने कहा कि मूढ लोगों को *अभिज्ञा* नहीं होती, अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप उनको समझा दिया जाये तब भी उन्हें मौके पर याद नहीं आता कि नाम-रूप का बाध कर सकें। व्यवहार के समय परमात्मस्वरूप को भूल जाते हैं, भले ही सत्संग करते समय समझ पायें। किस चीज़ की अभिज्ञा नहीं होती? 'माम् अजम् अव्ययम्' यह याद नहीं आता कि मेरे अंदर रहने वाला जो जीवरूप से बैठा हुआ परमेश्वर है वह वस्तुतः जन्मरहित है। विचार करो तो सारे व्यवहार जन्म को लेकर हैं। शरीर के साथ संबंध होना ही जन्म है। जितने व्यवहार हैं उन सबका बीज तो शरीर से संबंध है। क्या मैं वस्तुतः शरीर से संबंध वाला हुआ हूँ? मैं तो अज हूँ, मेरा शरीर से संबंध हुआ नहीं, मैं जन्मरहित हूँ। किन्तु जन्म का भ्रम इतना दृढ लगता है कि 'मैं शरीररहित हूँ', यह बार-बार सुनने पर भी अपने शरीररहित स्वरूप की दृष्टि न बन कर बार-बार जन्म वाले रूप की ही दृष्टि बनती है। मैं परमात्मतत्त्व जन्मरहित हूँ। जब-जब शरीर का संबंध याद आवे तब याद करो कि इस शरीर के साथ मेरा संबंध तीन काल में नहीं। शरीर से संबंध को लेकर मैं व्यवहारों का प्रारंभ करने वाला बनता हूँ। शरीर-मन आदि की घटोतरी-बढ़ोतरी से मेरी घटोतरी-बढ़ोतरी होगी, यह मान कर मैं व्यवहार करता हूँ, जब कि मैं परमात्मा, स्वरूप से अव्यय हूँ, मेरा स्वरूप व्ययरहित है, उसके अंदर घटना-बढना हो नहीं सकता। और इस घटने-बढ़ने को दूर करने के लिये ही मेरी सारी प्रवृत्ति है! अपने जन्मरहित और व्ययरहित रूप को, अविकारी रूप को न पहचानने का कारण है कि अध्यास की तरफ जीव बड़े प्रेम वाला है। यही योगमाया है। योगमाया ने जो जन्मरहित और व्ययरहित है उसे जन्मवाला व व्ययवाला दिखा दिया है। और इतनी जल्दी-जल्दी वह संसार के चित्र चलाती है कि विचार करने के लिये समय ही नहीं मिलता। बाकी सब चीज़ों के लिये, अध्यास को पूरा करने के लिये तो समय रहता है, पर बाध को करने के लिये समय नहीं रहता। अतः भगवान् ने कहा कि जो योगमाया से समावृत मेरा आत्मस्वरूप है वह लोगों को प्रकाशित नहीं होता।।२५।।

योगमाया परमात्मा को ढाँकती है पर उनके ज्ञान को प्रतिबद्ध नहीं करती, जैसे लौकिक मायावी अपनी माया से ढका रहकर अन्यों के लिये अदृश्य होने पर भी उसकी माया स्वयं उसके ज्ञान को रोकती नहीं। अतः भगवान् बताते हैं कि उनकी सर्वज्ञता सनातन रहती है

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

हे अर्जुन! पूर्वकालिक, वर्तमान और भावी भूतों को मैं जानता हूँ पर मुझे कोई नहीं जानता।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि माया मुझे ढाँकने पर भी मैं इससे नहीं ढँकता! यह माया की विलक्षणता होती है। जादूगर खेल दिखलाता है, वह अपनी जगह किसी और चीज़ को दिखला देता है। बाजीगर आता है, आसमान में रस्सी को फैंक कर रस्सी पर चढ़ जाता है! ऊपर जाकर गायब हो जाता है, बिलकुल दीखता नहीं। वहाँ से पहले उसके शरीर के टुकड़े गिरते हैं और अन्त में वह स्वयं वापिस उतर आता है! सब को तो ऐसा दीखता है, लेकिन बिना किसी सहारे के रस्सी खड़ी कैसे रहेगी? और उस पर इतना वजन देकर आदमी चढ़ेगा कैसे? अतः वास्तव में बाजीगर खुद तो वहीं पेड़ के नीचे रहता है। न वह रस्सी पर चढ़ता है, न उतरता है। जो तुम को चढ़ता-उतरता हुआ और रस्सी दीखती है, वह सब उसके खेल से, इन्द्रजाल से दीखती है। परंतु उसके द्वारा वह ऐन्द्रजालिक खुद नहीं ढँकता। तुम्हें वह खेल दिखा रहा है लेकिन खुद उस खेल को देखता नहीं है। थोड़े साल पहले एक पी० सी० सरकार नाम का ऐन्द्रजालिका था। कई बार उसने खेल दिखलाया : सात बजे से खेल होने वाला है; वह साढ़े आठ बजे आया। लोगों ने हल्ला मचाया। वह बोला 'अपनी घड़ियाँ तो देखिये, मैं सही सात बजे आया हूँ।' सब को अपनी घड़ी सात बजाती दीखती थी! सैकड़ों आदमी बैठे होते थे, सब सात बजा देखते थे, परंतु क्या उसे भी सात बजा दीखता था? नहीं। जैसे माया से ढका हुआ ऐन्दजालिक खुद उसके द्वारा ढका नहीं जाता, दूसरों के लिस ढका रहता है, ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर योगमाया के द्वारा दूसरों के लिये ढका रहता है, स्वयं वह कभी भी ढका नहीं जाता। यही इन्द्रजाल की, माया की विशेषता है।

इसलिये परमेश्वर हमेशा सर्वज्ञ बना रहता है। जबकि जिन जीवों के लिये माया से परमात्मा ढका रहता है, वे सारे सर्वज्ञ नहीं रहते। अतः भगवान् कहते हैं 'अहं समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद' मैं तो खेल दिखलाने वाला हूँ। इसलिये जो कुछ हो चुका है वह सब मैं जानता हूँ। इस समय जो कुछ है उसे भी मैं जानता हूँ और जो भविष्य में होगा, उस सब को भी मैं जानता हूँ। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों मेरे लिये हाथ में रखे हुऐ आँवले की तरह हैं। मैं तो हमेशा सर्वज्ञ बना रहता हूँ। भूत, भविष्य, वर्तमान सब को एक-जैसा जानता हूँ। मेरे लिये भूत वर्तमान और भविष्य में कोई फ़र्क नहीं है। लेकिन 'कश्चन तु मां न वेद', अपने को मुझसे भिन्न अनुभव करने वाला कोई भी जीव मुझे नहीं जानता। मैं जड-चेतन सबको जानता हूँ परंतु मुझे कोई नहीं जानता।

'तु'-कार के द्वारा बतला दिया कि जो मेरी शरण में आया हुआ मेरा भक्त है उसको छोड़ कर अन्य कोई नहीं जानता। भक्त तो मेरी वास्तविकता को जानता है। लोक में भी ऐसा ही होता है। ऐन्द्रजालिका जो खेल दिखलाता है, वह बँधी आँखों वालों के लिये ही होता है। जिसकी आँखें बँधी नहीं होतीं उसको वह खेल दीखता नहीं। एक जगह एक आदमी खेल दिखला रहा था उसने पूछा।' तुम्हें क्या खाने की इच्छा है? वही

खिला सकता हूँ।' लोगों ने कहा 'गरम-गरम गुलाब-जामुन खिलाओ।' उसने झट से गुलाब जामुन निकाले और खिलाये। सब लोग बड़े प्रसन्न होकर गुलाब जामुन खा रहे थे। तभी एक लड़का वहाँ पहुँचा; बैठे लोगों की तो आँखें बँधी हुई थीं, पर वह अकस्मात् बाहर से आया था, उसकी आँखें बँधी हुई थीं नहीं, उसने कहा 'अरे-अरे! तुम लोग क्या खा रहे हो? कैसी तुम्हारी बुद्धि है! घोड़े की लीद खा रहे हो!' सबने देखा तो सब के हाथों में घोड़े की गरम-गरम लीद थी! थू-थू कर फैंकने लगे। उस ऐन्द्रजालिक से बोले 'यह तूने क्या किया?' वह बोला 'मैंने तो सब ठीक किया था, इस लड़के ने आकर मेरा खेल बिगाड़ दिया!' जैसे जिसकी आँखें बँधी हुई नहीं थीं उसके लिये खेल नहीं था उसी प्रकार जो परमेश्वर का भक्त होता है उसके लिये यह खेल है नहीं, वह तो परमेश्वर को ही देखता है। जिनकी आँखें माया से बँधी हुई हैं उन्हें यह सारा खेल दीखता है, इसलिये परमेश्वर दीखता नहीं।।२६।।

प्रश्न होता है कि क्या कारण है कि लोग परमात्मा को नहीं जान पाते? भगवान् कहते हैं कि खाली माया होवे तो यह खेल नहीं दीखता! जब तुम को गहरी नींद आती है, उस समय तुम रहते माया में ही हो, परंतु क्या तुम को अपने जन्मदिन की याद आती है? घर वाली के सिर में भयंकर दर्द है, वह याद आता है? लड़के के पेट में व्रण हो गया है, क्या वह याद आता है? गहरी नींद में जाने पर माया तो रहती है, परंतु यह खेल नहीं रहता। गहरी नींद में तुम किसी चीज़ को जानने की सामर्थ्य वाले नहीं हो; जान सकते नहीं हो इसलिये वहाँ *संसार की* किसी चीज़ को नहीं जानते, और *अपने को* भी नहीं जानते। गहरी नींद में जैसे तुम संसार की किसी चीज़ को नहीं जानते वैसे तुम अपने को भी नहीं जानते क्योंकि जानने की शक्ति नहीं है। यदि तुम्हारी जानने की शक्ति होवे, और तुम संसार को न जानो, तब तुम अपने आत्मतत्त्व को जान सकोगे। जानने की शक्ति होने पर भी परमात्मा को जानना क्यों प्रतिबद्ध रहता है यह भगवान् समझाते हैं

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

हे परन्तप भारत! सभी प्राणी पैदा होते ही उस मोह से संमोहित रहते हैं जो राग-द्वेष से उत्पन्न और रागद्वेषनिमित्तक है।

'सर्गे' सृष्टि काल में। समष्टि-दृष्टि से तो महाप्रलय के बाद जब जगद् उत्पन्न होता है वह सर्ग का समय है, व्यष्टिदृष्टि से हर जन्म सर्ग का समय है, और विचार करो तो हर जाग्रत्काल सृष्टि का, सर्ग का समय है। जो सोकर जगता है उसके लिये वह सर्ग का ही काल है। उस समय से ही 'सम्मोहं यान्ति', मोहको प्राप्त हो जाते हैं, मूढ बन जाते हैं। मूर्खता सृष्टि काल में ही है। जब समाधि का अभ्यास करते हो तब

सारी इन्द्रियों को, मन बुद्धि को तुम काम करने से रोक लेते हो। जैसे सुषुप्तिकाल में तुम को कुछ प्रतीत नहीं होता वैसे ही समाधिकाल में भी कुछ प्रतीत नहीं होता। अतः वह सर्गकाल में नहीं है। इसलिये महर्षि पतंजलि लिखते हैं कि उस समाधिकाल में तो द्रष्टा अपने स्वरूप में, अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। श्रुति कहती है कि इस प्रकार से तो जब तुम सुषुप्ति में जाते हो तब भी सत् से सम्पन्न हो जाते हो, सत् से एक हो जाते हो, स्वरूप में स्थित हो जाते हो। उसके बाद जैसे ही व्युत्थान होता है, समाधि से तुम जैसे ही पुनः जाग्रत् अवस्था में आते हो, वैसे ही बंधन प्रारंभ हो जाता है, सारे जगत् के अंदर सत्यत्व की प्रतीति पूर्ववत् हो जाती है। इसलिये वेदांत कहता है कि जानने की शक्ति रहे और संसार को न देखकर परमात्मा को देखो, तब मोहभंग हो। ऐसा जो विचारकाल है, उसमें ही इस माया को काट सकते हो। सर्गकाल में ही मोह है, और सर्गकाल में ही इस मोह को काटना पड़ेगा।

मोह क्या है? 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन'। द्वन्द्व के निमित्त से मोह होता है। संसार में मोह का कारण क्या है? जितनी चीज़ें संसार में देखो, सब जोड़े में आती हैं, सबका द्वंद्व है। सुख है तो दुःख भी है। सुगंध है तो दुर्गन्ध भी है। अच्छा आदमी है तो बुरा आदमी भी है। अच्छा विचार है तो बुरा विचार भी है। द्वन्द्व के घटक परस्पर विरुद्ध होते हैं, सुख और दुःख परस्पर विरुद्ध हैं। जब-जब अपना काल आता है तब-तब सारे प्राणियों से द्वन्द्व सम्बद्ध हो जाते हैं। सर्दी आती है तो सब लोग सर्दी से सम्बद्ध हो जाते हैं। जिनको सर्दी अच्छी लगती है वे कहते हैं कि अच्छा हुआ, जिन्हें अच्छी नहीं लगती, वे कहते हैं कि बड़ा बुरा हुआ।

द्वन्द्वमोह, अच्छा और बुरा किस से होता है? इच्छा और द्वेष से ही पैदा होता है। अगर हमें इच्छा सर्दी की है तो सर्दी अच्छी लगेगी, यदि सर्दी से द्वेष है तो सर्दी बुरी लगेगी। न सर्दी अच्छी है, न गर्मी अच्छी है। इच्छा और द्वेष से ही ये द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख हैं। हम लोगों को मिठाई अच्छी लगती है। बढ़िया दाल के सीरे का भंडारा हो तो मन प्रसन्न हो जाता है। एक महात्मा मीठा नहीं खा सकते। अगर ज़बरदस्ती किसी दिन थोड़ा-सा मीठा खिला दें तो बेचारे तीन-चार दिन तक तकलीफ पाते हैं। उनको मीठे की कोई इच्छा ही नहीं होती। मीठा जिसकी इच्छा का पदार्थ है, उसके लिये वह सुखदायी है। परंतु जिसके वह द्वेष का विषय है, उसके लिये दुःखदायी है। द्वन्द्व का मोह, द्वंद्व-निमित्तक मोह, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है। मोह तुम्हारी प्रज्ञा को प्रतिबद्ध कर देता है, वास्तविकता को नहीं जानने देता। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व-मोह परमार्थ आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबंध का कारण है। अज्ञान तो मोह का उपादान कारण है ही, लेकिन अज्ञान गहरी नींद और महाप्रलय में रहता है परंतु सम्मोह नहीं करता, सृष्टि होते ही सम्मोह क्यों हो जाता है? इच्छा व द्वेष के कारण, सृष्ट जगत् के अंदर जो हमें द्वन्द्वों से मोह हो जाता है,

उससे इच्छा के विषय को प्राप्त करने के लिये और द्वेष के विषय को दूर करने के लिये हम प्रयत्न करते रहते हैं, इसलिये परमात्म तत्त्व की तरफ नहीं जा पाते। इस प्रक्रिया में ऐसे मोह में पड़ जाते हैं, कि जो वस्तुतः परमार्थ तत्त्व, इस द्वंद्व से रहित है, निर्द्वंद्व है, उसकी तरफ जा ही नहीं पाते। इच्छा-द्वेष रूपी दोष से जिसका चित्त आक्रान्त हो गया, वह कभी भी वास्तविक तत्त्व जैसा है वैसा उसको नहीं जान सकता। यह बात बाह्य पदार्थों के विषय में भी समझ लेना बाह्य पदार्थ भी सचमुच में कैसे हैं यह जब तक हमारे अंदर उस चीज़ के प्रति इच्छा-द्वेष रहेंगे तब तक हम नहीं देख सकते। कबूतर की बीट से कई चर्म-रोग ठीक होते हैं ऐसा वैद्यों का कहना है। जिसको वह चर्म-रोग है, वह कहीं कबूतर की बीट देखता है तो सोचता है कि कितनी अच्छी है और उसको झट इकट्ठा करता है क्योंकि वह उसकी इच्छा का विषय है। और हम लोगों को बीट से बड़ी घृणा होती है, यदि कबूतर कहीं बीट कर दे तो कहते हैं 'खिड़कियाँ बंद रखा करो, ये कबूतर आकर गंदगी कर जाते हैं।' कबूतर की बीट तो न अच्छी है, न बुरी है, जैसी है वैसी है। पर राग-द्वेष से हम उसे अच्छा-बुरा समझते हैं।

एक प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् ने यहाँ कहा कि इच्छा-द्वेष से उत्पन्न होता है द्वन्द्वमोह, परंतु पहले कह आये हैं

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति संमोहः'

इच्छा विषयध्यान से होती है अर्थात् विषय उसमें कारण पड़ता। विषयध्यान से संग, संग से कामना (इच्छा), उसमें रुकावट से क्रोध और उससे संमोह यह पूर्व में क्रम कहा था। वहाँ मूल कारण विषय का ध्यान बताया। विषय सामने आने पर, आसक्ति या संग होता है। उस विषय से यदि सुख होता है तो उस सुख के प्रति राग हो जाता है और यदि विषय से दुःख हो तो उस के प्रति द्वेष हो जाता है। सुख के प्रति राग, और दुःख के प्रति द्वेष ये स्वाभाविक हैं, सहज हैं। विषय से किसी काल में सुख होगा तब उसकी इच्छा हो जायेगी कि ऐसा अनुभव हमें फिर होवे। अतः उस विषय की इच्छा होकर प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार विषय का संबंध होने पर जब दुःख होता है, तब उस विषय के प्रति द्वेष हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सुख-दुःख रूपी द्वन्द्व के प्रति कारण इच्छा-द्वेष हैं। किन्तु सुख-दुःख जिस कारण से होते हैं उस विषय के प्रति भी इच्छा और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये पहले विषयध्यान को मूल कहा था। इसका मूल कारण है कि प्रत्यगात्मा और अहंकार की वृत्ति, इन दोनों में हम को कोई भेद का ज्ञान हो नहीं पाता। इसलिये अंतःकरण का जो एक कार्य है अहंकारात्मिका

वृत्ति, मैं, उसको ही अपना प्रत्यगात्मा समझने लगते हैं। अतः उस अंतःकरण से जो सुख-दुःख होते हैं, उससे जो इच्छा-द्वेष होते हैं, उन्हें अपना समझते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही अंतःकरण और अहम् आये हैं। सम्मोह का बीज है प्रत्यगात्मा और अंतःकरण के अहंकार को अलग-अलग नहीं समझना। इसी से सारे सम्मोह होते हैं। मूल अज्ञान ने प्रत्यगात्मा के वास्तविक स्वरूप को ढाँक रखा है। इसलिये जैसे ही सृष्टिकाल में अन्तःकरण जीव की उपाधि हुई, उस अंतःकरण के अंदर अहंकार की वृत्ति के साथ प्रत्यगात्मा का विवेक न हो पाना   इस मोह के कारण ही बार-बार जीव उत्पन्न होता है।।२७।।

प्रश्न होता है कि द्वन्द्वमोह से छुटकारा कैसे हो? इससे छूटे बिना वासुदेव का ज्ञान होगा नहीं अतः इससे छूटना ज़रूरी है। उपाय भगवान् बताते हैं

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

जिन पुण्य कर्मों वालों का पाप क्षीण हो चुका है वे निश्चित विज्ञान वाले लोग द्वन्द्व-मोह से छूटकर मेरा भजन करते हैं।

शास्त्र में श्रद्धा रखकर दीर्घकाल तक पुण्यकर्म करते रहना इस क्रम का प्रथम साधन है। जिन्हें पहले (७.१६) 'सुकृतिनः' कहा था, उन्हीं को अब 'पुण्यकर्मणाम्' कह दिया। जन अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में भटकने वालों में से ही कुछ होंगे जो मोक्ष के साधक बनेंगे। पुण्य कर्म करते-करते पुण्यकर्मों का संस्कार ऐसा दृढ हो जाता है कि पाप क्षीणप्राय हो जाते हैं। पुण्य कर्म में प्रवृत्ति श्रद्धा से होती है। परमात्मा को आत्म-भाव से जानने से पूर्व ही पुण्य कर्म करते रहने से पाप कर्म क्षीण होने पर अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। अंतःकरण की शुद्धि का कारण पुण्य कर्म है। शुद्ध अन्तःकरण के अंदर, राग-द्वेष की प्रवृत्ति अत्यल्प हो जाती है। इसलिये सुख-दुःख देने वाले द्वन्द्वों के प्रति प्रवृत्ति से साधक निर्मुक्त होता है, छूट जाता है। अंतःकरण की अशुद्धिकाल में यही समझ में आता है कि विषयों से सुख-दुःख होते हैं। अन्तःकरण की शुद्धिकाल में समझ में आता है कि पुण्य कर्म सुख का कारण और पाप कर्म दुःख का कारण है। इसलिये विषयों में जो हमें प्रवृत्त-निवृत्त करने की कारणता है वह कम हो जाती है। विषयों की कारणता का मोह हट जाने से विषय-चिंतन न करके, परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति बन जाती है। फिर श्रवण-मनन कर यह निश्चय हो जाता है कि यह प्रत्यगात्मा वास्तव में परमात्मतत्त्व है, अहम् नहीं है। 'दृढव्रताः' अर्थात् परमात्मा ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है   इस प्रकार उनको निश्चय हो जाता है। इसलिये वे लोग दृढ व्रत वाले कहे जाते हैं। परमात्मा प्रत्यगात्मा ही है अन्यथा नहीं है   ऐसा निश्चय दृढ व्रत है। अब वे परमात्मा का भजन प्रत्यगात्मा से अभिन्न समझकर ही करते हैं इसलिये अन्य

देवताओं के प्रति उनकी प्रपत्ति समाप्त हो जाती है।।२८।।

फिर वे भजन क्यों करते हैं? इसका उत्तर भगवान् देते हैं

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२६।।

मुझे आश्रय बनाकर जो वार्द्धक्य व मृत्यु से छूटने के लिये प्रयास करते हैं वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा अखिल कर्म को जान जाते हैं।

पुण्य कर्मों के जहाँ फल बतलाये हैं, वहाँ किसी भी पुण्य कर्म का फल, जन्म-मरण की निवृत्ति नहीं कही है। शरीर की प्राप्ति होगी तो जरा अर्थात् बुढ़ापा और मरण अर्थात् मृत्यु अवश्यम्भावी हैं। ये दोनों ही प्राणिमात्र के दुःख के कारण हैं। सभी इंद्रियों की जीर्णता ही जरा की अवस्था है। आँखें भी ठीक देखती नहीं, कान ठीक सुनते नहीं, जबान बोलने में लड़खड़ाती है, पैर भी ठीक से चलते नहीं, हाथों से ठीक पकड़ा नहीं जाता इस प्रकार इन्द्रियाँ जीर्ण हो जाती हैं। अंतःकरण भी जीर्ण होता है, क्या देखा यह याद नहीं रहता, क्या कहा था यह याद नहीं रहता, क्या करना है यह याद नहीं रहता। ये सभी दुःख के कारण बनते हैं। शरीर होगा तो जरा अवस्था ज़रूर आयेगी। किसी भी पुण्य कर्म से उससे बच नहीं सकते। इसी प्रकार जितने अपने संबंध हैं, वे सारे मृत्युकाल में एक झटके में टूट जाते हैं। वह भी दुःख का कारण बनता है। पुण्य कर्म से अनेक चीज़ों की प्राप्ति होने पर भी जरा और मरण से छूट नहीं सकते। इनसे छूटने के लिये तो जन्म से बचना होगा! किसी ने कहा है कि मृत्यु से डर कर क्या होगा! क्या डरे हुए को मृत्यु छोड़ देता है? तुम को यदि मृत्यु नहीं प्राप्त करनी है तो सोचो कि मृत्यु किसको नहीं आती? जो पैदा हुआ है उसी को मृत्यु मार सकती है, जो पैदा नहीं हुआ उसको मृत्यु मार नहीं सकती! इसलिये जन्म न हो इसके लिये प्रयत्न करो। पुण्यकर्मा लोग समझ लेते हैं कि जरा-मरण के दुःख से अन्य किसी तरह छूटा नहीं जा सकता, जरा-मरण से छूटने के लिये जन्मरहित होना पड़ेगा।

जन्मरहित होने के लिये जो जन्मरहित है उसी का सहारा पकड़ना पड़ेगा। अतिधन्य वेद कहता है कि 'अजात इति कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।' सिवाय उस सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा के, और कोई भी जन्मरहित नहीं है। इसलिये वे जन्म मृत्यु से बचने के लिये उस अज परमात्मा की ही शरणागति करते हैं, प्रपन्न होते हैं। 'मामाश्रित्य' अज जो परब्रह्म परमात्मतत्त्व मैं हूँ, उसका आश्रय लेते हैं। उसका आश्रय लेने का तरीका क्या है? बार-बार उसका निश्चय करना ही उसका भजन है। वह प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, यह शास्त्र से निश्चय होने के कारण अहंकारस्वरूप नहीं, प्रत्यगात्मस्वरूप जो मैं हूँ, वह परमात्मा ही हूँ ऐसा जो बार-बार निश्चय करना है, वही भजन है। यही उन साधकों का प्रयत्न है। 'ते तद् ब्रह्म विदुः' उस प्रयत्न से वे

प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्म तत्त्व है उसका साक्षात्कार करते हैं।

'तद् ब्रह्म कृत्स्नं विदुः'। ब्रह्म में, अज परमात्मा में किसी प्रकार के टुकड़े नहीं हैं। उसका एक टुकड़ा मेरा प्रत्यगात्मा हो, दूसरे टुकड़े दूसरे शरीरों में, अन्तःकरणों में हों ऐसा कुछ नहीं है। शास्त्रों के अंदर कह दिया जाता है कि जीव परमात्मा का अंश है, 'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि। वहाँ अंश का मतलब लोग समझते हैं टुकड़ा, जैसे कपड़े का अंश होता हैः कपड़े का पूरा थान है, उसका एक अंश तीन मीटर काट कर तुम्हारी धोती बन गई। दूसरा तीन मीटर काट कर दूसरे की धोती बन गई। इसी प्रकार से लोग समझते हैं कि परमात्मा का एक हिस्सा मेरे में और दूसरा हिस्सा दूसरे में है। किंतु परमात्मा ऐसा नहीं वरन् निरंश है, अंशवाला नहीं है। फिर शास्त्र में जीव को अंश कैसे कह दिया? सूर्य, सूर्य रहते हुए की काँच में दीखता है। काँच में दीखने वाले को सूर्य का अंश कह देते हैं। हज़ारों काँच रख दो तो उन में हज़ारों सूर्य दीखेंगे। पर सूर्य का कोई हिस्सा काँच में तो घुसा नहीं है। इसी तरह जीव को अंश कहने का अर्थ केवल इतना ही है, कि वह ब्रह्म के जैसा दीखता है। परमात्मा स्परूप से अक्षुण्ण रहते हुऐ ही अंतःकरण में प्रतिबिम्बित हुआ जीवभाव से दीखता है, इसी को कह देते हैं कि जीव परमात्मा का अंश है। परमात्मा में कोई विकार आ गया हो, कोई परिवर्तन हो गया हो, कोई हिस्सा इधर-उधर हुआ हो, ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यगात्मा को जाना, तो परमात्मा के एक हिस्से को जान लिया। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के कारण वह प्रत्यगात्मा शब्द से कहा जाता है, परंतु प्रत्यगात्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। 'अध्यात्मं विदुः' प्रत्यगात्मविषयक जो वस्तु है, उसका ज्ञान उन्हें हो जाता है। और 'अखिलं कर्म च विदुः' कर्मों के सारे स्वरूप को भी वे समझ लेते हैं। यहाँ भगवान् जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं उन्हें अगले अध्याय में विस्तार से बताना है।।२९।।

और भी वे साधक क्या जानते हैं इसका उल्लेख करते हैं

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

।।ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जो मुझे जानते हैं वे समाहित मन वाले मरते समय भी मुझे जानते हैं।

पूर्व श्लोक में कृत्स्नता के अध्यात्म और कर्म, दो पहलू कह दिये थे, यहाँ अन्य पहलू गिना दिये। अध्यात्म अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर से अवच्छिन्न रूप। अधिभूत, अर्थात् भूतों को अधिकृत करके परमात्मा कैसा है; अधिदैव अर्थात् देव को अधिकृत करके परमात्मा कैसा है; और अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ को अधिकृत करके कैसा है। तो

परमात्मा का अध्यात्मरूप, कर्मरूप, अधिभूतरूप, अधिदैवरूप और अधियज्ञरूप इन सबको वह यत्नशील साधक जानता है। पूर्व श्लोक में 'कृत्स्न' कहा था, उसी कृत्स्नता, पूर्णता को यहाँ विस्तार करके, खोल कर कह दिया। ये रूप कौन-से हैं यह आगे बतलाना है। इस प्रकार से सब कुछ शिवस्वरूप है और मैं भी शिवस्वरूप हूँ यह ज्ञान चाहिये। पूजा के अंत में कहते हैं

'शिवःकर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च सोहमस्मि सदा शिवः।'

करने वाला भी शिव ही है, भोगने वाला भी शिव ही है, शिव से अन्य कोई विषय नहीं है। पूजा भी शिव ने की है। पूजा स्वयं भी शिव ही है। ऐसा वह जो सर्वस्वरूप शिव है, वही मैं हूँ। इस प्रकार परमात्मा के कृत्स्न रूप को जानना है, पूर्णरूप को जानना है। इसमें से किसी एक रूप को जानने मात्र से द्वन्द्वनिवृत्ति नहीं होगी। जो यों जान लेते हैं 'प्रयाणकालेऽपि' यहाँ से प्रयाण करते समय, मरते समय भी 'युक्तचेतसः', उनका चित्त समाहित रहता है। क्योंकि हर चीज़ उन्होंने ब्रह्मरूप समझी हुई है इसलिये ब्रह्म को छोड़कर और कहीं उनका चित्त समाहित हो ही नहीं सकता। 'मां विदुः' उस समय में भी वे मुझे देखते हैं। जब मृत्त्युकाल आता है तब वे जानते हैं कि महाकाल स्वयं पधार रहे हैं। उसमें भी वे ब्रह्म को देखते हैं।

भगवान् ने शुरू में प्रतिज्ञा की थी, 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्'; तदनुसार यहाँ शास्त्रीय ज्ञान भी बलता दिया और उसके अनुभव का प्रकार भी बतला दिया। अन्त में ब्रह्म की कृत्स्नता का जो उल्लेख किया उस पर अर्जुन प्रश्न करेगा, जिसके उत्तर में अगले अध्याय में अध्यात्म आदि शब्दों की भगवान् स्वयं व्याख्या करेंगे।।३०।

।। सातवाँ अध्याय ।।

ॐ

आठवाँ अध्याय: अक्षरब्रह्मयोग

सप्तमाध्याय में शास्त्रीय ज्ञान और उसके अनुभव का प्रकार बताकर अन्त में कुछ प्रश्नों के बीज रख दिये थे जिनके अंकुर रूप से ब्रह्म-आदि पदार्थों को समझने के लिये अर्जुन इस अध्याय के प्रारंभ में सात प्रश्न पूछ रहा है

अर्जुन उवाच
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहा? और अधिदैव कौन कहा जा रहा है?

व्याकरण में तीन पुरुष माने जाते हैं जो संमुख नहीं है या जिसे संबोधित नहीं किया जा रहा, वह कर्ता प्रथम या अन्य पुरुष कहा जाता है जैसे 'वह जाता है' में 'वह'। जो सामने है, जिससे कहा जा रहा है, वह मध्यम पुरुष है, जैसे 'तुम जाते हो' में 'तुम'। और वक्ता स्वयं उत्तम पुरुष होता है जैसे 'मैं जाता हूँ' में 'मैं'। अतः उत्तम पुरुष अर्थात् मैं से अभिन्न जो पुरुषरूप है उसी को अर्जुन ने सम्बोधित किया 'पुरुषोत्तम!' यही भगवान् ने अपना रूप पूर्व अध्याय में बतलाया था। अर्जुन पूछा रहा है कि आपने कहा, 'वे ब्रह्म को जानते हैं'; उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है? इसी प्रकार अध्यात्म क्या है? और जिसे अखिल कर्म कहा था वह क्या है? किंच 'साधिभूताधिदैवं' कहा था, वहाँ अधिभूत क्या है, अधिदैव शब्द से आप किस चीज़ को कहना चाहते हैं?।।१।।

बाकी पदों का भी अर्थ पूछता है

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! इस शरीर में अधियज्ञ कौन है व उसका चिंतन कैसे करना है? एवं समाहित मन वालों द्वारा मरते समय आप किस तरह जाने जाते हैं?

मधु राक्षस ने सभी देवताओं को वश में कर लिया था। भगवान् सोए हुए थे। जब तक भगवान् न जगें तब तक मधु मारा न जा सकता था, क्योंकि भगवान् को ही उसे मारना था। देवताओं ने भगवान् को जगाने के लिए देवी से प्रार्थना की। निद्रा रूपी देवी हट गई, भगवान् विष्णु जग गए और मधु को मार दिया। उसने कहा 'मुझे वहाँ मारिये जहाँ कोई मरा नहीं है।' भगवान् ने उसको अपनी जांघ पर मारा क्योंकि उससे पूर्व उनकी जांघ पर कोई नहीं मरा था। अर्जुन का अभिप्राय था कि जिस प्रकार से आपने मधु को मार डाला था इसी प्रकार मेरे मोह को समाप्त कीजिये। मधु और कैटभ दोनों साथ रहते थे और साथ ही मारे भी गए। उनका द्वंद्व अर्थात् जोड़ा था। पूर्व श्लोक में मोह भी द्वंद्वसंबंधी कहा गया था। अतः मधुसूदन इस मोह को अवश्य नष्ट कर सकते हैं। हमारा अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा हमारे अंदर विद्यमान है पर अविद्या से सो रहा है, ढका हुआ है, कार्यकारी नहीं है। जब तक मोह निद्रा खत्म न होवे तब तक मोह-निवृत्ति होती नहीं। शास्त्र के द्वारा ही आत्मदेव जगेगा। शास्त्र के द्वारा हमें पता लगेगा कि मेरे अंदर सारी चेतना देने वाला वही है, जो संसार के जन्मादि का हेतु है। जैसे अपने शरीर पर मधु को मारा, वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान-स्वरूप ही है। अधिष्ठान में ही वह समाप्त हो जाती है, उसका बाध हो जाता है। इसलिए भगवान् से अर्जुन कह रहा है कि आप मधुसूदन हैं, अधिष्ठान रूप से अपने अंदर ही सब चीज़ों को खत्म करने वाले हैं, मेरे भी इस मोह को समाप्त करिए।।२।।

भगवान् ने जिस क्रम से प्रश्नों के बीज डाले थे उसी क्रम से अर्जुन ने प्रश्न पूछे और जिस क्रम से अर्जुन ने प्रश्न पूछे उसी क्रम से भगवान् आगे जवाब दे रहे हैं।

श्रीभगवान् उवाच
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

श्रीभगवान् ने समझाया ब्रह्म अर्थात् वह परमार्थ तत्त्व जिसका कभी क्षरण नहीं होता। अध्यात्म अर्थात् उसी ब्रह्म का हर शरीर में स्व के, प्रत्यगात्मा के रूप से उपस्थित होना। कर्म नाम है उस परित्याग का जो स्थावर-जंगम जो कुछ भी है उसका उद्भव करता है।

अक्षर जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जो कभी झरता नहीं। संसार के सब पदार्थ क्षर हैं। जैसे बिना चाहे हुए भी घड़े में रखा पानी घड़े के बाहर आता ही रहता है, झरता ही रहता है, इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ निरंतर क्षरण वाले ही हैं, झरते ही रहते हैं। परमात्मा को ही अक्षर कहते हैं। परमात्मा को अक्षर नाम से बृहदारण्यक कहता है 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि,' याज्ञवल्क्य ने कहा हे गार्गी! इस अक्षर के ही शासन में रहते हुए सूर्य और चन्द्रमा अपने नियत कालों पर उदय होते हैं, अस्त होते हैं। मनुष्य को रविवार को थोड़ी-सी छूट मिलती है तो सबेरे पाँच बजे उठने वाला भी सात बजे उठता है। और लाखों सालों से सूर्य बेचारा समय पर ही उदय होता है, उसको कभी छुट्टी नहीं मिली। किसी का भयंकर शासन उसके ऊपर है तभी यह सम्भव है। संसार में सभी चीज़ें नियम में चल रही हैं क्योंकि परमेश्वर का भय है। 'ओम्' को भी अनेक जगह अक्षर कह दिया है 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म', 'ओम् इति ब्रह्म' इत्यादि। इसलिए भगवान् ने कह दिया 'परमं' ताकि अक्षर से ओंकार का ग्रहण नहीं हो क्योंकि वह परम नहीं है।

परब्रह्म ही हर एक शरीर-मन में, स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों में, प्रत्यगात्मरूप से प्रतीत हो रहा है। परब्रह्म का शरीर के अंदर प्रतीत होना इसी को 'स्वभाव' कहते हैं। जिस प्रकार तुम घड़ा बनाओ, सुई का छेद बनाओ, कमरा बनाओ, जहाँ भी किसी प्रकार का परिच्छेद बनाओगे, उसके अंदर आकाश की प्रतीति रहेगी। आकाश कट कर तो उसमें आ नहीं जाता है! आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता है परंतु जैसे ही तुमने चारदीवारी बनाई, वैसे ही आकाश उसमें सीमित प्रतीत होने लगता है। इसे आकाश का स्वभाव ही कहोगे। इसी प्रकार, जैसे ही शरीर बना वैसे ही ब्रह्म उसमें मैं रूप से प्रतीत होने लगता है, यह ब्रह्म का स्वभाव ही है। इसी प्रकार जैसे दीवारें या घड़ा फोड़ देने पर सीमित आकाश ही असीम आकाश हो जाता है वैसे प्रत्यगात्मा का अवसान परब्रह्म में ही है, सीमित करने वाली उपाधि का पूर्णतः समापन होते ही जो परिच्छिन्न 'मैं' प्रतीत हो रहा था वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही हो जाता है। इसलिए उसको अध्यात्म शब्द से कहते हैं।

कर्म किसको कहते हैं? भूत अर्थात् जड-चेतन सारे ही जगत् का भाव अर्थात् होना, उसका उद्भव अर्थात् जन्म को करने वाला विसर्ग कर्म है। अर्थात् भूतमात्र की उत्पत्ति करने वाला जो विसर्ग है वह कर्म है। विसर्ग का मतलब है, बाहर निकालना, परित्याग करना। यज्ञ में देवता के उद्देश्य से पुरोडाशादिका परित्याग किया जाता है। जब तक उसका परित्याग नहीं किया तब तक तो वह हमारा, यजमान का था, परित्याग करते ही वह देवता का हो गया। यह विसर्ग ही यहाँ कर्म कहा गया है। कर्म ही संसार के रूप में परिणत होता है जैसे बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता है।।३।।

तीन प्रश्नों का पिछले श्लोक में उत्तर दिया। अब अगले तीन का उतर देते हैं

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

शरीरधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! अधिभूत अर्थात् नश्वर पदार्थ। अधिदैव अर्थात् सारे पुरों में, शरीरों में रहने वाला हिरण्यगर्भ। तथा इस शरीर में जो यज्ञ है उसका अभिमानी मैं ही अधियज्ञ हूँ।

भगवान् अर्जुन के प्रश्नों का क्रमशः उत्तर बतला रहे हैं क्योंकि जिस क्रम से प्रश्न किया हो, उसी क्रम से उत्तर दिया जाए तो पूछने वाले को समझने में सुविधा होती है और यदि क्रम बदल दिया जाए तो प्रश्नकर्त्ता को समझ आने में ज़रा विलम्ब होता है। इसलिए भगवान् प्रश्नों के क्रम में जवाब दे रहे हैं।

प्रश्न था अधिभूत क्या है? तब भगवान् ने कहा, 'अधिभूतं क्षरो भावः'। क्षर अर्थात् विनाशी। भूतों को, सारे प्राणियों को अधिकृत करके क्या रहता है? ये सभी विनाशी हैं। जैसे परमात्मा अक्षर है, कभी भी उसका क्षरण नहीं होता, वैसे ही सभी प्राणी क्षर हैं, विनाशी हैं, नष्ट होना ही उनका स्वभाव है। भूत वह है जो सत्ता में *आया* है। 'भू' का मतलब होता है 'होना' और भूत का मतलब होता है 'जो हुआ', चूंकि हुआ है, इसलिए नष्ट भी होगा ही। श्रुति भी कहती है, युक्ति से भी समझ में आता है कि जो भी चीज़ है, जो भी प्राणी है, वह नष्ट ज़रूर होगा, अवश्य मरेगा। सब प्राणियों का अधिभूत भाव क्या है? क्षर भाव ही अधिभूत है।

संसार में शायद कोई मनुष्य ऐसा नहीं मिलेगा जो यह निश्चित नहीं जानता है कि मरना है, पर किसी के मरने की बात सुनते ही कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं होगा जिसको आश्चर्य न होवे कि 'अरे, कैसे मर गया!' अर्थात् सब मानते हैं कि कुछ तो कारण बना होगा मरने का। और अपने मरने की बात तो कोई सुनना ही नहीं चाहता! दूसरे के मरने से आश्चर्य होता है और 'मैं मरूँगा' यह तो कोई सुनना भी नहीं चाहता। इसलिए महाराज युधिष्ठिर ने कहा था कि प्रतिदिन लोग मरते हैं, यम के पास जाते हैं, लेकिन बचे हुए सोचते हैं कि हम नहीं जाएँगे! यह महत् आश्चर्य है। निश्चय होने पर भी कि हमें मरना है, यह न सोच पाना कि 'मैं मरूंगा,' एक आश्चर्य ही है। यह ठीक उसी तरह है जैसे 'मैं चेतन हूँ' यह समझते हुए भी, 'शरीर जड है' यह समझते हुए भी, सबको लगता है 'यह शरीर मैं हूँ!' कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो 'मैं चेतन हूँ' ऐसा न समझता हो, फिर भी जड शरीर को अपना रूप समझ कर 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मानता है। अतः भगवान् ने इसे विशेष विज्ञेयों में गिना कि साधक ही इस तथ्य को समझकर याद रखता है।

अगला प्रश्न पूछा था कि 'अधिदैवतम्' देवताओं को अधिकृत करके क्या रूप है? भगवान् ने उत्तर दिया 'पुरुषश्चाधिदैवतम्।' पुरुष को पुरुष क्यों कहते हैं? क्योंकि

उसके आने पर ही सब 'पूरा' होता है। उपनिषद् में वर्णन आता है कि भगवान् ने मनुष्य को बना कर उसे आँखें, नाक, कान आदि सब दे दिए। उनमें देवताओं को भी बैठा दिया। उन्होंने सोचा कि 'ये सब चीज़ें बन गई हैं', आगे ये अपना काम शुरू करें। जिस प्रकार पंखा, लट्टू आदि उपकरण सज्जित कर दो पर बिजली का संबंध न हो तो कोई उपकरण कार्य नहीं कर सकता, इसी प्रकार भगवान् ने सारी चीज़ें बना दी पर अपना संबंध दिया नहीं तो कोई चीज़ काम नहीं कर पायी। अतः भगवान् ने घोषणा की 'मेरा संबंध हुए बिना ये सब कैसे कुछ करेंगे!' तब उन्होंने शरीर में प्रवेश किया। जैसे ही प्रवेश किया वैसे ही आँखें, नाक, कान सब काम करने लग गए। परमात्मा आने पर ही यह 'पूर्ण' हुआ इसलिए उसको पुरुष कहते हैं, 'पूर्णत्वात्पुरुषः।' उससे ही सब पूर्ण होता है, उसके बिना सब अधूरा रह जाता है।

यह बात लोग नहीं समझते हैं। इसलिए सरकारें सब तरह की उन्नति की बातें करती हैं पर उन्नति हो नहीं पाती क्योंकि परमेश्वर के लिये वे कोई स्थान रखते ही नहीं। आरक्षी (पुलिस मैन) को खड़ा करते हैं कि चोरी न हो। वह घूस लेने लगता है। तो उस पर एक अधीक्षक रख देते हैं। वह भी घूसखोर निकलता है। उस पर आयुक्त रख देते हैं, पर उसका भी वही हाल रहता है। हमेशा समस्या रहती है कि चोरी कैसे रुके? और इसी देश में आज से तीस-पैंतीस साल पहले तक की स्थिति थीः बद्रीनारायण में नहाते समय घाट के ऊपर रुपयों की थैली रखी, चलते समय भूल गए उठाना। तीन दिन के बाद वापिस आते थे तो देखते थे कि थैली वहीं पड़ी है! वहाँ कोई चौकीदार, आरक्षी नहीं होता था। तब लोगों के मन में यह बात थी कि यदि हमने गंगा के किनारे चोरी की तो हमें नरक में डंडे खाने पड़ेंगे। यह सब को भय था। परमेश्वर तो तुम्हारे अन्तःकरण में सब जगह रहेगा और उसको तुम घूस भी नहीं दे सकते हो! संसार में जहाँ-जहाँ जब तक परमात्मभाव सामने रहता था तब तक लोग अनैतिक कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होते थे। अमेरिका के संविधान में स्पष्ट लिखा है कि 'परमेश्वर पर हमारा भरोसा है!' उनके संविधान में सबसे पहले नाम परमेश्वर का आता है। हम लोगों ने परमेश्वर का बहिष्कार किया। अब बहुत कुछ वहाँ भी इसको भूल रहे हैं। पर बार-बार नोट, सिक्के आदि पर सामने भगवान् का उल्लेख आता है तो कुछ-न-कुछ भाव बनता ही है। इसलिए वहाँ के *सुधारकों* को बार-बार कहना पड़ता है कि परमेश्वर को हटाओ, नहीं तो लोगों में अपराध-बोध (guilt feeling) बन जाता है। बार-बार परमेश्वर सामने आता है तो बेचारे गलत काम करके दुःखी हो जाते हैं कि 'मैंने ग़लत काम किया।' परमेश्वर हटा दो तो यह बोध नहीं होगा। तो क्या होगा? जो आज भारत में हो रहा है! अगर किसी को कहते हैं कि 'घूस क्यों खाई?' तो जवाब है कि इसके बिना काम नहीं चलता! उनको यह बोध ही नहीं कि घूस ली तो कोई ग़लती की। इसी तरह घूस देने वाला भी जो धन गया उसी की परवाह करता है, देने

की गलती की यह उसे नहीं लगता। बल्कि कोई घूस नहीं देता तो दूसरे लोग कहते हैं कि कंजूस है, पैसा खर्चना नहीं चाहता अर्थात् घूस *नहीं* देने को ही गलत मानने लगे हैं! इतना बड़ा फ़र्क क्यों आया है? क्योंकि हम इस बात को भूल गए कि परमेश्वर के आने पर ही पूर्णता हो सकती है अन्यथा हो ही नहीं सकती।

सूर्यमण्डल के अंदर हिरण्यगर्भ स्थित है। सारे प्राणियों के आँख, नाक, कान इत्यादि अध्यात्म देवता समष्टिरूप से वहाँ उपस्थित हैं। देवताओं के अनुग्रह से ही हमारी इन्द्रियाँ काम करती हैं। सूर्यमण्डल के अंदर स्थित जो हिरण्यगर्भ है सारे प्राणियों की इन्द्रियों पर, मनों पर अनुग्रह करने वाला, वही अधिदैवत है। सूर्य साक्षात् परमेश्वर का रूप है। अतः वैष्णव 'सूर्य-नारायण' कहते हैं, सूर्य को नारायण से अभिन्न मानते हैं। शैव सूर्य को भगवान् शंकर की अष्ट मूर्तियों में से एक मूर्ति मानते हैं। देवी की उपासना करने वाले सूर्यमण्डल में त्राटक करके उसके अंदर दुर्गा का ध्यान करते हैं। सभी उस सूर्य के अंदर अपने-अपने इष्ट देव की दृष्टि करते हैं। इसलिए वही अधिदैवत है। सबकी इन्द्रियों को अपने अनुग्रह से पूर्ण करने वाला, कार्यकारी बनाने वाला सूर्य-मंडल के अंदर स्थित हिरण्यगर्भ है।

अधियज्ञ कौन है? श्रुति कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः।' यज्ञ को अधिकृत करके विष्णु ही विद्यमान है। सारे यज्ञों का अभिमानी देवता विष्णु ही है। इसलिए भगवान् ने कहा अधियज्ञ मैं ही हूँ। 'अत्र देहे' इस शरीर में। इस शरीर में यज्ञ है क्योंकि शरीर के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न किया जा सकता है। शरीर के बिना तो यज्ञ हो नहीं सकता। अतः यज्ञ का समवायी कारण शरीर ही होगा, यज्ञ देह में रहेगा। जैसे कपड़ा धागे से होता है तो कपड़ा कहाँ रहेगा? धागे में ही रहेगा। उसी प्रकार यज्ञ किससे होता है? शरीर से होता है। अतः यज्ञ कहाँ रहेगा? शरीर में ही रहेगा। कोई कह सकता है कि यज्ञ शरीर से कैसे होता है, यज्ञ के लिए तो जौ चाहिए, चावल चाहिए, घी चाहिए, आग चाहिए? विचार करके देखो ये चीज़ें तो बदलती रहती हैं। कोई यज्ञ घी से होता है, कोई यज्ञ सत्तू से होता है। कोई यज्ञ दही से होता है। ये सब बदलते रहते हैं। कोई यज्ञ अग्नि में होता है, कोई यज्ञ शालिग्राम पर होता है। पर सब यज्ञों में नहीं बदलने वाला कौन है? यज्ञ करने वाला शरीर तो वही रहेगा। बिना शरीर के कोई यज्ञ नहीं होता, इसलिए यज्ञ शरीर में रहेगा। इस शरीर के अंदर यज्ञ-रूप से रहने वाले विष्णु अधियज्ञ हैं। सारे यज्ञों में रहते हैं अर्थात् सारे शरीरों में रहने वाले भगवान् विष्णु ही अधियज्ञ हैं।

भगवान् अर्जुन के लिये सम्बोधन देते हैं 'देहभृतां वर!' देह धारण करने वालों में तू श्रेष्ठ है। इसका मतलब हुआ कि सारे शरीरों के अंदर मैं हूँ, और क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसलिए तू श्रेष्ठ है। जैसे अन्यत्र भगवान् ने कहा 'प्रियोसि मे सखा चेति', तू मुझे प्रिय है, वैसे ही यहाँ कह दिया 'देहभृतां वर' सारे देहियों के अंदर तू

मुझे प्रिय है। क्यों प्रिय है? तू वैराग्य से सम्पन्न है। 'स्वर्ग के राज्य को भी मैं नहीं चाहता मैं केवल कल्याण चाहता हूँ' इस प्रकार वैराग्य से केवल कल्याण के लिए तू प्रवृत्त है, इसलिए तू शरीरधारियों में श्रेष्ठ है। इससे भगवान् ने कह दिया कि जो वैराग्य से सम्पन्न होकर परमात्मदर्शन में प्रवृत्त है, वही उन्हें सबसे प्रिय है। आत्मदर्शन के लिए जो प्रवृत्त है वही शरीरधारियों में श्रेष्ठ है। बाकी कितनी ही सिद्धियाँ प्राप्त कर लेवे, बड़े-बड़े राज्य प्राप्त कर लेवे, धनियों के अंदर सबसे श्रेष्ठ हो जाए, भगवान् को प्रिय नहीं होगा। भगवान् को प्रिय तो वही होगा जो वैराग्यपूर्वक उस आत्मदर्शन के लिए प्रवृत्त है।।४।।

अन्तिम प्रश्न था कि जिन लोगों ने अपने शरीर-मन को वश में कर लिया है, वे अन्त काल में आपको कैसे समझते हैं, कैसे जानते हैं, कैसे स्मरण करते हैं? उसका प्रकार भगवान् बतलाते हैं

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

मृत्यु के समय भी मुझ परमेश्वर को ही याद करते हुए शरीर छोड़कर जो जाता है वह निःसंशय मेरी वास्तविकता प्राप्त करता है।

अर्जुन ने पूछा था कि प्रयाण के समय आपको कैसे जाना जाये? भगवान् जवाब में कहते हैं 'अन्तकाले च'; चकार का तात्पर्य है कि जिसने यावद् जीवन स्मरण किया है, उसी को मृत्यु के समय स्मरण होगा। अतः यह आशा लगा कर बैठे नहीं रहना है कि अन्त में भगवान् का स्मरण कर लेंगे! यावद् जीवन भगवत्स्मरण करने पर ही सम्भव है कि अन्तिम काल में उसका स्मरण होवे। 'मामेव' मेरा ही; 'ही' शब्द संस्कृत में हमेशा किसी को हटाने के लिए कहा जाता है। दस चीज़ें रखी हुई हैं। किसी को कहते हैं 'इनमें से जो मर्ज़ी उठा लो।' वह दसों उठा कर ले जा सकता है। इसलिए कहते हैं 'इनमें से एक ही चीज़ उठा कर ले जाना।' यहाँ 'ही' मायने बाकी मत उठाना। या किसी को भोजन के लिए निमंत्रण देते हैं 'तुम ही आना।' अर्थात् पत्नी बच्चों को साथ में मत लाना। ठीक इसी प्रकार से मेरा ही, अर्थात् जो प्रत्यग् आत्मा से अभिन्न परमात्मा का रूप है उसी का। बाकी जितने यहाँ अपने अध्यात्म, अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैव इत्यादि रूप कहे हैं उन सबका नहीं, केवल जो शुद्ध रूप है उसी का 'स्मरन्' स्मरण करते हुए रहना है। स्मरण उसी का होता है जिसका तुमने ज़्यादा अनुभव किया हो। चाहे जैसी भयंकर परिस्थिति आवे, चूंकि उसका इतना स्मरण किया हुआ है, इसलिए वही झट स्मरण हो जाता है। अन्तिम समय बड़ा भयंकर होता है। इसलिए एक भक्त परमेश्वर से कहता है कि आज ही मेरा मन परमात्मा में सर्वथा लीन हो जावे। जिस प्रकार से पानी दूध में घुस जाता है तो फिर वहाँ पानी नहीं रह जाता, इसी

प्रकार से मैं आपमें ऐसा घुस जाऊँ कि प्रत्यगात्मा और परमात्मा में कोई भेद न रह जाए। कहा यह कि 'विशतु मानसराजहंसः' मन घुस जाये, किंतु मन तो यों एकमेक होगा नहीं, आत्मा ही परमात्मा से एक हो सकता है। तब, मन घुस जाए इसका मतलब क्या है? मन ब्रह्माकार वृत्ति बनाता है, ब्रह्माकार वृत्ति बनते ही आत्मा और ब्रह्म की एकता स्फुट हो जाती है। फिर वहाँ रहा हुआ मन भी किसी प्रकार का परिच्छेद नहीं कर पाता क्योंकि परिच्छेद करने वाला जो अज्ञान है वह उस वृत्ति से नष्ट हो चुका है। चूंकि वहाँ केवल परमात्मा रह गया इसलिए कहा जाता है कि उसी में घुस गया। रस्सी को भ्रम से साँप समझकर जब रोशनी में रस्सी देख लेते हैं तब साँप कहाँ जाता है? यह भी एक जवाब हो सकता है कि उस रस्सी में ही वह साँप घुस गया। साँप रस्सी में *घुसा* तो नहीं है, परंतु रस्सी के आते ही सर्प नहीं रहा, इसलिए उसी को 'घुस गया' ऐसा कह देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के बनते ही बुद्धि नहीं रह जाती, इसीलिए कहा जाता है कि वह परमात्मा में ही प्रविष्ट हो गई।

भक्त क्यों भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि आज ही ब्रह्माकार वृत्ति बन जाए; अन्तिम समय में बना ले, इतनी जल्दी क्या है? वह स्वयं कहता है कि जब प्राणों के प्रयाण का समय होगा, अन्तकाल होगा, तब कफ, वात और पित्त तीनों धातु प्रकुपित हो जायेंगे, कण्ठ भी अवरुद्ध हो जायेगा। पता कैसे चलता है कि कोई मर गया? अन्त में एक मृत्यु क्षण की हिचकी आती है। उस हिचकी के आते ही जानकार लोग समझ जाते हैं कि अब मर गया। मरते समय कण्ठ का अवरोध हो जाता है। उस समय हम ब्रह्माकार वृत्ति बना सकें, केवल परमेश्वर का स्मरण कर सकें, यह तो सम्भव नहीं है। इसलिए भक्त की प्रार्थना है कि पहले ही यह हो जाए।

'कलेवरम् मुक्त्वा' इस शरीर को छोड़कर। जब तक देहाध्यास रहता है, 'मैं देह हूँ' यह अभिमान रहता है, तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा कभी होता नहीं। देहाभिमान छूटने से ही ब्रह्मावबोध सम्भव है। ज्ञानकाल में जैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है वैसे ही 'मैं देह हूँ' यह अनादिकाल का जो शरीर को पकड़े रहना है, वह छूट जाता है। जिसका यह अभिमान छूट गया, उसका जिस समय प्राण का अवरोध होता है, उस समय भी उसे ब्रह्मरूपता स्पष्ट ही प्रकाशित रहती है। इसलिए यहाँ भगवान् यह नहीं कह रहे हैं कि 'अन्तकाल में ऐसा बनना' वरन् कह रहे हैं कि देहाभिमान को छोड़ कर तुम इस भाव को प्राप्त कर लो।

'यः प्रयाति।' शरीर के अंदर प्राण चलते हुए सब को दीखते हैं। जब न दीखें तब लोग यही समझते हैं कि जीव अब गया। अतः बौद्ध लोगों ने दो शब्द बनाए निर्वाण और परिनिर्वाण। बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ उस दिन निर्वाण तो हो गया। कई बार बुद्ध ने कहा है कि 'उस दिन के बाद कहीं कुछ नहीं हुआ। जो होना था तभी हो गया।' पर फिर भी उनका शरीर तो दीखता रहा। शरीर दीखना भी बंद होने पर

परिनिर्वाण कहते हैं। इसी प्रकार जब तक जीवन दीखता रहता है तब तक हम लोग आत्मवेत्ता को जीवन् मुक्त कह देते हैं। जब शरीर दीखना बंद हो जाये तब उसे विदेह मुक्त कह देते हैं। लेकिन मुक्त तो एक जैसा ही है, क्योंकि उसने ज्ञान के समय शरीर के साथ संबंध को छोड़ दिया। दूसरों की दृष्टि में *जीते हुए* मुक्त होने पर भी अपनी दृष्टि में तो केवल मुक्त है। इसी प्रकार से दूसरों की दृष्टि से वह देहरहित मुक्त होता है, विदेह मुक्त होता है। अपने स्वरूप में तो वह एक जैसा है। इस प्रकार से शरीर छोड़ कर जो जाता है 'स मद्भावं याति' वह जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न मेरा परमात्मभाव है, उसको पा जाता है। विष्णु शब्द का अर्थ ही होता है सर्वव्यापक। सर्वव्यापक कहीं जा कैसे सकता है? जो कहीं न होवे वह वहाँ जाये। जाना तब होता है जब एक स्थान को तुम छोड़ सको और दूसरे स्थान में तुम पहले से न होवो। व्यापक होने से विष्णु न किसी स्थान को छोड़ सकते हैं और न किसी जगह वे पहले से नहीं हैं कि वहाँ जाएँ। इसलिए 'मद्भावं याति' अर्थात् अब तक सबको उसकी प्रतीति देह-विषयक हो रही थी, अब लोगों की प्रतीति वैसी नहीं रही। घड़े के दृष्टान्त से समझ लो सामने घड़ा हो तो तुम्हें दो आकाश दीखते हैं एक घड़े से सीमित हुआ आकाश जिसको संस्कृत में घटाकाश कहते हैं और दूसरा उसके बाहर का आकाश, महाकाश। आकाश को तुम कहीं ले जा सकते हो क्या? घटाकाश को तुम नहीं ले जाते, घट को ले जाते हो; जहाँ-जहाँ घट को ले जाते हो, वहाँ आकाश पहले से ही है, इसलिए घटाकाश प्रकट दीखता है। तुमने जब घट को फोड़ दिया, घट दीखना बंद हो गया तब क्या घटाकाश कहीं गया? फिर भी क्या कहा जाता है? 'घटाकाश महाकाश में लीन हो गया' ऐसा कहते हैं क्योंकि अब तुमको घट *दीखना* बंद हो गया तो घटाकाश की प्रतीति बंद हो गई। परंतु आकाश में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार देह के कारण तुमको प्रतीत हो रहा था कि यह जीवन् मुक्त है, देह की प्रतीति हट जाने पर तुम्हें लगता है कि यह विदेह मुक्त है, परंतु वह सब समय देहाभिमान से मुक्त है अतः सिर्फ 'याति' न कहकर 'प्रयाति' कहा; मद्भाव में जाने का यही प्रकर्ष है।

'अत्र संशयः न अस्ति।' इस विषय में किसी भी प्रकार का संशय नहीं है। कुछ लोगों की मान्यता है कि मुक्त भी पुनः प्रकट होता है! मुक्त पुनः प्रकट हो नहीं सकता क्योंकि मुक्त तो विष्णुरूप है। विष्णु अपनी माया शक्ति के द्वारा कहीं अपने को प्रकट करता हुआ-सा दीखे तब भी *होता* नहीं है। लोग शंका करते हैं कि आधिकारिक पुरुष फिर से कैसे आते हैं? यह समझ लेना चाहिये कि आधिकारिक पुरुषों को प्रारब्ध वाले शरीर ही मिलते हैं। जिसका प्रारब्ध एक से अधिक शरीरों का है वह एक से अधिक शरीरों में प्रकट हो जाता है। 'मैं मर गया', मैंने अब जन्म लिया'; ये सब उसके लिए वैसा ही है जैसे हम कहते हैं 'मैं सो गया, मैं जग गया।' जैसे एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने पर हमें किसी नवीनता की प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार यह देह नहीं रहा वह

देह हो गया इससे किसी भी प्रकार का फ़र्क आधिकारिक पुरुष को नहीं होता। किसी को बचपन में ज्ञान हो गया, उसके बाद उसका शरीर जवान भी होगा, प्रौढ भी होगा, वृद्ध भी होगा। शरीर में इन सब परिवर्तनों के होने पर भी उसका ब्रह्मरूप वैसा का वैसा स्थित रहता है। इसी प्रकार अन्य शरीरों के अंदर प्रतीति होने पर भी वह अपने ब्रह्मरूप में ही स्थित रहता है।

लोगों को ऐसा समझ में आता है कि एक-एक कर मुक्त होते चले गये तो संसार खत्म हो जाएगा! शंका करने वाले वस्तुतः संसार की वास्तविकता के भ्रम से ग्रस्त हैं। जिस प्रकार जो सान्त संख्याओं के सामान्य गुणों से ही परिचित होते हैं उन्हें अनंत की बात कही जाती है तो कुछ समझ में नहीं आती। दो संख्यायें जुड़ने से बढ़नी चाहिए पर क्या अनन्त के अंदर कुछ जुड़ कर बढ़ोतरी होगी? जैसे गणित का यह रहस्य साधारणतः समझ में नहीं आता वैसे ही संसारसत्यता की दृष्टि से ग्रस्त लोग सोचते हैं कि संसार है, उसमें से एक-एक जाएगा तो अन्त में कुछ नहीं रह जाएगा। इस प्रकार के संशयों को काटने के लिए भगवान् ने अपना स्पष्ट मत बतला दिया कि उसके बाद एकमात्र विष्णु ही रह जाता है, इस विषय में संदेह की कोई जगह नहीं है।।५।।

समस्त विभूतियों का अधिष्ठान प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, यह जिसने साक्षात् अनुभव कर लिया वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है और जो विभूतियों वाले रूप का ही उपासक है वह शरीर छूटने पर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है यह बताया। यह जो कहा कि जन्म-भर भावना करने के साथ ही देह छूटते काल में भी, अर्थात् ऐसी भयंकर परिस्थिति के अंदर भी, जिसका परमात्म-चिंतन नहीं छूटता है वही परमात्म-भाव को प्राप्त होता है, इस का अतिदेश करते हैं कि यह केवल परमात्मा के चिंतन की ही बात नहीं है, जिस चीज़ का जन्मभर कोई चिंतन करता है और फलस्वरूप अन्तकाल में भी उसकी वृत्ति बनती है, व्यक्ति उसी को प्राप्त करेगा

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

हे कुन्तीनंदन! सदा जिसकी वासना का अभ्यास मन में डाला हुआ व्यक्ति प्राण छूटते समय जिस-जिस भी (चिराभ्यस्त) भाव को याद करते हुए शरीर छोड़ता है, उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है।

'यं यं भावं' जिस-जिस भाव को अर्थात् देवता-विशेष को, जिसकी भी साधक आराधना करता है 'सदा तद्भावभावितः' उस देवता का भाव हमेशा रखने के कारण अन्तःकरण में उसी भाव की भावना दृढ होती है। इसलिए उसी भाव का स्मरण करते हुए, चिंतन करते हुए 'अन्ते कलेवरम् त्यजति' प्रारब्ध की परिसमाप्ति पर शरीर छोड़ता है। तब, जिसका उसने स्मरण किया है उसी-उसी भाव को, अपने इष्ट देवता को 'एति'

प्राप्त कर लेता है। जिसने विभूति सहित परमेश्वर को भी समझ लिया है उसके लिए तो पूर्व श्लोक में कहा था कि वह ब्रह्मलोक को जाएगा। जो अन्य देवता का भक्त है अर्थात् 'मेरे अंदर स्थित प्रत्यगात्मा से देवता भिन्न हैं' ऐसी अन्य दृष्टि वाला है, उसने विभूतियों के अधिष्ठान-रूप में परमात्मा का चिंतन नहीं किया है, उसे अपने से अन्य ही समझता है। अधिकतर लोग ऐसे ही हैं। ऐसा उपासक देवलोक को ही प्राप्त होता है।

भगवान् ने यहाँ नियम बता दिया कि व्यक्ति सदा जिस भावना से भावित हो गया, उस भाव को प्राप्त होगा क्योंकि अन्त में उसी का स्मरण होगा। जो किसी एक भाव की सदा भावना कर ही नहीं पाता, या करता ही नहीं है, कभी कुछ कर लिया, कभी कुछ और कर लिया, वह अत्यन्त विक्षिप्त अवस्था वाला होने से अन्तकाल में उसको स्मरण भी विक्षिप्त अवस्था का ही होता है और जो तृतीय मार्ग बतलाया है शास्त्रों में, उसे प्राप्त करता है अर्थात् जन्मता और मरता है। देवलोक को जाने के लिए, स्वर्ग लोक को जाने के लिए किसी एक भावना वाला होना ज़रूरी है। विक्षेप वाले को तो ज्योतिष्टोम आदि कर्म के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। अधिकतर लोग इसी प्रकार के होते हैं कि जिस समय जो चीज़ सामने आती है, उस समय उसी में स्थिर हो जाते हैं। किसी एक भाव को लेकर सदा भावित नहीं रहते हैं। चूंकि अधिकतर लोग ऐसे हैं इसलिए यहीं जन्मते और मरते रहते हैं। ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति उनके लिए सम्भव ही नहीं है। इतना समझ लेना कि कर्म से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है परंतु सुख-दुःख कहाँ, किस योनि में भोगा जाए, इसमें अन्तिम भावना बहुत काम कर जाती है।।६।।

अन्तिम भावना कैसे होवे इसको विधिमुख से बतलाते हैं

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।।७।।

इसलिये हर समय मेरा अनुस्मरण और युद्ध दोनों करो। मुझे अर्पित मन-बुद्धि वाले हुए निःसंशय मुझे ही प्राप्त करोगे।

चूंकि अन्तिम भावना देहान्तर-प्राप्ति का कारण है, इसलिए सब कालों में, जगने से लेकर जब तक सो न जाओ तब तक, जीवन-भर 'मामनुस्मर' मेरे विभूति रूप का, सगुण रूप का स्मरण करो। सगुण रूप का स्मरण करते हुए सर्वकर्मत्याग की प्राप्ति नहीं है। इसलिए कहा 'युध्य च'। 'तेरे लिए जिस कर्म का विधान है वह कर। तू क्षत्रिय है और सामने धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ है अतः इस समय युद्ध कर। सब समय मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर।' अर्जुन के लिए कहा 'युद्ध कर', पर सबके लिए तात्पर्य है कि स्वधर्म करो। जो तुम्हारा स्वधर्म है, उसको करते हुए सब समय परमात्मा का स्मरण

रखो। अधियज्ञ अधिभूत इत्यादि जो भाव बतलाए थे वे, कार्य करते हुए अपने शरीर में एवं सब चीज़ों के अंदर भगवान् की विभूति का स्मरण कराते रहेंगे। तुम्हारा शरीर, तत्तत् कार्यों के उपयोग की सारी सामग्री, विनियोग बताने वाला शास्त्र आदि सभी परमेश्वर की विभूति होने से उनका स्मरण कराते हैं। इसीलिये अधिभूत, अधियज्ञ आदि विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाता है। जिस सामग्री से और जो हम अर्चना कर रहे हैं, वह परमेश्वर का अधियज्ञ रूप है। इन विभूतियों पर ध्यान करें तो स्वधर्म आचरण करते हुए कहीं भी परमात्मा का विस्मरण नहीं रहेगा क्योंकि किसी-न-किसी रूप में वह है और तुम जानते हो कि वह है।

पदार्थों को तो बुद्धिमान् और निर्बुद्धि दोनों देखते हैं परंतु बुद्धिमान् पदार्थों को देखते हैं परमात्मा के अधिभूत रूप से। जो निर्बुद्धि है, वह विषय-मात्र देखता है। इसी प्रकार पूजा करते हुए बुद्धिमान् अधियज्ञ रूप से परमात्मदर्शन कर पाता है, बुद्धिहीन उससे वंचित रहता है। यदि अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव, अधिभूत, आदि सारे विभूति के रूप तुम्हारे पहचाने हुए हैं तो उन्हें देखते हुए परमात्मा को ही उस रूप में देख सकते हो। तभी अनुस्मरण और धर्माचरण दोनों इकट्ठे होना बनता है। जो 'अन्य देवता' के भक्त हैं वे इस प्रकार से नहीं कर सकते। अर्थात् स्वधर्मानुष्ठान और अन्य देवताभक्ति साथ-साथ चलते नहीं रह सकते। जो परमात्मा के स्वभाव को प्रत्यगात्मा रूप से भी समझते हैं और सारे विषयों के रूप में भी समझते हैं, वे यह समुच्चय कर पाते हैं। जानने और समझने में फ़र्क है: शालिग्राम की बटिया सामने है; जानोगे तो उसे पत्थर ही पर समझोगे कि वह भगवान् विष्णु है। जब तुमको साक्षात्कार होता है तब तुम समझते नहीं, तब तुम जानते हो कि नाम-रूप नहीं है, एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म ही है। तब जानते हो, समझते नहीं हो। इसलिए तब शास्त्र की ज़रूरत नहीं रहती। अतः आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं कि आत्मबोध हो जाने पर न चाहो तो भी मुक्त हो ही जाओगे! जैसे समझ लो एक ढक्कन बंद डब्बा पड़ा हुआ है कहीं; तुमने सोचा कि 'देखें इसमें क्या है?' जैसे ही खोला, वैसे ही जबरदस्त बदबू आई। तुम्हारी बदबू सूंघने की तो इच्छा थी नहीं; तुम, वहाँ क्या है ही देखने गए थे; परंतु बदबू की चीज़ है तो बदबू आयेगी ही। यह इच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। तुम चाहो या न चाहो, बदबू आयेगी ही। इसी प्रकार यदि परमात्मा के ज्ञान के लिए तुम्हारी प्रवृत्ति हुई कि ब्रह्म क्या है, और ब्रह्माकार वृत्ति बनी, अज्ञान का परदा खुल गया, तब तुम चाहो या न चाहो, मुक्त हो ही जाओगे। जानने में तुम्हारी इच्छा काम नहीं करती, पर समझने में इच्छा काम कर जांती है। शालिग्राम में विष्णु देख रहे हो, समझ रहे हो कि यह विष्णु है। किसी ने तुम को उलटा उपदेश कर दिया कि पत्थरों को देवता समझना ग़लत है, मूर्खता है; यदि तुम्हें उनकी बात जँच गयी तो तुम शालिग्राम को विष्णु समझना छोड़ दोगे। समझी हुई बात छूट सकती है क्योंकि तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है परंतु जानी हुई

चीज़ छूट नहीं सकती। जैसे तुमने डब्बा खोला और दुर्गन्ध आई। कोई तुमको कह देवे कि वह तो अत्तर की डिब्बी है, उसमें अत्तर भरे हुए हैं; तो तुम उसे कहोगे 'बेवकूफ मत बना।' ठीक इसी प्रकार से जिसको परमात्म-विषयक ज्ञान होता है उसके लिए फिर इच्छा की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि परमात्म-ज्ञान और मोक्ष एक ही चीज़ है। किन्तु समझने के लिये इच्छा चाहिये, इच्छा के बल पर ही हर समय, हर परिस्थिति में भगवान् का अनुस्मरण कर सकोगे।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'। मन का काम है संकल्प-विकल्प। उक्त साधक का जो भी संकल्प-विकल्प होता है वह परमात्म-विषयक होता है। 'मुझे यह पूजा करनी है, इसके लिए यह सामग्री लानी है। इस प्रकार जो भी उसके संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे परमात्म-संबंधी ही होते हैं। बुद्धि का काम है निश्चय करना। बार-बार वह बुद्धि के द्वारा परमात्मा को बताने वाले उपनिषद् आदि जो शास्त्र हैं, उन्हीं का ऊहापोह से विचार करता है, उसी में बुद्धि को लगाता है। साधारण व्यक्ति को कोई गाली दे दे तो वह दिन-भर या और ज़्यादा समय इसी चिंतन में लगाता है कि क्यों दी, इत्यादि। भगवदर्पितबुद्धि वाला साधक सांसारिक विषयों में इस प्रकार विचार नहीं करता। वह देखता है गाली शब्द है, परमेश्वर का अधिभूत भाव है। वह शब्द मुझे अच्छा नहीं लगा, यह अधियज्ञ भाव है। मैंने ग़लत कर्म किया है, इसलिए उस ने गाली दी है, गाली देने वाला भी भगवान् ही है। इस प्रकार वह परमेश्वर की विभूति के ही दर्शन करता है, उसी का विचार और निश्चय करता है। उसका विचार है कि यह परमेश्वर की विभूति है कि बुरे कर्म का फल मिलता ही है। गाली सुनकर उसको उस परमेश्वर का ही स्मरण आता है जिसने बुरे कर्म का फल दिया। जैसे अच्छे कर्म का फल देने वाला वह है वैसे ही बुरे कर्म का फल देने वाला भी वही है। साधारणतया जब अच्छे कर्म का फल आता है तब तो लोग कहते हैं 'भगवान् की कृपा से ऐसा हुआ।' मतलब उनका यही होता है कि भगवान् ने कर्मफल दिया; वे मानते हैं कि कुछ तो किया ही होगा तब भगवान् ने कृपा की है। कृपा का जो वास्तविक अर्थ है अनुग्रह, किसी कर्म का फल नहीं, वह तो शुरू में समझ में ही नहीं आता। पुण्यफल के लिये तो कह देते हैं कि भगवान् की कृपा से मिल गया। पर दुःख होने पर भगवान् की कृपा नहीं मानते। पाप का भी फल देने वाला तो वही है, उसी की कृपा से दुःख होता है। जो 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' है वह सदा भगवत्कृपा का अनुभव कर पाता है। मुझ वासुदेव में ही उसकी संकल्प-विकल्पात्मक और निश्चयात्मक वृत्ति स्थित रहती है। जब मन बुद्धि लगी हुई है परमात्मा में, तभी परमात्मा का स्मरण चलता है। 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' का उपाय है 'मय्यर्पित- मनोबुद्धिः'।।७।।

इसी बात को और स्पष्ट करके बतलाते हैं

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! एकमात्र परमेश्वर का ही आकार बनाना रूप अभ्यासात्मक योग में संलग्न एवं विषयान्तर की ओर न जाने वाले चित्त से शास्त्रानुसारी चिंतन करता हुआ साधक दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

परमात्मा में इस प्रकार से मन-बुद्धि का जो समर्पण है, अर्थात् बार-बार इस प्रकार से परमात्मविषयक वृत्तियों को ही बनाना, यह हो गया अभ्यास योग। ये सब जो रूप बतलाए थे, ये उसके लिए मदद करते हैं। स्वधर्माचरण करने में ये सब चीज़ें उपस्थित होती हैं और उन सब में परमात्मा की विभूति की दृष्टि बनेगी, तभी एकमात्र परमात्मा का चिंतन चलेगा। मोटी भाषा में यह समझ लोः आदमी की नाक है, कान हैं, आँखें हैं, ओठ हैं, हाथ हैं, पैर हैं, छाती है, कमर है। इनमें से किसी भी चीज़ का स्मरण हो तो स्मरण हो आदमी का ही रहा है। जब तुम आँख का स्मरण करते हो तो 'उसकी आँख है' इस रूप में ही स्मरण होता है। किसी मुर्दे की आँख का स्मरण तो होता नहीं! इसी प्रकार ये जो विभूतियाँ बतलाई थीं, ये सारी हैं परमेश्वर की। अधियज्ञ रूप सामने आवे, अधिदैव आवे, अधिभूत आवे, अध्यात्म आवे, जो भी आता है, उसको देखकर स्मरण किसका हो रहा है? जिसकी ये सब विभूतियाँ हैं उस परमात्मा का। भगवान् भाष्यकार यहाँ 'एकस्मिन् तुल्यप्रत्ययावृत्ति- लक्षणः' कहते हैं। ब्रह्माकार वृत्ति के अंदर वृत्ति अखण्ड अर्थात् एक ही आकार की होती है। *तुल्य* आकारों की नहीं होती है। किन्तु यहाँ परमात्मसंबंधी होने से सब वृत्तियाँ आपस में एक *जैसी* हैं। इसलिए स्वधर्म-आचरण करते हुए हर चीज़ के द्वारा परमात्मा का स्मरण होता रहता है। होगा यह विभूति वाले परमात्मा का, सगुण परमात्मा का। 'अनन्यगामिना।' चित्त अन्यगामी न होवे। अर्थात् परमात्मा से अन्य आकार की वृत्तियाँ न बनाये, 'यह परमात्मा नहीं है' ऐसी वृत्ति नहीं बनाये। जो परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझ कर देवता-विशेष का स्मरण करता है, वह अनन्यगामी चित्त नहीं बना सकता। भगवदर्पितचेता ही केवल परमात्मा की वृत्ति बनाता है, उससे भिन्न अर्थात् परमात्मरहित वृत्ति नहीं बनाता। वृत्तियाँ अनेक तो बनाता है पर सब होती परमात्मा की हैं। परमात्मा से अन्य तरफ जाने वाली नहीं होती हैं।

'चेतसा', ऐसा जिसका चित्त है, वह 'परमं दिव्यं पुरुषं याति'; परम अर्थात् जिससे और कोई अतिशय नहीं है। सगुण परमेश्वर से अधिक कुछ नहीं है। कहीं कोई विभूति होवे, ज्ञान की विभूति, क्रिया की विभूति, किसी प्रकार के ऐश्वर्य आदि की विभूति, वह सब परमात्मा की विभूति से निकृष्ट ही होगी। उससे श्रेष्ठ किसी की विभूति हो नहीं सकती। परमात्मा निर्गुण रूप से भी सगुण की अपेक्षा ऐश्वर्य आदि के कारण श्रेष्ठ नहीं

है; उसका अधिष्ठान होने से उससे श्रेष्ठ कहा जाता है। ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की परमावधि सगुण परमेश्वर ही है। वह परम पुरुष दिव्य है, द्युलोक में है, प्रधानरूप से सूर्य-मण्डल में विद्यमान है। उसको 'याति' प्राप्त करता है। इसीलिए उसको 'सूर्य-मण्डल-भेदी' कहते हैं। सूर्य-मण्डल के अंदर जो परमात्मा का रूप है, उसको वह प्राप्त होता है।

'अनुचिन्तयन्', 'अनु' अर्थात् 'बाद में', उपदेश से भली प्रकार जब समझ लिया है, उसके पश्चात्। पहले शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिसको समझ लिया है, उसका अनुचिंतन होता है। अगर ठीक तरह से समझा ही नहीं है तो यह चिंतन करना शक्य नहीं है। इसीलिए बार-बार कहा जाता है कि सत्संग के द्वारा परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को समझना बहुत ज़रूरी है। प्रायः यह कमज़ोरी उपासकों में रह जाती है कि परमेश्वर के ठीक रूप को समझ कर निश्चय किए बिना ही सोचते हैं कि उपासना कर लेवें, क्योंकि मानते हैं कि उपासना का मार्ग सरल है, ज़्यादा बुद्धि नहीं खटानी पड़ती है। ऐसा भ्रम लोगों में है। निश्चय तो तुमको उतनी ही मेहनत करके परमेश्वर के सगुण रूप का करना ही पड़ेगा, तभी आगे तुम्हारा अनुचिंतन हो सकेगा, अन्यथा चिंतन भी ग़लत चीज़ का करोगे। सरलता उपासना के अंदर इसलिए नहीं है कि बुद्धि पूरी नहीं लगानी पड़ती; सरल इसलिए है कि उतना वैराग्य नहीं चाहिये। ज्ञानमार्ग में वैराग्य की कठिनता है। वैराग्य के बिना निर्गुण भाव में स्थिति नहीं बन पाती। दूसरी मुश्किल है योग्य गुरु की उपलब्धि होना। परमात्मा के सगुण रूप को जानने में तो शास्त्र और शास्त्र-ज्ञानी से ही काम हो जाएगा। परंतु निर्गुण रूप को समझने के लिऐ खाली शास्त्र-ज्ञानी से काम नहीं होगा, 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' अनुभवी की ज़रूरत है, तत्त्व-साक्षात्कार करके स्वभावतः परमात्मभाव को छोड़कर और किसी चीज़ में निष्ठा वाला जो नहीं होता वही दृढ बोध करा सकता है। ऐसा गुरु मिलना अपने हाथ में नहीं है। जबकि सगुण परमात्मा का निश्चय करके उसका अभ्यास योग करना अपने हाथ में है। बुद्धि तो उपासना मार्ग में भी लगानी पड़ेगी।

उपासना मार्ग के बड़े-बड़े जितने आचार्य हुए रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ उन सबने ब्रह्मसूत्र आदि का विवेचन उतने ही आग्रहपूर्वक किया है जितना ज्ञानमार्गियों ने। किसी ने यह नहीं माना कि विचार की ज़रूरत नहीं है। विचार आवश्यक है, तभी उन्होंने किया है, नहीं तो काहे को करते, उनका विचार ठीक हुआ या ग़लत हुआ, यह दूसरी बात है, लेकिन विचार की आवश्यकता सब मानते हैं। यह परम्परा नयी आई है 'पढ़ना लिखना पंडित का काम, भज ले बेटा सीता-राम।' सीता-राम कौन है जिसका भजन करें? यह विचार के बिना नहीं समझ पाते। महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है: एक लड़की को गुरु जी ने कह दिया था कि 'नारायण मधुसूदन' भजन किया कर। करती रही। थोड़े सालों के बाद उसका ब्याह हो गया। उसके पति का नाम मधुसूदन,

ससुर का नाम नारायण था। अब उसका भजन बंद हो गया! ससुर का और पति का नाम तो ले नहीं सकती। साल-दो साल में उसका बच्चा पैदा हो गया। अब उसका भजन वापिस शुरू हो गया 'लल्लू के पिता जी, दादा जी!' क्योंकि उसे लगा कि नारायण मधुसूदन तो लल्लू के पिता जी और दादा जी ही हैं। अगर नारायण मधुसूदन का रूप समझे हुए नहीं होगे तो इस प्रकार का भजन हो जाता है। परमेश्वर को भी इसीलिए अनेक लोग देवता-विशेष ही मानते हैं क्योंकि उनके वास्तविक स्वरूप का निश्चय करते नहीं हैं। इसलिए भगवान् ने 'अनुचिन्तयन्' कहा, शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ठीक प्रकार का निश्चय करके तब उसका ध्यान ठीक प्रकार से करना है।।८।।

ज्ञान, जो चीज़ जैसी है वैसा होता है, और ध्यान, जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा मानकर चिंतन करना होता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने कहा है कि उपासना मानसिक क्रिया है। क्रिया वह होती है जिसे करने में तुम स्वतन्त्र हो कि उसे करो, ठीक करो, ग़लत करो, नहीं करो। हमने कहा 'एक गिलास पानी लाओ।' तुम पानी ला सकते हो पर पूरा गिलास भर कर नहीं, या लोटा ही उठा कर ला सकते हो या नहीं भी ला सकते हो। जिस काम को करना, ठीक करना, अन्यथा करना, गलत करना, न करना ये तुम्हारे हाथ में हैं, इसमें तुम स्वतन्त्र हो, वह क्रिया है। मन से ही, अन्तःकरण से ही तुमको परमेश्वर का ज्ञान भी होता है और अन्तःकरण से ही परमेश्वर का ध्यान भी होता है, लेकिन परमेश्वर के ध्यान तो तुम को जैसा कहा जाए वैसा कर सकते हो, उसमें कुछ घटा-बढ़ी कर सकते हो, नहीं भी कर सकते हो, गलत ढंग से कर सकते हो ये तुम्हारे हाथ में हैं। परंतु ज्ञान में मन की स्वतंत्रता नहीं है। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा। इसलिए मन से होने पर भी ज्ञान और क्रिया में फ़र्क है। मन को उस चीज़ में एकाग्र करने तक तो तुम क्रिया कर रहे हो लेकिन एकाग्र करने के बाद क्या होगा, उसमें तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है। आँख के सामने उन्नतोदर काँच लगा कर तुम हीरे को देखते हो। वह काँच पहनना, उसे ठीक केन्द्रित करना ये सब तो क्रिया है, लेकिन ये सब करने के बाद हीरे में नीली झांई है या नहीं इसमें तुम्हारी कोई स्वतन्त्रता नहीं, तुम कुछ नहीं कर सकते; जैसा हीरा है वैसा ही दीखेगा। ठीक इसी प्रकार से चित्त को एकाग्र करना, शम दम आदि से सम्पन्न होना, इस प्रकार बुद्धि को शुद्ध करके, जब तुम देखोगे, अर्थात् तुम्हारा मन वृत्ति बनाएगा तब परमात्मा जैसा है वैसी ही वृत्ति बनेगी। कैसी बने, यह तुम्हारे अधीन नहीं है। ध्यान तो जैसा तुम को कहा गया है वैसा तुम कर सकते हो। यह ध्यान और ज्ञान का फ़र्क हमेशा याद रखना चाहिए। धोखा इसलिए होता है कि ज्ञान भी मन से ही होता है, उपासना भी मन से ही होती है। ज्ञान अज्ञान को नष्ट करेगा, और कुछ नहीं करेगा। क्रिया किसी-न-किसी फल को उत्पन्न करेगी। वह फल तुमको इष्ट हो, अनिष्ट हो, यह बात दूसरी है। क्या

उपासना कर रहे हो, उसके ऊपर फल निर्भर करेगा। ग़लत उपासना करोगे तो अनिष्ट फल होगा। ठीक उपासना करोगे तो इष्ट फल होगा। यहाँ प्रकरण ध्यान का है, अभ्यास योग का। तो अब जिसका ध्यान करना है, उसका रूप अर्थात् उस परम पुरुष का जो सूर्य-मण्डल के अंदर हिरण्यगर्भ रूप है, उसको बतलाते हैं

कविं पुराणमनुशासितारम् अणोरणीयांसम् अनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

सर्वज्ञ, चिरंतन, प्रशासक, सूक्ष्मों से सूक्ष्म, सबको कर्मफल देने वाले, दुर्बोधस्वभाव, अज्ञान से अतीत चित्प्रकाश का जो अनुस्मरण करता है वह उसे पा जाता है।

जिस परमेश्वर का ध्यान करना है वह कवि है। कवि अर्थात् क्रांतिदर्शी; भूत, भविष्य, वर्तमान सबको जानने वाला, सर्वज्ञ। इसीलिए भाषा में भी कहते हैं 'जहाँ न जाए रवि, वहाँ जाए कवि' अर्थात् सूर्य की भी जहाँ पहुँच नहीं है वहाँ कवि की पहुँच है। हिन्दी के अंदर प्रायः कवि का अर्थ होता है छन्द की रचना करने वाला, छन्दोबद्ध जो रचना करता है उसको कवि कहते हैं। आजकल तो छन्दोहीन भी कविता प्रचलित हो गयी है। वेदों के अंदर जहाँ कवि कहा है वहाँ उसका अर्थ क्रान्तदर्शी से है। उसी के अनुसार यहाँ भी कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी। 'पुराणम्' सबसे पुराना है, उससे पुराना और कुछ नहीं है। सारी सृष्टि में जो कुछ भी बना, उससे पहले बनाने वाला था ही, उसी ने बनाया है। घड़े के पहले घड़े को बनाने वाला कुम्हार होता है। नहीं होवे तो घड़ा बनावे कैसे! इसी प्रकार इस सृष्टि के बनने से पहले वह था इसलिए पुराण है। किसी ने लक्ष्मी जी की हँसी करते हुए कहा है 'पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होए!' पुराण पुरुष, बुड्ढे के साथ बेचारी का ब्याह कर दिया उसके पिता ने, तो अपने आप ही चंचल होगी! इसीलिए लक्ष्मी टिकती नहीं है, किसी के पास से किसी और के पास जाती रहती है।

'अनुशासितारम्' वह अनुशासन, सारे संसार का शासन करने वाला है। इसीलिए वह अनुशासित व्यक्तियों से ही प्रेम करता है, स्वेच्छाचारियों से नहीं। खाली शासिता नहीं कहा, अनुशासिता कहा, क्योंकि दो तरह के शासक होते हैं; एक भारतवर्ष के शासकों की तरह कि घटना होने के बाद, जब वह घटना घटी थी उस समय क्या करना चाहिए था, इसका कानून बना दिया जाये! कानून बनाते हैं चौदह जनवरी को और वह लागू हो जाता है उसके पहले चौदह सितंबर से। चौदह सितंबर से चौदह जनवरी तक जिन्होंने वह काम किया उन्होंने तो कानून-विरुद्ध ही किया था पर चौदह जनवरी के बाद वह काम कानूनानुकूल बन गया। परमेश्वर ऐसा नहीं करता, पहले नियमों को बतलाता है और तब तुम्हें मौका देता है। वेद कहता है कि ब्रह्मा जी को पैदा कर पहले वेद दे दिया जिसमें सृष्टि के नियम बताये हैं। अतः आगे सारी सृष्टि उन नियमों के

अनुसार होती है। इसलिए, नियम बनाने के 'अनु' बाद में, वह शासन करता है कि तुमने नियम के विरुद्ध काम किया या नहीं। शासन करने में दोनों ही आ जाते हैं   ठीक काम करने वाले को पुरस्कार देना और ग़लत काम करने वाले को दण्ड देना। बहुत से लोग जब रसोईया महीने-भर तक अच्छा भोजन बनाएगा तब कभी नहीं कहेंगे 'तुमने अच्छा भोजन बनाया, पर खराब बनते ही टोक देंगे! कोई नई बहू शादी होकर आई। उसने अपनी जान खूब प्रयत्न करके बढ़िया से बढ़िया भोजन बनाया। पुराने ज़माने में तो सब भाई साथ खाते थे। वे लोग व्यापारी थे, खाते-खाते अपने व्यापार की बातें करते रहते थे और फिर उठ कर चले जाते थे। छह महीने देख लिया बहू ने, फिर एक दिन सूखी घास और चारा सबकी थाली में रख दिया! उन्होंने कहा 'अरे! यह क्या परोसा है?' बोली, 'जी आज कम-से-कम मुझे पता तो लगा कि आप देखते तो हैं क्या खा रहे हैं। इतने दिनों तक मैंने सारी चेष्टा कर ली, भोजन के बारे में एक बात भी आप लोगों ने नहीं कही'। कई ऐसे होते हैं जो जब ग़लत काम करो तब तो डाँटने में देरी नहीं करते, दंड दे देंगे, और ठीक काम करो तो कभी प्रशंसा नहीं करते। अधिक लोग ऐसे होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अच्छा काम करो तब तो तुम को शाबासी देंगे पर ग़लती कभी नहीं बतलाएंगे कि तुमने यह गलत किया; तुम्हें सुधरने का भी मौका नहीं मिलता। गलती करने वाले को दंड देना भी उतना ही ज़रूरी है जितना अच्छे काम करने वाले को पुरस्कार देना। परमेश्वर ने जो शुभ कर्म बताए हैं उन्हें करने वाले को स्वर्गलोक से ब्रह्मलोक तक देता है, और उसके बताये निमयों के विरुद्ध चलने वालों को पशु-पक्षी योनि से लेकर नरक पर्यन्त ले जाता है। यों वह दंड भी देता है और पुरस्कार भी देता है, तभी अनुशासन रहता है। जहाँ दंड-व्यवस्था नहीं चलती वहाँ अनुशासन नहीं रहता। बहुत-से लोग समझते हैं कि दंड नहीं देने वाला अच्छा है लेकिन दंड नहीं देने वाला ही सारी व्यवस्थाओं को बिगाड़ने वाला हुआ करता है। वह प्रशंसनीय नहीं होता है, निन्दनीय होता है।

'अणोः अणीयांसम्' अणु, अत्यन्त छोटा, सूक्ष्म, उससे भी वह अणीयान्, छोटा है। अणु से भी अणुतर है क्योंकि सारी सृष्टि में व्यापक है। जो चीज़ व्यापक हुआ करती है वह हमेशा सूक्ष्म होती है। हम लोगों के सामान्य अनुभव में, प्रत्यक्ष में, सबसे स्थूल हैं मिट्टी पत्थर। उनसे सूक्ष्म है जल, उससे सूक्ष्म है अग्नि। मिट्टी में पानी मिलाकर गोला बना लो, उसमें पानी तो नहीं दीखता, सूक्ष्म होने से, परंतु यदि उसको अच्छी तरह से किसी कपड़े में लपेटो तो पता लग जाता है कि इसमें पानी है। जल से भी सूक्ष्म अग्नि है। पानी में अग्नि मिल जाए तो छूकर ही पता लगेगा, और कोई उपाय नहीं है। अग्नि से भी सूक्ष्म वायु है क्योंकि अग्नि में फिर भी रूप है, वायु में रूप भी नहीं है। वायु कम-से-कम छू कर पता लगती है, आकाश तो छुआ भी नहीं जा सकता। इस प्रकार हम लोग जिन चीज़ों को देखते हैं उनमें आकाश ही सबसे सूक्ष्म मिलता है।

श्रुति कहती है कि आकाश से वायु पैदा हुआ, वायु से अग्नि पैदा हुई। अतः जो कारण होता है वह व्यापक और सूक्ष्म होता है। आकाश सबसे सूक्ष्म है और सबसे ज़्यादा व्यापक है। उस आकाश से भी सूक्ष्म है परमेश्वर क्योंकि आकाश को भी उत्पन्न करने वाला है। अतः आकाश फिर भी हम लोगों को कुछ पता चलता है, परमेश्वर का तो कुछ भी पता नहीं चलता। इसलिए अणु से अणुतर है।

अथवा अणु का मतलब जीव भी लिया जाता है। आत्मा को अणु कहा है। अणु का मतलब जीवात्मा। वेद ने उसका कुछ अन्दाज़ समझने के लिए बतलाया है कि सिर के बालके खड़े सौ टुकड़े करो। बाल खुद ही बड़ा सूक्ष्म है और उसके सौ टुकड़े करोगे तो बड़ा सूक्ष्म अंश होगा। उसमें से एक टुकड़ा लेकर फिर उसके सौ टुकड़े करो। इस प्रकार सौ बार करते चले जाओ! असम्भव-सा ही है। उतना सूक्ष्म जीवात्मा को कहा है। उस जीवात्मा के भी अंदर रहने वाला, उससे भी व्यापक और सूक्ष्म परमात्मा है। अन्तःकरण की उपाधि वाला जीव हुआ और उस जीव के अंदर भी चिन्मात्र रूप से परमेश्वर स्थित है।

'सर्वस्य धाःतारम्।' सारे कर्मफलों का विधाता है, सारे कर्मफलों को देने वाला है, विधान करने वाला है। विधान का एक अर्थ हुआ करता है नियम बना देना। जैसे विधान बनाने के लिए सभा विधान-सभा वह नियम बना देती है; आगे, नियम काम में आ रहा है, काम में ठीक से लिया जा रहा है, ग़लत लिया जा रहा है इस सबकी ज़िम्मेदारी विधान-सभा नहीं लेती। परमात्मा ऐसा नहीं है, वह कर्मफल का विधान भी बनाता है और फिर अनन्त प्रकार के जो प्राणी और उनके जो अनंत प्रकार के कर्म उन सबको विभक्त कर जिसका जो फल है, उसको वही फल देता है। यह व्यवस्था जीव नहीं संभाल सकता। चाहे जितनी सावधानी बरतें, जीव से ग़लती होगी, चाहे लाख बार में एक बार हो पर होगी ज़रूर। संसार में अनन्त प्राणी हैं और हर प्राणी के किए हुए अनन्त कर्म हैं फिर भी जिसको जिसका फल मिलना चाहिए उसी को मिलता है, एक भी फल इधर-से-उधर नहीं होता। एक फल भी गड़बड़ नहीं होता, जिसको जो मिलना है उसी को मिलता है। सारे विचित्र प्राणियों के विचित्र कर्मों के फल का विधान करने वाला परमेश्वर ही है।

धारण करने वाले को भी धाता कहते हैं। कर्म तो तुमने आज कर दिया, फल उसका आज मिलेगा नहीं। प्रायः लोग कह देते हैं कि क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से कर्मफल संभव है। कर्मफल को समझाने के लिए कहते हैं कि जो भी क्रिया होगी उसकी प्रतिक्रिया होगी। इसमें भूल यह है कि प्रतिक्रिया तो उसी समय होती है। ऐसा नहीं है कि हमने आज एक पत्थर मार दिया किसी दीवार पर और दो साल बाद हम उधर से निकल रहे थे तो अकस्मात् वहाँ से पत्थर आकर हमारे सिर पर लग गया! जबकि कर्मफल तत्काल नहीं होता, सुदूर भविष्य में मिलता है। जो परमेश्वर को

स्वीकार नहीं करते उन सब कर्मकाण्डियों के लिये यह व्यवस्था समझाना समस्या है। यदि चेतन है जिसके लिए हमने काम किया तो उसका फल वह विलम्ब से दे सकता है। मालिक ने आज हमें काम बताया, हमने कर दिया, उसने कुछ नहीं दिया। थोड़े दिनों के बाद फिर उसने काम बताया, हमने कर दिया। इस प्रकार साल भर तक मैं मालिक की बात मानता रहा। साल के अन्त में तनख्वाह बढ़ाने का समय आया तो मेरी तनख्वाह पाँच सौ रुपया बढ़ गई! क्योंकि हर बार मैंने बताये अनुसार काम किया तो मालिक के मन में संकल्प हो गया 'यह आदमी अच्छा है, मेहनती है, कहा काम तुरंत करता है।' चेतन व्यक्ति में यह बात धृत रहती है कि 'यह अच्छा करने वाला है' इसलिए विलम्ब से फल दे सकता है। शास्त्रीय कर्मों का फल उसी समय नहीं, बाद में मिलता है क्योंकि वह उस मालिक के मन में रहता है सारे कर्म जिस की सेवा के लिए किए जाते हैं, जिसे प्रसन्न करने के लिए किए जाते हैं। जैसे मालिक का अन्तःकरण वैसे परमेश्वर की माया है। हम सब काम मन से करते हैं। ऐसे ही परमेश्वर सब काम माया से करता है। हमारे किए हुए कर्म परमेश्वर की माया में रहते हैं। अतः वह सारे कर्म फलों को धारण किए रहता है इसलिए धाता है। वह उन सबको याद रखता है, तभी धारण करता है। उसकी माया में वृत्ति रहेगी, तभी समय पर फल देगा। जैसे समय पर हमें याद आएगा तब फल देंगे, इसी प्रकार समय आने पर माया में वृत्ति बनेगी, तब परमेश्वर फल देगा। वह सारे कर्मफलों को अपने में धारण करके रखता है इसलिए धाता है।

'अचिन्त्यरूपम्' उसके रूप का चिन्तन कर नहीं सकते। क्यों नहीं चिन्तन कर सकते? उसका जो रूप है वह नियमपूर्वक तुम्हारे सामने हमेशा विद्यमान ही है। निश्चित रूप से विद्यमान है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं। इसका रूप नियत है। सच्चिदानन्द इसका रूप है और यह हमेशा विद्यमान है। सामने होने पर भी इसका चिन्तन करना अशक्य है, अत्यन्त कठिन है। क्यों? विद्यमान रूप किसी-न-किसी उपाधि में प्रकट होता है। उपाधि से हटकर उस चीज़ को समझना कठिन होता है। ऐसे समझ लोः सोना किसी-न-किसी आकार में ही मिलेगा, मोहर के आकार में मिले, पासे के आकार में मिले, कुण्डल के आकार में, कड़े के आकार में मिले। सोना मिलेगा तो किसी-न-किसी आकार में, बिना आकार के मिलेगा नहीं। आकार को छोड़कर सोने को सोचना हम लोगों के लिए कठिन हो जाता है। *सोना* का कोई आकार नहीं है। किन्तु सोने की जो विशेषताएँ हैं वे किसी भी आकार के सोने में मिलेंगी ही। परंतु आकारों से हटकर सोना चीज़ को समझना यह हम लोगों के लिए कठिन होता है। इसी प्रकार से संसार के जो पदार्थ हमारे सामने आते हैं, उन सबके अंदर सद्-रूप से परमेश्वर विद्यमान है। असल में सत् ही उस आकार से दीख रहा है। इसलिए बिना आकार के सत् हम सोच नहीं पाते। अतः लोगों को कभी समझाते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द-रूप है, तो बहुत

से लोग कहते हैं, 'महाराज, यह तो समझ में आता है कि सच्चिदानन्द-रूप है पर उसका अपना भी तो कोई रूप होगा!' चार भुजाओं वाला, पाँच सिर वाला, मछली, कछुआ आदि कहो तब समझमें आ जाता है! परंतु सच्चिदानन्द का ध्यान कुछ समझ में नहीं आता। अतः उसको कहा 'अचिन्त्यरूप।' उसका रूप है सामने प्रकट; मैं चेतन हूँ यह तो समझ में आ जाता है। पर मैं को छोड़कर चेतन नहीं समझ में आता। मैं की उपाधि में समझ में आता है।

'आदित्य-वर्णम्' जैसे सूर्य कुछ भी सामने आवे उसको प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार परमात्मा जो भी उसके सामने उपस्थित हो उसको प्रकाशित कर देता है। एक बात याद रखना कि प्रकाशित करने वाला सूर्य है परंतु कुछ होगा तब उसे प्रकाशित करेगा। अगर कोई चीज़ नहीं होगी तो प्रकाश्य के अभाव में वहाँ तुम्हें प्रकाश की प्रतीति नहीं होगी। पृथ्वी के आस-पास वायु में चारों तरफ त्रसरेणु घूम रहे हैं जिन्हें सूर्य प्रकाशित करता है तो चारें ओर रोशनी दीखती है। परंतु पृथ्वी-मंडल के बाहर जाने पर त्रसरेणु होते नहीं। अतः सूर्य के रहते भी अंधकार नज़र आता है! चमकता हुआ सूर्य तो दीखेगा परंतु जैसे यहाँ सूर्य दीखने पर चारों तरफ हम लोगों को प्रकाश दीखता है, ऐसे वहाँ नहीं दीखेगा। ठीक इसी प्रकार गहरी नींद में दृश्य का अभाव है। गहरी नींद में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसको आत्मा प्रकाशित करे। अतः वहाँ नज़र आता है 'कुछ नहीं' अर्थात् किसी प्रकार के ज्ञानरूप प्रकाश का भान नहीं होता। ज्ञान-रूप प्रकाश का भान होने के लिए कम-से-कम अहंकार की वृत्ति तो अपेक्षित है। अन्तःकरण की अहंकार वृत्ति प्रकाशित करने के लिए होगी, तब 'मैं' रूप से वह प्रकाशित होगी। परंतु जब अन्तःकरण नहीं रह जाता तब 'मैं' की वृत्ति भी नहीं रह जाती अतः प्रकाशित करने को कुछ नहीं रहता। इसलिए सामान्यतया ऐसा लगता है कि वहाँ प्रकाश नहीं था। अनेक दार्शनिकों ने इसलिए सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव मान लिया है! परंतु वहाँ दृश्य नहीं होने से 'ज्ञान नहीं है' ऐसी प्रतीति है, स्वरूप से ज्ञान तो तब भी विद्यमान ही है। क्योंकि स्वरूप से ज्ञान विद्यमान न होवे तो उठकर 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं आनंद में था' इस प्रकार स्मृति नहीं हो सकती। 'था' कहते हो तो मतलब स्मृति है। 'मैंने कुछ नहीं देखा' इस स्मृति से पता लगता है कि वहाँ स्वरूप से ज्ञान था। सूर्य जैसे जो भी सामने आएगा उसको प्रकाशित करेगा और अगर प्रकाशित करने को कुछ नहीं है तो प्रकाशमात्र रूप से रहेगा, उसी प्रकार ज्ञान का भी वर्णन किया जा सकता है। इसलिए ज्ञानरूप परमात्मा को आदित्यवर्ण कहा। सूर्य के जैसा मतलब यह नहीं कि जैसे सूर्य हमें सफेद पदार्थ दीखता है, वैसे परमात्मा दीखता है! वह नित्य चैतन्यरूप है, जो भी दृश्य सामने आता है, उसको प्रकाशित अर्थात् ज्ञात कर देता है और जब कुछ नहीं है तब कुछ नहीं को प्रकाशित करता है।

'तमसः परस्तात्।' तम अर्थात् अज्ञान। अज्ञान से परे है, अज्ञान का उससे कोई

लेन-देन नहीं है। यह विलक्षण बात हमेशा याद रखना कि अज्ञान कहाँ रहता है? ज्ञान में रहता है। फिर भी ज्ञान में अज्ञान नहीं है! अज्ञान रहता है ज्ञान में, लगता है कि ज्ञान में अज्ञान होगा, पर ज्ञान में बिना अज्ञान हुए ही अज्ञान रहता है। ठीक जिस प्रकार रस्सी में साँप बिना हुए ही रहता है। साँप रहेगा रस्सी में, फिर भी रस्सी में साँप है नहीं। इसी प्रकार अज्ञान ज्ञान में रहेगा परंतु वस्तुतः वह उस में नहीं है। ज्ञान में अज्ञान भी अज्ञान से ही है। अज्ञान के कारण ही ज्ञान में अज्ञान की प्रतीति है। अज्ञान दोनों काम कर लेता है खुद को और अपने कार्यों को, दोनों को धारण करता है। अज्ञान से ही ज्ञान में अज्ञान रहता है। वास्तविक रूप में अज्ञान परमात्मा में नहीं, इसलिए 'परस्तात्' कह दिया।

'कवि' से लेकर 'तमसः परस्तात्' इस प्रकार से अनुचिन्तन करना है जिसके फलस्वरूप उसी परम पुरुष की प्राप्ति होगी, यों पूर्व श्लोक से इस श्लोक का संबंध है।।६।।

इस चिंतन के लिए क्या साधन है यह बतलाते हैं। मूल प्रश्न था कि मरते समय में कैसे जाना जाए? जिसे तब जानना है वह कैसा है यह बता दिया, ध्येय का रूप बता दिया। अब, जानना कैसे है यह बतायेंगे

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

स्थिर मन, भक्ति और योग के बल से अवश्य सम्पन्न साधक मरणवेला में प्राण को सही तरह से भौंहों के बीच स्थापित कर उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

मरते समय मन एक वृत्ति में स्थिर होना चाहिए, चंचल मन से परमेश्वर-प्राप्ति नहीं होगी। 'अचल मन' कहा जा रहा है, इसी से बात स्पष्ट है कि अन्तिम *क्षण* को नहीं लेना है, अन्तिम *काल* को लेना है। यदि केवल अन्तिम क्षण ही कहना होता तो एक क्षण में एक ही वृत्ति बन सकने से मन को अचल बनाने की जरूरत ही नहीं रहती। अतः अन्त का सारा काल समझना चाहिय। उस सारे समय तक मन अपनी चंचलता को छोड़कर, विक्षेप को छोड़कर परमात्मा में स्थिर होना चाहिए। चंचलता कैसे हटती है? 'योगबलेन।' योग शम, दम, उपरति, तितिक्षा, इनके अभ्यास से जो निरंतर श्रवण-मनन किया गया है, उस समाधि से होने वाले जो संस्कारों की बहुलता है, वही बल है। संस्कार जितना किसी चीज़ का अधिक होता है, उतना ही उसका चिंतन अधिक स्थिरता से हो सकता है। योग का बल यही है कि इसका अभ्यास बार-बार करने से संस्कारों का प्रचय हो जाये। जिस चीज़ का संस्कार होगा उसी का स्मरण बार-बार होगा। चित्त-स्थिरता ही बल है। 'अचलेन मनसा' के द्वारा कहकर फिर अलग से 'योग-बल' कहने की ज़रूरत क्या है? अचल तो अन्तकाल में होगा, परंतु कैसे होगा? इस

प्रश्न के जवाब में योग-बल बताया कि उस से अचल होता है। शम-दम आदि के सहित लम्बे समय तक जब संस्कारों का बाहुल्य हो जाता है तब वह बल आ जाता है। व्यवहार में देखने में आता है कि जिसके जो संस्कार प्रबल हैं उसी चीज़ की याद आती है, दूसरी चीज़ों की याद नहीं आती। रास्ते में जाते हैं, पच्चीस आदमी दीखते हैं। एक उनमें देवदत्त दीखा जो अपना दोस्त है। घर जाकर कहते हो, 'आज रास्ते में देवदत्त मिला था।' कोई पूछे 'खाली देवदत्त ही मिला था?' कहोगे 'हाँ, आज तो देवदत्त ही मिला था।' रास्ते में तो बहुत से लोग थे! 'देवदत्त ही मिला था', इसका मतलब है कि जिनका संस्कार है उनमें तो खाली देवदत्त ही था, बाकी चलते-फिरते चेहरे कितने भी हों। जितना दृढ संस्कार है उतनी स्मृति स्फुट होगी। किसी से दस साल पहले सिर्फ एक बार मिले, अगर वह रास्ते में दीख भी जाये तो तुम्हें कोई ख्याल भी नहीं आता! साथ वाला कहता है 'अरे, यह देवदत्त है', तब् कहते हो 'हाँ-हाँ, नमस्ते, देवदत्त जी, क्या हाल है?' क्षीण संस्कार है तभी कोई बताये तो संस्कार जाग जाता है पर स्वतः नहीं जागता। और संस्कार-प्रचय होता है तो तुम खुद ही पहचान लेते हो।

'भक्त्या युक्तः' भक्ति से युक्त होकर। भक्ति का लक्षण है परप्रेम। वैराग्य की दृढता से अन्य सब तरफ से तुम्हारा राग हट जाने से प्रेम का विषय केवल परमात्मा ही रह जाना चाहिये। जिस चीज़ से प्रेम होता है उसी तरफ मन जाता है। भोजन में चार चीज़ें परोसी हुई हैं, उनमें दाल का सीरा तुम्हारी पसंद का है, उसमें तुम्हारा राग है, तो थाली में बार-बार नजर हलुए पर जाती है। रखी हुई अनेक चीज़ें दीख रही हैं परंतु नज़र उधर ही जाती है। और खाने के लिए पहले उसको ही उठाते हो। हम लोगों को परमात्मा का ध्यान क्यों नहीं होता? क्योंकि वैराग्य की कमी है। भगवान् *भी* हमें अच्छे लगते हैं लेकिन भगवान् *ही* हमें अच्छे नहीं लगते, रसगुल्ला भी अच्छा लगता है, आलू बोण्डा भी अच्छा लगता है। 'भक्त्या युक्तः' अर्थात् परम प्रेम से, पूर्ण वैराग्य के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है। उस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए बार-बार पदार्थों में दोष-दर्शन आवश्यक है। प्रायः अपने यहाँ सभी ग्रन्थों के अंदर संसार के विषयों का दोष-दर्शन कराया जाता है। बहुत-से आधुनिक लोग कह देते हैं कि पदार्थों में गुण भी तो हैं, दोष ही क्यों बतलाते हो? अखबार, पत्रिकायें, रेडियो, टेलीविजन, सबके अंदर उद्योगपति अपने माल की बड़ाई और प्रशंसा करते हैं जिसे सुन कर तुम्हें उसके अंदर राग पैदा हो जाता है, तभी वे चीज़ें लेने जाते हो। जिसकी प्रशंसा सुनोगे, उसके बारे में राग होगा। प्रशंसा सुनकर, प्रशंसा देखकर किसी को वैराग्य नहीं होता! संसार में राग स्वभाव से सबको प्राप्त है क्योंकि जितने संसारी लोग हैं सब तुम्हें विषयों की तारीफ ही सुनाएँगे। आँख भी रूप की ही प्रशंसा करेगी, कान भी शब्द की ही प्रशंसा करेंगे। राग तो चारों तरफ से प्राप्त है। ऐसे दोष-दृष्टि की प्राप्ति नहीं है, अतः दोष-दर्शन विचारपूर्वक करना पड़ेगा। परमेश्वर को ही चाहना तब होगा जब दूसरी

चीज़ों से वृत्ति हटे। इसलिए दोष-दर्शन आवश्यक है। वेदान्त के साधक में सबसे पहली विशेषता इसीलिए विवेक-जन्य वैराग्य कही। चार साधनों में पहला विवेक और दूसरा उससे उत्पन्न होने वाला वैराग्य। केवल वैराग्य नहीं कहा क्योंकि कई बार किसी चीज़ से हमें दुःख हो जाये तो उससे वैराग्य भी हो जाता है परंतु वह वैराग्य क्षणिक होता है। एक औरत को जब प्रसववेदना होती थी तब प्रजनन के प्रति अत्यंत वैराग्य हो जाता था, पति को बुरा-भला भी कह देती थी, लेकिन अगले वर्ष पुनः गर्भिणी हो जाती थी! उस समय की व्यथा से लगता है कि वैराग्य हो गया परंतु वह क्षणिक वैराग्य है। पाँच-सात दिन में शरीर ठीक हो जाता है, सब भूल-भाल जाते हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा कि उस वैराग्य से काम नहीं चलता, विवेक-जन्य वैराग्य चाहिए। विवेकजन्य वैराग्य आने के बाद हटता नहीं है। भक्ति से विवेक-जन्य वैराग्य बतला दिया। योग बल से शम-दम आदि बतला दिए, इन चीज़ों से ही मन अचल होता है।

उसके बाद 'प्राणं भ्रुवो र्मध्ये आवेश्य।' प्राण को भौहों के बीच में लाओ। इस के लिए पहले अभ्यास करना पड़ता है कि सूर्य नाडी और चन्द्र नाडी दोनों में से प्राण की गति न होकर केवल मध्य नाडी सुषुम्ना में ही गति होवे। मूलाधार से प्राण को उठा कर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, आदि के अंदर पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, वायु तत्त्व, इस प्रकार भूतों का जय करना पड़ता है। हृदय से जो सुषुम्ना नाडी आगे गई है वह पहले जाएगी कण्ठ में। कण्ठ में स्तन की तरह जो लटक रहा है उसमें से होकर प्राण को निकालने का अभ्यास करना पड़ता है। एक दो दिनों का काम नहीं है! फिर वहाँ से भी प्राणों को उठा कर दोनों आँखों के मध्य में जो स्थान है, वहाँ ले जाओ, दोनों भौंहों के बीच में, मध्य में, दोनों आँखें जहाँ खत्म होती हैं उसके ऊपर; वहाँ प्राण को ले जाकर देर तक स्थिर रखो। वहाँ स्थिर होना इसलिए आवश्यक है कि जब भौंहों से प्राण ऊपर जाता है, ब्रह्मरन्ध्र की तरफ, तब कोई होश नहीं रहता। तुम चिंतन नहीं कर सकते। इसलिए भ्रूमध्य में प्राण रखते समय ही अनुचिंतन कर लेना पड़ता है। जब उसमें स्थिर होकर तुम्हारा ध्यान आस्थित हो जाता है, भली प्रकार से स्थित हो जाता है, तब जिस दिव्य परम पुरुष का तुम चिंतन कर रहे थे, उसके लिए प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र की तरफ़ जाती है। क्योंकि भौहों के बीच में स्थिर होकर किया है इसलिए वही चिंतन चलता रहता है, आगे तुमको चिंतन *करना* नहीं है। वहाँ से उस परम पुरुष को चले जाते हो। हमारी सिर की हड्डियाँ तीन तरफ हैं, दाहिनी तरफ, बाईं तरफ और पीछे की तरफ; जहाँ वे मिलती हैं, उनका जो जोड़ है वही ब्रह्मरन्ध्र है। उसी से जीव-रूप से प्रवेश हुआ था और जब उससे निकलता है तभी वापिस परम पुरुष को ब्रह्मलोक में जाता है। जो ऐसा करता है वही उस परम पुरुष- को 'उपैति' प्राप्त कर लेता है।।१०।।

भ्रूमध्य में आस्थित होकर उस दिव्य पुरुष का चिंतन कैसे करोगे? यह कहते हैं

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

वेदवेत्ता जिस अक्षर तत्त्व को बताते हैं, वीतराग संन्यासी जहाँ प्रवेश करते हैं, जिसे जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह प्राप्तव्य वस्तु तुम्हें संक्षेप में बताऊँगा।

वेदवेत्ता लोग किसी भी मंत्र का पाठ शुरू करते हैं तो सबसे पहले 'ॐ' अक्षर को बोलते हैं, ॐ कहकर ही वेद का पाठ शुरू होता है। मनु ने कहा है कि यदि मंत्रों के आगे और पीछे ॐ नहीं लगाओगे तो मंत्र बह जायेगा। स्वयं श्रुति ने भी कहा कि वेद के प्रारम्भ में ॐ स्वर का उच्चारण होता है, उस ओंकार से ही सारा वेद प्रकट होता है। पहले ॐ का उच्चारण होगा, तब आगे सारे वैदिक मंत्र प्रकट होंगे। यहाँ सीधा प्रणव नहीं कह कर भगवान् ने 'अक्षर' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की ओर संकेत है। ॐ के अर्थ का चिंतन ब्रह्मचिंतन होगा। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ईश्वर का वाचक शब्द ॐ है। 'तद् वा एतद् अक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति' इत्यादि स्थलों पर अक्षर शब्द से ही ब्रह्म का निर्देश है। प्रणव का अर्थ है परब्रह्म। वेदज्ञ विद्वान् ओंकार को बोल कर मंत्रपाठ करते हैं और वेद का अर्थ जानने वाले कहते हैं कि अक्षर अर्थात् ब्रह्म से ही यह सारा संसार शासित होता है। अर्थ जानने वाला उस अक्षर को कहता है जो कभी भी नष्ट नहीं होता, अविनाशी है। अविनाशी केवल ब्रह्म ही है। उसको अवाच्य कहते हैं, यहाँ कह दिया 'वदन्ति' अर्थात् 'कहते हैं', यह कैसे? सारे विशेषों का निवर्तन करके ही उसको कहा जाता है। 'अस्थूलम् अनणु' इस प्रकार से जो-जो मूर्त-अमूर्त प्राप्त होते हैं उस सबका निषेध करते चले जाते हैं तो निषेधावधिभूत, (जिसका निषेध किया नहीं जा सकता) वही बच जाता है। सारे विशेषों को दूर करने वाले पदों से ही उसका *वदन* होता है। एक महात्मा के पास जाकर के एक राजा ने कहा 'आप परब्रह्म का उपदेश करिए', तो वे कुछ बोले नहीं। उसने सोचा ऊँचा सुनते होंगे, थोड़ा और ज़ोर से कहा; फिर कुछ नहीं बोले। दो-तीन बार ऐसा होने पर उसने कहा 'क्या बात है ऋषि! आप चुप क्यों हैं; हमारे प्रश्न का जवाब क्यों नहीं देते?' उन्होंने कहा 'जवाब तो दे रहा हूँ, तू सुन नहीं पाता!' उसका उपदेश मौन से ही है। जो जो चीज़ शब्द के द्वारा कही जा सकती है वह सब वह नहीं है। भगवान् दक्षिणामूर्त्ति भी मौन से ही व्याख्या करते हैं। पर ब्रह्म तत्त्व को उन्होंने मौन व्याख्यान से ही प्रकट किया है। अतः उसके चिंतन का प्रकार है कि जो-जो चीज़ आती है, उसे उपाधिरूप जानकर उसका निषेध करते चले जाना। वेदार्थ-वेत्ता लोग सारे विशेषों का निषेध करके उसको बतलाते हैं। जो वेदार्थज्ञ नहीं किन्तु केवल वेद के शब्द जानते हैं वे भी अक्षर अर्थात् ओंकार का पाठ तो आवश्यक करते ही हैं।

ओंकार को ब्रह्म का अत्यन्त नज़दीकी नाम कहा है। क्यों ऐसा है? हम लोगों के सामने तीन अवस्थाएँ हैं; जाग्रत्, जैसे अभी, जब इंद्रियों से विषयों का ग्रहण हो रहा है। स्वप्न, जैसे सात-आठ घण्टे पहले रात में देख रहे थे जब इंद्रियाँ कार्यकारी नहीं रहतीं, केवल संस्कारों से उत्पन्न विषयों का अनुभव होता है। और सुषुप्ति, गहरी नींद, जब सभी प्रकार के ज्ञान का उपसंहार हो जाता है, बुद्धि केवल कारणरूप से बचती है। इन तीन के सिवाय और चौथी अवस्था तुम्हारे अनुभव में नहीं आती। इन्हें अ उ और म् से कह दिया ओम् के अंदर। अ से जाग्रत् को, उ से स्वप्न को, व म् से सुषुप्ति को कहा गया है। किंतु चौथा और है! मैं अभी जाग्रत् में हूँ, सात-आठ घण्टे पहले मैं स्वप्न में था। स्वप्न के समय जाग्रत् की कोई चीज़ नहीं थी पर मैं था। इसलिए मैं को न जाग्रत् वाला कह सकते हो, न स्वप्न वाला कह सकते हो, जबकि यह जाग्रत् वाला भी है और स्वप्न वाला भी है। उसके पहले मैं सुषुप्ति में भी था। सुषुप्ति के अंदर जाग्रत् भी नहीं, स्वप्न भी नहीं परंतु मैं वहाँ भी हूँ। सुषुप्ति में 'मैं' स्फुट इसलिए नहीं लगता कि 'मैं' की वृत्ति नहीं होती इसलिए आत्मा उसको प्रकाशित नहीं करता। परंतु जो प्रकाशरूप मैं हूँ, वह वहाँ भी है ही। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ और तीनों अवस्थाओं में रहने वाला 'मैं' चेतन जो तीनों अवस्थाओं में रह कर भी अवस्थाओं वाला नहीं बनता। इसलिए इसको *चौथा* कहना पड़ता है। इसमें चूंकि तीनों अवस्थाएँ कल्पित हैं इसलिए कहते हैं कि एक अखण्ड ॐ में अ उ और म् तीनों कल्पित हैं। अखण्ड ॐ के अंदर समझने के लिए अ उ और म् कल्पित किए गए हैं। इसी प्रकार एक परमात्मा के अंदर जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों कल्पित होते हैं। इस बात को ओम् बतलाता है। यह इसकी महत्ता है। क्यों वैदिक लोग ॐ पर ही ज़ोर देते हैं? इसलिए कि यह ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। दूसरे नाम यह कार्य नहीं कर सकते।

यह तत्त्व परोक्ष ही नहीं प्रत्यक्ष है 'यत् वीतरागाः यतयः विशन्ति'। वीतराग और विराग, दोनों में फ़र्क समझ लेनाः राग आवे तो उसको काटने की सामर्थ्य विराग शब्द से, वैराग्य शब्द से कही जाती है। राग आवे पर दोष-दर्शन के संस्कार इतने प्रबल हों कि उस राग को काट दें, यह वैराग्य है। भली प्रकार से जिसने समझ लिया है कि 'मुझे भयंकर मधुमेह है इसलिए मीठा खाना जहर है, मर जाऊँगा', उसे बढ़िया गुलाब जामुन देखने पर राग आता तो है, खाने की तीव्र इच्छा होती है, परंतु दोष-दर्शन के संस्कार प्रबल हैं अतः खाता नहीं है, राग को काट देता है। वीतराग अर्थात् जिसका राग वीत हो गया है, इतनी दूर चला गया है कि उपस्थित ही नहीं होता। जो वीतराग हैं वे ही 'यतयः', संन्यासी हैं, जो उस पद में प्रवेश करते हैं। संन्यासी ही क्यों कहा? बाकी सब आश्रमों के अंदर नित्य नैमित्तिक कर्म प्राप्त हैं जो करने पड़ते हैं। उन कर्मों को करने के लिए तुम को पदार्थ इत्यादि भी चाहिए अतः उनके प्रति राग रखना ही पड़ेगा। संन्यासी के लिए कोई कर्म नहीं है। अतः राग सर्वथा न होने पर कोई कर्म करने के

लिए भी उसको राग लाने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि 'यतयः' से यत्न करने वाले सभी लिए जा सकते हैं तथापि वीतराग कह कर बतला दिया कि यहाँ यत्न करने वाले संन्यासी ही अभिप्रेत हैं। 'यतयः' शब्द के द्वारा यह भी संकेत दे दिया कि जो शम आदि पूर्वक श्रवण-मनन में निरंतर लगे हुए हैं वे ही विवक्षित हैं। संन्यास लेकर भी बहिर्मुखता बहुतों में होती है। वेद में तो कहा है कि एक बार साठ हज़ार संन्यासी ऐसे हो गए थे जो कर्म की ही बातों में लगे हुए थे। इन्द्र ने जाकर उनको समझाने का भी प्रयास किया। वे कहने लगे 'ज्ञान की बातें हमे नहीं सुननी हैं। हम तो बस ये कर्म ही जानते हैं।' इन्द्र ने कहा 'संन्यासी होकर भी तुम कर्म में लगे हुए हो, राजा होने के कारण मेरा काम गलती का दंड देना है', अतः उसने उन सबको मार डाला! संन्यासी निरंतर शम आदि पूर्वक श्रवण-मनन में यत्न करने वाला होवे, इसी में लगा रहे, तभी ब्रह्म में प्रवेश कर सकता है। यत्न करना तुम्हारा काम है, सफलता परमेश्वर देगा। जो यत्न में लगा हुआ है, चाहे उसकी सफलता कितनी भी कम है, वह तो आगे परमेश्वर में प्रवेश कर जाएगा, किंतु यदि यत्न ही ढीला है, यत्न ही नहीं करता है तो उसका प्रवेश सम्भव नहीं है। इसलिए कहा कि यत्नशील संन्यासी 'विशन्ति' परमेश्वर में प्रवेश करते हैं।

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'। जिसकी इच्छा से अर्थात् 'वह हमें प्राप्त हो' इस इच्छा से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। श्रुति ने कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा उस तत्त्व की प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्य ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। ब्रह्मचर्य से आश्रम-विशेष भी ले सकते हैं। उपलक्षणा से अन्य आश्रम समझे जा सकते हैं। ब्रह्मचारी अपने नियमों से, गृहस्थ अपने नियमों से, वानप्रस्थ अपने नियमों से परमेश्वर-प्राप्ति का प्रयास कर सकते हैं। श्रुति ने कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'; यहाँ चारों आश्रमों के लिए साधन बताये : यज्ञ और दान प्रधान करके गृहस्थ के लिए, गुरु-सेवा इत्यादि ब्रह्मचारी के लिए, और तप वानप्रस्थ के लिए। ब्रह्मचर्य आश्रम-विशेष को भी कहते हैं और ब्रह्मचर्य सब प्रकार के सांसारिक भोगों से मन को हटाने को भी कहते हैं। ब्रह्मचारी लोग गुरु के पास इस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही जाते हैं।

'तत्', जिस पद को वेदवेत्ता कहते हैं, जिसमें संन्यासी प्रवेश करते हैं, जिसके लिए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हैं, उसी पद को 'सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।' जिसके द्वारा चीज़ भली प्रकार समझ में आ जाए उसको संग्रह कहते हैं। कई जगह संग्रह को संक्षेप भी कहते हैं, वहाँ भी तात्पर्य यही है कि फैली हुई चीज़ मनुष्य जल्दी समझकर स्थिर नहीं कर पाता और सूत्ररूप में, संक्षेप में कह दी जाए तो याद रख लेता है। जिसने विस्तार नहीं समझा है वह संग्रह ठीक प्रकार से समझ नहीं सकता है। विस्तार से समझने के बाद उसे याद रखने के लिए संक्षेप बड़ा लाभदायक होता है क्योंकि

उतना-सा याद किया तो बाकी सब याद आ जाता है। परंतु विस्तार आवश्यक इसलिए है कि जो चीज़ कही गई है उसके बारे में क्या युक्ति है, क्या दृष्टांत हैं, ये सब चीज़ें समझ में आ जाती हैं। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि ठीक प्रकार से समझ में आ जाए, इस ढंग से कहूंगा। संग्रह से कही चीज़ के बारे में सारी बात पता नहीं चलती। किंतु यहाँ वह दोष नहीं इसलिये कहा 'प्रवक्ष्ये' प्रकर्षेण वक्ष्ये संग्रह से कहने पर भी उसको ऐसे विस्तार से समझा कर कहूंगा कि तुम्हारी समझ में ठीक-ठीक आ जाएगा।

अन्तिम पादद्वय, अर्धाली, कठोपनिषद् से ली हुई है। वहाँ कहा है

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि। ओमित्येतत्।।'

पहली अर्धाली तो यहाँ अलग है लेकिन दूसरी अर्धाली वही है। कठ में उसे संक्षेप में क्या कह दिया? 'ओम् इति एतद्' वह ॐ ही है। वहाँ सचमुच में संग्रह से ही कहा है लेकिन यहाँ भगवान् समझाने के लिए ज़रा विस्तार से कह रहे हैं। अतः श्री कृष्ण ने 'ब्रवीमि' की जगह 'प्रवक्ष्ये' कह दिया अर्थात् प्रकर्ष से कहूंगा।।११।।

परब्रह्म का वाचक भी ओम् है और परब्रह्म के ध्यान के लिए प्रतिमा की तरह प्रतीक भी है। जो उत्तम साधक हैं, वे इसके वाचकपने को लेकर वाच्य को समझ लेंगे, अकार-उकार-मकार इत्यादि प्रक्रिया से अखण्ड तत्त्व को समझ लेंगे। परंतु जो मंद व मध्यम साधक हैं, उन्हें वाच्यभाव जल्दी समझ में आता नहीं। ऐसे समझ लो : राम, लक्ष्मण, सीता जंगल में जा रहे थे। ऋषियों के आश्रम में पहुँचे। रामचन्द्र जी तो ऋषियों से बात करने लगे, सीता जी ऋषि-पत्नियों से बातें करने लगी कि 'दशरथ के कहने पर हम लोगों को जंगल में आना पड़ा।' औरतों का स्वभाव होता है पूछने का। ऋषि-पत्नियों ने पूछा 'तुम्हारा पति कौन-सा है?' भारतीय संस्कृति में पति को सीधे बतलाते नहीं। आजकल की संस्कृति में तो सीधा ही कहते हैं 'ये मेरे पति हैं', किंतु यह हम लोगों की परम्परा नहीं है। दूर से रामजी को बताने में सीता जी को मुश्किल पड़ी, अतः उन्होंने कहा 'जो गोरा है, वह मेरा देवर है' और यह कह नीची नज़र करके पैर के नाखून से ज़मीन को खुरचने लगीं। ऋषि-पत्नियाँ समझ गईं कि सांवले रामचन्द्र जी इसके पति हैं। ऋषि-पत्नियाँ तो समझ गयीं परंतु आज के लोग कहेंगे, 'हमारी बात का जवाब ही नहीं दिया!' ठीक इसी प्रकार सब चीज़ों का निषेध करके जो निषेधावधिभूत अधिष्ठान है, उसका प्रतिपादन उत्तम बुद्धि के लोग तो समझ जाएंगे। मंद, मध्यम बुद्धि वाले कहेंगे कि 'आपने कह दिया यह नहीं, यह नहीं; फिर आखिर ब्रह्म है क्या?' मंद व मध्यम बुद्धि वालों के लिए ॐ ही ब्रह्म है, ऐसा बता दिया जाता है। जैसे शालिग्राम का ध्यान करने से विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है वैसे ॐ का ध्यान करके भी परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। फ़र्क यही है कि ऐसे मंद-मध्यम बुद्धि वालों को

दीर्घकाल के बाद साक्षात्कार होता है अर्थात् उनकी क्रम-मुक्ति होती है अर्थात् यहाँ से ब्रह्मलोक को जाएंगे, वहाँ अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान होगा। जो वाच्य को समझ पाते हैं उन्हें यहीं ज्ञान हो जाता है। उपासना के तरीके को अब बतलाना है कि उसका कैसे ध्यान किया जाता है

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

विषयोपलब्धि के सब दरवाज़ों को संयत (नियंत्रित) कर, मन को हृदय-कमल में ही स्थिर कर, अपने प्राण को मूर्धा में स्थापित कर आत्मविषयक समाधि की स्थिरता में आश्रित (साधक परम गति पाता है)।

हमारे शरीर में पाँच दरवाज़े हैं जिनसे हम बाहर जाते हैं। आँखें, कान आदि सब दरवाज़े हैं जिन से बाहर जाते हैं। हमारे बाहर जितनी चीज़ें हैं उनसे सम्पर्क के लिए हमें इन द्वारों की ज़रूरत पड़ती है। जीभ के द्वारा स्वाद लेने बाहर जाते हैं, स्पर्श के लिए त्वगिन्द्रिय से बाहर जाते हैं इत्यादि। बाहर जाने के लिए जगह, दरवाज़ा चाहिए। 'परांचि खानि' मंत्र में वेद ने इन्द्रियों को दरवाज़ा कहने के लिए 'ख' शब्द का प्रयोग किया क्योंकि ख कहते हैं खाली जगह को, आकाश को। बाहर के संसार से सम्पर्क करने के लिए वहाँ जाने के लिए हमारे पास ये पाँच दरवाज़े हैं। बाह्य संसार से दूर होने के लिये पाँचों दरवाज़ों को भली प्रकार से रोक लेना पड़ेगा। इसी को वेदांत शास्त्र में दम का अभ्यास कहा है और महर्षि पतञ्जलि ने योग शास्त्र में इसी को प्रत्याहार कहा है। संयमन करना है क्योंकि दरवाज़े ऐसे हैं जो जीवन चलाने के लिए आवश्यक हैं। एक-दो दरवाज़े न रहें तब तक तो काम चल जाएगा आँखों से अंधा होवे तो भी काम चला लेगा, कानों से बहरा हो तब भी काम चला लेगा लेकिन सारे ही दरवाज़े काम न करें, तब जीवन का काम नहीं चल सकता। इसलिए इनके ऊपर नियंत्रण करना पड़ेगा, ये काम करें ही नहीं ऐसा इन्हें बंद नहीं कर सकते। इसलिए भगवान् ने यह नहीं कहा कि दरवाज़ों को बंद कर दो। संयमन अर्थात् तुम्हारी इच्छा के वशवर्ती होवें: जब तुम प्रारब्ध-भोग के लिए इनसे व्यवहार करना चाहो तब व्यवहार कर लेवें परंतु जब तुम व्यवहार से हटकर समाधि लगाना चाहो तब इधर-उधर न जाएँ।

'मनो हृदि निरुध्य।' मन को हृदय में ही निरुद्ध कर लो। सामान्य रूप से मन जहाँ रहता है उसको हृदय कहते हैं। जब कुछ कार्य नहीं करे अर्थात् सर्वथा स्तब्ध हो तब मन हृदय में रहता है। हृदय का मतलब शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि मांस-खण्ड नहीं समझ लेना। नाभि से एक बित्ता ऊपर, नौ इंच दूर हृदय है। अंग्रेज़ी में जिसे 'हॉर्ट' कहते हैं वह यहाँ हृदय नहीं है। उपासना-प्रसंग में हृदय किसी मांस-खण्ड का नाम नहीं है। 'लिफ्ट' (उद्वाहन) तेजी से उतरती है तो जहाँ अचानक धड़कन होती है वह स्थल

यहाँ हृदय विवक्षित है। सामान्यतः व्यक्ति जब किसी से कहता है 'मैं तुम्हें देख लूँगा।' तो 'मैं' कहते समय जहाँ अपने को मानता है वह हृदय है। इसीलिए आचार्य शंकर ने अर्थ कर दिया कि हृदय कमल समझना, मांस-खण्ड नहीं। जब इन्द्रियों का संयमन करते हैं तब मन अंदर ही अंदर विषयों का ध्यान करता रहता है। जब उसको हृदय के अंदर निरुद्ध कर देते हैं तब वह इधर-उधर नहीं जाता। अर्थात् जो वशीकृत है, जिस को वश में कर लिया गया है उस मन से अभिप्राय है। मन को वश में करके चुप बैठ जाओगे तो सो जाओगे! क्योंकि मन जब वृत्ति नहीं बनाएगा तो मन लीन होने लगेगा। मन से कोई वृत्ति बनाओ तब तो वह उधर लगता है और यदि कोई वृत्ति नहीं बनाते हो तो झट-से लीन हो जाता है, सुषुप्ति हो जाती है, मन कार्यकारी नहीं रहता। जब कहते हैं 'मन कुछ न सोचे' तब मतलब यह है कि जिस चीज़ का तुम ध्यान कर रहे हो, उसके अलावा कुछ न सोचे। जिस प्रकार जब वैद्य रोगी से कहता है 'तीन दिन तक कुछ नहीं खाना' और साथ में दवाई की पुड़िया भी देता है तब 'कुछ न खाना' इसका मतलब है कि दवाई छोड़कर कुछ न खाना। यह नहीं कि वैद्य जी ने कह दिया 'कुछ नहीं खाना' इसलिए दवाई भी नहीं खाओ! ठीक इसी प्रकार जब कहते हैं 'कुछ न सोचो' तब मतलब है कि जो ध्येय है उससे अतिरिक्त कुछ न सोचो। उसको भी नहीं सोचोगे तो नींद आ जायेगी।

जब मन को निश्चल कर लिया तब मन को हृदय से गई हुई जो सुषुम्ना नाडी है उससे प्राण को मूर्धा में ले जाओ। मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क का अग्रभाग। जब तक तुम भ्रूमध्य में पहुँचोगे तब तक तुम स्वतंत्र होकर चिंतन करते हो। उससे ऊपर जब जाओगे तब कुछ चिंतन करना तुम्हारे हाथ में नहीं रह जाएगा, जो चिंतन तुमने वहाँ भ्रूमध्य में किया है वही आगे चलता रहेगा। आप लोगों में से यदि किसी ने जप का विशेष अभ्यास किया है तो देखा होगा कि अगर रात के समय जप कर रहे हैं तो बीच में आधा घण्टा, एक घण्टा ऐसा बीतता है जिसमें जप नहीं हो रहा है पर उसके बाद अकस्मात् जप चलने लगता है। ऐसा लगता है कि 'बीच में भी जप चलता रहा होगा, मुझे भान नहीं लेकिन जप चलता रहा।' मन को एकाग्र करने के बाद वह वृत्ति बनाना छोड़ने पर भी मन तदाकार चलता ही रहेगा। भ्रूमध्य के अंदर तुमने 'कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसम्' का अच्छी तरह चिंतन किया, उसके बाद ऊपर जाने पर भी यही चिंतन बना रहेगा। मन को चलाने में साधन कौन होता है? प्राण ही होता है। प्राण से ही मन चलता है। मन का चलना मतलब मन का क्रिया करना, और मन क्रिया तभी करेगा जब उसके साथ प्राण होगा। जैसे एक ही काँच में तुम को एक तरफ मुख दीखता है और दूसरी तरफ कुछ नहीं दीखता है, जिधर काला या लाल लगा होता है। मुँह दीखता है केवल आगे की तरफ। पीछे की तरफ वाला हिस्सा क्या बेकार है? अगर तुम उस काँच को बीच से फाड़ दो, फाड़ कर फिर सामने वाले हिस्से में देखो तो कोई

प्रतिबिम्ब नहीं दीखेगा, आर-पार दीखेगा, मुँह नहीं दीखेगा। जिधर प्रतिबिम्बित मुँह दीख रहा था, उधर दीखना चाहिए पर उधर दीखता नहीं है क्योंकि पीछे वाला हिस्सा नहीं रहा। आगे वाला हिस्सा मुँह दिखाता है पर पीछे वाला हिस्सा मौजूद हो तब, नहीं हो तो नहीं दीखेगा। पीछे वाली तरफ तुम चाहे जितना ध्यान दो, मुँह दीखेगा नहीं। मुँह दीखने के लिए वह है ज़रूरी पर फिर भी उसमें मुँह नहीं दीखता। इसी प्रकार मन के द्वारा क्रिया करने के लिए प्राण ज़रूरी है परंतु प्राण के अंदर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होगा तो मन के अंदर ही और मन की वृत्ति बनेगी प्राण से ही क्योंकि वह भी एक क्रिया है। योगियों ने इसी सिद्धांत का लाभ उठाया, उन्होंने देखा कि मन तो सूक्ष्म है इसलिए इसको लोग जल्दी नियंत्रित नहीं कर पाते। उसकी जगह यदि प्राण को रोक लिया जाए तो मन अपने-आप रुक जाता है। प्राणों को रोकने से मन को रोकना यह मनोनिरोध का एक प्रकार है। अपना जो प्राण है उसके सहारे से मस्तिष्क के अग्र भाग में जाकर, स्थित होकर, योग की धारणा करने की सिद्धि प्राप्त होती है जिस सिद्धि से साधक परमात्मलोक को जाता है।।१२।।

अगले श्लोक में कहते हैं कि मूर्धा में प्राण को स्थापित करने के बाद क्या कर्तव्य है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

ब्रह्म के एकाक्षरी नाम ॐ का उच्चारण करते हुए, उसके अर्थ मुझ ईश्वर का अनुचिंतन करते हुए जो प्रयाण करता है वह देह छोड़ते हुए परा गति पाता है।

'कविं पुराणम्' इत्यादि का चिंतन ओम् के आलम्बन में साधक करता है अतः उसी का व्याहार अर्थात् उच्चारण करते हुए शरीर से प्रयाण भी करेगा। यहाँ सब लोग बैठे हुए हैं, अकस्मात् हम कहें 'गजानन्द!' तो झट गजानन्द जी हमारी तरफ आ जाएंगे, यह स्वाभाविक है। जैसे ही हम उच्चारण करेंगे वैसे ही उनकी आँख हमारी तरफ हो जाएगी। ॐ परब्रह्म परमात्मा का नाम है। जैसे ही ओम् का उच्चारण होता है वैसे ही परमात्मा के कृपा-कटाक्ष हमारी तरफ हो जाते हैं, उनकी सन्निधि की प्राप्ति हो जाती है। जैसे नाम हमने ग-ज-आ-न-न्-द बोला लेकिन उस के जो वाच्य हैं वे हमारी तरफ उन्मुख हो जाते हैं, इसी प्रकार ओम् का उच्चारण करने पर परमेश्वर हमारी तरफ उन्मुख होते हैं क्योंकि वे ही ॐ का अभिधेय अर्थ हैं। उनका स्मरण करने पर और स्मरण किया नाम लेने पर उनका ध्यान भक्त की ओर चला जाता है अतः उनका अनुग्रह, कृपा-कटाक्ष उस पर पड़ते हैं, उसी समय वह शरीर छोड़ता है तो उत्तम गति पाता ही है। प्राचीन काल में साधक जब मरने लगते थे, तभी सावधान हो जाते थे। मरने के बाद तो कुछ नहीं कर सकते! नियम है कि मरते समय बिस्तरे में न होवे; अतः

गंगाजल से धरती साफ कर गोबर से लीप कर, उसके ऊपर कुशासन रख कर उसके ऊपर मरणासन्न को बैठा कर, भस्म इत्यादि लगा कर साथी लोग ज़ोर-ज़ोर से ॐ का उच्चारण करते थे कि उसका ध्यान उधर जाए। क्योंकि अधिकतर लोग साधक थे, इसलिए उनको वैसा करने का अभ्यास भी था अतः इस प्रकार उनको स्मरण दिलाया जाने पर कैसी भी स्थिति में उनका ध्यान उधर चला जाता था। हम लोगों की दृष्टि है कि मरने वालेको आगे जाने में जिससे मदद मिले, वह करो। हमारे यहाँ पुनर्जन्म है, मर कर उसका फिर जन्म होगा। जिन देशों के अंदर मनुष्य का मर कर फिर जन्म नहीं होता वे इसी जन्म को किसी तरह से लम्बा खींचते हैं। अतः बजाय मुमूर्षु को ज़मीन पर लेकर भगवान् का नाम-स्मरण कराने के, वैण्टिलेटर लगा देते हैं, अन्यान्य उपकरणों के सहारे दो-चार मिनट ज़्यादा सांस लिवाने की कोशिश करते हैं। उनको यदि कहें भी कि 'अब इसका अंतिम समय आ गया है, इसका संस्कार ठीक कर लेवें', तो मानते नहीं, सोचते हैं कि नीचे उतारेंगे तो झटका लग जाएगा, मर जाएगा! किन्तु साधक की सद्गति के लिये तो शुद्धिपूर्वक ब्रह्मध्यान सहित प्रणवोच्चारण करते हुए मरना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने केवल यह नहीं कहा 'यः प्रयाति' वरन् 'देहं त्यजन् प्रयाति।' अर्थात् देह-त्याग करते हुए जाता है। मरते समय सभी लोग देह को छोड़ते हैं। परंतु सामान्य जन देहाभिमान छोड़कर नहीं मरते। थोडा-सा ही फ़र्क है मरकर देहाभिमान छूट जाता है और देहाभिमान छूट कर मरते हैं। क्षणभर का ही खेल है। मरकर देहाभिमान तो सबका छूटता है, पर इस साधक का पहले देहाभिमान छूटता है, फिर वह जाता है। क्योंकि यावत् जीवन 'मैं शरीर नहीं, मैं चेतनरूप हूँ' ऐसा उसने निरंतर चिंतन किया इसलिए लम्बे समय के अभ्यास से उस समय भी शरीर से अध्यास उसका झट टूट जाता है। देहाध्यास को रखते हुए जो मरता है वह ब्रह्मलोक को नहीं जाता। मंद, मध्यम अधिकारी को विचार में लगता है कि 'मैं शरीर को जानता हूँ, इसलिए शरीर से अलग हूँ', बात समझ में आती है, पर जब तक जीवित है, तब तक कोई आकर ज़ोर से घूंसा मार देता है तो 'मुझे घूंसा लगा नहीं' ऐसा देहाध्यास छूटता नहीं। पहले तो यही लगता है कि 'मुझे घूंसा मारा', फिर विचार आता है कि 'शरीर तो मैं हूँ नहीं, इसने शरीर को घूंसा मारा तो मुझे नहीं मारा।' पर जितना भी विचार करो, थोड़ी देर के बाद अनुभव होता है कि 'यह तो ठीक है कि शरीर को मारा, फिर भी मारा तो मुझे ही है!' इसलिए देहादि के विकृत होने पर 'मैं विकार वाला नहीं', यह मंद, मध्यम बुद्धि वाले लोग स्थिर नहीं कर पाते। मरते समय जब तुम निश्चय करते हो 'मैं देह नहीं', तब आगे कोई प्रारब्ध-भोग तो बाकी है नहीं, इसलिए इसका विरोधी कोई प्रत्यय आएगा नहीं और ऐसी स्थिति में जो जाएगा वह परम गति को प्राप्त होगा ही। मरते समय जो ऐसा करता है वही परम गति को प्राप्त करता है। 'देहं त्यजन्' के द्वारा

भगवान् ने संकेत दे दिया कि देहाध्यास की निवृत्ति ही परम पद की प्राप्ति का कारण है।।१३।।

जो प्राणायामी है उसका कुछ हद तक स्वेच्छा-मरण है इसलिए वह तो बैठकर यथाविधि मर जाएगा। पर जो लोग ऐसे प्राणायामी नहीं हैं उनके लिये क्या उपाय है? प्राणायाम की साधना कोई सरल नहीं है, बड़ी कठिन है, जो वह न कर पायें उनका क्या होगा? वे तो प्रारब्ध-वश मरने वाले हैं। इस प्रकार अपने प्राणों को हृदय में लाकर मूर्धा में ले जाकर ओंकार से परमात्मा का चिंतन करते हुए जायें, ऐसी सामर्थ्य तो सबमें होती नहीं है। जिन्हें तत्त्व-ज्ञान हुआ नहीं और इस प्रकार के प्राणायामादि योग-अभ्यास करने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए क्या कोई उपाय नहीं? भगवान् अत्यन्त करुणा से कहते हैं कि उनके लिये भी उपाय है

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

हे पार्थ! अन्य विषयों में चित्त न लगाकर जो लम्बे समय तक लगातार मेरा स्मरण करता है उस सदा समाहित योगी के लिये मैं सुलभ हूँ।

जो मन्द-मध्यम अधिकारी प्राणायामादि का अभ्यास करने में असमर्थ हैं परंतु 'अनन्यचेताः' परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी तरफ जिनके चित्त की स्वाभाविक गति नहीं रह गयी है, उनके लिये उपाय है। 'परमात्मा से अन्य मैं नहीं' यह समझने से अनन्यचेता हैं, साथ ही 'परमात्मा से अन्य कुछ मेरे राग का विषय नहीं' इस निश्चय से भी अनन्यचेता हैं। वे केवल परमेश्वर को चाहते हैं। विवेकमंदताके कारण संसार-असत्यता की उनमें बुद्धि दृढ नहीं है, केवल समझते हैं कि संसार मिथ्या है किन्तु संसार को, संसार के किसी पदार्थ को नहीं पाना चाहते। साधारण साधक का यह अनुभव है कि विषय की इच्छा उठती है पर विवेक से निवृत्त हो जाती है, इच्छा पुनः परमेश्वर पर एकाग्र हो जाती है। विषयस्मृति आने पर भी अनन्यचेता उनकी तरफ प्रवृत्त नहीं होता। अनन्यचेतस्ता कितनी देर करनी है? 'सततम्', निरन्तर। मन अन्यत्र कहीं भी जाये तो तुरन्त वहाँ से हटाकर मुझ परमात्मा में स्थिर करना है। ऐसा कितने दिनों तक करना है? दस-बीस साल ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक करने का धैर्य रखना चाहिये। अनेक साधक साधना में प्रवृत्त होते हैं, कुछ समय करते हैं पर फिर हथियार छोड़ देते हैं। इसलिए भगवान् ने केवल 'सततं' नहीं, 'नित्यशः' भी कहा। नित्य के द्वारा दीर्घकाल को सूचित कर दिया। महर्षि पतञ्जलि ने भी दीर्घकाल का अभ्यास सफल कहा है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि छह महीना-सालभर नहीं, जब तक जिए तब तक उपासना करे। इस प्रकार से जो मेरा स्मरण करता है, चिंतन करता है, उसको ये प्राणायाम, योगाभ्यासादि किए बिना ही मैं सुलभ हूँ। प्राणायामादि के साधन से भी मैं

मिलता हूँ, पर वह कर पाना दुर्लभ है जबकि यह उपाय सुलभ है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसीलिए 'ईश्वर- प्रणिधानाद् वा' कहा कि परमेश्वर की शरण लेने से भी समाधि सिद्ध हो जाती है।

क्यों ऐसा सुलभ हो जाता हूँ? 'नित्ययुक्तस्य।' क्योंकि हमेशा ही वह अपना चित्त मुझ में रखता है, इस प्रकार नित्ययुक्त है इसीलिये मैं सुलभ हूँ। जैसे तुम मेले में जाते हो, तुम्हारे साथ कोई बच्चा है। या तो ठिकाना लिखकर उसके सीने पर चिपका दो और उसको भी समझा दो कि 'कोई कहे, 'हमारे साथ आओ।' तो नहीं जाना। अपना ठिकाना बतला देना, सावधान रहना।' यह एक तरीका है। दूसरा तरीका है कि लड़के को अंगुली पकड़ा दो। अब न ठिकाना लिखा है न उसको कुछ याद रखना है, बस अंगुली पकड़े रहना है। दोनों ही बच्चे घर आ जाते हैं जो अंगुली पकड़े हुए है वह भी घर आ ही जाएगा और जिस पर लिखा हुआ है और कह दिया गया है कि बच कर रहना, वह भी घर आ जाता है। इसी प्रकार जो योग की साधना करके जाता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है और जो अनन्यचेता परमेश्वर की हमेशा अंगुली पकड़े रहता है, वह भी नित्ययुक्त होने के कारण योगी है, हमेशा परमात्मा से उसका सम्पर्क बना रहने से वह परमात्मा को पा लेता है। यह सुलभ मार्ग भगवान् ने बतला दिया।।१४।।

भगवान् ने कहा कि मैं उसके लिए सुलभ हो जाता हूँ। प्रश्न होगा कि आपके मिलने से क्या होता है, क्या विशेषता है? मर के कहीं तो जाना ही है, आपको प्राप्त करने से क्या विशेषता होगी? उत्तर में भगवान् कहते हैं

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

परम संसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त महात्मा मुझे पाकर पुनः ऐसा जन्म नहीं पाते जो दुःखों का आश्रय व अस्थिर स्वरूप वाला है।

'माम् उपेत्य', मुझ ईश्वर से ऐक्य का जिसने अनुभव कर लिया, वह मुझ ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त किया हुआ फिर जन्म नहीं पाता, यह विशेषता है। जो मुझे प्राप्त नहीं करता है, वह जन्म-मरण के चक्र में रहता ही है। पितृलोक आदि चाहे जहाँ चला जाये, वहाँ से वापिस आता है, पुनर्जन्म होता है। पर मेरे भाव को प्राप्त किया हुआ फिर जन्म नहीं लेता। कोई पूछे कि जन्म तो अच्छी चीज़ है, लेने में क्या खराबी है? तब भगवान् ने कहा, जन्म कैसा है? 'दुःखालयमशाश्वतम्'। जन्म दुःख का आलय है अर्थात् दुःख का ही आश्रय है। जन्म होने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ये तीनों दुःख अवश्यम्भावी हैं। आध्यात्मिक अर्थात् शरीर के अन्दर होने वाले दुःख; सिर दूख गया, पेट दूख गया, घुटने में दर्द हो गया ये सब शरीर में होने वाले दुःख

आध्यात्मिक दुःख हैं। आधिभौतिक मच्छर ने काट लिया, बिच्छु ने काट लिया, साँप ने काट लिया, किसी ने गाली दे दी, निंदा कर दी, ये सारे आधिभौतिक दुःख, प्राणियों से होने वाले दुःख हैं। आधिदेविक रास्ते में जा रहे हैं, अकस्मात् ओले पड़ने लग गए, पहाड़ में जा रहे हैं, ऊपर से अकस्मात् कोई पत्थर गिर गया, कहीं भूकम्प आ गया; ये किसी प्राणी ने तो तुम्हें दुःख नहीं दिये हैं, न तुम्हारे शरीर के कारण ही हुए हैं, वरन् तुम्हारे पाप कर्मों का फल देने के लिए देवताओं द्वारा ही दिये गये हैं। इसी प्रकार शनि की साढ़े साती आ गई; वह किसी प्राणी ने दुःख नहीं दिया, तुम्हारे कर्मों के कारण दुःख उत्पन्न हो गया। जहाँ तुम्हारा शरीर भी कारण नहीं, दूसरा कोई देखने में आने वाला प्राणी भी कारण नहीं, फिर भी दुःख होता है वह दैव से ही होता है अतः आधिदैविक दुःख है। तीनों प्रकार के दुःख शरीर को आश्रित करके ही होते हैं। बिना शरीर का आश्रय किए हुए इनमें से कोई दुःख नहीं हो सकता। इसलिए इसको दुःखालय कहते हैं अर्थात् यह दुःख का ही घर है। जैसे जहाँ पर बर्फ ही बर्फ मिलती है उसको हिमालय कहते हैं हिम का आलय है, वैसे ही, शरीर दुःख का आलय है। हिमालय के अंदर भी बीच-बीच में पत्थर का टुकड़ा तो आता ही है परंतु फिर भी रहता वह हिमालय ही है। इसी प्रकार दुःख के झंझावातों के बीच में थोड़ा-सा सुख भी मिल ही जाता है, परंतु इतने मात्र से यह सुखालय नहीं हो जाएगा, रहेगा दुःखालय ही।

और कैसा है? 'अशाश्वतम्', स्थिर रहने वाली चीज़ नहीं है। जन्म में होने वाला सब अनवस्थित, अस्थिर है। कब क्या होता है, कुछ पता नहीं। अमेरिका में एक-दो मकान आतंककारियों ने जला दिये और हिन्दुस्तान में व्यापार डाँवाडोल हो जाता है! बिना किसी आशा के ऐसा हो जाता है। ऐसे ही परहेजपूर्वक स्वस्थ जीवन चलते-चलते अचानक रोग हो जाता है। जन्म से प्रारंभ होने वाले जीवन में सब चीज़ें अनवस्थित हैं। किसी घटना के लिये 'ऐसा ही होगा' यह निश्चय नहीं कह सकते।

जिन्होंने मुझ परमेश्वर को प्राप्त नहीं किया, वे सब दुःखालय और अशाश्वत जन्मादि के प्रवाह में चक्कर काटते रहते हैं। लेकिन जिसने मेरे साथ ऐक्य का अनुभव कर लिया उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि जिन्होंने मेरे भाव को प्राप्त कर लिया, वे महात्मा हो गए। महात्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता। महात्मा महान् अर्थात् निरवधिक, सबसे महान् ब्रह्म, उस ब्रह्म को जिन्होंने आत्मा के साथ एक करके समझ लिया कि जो महान् है वही आत्मा है, जो ब्रह्म है वही मेरा प्रत्यक् स्वरूप है। इस बात को जिसने समझ लिया वह महात्मा ही यति है। वह 'परमां संसिद्धिं' अर्थात् मोक्ष, परम मोक्ष को पा जाता है। शास्त्रों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, इनको भी मोक्ष कहते हैं। इष्ट के लोक में जाकर के रहना सालोक्य है। वहाँ पहुँच कर इष्ट के समीप रहो तो और ज़्यादा पास हो जाते हो अतः सामीप्य मिलता है। फिर सारूप्य, इष्ट का रूप तुम्हारा भी हो जाता है। इस प्रकार दूसरी मुक्तियों को भी शास्त्रों में कहा, वे भी

संसिद्धि हैं परंतु 'परम संसिद्धि' नहीं हैं। परम संसिद्धि तो इष्ट के साथ अभिन्न हो जाना है। जिन्होंने इस महान् को अपने आत्मा से एक करके समझ लिया वे उस परम संसिद्धि को अर्थात् इष्ट के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए फिर वापिस पुनरावृत्त होकर नहीं आते।।१५।।

प्रश्न उठता है कि आपको प्राप्त करके फिर नहीं आते तो क्या दूसरे भावों को प्राप्त करके वापिस आते हैं? भगवान् कहते हैं कि अन्य कुछ भी पाकर लौटते ही हैं

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक समेत सब भोग-भूमियों का स्वभाव है कि वहाँ से पुनरावर्तन होता है। मुझे पाकर पुनः जन्म नहीं ही होता।

जिसमें भूत अर्थात् प्राणी होते हैं उसको भुवन कहते हैं। ब्रह्मभुवन, जहाँ ब्रह्मा होता है अर्थात् सगुण परमेश्वर जहां होते हैं। ब्रह्मलोक से ऊपर अमुक लोक, उस लोक से ऊपर अमुक लोक इत्यादि पौराणिकों की कल्पनाएँ वेद में स्वीकृत नहीं हैं। वेद के अनुसार जब तुम परमेश्वर भाव को प्राप्त करते हो तब जिस इष्ट की तुमने आराधना की है वह इष्ट का स्वरूप ही वहाँ प्रतीत होगा। ऊपर-नीचे के लोकों की दृष्टि पौराणिकों ने अत्यन्त मंद बुद्धि वालों के लिए कह दी है, वस्तुतः ऐसा नहीं है। वैकुण्ठ, गोलोक आदि सब ब्रह्मलोक ही है, ब्रह्मभुवन ही है। वहाँ जाने वाले सब अपने इष्ट को मानते तो सगुण ब्रह्म ही हैं। सगुण ब्रह्म जो परमेश्वर है, जब वहीं जाकर वापिस लौटते हैं तो अन्यत्र सर्वत्र से लौटेंगे इसमें क्या कहना! क्यों लौटते हैं? वहाँ गए हैं तो वापिस भी लौटना पड़ेगा। ब्रह्मलोक में जाने वाले दो प्रकार से जाते हैं : एक तो पञ्चाग्नि इत्यादि जो उपासना-विशेष हैं, उन उपासनाओं को करके जाते हैं क्योंकि उनका वह फल बताया गया है। दहर-शांडिल्य आदि विद्याओं की उपासना करने वाले भी ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं। दहरविद्याका फल परमेश्वर से ऐक्य का अनुभव है जबकि पंचाग्निविद्याका वह फल नहीं। पंचाग्नि-उपासक ब्रह्मलोक को तो जाता है परन्तु ईश्वर के साथ एकता नहीं पाता, स्वयं को उससे सर्वथा अलग समझता है। एकता के *ज्ञान* वाले की तो यहीं मुक्ति हो जाती है, परन्तु जिसने एकता के *भाव* को किया है, एकता का जिसे ज्ञान नहीं हुआ है, वह ब्रह्मलोक जाकर, जब सृष्टिके बाद प्रलय का समय जाता है तब इष्टदेव के उपदेश द्वारा ज्ञान पाकर मुक्त हो जाता है। वेदादि शास्त्रों में कहीं कहा है कि ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन नहीं होता, कहीं कहा है कि होता है; अतः ब्रह्मसूत्रों में इस पर विस्तृत विचार आया है और यही निश्चय किया कि जो दहर, शांडिल्य इत्यादि विद्याओं का फल है वह तो परमश्वेर से एकभाव को प्राप्त होकर सृष्टि-समाप्ति पर इष्ट देव द्वारा प्रदत्त उपदेश से कैवल्यरूप मोक्ष है, जबकि पंचाग्नि आदि विद्याओं का फल

ब्रह्मलोक में विविध आनंद भोगते हुए रहना ही है और वह क्षयिष्णु, पुनरावर्ती ही है। परमेश्वर की उपासना स्वयं से अभेदेन, ऐक्य-अनुसंधानपूर्वक करनी चाहिये। जो भेद-दृष्टि रखेगा, उसकी भेद-बुद्धि ही दृढ होगी। भेदाग्रही भी उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक जा सकता है पर उसे अपुनरावर्ती फल नहीं मिल पाता। यदि तुम इष्ट के साथ भेद उपासना करते हो, तब वस्तुतः तुम इष्ट देव को परमेश्वर नहीं समझते, देवता-विशेष समझते हो इसलिए तुम उसके लोक को जाकर भी वापिस लौटते ही हो। अगर तुम परमेश्वर की अभेद-भावना से उपासना करते हो, तब वहाँ अभेद-भाव को प्राप्त करके फिर उस अभेद का अनुभव करते हो जिससे तुम को वापिस नहीं आना पड़ता। 'मामुपेत्य' एकमात्र मैं सगुण ब्रह्म ही ऐसा हूँ जिसको प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं है। ईश्वर को 'मैं' इस प्रत्यय से एकता को प्राप्त करा के उससे एक हो जाने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता, 'दुःखालयमशाश्वतं' जो पुनरावर्तन है, वह नहीं होता।

'कौन्तेय' के द्वारा भगवान् कह रहे हैं कि तू मेरी बुआ का लड़का है इसलिए मेरे साथ एकता का भाव रखना तेरे लिए कठिन नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो अपना नज़दीकी रिश्तेदार होता है उससे मनुष्य को एकता की प्रतीति होती है 'यह तो मैं ही हूँ, यह अपना ही है।'

कुछ लोगों ने अर्थ किया है कि 'आ ब्रह्मभुवनात्' अर्थात् ब्रह्मलोक से पहले तक। संस्कृत में 'आ' का दोनों अर्थो में प्रयोग मिलता है। 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' में अर्थ है समुद्र तक, समुद्र को छोड़कर वहाँ तक की धरती पर उनका राज्य था। तथा 'आनाकरथवर्त्मनाम्' में अर्थ है कि स्वर्गपर्यन्त उनका रथ जाता था। अतः 'आ' से दोनों भाव निकल सकते हैं। किंतु यहाँ ब्रह्मलोक को छोड़कर बाकी लोक यह अर्थ नहीं है क्योंकि लोक कोई भी ऐसा नहीं जहाँ जाया जाये और लौटना संभव न हो। अपुनरावृत्ति तो केवल तत्त्वज्ञान से होती है, वह चाहे जिस लोक में हो। 'तु' से कह रहे हैं कि जो 'मामुपेत्य' से पृथक् हैं वे सभी पुनरावर्ती हैं अतः ब्रह्मलोक भी उन्हीं में आ जाता है जो पुनरावर्ती लोक हैं। ब्रह्मलोक जाकर सभी नहीं लौटते, क्रममुक्ति के अधिकारी वहाँ मुक्ति पा जाते हैं यह उस लोक की विशेषता होने पर भी उसे पुनरावर्ती लोकों में गिना जाता है।।१६।।

जब कहा कि वहाँ से पुनरावर्तन होता है तब 'क्यों पुनरावर्तन होता है?' यह शंका हो सकती है। पुनरावर्तन इसलिए होता है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त जो कुछ है, वह सब काल से परिच्छिन्न है अर्थात् उस सबका किसी काल में प्रारम्भ है और किसी काल में समाप्ति है। इसलिए वे स्वयं काल से परिच्छिन्न हैं। जब उनका काल-परिच्छेद खत्म होगा तब वहाँ गये हुए तुम्हारा भी वहाँ रहना ख़त्म होना ही है। वे काल-परिच्छिन्न हैं, तो कितना काल है उनके परिच्छेद का यह बतलना ज़रूरी हो गया। इसको शास्त्रों में कहते हैं प्रसक्तानुप्रसक्त। जो बात कहने जा रहे हैं उसमें किसी की प्रसक्ति आ गई,

किसी की प्राप्ति हो गई, तो उसको भी वहीं बता देना। प्रायः हमारे शास्त्रों में ऐसे वचन नहीं आते कि 'इसके बारे में अमुक जगह देख लेना।' जो बात जहां जाननी ज़रूरी लगती है उसे वहीं कह देते हैं। पुनरावर्तिता में यह भी संभव है कि वहाँ गये जीव का पुण्य क्षीण हो जाने से वह लौट आये पर लोक बना रहे, और यह भी कि लोक का ही काल पूरा हो जाने से वहाँ जीव रह ही न सकने से लौट आये। इस पक्ष में बताना पड़ेगा कि लोक कब खत्म होते हैं? ब्रह्मलोक की समाप्ति का क्या समय है? अतः भगवान् कहते हैं

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जो लोग ब्रह्मा के दिन को एक हज़ार युगों तक रहने वाला और उनकी रात को भी एक हज़ार युगों तक रहने वाला जानते हैं, वे ही दिन-रात को सही समझते हैं।

चतुर्युगी को ही यहाँ युग कह दिया है। एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस हज़ार सालों की होती है। इतना लम्बा ब्रह्मा का दिन है। यहाँ 'ब्रह्मा' से अपना-अपना इष्ट देव समझ लेना चाहिये। और हज़ार युग अर्थात् उतनी ही उनकी रात्रि होती है। छियासी लाख चालीस हज़ार सालों के दिन-रात हो गए। इस बात को कौन कहते हैं? 'अहोरात्रविदः' जो दिन और रात का विश्लेषण करने वाले, गणित करने वाले ज्योतिषी लोग हैं। दिन और रात के रहस्य को वही जानते हैं। सबके लिए यह जानना सम्भव नहीं क्योंकि बहुत लम्बा चौड़ा हिसाबा करना पड़ता है।।१७।।

प्रश्न होता है कि यह बात कुछ समझ में नहीं आती। दिन का लक्षण होता है सूर्य के उदय से सूर्य के अस्त तक और रात्रि का परिमाण होता है सूर्य के अस्त से सूर्य के उदय तक। ऐसा सूर्य का अस्त और उदय ब्रह्मलोक में तो है नहीं। वहाँ दिन किसको कहते हैं और रात्रि किसको कहते हैं? तब भगवान् कहते हैं कि वहाँ उदय-अस्त सूर्य का नहीं, कुछ और है

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

ब्रह्मा जी का दिन होने पर स्थावर-जंगम सब व्यक्ति अव्यक्त अर्थात् सोये हुए ब्रह्माजी से प्रकट होते हैं और उनकी रात होने पर उन्हीं में लीन हो जाते हैं।

'अव्यक्ताद्'; जब प्रजापति सो जाते हैं, उस समय सारा संसार अव्यक्त हो जाता है। ठीक जिस प्रकार जब हम सो जाते हैं तब हमारी देखने की साधन आँख, सुनने का साधन कान, चखने की साधन जीभ, चलने का साधन पैर, पकड़ने का साधन हाथ, बोलने की साधन वाणी, ये सारे अप्रकट हो जाते हैं, इनमें से कोई चीज़ प्रकट नहीं

रहती है। इसी प्रकार जब हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सोने जाएगा, तब सभी की आँखें, सभी के कान, सभी के पैर, सभी के हाथ, कार्यकारी नहीं रहेंगे। दिन किसको कहते हैं? अव्यक्त से जब प्रजापति उठते हैं। तब सारी प्रजाएँ प्रकट हो जाती हैं। सभी के आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि सब काम करने लग जाते हैं। दिन कब शुरू हुआ? जब प्रजापति जग गए अर्थात् हम सारे जग गए, सबकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि काम करने लग गए। वेदान्त ग्रन्थों में प्रायः अव्यक्त का मतलब होता है मूल अक्षर, परंतु यहाँ वह अवस्था अभिप्रेत नहीं है क्योंकि मूल प्रकृति की स्थिति तो तब होगी जब आकाश-पर्यन्त सब अव्यक्त हो जाएगा। अर्थात् जब प्रजापति के सौ साल पूरे हो जाएँगे। यह जो दिन-रात का हिसाब बतला रहे हैं, इस हिसाब से सौ साल का जीवन होता है ब्रह्मा का। यहाँ रात है बीच में होने वाले प्रलय। ठीक जैसे हमारे आँख कान इत्यादि सब काम करना बंद कर देंगे और ऐसा बंद करेंगे कि फिर प्रकट नहीं होंगे, तब उसका नाम है मृत्यु! और जब हम सोने जाते हैं तब भी ये सब काम नहीं करते, लेकिन थोड़ी देर में फिर काम करने लगते हैं, उसे कहते हैं सोना। सोकर उठोगे तो तुम्हारे आँख कान नाक सब काम करने लग जायेंगे। जब ब्रह्मा जी के सौ साल पूरे होंगे तब तो यह संसार वापिस व्यक्त नहीं होगा, सब कुछ अव्यक्त में चला जाएगा। तब मूल प्रकृति की स्थिति होगी। यहाँ तो अव्यक्त से मतलब है प्रजापति की सुषुप्ति। ब्रह्माजी की सोने की अवस्था को ही यहाँ अव्यक्त कह दिया है। सभी कुछ जो है वह जब अभिव्यक्त हो जाता है तब उसको अहरागम कहते हैं, दिन का आ जाना कहते हैं। 'तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।' जिसे प्रथम पंक्ति में अव्यक्त कहा उसी में रात आने पर सब व्यक्तियों का प्रलय हो जाता है, सब प्रलीन हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के काल-परिमाण को बतला दिया। काल-परिमाण बतलाना ज़रूरी इसलिए था ताकि पता चले कि ब्रह्मलोक में गये हुए का कब पुनरावर्तन होता है। हर बार जब प्रजापति उठते हैं तब ये सब उठ जाते हैं। परंतु जो परमात्मा से एकता को प्राप्त हो गये हैं, वे फिर नहीं उठते। यह 'मामुपेत्य' की महत्ता है।।१८।।

व्यक्ति यदि रात को लीन हो जाते हैं तो उनके किये कर्मों का क्या होता है? सुबह जो प्रकट होते हैं वे सुख-दुःख किसके अनुसार पाते हैं? लीन हुए जीव अनायास ही संसार से बच जाते हैं तो मोक्षार्थ प्रयास का विधान क्यों किया गया है? इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् बताते हैं कि प्रकट वही होता है जो अप्रकट हुआ, नया प्रकट होता हो, ऐसा नहीं है

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१६।।

हे पार्थ! (जो पूर्वकल्प में था) वही प्राणिसमुदाय (अविद्या-काम-कर्म के) परतंत्र

रहते हुए ब्रह्माजी का दिनआने पर प्रकट होकर उनकी रात आने पर प्रलीन हो जाता है और ऐसा प्राकट्य-प्रलय का क्रम चलता रहता है।

'स एव', वह ही; जो सामने नहीं होता है उसी को 'वह' शब्द से कहते हैं। सामने वाले आदमी को तो 'यही आदमी' कहोगे और जो सामने नहीं है उसे 'वह आदमी' कहोगे। वह अर्थात् जो व्यक्त से अव्यक्त हुआ था, और 'अयं' हो गया जो प्रकट है, सामने है। वही यह भूतग्राम; सब भूतों आकाश, वायु, तेज इत्यादि का और इनसे बने हुए सब शरीरों का समुदाय। भूतों के ही सूक्ष्म अंशों से सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, प्राण ये सभी बने हैं। जो व्यक्त अव्यक्त में गया था वही फिर बाहर आता है। इसमें अपने को दृष्टान्त बना कर समझ लेना चाहिए जब हम सोने जाते हैं तब हमारी इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। और जब गहरी नींद से उठते हैं तब वापिस वे ही व्यक्त होती हैं। अगर सोते समय हमारी आँख कमज़ोर थी तो उठते हैं तो भी वही कमज़ोर आँख मिलती है। अगर कम सुनने वाला कान था तो उठने पर फिर कम सुनने वाला ही कान होता है। अगर संस्कृत पढ़ा हुआ हमारा अन्तःकरण था तो उठने पर संस्कृत पढ़ा हुआ ही रहता है। जो भी हमारी इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि हैं, वे सोने के पहले जैसे थे वैसे ही फिर मिलते हैं। इससे पता लगता है कि दूसरी आँख नहीं आई है, वही आँख है, दूसरा कान नहीं आया है, वही कान है, दूसरा अन्तःकरण नहीं आया है, वही अन्तःकरण है क्योंकि उसमें जैसे संस्कार आदि थे वैसे ही इसमें हैं। जैसे शरीर वैसे उनमें अभिमानी जीव; जो जीव लीन होते हैं वे ही पुनः प्रकट होते हैं। कर्म-फल-व्यवस्था कायम रहती है। जैसे कर्म करने में जीव पूर्व कल्प में स्वतन्त्र था वैसे ही कर्म करने में फिर स्वतन्त्र होता है। इसलिए हर कल्प में वही कथा होगी ऐसा नहीं है। पैदा तो वे ही होंगे लेकिन पैदा होने के बाद कर्म करने में स्वतन्त्र होने से, पहले जो किया है, वही अब करेंगे ऐसी बात नहीं है। सुषुप्ति से उठने पर भी यही है। सोने के पहले मैं सोच रहा था, 'उस आदमी को मार कर ठीक कर दूंगा।' सोकर उठता हूँ, इतना संस्कार तो रहता है कि 'इसने हमारी बुराई की, इसको दंड मिलना चाहिए।' लेकिन वह जो निश्चय था कि 'इसको मार कर ठीक कर दूंगा।' वह निश्चय कभी रह जाता है, कभी नहीं भी रहता है। प्रायः करके जब आदमी सो कर उठता है, कुछ-न-कुछ शांत होकर उठता है। उठने के बाद जैसे तुमने कल किया था, वैसा तुम अब नहीं करोगे, कुछ-न-कुछ फ़र्क होगा। कुछ उसके जैसा करोगे, कुछ नया भी करोगे। इसलिए वही *पैदा होगा,* यह तो निश्चित है लेकिन आगे इस कल्प में भी वैसा ही *करेगा* जैसा उस कल्प में, ऐसी कोई बात नहीं है। ब्रह्मा जी की रात्री आने पर अर्थात् जब प्रजापति सोने जाते हैं तब यह सारा अव्यक्त भाव को प्राप्त हो जाता है, लीन हो जाता है। और 'अहरागमे', जब दिन वापिस आता है तब 'प्रभवति', वह फिर उत्पन्न हो जाता है। 'अवशः' जो व्यक्त होने वाले हैं उनके वश में यह प्रक्रिया नहीं है, प्रजापति के उठने

पर व्यक्त होगा ही और प्रजापति के सोने पर अव्यक्त होगा ही। लीन होना और प्रकट होना इसमें जीवों को स्वतन्त्रता नहीं है। परतंत्र होकर, प्रजापति के परतन्त्र होकर ऐसा होता रहता है। इस प्रकार से भगवान् ने अव्यक्त और व्यक्त भावों में कोई नवीनता नहीं होती, इतना मात्र कह दिया। सूर्योदय के दृष्टान्त से समझ लो। सूर्य उदय होता है तो नई चीज़ों को तो पैदा नहीं करता! जहाँ जो पेड़ है, वहीं वह पेड़ है, जहाँ जो घड़ा रखा है, वहीं है। सूर्य के आने से केवल प्रकट हो जाता है, रहता जैसा है वैसा ही है। इसी प्रकार प्रजापति के जगने पर भूतग्राम जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है, इसमें जीव की स्वतन्त्रता कुछ नहीं है।।१९।।

जिस अक्षर की प्राप्ति के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया था उसके स्वरूप को बतलाते हैं

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो ऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

अविद्यारूप अव्यक्त से भिन्न, उससे विलक्षण तो जो चिरंतन अनिन्द्रिय अक्षर ब्रह्म है वह सब भूतों के नष्ट होने पर (भी) नष्ट नहीं होता।

'तस्मात्' यह सब जो व्यक्त और अव्यक्त होता है, उससे ब्रह्म 'परः भावः' परे है अर्थात् उससे भिन्न है। 'तु' यह बतलाने के लिए है कि जिस अक्षर को कहने जा रहे हैं वह व्यक्त और अव्यक्त से अलग है। व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों ही उसके स्वरूप नहीं, वह दोनों से परे है। परभाव क्या है? अक्षर ब्रह्म। भिन्न होने पर भी दोनों एक जैसे हो सकते हैं पर यहाँ ऐसा नहीं इसलिए 'अन्यः' कहा अर्थात् उससे विलक्षण है। वह भाव कैसा है? 'अव्यक्तः', यह प्रथमान्त अव्यक्त उस पंचम्यन्त अव्यक्त से अलग है अर्थात् परमेश्वर इन्द्रियों के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता इसलिए अव्यक्त है। चूंकि अव्यक्तता दोनों जगह एक जैसी है प्रलय काल के अंदर भी इन्द्रियों से कोई ज्ञान नहीं होगा और परमेश्वर का भी इन्द्रियों से कोई ज्ञान नहीं होगा अतः दोनों को ही अव्यक्त कहा जाता है। परंतु प्रजापति की स्वापावस्था से परमेश्वर भिन्न है। प्रजापति की जाग्रत् अवस्था से भी विलक्षण है, और प्रजापति की सोने की अवस्था जो अव्यक्त है, उससे भी भिन्न है। क्या भेद है? तो कहा वह सनातन है। प्रजापति की स्वापावस्था जो अविद्या है, वह सनातन नहीं है क्योंकि उसका नाश हो जाता है। परमेश्वर के ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है। वह अविद्या सारे भूतग्रामों का बीज है। ऐसे समझ लो : सारा पेड़ किस में अव्यक्त हो जाता है? बीज में। बीज को देखो तो *उसमें* कुछ नहीं दीखेगा लेकिन उस बीज को खाद-पानी मिलने से उसके अंदर का सारा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार बीज भी अव्यक्त है। किंतु उस बीज को तुमने भून दिया तो कहा वह भी बीज जाता है, लेकिन अब कितना भी खाद और पानी दो, भुजा

बीज आगे वृक्ष को उत्पन्न करने में असमर्थ है क्योंकि उसमें अब वृक्ष छिपा रह नहीं गया। ठीक इसी प्रकार से प्रजापति की स्वापावस्था वाला जो अव्यक्त है, अविद्या है, वह सारे भूतग्रामों का बीज रूप है इसलिए पुनः प्रजापति के उठने पर भूतग्राम प्रकट हो जाता है। परंतु ज्ञान से जब उस अविद्या का बाध हो जाता है तब उससे आगे कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा दूसरे दृष्टान्त से समझ लो जब हम सोते हैं तब भी हमारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हमारे में लीन हो जाते हैं, बाहर तो रहते नहीं। लेकिन अगले दिन सवेरे फिर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि बीजभूत मौजूद है। परंतु मरे हुए आदमी के फिर आँख कान बाहर निकल कर आते नहीं। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा का ज्ञान हो जाने के बाद फिर भूत प्रकट नहीं होते। इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिए परमात्मा को अव्यक्त कहते हैं, और इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिए प्रलय काल में या सुषुप्ति काल में भी अव्यक्त कहते हैं। यह तो दोनों की समानता है। किंतु हैं दोनों पृथक् अतः कहा 'अन्यः'। परमेश्वर की अव्यक्तता भुने हुए बीज की तरह है जबकि प्रजापति की स्वापावस्था, जो उगने में सफल हो जाएगा ऐसे बीज की तरह है। न पके बीज में वृक्ष दीखता है, न भुने हुए बीज में वृक्ष दीखता है परंतु भुने बीज से आगे पैदा होगा नहीं और दूसरे में व्यक्त होने वाली अव्यक्त अवस्था है।

परमात्मा 'सनातनः' सनातन है, हमेशा एक जैसा रहता है। व्यक्तावस्था के अंदर भी वह वैसा ही रहता है जैसा अव्यक्तावस्था में। अव्यक्त *अवस्था* तो व्यक्त *अवस्था* में नहीं है परंतु परमेश्वर का पर भाव सनातन होने के कारण एक-सा है। 'सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति' जितने जड-चेतन व्यक्त भाव हैं वे सारे नष्ट होने वाले हैं, लेकिन उनके नष्ट होने पर भी परमात्मभाव नष्ट नहीं होता, एक-जैसा ही बना रहता है। इसलिए वह सनातन है। व्यक्त काल में भी है और अव्यक्त काल में भी है परंतु खुद व्यक्त और अव्यक्त नहीं होता। सारे नष्ट होने वाले पदार्थों के अंदर वह एक-जैसा रहता है इसलिए सनातन है। 'सर्वेषु भूतेषु' इसलिए कहा कि प्रजापति ब्रह्मा के भी नष्ट होने पर वह नष्ट होता नहीं। जैसे हमारी सौ साल की उम्र मानी गई है वैसे ही प्रजापति ब्रह्मा की भी सौ साल की उम्र है। श्लोक १७ में जो दिन बतलाया उस हिसाब से ब्रह्मा जी की सौ साल की उम्र है। जब सौ साल ख़त्म होंगे तब वे भी नष्ट हो जाएँगे। लेकिन उनके नष्ट होने पर भी वह सनातन भाव एक-जैसा रहेगा।।२०।।

वेदोक्त होने से यह सनातन भाव प्रामाणिक है यह कहते हैं

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

जिसे पाकर संसार में नहीं लौटते वह मुझ विष्णु का खास पद (स्वरूप) है, अव्यक्त और अक्षर शब्दों से कहा गया है, उसे निरतिशय गति बताते हैं।

सारे भूतों में, सब जगह मौजूद है परंतु इन्द्रियों का अविषय होने से हमारे लिये अव्यक्त ही रहता है। हम लोगों के संस्कार में दृढ है कि जो इन्द्रियों से विषय हो जाए वह सच्चा है और बाकी काल्पनिक है, सच्चा नहीं है! ऐसा हम लोगों के अंदर एक भाव बैठा हुआ है। इसलिये लगता है कि यदि परमात्मा होता तो इन्द्रियों का विषय होता, इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए परमात्मा है ही नहीं, काल्पनिक है! अधिकतर लोगों की यही धारणा है कि 'ये सब मानी हुई चीज़ें हैं।' परंतु कभी विचार करो, जो तुम *खुद* हो, 'मैं हूँ', वह किसी इन्द्रिय का विषय है क्या? तुम खुद अपने को क्या आँखों से देखते हो, कान से सुनते हो? किस इन्द्रिय का विषय हो? किसी इन्द्रिय का विषय नहीं कह सकते। तो क्या तुम काल्पनिक हो! अनात्मवादी तो कह देता है कि आत्मा काल्पनिक ही है। परंतु 'मैं काल्पनिक हूँ' ऐसा निश्चय क्या सामान्य तरह संभव है? बाह्य पदार्थों को इंद्रियों से विषय मैं करता हूँ। यदि मैं ही कल्पनिक हूँ तो पदार्थों का विषय होना भी काल्पनिक ही होगा, और विषय हुए रूप से अतिरिक्त पदार्थों में कोई प्रमाण ही नहीं तो बाह्य अर्थ भी काल्पनिक हो जाएंगे, अर्थात् 'मैं' को न स्वीकारने पर 'यह' भी कुछ स्वीकार्य नहीं रहेगा जो उन्हें जँचता नहीं जो सिर्फ ईश्वर को काल्पनिक मानना चाहते हैं। परमात्मा सब जगह पर रहते हुए भी प्रकट नहीं है अतः अव्यक्त कह दिया गया। इसके प्रकट होने का सीधा स्थान 'मैं' है। परमात्मा सर्वत्र मौजूद है परंतु इन्द्रियों का विषय नहीं होता। मैं आत्मा भी इन्द्रियों का विषय न होते हुए निश्चित रूप से सच्चा हूँ। 'मैं नहीं हूँ', ऐसी कल्पना कोई कर कैसे सकता है क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' की कल्पना करोगे 'मैं' होगा तभी! इसलिए यह जो 'मैं' इन्द्रियों का अविषय होते हुए मैं- रूप में प्रकट होता है, यह परमात्मा का ही रूप है। उसी अक्षर को अव्यक्त कहा है।

उस अक्षर ब्रह्म को ही 'परमां गतिम् आहुः', वही परम गति है क्योंकि वही सबका आश्रय है। कभी थोड़ा भी विचार करो तो समझ जाओगे कि किसी भी चीज़ की सिद्धि अन्ततोगत्वा मैं के साथ संबंधित होकर ही होती है। अन्तःकरण की वृत्ति बना कर मैंने साक्षात् घड़े को जान लिया, तभी मैं घड़े को सच्चा मानता हूँ। अथवा किसी भले आदमी के कहने से उसके शब्द को मैंने सच्चा मान लिया तब मानता हूँ। वास्तविकता का निर्णय इसी से होता है कि मुझ से संबंध वाला है। आगे 'मैं' किसी से संबंध वाला होकर तो निश्चय वाला नहीं हूँ, मैं तो स्वप्रकाश हूँ। 'मैं हूँ', ऐसा निश्चय करने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता। हर-एक चेतन जानता है कि 'मैं हूँ'। कोई भी आदमी यदि डाक्टर से जाकर कहे 'डाक्टर साहब, जरा नाडी देखकर पता लगाइए कि मैं हूँ या नहीं?' तो वह कहेगा 'भाई, तू तो किसी पागलखाने में भर्ती हो जा!' बाकी सब चीज़ों की परीक्षा तो डाक्टर कर लेगा, लेकिन 'मैं हूँ या नहीं', इसकी कैसे परीक्षा करेगा! इसलिए यह जो 'मैं' के द्वारा प्रकट होने वाला प्रत्यग् आत्मा है, यही सबकी परम गति

है। इसके आगे और कोई गति नहीं है। परंतु ऐसा होने पर भी कठिनाई क्या है? 'मैं हूँ' ऐसा निश्चय होने के साथ ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ आ जाती हैं। 'मैं आदमी हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ।' ये भाव 'मैं' के साथ हमेशा मौजूद रहते हैं। ये सब जो जुड़ी हुई चीज़ें हैं इन्हें विवेक विचार के द्वारा जब हटा देते हैं तब सबके हट जाने पर जो नहीं हटेगा, वह जो बचा हुआ है, उसी को आत्मा कहते हैं। अतः ब्रह्मभाव की प्राप्ति का केवल तात्पर्य है कि ब्रह्मता को काटने वाली जितनी चीज़ें हैं वे हट जाएँ। सामान्य दृष्टान्त समझ लो : आकाश सर्वव्यापक है। आकाश मायने खाली जगह। खाली जगह सब जगह व्यापक है। तुम कहीं घूमने जा रहे हो। दो दिन के लिए जाना है। इसलिए एक ही बक्से में पति-पत्नी दोनों सामान रख लेते हो। यदि पत्नी के सामान से ही बक्सा भर जाये तो कहते हो 'अरे, थोड़ी जगह मेरे लिए कर दो।' जगह खाली कैसे हो? जगह को कहीं से लाया नहीं जाता है कि जगह नहीं थी, ले आए। जगह तो वहाँ है ही। उसमें जो पत्नी के कपड़े थे, उनमें से चार कपड़े हटा देते हो, बस जगह हो जाती है। कहते यही हो और व्यवहार भी यही है कि 'जगह करो', पर *जगह* नहीं की जाती, कुछ चीज़ें हटाई जाने से जगह अपने आप है ही। ठीक इसी प्रकार से इन सब शरीर आदि को हटा दो तो आत्मा है ही। इसी को उसकी प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए कहा 'यं प्राप्य'।

इस भाव को प्राप्त करके फिर 'न निवर्तन्ते। जन्म-मरण इसीलिए होता है कि हम अन्य भाव को पकड़े हुए हैं। आत्मा से अन्य, परमात्मा से अन्य किसी भाव को पकड़े हुए हैं, उसी के कारण जन्म होता है। जब एक बार इन सब भावों को छोड़ दिया तो फिर वापिस लाने वाला कोई भाव रहा नहीं, इसलिए फिर कभी संसार के अंदर आना पड़ता नहीं। 'तत्', वह जो स्थान है अर्थात् वह जो स्थिति है, वही 'मम परमं धाम' मुझ पर ब्रह्म परमात्मा का परम धाम है। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' में कहे भुवन मायने भी धाम ही है। परंतु इस परम धाम को छोड़ कर अर्थात् परमात्म-भाव को छोड़ कर और जितने धाम हैं वहाँ से तो निवृत्त होते हैं परंतु एक बार जब इस परम धाम को प्राप्त कर लिया, अर्थात् आत्मस्वरूप से परमात्मभाव का निश्चय कर लिया तब फिर निवृत्ति नहीं होती। वही भगवान् का परम धाम है जहाँ से वापिस लौटना नहीं पड़ता। यहाँ धाम का मतलब कोई देश-विशेष नहीं है! जहाँ *जाओगे* वहाँ से लौट कर आना पड़ेगा क्योंकि जो चीज़ तुमको ले गई है वह वापिस ले आएगी। जब अपने व्यापक भाव में स्थित हो गए तो कहीं जाना ही नहीं रहा इसलिए आना भी नहीं है। उसी को भगवान् ने कहा 'तद्धाम परमं मम'।।२१।।

उस धाम की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

हे पार्थ! जिसके मध्य सब भूत हैं, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, वह निरतिशय पुरुष तो अन्य अर्थात् अनात्मा को विषय न करने वाली भक्ति से लभ्य है।

'परः' अर्थात् निरतिशय। पुरुष जो शरीर आदि सबको पूर्ण कर देता है वही पुरुष है। सृष्टि के प्रारंभ में आँख, कान, नाक सब बन गए, देवता भी आ गए, फिर भी इसने कुछ नहीं किया, अपूर्ण रहा। तब परमेश्वर ने सोचा कि 'मेरे बिना यह कैसे चलेगा!' घर में टेलीविजन भी है, रेफ्रिजरेटर भी है, गीज़र भी है, बल्ब भी है, ट्यूब लाईट भी है, पंखा भी है, एयरकंडीशनर भी है; सब चीज़ें तुमने रख दीं पर सब बेकार हैं, अपूर्ण हैं क्योंकि पूर्ण तो तब होंगे जब बिजली का कनैक्शन लोगे! बिजली के बिना सब अपूर्ण है। इसी प्रकार सब चीज़ें परमात्मा से ही पूर्ण होती हैं, उनके बिना सब अपूर्ण हैं। वह परमात्मा हमारे अंदर अहम्-भाव से स्थित है। यदि इस अहम्-भाव को हटा देते हो तो वह पूर्ण रूप से स्थित है। शरीर को पूर्ण करने वाला परमात्मा ही है परंतु शरीरमात्र को पूर्ण करता है अहम् के द्वारा जबकि अहम् हटकर सारे संसार को पूर्ण करता है। पुरुष तो अहम्-भाव वाले को भी कहते हैं क्योंकि इसके आने से पूर्ण हो गया, परंतु इस भाव में *जो* आया वह परमात्मा ही पूर्ण है। जैसे आकाश ही घटाकाश है वैसे परमात्मा ही अहम् है। कहते हो 'बीस लीटर की बाल्टी है।' उसमें बीस लीटर क्या है? यही कहोगे कि बीस लीटर की जगह है। और बाहर? बाहर तो चाहे जितना रखो, असीम जगह है, सारा संसार बाहर रह रहा है। जब तक बाल्टी है तब तक तो उसमें बीस लीटर की जगह और जैसे ही बाल्टी को तुमने फोड़ दिया, वैसे ही कितनी जगह रह गई? असीम, जो पहले से थी, बाल्टी की चार-दीवारी ने जिसे सीमित कर रखा था, सीमा चली गई तो वही असीम जगह रह गयी। इसी प्रकार से उस परब्रह्म परमात्मा का अहम् के अंदर रहना है। वह तो तब भी परिच्छिन्न नहीं है लेकिन अहम् के कारण परिच्छिन्न *लग* रहा है। जैसे ही अहम् भाव जाता है वैसे ही वह अपरिच्छिन्न *हो* जाता है।

'अनन्यया भक्त्या लभ्यः' वह पुरुष अनन्य भक्ति से मिलता है। वह अन्य नहीं है ऐसा आत्मविषयक प्रेम अनन्य भक्ति है। इसे ज्ञानलक्षणा भक्ति भी कहा अर्थात् यह प्रामाणिक निश्चय कि मैं के द्वारा जो परमात्मा से अन्य जाना जा रहा है वह परमात्मा से अन्य है नहीं, यह हुआ अनन्य प्रेम, उसी से परमात्मा मिलता है। 'यस्य अन्तःस्थानि भूतानि' जितने जड-चेतन भूत हैं वे सारे उस पुरुष के अंदर ही हैं। प्रत्यग्रूप से उसका ज्ञान होता है परंतु है वह जिसके ऊपर सारे संसार की कल्पना है। सारा जड-चेतन-जगत् उसके अंदर ही है। बिजली आने पर बिजली से चलने वाले उपकरण

चलते हैं। इसका मतलब है कि बिजली ही सबके अंदर जाकर उन्हें चला रही है। अतः वे सब चीज़ें बिजली के अंदर ही हैं, दीखती बाहर हैं। इसी प्रकार पुरुष के अंदर सारे भूत हैं। कार्य कारण में रहता है। जैसे जितने गहने हैं वे किसमें रहते हैं? स्वर्ण के पिण्ड में, सोने के पिण्ड में रहते हैं। उसमें से कारीगर चाहे जितने गहने बना ले किंतु हैं सब सोने में ही। उसी प्रकार से सारी सृष्टि का कारण जो परमात्मा है, उसके अंदर ही यह सारा जगत् स्थित है। अज्ञान के कारण सब भूत उसी से प्रकट होते हैं और ज्ञान होने पर कोई रहते नहीं। सोने को तुमने पिण्ड में देखा है, गिन्नी में देखा है, गहनों में देखा है, सब जगह स्वर्ण को देखा है, लेकिन जब तुम रसायन-शास्त्र पढ़ते हो तब इनमें से किसी की गिनती नहीं होती! सोने की क्या विशेषतायें हैं, क्या उसके गुण-धर्म हैं इसी का विश्लेषण होता है। सोने का रंग, सोने का विशिष्ट घनत्व, सोने का गलनांक इत्यादि का ही निर्धारण किया जायेगा। जो गहने तुमने देखे हैं उनका जिक्र नहीं होगा। सोने का जो असली रूप है उसी का विचार होता है। जहाँ भी सोना मिलेगा, वहाँ वे गुण-धर्म मिलेंगे। जहाँ कड़ा मिलेगा, वहाँ बाजूबंद नहीं मिलेगा, जहाँ बाजूबंद मिलेगा वहाँ तेड़िया नहीं मिलेगा, जहाँ तेड़िया मिलेगा! वहाँ अशरफी नहीं मिलेगी, इसलिये ये स्वर्ण के असली रूप नहीं हैं। 'इदं' जो व्यक्तरूप संसार है, उस सबके अंदर वह परम पुरुष कारणरूप से मौजूद है। मोटी दृष्टि से समझ लो संसार में हर चीज़ 'है'- रूप से ही मौजूद है। 'घड़ा है', 'कपड़ा है', 'है'- रूप तो सर्वत्र मिलेगा, वही सद्रूप परमात्मा है। इसी प्रकार हर-एक का ज्ञान है, वह 'चिद्रूप' परमात्मा है। यदि कोई कहे कि अमुक चीज़ है, उस का ज्ञान से कोई संबंध नहीं है; न किसी ने उसको जाना है, न जान सकता है, न उसके जानने में कोई प्रमाण है; तो क्या कहोगे? 'गप्प मार रहे हो!' अगर कोई कहता है 'मैंने नहीं जाना लेकिन अमुक ऋषि ने कहा है', तब तो बात मान सकते हो, पर अगर कहे 'उसको न किसी ने जाना, न कोई जान सकता है। उसका ज्ञान से कभी संबंध नहीं होता है', तो इसे गप्प मानोगे। संसार में जो भी चीज़ है वह सद्रूप और चिद्रूप है। किंतु केवल सद्रूप में न होकर के किसी चीज़ के साथ वाले है- रूप में है, जैसे घड़ा है; किसी चीज़ के साथ वाले ज्ञानरूप में है, जैसे घड़े का ज्ञान; इसलिए कहा कि उस पुरुष से यह सारा संसार व्याप्त है। परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही लभ्य है। भगवान् ने पहले भी योग की प्रणाली से प्राप्य कहकर जो योग करने में समर्थ नहीं है, उसके लिए कहा था 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।' 'अनन्यचेताः' को यहाँ कह दिया 'अनन्यया भक्त्या', उसके द्वारा परम पुरुष प्राप्त होता है।

परम पुरुष से मैं अलग नहीं हूँ इस प्रकार से अपने से एक जान कर जो प्रेम किया जाता है वही अनन्य, परम है। जो अपने से भिन्न होता है वह अपने लिए प्रिय होता है परंतु मैं खुद किसी *के लिए* प्रिय नहीं हूँ। मैं खुद तो स्वभाव से प्रिय हूँ। बाकी सब

चीज़ें मुझे अपने लिये प्रिय होती हैं अतः उनसे कभी परम प्रेम नहीं होता, वह प्रेम अपने लिए होता है। जिस प्रकार से पुत्र का कोई मित्र है, उसके साथ घर आता है। पुत्र कहता है 'यह मेरा बहुत अच्छा दोस्त है', तो माँ उसे बढ़िया-बढ़िया पकौड़े बना कर खिलाती है। फिर थोड़े दिनों बाद कुछ दिन वह लड़का आता नहीं, माँ पूछती है, 'अरे, तेरा दोस्त आता क्यों नहीं?' वह कहता है, 'वह काहे का दोस्त है! उसके साथ तो लड़ाई हो गई, कुट्टी हो गई।' उस दोस्त के प्रति जो माँ का प्रेम था, वह तो लड़के के लिए था। जब वह लड़के को प्रिय नहीं रहा तब उसे भी प्रिय नहीं रहा। ठीक इसी प्रकार सूर्य जिसका इष्ट देवता है वह भी ज्येष्ठ की तपती धूप में बाहर नहीं निकलना चाहता। क्यों? जानता है कि सूर्य में इस सयम जाने से मुझे दुःख होगा। इष्ट देव भी प्रिय है क्योंकि उससे मुझे सुख होता है। मुझे दुःख होने लगे तो वहाँ से भी प्रेम हट जाता है! इसी तरह, तुम्हारे पास एक बहुत बढ़िया नीलम की अंगूठी है, बहुत सावधानी से रखते हो, बड़ी प्रिय है। यात्रा में जा रहे हो, चोर आता है, बंदूक दिखाता है, कहता है 'अंगूठी उतार दे नहीं तो मारता हूँ गोली।' खट उतार कर उसको दे देते हो! क्यों दे देते हो? 'अंगूठी नहीं दूँगा तो मुझे गोली मारेगा' यह जानते हो। अतः अंगूठी के प्रति जो प्रेम है, नीलम के प्रति जो प्रेम है, उसकी अपेक्षा मुझे अपने आप से ज़्यादा प्रेम है। परमेश्वर को जब तक अपने से अन्य समझते हो तब तक प्रेम इसलिए है कि परमेश्वर से मेरी कामना सिद्ध होगी, कामना चाहे सांसारिक हो, चाहे देवादि लोकों की हो। परंतु जब परमेश्वर को मैं अपना स्वरूप जानता हूँ तब परमेश्वर से जो प्रेम होता है, वह परम प्रेम है। परमात्मा अन्य नहीं है यों परमात्मा को अपना स्वरूप जान कर जब भक्ति अर्थात् प्रेम किया जाता है तब वह मिलता है।

परमात्मा का स्वरूप बतलाया विश्वोदर, 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।' उसके अंदर ही सारे प्राणी स्थित हैं, इसलिए उसको विश्वोदर कहते हैं। समुद्र-मंथन के समय जब दूसरी दूसरी चीज़ें निकलती रहीं, तब तो सब लोग लेने वाले तैयार थे। सात सूंड का ऐरावत हाथी निकला तो इन्द्र ने ले लिया। लक्ष्मी जी निकलीं तो विष्णु ने ले लीं। सब चीज़ों को तो लोग लेते चले गए, फिर भी समुद्र का मंथन करते रहे। जब समुद्र ने जो हालाहल उगला, वह विष इतना भयंकर था कि उसकी हवा मात्र से लोग अत्यन्त कष्ट पा रहे थे। उसे कौन ले! समुद्रमंथन के लिए भगवान् शंकर भी आए हुए थे, आनंद से एक कोने में बैठे थे। सबने कहा 'इन्हें अब तक कोई रत्न नहीं मिला है, इन्हीं को विष देवें।' तो देवताओं के अग्रणी भगवान् विष्णु विष लेकर गए, कहा 'इसे पी लीजिए।' भगवान् शंकर उसको ले रहे थे तो पार्वती जी ने मना किया, कहा 'नहीं-नहीं, यह हलाहल जहर है। आपके पीने लायक नहीं है। सारा संसार आपके उदर में है, आप विश्वोदर हैं। अगर आपने पीया तो आपके अंदर में स्थित ये सारे लोग इस विष से पीडित हो जाएँगे। पेट में इतनी बड़ी उथल-पुथल होगी कि

उसका भगवान् शंकर पर भी असर हो जाएगा ऐसा पार्वती जी समझ रही थीं। इसलिए कहने लगी 'मत पीजिए, मत पीजिए, मत पीजिए। आपके पेट में सारा संसार है।' उनको भय तो था कि उनके पति को कुछ हो जाएगा! भगवान् शंकर बड़े धर्म-संकट में पड़े। पार्वती जी पत्नी हैं, अत्यन्त प्रिय हैं ही और भगवान् विष्णु भी उनको अत्यन्त प्रिय हैं। इनकी बात मानें कि उनकी बात मानें? 'पीने' का मतलब होता है कण्ठ के नीचे ले जाना। जब कोई चीज़ कण्ठ से नीचे जाती है तब उसको कहते हैं पीना। दोनों की बात रखने के लिए भगवान् शंकर ने विष ले तो लिया, पर उसे कण्ठ तक ही ले गए, इतनी बात तो विष्णु भगवान् की मान ली; और कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दिया, यह बात भगवती की मान ली, दोनों की बात रख ली। कभी आप लोगों ने दवाई की कोई बड़ी गोली ली होगी तो पता होगा कि कई बार गोली जाकर कण्ठ के बीच में अटक जाती है। नीचे भी नहीं जाती और कण्ठ तक गई हुई बाहर भी नहीं आती। उस समय कितनी घबराहट होती है? भयानक विष को कण्ठ में धारण करना कितना कष्टकारी है, फिर भी दोनों की बात रखने के लिए उन्होंने कण्ठ में उस विष को धारण कर लिया। पेट में नहीं गया तो संसारी प्राणियों को उसके कारण कोई कष्ट नहीं हुआ। पार्वती जी रोक रहीं थीं यही कह करके कि 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि' भगवान् के अंदर सारे प्राणी हैं। अतिधन्य वेद कहता है कि सारे प्राणी, सारा जगत् परमेश्वर से ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए परमेश्वर ही कारण हैं। कारण में ही कार्य रहा करता है। जैसे अगर तुम्हारे पास सोने की डली है, चाहो तो उससे कड़ा बनवा लो, बाजूबंद बनवा लो, तेड़िया बनवा लो कमरबंद बनवा लो। सोने का सब कुछ उसमें से निकलता है, इसका मतलब कि सब कुछ उसमें छिपा हुआ है। इसी प्रकार परमेश्वर से जगत् उत्पन्न होता है इससे सिद्ध होता है कि सारा जगत् परमेश्वर के अंदर विद्यमान है। परमेश्वर सारे जगत् का एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसलिए मेरी उपाधि शरीर भी उसी में है और जो मैं हूँ वह भी उसी में है। यह जो अनन्य भाव है यह इस निश्चय के ऊपर निर्भर करता है कि जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमेश्वर ही है। 'मैं' के अंदर दो ही चीज़ें हैं एक अंतःकरण की अहंकार वृत्ति और दूसरा उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब। अन्तःकरण भी परमेश्वर ही बना है क्योंकि सब कुछ उसमें से निकलता है और प्रतिबिम्ब तो उसमें से निकला ही है। अतः जब यह निश्चय हो जाता है कि सारे जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा है तब यह अर्थसिद्ध है कि सारा जगत् परमात्मा से अभिन्न है, मैं भी परमात्मा से अभिन्न हूँ।

अभिन्नता दो प्रकार की है एक के अंदर 'यह नहीं' ज्ञान होता है और दूसरे के अंदर 'यही' ज्ञान होता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में बाध-समानाधिकरण और मुख्य समानाधिकरण कहते हैं। ऐसे समझ लो सपना देखते हो; सपने में तुमको दुनिया भर की चीज़ें दीखती हैं। जितनी चीज़ें दीखती हैं उनका कारण एकमात्र तुम्हीं हो। सपने

में कपड़ों के थान जो तुम बेचते हो, वे कोई अरविंद मिल या मफत लाल के यहाँ से तो आते नहीं हैं, तुम्हारे ही अंदर से आते हैं। जिस ग्राहक को बेच रहे हो वह भी किसी माँ-बाप से पैदा होकर वहाँ आता नहीं है। तो चाहे थान, दुकान, दुकान के दरवाजे, ताले की चाबियाँ, ताला सब कुछ एकमात्र तुम हो। साथ में तुम सपने में भी खुद को बैठा कपड़ा बेचता हुआ देखते हो अर्थात् तुम अपने एक स्वप्न-दृश्य शरीर से भी वहाँ हो। अपने शरीर से जो *तुम* हो, उस समय भी तुम उसे अपना स्वरूप जानते हो, और उठने पर भी याद करते हो 'अरे! मैं थान बेच रहा था।' किसको बेच रहे थे? खरीदने वाले भी तुम ही थे। लेकिन दोनों में भेद हैः बाकी सब चीज़ों के बारे में तो निश्चय होता है कि 'वह सब नहीं था; दीख रहा था पर सचमुच में था नहीं।' जब कि 'मैं नहीं था' ऐसा निश्चय नहीं होता!

स्वप्न के अंदर दीखने वाली बाकी सब चीज़ों के बारे में तो होता है कि 'ये सब नहीं हैं', पर अपने बारे में यह नहीं होता कि 'मैं वहाँ नहीं था।' उस कार्य-करणसंघात के साथ तो अपनी एकता बनी ही रहती है। इसलिए वह सच्ची एकता है, बाकियों के साथ भी एकता है परंतु वह ऐसी एकता है जिसके गर्भ में भेद है। जहाँ पर ऐसी एकता होती है उसको शास्त्र की भाषा में बाध-समानाधिकरण कहते हैं। सपने में जो कुछ था वह मैं था परंतु सचमुच वह सब नहीं था जबकि मैं था। दूसरी ओर, उस सपने को देखने वाला मैं सचमुच में था, ऐसा नहीं कि मैं भी नहीं था! वहाँ जो शरीर आदि उपाधियाँ हैं वे तो नहीं थीं पर मैं ज़रूर था। मैं के अंदर जो परमात्मा का स्वरूप है, वह वास्तविक है इसलिए उससे मुख्य सामानाधिकरण्य कहते हैं। अतः वास्तविक अभेद जानकर पुरुष के साथ जो एकता का प्रेम है वह दृढ है। 'इदं' अर्थात् द्रष्टा से अतिरिक्त जितना भी दृश्य है वह सब उस पुरुष से ही व्याप्त है। उस पुरुष से अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसा पुरुष केवल अपने अहम् प्रत्यय में गम्य है। उसकी प्राप्ति अर्थात् सारी उपाधियों को हटा कर एकमात्र उसका रह जाना, यह अनन्य प्रेम से होता है।।२२।।

ओंकार के अंदर मन को पूरी तरह से स्थित करके उसके द्वारा जिसे कहा जाता है वह परमेश्वर ही सारे जगत् का एकमात्र कारण है इस प्रकार का जिनका दृढ निश्चय होता है, वे ही कालान्तर में ब्रह्मलोक जाकर मुक्ति के अधिकारी होते हैं, यह बताया। जिस मार्ग से वे ब्रह्मलोक को जाकर मुक्त होते हैं उस को बतलाते हैं

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे भरतोत्तम! (कर्म-) योगी जिस काल (-उपलक्षित मार्ग) में प्रयाणकर अपुनर्जन्म की गति पाते हैं तथा जिसमें प्रयाणकर पुनरावर्तन की गति पाते हैं, वह काल

बताऊँगा।

ब्रह्मसूत्रों में (४.३.४) बतला दिया है कि यहाँ काल का असली अर्थ तो है कालाभिमानी देवता। अतः जिन कालाभिमानी देवताओं के सहारे अनावृत्ति होती है उसको बतलाऊँगा यह तात्पर्य है। सामान्य दृष्टि से यहाँ काल को बतला ही रहे हैं। अभिमानी देवताओं को भी उपाधि के नाम से कह दिया जाता है। जैसे जब जोधपुर महाराज आएँ तो कह देते हैं कि 'जोधपुर आ रहा है' जिससे समझ लिया जाता है कि जोधपुर के राजा आ रहे हैं, क्योंकि राजा और राज्य का अभिन्न संबंध माना जाता है। अथवा यदि कोई व्यक्ति किसी विद्या में पारंगत होता है तो उसे उस विद्या का मूर्तिमान् रूप कह देते हैं जैसे वेदमूर्ति अर्थात् जो वेद में पारावारीण हैं।

इसी प्रकार से कालाभिमानी देवता को भी काल कह देते हैं। अतः भगवान् ने कह दिया 'यत्र काले', जिन कालाभिमानी देवताओं के सम्पर्क में वह जाता है, उन देवताओं के संबंध से, वह ब्रह्मलोक में जाकर के अनावृत्ति अर्थात् वापिस आता नहीं। और दूसरे भी काल के ही अभिमानी देवता हैं पर उनका संपर्क मिलने पर तो 'आवृत्तिं चैव' वापिस आ जाते हैं। बतलाना तो यहाँ अनावृत्ति का महत्त्व है क्योंकि प्रणव के अभ्यास को करने वाले वापिस नहीं आते। वापिस आने वाले लोगों को बतला कर नहीं आने वालों की प्रशंसा हो जाती है इसलिए दोनों को कहा कि इस मार्ग से जाने वाला वापिस नहीं आता, जबकि इस मार्ग से जाने वाला वापिस आ जाता है। काल के नाम को लेकर के कालाभिमानी देवताओं को बतलायेंगे। यहाँ योगी शब्द से योगाभ्यास, प्राणायाम आदि करने वाले भी समझने हैं और जो नित्य-नैमित्तिक कर्म करता रहता है, ऐसे कर्मयोगी को भी योगी कहते हैं जैसा 'कर्मयोगेन योगिनाम्' आदि भगवान् ने कहा ही है। प्राणायामादि के अभ्यास के साथ प्रणव की उपासना करने वाला अथवा नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते हुए उसके साथ प्रणव की उपासना करने वाला योगी जिस गति को पता है वह यहाँ कही है।

अर्जुन को संबोधन किया भरतर्षभ! भरत-कुल में ऋषभ की तरह अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हो। उपनिषदों में ओंकार को, प्रणव को ऋषभ कहा है। भाषा में ऋषभ साँड को कहते हैं। साँड जैसे स्वतंत्र घूमता है, उस पर कोई नियंत्रण नहीं कर सकता है, उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ होने से जो प्रणव का उपासक है, उसके जैसा दूसरा कोई उपासक नहीं हो सकता है। चाहे कर्मयोग करते हुए प्रणव-उपासना करे या पातंजल योग का अभ्यास करते हुए उपासना करे, है वही सर्वश्रेष्ठ क्योंकि सर्वश्रेष्ठ जो प्रणव उसका सहारा लिये है।।२३।।

जिस 'काल' में मर कर साधक वापिस न लौटने के देवयान में जाता है और जिसमें मरकर वापिस लौटने के पितृयान में जाता है उन 'कालों' को बताने की प्रतिज्ञा की। उपनिषत् में जहाँ इन दोनों मार्गों का वर्णन किया है, वहीं आगे कहा है कि जो न

उपासक है और न कर्मी है, वह तो यहीं आता-जाता रहता है। केवल दो मार्ग कहने से कई लोग शंका करते हैं कि फिर क्या हर एक या पितृयान में जाएगा या देवयान में जाएगा? ऐसा नहीं है। जो शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले हैं वे पितृयान के रास्ते जाते हैं, जो शास्त्रानुकूल उपासना भी करने वाले हैं वे देवयान से जाते हैं। क्योंकि प्रसंग केवल इन दो मार्गों का है अतः भगवान् ने यहाँ दो मार्ग ही कहे हैं। तीसरे मार्ग को भगवान् संकेतित करेंगे सोलहवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कि 'क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु'; तीसरे वे हुए जो इन दोनों रास्तों में न जाकर यहीं उन योनियों में जीते-मरते रहते हैं जिन योनियों के अंदर खाना, पीना और पुत्रादि उत्पन्न करना यही प्राप्त है। जो मनुष्येतर लोक हैं, कीट पतंग पशु पक्षी, उनके लिए न कर्म की सम्भावना है, न उपासना की सम्भावना है। उन योनियों में केवल प्राणों में रमण करना, प्राणों के धर्म के अनुसार चलना, खाना-पीना, बच्चे पैदा करना बस इतना ही प्राप्त है। इसलिए भगवान् ने उनको आसुरी योनि, प्राणों में रमण करने वाली योनि, कहा। प्रतिज्ञानुरूप दोनों मार्गों को बतलाते हैं

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छह मास इन देवताओं से उपलक्षित रास्ते गये ब्रह्मोपासक जन क्रमशः ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं।

पहले देवयान को बतलाते हैं: 'अग्निः' इस पहले ही शब्द से संदेह होता है कि भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी काल बताने की परंतु सबसे पहले कहा 'अग्निः' जो न सैकिण्ड है, न घंटा है, न मिनट है अथवा प्राचीन हिसाब से न विपल है, न पल है, न घड़ी है न दिन या रात है, न महीना है, न पक्ष है, न साल है। फिर भगवान् ने काल बताते हुए अग्नि को कैसे कह दिया? तो इसी से पता लग जाता है कि इस संदर्भ में काल शब्द का अर्थ कालाभिमानी देवता है। तो फिर भगवान् ने उस काल का ही नाम क्यों नहीं लिया जिसकी अभिमानिनी देवता अग्नि है? हमारे यहाँ एक न्याय है पच्चीस जने छतरी लेकर जा रहे हैं, उनके साथ दो जने ऐसे हैं जिनके पास छाता नहीं है। फिर भी जब किसी को बतलाना होता है तो कहते हैं 'वह देखो, छाते वाले जा रहे हैं। छाते वालों की टोली में देवदत्त हैं।' पच्चीस छाते वालों के बीच में दो बिना छाते वाले हों तो भी छाते वालों के अन्तर्गत कहे जाते हैं। अथवा किसी जंगल के अंदर अधिकतर आम के पेड़ हैं, बीच में दो चार साल के पेड़ भी हैं, तो उस जंगल को आम का जंगल कहते हैं। बीच में एक दो यदि सागवान के पेड़ आ गए तो इसका मतलब यह नहीं कि उसको आम का जंगल न कहा जाए! इसी प्रकार से इस मार्ग में अधिकतर कालाभिमानिनी देवता हैं इसलिए भगवान् ने एक-आध देवता यदि कालाभिमानिनी नहीं

है तो भी उसको कालाभिमानिनी कह दिया। दोनों ही बातें हैं: एक, अग्नि के आ जाने से यह भी स्पष्ट हो गया कि काल से भगवान् का मतलब कालाभिमानिनी देवता से है और दूसरी, कालाभिमानिनी देवताओं के बीच में एक दो बिना कालाभिमानिनी हुए तो वे भी कालाभिमानिनी देवताओं के द्वारा कह दिये जाते हैं। इस मार्ग से चलने पर पहले अग्नि देवता के द्वारा जाता है, फिर ज्योति देवता के द्वारा जाता है, फिर 'अहः' अर्थात् दिन के अभिमानिनी देवता द्वारा, फिर 'शुक्लः' शुक्ल पक्ष के देवता द्वारा और छह मास वाले उत्तरायण का जो अभिमानी देवता है उसके द्वारा जाता है। पहले अग्नि देवता ले जायेगा और ज्योति देवता को सुपुर्द करेगा, वह आगे ले जाकर अहः देवता को देगा, वह आगे जाकर शुक्ल देवता को देगा, वह आगे जाकर उत्तरायण देवता को देगा। प्रेत होकर अर्थात् मर करके जो इस क्रम से जाते हैं वे ही ब्रह्म तक पहुँचते हैं।

कौन जाते हैं? 'ब्रह्मविदः' परमेश्वर की, ब्रह्म की उपासना करने वाले। एक पूरा पाद ही ब्रह्मसूत्रों में उपासकों की गति बतलाने के लिए है। व्यास जी ने सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रतीकों में उपासना तो ब्रह्म की है। लोक में भी मान लो देवदत्त कलैक्टर है तो बहुत से लोग उसके पास फाइलें लेकर जाते हैं, उसकी खुशामद करते हैं। उसके बाद वह कलैक्टरी से हट गया तो फिर थोड़े ही जाते हैं उसके पास! कहने को तो लोग देवदत्त के प्रशंसक थे पर वस्तुतः देवदत्त के नहीं, देवदत्त में स्थित जो कलैक्टरपना था उसके प्रशंसक थे। अर्थात् देवदत्त के द्वारा कलैक्टर साहब की उपासना हो रही थी। अतः यज्ञदत्त कलैक्टर बनकर आ जाता है तो यज्ञदत्त की भी वैसे ही प्रशंसा, सेवा इत्यादि होती है जैसी देवदत्त की होती थी। देवदत्त, यज्ञदत्त आदि तो उस कलैक्टर के प्रतीक हैं, और परम्परया तो कलैक्टर भी सरकार का प्रतीक है, राज्य का प्रतीक है। इसी प्रकार से जब अश्व की उपासना करते हैं, तब अश्व के द्वारा उस यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्रादि की उपासना है, और वस्तुतः तो इन्द्र को भी शक्ति देने वाला जो परमेश्वर है उसी की उपासना है। व्यास जी ने सिद्ध किया है कि उपनिषदों में जितनी उपासनाएँ आई हैं प्रायः वे सभी परमेश्वर की हैं, आलंबन आदि का वैविध्य है। इसलिए यहाँ कहा 'ब्रह्मविदः' अर्थात् ब्रह्म की उपासना करने वाले, शास्त्र में जो प्रतीक कहे हैं, उनमें से किसी भी एक प्रतीक को लेकर परमात्मा की उपासना करने वाले। ब्रह्मविद् कहने से कोई ब्रह्मज्ञानी भी समझ सकता है क्योंकि विद् का अर्थ उपासक भी हो जाता है और ज्ञानी भी हो जाता है। अतः स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने कह दिया 'ब्रह्मविदो जनाः।' जन अर्थात् पैदा होने वाले। ब्रह्मज्ञानी तो अपने को पैदा होने वाला और मरने वाला नहीं समझता। वह तो जानता है कि मैं अजर, अमर हूँ, अजन्मा हूँ। जब अपने को अजन्मा देखता है तब कोई भी वस्तु उसको उत्पन्न होने वाली नहीं लगती। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा 'अजं सर्वम् अनुस्मृत्य जातं नैव अनुपश्यति।' क्योंकि सब कुछ ब्रह्मरूप है और ब्रह्म अज है इसलिए कोई जन्म लेने वाली चीज़ तत्त्वज्ञ के सामने

रह ही नहीं जाती। अर्थात् न वह अपने को जन्म वाला समझता है और न और किसी चीज़ को जन्म वाला समझता है। अपने को जन्म नहीं लेने वाला मुख्य रूप से समझता है जबकि अनात्मवर्ग को जन्म न लेने वाला बाध के द्वारा समझता है यह अंतर समझा चुके हैं। अर्थात् अनात्मा तो हैं नहीं इसलिए उत्पन्न नहीं हुए और आत्मा ब्रह्मस्वरूप है इसलिए नित्य होने से पैदा नहीं हुआ। यहाँ 'ब्रह्मविदो जनाः' कहा है इसलिए जो अपने को जन्मने वाला समझते हैं उन उपासकों का ही यह प्रसंग है। वे सृष्टि स्थिति करने वाले ब्रह्म को ही भजते हैं। ब्रह्मवेत्ता की तो ब्रह्मज्ञानकाल में ही तुरंत मुक्ति हो जाती है अतः उसका कहीं जाना-आना नहीं बनता। ब्रह्मज्ञानी कहीं जाता नहीं; क्योंकि वह सर्वभाव को प्राप्त हो गया इसलिये उसका जाना-आना बनता ही नहीं। ब्रह्मज्ञान के बाद जो हमें शरीर की गतियाँ दीखती हैं वे प्रारब्ध के वेग से होती हैं, उससे ब्रह्मज्ञानी का कुछ लेना-देना नहीं। ठीक जिस प्रकार से बिजली का खटका बंद करते ही बिजली का कोई संबंध रह नहीं गया पंखे के साथ परंतु उस बिजली के कारण उस पंखे के यंत्र में वेग आ चुका है, वह थोड़े समय तक चलता रहता है। क्योंकि नई बिजली नहीं आ रही, इसलिए धीरे-धीरे वेग ख़त्म ही हो जाता है, पंखा बंद हो जाता है। इसी प्रकार जितने कर्म इस शरीरादि में फलीभूत होने हैं, वे कर्म भोग के रूप में फलीभूत होते रहते हैं परंतु ब्रह्मज्ञानी का उसके साथ संबंध तो ज्ञानकाल में तुरंत ख़त्म हो चुकता है। थोड़े समय तक शरीर चलता है उस वेग से जो इसमें प्रारब्ध के रूप में आ गया है। अतः यहाँ परमार्थ ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मवित् नहीं कहा वरन् ब्रह्म की उपासना करने वाले को ही कहा है। इस प्रकार देवयान मार्ग बतला दिया।।२४।।

अब दूसरा मार्ग बतलाते हैं

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

धूम, रात्री, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छह मास इन देवताओं से उपलक्षित रास्ते (गया) योगी चंद्रमा में होने वाला फल पाकर (पुण्यसमाप्ति पर) लौट आता है।

यहाँ भी धूम अर्थात् धूमाभिमानी देवता। धूम भी कोई काल तो नहीं है; इसी से पता लग जाता है कि भगवान् ने जो 'काले' कहा उससे तात्पर्य कालाभिमानी देवता से है। धूम देवता योगी को ले जाकर रात्रि देवता को देता है, रात्रि का अभिमानी देवता ले जाकर कृष्ण पक्ष के देवता को देता है। कृष्ण पक्ष का देवता उसको छह मास वाले दक्षिणायन के देवता को देता है। 'चान्द्रमस' चन्द्रमा में होने वाली 'ज्योतिः' अर्थात् कर्मों का फल इष्ट कर्म, आपूर्त कर्म, स्मार्त कर्म, दत्त कर्म, ये सारे जो कर्म हैं इनका फल चंद्रलोक में मिलता है। वेदों के अंदर जिन ज्योतिष्टोम आदि का फलों के लिये विधान किया, वे इष्ट कर्म हैं। उनके तत् तत् फल बतलाये हैं, उन फलों को इष्ट समझ

सारी इन्द्रियों को, मन बुद्धि को तुम काम करने से रोक लेते हो। जैसे सुषुप्तिकाल में तुम को कुछ प्रतीत नहीं होता वैसे ही समाधिकाल में भी कुछ प्रतीत नहीं होता। अतः वह सर्गकाल में नहीं है। इसलिये महर्षि पतंजलि लिखते हैं कि उस समाधिकाल में तो द्रष्टा अपने स्वरूप में, अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। श्रुति कहती है कि इस प्रकार से तो जब तुम सुषुप्ति में जाते हो तब भी सत् से सम्पन्न हो जाते हो, सत् से एक हो जाते हो, स्वरूप में स्थित हो जाते हो। उसके बाद जैसे ही व्युत्थान होता है, समाधि से तुम जैसे ही पुनः जाग्रत् अवस्था में आते हो, वैसे ही बंधन प्रारंभ हो जाता है, सारे जगत् के अंदर सत्यत्व की प्रतीति पूर्ववत् हो जाती है। इसलिये वेदांत कहता है कि जानने की शक्ति रहे और संसार को न देखकर परमात्मा को देखो, तब मोहभंग हो। ऐसा जो विचारकाल है, उसमें ही इस माया को काट सकते हो। सर्गकाल में ही मोह है, और सर्गकाल में ही इस मोह को काटना पड़ेगा।

मोह क्या है? 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन'। द्वन्द्व के निमित्त से मोह होता है। संसार में मोह का कारण क्या है? जितनी चीज़ें संसार में देखो, सब जोड़े में आती हैं, सबका द्वंद्व है। सुख है तो दुःख भी है। सुगंध है तो दुर्गन्ध भी है। अच्छा आदमी है तो बुरा आदमी भी है। अच्छा विचार है तो बुरा विचार भी है। द्वन्द्व के घटक परस्पर विरुद्ध होते हैं, सुख और दुःख परस्पर विरुद्ध हैं। जब-जब अपना काल आता है तब-तब सारे प्राणियों से द्वन्द्व सम्बद्ध हो जाते हैं। सर्दी आती है तो सब लोग सर्दी से सम्बद्ध हो जाते हैं। जिनको सर्दी अच्छी लगती है वे कहते हैं कि अच्छा हुआ, जिन्हें अच्छी नहीं लगती, वे कहते हैं कि बड़ा बुरा हुआ।

द्वन्द्वमोह, अच्छा और बुरा किस से होता है? इच्छा और द्वेष से ही पैदा होता है। अगर हमें इच्छा सर्दी की है तो सर्दी अच्छी लगेगी, यदि सर्दी से द्वेष है तो सर्दी बुरी लगेगी। न सर्दी अच्छी है, न गर्मी अच्छी है। इच्छा और द्वेष से ही ये द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख हैं। हम लोगों को मिठाई अच्छी लगती है। बढ़िया दाल के सीरे का भंडारा हो तो मन प्रसन्न हो जाता है। एक महात्मा मीठा नहीं खा सकते। अगर ज़बरदस्ती किसी दिन थोड़ा-सा मीठा खिला दें तो बेचारे तीन-चार दिन तक तकलीफ पाते हैं। उनको मीठे की कोई इच्छा ही नहीं होती। मीठा जिसकी इच्छा का पदार्थ है, उसके लिये वह सुखदायी है। परंतु जिसके वह द्वेष का विषय है, उसके लिये दुःखदायी है। द्वन्द्व का मोह, द्वंद्व-निमित्तक मोह, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है। मोह तुम्हारी प्रज्ञा को प्रतिबद्ध कर देता है, वास्तविकता को नहीं जानने देता। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व-मोह परमार्थ आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबंध का कारण है। अज्ञान तो मोह का उपादान कारण है ही, लेकिन अज्ञान गहरी नींद और महाप्रलय में रहता है परंतु सम्मोह नहीं करता, सृष्टि होते ही सम्मोह क्यों हो जाता है? इच्छा व द्वेष के कारण, सृष्ट जगत् के अंदर जो हमें द्वन्द्वों से मोह हो जाता है,

कर उन कर्मों को किया जाता है। इष्ट अर्थात् इच्छा का विषय। वेदों में कर्म बतलाए और वहीं उनके फल कहे। उन फलों को जो चाहता है उसके लिए वे कर्म हैं। जिस को फल नहीं चाहिए, वह उन कर्मों को करेगा भी नहीं। जैसे इष्ट कर्म, वैसे ही आपूर्त कर्म हैं, आजकल जिसको प्रायः समाज को फायदा पहुँचाने वाला कर्म कहा जाता वह आपूर्त कर्म। बावड़ी बनाना, कुआ खुदवाना, धर्मशाला बनाना, बगीचा बनाना, अन्नक्षेत्र चलाना ये सारे आपूर्त कर्म हैं। तरह-तरह के दान देना दत्त कर्म हैं। अन्न का दान, गऊ का दान, सोने का दान, चांदी का दान आदि, अनेक दानों का वर्णन आया है, वे सब दत्त कर्म हैं। स्मृतियों में प्रतिपादित कर्म स्मार्त कर्म हैं। इन सभी कर्मों का जो फल है, उसको ज्योति कहते हैं। ये फल चन्द्रलोक में जाकर चन्द्रमा में भोगे जाते हैं इसलिए उनको चान्द्रमस ज्योति कह दिया। यहाँ योगी अर्थात् कर्मयोगी। वह यथाकर्म फलों को 'प्राप्य' अर्थात् भोग कर पुण्यसमाप्ति पर लौट आता है। धूम, रात्रि, कृष्ण, दक्षिणायन देवताओं के द्वारा चन्द्रलोक को ले जाया जाता है व जो उसने इष्ट आदि कर्म किए थे, उनके फल का चंद्रलोक में भोग करता है। जितना कर्म किया है उतना ही वहाँ फल भोगने को मिलेगा। किसी ने एक सोम याग किया, किसी ने बीस सोम याग किये, उसका फल भी बीस गुना हो जाएगा। किसी ने एक अश्वमेध किया, किसी ने चार अश्वमेध किए, उसका फल भी चौगुना हो जायेगा। कर्मयोगी फल भोग करके, जब इष्ट आदि कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तब 'निवर्तते', वापिस आ जाता है अर्थात् फिर मनुष्य लोक में पैदा हो जाता है। उत्तरायण, देवयान के मार्ग से जाने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से वापिस नहीं आता। जो ब्रह्म का उपासक नहीं है, परमेश्वर की उपासना नहीं करता है, केवल कर्म करता है, उसका निवर्तन हो ही जाता है।।२५।।

मरने के समय पर इन मार्गों की प्राप्ति निर्भर नहीं क्योंकि अधिकारानुसार ये मार्ग हर समय खुले हैं यह बताते हैं

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

जगत् की ये शुक्ल व कृष्ण गतियाँ हमेशा रहने वाली मानी गयी हैं। एक से गया पुनरावृत्तिरहित गति पाता है, दूसरी से गया फिर संसारचक्र में भटकता है।

इन गतियों को शुक्ल व कृष्ण क्यों कहा जाता है? शुक्ल गति के अंदर ज्ञान का प्रकाश संभव होता है। ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा जी के उपदेश के द्वारा ज्ञान होने की संभावना है। कृष्ण गति वह है जिसमें ऐसा कोई ज्ञान होने की संभावना नहीं। ये दोनों गतियाँ 'शाश्वते मते' इस संसार में नित्य ही चलती रहती हैं। जैसे संसार नित्य है वैसे ही ये दोनों गतियाँ नित्य हैं। इन पर विभिन्न जीव तो आते-जाते रहते हैं परंतु गति

हमेशा ही बनी रहती है। मेलों में देखा होगा, एक बड़ा पहियानुमा झूला होता है जिसमें बैठने के बहुत से कटघरे होते हैं जिन पर लोग बैठते हैं तो जब झूला चलता है तब क्रमशः ऊपर-नीचे आते-जाते हैं। बैठने वाले लोग तो बदलते रहते हैं पर झूला तो चलता ही रहता है। इसी प्रकार इन गतियों में जाने वाले लोग बदलते रहते हैं परंतु गति हमेशा चलती ही रहती है। इसलिए उसको शाश्वत कहा अर्थात् जब तक जगत् चलेगा तब तक ये दोनों गतियाँ चलती रहेंगी। इनमें से एक अर्थात् शुक्ल गति से जाकर साधक ब्रह्मलोक में ब्रह्म के उपदेश से मुक्त हो जाता है, वापिस नहीं आता। और 'अन्यया' अर्थात् कृष्ण गति से जाकर जीव जैसे ही किए हुए कर्मों का फल भोग लेता है वैसे ही वापिस आ जाता है। इस प्रकार से दोनों गतियों को बतला दिया।।२६।।

इन मार्गों के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! इन मार्गों को समझने वाला कोई भी योगी (उपासनारहित कर्म ही कर्तव्य है इस) भ्रम में नहीं पड़ता। अतः अर्जुन! सब समय समाहित चित्त वाले रहो (ताकि शुक्ल गति पा सको)।

'एते' अर्थात् अभी-अभी जिनको कहा है। प्रकरण चला हुआ है देवयान और पितृयान का; ये दोनों 'सृती' अर्थात् रास्तों को 'जानन्' जानते हुए अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाला यह मार्ग है और परमात्मा की ओर, मोक्ष की ओर ले जाने वाला यह मार्ग है इस प्रकार मार्गों की विशेषता जानते हुए योगी भ्रमित नहीं होता है। यहाँ योगी दोनों को ही कह दिया कर्मयोगी इस बात को जानता है कि जितना मैं कर्म करूँगा वह सब क्षयिष्णु है, उपासक जानता है कि उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि होकर ब्रह्मलोक में परमात्मा का ज्ञान हो जाएगा। दोनों में से कोई भी योगी, (इसलिए 'कश्चन' कह दिया) 'न मुह्यति', इन रास्तों के अंदर मोहित नहीं होता। भगवान् ने पहले कहा था कि वेदों के अंदर जो कर्मों की अर्थवादों द्वारा प्रशंसा की है उसे सुन कर जिसने इन बातों को ठीक तरह से नहीं समझा है वह समझता है कि ये इष्ट-आपूर्त कर्म ही सब कुछ हैं। परमात्मा और मोक्ष की बात कर्मकाण्डी मानता ही नहीं! उसका कहना रहता है कि परमात्मा के बारे में केवल प्रशंसा में कह दिया गया है, सचमुच में तात्पर्य नहीं, अर्थवादमात्र है। ऐसे कर्मकाण्डियों का तो कहना है 'मन्त्राधीना हि देवताः' देवता मन्त्रों के अधीन हैं और मंत्र मेरे (कर्मकाण्डी के) अधीन हैं! मैं जब उनका जप, ध्यान, आदि अनुष्ठान करूँगा तभी वे फल दे सकेंगे। कर्म करूँगा, उससे फल हो जाएगा; क्या ज़रूरत है बेकार के ईश्वर को मानने की! न्याय शास्त्र में गौतम महर्षि ने भी जैसा ईश्वर माना है, विचार करने पर वह केवल मौजूद है, उसका और

कोई प्रयोजन नहीं है। कपिल महर्षि ने कहा कि फल देने के लिए पुरुष (जीव) ही काफी है! गौतम महर्षि का कहना है कि कर्म के फल देने के लिए चेतन ईश्वर चाहिए, कपिल मुनि ने कहा कि चेतन पुरुष तो विद्यमान है ही, उसके लिए ही प्रकृति सारा खेल कर लेगी। नैयायिक ने तो केवल एक स्थिररूप ईश्वर को माना, कपिल ने कहा कि उसकी भी ज़रूरत नहीं है; किसी चेतन के लिए प्रकृति प्रवृत्ति करेगी, चेतन पुरुष अर्थात् जीव है ही, और एक पुरुषोत्तम की कल्पना काहे को करें! किंतु इस प्रकार के मोह में कर्मयोगी नहीं पड़ता। कर्मयोगी इस बात को जानता है कि कर्म क्षयिष्णु फल देते हैं, कर्मद्वारा जाकर हमें वापिस आना पड़ेगा। हम फलों को चाहते हैं इसलिए कर्म करते हैं। कर्मफलदाता ईश्वर है, उसकी उपासना से मोक्ष भी होता है।

परंतु जैसे आज, वैसे हमेशा, अधिकतर लोगों को मोक्ष चाहिये नहीं। स्पष्ट कहें या न कहें, उनका कहना है कि धन की अपेक्षा है लड़कियों का ब्याह करने के लिए, पद की अपेक्षा है प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, मोक्ष की इच्छा हमें काहे के लिए होवे! संसार में बहुतेरा सुख है। गाँव में रहने वाला सोचता है, जयपुर पहुँच जाऊँगा तो सुख होगा। जयपुर में रहने वाला सोचता है, दिल्ली में जाऊँगा तो सुख होगा। दिल्ली वाला सोचता है, वाशिंगटन जाऊँगा तो सुख होगा। जहाँ सुख हो जाएगा वहाँ जाने का रास्ता चाहिए, ईश्वर से क्या लाभ! ऐसों से कुछ आगे चलें तो कहते हैं कि देवलोक में जाएँगे तो सुख हो जाएगा।

कर्मयोगी यह सोच करके कि 'इस फल को प्राप्त करके मैं सुखी हो जाऊँगा', उन फलों की प्राप्ति के लिए कर्म करते रहते हैं परंतु साथ में जानते हैं कि परमेश्वर है और उसकी उपासना से मोक्ष होता है। इसलिए साथ में उपासना भी करते हैं। कर्म करता है अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए, लेकन उसको मोह नहीं होता कि बस यही सब कुछ है, इससे आगे और कुछ नहीं है। कर्मकाण्डी तो सोचता है कि बस यही है इसके सिवाय और कुछ नहीं। उपासक योगी तो यथार्थ को जानता ही है। वह सर्वथा परमेश्वर की उपासना में ही लगता है। 'कश्चन योगी' कर्मयोगी या उपासना का योगी दोनों में से कोई भी 'न मुह्यति' अविवेक को प्राप्त नहीं होते, मोह को प्राप्त नहीं होते।

'तस्मात्' इसलिए, हे अर्जुन! 'सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव' सब कालों में योग-युक्त रहो। जब तक अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हुई है तब तक कर्म करते हुए, उपासना का अभ्यास करने वाले कर्मयोगी बनो और जब धीरे-धीरे तुम्हारी कामनाएँ नहीं जैसी रह जाएँ तब सर्वथा उपासना में ही लग जाओ। 'सर्वेषु कालेषु' अर्थात् आगे योगी बनो ऐसा नहीं, इस समय में भी जब तुम्हारे में कामनाएँ हैं तब उनकी पूर्ति करते हुए भी उपासना का अवलम्बन मत छोड़ो। 'सर्वेषु कालेषु' से यह भी कह रहे हैं: जिस काल में उत्तरायण प्रसिद्ध है, उसक काल में तो मनुष्य कहेगा कि इस समय उपासना करनी चाहिए पर जब दक्षिणायन, कृष्ण पक्ष इत्यादि होगा तब कहेगा कि इस

काल में उपासना करने से क्या होगा, अगर इस काल में मर भी गए तो फिर आना ही पड़ेगा ऐसा विचार कई बार लोगों के मन में होता है। किंतु सभी कालों में ये दोनों रास्ते उन-उन देवताओं के सहारे खुले रहते हैं। अतः मोह में न पड़ कर चाहे दक्षिणायन हो, कृष्ण पक्ष हो, सब समय योगी ही रहो।।२७।।

योग के माहात्म्य को बतलाते हुए भगवान् अध्याय समाप्त करते हैं

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

।।ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाटमोऽध्यायः।।

'किं तद् ब्रह्म' इत्यादि प्रश्नों का निर्णय जानकर भली भाँति योगानुष्ठायी उस सारे फल को लांघ जाता है जो शुभ फल वेदों को पढ़ने पर, यज्ञ व तप करने पर, दान देने पर बताया गया है, एवं सर्वोत्तम सर्वकारण स्थिति को पा लेता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अंदर अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए वेदाध्ययन को एक साधन बतलाया है। ब्राह्मण लोग ब्रह्म की तरफ, परमेश्वर की तरफ इच्छा वाले बनते हैं, परमेश्वर का साक्षात्कार करना चाहने लगते हैं। 'वेदानुवचनेन', नियमपूर्वक वेद का पाठ, वेद का अध्ययन करना प्रथम साधन बताया। यथासम्भव वैदिक संहिताओं का गुरुमुख से श्रवण करके फिर उसका नियमित पाठ करना और वेदार्थ को जानने का प्रयास करना वेदानुवचन है। उसी को यहाँ भगवान् ने कह दिया 'वेदेषु।' उपनिषत् में कहा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन', उसे ही यहाँ कह रहे हैं। यज्ञ और तप में क्रम बदला हुआ है, बाकि वही है। 'यज्ञेषु' अर्थात् जैसा शास्त्र ने कहा है वैसा ही सारे अंगों के सहित यज्ञ का अनुष्ठान। सारे अंगों के सहित अनुष्ठान कर्त्तव्य है। लोग ऐसा समझते हैं कि थोड़ा करेंगे तो थोड़ा फल होगा ही, परंतु थोड़ा करने से कुछ फल नहीं होगा सिवाय परिश्रम के! फल तो तभी होगा जब यज्ञ पूरी तरह से किया जाए, जैसी सामग्री कही है उससे जैसा-जैसा कहा है, सब किया जाये। वैदिक यज्ञों की सामग्री मिलना इतना सरल भी नहीं है। एक अग्निहोत्री जी यज्ञस्तम्भ के लिये उपयुक्त खैर की (कत्थे की) लकड़ी खोजते रह गये पर उन्हें मरणपर्यन्त नहीं मिली, वे यज्ञ कर ही नहीं पाये। आज-कल के लोग सामग्री में, प्रक्रिया में मनमानी हेर-फेर करते रहते हैं पर ठीक प्रकार से यज्ञ करने वाले जानते हैं कि जैसा कहा है, वैसा ही करना ज़रूरी होता है। 'तपःसु', इसी प्रकार से चान्द्रायणादि तपस्याएँ भी जैसी बताई हैं वैसी ही करनी पड़ती हैं। 'दानेषु' उचित देश, उचित काल और उचित पात्र को दान दिया जाता है। इन सबके करने पर जो पुण्य फल शास्त्र के द्वार बलताये गये हैं, 'अत्येति' योगी उन

सारे फलों को प्राप्त करके उससे भी अधिक फल प्राप्त कर लेता है। 'आद्यम् परं स्थानम्' इस सृष्टि का जो आदि कारण परम ब्रह्म परमात्मा है उसको 'उपैति', प्राप्त कर लेता है, अर्थात् जगत् के कारण जो परमेश्वर हैं उनके पास पहुँच जाता है। इस प्रकार योगी को बाकी सब कर्मों के फलों की प्राप्ति तो होती ही है, उससे भी आगे चला जाता है। जितने कर्म बताए हैं उन सबका फल परमेश्वर की उपासना से प्राप्त किया जा सकता है और यह परमेश्वर की विशेषता है कि उन फलों को प्राप्त कराने के साथ अन्तःकरण की शुद्धि कराकर परमात्मा के साथ एकता के अनुभव को भी प्राप्त करा देता है।

चूंकि इस अध्याय के अंदर आने-जाने की गति वाले संसार से तर जाने का उपाय बतलाया है इसलिए महाभारत की पुष्पिकाओं में इसका नाम 'तारकब्रह्मयोग' रखा है। तारने वाला ब्रह्म अर्थात् सृष्टि स्थिति लय करने वाला जो परमेश्वर है, उसकी प्राप्ति कैसे हो, यह बताने से यह 'तारकब्रह्मयोग' है। भाष्यपुष्पिका में 'अक्षरब्रह्मयोग' नाम मिलता है। प्रारंभ में 'अक्षरं ब्रह्म परमं' कहा, फिर 'कविं पुराणम्' 'यदक्षरं वेदविदः' आदि से उसका वर्णन किया और उसे पाने का उपाय बताया अतः अक्षर ब्रह्म इसमें प्रधान विषय होने से यह नाम भी उपयुक्त है। किन्हीं टीकाओं में 'अक्षरपरब्रह्मयोग' नाम भी दिया है, तात्पर्य एक ही है।

।। आठवाँ अध्याय ।।

ॐ

नौवाँ अध्याय : राजविद्याराजगुह्ययोग

पूर्वाध्याय में धारणा-नामक अंग से उपेत योग का विधान किया। मन को हृदय में निरुद्धकर भ्रूमध्य में जो आज्ञा चक्र है उसके अंदर परमात्मा की सर्वरूपता में स्थित होकर फिर उसे ब्रह्मरंध्र में ले जाना, वहाँ निर्विचार अवस्था के अंदर जाकर जो सगुण परमात्मा सारे जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है, उसके ध्यान को बताया। उसका फल भी कहा कि अग्नि, अर्चि, अहः, शुक्ल, इत्यादि मार्ग द्वारा जाकर कालान्तर में परमात्मा की प्राप्ति होती है जहाँ जाकर वापिस नहीं आया जाता। अर्जुन के प्रश्नों का जवाब देते हुए सगुण परमेश्वर का ध्यान करके जहाँ से वापिस लौटना नहीं पड़ता ऐसे ब्रह्मलोक में जाकर कालान्तर में मुक्ति होती है, यह बतलाया। इतना सुनने पर कोई समझ सकता है कि प्राणायामादि योगाभ्यास करके जो क्रम से मुक्ति होती है बस यही मुक्ति है, और कोई दूसरी मुक्ति नहीं तथा मोक्ष का और कोई मार्ग नहीं। इस भ्रम को दूर करने के लिये अब बतलाएँगे कि परमात्मा का यहीं दर्शन होकर परमात्मा से एकभाव की प्राप्तिरूप मोक्ष ही मुख्य है।

श्रीभगवानुवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

श्री भगवान् ने कहा असूयारहित तुझे सर्वाधिक गोपनीय यह ही अनुभवयुक्त ज्ञान बताऊँगा जिसे समझकर तू संसार बंधन से छूट जायेगा।

'इदं', इसी अध्याय में बतलाने जा रहे हैं अतः इस अध्याय की दृष्टि से यह विषय सामने है। अर्जुन के सामने तो नहीं, परंतु उपदेशक के सामने है ही। उपदेशक के लिए यह सारी बात जैसे हाथ में रखा हुआ आँवला प्रत्यक्ष होता है वैसे ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का मतलब केवल आँख से देखना, कान से सुनना नहीं समझना। जो निःसन्दिग्ध ज्ञान

होता है उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं। हम लोग कोई चीज़ आँख से देखते हैं, तो देखने के साथ ही निश्चय होता है कि यह चीज़ ऐसी ही है। जब तक किसी प्रमाण के द्वारा कट न जाए तब तक वही निश्चय रहता है। हमें पानी दीखा। बहुत दूर जाने पर भी पानी नहीं मिला। तब सोचते हैं कि अरे! पानी हमें झूठ-मूठ ही दीखा था। परंतु जब तक कोई विरोधी प्रत्यय नहीं आता है, कोई विरुद्ध अनुभव नहीं हो जाता है, तब तक, आँख से जो हमने जैसा देखा है वैसा ही वह है, यह निश्चय हो जाता है। जैसा आँख से देख करके या जीभ से चख करके हमको निश्चय होता है, वैसा निश्चय किसी की बात पर होता नहीं। जब कोई कुछ बात कहता है, तो सुनते ही ज्ञान हो जाता है; जैसे आँख से देखने पर सड़क दीखती है, वैसे ही किसी ने कहा 'सच बोलना अच्छा फल देता है', तो उसने जो बात कही, उसका ज्ञान हो गया। परंतु चूंकि हमने अनेक जगह देखा है कि सच बोलने वाला फँस जाता है, सच बोलने वाले को डांट पड़ जाती है, इसलिए उसने जो कहा 'सच बोलने का फल अच्छा होता है', उसका ज्ञान होने पर भी निश्चय नहीं होता है कि ऐसा ही है। अतः उस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहेंगे। शब्द की यह विशेषता है कि वह परोक्ष वस्तुओं का भी ज्ञान करा देता है लेकिन सुनने-मात्र से निश्चय नहीं हो पाता है। जैसे, जो संशय आया कि 'क्या हमेशा सच बोलना सुफल ही देता है?' उसे यदि किसी युक्ति से काट दिया जाए या अनुभव से सिद्ध हो जाए कि नियमतः सुफलप्रद ही है, तो सुनी हुई बात का निश्चय हो जाता है। निश्चय होने पर वह परोक्ष ज्ञान भी प्रत्यक्ष की तरह ही हो जाता है। जब विषय ही प्रत्यक्ष हो तब तो शब्द से उसका अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष होता ही है। भगवान् जिस बात को कहने जा रहे हैं, वह भगवान् के लिए प्रत्यक्ष की तरह है अर्थात् सर्वथा निःसन्दिग्ध होकर कह रहे हैं। इसलिए कहा 'इदम्'।

गुह्य कहते हैं जिस चीज़ को छिपाकर रखा जाए। आगरे में एक जौहरी के यहाँ आयकर विभाग का छापा पड़ा। सप्ताह भर तक पड़ताल होती रही, कुछ मिला नहीं। जब छापामार लोग जाने लगे तब बोले 'हमने सब अच्छी तरह से देख लिया, कहीं कुछ नहीं मिला। परंतु आपके पास कुछ है ज़रूर!' हँस पड़े वे जौहरी। उन्होंने कहा 'है तो ज़रूर और यह भी समझ लो कि मैंने और कहीं नहीं रखा है, इसी घर में रखा है। है भी और हमने इस घर में ही रखा हुआ है। परंतु तुम कहोगे 'बता दीजिए', तो मैं बताने वाला हूँ नहीं। मैंने आज तक अपने लड़कों को भी नहीं बताया है कि मैंने कहाँ रखा हुआ है तो तुमको क्या बताऊँगा!' यह है गुह्य। प्रायः करके ऐसी बातों को इसलिए औरतों को नहीं बताते। औरतों की शिकायत रहती है, 'इनके पास है तो बहुत, दिखलाते नहीं हैं।' ऐसे क्यों करना पड़ता है? क्योंकि स्त्रियों को युधिष्ठिर का शाप लगा है कि वे कोई बात छिपा कर रख नहीं सकती। स्त्री को अगर तुमने बता दिया तो वह ज़रूर अपने एक-दो दोस्तों को बताएगी। साथ में कह भी देगी, 'किसी से कहना नहीं।' और जिसे सुनाया वह भी लड़की है अतः और किसी को ज़रूर बताएगी। इस प्रकार से अनेक कानों में बात पहुँचेगी

और कहीं-न-कहीं किसी चोर के पास भी पहुँच जाएगी। गुह्यों में भी भगवान् कहते हैं 'गुह्यतमं' सबसे अधिक छिपाने लायक बात यही है कि जीव का स्वरूप क्या है। सारा संसार कब तक चलेगा? बाजीगर तुमको तरह-तरह के खेल दिखलाता है : एक भगोने से दूसरा भगोना निकालता है, तीसरा निकालता है, चौथा निकालता है। पचास भगोने निकाल देता है उसमें से। तुम्हारी सारी घड़ियों का समय बदल देता है। ऐसी असंभव चीज़ों को कर देता है। एक लड़की को काट देता है, उसका सिर अलग और धड़ अलग दिखला देता है। फिर थोड़ी देर बाद जोड़ देता है। परंतु ये खेल कब तक चलते हैं? जब तक तुम्हारी आँखें बँधी हुई हैं। अगर किसी भी कारण से तुम्हारी आँख बाँधी हुई न रहे तो फिर खेल नहीं दीखेगा। ठीक इसी प्रकार से जीव की आँखें अज्ञान से बँधी हुई हैं इसीलिए परमेश्वर उसको खेल दिखा पाता है। आचार्य शंकर इसीलिए उसको कहते हैं 'मायावीव विजृम्भयति अपि महायोगी इव यः स्वेच्छया;' जैसे जादूगर जो चाहे सो दिखला देता है, इसी प्रकार से परमेश्वर भी तुमको अनन्त काल से अनन्त असंभव खेल दिखला रहा है। रोज़ नई-नई चीज़ों को दिखला देता है। साइकिल आई, बड़े खुश हुए, साइकिल खरीद ली। थोड़े दिनों में स्कूटर आ गया। साइकिल है तुम्हारे पास, लेकिन 'हाय मेरे पास स्कूटर नहीं है, हाय मेरे पास स्कूटर नहीं है' का रोना चल पड़ा तो स्कूटर ले लिया। थोड़े दिनों के बाद तुम्हारा भाई मोटर ले आया! स्कूटर तुम्हारे पास है, पर अब तुम चाहते हो कि मोटर में बैठो। किंतु न जाने कितनी तरह की मोटरें आ गईं। जब तक तुम बढ़िया से बढिया मोटर ले सको, तब तक हवाई जहाज़ आ जाता है। अमेरिका में सामर्थ्य वालों के पास अपने-अपने हवाई जहाज़ हैं। तुम्हारी भी इच्छा होगी कि हम भी हवाई जहाज़ में जाएँ। ये सब नई-नई चीज़ें परमेश्वर दिखलाता जाता है।

यह खेल कब तक चलेगा? जब तक अज्ञान से तुम्हारी आँखें बँधी हुई हैं। भगवान् ने खुद ही कहा है 'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः'। हो तो तुम ज्ञान-स्वरूप, लेकिन अज्ञान ने ऐसा आवृत कर दिया है कि मोह में पड़े हुए हो। यदि यह रहस्य तुम्हें बता दिया जाए और तुम्हें पता लग जाए तो खेल ख़त्म! फिर इतना बड़ा संसार जो परमात्मा दिखला रहे हैं, वह कैसे दिखला सकते हैं! जब तक तुम्हारी आँखें अज्ञान से बँधी हुई हैं, तभी तक यह खेल है। इसलिए कहा है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्।' आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है कि नटराज अपनी शक्ति से नट की तरह, बाजीगर की तरह, खेल दिखाए जा रहा है। एकमात्र वह परमात्मा ही जगत् का कारण है और अपनी शक्ति से दिखा रहा है। आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'जीवभ्रान्तिनिमित्तं हि बभाषे भामतीपतिः' वह दिखलाता है यह ठीक है, लेकिन यदि जीव में अविद्या नहीं होती तो कैसे दिखाता? इसलिए जीव की जो अविद्या है वही कारण है, जीव का जो अविद्या से भ्रम है, वही जगत् का कारण है। रस्सी स्वभाव से मंद अंधकार में सर्प दीख गई लेकिन दीखी तभी जब तुमको उस रस्सी का अज्ञान है और सर्प के संस्कार हैं। सृष्टि

अनादि होने से हमारे अंदर अनन्त संस्कार मौजूद हैं। इसलिए हम उस अज्ञान के कारण भ्रम में पड़े रहकर संसार को देखते हैं। इस प्रकार से वेदान्त की दोनों दृष्टियों में यह चीज़ साफ हो जाती है कि यह गुह्यतम क्यों है। जीव की दृष्टि से देखो, तो अज्ञान-जन्य भ्रम के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं है, स्थिति नहीं है, नाश नहीं है। ईश्वर की तरफ से देखो तो माया की शक्ति के बिना सृष्टि आदि नहीं हैं। अतः इस अज्ञान के रहस्य को बताना नहीं चाहिए, बात खुल गई तो खेल खत्म हो जाएगा। इसलिए कहा 'गुह्यतमम्'।

'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' अनुभवयुक्त ज्ञान बताने जा रहे हैं। जो ज्ञान पहले भी बतला चुके हैं उसे ही आगे स्पष्ट करके बतलायेंगे। चूंकि इसके बारे में कुछ ज्ञान पहले दे चुके हैं इसलिए अर्जुन के लिए भी यह 'इदं' ही है।

'इंद तु', तु-शब्द से बताया कि पूर्वाध्याय में कहे ध्यान की अपेक्षा यहाँ बताया जाने वाला ज्ञान अलग है, इसका फल भी विशेष है। भगवान् कहते हैं कि गीता में पहले मैंने बहुत से दूसरे ज्ञान कहे हैं, बीच में वास्तविक ज्ञान भी कहा है, किंतु अब उस ज्ञान को ही प्रधान रूप से बताऊँगा, गौणरूप से अन्य विषय भी आयेंगे। ज्ञान को समझने के लिए अज्ञान समझना अपेक्षित है, वह प्रधानतः अब तक बताया। अब ज्ञान को ही प्रधान रूप से बतलाऊँगा। 'तु' के द्वारा पूर्वोक्त ज्ञानों से इसे अलग करके कह दिया। यह ज्ञान साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए हेतु है। बाकी जो ज्ञान पहले कहे वे क्रम-मुक्ति के हेतु हैं परंतु जो सद्यो मुक्ति चाहते हैं उनके लिए वे ज़रूरी नहीं हैं। यही ज्ञान अनिवार्य है। शास्त्र में जो कहा है वह ज्ञान है। भगवान् भी गीताशास्त्र में पहले कह आए हैं 'वासुदेवः सर्वमिति' सब कुछ वासुदेव ही है। श्रुति कहती है 'आत्मैवेदं सर्वं' सारा जगत् जो तुमको दीखता है यह वस्तुतः नहीं है, केवल आत्मा ही है। ऐसा नहीं समझ लेना कि आत्मा है, साथ में कुछ और भी है! 'एकम् एव अद्वितीयम्' एक आत्मा ही है, दूसरा कुछ नहीं है। सामान्य भाषा में 'एक' मायने ही 'दूसरा नहीं।' एक रुपया दिया इसका मतलब ही है कि दूसरा रुपया नहीं दिया। 'एव' का मतलब भी यही होता है कि जो बात कही जा रही है वह ही है। फिर श्रुति ने 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' ये तीन पद क्यों दिए? यह बतलाने के लिए कि ब्रह्म जैसा भी कोई नहीं, ब्रह्म से अतिरिक्त अब्रह्म भी कोई नहीं और ब्रह्म के अन्तर्गत भी बहुत-सा कुछ नहीं है। अन्तर्गत, जैसे मनुष्य के अन्तर्गत उसके हाथ-पैर, इंद्रियाँ मन आदि हैं। प्रायः अंगों को अलग नहीं गिनते अर्थात् अंगों की दृष्टि से अंगी में अनेकता आ गयी यह नहीं मानते। इसी प्रकार बहुत-से वादियों को धोखा हो जाता है कि सारा जगत् और जीव ये सब परमात्मा के अंदर वैसे ही हैं जैसे हमारे अंदर अन्तःकरण आदि हैं। 'अद्वितीय' कह करके बताया कि उसके अंदर और कुछ भी नहीं है वह विज्ञान-घन है। लोहे का खण्ड बिल्कुल लोहा ही है पर उसमें फिर परमाणुओं के अंदर बीच में जगह होती है, किंतु आत्मा वैसा भी नहीं है, इसके बीच में कहीं जगह नहीं, विज्ञानघन ही है। इस प्रकार श्रुति ने 'एकमेवाद्वितीयम्' कह कर बाकी सबका निषेध अपने आप कर

दिया। इतना ही नहीं, श्रुति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो ईश्वर को अपने से अलग समझता है उसको हमेशा क्षयिष्णु संसार की ही प्राप्ति होगी 'क्षय्यलोका भवन्ति।' भगवान् प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि इस प्रकार से श्रुति-स्मृतियों में अत्यन्त छिपाने लायक जो बात की गई है, वह तुमको कहूँगा। क्रम-मुक्ति की बात को भगवान् ने गुह्यतम नहीं कहा, इस ज्ञान को गुह्यतम कह रहे हैं।

अर्जुन पूछ सकता है 'मुझे क्यों कह रहे हैं? औरों को भी कह दीजिए। आप तो सबके लिए एक जैसे हैं।' इसके जवाब में भगवान् बड़ा जबर्दस्त विशेषण देते हैं 'अनसूयवे।' तुझे इसलिए बतलाता हूँ कि तू असूया नहीं करता। असूया का मतलब होता है जहाँ दोष नहीं है वहाँ दोष की कल्पना कर लेना। गुरु कहता है कि एक ही ब्रह्म है। असूया वाले पूछते हैं 'किसको कह रहे हो?' यदि कहें 'तुमको कह रहे हैं', तो कहते हैं 'फिर तो दो हुए एक आप कहने वाले और एक मैं सुनने वाला। फिर अद्वितीय कैसे कहा?' असूया वाला कहने वाले के वास्तविक तात्पर्य को न समझ करके पहले ही दोष देने को तैयार है। इसलिए उसको समझाना व्यर्थ हो जाता है। अद्वैत का उपदेश शब्द से तब किया जा सकता है जब सामने वाला जो चीज़ जैसी है वैसी समझने का प्रयत्न करे, उसमें दोष ढूँढने का प्रयत्न न करे। क्योंकि वाणी से समझाने के ढंग में तो दोष है ही। वेद स्पष्ट कहता है कि वाणी के द्वारा उसको कह ही नहीं सकते। उसको बतलाने का यही तरीका है 'जिससे वाणी प्रवृत्त होती है वह ब्रह्म है।' अपने आप तुम कहोगे कि 'वाणी तो मुझ से प्रवृत्त होती है।' बस, जो तुमने कह दिया, 'तदेव ब्रह्म' वही ब्रह्म है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न को समझाने का वेद का विलक्षण तरीका है। लोग कह देते हैं 'परमात्मा है तो हमको दिखाइए।' कभी दिखा नहीं सकते परमात्मा को। जिसके कारण आँख देखती है वह परमात्मा है। देखने आदि का प्रवर्तक जो परमात्म तत्त्व है, उसकी तरफ ध्यान ले जाते हैं तब उसका साक्षात्कार होता है। जो असूयारहित होगा वह तो समझेगा, अन्यथा दोष निकालेगा कि 'जो वाणी को प्रवृत्त करता है' यों वाणी से ही तो कह रहे हैं, तब वह वाणी का अविषय कैसे? भगवान् ने और कोई गुण यहाँ नहीं बतलाया है; इस रहस्य को जानने के लिए साधक असूया से रहित होना चाहिए। असूया से युक्त होगा तो नहीं समझ सकेगा।

'विज्ञानसहितं', मैं इसको अनुभव-युक्त होकर कह रहा हूँ, मेरा यह अनुभव है। अनुभव रूप ज्ञान बड़ा दृढ होता है। एक आदमी का लड़का शराब पीने लग गया। पिता उसको बहुत समझावे कि 'शराब नहीं पी, शराब नुकसान की चीज़ है।' पर वह माने ही नहीं। एक दिन लड़के ने कहा 'पिता जी, आपको पता नहीं है शराब पी कर क्या मज़ा आता है। इसीलिए इसको छोड़ना मुश्किल है। आप ऐसा करिए, मेरे साथ एक दिन पी लीजिए, फिर छोड़ दीजिएगा, तो मैं भी छोड़ दूंगा।' पिता ने सोचा कि अगर एक बार मेरे पीने से इसका पीना जन्म-भर के लिए छूट जाए तो पी लेवें। उसने शराब पी ली। उसको

बड़ा मज़ा आया! बाद में लड़के ने पूछा 'आप छोड़ सकते हो?' पिता बोला 'नहीं, चाहे तो तू छोड़ दे, मैं तो छोड़ने वाला हूँ नहीं!' अनुभव इतना प्रबल होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं 'विज्ञानसहितं', शास्त्रोक्त रहस्य अनुभव से बिलकुल दृढ हो जाता है।

'यज्ज्ञात्वा', इसको अगर तूने समझ लिया, जान लिया तो 'अशुभात् मोक्ष्यसे' सारे अशुभों से छूट जाएगा। सबसे बड़ा अशुभ जन्म-मरण का चक्र है, इससे छूट जाएगा। इस संसार के अंदर तुझे जो 'मैं संसारी हूँ' यह प्रतीति है, यही सबसे बड़ा बंधन है। जिस क्षण तू इसको जान लेगा उसी क्षण से तू बंधन का अनुभव नहीं करेगा। श्रुतियों में आता है कि ज्ञान से ही कैवल्य मुक्ति है, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। परमात्म तत्त्व को जानते ही व्यक्ति संसार बंधन से छूट जाता है। इतना याद रखना कि 'इदं, प्रत्यक्षम्' इत्यादि शब्दों से भ्रम हो जाता है कि हमें कोई नया ज्ञान होगा! नया ज्ञान नहीं होता, तुम हो ही ब्रह्म! 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यह जो तुमको अज्ञान है, बस यह हट जायेगा। जैसे घड़े के अंदर वाले आकाश को कोई बाहर का आकाश *कर* नहीं सकता पर घड़े को फोड़ दिया तो अंदर वाला आकाश बाहर वाले के साथ एक है। जिस समय तुम समझ रहे थे कि 'घड़े से हमने आकाश को काट दिया' तब भी तुमने आकाश को काटा तो है नहीं, टुकड़ा करके तुमने उसमें डाला नहीं है! जब तक घड़ा है तब तक घड़े के अंदर का आकाश है और घड़ा नहीं रहा तो वह असीम आकाश जैसा था वैसा ही रह गया। घड़ा बनने के पहले भी वही था, घड़ा बनने के बाद भी वही रह गया। इसी प्रकार जब तक यह अहंकारात्मिका वृत्ति है तब तक तुम कर्त्ता-भोक्ता हो परंतु उस समय में भी तुम अकर्त्ता-अभोक्ता हो; और अहंकारात्मिका वृत्ति गई तो तुम कर्त्ता-भोक्ता नहीं रह गए। यह कैसे मान लें? हमको यह ज्ञान स्पष्ट हो जाए इसलिए भगवान् ने हमें सुषुप्ति दे दी। गहरी नींद प्राणिमात्र को आती है। गहरी नींद में अहम् नहीं रह जाता है। क्या है वहाँ कोई संसार बंधन की प्रतीति, दुःख-शोक की प्रतीति? क्यों नहीं है? क्योंकि वहाँ अहम् नहीं है। विचार करने वाले को इतना पता लग ही जाता है कि अहंकार के बिना किसी बंधन की प्रतीति नहीं है। किंतु सुषुप्ति में अज्ञान है, जगत् का बीज है अतः सुषुप्ति हटते ही फिर संसार खड़ा हो जाता है। घड़े के अंदर का एक आकाश है, घड़े के बाहर का आकाश है। अंदर और बाहर के आकाशों में भेद दीख रहा है। रात के बारह बजे का समय है और बिजली चली गई। तुम्हें वहाँ क्या घटाकाश महाकाश कुछ दीखता है? उस समय सब कुछ एक ही हो जाता है। घट नहीं दीख रहा है तो घटाकाश महाकाश के भेद का सवाल ही नहीं है। परंतु घड़ा है मौजूद इसलिए बिजली आयी तो तुरंत घड़ा वहाँ दीखता है, और घटाकाश भी दीख जाता है और घड़े के बाहर का महाकाश भी दीखने लगता है। सुषुप्ति इसी तरह से है जैसे बिजली गुल हो गई। सुषुप्ति *में* किसी भेद का भान है नहीं, परंतु जैसे ही सुषुप्ति गयी, वैसे ही फिर अहम् वहाँ का वहाँ मौजूद है। किन्तु अगर घड़ा तुमने फोड़ दिया तो चाहे जितनी बिजली जले, फिर घटाकाश नहीं रहेगा। इसी प्रकार अहंकार के कारणभूत अज्ञान को यदि तुमने

हटा दिया तो फिर कभी मैं और ब्रह्म का भेद नहीं रह जाएगा। इसलिए भगवान् ने फल बतला दिया 'अशुभात् मोक्ष्यसे।'।।१।।

उस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं

राजविद्या राजगुह्यम् पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

यह पावन श्रेष्ठ, धर्माविरुद्ध(ज्ञान) विद्याओं और गोपनीयों का राजा है, सुखपूर्वक सम्पाद्य इस ज्ञान का अनुभव अपरोक्ष होता है तथा इसका फल अव्यय है।

राजा को राजा क्यों कहते हैं? क्योंकि उसके अंदर अतिशय तेज होता है। एक फ्रांस देश का विदेशी राणा रणजीत सिंह के दरबार में आया था। उस ने अपने पत्रों में लिखा है, 'मैंने सुना तो ज़रूर है कि राजा काणा है पर उसके मुख पर इतना तेज है कि आज तक उसकी एक आँख है, यह बात मैं देख नहीं पाया हूँ! बहुत बार मिला हूँ। घण्टों बात की है, परंतु उसका तेज इतना ज़्यादा है कि मैं नहीं कह सकता कि मैंने उसका चेहरा स्पष्ट देखा है।' राजा ऐसा तेजस्वी होता है। लोग गालियाँ दे रहे हैं, हाय-हाय कर रहे हैं ऐसे राजाओं को देख कर भ्रम हो जाता है कि असली राजा भी ऐसे ही होते होंगे! राजा इसीलिए कहा जाता है कि वह दीप्तिमान् होता है। विद्याओं का राजा इसलिए है कि अत्यन्त दीप्ति वाला है, तेज वाला है, प्रकाशरूप है। क्यों? ब्रह्मविद्या को छोड़ कर बाकी जितनी विद्याएँ हैं, वे मरने के बाद ज़्यादा से ज़्यादा क्रममुक्ति में ले जा सकती हैं। यह इतनी तेजस्वी है कि उसी समय इसका अव्यय फल हो जाता है। ज्ञान होते ही फल हो जाता है, यह विद्या इतनी दीप्ति वाली है। इसलिए इसको राजविद्या कहते हैं। और इसीलिए 'राजगुह्यं', छिपाने योग्य जो चीज़ें हैं उनमें भी यह राजा की तरह दीप्ति वाली है। गुह्यों में दीप्तिमान् क्यों है? क्योंकि यह स्वतः अपरोक्ष स्वयम् आत्मा के बारे में है!

सन् बयालीस के अंदर अंग्रेजों के खिलाफ कांग्रेस का आंदोलन चल रहा था। उस समय गांधी जी ने कह दिया था 'मरो या करो।' सब लोग पूरी तरह से अंग्रेजों के खिलाफ काम कर रहे थे। अनेक कलैक्टरों को भगा दिया, अंग्रेजों का जो झण्डा यूनियन जैक था उसको फैंक कर उसकी जगह तिरंगा झण्डा लगा दिया, सब जगह यह सब हो रहा था। ऐसे आंदोलन को ठीक तरह से कर सकें, इसके लिए इधर-उधर चारों तरफ समाचार देना ज़रूरी होता है। अखबार तो वे छाप नहीं सकते थे। रेडियो में आने का सवाल ही नहीं था। इसलिए गुप्त कागज़ छपते थे और चुपचाप छोटे लड़के जाकर बाँट आते थे ताकि पता लगे कि आज क्या करना है और कहाँ क्या हुआ। जिस भी प्रैस में, छापेखाने में यह सब छपता था, उसी के ऊपर सरकार छापा मारती थी, कुछ मिले तो मालिक को जेल भेज देती थी, पिटाई करती थी। इटावे में एक छापाखाना ऐसा साहित्य छापता था। किसी ने आकर छापने वाले मैनेजर से कहा 'आप लोग तैय्यारी कर लें, थाने से लोग चल पड़े हैं

यहाँ आने के लिए।' उस समय उनके टेबल के ऊपर उसी पर्चे के प्रूफ पड़े थे। सभी कहने लगे 'कहाँ छिपायें, कहाँ छिपायें'? उन्होंने कहा 'कुछ मत करो।' और दो चार कागज़ों के नीचे उस कागज़ को रखकर वहीं टेबल पर छोड़ दिया। तब तक छापा डालने वाले आ गए। सारे प्रेस को ढूँढ लिया। जितने छिपे कोने थे सब जगह ढूँढ लिया। वैसा पर्चा टेबल के ऊपर खुला पड़ा रहेगा यह तो उनके मन में ही नहीं आ सकता था। किसी के मन में नहीं आता है। बाकी सब जगह देख कर कुछ नहीं मिला तो वे चले गए। किसी ने मैनेजर से कहा 'आपकी बड़ी हिम्मत है! अगर वे देख लेते तो?' वे बोले 'बस यही रहस्य है। जो चीज़ खुली होती है उसको छिपी चीज़ समझने वाले कभी ढूँढ नहीं सकते।'

इसी प्रकार परमेश्वर ने विचार किया कि मुझे देखते ही तो संसार का खेल बंद हो जाएगा, और मेरे बिना यह चल भी नहीं सकता इसीलिए मुझे इसमें रहना भी ज़रूरी है। तो कहाँ रहूँ? ऐसी जगह आकर बैठा जिसको तुम रात-दिन जानते हो। एक क्षण ऐसा नहीं जब तुम चेतन को 'मैं चेतन हूँ' ऐसे नहीं जानते। रात-दिन अपने को जानते हो। परंतु 'परमात्मा कहीं छिपा बैठा है। बद्रीनारायण में, केदारनाथ में, कहाँ छिपा बैठा है?' यह सोचते हो। बड़े यज्ञ करोगे, दान करोगे। सब कुछ करोगे क्योंकि यह तो ख्याल ही नहीं आता कि परमात्मा मैं बना हुआ बैठा हूँ। उस तरफ नज़र ही नहीं जाती है। इसको राजगुह्य इसलिए कहते हैं कि सबको इसका प्रकाश हो रहा है, सब इसको जान रहे हैं, फिर भी यह गुप्त है, इसे कोई नहीं जान रहा।

'उत्तमं पवित्रं', पवित्र करने वाली जितनी चीज़ें हैं उन सबमें यह सबसे श्रेष्ठ है। संसार में सबसे ज़्यादा घृणित चीज़ कौन-सी अपने को लगती है? शरीर। कोई चीज़ इतनी जल्दी सड़ कर खराब नहीं हो जाती जितना शरीर। और जो कुछ मांस आदि उसमें है वह सब यदि तुमको दीख जाए तो सिवाय घृणा के कुछ नहीं होगी। कभी किसी अजायबघर में जाकर देखो तो वहाँ आदमी की हड्डियों को लटका देते हैं। वही हड्डियाँ तुम्हारे अंदर हैं। ऊपर से थोड़ा-सा मांस लगा हुआ है। शरीर में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो घृणित न होवे। परन्तु जब तक परमात्मा बैठा हुआ है तब तक गुरु का शरीर, माता का शरीर, पिता का शरीर अत्यन्त पूज्य रहता है। क्यों पूज्य है? परमात्मा बैठा हुआ है इसलिए। वह नहीं होगा तो, आचार्य शंकर कहते हैं 'भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये' पति परमेश्वर के शरीर से पत्नी को ही भय लगता है! इससे ज़्यादा और कौन-सी पवित्र चीज़ तुमको मिलेगी जो सबको पवित्र करती हो? तृप्त करने वाली चीज़ों में, पवित्र करने वाली चीज़ों में सबसे श्रेष्ठ जो परमात्म-तत्त्व है उसका ज्ञान इसीलिए उत्कृष्टतम है। अनन्त जन्मों के अंदर जो तुमने धर्म और अधर्म के कर्म किए, जो तुमको आगे अनन्त जन्म देने की क्षमता वाले हैं, इतना बड़ा भयंकर जो कर्मों का बोझ है, उसको यह ज्ञान क्षणमात्र में भस्म कर देता है! 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गी.४.३७) जो अनन्त जन्मों के पाप और पुण्य तुम्हारे ऊपर आसन जमाए हुए हैं, उनको क्षणभर में नष्ट कर देता है, जला देता है।

उनमें से कोई कर्म तुम्हारा कुछ न सुधार सकता है, न बिगाड़ सकता है। अतः वह उत्तम पवित्र है, इसमें कहना ही क्या है!

'प्रत्यक्षावगमम्' प्रत्यक्ष से ही इसका पता लगता है। प्रत्यक्ष, जैसा पहले कहा था, अत्यन्त निश्चय वाले ज्ञान को कहते हैं। बढ़िया दाल का सीरा कल खाया, बड़ा आनन्द आया। इस आनन्द के विषय में कुछ सन्देह रहता है क्या? निःसन्दिग्ध है। आनन्द को क्या आँख से देखा, कान से सुना, नाक से सूंघा? किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान न होने पर भी जैसे वह आनन्द बिलकुल स्पष्ट है, इसलिए प्रत्यक्ष है और निश्चय है कि आनन्द आया, ठीक इसी प्रकार से उस परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार अपरोक्ष निश्चयरूप होता है इसलिए कहा 'प्रत्यक्षावगमम्' प्रत्यक्ष से ही इसका अवगम हो जाता है। 'प्रत्यक्ष से' अर्थात् निश्चित अनुभव के रूप में। और यह ज्ञान कैसा है? 'धर्म्यं'। धर्म से विरुद्ध नहीं है। धर्म किसको कहते हैं? जिसका फल सुख होता है। सुख पुण्य का फल है। पुण्य कहो, धर्म कहो, एक ही बात है। परन्तु जितने सुख होते हैं वे क्षणिक हैं और आत्मज्ञान जिस क्षण हो जाता है उसके बाद परम सुख कभी भी ओझल होता ही नहीं है, एक-जैसा आनन्द बना ही रहता है। इसलिये ज्ञान को धर्म्य कहा। यह धर्म से अविरुद्ध है।

इतने महत्त्व का है तो करने में बड़ा मुशकिल होता होगा? इस पर कहते हैं 'कर्तुम् सुसुखम्।' करने में यह बड़ा सरल है, कोई बड़ा भारी परिश्रम, मेहनत, यज्ञ दान तप कुछ करना हो, ऐसा नहीं है। जैसे आँख से देखने में तुमको क्या श्रम करना पड़ता है? आँख के सामने चीज़ आई और दीख गई, बस। कोई उसमें परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार परमात्म-दर्शन के अंदर कोई श्रमरूप दुःख तो करना है ही नहीं। आचार्य कहते हैं 'यथा रत्नविवेकविज्ञानम्' वाचस्पति मिश्र इसका बार-बार दृष्टान्त देते हैं। रत्न की परीक्षा के लिए कोई बोझ नहीं ढोना पड़ता है। जैसे ही समझाया जाता है कि 'हीरे में अगर हल्की नीली झाई होती है तो हीरे का भाव बढ़ जाता है। अगर बीच में कोई लकीर आदि होती है तो भाव घट जाता है।' ध्यान पूरा देकर के रत्न को देखना पड़ता है लेकिन रत्न को देखने के सिवाय और कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता कि ऐसी-ऐसी मेहनत करो तब पता लगे। इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान करने में अत्यन्त सरल है।

जब कहते हैं कि कोई चीज़ करने में अत्यन्त सरल है, सुख से कर सकते हो, तो लगता है कि उसका फल अल्प ही होता होगा। इस भ्रम को मिटाने के लिये कहते हैं कि करने में बड़ा सरल है और 'अव्ययम्' होने के बाद इसका फल कभी क्षय होता ही नहीं। जैसे दाल-भात बनाना बड़ा सरल है परन्तु खा कर *पूरा* मज़ा आता नहीं, पेट भर जाता है। दाल का सीरा बनाने में बड़ा परिश्रम है। दाल को भिजाओ, धोओ, पीसो। फिर कढ़ाई में डाल कर पकाओ। निरन्तर चलाते रहो जो लग न जाए। कठिनता से बनता है, फिर उसको खाने में मज़ा भी पूरा आता है। दाल-भात खाने की अपेक्षा बहुत ज़्यादा मज़ा आता है। ऐसा ज्ञान में नहीं। यह अतिसरल है किन्तु इससे होने वाला आनन्द क्षणभर को

भी हटता नहीं, व्यय होता ही नहीं। बाकी जितने धर्म हैं अश्वमेध, राजसूय आदि, बड़ा परिश्रम करके सम्पन्न होते हैं। उनसे अधिकाधिक ब्रह्मलोक तक चले जाओगे। परन्तु जैसे ही जितना तुमने कर्म किया है वह ख़त्म होगा वैसे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वापिस यहाँ आ जाना पड़ेगा। परन्तु परमात्मा का ज्ञान है 'अव्ययम्' करने में बड़ा सरल परन्तु इससे होने वाला जो सुख है वह अनन्त है, कभी खत्म नहीं होने वाला है। इस प्रकार भगवान् ने इस ज्ञान विज्ञान की सरलता व श्रेष्ठता बतलाई।।२।।

यदि ज्ञान इतना ही सरल और अक्षय फलवाला है तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर सब लोग इसे प्राप्त करते क्यों नहीं? ब्रह्मज्ञान में ही सब प्रवृत्ति करें। इसके उत्तर में कहते हैं

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

शत्रुतापन अर्जुन! ज्ञानरूप इस धर्म के बारे में श्रद्धारहित लोग मुझे बिना पाये मृत्त्युयुक्त संसार के रास्ते में अवश्य भटकते रहते हैं।

ज्ञान के मार्ग में लगने के लिये अनिवार्य किन्तु सबसे कठिन चीज़ है श्रद्धा। जो शास्त्र में श्रद्धा से रहित हैं आत्मज्ञान के अंदर भी उनकी श्रद्धा नहीं हो पाती। संसार में जो कुछ भी पाया है वह मेहनत करके ही मिलता है। मोक्ष बड़ा फल है तो लगता है कि इसके लिए भी कड़ी मेहनत करनी पड़ेगी। जब सुनते हैं कि बिना मेहनत के आसानी से होता है तब लगता है कि 'मोक्ष बेकार की चीज़ होगी। बिना मेहनत के केवल ज्ञान का फल इतना कहाँ हो सकता है! शास्त्र ने ऐसे ही कहा होगा, उसका तात्पर्य यह नहीं होगा।' यद्यपि इसका फल प्रत्यक्षवत् है और गुरु कहता है कि ऐसा ही है, अनुभव की बात है, तथापि श्रद्धारहित व्यक्ति सोचता है कि 'ऐसे ही कहते हैं, ऐसा हो थोड़े ही सकता है!' जब तक हम अपने स्वरूप को नहीं जानते, अपने शरीर मन इत्यादि से ही हम अपने को 'मैं' मानते हैं, तब तक उपदेश देने वाले को भी हम शरीर-मन से भिन्न नहीं कर सकते। अतः उसके शरीर मन में ऐसी क्रियाओं को देख करके जिसमें राग-द्वेषादि की कल्पना होती है, सुख-दुःख की कल्पना होती है, मान लेते हैं कि इसमें भी राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि वैसे ही हैं जैसे मुझ में हैं। अतः गुरु को यह अपरोक्ष हो गया हो, ऐसी बात श्रद्धेय नहीं, श्रद्धा के लायक नहीं है। सबसे बड़ी जो बाधा है आत्मज्ञान में, वह श्रद्धाहीनता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट कहा है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' सत्य परमात्मा श्रद्धा से ही प्राप्त होता है। बिना श्रद्धा के वह प्राप्त होता नहीं। अश्रद्धालु को पहले तो परमात्मा के स्वरूप के विषय में ही श्रद्धा नहीं होती। हमारी कुछ कल्पनाएँ हैं कि परमात्मा ऐसा होना *चाहिए,* उसके अनुरूप शास्त्र नहीं कहता है तो उसमें श्रद्धा नहीं हो पाती। कहते हैं कि 'तुम ही शरीर मन आदि के साक्षी ब्रह्मस्वरूप हो', तो झट अश्रद्धा होती है 'मैं ऐसा कैसे हो सकता हूँ!' उसके बाद जब

त्वम् पदार्थ के शोधन के द्वारा दिखलाते हैं कि 'जिसको तुम अपना स्वरूप समझ रहे हो, वह तुम नहीं हो', तब सोचते हो कि 'फिर भी, कुछ और तो होऊँगा ही!' ब्रह्म हूँ यह नहीं समझ पाते, लगता है कि कुछ तो भेद होगा ही उसमें और हम में। सर्वथा अभेद है, मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ यह निश्चय नहीं हो पाता। त्वम्-पदार्थ के शोधनमात्र से अपनी ब्रह्मरूपता की समझ नहीं आती, उसके लिये महावाक्य में श्रद्धा चाहिये। इसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप में भी श्रद्धा नहीं होती। शंका होती है कि एक-एक करके सब मुक्त होते जाते तो अब तक संसार ही खाली हो जाना चाहिए था! इसलिए लगता है कि कभी तो वापिस आना होता ही होगा। इसलिए लोग मोक्ष के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। कोई मानते हैं कि कल्पान्त तक जन्म न पाकर फिर वह ऋषि मुनि बन कर आ जाता है। इस प्रकार से कल्पनाएँ चलती रहती हैं। यों आत्म-ज्ञान के स्वरूप में और फल में भी श्रद्धा नहीं होती।

पूर्व जन्म में आसुरी वृत्ति से जिन्होंने पाप कर रखे हैं, वे पाप ही उनके अंदर अश्रद्धा की दृढता करते हैं। इसीलिए बार-बार कहना पड़ता है कि अनेक जन्मों तक शुभ कर्म करने से ही, पाप कम हो जाने से ही, श्रद्धा आएगी, अन्यथा आती ही नहीं है। अगर अश्रद्धालु को ज़बरदस्ती पढ़ा भी दो तो वह उसका अर्थान्तर करेगा, कोई दूसरा अर्थ निकालेगा। कोई स्थूल शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई सूक्ष्म शरीर को ही आत्मा मानता है। ऐसों को 'स्थूल और सूक्ष्म को छोड़ कर मेरा वास्तविक स्वरूप है' सुनने पर लगता है कि फिर तो मैं कुछ नहीं हूँ! शरीर नहीं, मन नहीं, तो फिर मैं क्या हूँ? कुछ नहीं हूँ। अतः अनेक विचारक अनात्मवादी बन गए। चूँकि अश्रद्धालु थे, इसीलिए 'पुरुषाः' इस पुर में अर्थात् शरीरमात्र में ही अपने को रहने वाला मानते रहे।

अत्यन्त सरल इस ज्ञानरूप धर्म में, केवल अश्रद्धा के कारण ही 'माम् अप्राप्य मृत्यु-संसारवर्त्मनि निवर्तन्ते' मैं जो उनका आत्मस्वरूप हूँ, उसको बिना प्राप्त किए ही पुनः इस मृत्युसंसार में आ जाते हैं। मृत्युसंसार अर्थात् मृत्यु से युक्त जो संसार है। वर्त्म मायने रास्ता। पशु, पक्षी, पेड़ पौधे इत्यादि नरकों की प्राप्ति संसारमार्ग पर भटकने पर होती रहती है। अश्रद्धालु परमात्मा को न प्राप्त करके इसी संसार में वापिस लौटता है। भगवान् ने कहा 'माम् अप्राप्य'; प्रश्न उठता है कि नहीं पाने की बात तो तब कही जाए जब पाना कहीं से प्राप्त हो। अगर तुम यहाँ से दक्षिण को जा रहे हो तो यह कहना कि तुम कश्मीर नहीं जा पाओगे, व्यर्थ है, क्योंकि दक्षिण जाने वाले को उत्तर जाना प्राप्त ही नहीं है। मोक्ष-मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक विवेक आदि ही जिसमें नहीं हैं, ज्ञान के योग्य अन्तःकरण ही जिसका नहीं है, उसको मोक्षप्राप्ति की सम्भावना कहाँ है जो उसका निषेध कर रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने कहा कि 'मुझे नहीं प्राप्त होते' अर्थात् मेरी प्राप्ति के साधन को ही नहीं प्राप्त होते। मेरी प्राप्ति का साधन है भेद-भक्ति। सृष्टि को चलाने वाला परमेश्वर है, उसकी शरणागति ही करनी है। यह भेदभक्ति ही उनमें नहीं

आ पाती है। अभेद की बात तो जाने दो, 'ऐसा परमात्मा है' यह भाव ही नहीं बनता। सृष्टि आदि करने वाला, संसाररूप में प्रकट होने वाला परमेश्वर है यह समझने पर ही उसके स्वरूप का विवेचन करें यह सम्भव होता है। शास्त्रानुसारी विवेक से पता लगता है कि वह परमेश्वर प्रत्यक्स्वरूप ही है! परन्तु अश्रद्धालु को यही पूरा विश्वास नहीं होता कि परमेश्वर है। परमेश्वर का सही पता केवल शास्त्र से लगता है। युक्तिमात्र से रचयिता तो समझ आ भी जाये लेकिन वह खुद ही जगत् बना है यह समझ नहीं आता। व्यवस्थित वस्तुओं और प्रक्रियाओं को बनाने वाला चेतन ही लोक में देखा गया है अतः व्यवस्थित सृष्टि बनाने वाला अवश्य है यही ईश्वर सिद्धि में प्रधान तर्क है। इससे वह सिद्ध भी हो जाएगा तो निमित्त कारण, बनाने वाला ही चेतन निश्चित हो पायेगा। संसाररूप में बनने वाला वही है यह उस तर्क से निर्धारित नहीं हो सकता। परमेश्वर के स्वरूप का ही जब निश्चय नहीं होगा तो फिर आगे विवेक आवे कहाँ से! अभेद रूप की प्राप्ति की सम्भावना न होने पर भेद-भावना की, परमेश्वर के प्रति भक्ति भावना की प्राप्ति हो सकती थी, उसीका निषेध किया कि वह भी नहीं हो पाती, अश्रद्धा के कारण।

वेद स्वयं ही कहता है कि जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है ही, बस इतना निश्चय भी हो तो उसे संत समझना चाहिये। मैं ब्रह्म हूँ यह तो आगे की बात है; ब्रह्म है, यही निश्चय अश्रद्धालु को नहीं हो पाता। सृष्टि में सब कुछ परमेश्वर के इशारे से होता है यह बात कहाँ लोगों को जँच पाती है? लगता है कि कोई नक्षत्र है, कोई ग्रह है, कोई योग है, कोई वस्तु है, कई चीज़ें हैं, खाली ईश्वर ही क्या करेगा! अलग-अलग देवता हैं। देवता को मनाने से कार्य हो जाएगा। अश्रद्धा का चिह्न यह भाव है कि सब कुछ को चलाने वाला एक परमेश्वर ही थोड़े ही है। ऐसे लोग मानते हैं कि 'भगवान् की पूजा तो कर लो लेकिन शनि देव को भी मना लो। या दरवाज़ा यहाँ से तोड़ कर उधर बना लो। ये सब तो करने ही पड़ेंगे। ठीक है, परमेश्वर भी है, लेकिन खाली उससे थोड़े ही काम चलेगा।' लोक में सर्वसमर्थ कोई एक न देख कर और भी विश्वास दृढ होता है कि परमेश्वर भी सर्वसमर्थ नहीं होगा। एकमात्र परमात्मा ही जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण है, इसमें ही श्रद्धा नहीं हो पाती तो जो साधन रूप भेद-भक्ति है उसी में प्रवृत्ति नहीं होती। एक बार निश्चय हो जाए कि एक परमेश्वर ही जगज्जन्मादि-हेतु है तो परमात्मा को छोड़ कर और किसी की शरण में नहीं जा सकता। अगर विश्वास हो जाए कि 'मेरा पिता करोड़पति है, जो चाहूँ उससे मिल सकता है' तो आदमी दर-दर नहीं भटकता है। पर जो सोचता है 'पिता जी तो पाँच सौ रुपये महीना दे सकते हैं इसलिए पड़ौसी से कुछ मिले तो वह ले लूँ, दूसरे से मिले तो ले लूँ, जहाँ से मिले वहाँ से ले लूँ', वह हमेशा सर्वत्र मँगता बना रहेगा। ठीक इसी प्रकार से यदि पता लग जाए कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, सब कुछ कर सकता है, तो फिर कोई ग्रह, देवता, नक्षत्र आदि की शरण नहीं ले सकता कि इनकी भी मदद मिल जाये। इसलिए 'अप्राप्य मां निवर्तन्ते' अर्थात् मेरी

प्राप्ति का मार्ग-रूप साधन-विशेष जो भेद-भक्ति है, उसकी भी प्राप्ति नहीं होती।

परन्तप! तूने अनेक दुश्मनों को मारा है, वे सारे बाहर के दुश्मन थे। तेरे घर में घुसे हुए जो दुश्मन हैं, राग-द्वेष, काम-क्रोध, इन सबको भी उतने ही प्रयत्न से मारने में तू समर्थ है इसलिए परन्तप है। वे सब भी 'पर' हैं, तुम्हारा स्वरूप नहीं। राग-द्वेष आदि को हम क्यों नहीं छोड़ पाते? हम सोचते हैं कि ये सब तो हमारे लिए बड़े काम की चीज़ें हैं! इसलिए राग-द्वेष-रहित होने की बात होती है तो आदमी यही कहता है, 'मुझ में तो कोई *खास* राग द्वेष आदि हैं नहीं। शरीर चलाने के लिए ये सब थोड़े-बहुत तो चाहिए अतः इनको नष्ट नहीं कर पाता।' भगवान् कहते हैं जैसे दूसरे दुश्मनों को तूने पर समझकर नष्ट किया है, इसी प्रकार से राग-द्वेष आदि को भी दुश्मन समझ कर नष्ट कर। इनसे काम चलता है इत्यादि जो भावना है उसको छोड़। अतः उसको कहा 'परन्तप'।।३।।

इस प्रकार परमात्मा और परमात्मा के ज्ञान की प्रशंसा तथा परमात्मज्ञान से विमुखता की निन्दा करने पर अर्जुन का मन एकाग्र हुआ जिससे भगवान् जिस बात को कहने जा रहे हैं उसको ध्यान से सुनने लगा। भगवान् ने आगे कहा

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

करणों से अगोचर स्वभाव वाले मेरे द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझ में स्थित हैं पर मैं उनमें किसी संबंध से मौजूद नहीं हूँ।

जगत् का मतलब होता है जाता हुए, अर्थात् जाने वाला। संसार में तुम किसी भी चीज़ को देखोगे, वह पहले थी नहीं और आगे रहेगी नहीं। अर्थात् 'नहीं है' से 'है' होती है, 'है' से फिर 'नहीं है' होती है। कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो निरन्तर गतिशील न होवे, बदलने वाली न होवे। स्वयं अपने को देखो बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, ये सब बदलती रहीं। किंतु यह बताओ कि इस बदलने को देखने वाले तुम यदि बदल गए होते तो बदलाव को देखते कैसे? इसलिए बदलने वाली चीज़ उपाधियाँ हैं। तुम्हारा शरीर भी उन्हीं पंचभूतों से बना है जिनसे सृष्टि बनी है। इसलिए जैसे तुम्हारा शरीर बदलने वाला है, उसी प्रवाह में वैसे ही सारा जगत् बदलने वाला है। ऐसा यह सारा जगत् मुझ से 'ततम्' व्याप्त है। जैसे बाल्यावस्था, कौमारावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, इन सबमें मैं एक-जैसा ही रहता हूँ इसलिए मेरे द्वारा ये सब अवस्थाएँ व्याप्त हैं, सबमें मैं रहता हूँ; व्याप्त अर्थात् सब में रहने वाला; वैसे ही जाग्रत् में मैं शरीर वाला हूँ, स्वप्न में बिना शरीर के केवल मन वाला हूँ, सुषुप्ति के अंदर न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर है, दोनों के बिना वाला मैं हूँ। विचार करो, तुम्हारे लिए तो यह स्पष्ट है कि इन सब अवस्थाओं में मैं था लेकिन दूसरे के लिए तुम्हारा 'मैं' कैसा रहेगा? अव्यक्त रहेगा। तुम्हारा मैं, तुम्हें स्पष्ट है पर दूसरों के लिए वह अव्यक्त है, अप्रकट है, उसका स्वरूप कभी

व्यक्त होता नहीं। व्यक्त उस को कहते हैं जो सामने से दीखता है अर्थात् जिसको जान सको। श्रुति कहती है कि जानने वाला कैसे जाना जाए? यह बड़ी विचित्र घुण्डी है। जब तक मैं को ब्रह्मरूप से नहीं समझोगे तब तक उसका रूप हमेशा अप्रकट ही रहेगा। मैं व्यक्त नहीं, परंतु यह भी नहीं कह सकते कि मैं अपने आपको प्रकट नहीं हूँ! हम लोगों को वहम बैठा हुआ है कि किसी दूसरी चीज़ से, प्रमाण से, हम प्रमेय को जानेंगे। किंतु अहम् कभी किसी प्रमाण से नहीं जाना जाएगा। पर क्या उसको जान नहीं रहे हो? तुम अपने को किस प्रमाण से जानते हो? किसी प्रमाण से नहीं। फिर भी जानते हो कि 'मैं हूँ'। इसलिये 'मैं' इन सबके अंदर अव्यक्त स्वरूप से अर्थात् किसी दूसरे को न प्रकट होते हुए मौजूद है। इसी प्रकार इस सारे जगत् में अव्यक्तमूर्ति से परमात्मा व्याप्त है। आचार्य शंकर कहते हैं कि अव्यक्तमूर्त्ति का मतलब है करणों का अगोचर स्वरूप। वह कान के द्वारा विषय होता नहीं, वाणी के द्वारा प्रकट नहीं होता। मैं वाणी से प्रकट नहीं हो सकता है। वाणी से प्रकट करते हो तो तुम्हारी अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति ही व्यक्त होती है। तुम बोलते हो 'मैं जा रहा हूँ' तो उस मैं-शब्द से तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को हम नहीं समझ पाते। हम तो तुम्हारे अहंकारात्मिका वृत्ति वाले स्वरूप को ही जान पाते हैं। तुम तो अव्यक्त ही रहते हो। न यह कथन का विषय है, न सुनने का विषय है। फिर भी बिना कहे, बिना सुने ज्ञान हो नहीं सकता है, यही इसकी विलक्षणता है।

'सर्वभूतानि मत्स्थानि' ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सभी भूत मुझमें हैं। चाहे जड की तरह प्रकट हो या चेतन की तरह, सभी भूत हैं परमात्मा में ही। हम जिन्हें क्रिया से युक्त देखते हैं उन्हें चेतन मानते हैं और जिनमें क्रिया नहीं दीखती उन्हें जड समझ लेते हैं। किंतु जिसे भी हम जानते हैं वह वस्तुतः तो जड ही है। चेतन को हम कभी जानते नहीं, वह अव्यक्त ही रहता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर के स्तम्ब पर्यन्त जितना भी तुम जड और चेतन जगत् देख रहे हो, यह सब मेरी अव्यक्त मूर्ति में, मेरे अव्यक्त स्वरूप में ही स्थित है। मुझ में स्थित इसलिए है कि कोई भी चीज़ बिना *स्वरूप* के, बिना *आत्मा* के सिद्ध होती नहीं। हर चीज़ का कोई स्वरूप है, कोई आत्मा है। जो हर चीज़ का अपना स्वरूप है, अपना आत्मा है, वही मैं हूँ। इसलिए सब कुछ मुझ में ही स्थित है, जो मेरी अव्यक्त मूर्त्ति है उसमें स्थित है। शास्त्रीय भाषा में साक्षी चैतन्य में ही सब कुछ अध्यस्त है। किसी भी चीज़ का स्वरूप परमात्मा है क्योंकि उनके स्वरूप के रूप में, उनके आत्मा के रूप में परमात्मा ही सर्वत्र स्थित है। इसलिये भगवान् ने कहा सारे भूतों का आत्मस्वरूप मैं हूँ।

अतः लोगों को भ्रम होता है कि सारी चीज़ों में परमात्मा है! मोटे दृष्टान्त से समझ लोः कड़ा, हँसिया, तेड़िया, बाजूबंद इन सब *में* सोना स्थित है मूढबुद्धि यही समझ पाता है। पर असली बात क्या है? सोने में ये सब चीज़ें स्थित हैं। इस भ्रम की निवृत्ति के लिए भगवान् स्पष्ट कहते हैं 'अहं तेषु न च अवस्थितः', मैं उनमें नहीं हूँ। यह वाक्य बड़ा

गम्भीर हैः 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' सब कुछ तो मुझ में स्थित है, पर 'अहं तेषु न अवस्थितः' मैं उनमें नहीं हूँ। यह इसे स्पष्ट करने के लिए है कि सोना व्यापक है और उस व्यापक सोने के अंदर कड़ा हंसिया, तेड़िया इत्यादि स्थित हैं। इसी प्रकार परमात्मा में जगत् स्थित है।।४।।

किन्तु फिर प्रश्न होता है कि एक कार्यरूप जगत् हुआ, एक कारणरूप परमात्मा हुए। कार्य कारण में समवाय संबंध से रहता है। इसी प्रकार क्या समवाय संबंध से भूत आप में रहते हैं? तो भी दो वस्तुएँ सिद्ध हो गयीं, अद्वैत नहीं रहा। यह समस्या सारे संसार के विचारकों को परेशान करती रही है कि पदार्थ और उसका आकार परस्पर कैसे संबद्ध हैं। आकारों को वस्तु से सचमुच अलग मानकर सारी द्वैतवादी विचारधारायें चलती हैं। अद्वैत की विचारधारा में आकार वस्तु में कल्पित ही है, सचमुच कुछ नहीं जो उसका वस्तु से कोई सच्चा संबंध हो। इस तरह प्रतीतिसिद्ध द्वैत और वास्तविक अद्वैत का सामंजस्य बैठ जाता है। भगवान् वेदान्तप्रसिद्ध विलक्षण ढंग से यह रहस्य स्पष्ट करते हैं

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

(वास्तव में) भूत मुझमें स्थित नहीं ही हैं! यह मेरी ईश्वरीय यथार्थता समझो। मेरा आत्मा भूतों का उत्पादक, संवर्धक एवं भूतों का भरण करने वाला, किन्तु भूतों में स्थित नहीं है।

परमात्मा को बताने का केवल यही तरीका है। उपनिषत् भी कहती है कि 'परमात्मा बिल्कुल हिलता ही नहीं है और सबसे तेज़ चलने वाले मन की अपेक्षा भी तेज़ चलने वाला है!' ऐसा नहीं कि ऋषि लोग भाँग के नशे में ऐसा लिखते थे! पारमार्थिक-व्यावहारिक की व्यवस्था इसी तरह समझाई जा सकती है। जैसे श्रुति ने वहाँ सर्वथा विरुद्ध बात कह दी वैसे ही भगवान् ने यहाँ एक ही साथ 'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि' मेरे अंदर सारे भूत हैं, मेरे अंदर एक छोटा-सा तिनका भी नहीं है! ये विरुद्ध बातें कह दीं। अर्जुन ने पूछा 'महाराज, ये उल्टी बातें कैसे?' भगवान् बोले 'मे ऐश्वरं योगं पश्य' यही मुझ परमेश्वर का योग है कि असम्भव को सम्भव कर देना। दृष्टान्त समझ लोः तुमको अंधेरे में साँप दीखा, प्रकाश आने पर रस्सी दीखी। कह सकते हो कि इस रस्सी में या रस्सी पर साँप दीखा। साँप रस्सी में था तभी कह रहे हो कि रस्सी में साँप दीखा। किंतु क्या साँप रस्सी में था? क्या कहोगे? 'नहीं जी, साँप रस्सी में नहीं था।' इन दोनों बातों की संगति लगाने के लिये यही कहना पड़ेगा कि साँप झूठा था। झूठी और सच्ची चीज़ों का समवाय संबंध नहीं बनता। परमात्मा की सर्वथा असंसर्गिता का प्रतिपादन करने वाला यह प्रसंग है। यहाँ भगवान् ने स्पष्ट किया कि सब कुछ मुझ में झूठ-मूठ ही दीख रहा है। यह मेरा ऐश्वर योग है कि बिना कुछ हुए सब रूपों में दीख जाना।

यह ऐश्वर योग सबमें है। लड़का मर गया, बाप दुःख में तड़प रहा है, और झपकी आती है। झपकी आते ही सारा दुःख कहाँ चला गया? फिर आँख खुली तो वही तड़पन, वही दुःख आ जाता है। अगर सचमुच का दुःख होता तो जाता कैसे? अतः बिना हुए प्रतीत हो रहा था। अगर संसार परमात्मा में प्रतीत न होकर और कहीं प्रतीत होगा तो द्वैत की सिद्धि हो जायेगी, ब्रह्म-शब्द ही असम्भव हो जाएगा! जिस प्रकार साँप कहाँ था? रस्सी में। और कहाँ नहीं था? कहीं भी नहीं था! इसी प्रकार संसार कहाँ है? परमात्मा में है। सचमुच में कहाँ है? कहीं भी नहीं है। यह है ऐश्वर योग। इसीलिए श्रुति कहती है कि आत्मा असंग है, कहीं सक्त नहीं होता। अनादि काल से हम शरीर मन आदि के संबंध वाले रहे पर आज तक क्षणमात्र के लिए भी हम शरीर वाले हुए नहीं। पिछले न जाने कितने जन्म बीते, पर क्या उन जन्मों वालों से कोई आसक्ति है? यहाँ से भी मरकर जाते हैं, फिर क्या अठन्नी का पोस्टकार्ड डालकर भी हाल-चाल पूछते हैं? मरने के साथ ही सर्वथा उनसे असंग हो जाते हो, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अनादि काल से हमारा संबंध शरीर मन आदि से रहा फिर भी उसका कुछ असर नहीं रहता है चेतन के ऊपर, वह वैसा-का-वैसा साक्षिस्वरूप है। दीखते समय लगता है कि ज़रूर संबंध है किन्तु पिता जी ने मरने के बाद जान बूझ कर चिट्ठी न डाली हो, ऐसा कुछ नहीं है। उनका स्वरूप ही असंग है। चाहे जितने हमसे चिपक कर रहे, लेकिन सक्त नहीं हुए। इसी प्रकार संसार की सारी चीज़ें जब हमें दीखती हैं तब, जैसा आचार्य शंकर कहते हैं, 'स्वकाले सत्यवद् भाति' सत्य की तरह ही लगती हैं पर 'प्रबोधे सत्यसद् भवेत्' जैसे ही ज्ञान होता है वैसे ही असत्य हो जाती हैं। हमेशा स्वप्न के दृष्टान्त से सोचोः जितनी देर स्वप्न दीखता है उतनी देर सच्चा ही लगता है, वहाँ भी तुम इसी प्रकार तर्क करते हो 'यदि यह झूठा होवे तो इस दीवार में सिर मारने से गुमड़ी कैसे निकले?' दीवार में सिर मारते हो और गुमड़ी निकलती भी है। कहाँ? स्वप्न में। किंतु जैसे ही जागते हो वैसे ही इस बात को निश्चय रूप से जानते हो कि वहाँ कोई नहीं था जिसका सिर भिड़ा हो। वहाँ कुछ भी नहीं था, केवल उस सारे रूप में दीखने वाले तुम ही थे। उस सब रूप में तुम बने *नहीं,* दीखे। ऐसे ही ब्रह्म की अव्यक्त मूर्ति ब्रह्माण्ड के रूप में दीख रही है लेकिन ब्रह्म ब्रह्माण्ड बना नहीं है। इसे ही भगवान् ने अपना ऐश्वर योग कहा।

भगवान् और भी कहते हैं मेरा ऐश्वर योग कैसा आश्चर्य वाला है! 'भूतभृत्' मैं असंग हूँ और फिर सारे भूतों का भरण-पोषण करता हूँ। सारे भूतों को, प्राणिमात्र को, चींटी को कण और हाथी को मन, सब मैं देता हूँ, सबका भरण-पोषण करता हूँ। 'न च भूतस्थः' परन्तु मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ। उन सबका भरण-पोषण करते हुए भी उन भूतों में मैं स्थित नहीं हूँ। ये सब मेरे में स्थित हैं, मेरे द्वारा इनका भरण-पोषण हो रहा है यह सब कैसे कहता हूँ? देहादि-संघात को अलग रखते हुए, उसमें अहंकार का अध्यारोप करके योगबुद्धि का अनुसरण करते हुए इस प्रकार से कहा जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने

कहा है कि अहं-पद के तीन अर्थ हैं : जो सर्वथा सांसारिक पुरुष है वह अहम् कहता है तो उसका मतलब शरीर-मन है। वह कहता है 'मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ' तो सचमुच जाने खाने वाले शरीर को ही मैं समझता है। जब ज्ञानी कहता है 'मैं चेतन हूँ, मैं ब्रह्म हूँ', तब वह देहादि-संघात से अलग किए हुए को ही ब्रह्म कह रहा है। और जब ज्ञानी व्यवहार करता है तब देहादि-संघात में अहम् का आरोप करके ही करता है। ज्ञानी और अज्ञानी में फ़र्क यह है कि अज्ञानी तो शरीर आदि को ही मैं समझता है और ज्ञानी उसका मैं-रूप से केवल व्यवहार करता है। जब स्वरूप का वर्णन ज्ञानी करता है तब वह चिन्मात्र को ही मैं समझता है। परन्तु व्यवहार काल में अहंकार का आरोप कर लेता है क्योंकि लोक-बुद्धि ऐसे व्यवहार से ही समझती है, सामान्य आदमी इसी तरह से समझ सकता है। शरीर आदि में अहंकार का अध्यारोप करके ही व्यवहार होता है। किंतु ज्ञानी जब व्यवहार कर रहा है तब भी अपने असली स्वरूप को भूलता नहीं है। बुद्धि जिस शरीर आदि में अहम् रूप को समझती है उस रूप से ही उपदेश बन सकता है।

इस प्रकार से व्यवहार क्यों करता हूँ? 'भूतभावनः' भूतों की मान्यता के, भावनाओं के अनुरूप वे समझ सकें, इसके लिए अहम् शब्द का प्रयोग शुद्ध आत्मा के लिए करना पड़ता है। भूतों को मैंने ही उत्पन्न किया है, मुझ से ही बढ़ते हैं और मुझ से ही मुक्ति भी पाएँगे इसलिये ऐसा मुझे करना उचित है।।५।।

मिथ्यात्व को उपपन्न करने के लिये जिस प्रकार द्वितीय अध्याय में संसार की अजातता को बतलाया था 'नासतो विद्यते भावः' आदि से कि न सत् की उत्पत्ति सम्भव है न असत् की उत्पत्ति सम्भव है अतः सत्-असत् से विलक्षण जो मिथ्या वही उत्पन्न होता है; ऐसे ही यहाँ बतलाया कि सारा संसार कहाँ है? मुझ में 'मत्स्थानि सर्वभूतानि', सारे भूत जहाँ हैं वही 'प्रतिपन्न उपाधि' हो गई और उसी में 'न च मत्स्थानि भूतानि' से सारे भूतों का निषेध कर दिया, जहाँ प्राप्ति हो सकती है वहीं निषेध कर दिया। मिथ्या का स्वरूप है कि जहाँ जिसकी प्राप्ति हो वहीं उसका होना सम्भव न हो। जैसे रस्सी में ही साँप दीखा, रस्सी के बिना तो साँप दीखा नहीं और उस साँप का रस्सी में होना तीनों कालों में बनता नहीं इसलिए सर्प मिथ्या है। वैसे ही सारा संसार यदि सम्भव है तो परमात्मा में ही, और वहीं भगवान् ने निषेध कर दिया कि सम्भव नहीं! अतः संसार को मुखतः मिथ्या बता दिया। 'मुझ में है और मुझ में नहीं है' ये दोनों बातें स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती, अतः दृष्टान्त से समझाते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

सर्वत्र संचार करने वाला महत्परिमाणी वायु जैसे हमेशा आकाश में रहता है वैसे सारे भूत मुझ में हैं ऐसा समझो।

वायु कहाँ रहती है? यही कह सकते हो कि वायु आकाश में रहती है। आकाश में रहते हुए ही 'सर्वत्रगः' सर्वत्र व्यापी है। महान्, उसका परिमाण, माप ही महान् अर्थात् व्यापक है। आकाश निरवयव पदार्थ है। जो निरवयव पदार्थ होता है उसका किसी सावयव वस्तु के साथ संसर्ग सम्भव नहीं। दो चीज़ें जुड़ेंगी तो उनका एक-एक हिस्सा जुड़ेगा, दूसरे हिस्से नहीं जुड़ पायेंगे। आकाश निरवयव होने से किसी से संश्लिष्ट, सच्चे संबंध वाला होता नहीं। फिर भी, वायु कहाँ रहती है? सिवाय आकाश में रहने के और कहाँ बतला सकते हो! 'सर्वत्रगः' के द्वारा बतलाया कि वह सब जगह जाती है। जगह होगी तभी कोई जाएगा। आकाश अर्थात् खाली जगह। वायु महान् है, सर्वत्रग है और आकाश में स्थित है। फिर भी वायु और आकाश का कोई संश्लेष होता नहीं। वायु सूक्ष्म है, उससे मोटी चीज़ को समझ लो बादल से पानी किसमें बरसता है? आकाश में बरसता है। ऊपर से पानी कहाँ से आता है? आकाश से आता है। परंतु जैसे ही पानी बरसना बंद हुआ, आकाश पुनः वैस-का-वैसा निर्मल हो जाता है। अगर पानी के साथ *संबंध* हुआ होता तो कुछ समय लगता सूखने में। मारवाड़ के अंदर काली आँधी चलती है, आकाश भर में धूल भर जाती है। वह धूल कहाँ है? आकाश में है। परंतु थोड़ा-सा पानी बरस जाये, हवा चलनी बंद हो जाये, तो आकाश को साफ करने के लिए क्या झाड़-पौंछ करनी पड़ती है? जैसे आकाश के अंदर वायु बिना उसके साथ संश्लिष्ट हुए रहती है, बिना किसी प्रकार का सम्पर्क, संबंध किए हुए रहती है, 'तथा सर्वाणि भूतानि' वैसे ही जड और चेतन सारा संसार 'मत्स्थानि' मेरे अंदर ही स्थित है पर मेरा उसके साथ कोई संसर्ग, संबंध बनता नहीं।

'इति उपधारय' यह भली प्रकार से धारणा करो अर्थात् दृढ निश्चय करो। सारा संसार सिवाय परमात्मा के और कहीं रह नहीं सकता। क्यों? परमात्मा ही इस जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। जब तक यह निश्चय नहीं होगा कि ब्रह्म ही एकमात्र जगत् का उपादान और निमित्त कारण है तब तक हमेशा सम्भावना रहेगी कि संसार कहीं तो होगा! किंतु वास्तविकता है कि जिस उपाधि में दीखता है, उसी उपाधि में नहीं है। ब्रह्म में ही जगत् सम्भव है, उसी से उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है। वेदान्तों में जहाँ-कहीं परमात्मभाव का उपदेश होता है, वहाँ सबसे पहले यही सिद्ध करते हैं कि सृष्टि होने से पहले एकमात्र ब्रह्म, परमात्मा था। उसने *बिना किसी सहायता के,* केवल ईक्षणमात्र से सृष्टि की। यह प्रक्रिया बिलकुल ठीक तरह से समझना ज़रूरी इसलिए है कि जब ब्रह्म के अंदर संसार का अभाव प्रतीत हो तब उसे फिर और कहीं नहीं ढूँढें। इसलिए भगवान् ने कहा कि 'मत्स्थानि इति उपधारय।' मुझे में ही ये स्थित हैं और मुझ में स्थित होना बनता नहीं इसलिए ये केवल कल्पित हैं।।६।।

जिस प्रकार से भूत परमात्मा में रहते हैं उसी प्रकार लीन भी उसी में होते हैं यह बताते हैं

सर्वभूतानी कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

कुन्तीसुत! प्रलयकाल में सारे भूत मेरी अपरा प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उत्पत्तिकाल में मैं उन्हें पुनः व्यक्त कर देता हूँ।

सारे भूत मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति में लीन होते हैं। 'कल्पक्षये,' जब ब्रह्मा जी सोते हैं तब कल्पक्षय होता है, और ये सारे भूत प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। फिर जब ब्रह्मा जी जगते हैं तब दूसरा कल्प प्रारम्भ होता है, तब उन सब भूतों को मैं फिर बना देता हूँ। केवल 'प्रकृति में लीन' कहने से कोई समझ सकता था कि प्रकृति में आते-जाते हैं, इसमें ब्रह्म का क्या लेना-देना! वर्तमान काल में अनेक आधुनिक यही मानते हैं कि सब प्रकृति, 'नेचर' से ही होता है इसीलिए सब को 'नैचरल', 'नेचर' से होने वाला कहते हैं। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट कर दिया 'अहम् विसृजामि।' प्रकृति से अपने-आप हो जाते हों ऐसा कुछ नहीं है, मैं ही ईक्षण करके फिर उनको प्रकट करता हूँ। जब कल्पान्त होता है तब सब कुछ परमेश्वर अपनी अपरा प्रकृति में लीन कर लेते हैं। और सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः उन सबको बना देते हैं। इस प्रकार का जो कल्पादि और कल्पान्त में फिर-फिर पैदा-लीन होना है, यह अनादि काल से अनन्त काल तक चलता रहता है।।७।।

इसी उत्पादन को स्पष्ट करते हैं

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर्वशात्।।।८।।

स्वभाव से ही परतन्त्र इस सारे भूतसमुदाय को मैं अपनी प्रकृति को वशमें रखते हुए ही बार-बार प्रकट करता हूँ।

प्रकृति मेरी अपनी है अर्थात् स्वतन्त्र नहीं है। ठीक जिस प्रकार से खाने की शक्ति मेरी है इसलिए मैं खाता हूँ। खाने की शक्ति न होवे तो मैं न खाऊँ। कई बार लोगों को ऐसा रोग हो जाता है कि कुछ भी नहीं खा सकते क्योंकि खाने की शक्ति नहीं रही। फिर जब क्षुधावर्धिनी वटी खाते हैं, तो भूख लगने लग जाती है, पुनः खाते हैं। भूख के बिना नहीं खा सकते यह तो ठीक है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि भूख ही खा लेगी! खाते तो हम ही हैं, क्योंकि भूख लगने पर भी न खावें यह सम्भव है : भूख लगी है पर किसी दुश्मन के घर में हो; तुम समझते हो 'यह जहर दे सकता है'। वह कहता है 'खा लो, बहुत बढ़िया दाल का सीरा बना है।' तुम नहीं खाते, कहते हो 'नहीं-नहीं जी, अभी मुझे भूख नहीं है।' यदि भूख ही खाने वाली होती तो तुम कुछ नहीं कर सकते थे, जहर भी खा लेते। अतः भूख तुम्हारी है। भूख के बिना नहीं खा सकते लेकिन खाने वाली भूख नहीं है, तुम हो। इसी प्रकार अविद्यारूप प्रकृति के बिना सृष्टि की प्रतिपत्ति, सृष्टि का ज्ञान हो नहीं सकता परंतु इसका मतलब यह नहीं कि अविद्या ही उसको उत्पन्न कर देगी! उत्पन्न

तो मैं परमात्मा करूँगा।

'स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य' अर्थात् उस प्रकृति के ऊपर हर क्षण मेरा नियंत्रण है। वह मेरे वश में है। उसको वश में रख कर ही 'पुनः पुनः विसृजामि' हर कल्प के आदि में बार-बार मैं सृष्टि करता हूँ। यह सारा ही भूतों का समुदाय है, पंचमहाभूतों से ही सारी सृष्टि है, इसीलिए संसार समुदाय है। पाँचों मिल कर ही यह सृष्टि है। अतः कहा कि जितने भी पंचभूत हैं उन सबको बार-बार उत्पन्न करता हूँ। जिसको उत्पन्न करता हूँ वह कैसा है? 'इमम्' यह प्रत्यक्षसिद्ध सारे पंचमहाभूतों का सारा कार्य सामने मौजूद है। सारा भूतग्राम 'अवशं' स्वतन्त्र नहीं है; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन सारे दोषों के परतन्त्र है, इनके अधीन बना हुआ है, अपनी प्रकृति के वश में है। जैसे अभी बतलाया, भूख लगी तो खा सकते हो, नहीं भी खा सकते हो, पर लगने से ही खाना संभव बनता है, ठीक इसी प्रकार से परमात्मा सृष्टि करता है। महाप्रलय में पुनर्नवीनीकरण हो जाने पर प्रकृति का स्वभाव है कि प्रपंच पुनः प्रकट होता है पर परमात्मा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है। जैसे भूख लगने पर तुम खाओ या न खाओ, तुम्हारी स्वतन्त्रता है, पर जब पूरे ज़ोर की भूख लगी है तब खाने का ही तुम्हारा स्वभाव है, इसी प्रकार जब सारे प्राणियों का प्रारब्ध फलोन्मुखी होता है, तब उनको प्रारब्ध का फल देने के लिए स्वभाव से ही परमात्मा सृष्टि बना लेते हैं। स्वतन्त्र इसलिए रहते हैं कि हम अविद्या दोष वाले होने से प्रकृति के अधीन ही अपने को अनुभव करते हैं जबकि वे निर्दोष हैं, प्रकृति को अपने अधीन रखते हैं।।८।।

लोक में देखने में आता है कि सारे भूतग्राम को आप एक-जैसा पैदा नहीं करते, विषम रूप से उत्पन्न करते हैं। विषम सृष्टि करने के कारण जिसको आपने अच्छा बनाया उसका पुण्य भी आपको लगेगा और जिसे खराब बनाया, उसे खराब बनाने का पाप भी आपको लगेगा। यह शंका परमात्मा के बारे में बहुत लोगों को होती है। प्रायःप्रश्न करते हैं कि परमेश्वर ने विषम सृष्टि क्यों बनाई? यह इसलिये कि लोगों के सोचने का प्रकार है कि कभी ऐसा समय था जब सृष्टि-प्रलय का चक्र नहीं था। इसलिए सब लोग एक-जैसे थे। ऐसी ही दृष्टि से यूरोप के अंदर कुछ लोगों ने सिद्धान्त बनाया कि सभी लोग जन्म के समय एक जैसे होते हैं, किसी में कोई फ़र्क नहीं, उनके अंदर जो फ़र्क आता है उसका कारण चारों तरफ की परिस्थितियाँ हैं। किसी को जँचा कि सबसे बड़ी परिस्थिति अर्थ-व्यवस्था है, अर्थव्यवस्था के कारण ही लोग अच्छे और बुरे बनते हैं। अतः अर्थव्यवस्था सबके लिए एक-जैसी हो जाए तो सब लोग एक-जैसे हो जाएँगे। पिचहत्तर सालों तक इसकी कोशिश करते रहे रूस में कि आर्थिक व्यवस्था एक-जैसी हो जाए ताकि सब एक जैसे हो जाएँ, पर नहीं कर पाए। विचार करने वाले सोचते हैं कि खाली आर्थिक कारण होता तो वहाँ समानता आ जाती। यूरोप वालों के यहाँ पुनर्जन्मवाद है नहीं; जो पैदा हुआ है वह पहले पैदा हुआ था और उसने कुछ किया था, यह उनके यहाँ स्वीकार है नहीं। अतः

उनकी समस्या है कि लोगों को परमेश्वर ने भिन्न ढंग से क्यों पैदा किया? चारों तरफ नज़र डालो, अधिकतर लोग उन्होंने बेवकूफ बनाए, थोड़े-से ही बुद्धिमान् बनाए। अधिकतर लोग उन्होंने आलसी बनाए, कुछ थोड़े-से हैं जिन्हें काम करने का जोश होता है। अतः परमेश्वर ने विषम सृष्टि की और उसमें भी अधिक सृष्टि खराब की, तो इसलिए क्या ज़्यादा पाप किया? थोड़ा-बहुत पुण्य भी हुआ होगा क्योंकि कुछ अच्छे लोगों को भी बना दिया। जन्म के पहले पूर्व जन्म को न मानने के कारण, परमेश्वर में धर्म और अधर्म की प्राप्ति को कोई रोक नहीं सकता। वैदिक परम्परा में तुम्हारे दुःखी-सुखी होने का कारण तुम्हारे पूर्व जन्म के अपने कर्म हैं। इसलिए हमारे यहाँ सब लोग एक-जैसे पैदा *नहीं* होते, सब अलग-अलग तरह के पैदा होते हैं, अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं। जैसे लोग नये नहीं पैदा होते वैसे ही सृष्टि भी नयी कभी पैदा नहीं होती, हमेशा से ही यह प्रवाह चल रहा है। परमेश्वर केवल तुम्हारे कर्मों का फल देता है, स्वयं धर्माधर्म करने वाला नहीं बनता। इसी बात को कहते हैं

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनम् असक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

धनंजय! जो कर्म (विषम सृष्टि में निमित्त हैं) वे उपेक्षक की तरह उन कर्मों में अनासक्त मुझ ईश्वर को किसी दृढ बंधन में नहीं ही डालते।

सृष्टि के आदि में भी असुर पैदा होंगे, देव पैदा होंगे, लेकिन असुर वही पैदा होगा जिसने पूर्व जन्म में आसुरी कर्मों को किया है और आसुरी संस्कार वाला है। परमात्मा ऐसे को ही आसुरी बनायेंगे। कर्म के अनुसार भगवान् फल देते हैं। जैसे न्यायाधीश किसी चोर को जेल देता है, कई बार फाँसी भी दे देता है तो उसे हत्या का दोष नहीं लगता है क्योंकि चोर ने जैसा किया वैसा उसे दण्ड दिया है। तुमने किसी से रुपए उधार लिए, उसको ब्याज तक नहीं दिया। न्यायाधीश ब्याज के साथ जुर्माना लगा कर कहता है 'इतने रुपए उसको देने पड़ेंगे।' उस आदमी को लाभ हुआ, जुर्माना भी मिला। वह उसके किसी अच्छे काम का पुरस्कार है। किंतु न्यायाधीश ने उसे देकर धर्म कर लिया हो ऐसा नहीं है। इसी प्रकार से परमात्मा विषम सृष्टि को करते हुए भी विषम सृष्टि का *करने वाला* नहीं है क्योंकि जीवों ने जैसा किया तदनुकूल ही उन्हें फल दे रहा है। यह नियम हमेशा याद रखना व्यवहार में कि जो दण्ड के योग्य है उसको दण्ड नहीं देना भी अपराध है। ऐसे ही जो पुरस्कार के योग्य है उसे पुरस्कार नहीं देते, तब भी तुमने ग़लत काम किया। जो दण्ड के योग्य है उसे दण्ड देते हो, पुरस्कार के योग्य को पुरस्कार देते हो तो तुम ऐसा करके भी *करने वाले* नहीं हो क्योंकि कर्मानुरूप दिया है। इसलिए भगवान् ने कहा कि विषम सर्ग का निमित्त जो कर्म है वह मुझे नहीं बाँधता, उस धर्माधर्म को मैं प्राप्त नहीं करता, इसलिए मैं उस कर्म के बंधन में नहीं आता।

क्यों? स्पष्ट करते हैं 'उदासीनवत् आसीनम्।' जो व्यक्ति उदासीन है अर्थात् उसकी कोई अपेक्षा नहीं है, वह आसीन रहता है, बैठा रहता है। जैसे न्यायाधीश न्याय की कुर्सी पर बैठा हुआ उदासीन है, यह जीते या वह जीते, इसमें उसे कोई आग्रह नहीं है, निरपेक्ष है। जैसा किसी ने किया होगा वैसा ही वह निर्णय देगा। मैं भी ऐसे उदासीन की तरह आसीन हूँ। जिसने जैसा कर्म किया है वैसा ही उसको फल देता हूँ, मैं निरपेक्ष रहता हूँ। निरपेक्षता का मूल कारण है कि मैं अविकारी हूँ, गुण-दोषों से मुझ में विकार नहीं आता। साधारण न्यायाधीश के लिए यह नहीं कह सकते, उसमें तो विकार आ जाते हैं : एक राजा का लड़का था। गुरु जी ने उसको दस साल तक पढ़ाया। उसकी पढ़ाई ख़त्म हुई तो उसको दनादन दस बेंत मारे। फिर राजा को खबर भेज दी 'इसकी पढ़ाई खत्म हो गई है।' राजा आया, बड़ा प्रसन्न हुआ। लड़के से पूछा 'अरे, तुमको कभी कोई दण्ड तो नहीं मिला?' उसने कहा 'कल ज़रा मिला, उसके पहले कभी नहीं मिला। दनादन दस बेंत पड़े।' राजा ने गुरु जी से पूछा 'इसने क्या गलती की जो इसको मार पड़ी?' उन्होंने कहा 'नहीं-नहीं, बहुत अच्छा लड़का है, कभी गलती नहीं की, कभी डाँटना भी नहीं पड़ा। समय से पढ़ता रहा, साधना भी करता रहा है।' 'आपने इसे बेंत से क्यों मारा?' 'वह तो शिक्षा थी! यह राजा है, अनेक प्रकार के अपराधी आएँगे, उनको दण्ड देगा। इसको पता नहीं होगा कि बेंत खाना कैसा है तो जो मुँह में आएगा बोल देगा कि 'इसको दस बेंत मार दो, इसको पाँच बेंत मार दो।' मैंने इसको दण्ड के लिए नहीं मारा है, इसको शिक्षा के लिए मारा है कि इसको पता होवे कि एक बेंत की मार कैसी, दो की कैसी, चार की कैसी।' दण्ड देते समय आदमी को उसके अनुभव का पता होना चाहिए। इसीलिए परमेश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप से जीव बन कर कर्मों के फलों का भोग भी कर लेता है। परंतु बिम्ब रूप से कर्म करने वाला नहीं बनता इसलिए भगवान् ने समझाया कि विषम सृष्टि को करते हुए भी उन कर्मों के प्रति मैं सर्वथा असक्त हूँ, अर्थात् अभिमान से सर्वथा रहित हूँ कि 'मैंने किया'। जिसने किया, उसे उसका फल जो मिलना है, वह मिला, मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ। अपराधी ने जैसा कर्म किया वैसा फल उसे न्यायाधीश देता है तो उसे कोई क्रूर नहीं कहता, कोई दयालु नहीं कहता।निरपेक्ष न होकर अपनी तरफ से किसी को दण्ड देवे, तब उस न्यायाधीश को लोग दोष देते हैं। सर्वथा अपेक्षा से रहित होकर जो न्याय प्रदान करता है वह दोष का भागी नहीं बनता क्योंकि उसके अन्दर अभिमान नहीं है कि 'मैंने दण्ड दिया।' यही भाव रहता है कि 'इसने कर्म ऐसा किया इसलिए दण्ड दिया गया।'

भगवान् भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि केवल परमेश्वर ही नहीं, अन्य भी जो आसक्ति व अभिमान से रहित है वह कर्मों से बँधा नहीं है। यदि कर्तृत्व का अभिमान नहीं है 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा अभिमान नहीं है, और 'इससे होने वाले धर्माधर्म रूप फल मुझे होवें', यह इच्छा भी नहीं है, तो बंधन का पात्र नहीं बनता। हम लोग क्यों धर्माधर्म के बंधन में आते हैं? अभिमान और आसक्ति के कारण ही। हमें कर्तृत्व का अभिमान रहता

है कि 'मैंन किया।' कर्तृत्व-अभिमान भी बड़ा विचित्र है, जब अच्छा काम होता है तब कर्तृत्व-अभिमान पूरे ज़ोर से आता है कि 'मैंने किया' और जब ग़लत काम होता है तब हमेशा उसमें हेतु रहता है 'दूसरे के कारण, परिस्थिति के कारण, अमुक चीज़ के कारण किया। मैं और कर ही क्या सकता था!' अच्छा होने पर यह भाव नहीं बनता कि 'मैं और कर ही क्या सकता था?' उसमें अभिमान रहता है कि मैंने किया। कर्तृत्व-अभिमान न होवे और उसका फल मुझे मिले यह इच्छा न होवे तो बंधन भी नहीं हो सकता। मैंने व्यापार किया, इसका फल मुझे होवे यह फलासक्ति है। जब होता है कि 'मैंने किया ही नहीं है', तब स्वभावतः फलासक्ति भी नहीं रहती। एक के किए से दूसरे के मन में फल की आसक्ति नहीं होती। अतः कर्तृत्व-अभिमान और फलासंगाभाव ये दोनों करीब-करीब साथ ही रहते हैं। ये दोनों न होने पर कर्म का बंधन नहीं होता। जो इस बात को नहीं समझते वे अपने आपको इस कर्म और फल-आसक्ति से बाँध लेते हैं जैसे रेशम का कीड़ा अपने बनाये धागे में फँस जाता है।।६।।

भगवान् ने दो बातें कहीं एक तो कहा कि इन सारे भूतों को मैं पैदा करता हूँ; और दूसरा कहा कि मैं उदासीन की तरह बैठा रहता हूँ, सब चीज़ों के प्रति मैं निरपेक्ष हूँ। प्रश्न होता है कि निरपेक्ष हैं तो सृष्टि करते क्यों हैं? करते हैं, तो निरपेक्ष नहीं हो सकते। इसका उत्तर देते है

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

कौन्तेय! मुझ अविक्रिय आत्मा के रहते प्रकृति सक्रिय-निष्क्रिय जगत् उत्पन्न करती है। मेरी अध्यक्षता के निमित्त से जगत् नाना प्रकार से बदलता रहता है।

भगवान् कहते हैं मैं अध्यक्ष हूँ। जैसे किसी सभा का अध्यक्ष तटस्थ रहता है; सभासद् लोग आपस में सापेक्ष होकर कार्य करते हैं, हर चाहता है 'मैं जीतूँ, मैं जीतूँ;' अध्यक्ष के कहने से ही सब कार्यवाही होती है, वह कहता है 'इस विषय पर आप लोग विचार करो' तो उसी विषय पर विचार करते हैं। परन्तु फिर भी उस सभा में जो हुआ उसे अध्यक्ष न यह मान सकता है कि 'मैंने किया' न उसके अच्छे-बुरे से उसके ऊपर कोई आक्षेप आता है। इंग्लैण्ड में इसलिए अनेक वर्षों से एक परम्परा है कि जो वहाँ की संसद का अध्यक्ष बनता है उसके खिलाफ कोई चुनाव नहीं लड़ता। चुनाव में तो कहना पड़ेगा 'इसने यह गलती की, इसने यह अच्छा किया।' संसद कुछ भी निर्णय करे, उसको करने वाला अध्यक्ष नहीं माना जा सकता है। उसके बिना तो सभा हो नहीं सकती पर करने वाले सब सदस्य हैं। ठीक इसी प्रकार शरीर में समझ लो : मेरे बिना तो आँखें देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते, जीभ चख नहीं सकती, पैर चल नहीं सकते, वाणी बोल नहीं सकती, परंतु करते तो ये सब ही हैं। आँख ही देखती है, मेरे रहने पर देखती है। आँख अंधी हो

जाती है तो मैं कुछ नहीं देख सकता। यदि देख सकना मेरे हाथ में होता तो अंधा होने के बाद भी देख लेता! इस सारे भूतग्राम का अपने शरीर में कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त इन सबका अध्यक्ष मैं हूँ। मेरे बिना यह नहीं चलेगा परन्तु करने वाले ये सब हैं। इसी प्रकार से भगवान् कहते हैं कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति मुझ अध्यक्ष के होने पर ही प्रवृत्ति करती है, जड-चेतन सबकी सृष्टि करती है। चेतन की सृष्टि कैसे? सूर्य था, किन्तु काँच नहीं था तो प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा था। काँच बनेगा तभी सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार परमात्मा है परन्तु जब तक अन्तःकरण नहीं बनेगा तब तक उसमें जीव की प्रतिबिम्बता आएगी नहीं। अतः अन्तःकरण को बना कर जीव को प्रकट करने वाली भी प्रकृति ही है। और अचर अर्थात् जड प्रकृति से बना है, इसमें कुछ कहना ही नहीं है। इसलिए भगवान् ने कहा 'सचराचरम्।' सचर से मतलब यह नहीं ले लेना कि जीव को उत्पन्न करती है। काँच को रख कर तुम प्रतिबिम्ब को उत्पन्न नहीं करते हो, पर काँच को रख कर तुम प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव कर देते हो। इसी प्रकार प्रकृति अन्तःकरण को बना कर जीव को बनाती है ऐसा नहीं, क्योंकि जीव तो अज है, परन्तु अन्तःकरण को बना कर जीवभाव को प्रकट होने देती है। इस तरह 'सचराचरम् सूयते' सब को पैदा करती है। लेकिन कब? 'मयाध्यक्षेण', मेरे अध्यक्ष रहने पर; मेरे बिना प्रकृति नहीं चल सकती।

मैं कैसा हूँ? भाष्यकार ने बताया 'मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेण अविक्रियात्मना' मैं हर तरह से ज्ञानैकस्वभाव हूँ, निर्विकार हूँ। मेरे में कोई विकार सम्भव नहीं है क्योंकि विकार सारा दृश्य में होता है, दृक् में नहीं होता। द्रष्टा कहने से तो अन्तःकरण भी आ जाता है और अन्तःकरण स्वयं दृश्य है। अविकारी तो साक्षी है। कहीं-कहीं प्रसंगवशात् द्रष्टा शब्द का प्रयोग साक्षी के लिए भी कर लेते हैं। परन्तु मूलतः भेद यह है कि साक्षी ज्ञानरूप है जबकि प्रमाता ज्ञेय और ज्ञानसाधन पर निर्भर ज्ञान वाला है। 'जानना' इसमें कोई विकार नहीं आता। तुम चाहे कस्तूरी की सुगंध को सूँघो, चाहे सुअर के टट्टी की गंध को सूँघो, ज्ञान एक जैसा ही होता है। ज्ञान में कोई विकार नहीं आता। ज्ञान अच्छी-से-अच्छी चीज़ और बुरी-से-बुरी चीज़ को वैसे ही जानता है। इसलिए परमात्मा दृग्रूप होने के कारण अविकारी है, विकार से रहित है।

'अनेन हेतुना' यह जो अध्यक्षरूप हेतु है, अध्यक्षतारूप निमित्त है, इससे सचराचर, व्यक्त-अव्यक्त जो भी है, वह सब 'विपरिवर्तते' सारी अवस्थाओं में बदलता रहता है। जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ किसलिए हैं? साक्षी चेतन के ज्ञान का विषय बनने के लिए। इसी को सांख्य लोग कह देते हैं कि पुरुष के लिए प्रकृति के सारे कार्य हैं। साक्षी चेतन का विषय होने के लिए ही सारी प्रवृत्तियाँ हैं। 'मैं इसे खाऊँगा' यह किसलिए है? इसका *खाया जाना* साक्षी ज्ञान का विषय हो जाता है इसलिये। इसलिए भगवान् ने कहा कि यह अध्यक्ष है इसलिए जगत् सारे परिवर्तन करता है। तैत्तिरीय श्रुति ने भी इसीलिए कहा है 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' परम आकाश के अंदर इस सबका अध्यक्ष है। श्वेताश्वतर

में भी परमात्मा को ही 'कर्माध्यक्षः', अध्यक्ष कहा है। श्रुति ने बड़ी विचित्र बात कह दी! 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद' 'हे प्रिय! जो इसका अध्यक्ष है वह भी इसको जानता है या नहीं!' जानना तब कहा जाता है जब सच्ची चीज़ को जाने। तुम अगर कहो कि 'मैं संस्कृत जानता हूँ' और अशुद्ध बोलो तो कोई तुम्हें संस्कृतज्ञ नहीं कहेगा। जब संस्कृत सचमुच में ठीक तरह से जानोगे तभी संस्कृतज्ञ कहे जाओगे। कोई कहता है 'मैं भोजन बनाना जानता हूँ।' बनाओ तो दाल जल जाये, साग भी कच्चा रहे, फुलका फूले नहीं, चावल में कणी रहे, तो कोई तुमको भोजन बनाने वाला नहीं मानेगा। जब किसी चीज़ को प्रमाण के द्वारा जैसी है वैसा जानते हो, तभी कहते हैं 'तुम जानते हो।' यह सृष्टि कभी भी प्रमाण से नहीं जानी जाती, बिना प्रमाण के ही चलती है। जहाँ प्रमाण से विचार करने लगो वहाँ सूर्य-किरण पड़ने पर ओस की बूँद की तरह उड़ जाती है! जब तक प्रमाण से विचार न करो तब तक तो सृष्टि खूब बढ़िया दीखती है, पर प्रमाण से विचार करने लगो तो यह सारा महल बालू की दीवार की तरह ढह जाता है, कुछ नहीं रहता। प्रमाण से इसका ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिए वह इसे जानता है कहना नहीं बनता। फिर भी प्रतीत होता है इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि नहीं जानता है। प्रतीति से जानता है, प्रमाण से नहीं जानता है। नासमझ व्याख्याता इस वाक्य का अर्थ बताते हैं कि मंत्र द्वारा ऋषि अपना अज्ञान या संशय प्रकट कर रहे हैं! ऐसा नहीं, मंत्र इस निश्चित तथ्य का ही प्रतिपादन कर रहा है। इस बात को बहुत से आदमी नहीं जानते तो कहते हैं 'यहाँ कहा है कि परमेश्वर को भी शायद पता नहीं। ऋषि को संदेह था कि परमेश्वर भी पता नहीं, जानता है कि नहीं जानता है!' यह इस बात को न समझने के कारण कि किसको जानना कहा जाता है, किसको जानना नहीं कर सकते हैं।

उस परमात्मा के सिवाय और कोई दूसरा चेतन है नहीं। चेतन एक ही है। कहोगे हमें इतने चेतन दीखते हैं? कभी एकान्त में बैठ कर विचार करना कि तुमको कभी कोई *चेतन* दीखा है? 'मैं चेतन हूँ' यों अपने-आपकी चेतना तो तुम्हें प्रत्यक्षसिद्ध है, दूसरों की चेतनता का तो उनके शरीर के हिलने-डुलने से तुम अनुमान करते हो। दृश्यरूप से चेतन का कभी तुम को साक्षात्कार नहीं होता। एक ही जगह पर चेतन का साक्षात्कार होता है मैं चेतन हूँ। इसलिए अनेक चेतन सिद्ध हैं नहीं। भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि पुरुष के लिए है और पुरुष एक और असंग है। एक है ऐसा सांख्य लोग नहीं मानते। इसलिए उनके यहाँ यह संगत हो जाता है कि एक पुरुष के लिए प्रकृति चलती रहे, दूसरे पुरुष *के लिए* ख़त्म हो जाये। किन्तु वेदान्त ने विचार करके सिद्ध किया है कि चेतन एक ही है इसलिए सृष्टि है तो चेतन के लिए और नहीं है तो किसी के लिए। चेतन पारमार्थिक दृष्टि से भोगता है नहीं। अविद्या के कारण जब तक अपने को भोक्ता मानता है तब तक सारी सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है,जब उसकी अविद्या हटने पर कर्त्ता भोक्ता नहीं रहता, तब सृष्टि रही कहना बनता ही नहीं है। जब तक अविद्या है तभी तक सृष्टि है। अविद्या की

निवृत्ति के साथ ही सृष्टि   जो पहले ही नहीं थी, अज्ञान के कारण प्रतीत हो रही थी   रह नहीं जाती। अज्ञान सर्वथा हटने से उसकी प्रतीति भी हट जाती है। ठीक जिस प्रकार जब तक अंधेरा है तभी तक रस्सी में साँप दीखता है, उजाला आने के बाद उस साँप का कुछ भी हिस्सा कहीं बचा हुआ नहीं मिलता। साँप कहाँ से वहाँ पैदा हुआ   यह नहीं कह सकते। प्रतीत हुआ   यहाँ तक तो ठीक है। इसी प्रकार इस जगत् का कारण अविद्या है। इसीलिए आगे भगवान् कहेंगे कि अज्ञान के द्वारा ही ज्ञान आवृत है, इसलिए जन्तु मोह में पड़े हुए हैं। अज्ञानरूप, अविद्यारूप, प्रकृति के कारण ही सृष्टि-प्रलय इत्यादि सारे परिवर्तन हमें प्रतीत होते हैं।।१०।।

परमेश्वर के ईक्षण से प्रकृति सारे जड-चेतन जगत् को बनाती है। बनाने वाला परमेश्वर है परन्तु अपनी माया शक्ति से बनाता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला, सारे प्राणियों का आत्मा, वास्तविक स्वरूप वही है। अचर जगत् उपाधिरूप से और चर जगत् उपहितरूप से, प्रतिबिम्बित रूप से, उसी परमात्मा के कारण बना है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे मेरे बारे में भी लोग अज्ञानी बने रहते हैं

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सब प्राणियों का महान् ईश्वर रूप जो मेरा खास परमात्म तत्त्व है उसे न जानते हुए मोहग्रस्त लोग मनुष्य संबंधी देह में अवतरित मेरा अनादर करते हैं!

अज्ञान से जिनका ज्ञान आवृत है ऐसे मूढ लोग, जो मैं सबके अंदर विद्यमान, सारी सृष्टि का एकमात्र कारण, 'अवजानन्ति' उसकी अवज्ञा करते हैं। कहते हैं कि परमात्मा कुछ नहीं है और यदि है तो भी कुछ करता नहीं है! इस प्रकार मेरी अवज्ञा करते हैं। क्यों अवज्ञा करते हैं? क्योंकि मनुष्य के शरीर में देखते हैं। मनुष्य के शरीर में चेतन आत्मा को देखने पर 'यह शरीर से परिच्छिन्न होने वाला है, यह क्या कर सकता है!' इत्यादि अवज्ञा करते हैं। 'मानुषी' विशेष रूप से इसलिए कहा कि शास्त्र का विचार मनुष्य ही करता है। मनुष्य ही शास्त्र में सुनेगा कि सृष्टि स्थिति लय का कारण एकमात्र परमात्मा है और वही सबके अंदर चेतन रूप से विद्यमान है, प्रत्यगात्मरूप से विद्यमान है। और मनुष्य ही उसकी अवज्ञा करेगा कि 'यह कैसे हो सकता है! मनुष्य शरीर में राग-द्वेष काम-क्रोध आदि सारे विकार दीख रहे हैं। इतना ही नहीं, कोढ़ी, लंगड़े, अंधे, लूले भी हैं। हम कैसे मान लें कि एक परमात्मा ही सर्वत्र बैठा हुआ है?' 'तनु' शरीर को कहते हैं और तनु का मतलब है छोटा। मनुष्य के अंदर चेतन तनु-भाव को अर्थात् अति-अल्प भाव को पाता हुआ प्रतीत होता है। घड़े के अंदर दीखने वाला आकाश घड़े के कारण छोटा प्रतीत होता है। मूढ समझता है कि घटाकाश महाकाश से भिन्न है! समझने वाला जानता है कि घड़े के कारण प्रतीत हो रहा है, है तो महाकाश ही। अथवा दो इंच के काँच में छोटा-सा सूर्य

प्रतिबिंबित हुआ दीखता है। समझने वाला जानता है कि सूर्य ही वहाँ दीख रहा है; काँच के कारण छोटा *प्रतीत* हो रहा है पर दीख सूर्य ही रहा है, कोई अन्य चीज़ वहाँ नहीं है। दूसरी चीज़ क्यों नहीं है? काँच में जब तुम मुँह देखते हो तो यही कहते हो 'मेरा मुख काँच में दीख रहा है।' यह नहीं कहते हो कि काँच में कोई दूसरी चीज़ दीख रही है! यद्यपि काँच में दीखने वाला मुख पश्चिम को देख रहा है, और हमारे मुख के सामने पूर्व है। जो हमारा दाहिना हिस्सा है वह वहाँ बायाँ हिस्सा है। इस प्रकार के भेदों को देखते हुए भी यही मानते हो और निश्चय है कि 'यह मेरा ही मुख है।' इसी प्रकार अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् इत्यादि जो मनुष्य शरीर में दीख रहा है, वह मनुष्य शरीर के कारण दीखने वाला परमात्मा ही है। 'आश्रितम्' इस शरीर में रहते हुए वह शरीर के अनुसार ही व्यवहार कर रहा है। उस व्यवहार को देख कर भ्रम हो जाता है कि यह परमेश्वर नहीं हो सकता। बार-बार विचार करने से यह रहस्य पता लगता है, अन्यथा यही लगता है कि जीव ईश्वर से भिन्न है।

ऐसा क्यों होता है? 'परं भावम् अजानन्तः' मेरा जो पर अर्थात् श्रेष्ठ परमात्मभाव है वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है। उसको नहीं जानते हैं इसलिए यह भ्रम होता है। जैसे जो महाकाश स्वरूप को नहीं समझता है, वह घटाकाश मठाकाश आदि भेदों वाले आकाश को आकाश से अलग समझता है। जो आकाश के वास्तविक स्वरूप को, उत्कृष्ट भाव को जानता है वह समझता है कि ये घड़े के या कमरे के कारण प्रतीत हो रहे हैं, वस्तुतः तो महाकाश ही है। ऐसे ही मेरे इस परभाव को नहीं जानने के कारण ही मूढ मेरी अवज्ञा करता है। मेरा परम भाव क्या है? 'मम भूतमहेश्वरम्।' सारे प्राणियों का महान् ईश्वर मैं हूँ। मनुष्य रूप से लीला करता हुआ मैं परमात्मा ही हूँ जिसकी वे अवज्ञा करते हैं। मेरा निरादर करने के कारण ही ये पामर जीव जहाँ अपने स्वरूप को शास्त्र की सहायता से पहचान सकते थे उस मनुष्य शरीर में आकर भी मेरी इस मानुषी लीला को देख कर भ्रम में पड़ जाते हैं। अजाकल बहुत ज़्यादा संख्या के लोग ऐसे हैं जो यह तो कह देते हैं कि राम एक महापुरुष थे, कृष्ण एक महापुरुष थे, लेकिन वे परब्रह्म परमात्मा सारी सृष्टि के बनाने वाले थे यह नहीं समझ में आता। क्यों? क्योंकि उन्हें मनुष्य की तरह आचरण करते हुए देखते हैं: कंस आया, भगवान् को भागना पड़ा। मगधराज ने उनके ऊपर सत्रह बार आक्रमण किया तो भगवान् को भागना पड़ा। क्या वे सर्वेश्वर हो सकते हैं? सर्वेश्वर होते तो उसी समय ख़त्म कर देते, मार देते, कुछ भी करते। मूढ यह नहीं समझ पाते कि उनकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता लुप्त नहीं हुई है पर जब मनुष्य शरीर का व्यवहार करेंगे तब मनुष्योचित व्यवहार ही होगा। जब श्री कृष्णादि शरीरों में ही समझ में नहीं आता है तब अपने में क्या समझ में आएगा! इस शरीर के अंदर बैठा हुआ परब्रह्म परमात्मा ही सब लीला कर रहा है यह मूढ को समझ नहीं आता।।११।।

क्योंकि अंदर रहने वाले प्रत्यगात्मा को परमात्मरूप से नहीं जानते, इसलिए

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

आशायें कर्म व ज्ञान जिनके वृथा हैं ऐसे (वे) अविवेकी, मोहकर राक्षसी और आसुरी स्वभाव का ही सहारा लेते हैं।

'मोघाशाः' उनकी जितनी आशाएँ हैं सब व्यर्थ जाती हैं। आशाओं का व्यर्थ होना अर्थात् वे व्यर्थ चीज़ों की ही आशा करते हैं। चीज़ों की प्राप्ति स्वरूप से हो नहीं सकती क्योंकि वे पदार्थ अवास्तविक हैं, इसलिए उनकी आशा व्यर्थ ही होती है। एक आदमी बाइसकोप में बैठा, पूरा बाइसकोप देख कर उसने फिर दूसरी बार देखने का टिकट ले लिया, फिर देखा। फिर तीसरी बार टिकट ले लिया। टिकट बेचने वाले ने पूछा 'तुमको यह खेल इतना अच्छा कैसे लगा कि दो बार देख कर तीसरी बार टिकट ले रहे हो?' उसने कहा 'अरे! खास अच्छा लगा हो ऐसा नहीं है, लेकिन उसमें एक घटना होते समय सामने से रेल निकल जाती है तो वह घटना दिखाई नहीं देती। मैं सोचता हूँ कि कभी तो रेल लेट होगी, तब वह दीख जाएगी!' यह उसकी आशा व्यर्थ ही है। जो घटना कभी होगी नहीं, वास्तविक नहीं है, उसकी आशा मोघ है। बाइसकोष के अंदर जिस की फिल्म उतारी ही नहीं गयी वह कहाँ से दीखेगा! इसीलिए उसकी आशा व्यर्थ रह जाती है। संसार को सत्य मानने पर ही आशाएँ मोघ होती हैं। इसीलिए बार-बार शास्त्रकार कहते हैं 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखं' आशा करना ही परम दुःख है और कोई आशा नहीं करना, जैसा होता है वैसा देख लेना, परम सुख है। जो चीज़ वास्तविक है नहीं, उसकी आशा करते हैं अतः वे मोघ रहती हैं।

कोई कहे कि होगी चीज़ें बेकार पर उनकी प्राप्ति के लिए कर्म तो बतलाये हैं पुत्र की आशा है तो पुत्रेष्टि करो आदि। सारी कामनाओं की पूर्ति शास्त्र ने कर्मों से बताई है। इस पर भगवान् कहते हैं 'मोघकर्माणः' मूढ जो अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह भी परमात्मभाव को न जानने के कारण निष्फल ही जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति नौकरी में जो काम आवे वह तो करदे पर मालिक का अनादर करे तो उसका किया हुआ काम व्यर्थ हो जाता है, इसी प्रकार अग्निहोत्र आदि जितने कर्म हैं उन सबके द्वारा परमात्मा की ही आराधना है, उस परमात्मा की ही अवहेलना करने पर किए हुए वे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं, अर्थात् जैसा चाहते हो वैसा फल मिलता नहीं। कई बार अनुभव किया होगा सोचते हो 'इस कर्म का यह फल हो', फल हो भी जाता है परन्तु तुम्हें नहीं मिलता। बढ़िया भोजन बना, सारी मेहनत की और ठीक खाने के समय पेट खराब हो गया! कर्म का फल होने पर भी मुझे जिस सुख की अभिलाषा थी वह तो पूरी नहीं हुई। इसी प्रकार अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अपने अंदर स्थित जो आत्म-तत्त्व है उसकी अवज्ञा करने से वे कर्म भी निष्फल हो जाते हैं।

'मोघज्ञानाः' मूढोंको हुआ ज्ञान भी निष्फल रह जाता है, ज्ञान का जो फल होना चाहिए, वह नहीं होता। डाक्टर सारे शरीरों की, औरतों के शरीरों की भी चीर-फाड़ करते हैं। शरीर की वास्तविकता को जानने से उनके अंदर शरीर के प्रति सर्वथा घृणा होनी चाहिए क्योंकि देख चुके हैं उसके अंदर क्या है। परन्तु इतना होने पर भी, दिल्ली में एक बहुत बड़े डाक्टर थे, उन्होंने किसी दूसरी औरत के कारण अपनी पत्नी की हत्या कर दी! पकड़े गए, जेल गए। विचार करो, किसी डाक्टर के मन में यह न आवे कि शरीर के अंदर क्या है यही ज्ञान की मोघता है। उन्होंने चीर-फाड़ कर असली माल देखा है फिर भी उनका ज्ञान व्यर्थ रह जाता है। ज्ञान का अर्थ कई बार उपासना भी होता है। परमेश्वर को न मान करके, दूसरे-दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं, वह भी वास्तविक फल नहीं दे पातीं, निष्फल हो जाती हैं। ज्ञान निष्फल क्यों होता है? 'विचेतसः' क्योंकि उनमें विवेक नहीं होता। ज्ञान मनुष्य को दो चीज़ों की वास्तविकता की तरफ ले जाना चाहिए   क्या धर्म है, क्या अधर्म है; और क्या सत्य है, क्या असत्य है। मूढों का ज्ञान उनके अंदर चेतस् अर्थात् यह विवेक नहीं लाता, अविवेक ही लाता है।

प्रश्न होता है   ऐसा वे क्यों करते हैं? 'मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः'। मोहिनी, मोह करने वाली। मोह क्या है? शरीर मेरा स्वरूप है, देहात्मवाद   यही तो मोह है। शरीर को ही अपनी वास्तविकता समझना मोह है। उसी को वे आश्रित किए रहते हैं। क्योंकि देहात्मवाद का ही सहारा लेकर रखते हैं इसलिए दो प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं   राक्षसी और आसुरी। राक्षसी प्रवृत्ति   दूसरों को सताने में ही सुख होना। आजकल कालेजों में इसकी शिक्षा मिलती है। कालेज में नए भर्ती हुओं को नंगा करेंगे, गन्दी चीज़ों को खाने के लिए मजबूर करेंगे। उसका नाम रखा है दीक्षा, नए ज्ञान का परिचय करा रहे हैं! कई बार तो बच्चे ज़हर खाकर आत्महत्या कर लेते हैं। उनको मरणान्त कष्ट होता है और वरिष्ठ विद्यार्थियों को मज़ा आता है। यह राक्षसी प्रवृत्ति है। दूसरे का धन छीन लो   दूसरे की स्त्री छीन लो, दूसरे का पद छीन लो   इस प्रकार के कार्यों में राक्षसों को बड़ा मज़ा आता है जब मोहिनी प्रकृति आई, देहात्मवाद को स्वीकारा, तब राक्षसी प्रवृत्ति भी आ जाती है। और आसुरी प्रवृत्ति भी आ जाती है। आसुरी प्रवृत्ति है   अपने प्राणों को सब तरह से तृप्त करो, इसलिए खाओ, पीओ, मजे करो। फ़र्क दोनों में है : आसुरी प्रवृत्ति वाला अपने प्राणों के सुखों को ही प्रधान समझता है जबकि राक्षसी प्रवृत्ति वाला दूसरों को कष्ट देकर ही सुख का अनुभव करता है। कुछ लोग तो अपने को दुःखी करके भी दूसरों को दुःखी करते हैं! एक गाँव में एक आदमी लोगों को लड़ाता रहता था। लड़ाने में कुछ जाता नहीं। गाँव में किसान को रात के समय पानी देने जाना पड़ता है। उसे कह दो 'अमुक आदमी आज रात ग्यारह बजे तुम्हारे घर में गया था, मैंने देखा था।' वह सोचेगा 'मेरी पत्नी ही खराब है।' ये सब राक्षसी प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरे को दुःखी देख ही राक्षसों को मज़ा आता है। गाँव छोटी-सी जगह होती है। थोड़े दिनों में लोगों को धीरे-धीरे पता लग गया कि 'अरे!

यह हम लोगों को भिड़ाता है, इसकी बात नहीं माननी चाहिए।' लोगों ने उसकी बात माननी छोड़ दी, लोग झगड़ा नहीं करें। वह बड़ा दुःखी हो गया कि 'अरे! ये झगड़ा ही नहीं करते, मेरी बात पर।' विचार किया कि कैसे इनको दुःखी करे? जंगल में चला गया। उधर से कोई महात्मा निकल रहे थे। महात्मा ने कहा 'अरे तू जंगल में क्यों आया है? यहाँ तो बड़े भयंकर जानवर रहते हैं। चलो मैं तुम्हें ले चलता हूँ, तुमको रास्ता नहीं मिलेगा।' उसने कहा, 'नहीं नहीं, मुझ को नहीं जाना है।' बोले 'क्यों?' 'मैं जान-बूझ कर आज जंगल में आया हूँ। शेर मुझे खा लेवे तो उसको मनुष्य के मांस का स्वाद आ जाएगा, तब फिर वह जाकर गाँव में लोगों को खाएगा!' अपने मरने की भी उसको चिन्ता नहीं रही। राक्षसी प्रवृत्ति वाले कहाँ तक जाते हैं, कोई ठिकाना नहीं है। इसी प्रकार आसुरी प्रवृत्ति वाले अपने सुखभोग के लिए क्या नहीं करते! वर्तमान काल में डाक्टर भी कह देते हैं 'अण्डा खा लो, माँस खा लो।' असुर कहता है कि शरीर बचाने के लिए खा लेना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र में सारे मांसों का प्रभाव विस्तार से वर्णित मिलता है। ऐसा नहीं है कि हम लोगों को पता नहीं था! लेकिन धर्मशास्त्र का विषय दूसरा है, कामशास्त्र का विषय दूसरा है। शरीर के सुख-भोग की दृष्टि दूसरी है और आत्मा के सुखभोग की दृष्टि दूसरी है। देहात्मवादी तो समझता है कि शरीर के सुख से ही मेरा सुख है। आचार्य शंकर आसुर प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं, 'इसको तोड़ो, इसको भेदन कर दो, टुकड़े कर दो, दूसरे की चीज़ छीन लो, अपहरण कर लो, जो मन चाहे सो पीयो, खाओ बस यही सब करना है, और क्या करना है!' एक बार देहात्मवाद लोगे तो यह मोह ज़रूर राक्षसी और आसुरी प्रवृत्ति की तरफ ले जाएगा। शरीर के सुख से 'मैं सुखी' यह भाव आया तो ये सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। गत पचास वर्षों में यही देख रहे हैं कि उन्नति के नाम पर शारीरिक आवश्यकताओं की बातें की जाती हैं कि मनुष्य को क्या चाहिए रोटी, कपड़ा और मकान, बस। रोटी कपड़ा मकान ये शरीर के लिए चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य ही हो गया है कमाना। शिक्षा की बात आती है तो शिक्षाविद् भी पूछते हैं 'इस विषय को सीखने से कौन-सा रोज़गार मिलेगा?' ज्ञान, विवेक, अध्यात्म-उन्नति का कोई महत्त्व नहीं पहचान पाते। माँ-बाप भी यही कहते हैं। गोद में लोरी गाते हुए भी लोग यही कहते हैं 'मेरा बेटा कलैक्टर बनेगा, सैकरेट्री बनेगा।' देहात्मवाद का बहुत ज़्यादा प्रचार हो गया है और इसका नतीजा भी देख रहे हैं। पहले एक हत्या कभी शहर में हो जाती थी तो सारा शहर काँप जाता था, और अब दिल्ली जैसे शहर में पाँच चार आदमियों का मरना-मारना तो मामूली बात है। एक बार जहाँ तुमने देहात्मवाद को स्वीकार किया वहाँ राक्षसी आसुरी प्रवृत्तिसे बच नहीं सकते।

अर्जुन का प्रश्न था कि 'क्यों लोग आपकी तरफ नहीं जाते?'उसका जवाब हो गया कि मोहिनी प्रकृति के कारण राक्षसी और आसुरी भाव को प्राप्त करते हैं, दैवी प्रवृत्ति में नहीं जाते। जो श्रद्धालु हैं अर्थात् जो परमात्मा में और शास्त्र में श्रद्धा रखते हैं, वे ही मोक्ष

मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। कर्मकाण्डी भी शास्त्र को मानते हैं लेकिन उसे काटकर के मानते हैं, जहाँ परमात्मा की बात आती है वहाँ कहते हैं 'ये सब बेकार की बातें हैं, खाली अर्थवाद हैं, प्रशंसा करने के लिए कह दिया है।' जो और घोर देहात्मवादी हैं वे कहते हैं कि धर्म इसलिए है कि हमारे शरीर वगैरह ठीक रहें, समाज में आपस का संबंध ठीक रहे। बस, इतने मात्र के लिए धर्म की उपयोगिता है शरीर का लाभ और उसके लिए समाज का आपस का व्यवहार ठीक रहे। उससे आगे कुछ नहीं है। यद्यपि वे लोग धर्म की बात कहते हैं तथापि शारीरिक फल के ही लिये। ज़ोर शोर से कहते हैं कि हिन्दू धर्म तो एक रहने का तरीका है, मोक्ष की तरफ जाने के लिए नहीं है। वे समझते हैं कि ऐसा कहकर हिन्दू धर्म की प्रशंसा कर रहे हैं! उनका मानना है कि हमारा धर्म परमात्मा से विमुख है, इह लोक में अच्छी तरह से रहना ही इसमें सिखाया गया है। दूसरे धर्म परलोक की बातें करते हैं, हमारा धर्म बड़ा अच्छा है, खाली इस लोक की बातें बताता है। यह सब मोहिनी प्रकृति के सहारे का प्रभाव है।।१२।

दैवी प्रकृति वाले, शास्त्र जैसा है वैसे में ही श्रद्धा रखते हैं। शास्त्र के अंदर परमात्मा का वर्णन है, देवताओं का वर्णन है। श्रद्धा होने से वे परमेश्वर में प्रेम वाले होते हैं और तभी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होंगे। इसलिए भगवान् कहते हैं

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

पृथानन्दन! देवताओं के योग्य स्वभाव पर आश्रित महात्मा ही भूतों के मुझ अक्षय कारण को समझकर (प्रत्यगात्मासे) अनन्य जो मैं उसका सेवन करते हैं।

महात्मा अर्थात् जिनका चित्त महान् है। परमात्मस्वरूप को समझने के कारण केवल इस शरीर में होने वाले सुख आदि उनके चित्त को मोह में नहीं डालते। ऐसे महात्मा लोग ही मेरा भजन करते हैं। क्षुद्र चित्त वाले क्षुद्र देवताओं की आराधना तो कर सकते हैं परन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सृष्टि स्थिति लय का कर्त्ता जो परमात्मा उसकी उपासना नहीं कर सकते, उसका ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकते। राक्षसी-आसुरी भेदों वाली मोहिनी प्रकृति वालों से सर्वथा भिन्न महात्मा होते हैं, वे ही भगवान् को भजते हैं। महात्मा दैवी प्रकृति का ही सहारा लेते हैं। दैवी प्रकृति, जो देवताओं का स्वभाव है। देव का मतलब होता है जो प्रकाशमान है। मनको रोकना शम, इन्द्रियों को रोकना दम, दुःखी को देखकर उसके प्रति दया, शास्त्र के वचन को सुनते ही उसमें श्रद्धा, कष्ट सहना तितिक्षा, इन सब दैवी गुणों का ही उन्हें आश्रय है। तभी वे भगवद्भजन करते हैं। इसके द्वारा बतला दिया कि मोहिनी आसुरी-राक्षसी प्रकृति वाले मेरा भजन नहीं कर सकते, और किसी का भजन भले ही करें! मोहिनी से दैवी सर्वथा विरुद्ध प्रकृति हैः मन के अनुसार होवे, इन्द्रियों के अनुसार होवे यह मोहिनी है, मन नियंत्रण में होवे, इन्द्रियाँ नियंत्रण में होवें यह दैवी है। दोनों रास्ते

बिल्कुल अलग हैं। एक संसार को फैलाने का मार्ग है, दूसरा संसार को बटोरने का मार्ग है। कई लोग दोनों को मिलाकर देखना चाहते हैं; शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि का फल आसुरी-राक्षसी भावों में देखना चाहते हैं अर्थात् सांसारिक पदार्थों के अंदर उन्नति होवे तब सोचते हैं कि शम दम ठीक हुआ! उनका कसूर नहीं है, क्योंकि उनको विवेक है नहीं इसलिये वे इन्हीं चीज़ों से समझते हैं कि 'भगवान् का इनके ऊपर बड़ा अनुग्रह है।' जबकि भगवान् क्या कहते हैं? भगवान् कहते हैं 'मैं अपने भक्तों का सर्वस्व हरण कर लेता हूँ!' क्यों? सांसारिक पदार्थों की तरफ मन रहने के कारण ही तो परमात्म-चिन्तन नहीं हो पाता है।

एक बार भगवान् ब्राह्मण का रूप लेकर नारद जी के साथ किसी बड़े सेठ के घर पहुँचे। चौकीदार ने डाँटा, 'अरे! हटो यहाँ से। यहाँ कहाँ आकर खड़े हो गए? अभी सेठ जी आएँगे।' उन्होंने कहा 'भाई, बड़े भूखे हैं, कुछ खाने को मिल जाए।' चौकीदार ने कहा 'हटो-हटो।' तब तक सेठ जी आ गए। आकर चौकीदार को डाँटा, 'तुम ऐसे लोगों को हमारे मकान के सामने खड़े होने देते हो! तुम लोगों को किस बात की तनख्वाह मिलती है? मारो इनको।' तो वहाँ से भगवान् चल दिए। थोड़ी दूर जाकर कहा 'इसके घर में खूब धन-दौलत बढ़े।' वहाँ से चल कर एक भक्त के घर गए। गाँव के किसी कोने में एक छोटी-सी कुटिया बना कर वह रहता था। उसके पास एक गाय थी, और कुछ नहीं था, गो-सेवा करता रहता था। पहुँचकर कहा भगवान् ने 'भाई, बड़े भूखे हैं।' बोला 'बैठिए तो सही, अभी दूध लाता हूँ।' और कुछ तो उसके पास था नहीं, झट से गाय को दुहकर, दूध गरम करके लाया। जितना दूध लाया था वह सारा भगवान् पी गए! कहने लगे 'बहुत बढ़िया दूध लाये। हमें तो आगे जाना है।' चले, थोड़ी दूर आगे जाकर भगवान् ने कहा 'इसकी गाय मर जाए!' नारद जी ने कहा 'भगवान्! कलियुग में आपकी भी बुद्धि फिर गई लगता है। जिसने हम लोगों को गाली गलौज दिया, मारने को दौड़ा, उसके लिये तो कहा कि खूब धन बढ़े और इस बेचारे के पास एक गाय ही है, कहते हो गाय मर जाए!' भगवान् बोले 'मैंने ठीक किया। देखो, मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता। जिसको जो चाहिए वह मेरे दर्शन से मिलेगा ही। उस सेठ को धन ही चाहिए था। मेरा दर्शन हुआ है तो धन उसको ज़्यादा मिले, यह ठीक ही है। इतने धन से ही वह इतने दर्प में फँसा हुआ है तो और धन मिलेगा तो और इसी प्रकार के ऊट-पटांग काम करके नरक में जाएगा। जो उसने अपमान किया है उसका भी फल होगा, नरक में जाएगा। दूसरी ओर यह बड़ा अच्छा साधक है। मुझसे इसका बड़ा प्रेम है, भक्ति करता है, परंतु गाय की सेवा में लगा रहता है इसलिए इसके कई घण्टे इसमें चले जाते हैं। जो इसको भजन में लगाना चाहिए था वह समय इसमें लगा देता है। गाय मर जाएगी तो वह सारा समय बच जाएगा, और यह मेरा ज़्यादा भजन करेगा जिससे जल्दी ही मोक्ष को प्राप्त कर जाएगा। यह चाहता ही मोक्ष है, मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता, इसलिये इसको मोक्ष ही मिलेगा।' नारद ने कहा

'भगवन्! आपकी लीला आप ही जान सकते हैं।'

दैवी प्रकृति जिधर ले जाती है उसे मोहिनी वाले समझेंगे कि उन्नति नहीं है। और राक्षसी-आसुरी प्रकृति वाले जिसको समझते हैं कि नुकसान हो रहा है, वह दैवी वालों का असल में फायदा होता है। शम, दम, दया इत्यादि भावनाएँ सांसारिक लोगों को चीज़ों की प्राप्ति नहीं करातीं इसलिए वे समझते हैं कि ये व्यर्थ हैं। दैवी प्रकृति वाले ठीक उससे विपरीत सांसारिक उन्नति को व्यर्थ समझते हैं क्योंकि वह मन में आसक्ति लाती है। गीता के दूसरे अध्याय में ही भगवान् कह आये हैं कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।' विषय मिलकर तो दुःखी करते ही हैं, याद आकर भी दुःखी करते हैं। विषय-चिन्तन करो, ध्यान करो, वह भी दुःखी करता है। क्योंकि जब उनकी स्मृति आएगी, उनका चिन्तन करोगे, तब उन चीज़ों में आसक्ति हो जायेगी। आसक्ति होने से कामना पैदा होती है। कामना पूरी हुई तो दोबारा उसकी इच्छा होगी। और यदि पूरी नहीं हुई तो जिसके कारण पूरी नहीं हुई उसके ऊपर क्रोध आएगा। क्रोध आने से आदमी को अविवेक हो जाता है, कुछ पता नहीं लगता क्या करना, क्या नहीं करना। नहीं करने लायक काम करने लगता है। जो कुछ भी परमात्मा के संबंध में, प्रारब्ध के संबंध में सोचा-समझा है,वह सब भूल जाता है। काम-क्रोध आने पर 'हर सुख-दुःख का कारण मेरा प्रारब्ध है' यह ख्याल नहीं रहता। 'इस आदमी ने मेरी कामना-पूर्ति की, यह अच्छा है; इस आदमी ने मेरी कामना में विरोध किया, यह बुरा है' यह भावना बनती है। विवेक की स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश और बुद्धिनाश से प्रणाश हो जाता है। इसलिए दैवी प्रकृति का आश्रय किए हुए ही भगवान् को भजते हैं।

भजनके लिए उनके सामने क्या प्रकार होता है? 'अनन्य-मनसः'। परमात्मा मुझ से अन्य नहीं हैं, मेरा वास्तविक स्वरूप परमात्मा है, इस प्रकार की वृत्ति बनाते हुए भजते हैं। जैसे काँच में मुँह देखते हुए ही जानते हो कि काँच में मुँह नहीं है, मुँह तो इधर है; वैसे ही अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में चेतन को देखते हुए ही जानना है कि चेतन तो सर्वव्यापक है। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ-वहाँ जिसका प्रतिबिम्ब है वह मैं हूँ। क्यों दूसरा नहीं है? 'मां भूतादिम् अव्ययं ज्ञात्वा'। मैं सारे जड-चेतन का एकमात्र कारण हूँ। कारण से कार्य अलग दीखता है, होता नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण को हटा लो और कार्य रह जाए! सोने से गहना बना दीखता है परन्तु अलग कभी होता नहीं है। इसी प्रकर से सारा जगत् परमात्मा से अलग दीखता है परन्तु परमात्मा से अलग है नहीं। परमात्मा कैसा है? 'अव्ययम्'। प्रायः जब कारण से कार्य बनाते हो तो जो कार्य एक बार बन गया वह कार्य फिर उस कारण से नहीं बनेगा, उतना कारण का व्यय हो ही गया। मोटी भाषा में समझ लो : एक थान कपड़े में से तीन गज का कुर्त्ता बना लिया। यदि पहले उसमें पच्चीस कुर्ते बन सकते थे तो अब चौबीस ही बन सकते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर से जगत् बना तो क्या कुछ उनमें व्यय, कमी हो गयी? जो जगत् एक बार बन चुका वह

क्या फिर नहीं बन सकेगा? इस शंका की प्राप्ति न हो जााए इसलिए भूतादि कहने के बाद कह दिया 'अव्ययम्।' कार्यरूप से प्रतीत होने पर भी उसमें कोई कमी आती नहीं है। किसी प्रकार की कमी आये बिना जो कार्य-कारणभाव प्रतीत होता है, वह मिथ्या होता है, मायिक होता है। वास्तविक कार्य-कारण होंगे तो भूतादि और अव्यय दोनों बातें नहीं हो सकतीं। वह भूतादि और अव्यय दोनों है यह कह कर बताया कि सारी सृष्टि उसकी माया से बनती है इसलिए उसके अन्दर किसी प्रकार का व्यय, किसी प्रकार का विकार नहीं आता। यह सृष्टि अनन्त काल तक ऐसे ही चलती है क्योंकि वह अव्यय है। अनन्त काल तक चलती रहती है इसका मतलब यह नहीं है कि मोक्ष नहीं होता है! मोक्ष तो इस सारी सृष्टि के रहते हुए भी *है।* जैसे 'साँप रस्सी हो जाता है', ऐसा कहा जाता है, लेकिन वस्तुतः साँप थोड़े ही रस्सी हो गया! वह तो पहले ही रस्सी ही थी। इसी प्रकार प्रत्यगात्मा पहले ही मुक्त *है।* जैसे पहले ही मुक्त होते हुए अविद्या से संसार की प्रतीति होती है वैसे ही आगे भी अविद्या से प्रतीति होती रह सकती है। अविद्या- रूप जो मोहिनी प्रकृति है, यही आसुरी राक्षसी भावों को प्राप्त करती है और जब परमात्मा की तरफ प्रवृत्त होकर दैवी भाव को प्राप्त करती है तब अविद्या लुप्त होकर मोक्ष की *प्रतीति* हो जाती है। आत्मा का स्वरूप तो सदा मुक्त ही है।।१३।।

महात्मा भगवान् की भक्ति कैसे करते हैं यह बतलाते हैं

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अचंचलता जिनका व्रत है, जो मुझसे परप्रेमसे सम्पन्न हैं, वे मेरा निरन्तर कीर्तन करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, अन्य भी प्रयास करते हुए मेरा सेवन करते हैं।

'मां कीर्तयन्तः', मुझ ब्रह्मस्वरूप का, मेरी महिमा का, उपनिषद् आदि में प्रतिपादन किया गया है। मुझ से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ, सबमें मैंने ही प्रवेश किया, आदि मेरा वर्णन है। बार-बार उसी का कीर्त्तन अर्थात् उसी का श्रवण करते हैं और उसी को मुख से बोलते हैं। 'कीर्तयन्तः' कीर्ति अर्थात् महिमा का वर्णन। हिन्दी में कीर्तन शब्द से खाली बार-बार नामों को बोलने को कह देते हैं। लेकिन कीर्ति का मतलब है महिमा। ब्रह्मस्वरूप की महिमा है कि उसी से जगत् उत्पन्न हुआ और उसी में लीन होता है व उसी ने जीवरूप से प्रवेश किया है। अतः उसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। इसका निरन्तर श्रवण यहाँ कीर्तन है। जिसका श्रवण किया उसके विरोधी जो तर्क हैं, उन तर्कों के अंदर क्या गलतियाँ होती हैं इसे समझना अर्थात् मनन करना 'यतन्तः' से कहा। जहाँ तक हो सकता है, स्वयं यत्न करते हैं। स्वयं यत्न करके यदि किसी कुतर्क को नहीं हटा पाते, तो अन्य ब्रह्मनिष्ठों के पास या गुरु के पास जाकर उन कुतर्कों को दूर करते हैं। मनन में पूरा प्रयत्न करते हैं, जगत् के मिथ्यात्व और जीव की ब्रह्मरूपता इनमें किसी भी प्रकार की शंका का

निवारण करते हैं। और 'दृढव्रताः' शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि के व्रत का दृढतापूर्वक पालन करते हैं। इससे उपलक्षणा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि की भी समझ लेनी चाहिए। दृढव्रत हैं अर्थात् सार्वभौम रूप से इन धर्मोंका पालन करते हैं। सार्वभौम का मतलब है देश-काल के अवच्छेद के बिना सर्वत्र सर्वदा पालन करना। कई लोग इनके अवच्छेद से पालन करते हैं। देश का अवच्छेद, गंगा के किनारे मैं झूठ नहीं बोलूँगा। इसलिए कई बार सन्देह होता है कि 'यह झूठ बोल रहा है' तो उसके हाथ में गंगाजल देते हैं क्योंकि मानते हैं कि गंगा के सामने झूठ नहीं बोलेगा। इसी प्रकार से काल का भी अवच्छेद होता है कि 'इस काल में, जैसे एकादशी को मैं झूठ नहीं बोलूँगा।' बहुत से लोग नियम करते हैं, 'सवेरे नौ बजे तक झूठ नहीं बोलूँगा।' कई बार आदमी कहता है 'देखो, सबेरे-सबेरे है, इस समय तो मेरी बात विश्वसनीय है।' इसी तरह से 'मैं ब्राह्मण के धन का अपहरण नहीं करूँगा,' यह अस्तेयका अवच्छेद है। कई लोग यज्ञादि का अवच्छेद ले लेते हैं। इस प्रकार के किसी भी अवच्छेद के बिना निरन्तर शम दम आदि के अभ्यास में ही रहना, दृढव्रत होना है। यों महात्मा मेरे ब्रह्मस्वरूप का श्रवण-मनन करते हैं और मन-इंद्रियों के अन्य सारे व्यापारों को नियन्त्रित करके परमात्मा की ही भक्ति करने का प्रयत्न करते हैं। 'मां नमस्यन्तश्च', मैं जो हृदय के अंदर बैठा हुआ आत्म-तत्त्व हूँ, प्रत्यगात्मा हूँ, उसको ही नमस्कार करते हैं। नमस्कार का मतलब है त्याग, 'त्यागो हि नमसो वाच्यः।' मैं-शब्द से कही जाने वाली जो अहंकार की वृत्ति, उसका ब्रह्म के लिए त्याग करते हैं। अर्थात् प्रत्यगात्मा अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन नहीं है, प्रत्यगात्मा तो ब्रह्मस्वरूप है यह निश्चय रखते हैं।

ये सब काम करते हैं 'भक्त्या' अर्थात् परमात्मा के अंदर अत्यन्त प्रेम से। सब चीज़ें आत्मा के लिए प्रिय होती हैं, अपने लिए प्रिय होती हैं। उस प्रियता को लोग अहंकारात्मिका वृत्ति की प्रियता समझते हैं। साधारण आदमी जिसे प्रिय समझता है वह अहंकार के लिये ही प्रिय होता है। परन्तु भक्त जानता है कि अहंकारात्मिका वृत्ति वाला 'मैं' वास्तविक 'मैं' नहीं हूँ, मैं तो ब्रह्मस्वरूप हूँ जिसका प्रतिबिम्ब अहंकारात्मिका वृत्ति में पड़ता है। अतः वह उसके लिए ही सब को प्रिय समझता है। तभी 'नित्ययुक्ताः' नित्य मुझ में ही युक्त रहता है। तभी उपासना बनती है। इस प्रकार से भक्त उपासना करते हैं। आचार्य शंकर के समय तो कीर्तन-शब्द 'हरे राम' आदि शब्दों की आवृत्ति के अर्थ में प्रसिद्ध नहीं था अतः उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया। शङ्करानन्द स्वामी के समय उस अर्थ में रूढ हो रहा था, इसलिए उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ नाम-कीर्तन इत्यादि को लेना प्रकरण से अत्यन्त विरुद्ध होने के कारण किसी भी हालत में विवक्षित नहीं हो सकता।।१४।।

और किस-किस प्रकार से उपासना करते हैं, यह बतलाते हैं

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।।१५।।

अन्य उपासनायें छोड़कर ब्रह्मनिष्ठ भक्त मेरे बारे में 'एक ही परब्रह्म है' इस ज्ञानरूप यज्ञ से मेरी पूजा करते हुए मेरी ही उपासना करते हैं। कुछ साधक (आदित्य चन्द्र आदि) भेदसे (उपस्थित) मेरी उपासना करते हैं तथा अन्य लोग बहुत तरह से अवस्थित विश्व-रूप मेरी उपासना करते हैं।

यहाँ सबसे पहले उत्तमाधिकारी को फिर मध्यमाधिकारी को, फिर मन्दाधिकारी को बतलाया है। 'ज्ञानयज्ञेन'; परमात्म-विषयक जो ज्ञान है वही यज्ञ है। श्रवण-मनन के द्वारा सिद्ध होने वाले परमात्म-स्वरूप के, अखण्ड तत्त्वके ज्ञान के लिए जितना प्रयत्न करते हैं, वह सब यज्ञ है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यह ज्ञान यज्ञ ही मेरा यजन है अर्थात् पूजन है, यही उन अधिकारियों के लिए पूजा है। क्योंकि परमेश्वर को ही आत्मस्वरूप समझते हैं, इसलिए वह 'माम्' परमेश्वर की ही उपासना है। दूसरी उपासनाओं को छोड़ करके अर्थात् और किसी उपासना को न करके निरन्तर परमात्म-स्वरूप का जो जगद्रूप में प्रतीत होना है, उसका बाध करते हुए, जो हृदयाकाश में प्रतीत हो रहा है, उसकी सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय करते हैं। इससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सब छोड़ देते हैं। उत्तमाधिकारियों के लिए यह ज्ञान यज्ञ हुआ। इनकी उपासना कैसी है? 'एकत्वेन मामुपासते', एक ही परब्रह्म है, इस प्रकार का जो परमार्थ दर्शन है वही करते हैं।

अब मध्यम अधिकारी को बतलाते हैं 'पृथक्त्वेन' अर्थात् जो इस जगत् का कारण है वह एक परमात्मा ही इस संसार में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, विष्णु, गणेश इत्यादि भेदों से विद्यमान है। सभी मूर्त्तियों में वे एकमात्र उस अखण्ड सच्चिदानन्द को ही देखते हैं। पृथक्-पृथक् देवता प्रतीत होने पर भी उन सबमें सच्चिदानन्दरूपता का ही निश्चय करते हैं यह उन मध्यम अधिकारियों की उपासना है।

जो मन्द अधिकारी यह भी करने में असमर्थ हैं वे 'बहुधा' अर्थात् वह परमेश्वर ही विश्वतोमुख है विश्वरूप है यह उपासना करते हैं। ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप बताएँगे। जगत् के समग्र रूपों में वही विद्यमान है, इस प्रकार से ये भक्त निश्चय करते हैं। जो-जो प्रतीयमान है उस-उस उपाधि को हटाते हुए उसमें अवस्थित जो सद्रूप या चिद्रूप या आनन्दरूप है, उसी की दृष्टि करते हैं। बहुत प्रकार से जो प्रतीत हो रहा है उस सबके अंदर वास्तविक तत्त्व परमेश्वर ही है। जैसे गहना देखते हुए 'गहने में स्वर्ण ही है' यह निश्चय होता है, उसी प्रकार सब चीज़ों के अंदर वे निश्चय करते हैं कि परमेश्वर ही वस्तुतः विद्यमान है।।१५।।

किसी के मन में शंका हो सकती हैः यह जो सब चीज़ों के अंदर या सब देवताओं के अंदर तत्त्व को देखना है, यह आपकी उपासना कैसे कह दें? आदित्य में सच्चिदानन्दरूप देखते हैं तो आदित्य की उपासना हुई। विष्णु में सच्चिदानन्द रूप देखते हैं तो विष्णु की उपासना हुई। आपकी उपासना कैसे हुई? अथवा पदार्थों के विलय के द्वारा ब्रह्म तक जाकर उसकी सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय करते हैं तो आपकी उपासना कैसे हुई? इसके

समाधान में कहते हैं कि इन सब रूपों से मैं ही हूँ इसलिए वह मेरी उपासना है

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

मैं क्रतु (श्रौत कर्म) हूँ, मैं यज्ञ (स्मार्त कर्म) हूँ, मैं स्वधा (पितरों को प्रदेय अन्न) हूँ, मैं औषध (सब प्राणियों द्वारा खाद्य अन्न, या दवा) हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं आज्य (हवि) हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं हवन का कर्म हूँ।

सोमयागादि विशेष प्रकार के जो यज्ञ होते हैं उनको क्रतु कहते हैं। जो यज्ञ अर्थात् वैश्वदेवादि स्मार्ताग्नि की उपासना है, उसमें भी मैं ही स्थित हूँ। क्रतु का एक अर्थ संकल्प है इसलिए कुछ लोगों ने कहा है कि संकल्प-पूर्वक जितनी उपासनाएँ हैं उन्हें क्रतु कहा है। यहाँ चूंकि यज्ञ, मन्त्र, हुत आदि का प्रकरण है इसलिए निश्चयात्मिका वृत्तिरूप संकल्प का ग्रहण आचार्य ने नहीं किया, क्रतु से उन विशिष्ट यज्ञों को कहा जिनके अंदर यूप आदि का स्थापन होता है। यज्ञ से उन्हें कहा जिनमें यूपस्थापन नहीं होता है, वैश्वदेवादि जो स्मार्त अग्नियों से साध्य हैं, उनका ग्रहण कर लिया। भगवान् का अभिप्राय हुआ कि सारे श्रौत कर्मों के भेद से मैं स्थित हूँ अतः उनमें जो उपासना की जाती है वह मेरी ही उपासना है। 'एकत्वेन' के अंदर तो सजातीय विजातीय स्वगत तीनों भेद हट जाते हैं परन्तु 'बहुधा' जो उपासना बतलाई है, उसके अंदर स्वगत भेद रह जाता है। ऐसे समझ लो : जब हम किसी के हाथ के ऊपर घड़ी बाँध देते हैं तो घड़ी कहाँ बाँधी? हाथ के ऊपर; परंतु हम भी मानते हैं कि देवदत्त को हमने घड़ी दी और देवदत्त भी मानता है कि मुझे घड़ी दी। न देवदत्त को लगता है कि हाथ को घड़ी दी और न देने वाले को, क्योंकि हाथ के अंदर देवदत्त ही स्थित है। जिस प्रकार हाथ, पैर, गला इत्यादि अलग-अलग दीखने पर भी है तो देवदत्त ही, इसी प्रकार से जितनी चीज़ों को यहाँ गिना रहे हैं अथवा आदित्य इत्यादियों की जो बात पहले कही थी, उन सब रूपों में परमात्मा ही स्थित है इसलिए उनकी उपासना से परमात्मा की उपासना होती है। कब वह परमात्मा की उपासना नहीं होती है? जब उनको हम परमात्मा से अलग मान कर उपासना करते हैं। दोनों तरह से आदित्य आदि की उपासना हो सकती है आदित्य एक देवता है, विष्णु एक देवता है इस रूप से भी उपासना हो सकती है और आदित्य विष्णु इत्यादि एकमात्र अधिष्ठानरूप परब्रह्म परमात्मा के अंदर प्रतीत हो रहे हैं इस रूप से भी उपासना होती है। क्रतु हो या यज्ञ हो, इस रूप में परमात्मा ही स्थित है, इस बात को जानने वाला जब क्रतु या यज्ञ करता है तब परमेश्वर की उपासना करता है क्योंकि वह इस बात को निरन्तर ध्यान में रखता है कि ये सब परमात्मा का रूप हैं।

इसी प्रकार से स्वधा श्राद्ध करते हैं तो स्वधा उच्चारण से पितरों को अन्न आदि दिया जाता है। अतः श्राद्ध आदि भी जो किया जाता है वह मेरी ही उपासना है क्योंकि

स्वधारूप मैं ही हूँ। औषध सारे प्राणी गेहूँ चावल इत्यादि जो खाते हैं उसको औषध शब्द से कह दिया। ओषधि का स्वरूप बतलाया है कोषकारों ने कि फल पक जाने पर जो खत्म हो जाता है वह ओषधि है। गेहूँ चावल जौ इत्यादि का पौधा जब फल जाता है तब पौधा ख़त्म हो जाता है। आम इत्यादि एक बार फल गया, फिर दो बारा उसी पेड़ में आम लग जाता है, तिबारा उसी पेड़ में लग जाता है, अतः वे ओषधि शब्द के वाच्य नहीं होते। अथवा औषधम् से दवाई समझ सकते हैं। उस रूप से भी भगवान् ही स्थित हैं। इसलिए कहा है 'औषधं जाह्नवीतोयम्' औषध को गंगा जल समझो। इसी प्रकार से यहाँ ध्यान रखना है कि औषध ही सच्चिदानन्द रूप है। भाष्यकार ने दोनों ही तात्पर्य बतलाए हैं। स्वधा से जो पितरों को दिया जाता है वह ले सकते हैं या सारे प्राणी साधारणतः जो अन्न लेते हैं, जो पितरों के लिए भी है व दूसरों के लिए भी है, वह सारा स्वधा शब्द से कह दिया और रोग को दूर करने के लिए जो भैषज है उसे औषधि कह सकते हैं, वह भी मैं ही हूँ।

'मन्त्रोऽहम्' चाहे पितरों को, चाहे देवताओं को तुम जो हवि अर्पण करते हो वह किसी मन्त्र से करते हो। मन्त्रपूर्वक ही देवताओं को भी आहुति देते हो स्वाहा से और पितरों को भी आहुति देते हो स्वधा से। जिस मंत्र से देते हो वह मंत्र भी मेरा ही रूप है। 'आज्यम्' हवन के अंदर जो गौ-घृत का उपयोग होता है उसको आज्य कहते हैं या जो यज्ञ के अंदर प्रक्षेप किया जाता है वह सभी आज्य कहा जाता है। आज्य आहुति की विशेषता होती है अन्य आहुतियों की अपेक्षा इसलिए आज्य शब्द उसमें (घीमें) अधिक प्रयुक्त है परन्तु जो भी इज्या का विषय होता है वह सभी आज्य है। जिससे तुम हवन करते हो वह मंत्र भी मैं हूँ और जिस चीज़ का हवन करते हो वह भी मैं ही हूँ। 'अहम् अग्निः', जिसमें तुम हवन करते हो, वह आग भी मैं ही हूँ। 'अहम् हुतम्' जो हवन करने का कर्म है, वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार इन सब रूपों में चूंकि मैं स्थित हूँ इसलिए जो भी तुम यज्ञादि कर्म करते हो वह सब मेरी ही उपासना है।।१६।।

और किस-किस रूप में स्थित हैं यह बतलाते हैं

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

इस जगत् का मैं पिता, माता और दादा हूँ, कर्मफलों का प्रदाता हूँ, जानने योग्य, पावन, प्रणव, ऋक्, साम और यजु हूँ।

इस जगत् को पैदा करने वाला होने से इसका पिता मैं ही हूँ, सारे जगत् को उत्पन्न करता हूँ। पैदा करने वाली भी मैं ही हूँ! इसलिए माता हूँ। पैदा करने वाला और करने वाली इस दृष्टि से कहा जाता है कि पिता निमित्त कारण है, माता उपादान कारण है। इसलिए अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणरूपता का प्रतिपादन है। इस जगत् का उपादान

कारण और निमित्त कारण मैं ही हूँ। धाता, सबको कर्मफल देने वाला भी मैं ही हूँ। माता अपना दूध नहीं पिलाती तो बच्चे को दूध पिलाने के लिए जिसे रखा जाता है उसको धात्री, धाय कहते हैं। पैदा करने वाले माता-पिता से अन्य उसका पोषण करने वाला धाता है। लोक में उत्पन्न करने वाला कोई और, पोषण करने वाला कोई और, यह हो सकता है पर भगवान् कहते हैं कि कर्मफल देकर इस जगत् को पुष्ट करने वाला धाता भी मैं ही हूँ, कोई दूसरा नहीं है। इतना ही नहीं, जिस हिरण्यगर्भ विराट् आदि रूप से मैं पिता माता बनता हूँ, उस पिता माता रूप को प्रकट करने वाला पितामह भी मैं ही हूँ, दादा भी मैं हूँ! पिता के पिता को दादा कहते हैं।

एक कथा प्रसिद्ध है : जब भगवान् शंकर विवाह करने को बैठे तब विवाह के समय गोत्र उच्चारण होता है। पुरोहित ने पूछा 'आपके पिता का नाम क्या?' उन्होंने कहा 'जगत् में सबका कारण ब्रह्मा जी हैं तो ब्रह्मा जी को मेरा पिता समझ लो।' कहा 'अच्छा, दादा का नाम?' 'ब्रह्मा जी को विष्णु भगवान् ने पैदा किया तो विष्णु मेरे दादा का नाम समझ लो।' तीसरी पीढ़ी आई 'परदादा का नाम?' भगवान् बोले 'परदादा तो सारे संसार का मैं ही हूँ!'

विराट् रूप से पिता समझ लो, हिरण्यगर्भ रूप से दादा समझ लो तो ईश्वररूप से प्रपितामह भी हो जाएगा! यहाँ पितामह ही कहा है। पिता निमित्त कारण है; निमित्त कारण भी किसमें कल्पित हैं? निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही अधिष्ठान कारण में कल्पित हैं। निमित्त कारण भी जिसमें कल्पित है वह अधिष्ठान कारण पितामह कहा जाए यह ठीक ही है। भगवान् निमित्त कारण भी हैं, उपादान कारण भी हैं, कर्मफल के द्वारा इसका निरंतर पोषण करने वाले भी हैं और इन सबके अधिष्ठान कारण भी हैं।

'वेद्यम्' चीज़ों को जानने पर भी उनके वास्तविक रूप को अविवेकी नहीं जानते। जैसे तुम गहना ही देखते हो। पूछें, क्या देखा था? तो कहोगे हसुआ था, कड़ा था, बाजूबंद था। यही कहते हो। परंतु वस्तुतः तुमने वहाँ क्या देखा? सोना देखा। गहने के अंदर वेद्य तो सोना है, जानना तो चाहिए सोने को, तब तुम को पता लगे सचमुच में क्या है, अन्यथा आदमी केवल उसके रूपों को देख कर ठगा जाता है। इसी प्रकार संसार के नाम-रूपों को देख कर हम समझते हैं कि हमने चीज़ें जानी हैं। परन्तु जानने योग्य चीज़ तो है सत्। 'पवित्रं', एकमात्र वही वेद्य किसी भी चीज़ को पवित्र करने वाला है, पावन है। विष्णु सहस्रनाम में कहा 'पवित्राणां पवित्रं यः' जो चीज़ें लोक में पवित्र कही जाती हैं वे पवित्र करने की सामर्थ्य वाली इसीलिए हैं कि उनके अंदर सच्चिदानन्द परमात्मा विद्यमान है। 'ओङ्कारः' वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के पहले जिस ओङ्कार का प्रयोग होता है, वह ओङ्कार भी मेरा ही रूप है। इसी प्रकार से ऋक् साम और यजु मैं हूँ। जिसके अन्दर पाद और उनमें अक्षर निश्चित होते हैं वह वेदभाग ऋक् है। गीत को साम कहते हैं। वे ही मंत्र जब तक गाये नहीं जाते तब तक ऋक् हैं, जब गाये जाते हैं तब साम हैं। जिसके अंदर

पादानुसार अक्षर नियत नहीं हैं, चाहे जितने अक्षरों वाले मंत्र होते हैं, वह वेदभाग यजु है। इस प्रकार तीनों प्रकार के जो वेदों के भाग हैं वे सब मैं ही हूँ। अतः जब तुम किसी भी मंत्र का उच्चारण करते हो तब मेरी ही उपासना करते हो यदि इस निश्चय को कायम रखते हो कि उस रूपसे मैं ही हूँ। इस प्रसंगमें सर्वत्र यह नियम है कि इस निश्चय से क्रतु आदि करने पर परमेश्वर की उपासना हो जाती है।१७।।

और भी कहते हैं कि कैसे भगवान् सर्वात्मक हैं

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

मैं कर्मफल, पोषक, मालिक, प्राणियों के किये-न-किये का गवाह, प्राणियों के रहने का स्थान, आर्तिनिवारक, उपकारी, जगत्कारण, सबके लीन होने का स्थान, जगत् के रहने का स्थान, सुरक्षित रखने वाला, जन्महेतु और अक्षय हूँ।

कर्मों का फल देने वाला मैं हूँ यह तो पहले 'धाता' से कह दिया, अब कहते हैं कि स्वयं कर्मफल भी मैं ही हूँ। कर्मों का फल सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति है। पुण्य कर्म का फल सुखाकार वृत्ति, पाप कर्म का फल दुःखाकार वृत्ति, इन वृत्तियों में प्रतिफलित होने वाला मैं ही हूँ। जब तक परमात्माका प्रतिफलन न हो तब तक वे वृत्तियाँ अनुभव नहीं बन सकतीं। स्थूल रूप से रसगुल्ले आदि विषय को सुखदायक होने से सुख समझते हैं। इस दृष्टि से तात्पर्य है कि रसगुल्ले आदि का धारण करने वाला भी मैं ही हूँ अर्थात् जिस पदार्थ के द्वारा तुमको सुख-दुःख होता है वह भी मुझ सच्चिदानन्द में ही विद्यमान है। 'भर्ता', तुम्हारा भरण करने वाला मैं ही हूँ। हर जीव को जो जिसका भोजन है वह मैं पहुँचाता हूँ। कुछ ऐसे प्राणी होते हैं जो अग्नि खाते हैं, अग्नि रूप से ही मैं उनका भरण करता हूँ। कुछ प्राणी हैं जो केवल वायु-भक्षी हैं, केवल वायु ही खाते हैं, उनका वायुरूप से पोषण करता हूँ। सुख-दुःखरूप कर्मफल मैं हूँ और तुम्हारे जीवन-धारणमात्र के लिए जो आवश्यक है वह भी मैं ही हूँ।

'प्रभुः' स्वामी, मालिक, जो जिसे 'यह मेरा है' यों स्वीकारे वह उसका स्वामी होता है। भगवान् बता रहे हैं कि सारे चराचर जगत् का मैं ही एकमात्र प्रभु हूँ। अन्य जो राजा आदि प्रभु लोकमें प्रसिद्ध हैं, उनमें होने वाली प्रभुशक्ति मेरे अधीन होने से मेरी ही है। जो सारे अपने को प्रभु समझते हैं उन सबका मैं प्रभु हूँ। इस प्रकार से एकमात्र मैं ही सबका मालिक हूँ। 'साक्षी' प्राणी जो भी करते हैं या नहीं करते, उन सबका मैं साक्षी हूँ। पाप करके भी होता है और नहीं करके भी होता है। प्रायः करके लोग किए जाने वाले पाप को तो समझते हैं लेकिन नहीं किए जाने से जो पाप होता है उसको नहीं समझते। शास्त्र कहता है कि तुम्हारे में सामर्थ्य है, कोई गरीब को सता रहा है, तुमने अपने सामर्थ्य का उपयोग करके उसको नहीं बचाया तो तुमको उतना ही पाप लगता है जितना उस

अपराध करने वाले को। इसी प्रकार से अगर तुम न्यायाधीश हो, तुम्हारे सामने कोई अपराधी आया और तुमने उसको छोड़ दिया तो उस अपराधी का जो अपराध है वह तुम्हारे सिर आ जाता है, तुम्हीं को भोगना पड़ेगा। इसलिए प्राचीन काल में न्यायाधीश बनने से लोग बहुत घबराते थे क्योंकि जिस-जिस अपराधी का अपराध दण्डित न किया उस सबको भोगना पड़ेगा यह मानते थे। पापकी तरह पुण्य भी अकृत हो सकता है। जो तुमने पुण्य-पाप किया वह तो सामान्य रूप से कोई दूसरा भी देख सकता है लेकिन जो पुण्य-पाप तुमने *न करने* से पैदा किया है उसके तुम ही अर्थात् तुम्हारा साक्षी देखेगा। पारिभाषिक दृष्टि से अभावरूप अकरण यदि अपूर्वोत्पादक न भी हो तो उससे उपलक्षित अन्य करण हेतु बन सकता है जैसा कुमारिल भट्ट ने कहा है

'स्वकाले यद् अकुर्वंस्तत् करोत्यन्यद् अचेतनः।
प्रत्यवायोऽपि तेन स्याद् नाऽभावेन स जन्यते।'

अथवा यहाँ अकृत का साक्षी होना ही कहा है, अकरण से पुण्यादि का प्रसंग लाया ही जाये यह ज़रूरी नहीं।

'निवासः' मैं ही सबका निवास हूँ अर्थात् सारे प्राणी मुझ में ही रहते हैं। निवास का अर्थ होता है जहाँ कोई नियम से वास करे। वास तो तुम किसी होटल में भी कर सकते हो, परन्तु वह तुम्हारा निवास नहीं है, नियम से तुम वहाँ नहीं रहते हो। चार दिन, चार महीना, चार साल के बाद वह जगह छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हो। आजकल जिसे 'स्थायी पता' कहते हैं वह है निवास। तुम इस शरीर में भी रहते हो लेकिन यह भड़ैती की तरह रहना है। सौ साल पूरे हुए, खाली करके चल देते हो। जैसे होटल का कमरा छोड़कर जाते हो तो यह नहीं देखते हो कि पीछे उस होटल के कमरे में सफाई हुई कि नहीं हुई; अपने घरके कमरे को छोड़ कर जाते हो तो साज-सवार कर और नहीं तो जाते हुए कह जाते हो कि कमरे की झाड़ पोछाई करते रहना; इसी तरह जब इस शरीर को छोड़ कर जाते हो तो इसकी साज-संवार की कुछ चिन्ता नहीं है क्योंकि यह वासमात्र है, निवास नहीं है। नियम से रहने की जगह सच्चिदानन्दरूप ही है क्योंकि वह कभी हटता नहीं।

'शरणं', जो भी कष्ट में होते हैं और परमेश्वर की तरफ दृष्टि करते हैं, उनके उस कष्ट को वह हरण करता है इसलिए वही शरण है। शरण शब्द का अर्थ इसीलिए कोषकारों ने घर और रक्षक दोनों किया है। यहाँ निवास से घर कह दिया है इसलिए शरण से रक्षा करने वाला रूप कह रहे हैं। 'सुहृत्' जो तुमसे किसी भी उपकार की अपेक्षा किए बिना तुम्हारा उपकार करता है उसको सुहृत् कहते हैं। तुम को जीवनदान देने वाला, तुमको सत्-रूप देने वाला परमेश्वर है, पर सब देते हुए तुमसे क्या लेता है? कुछ नहीं। तुम हो क्यों? परमेश्वर ही तुमको सत्-रूप देता है, सत्ता देता है। इसी प्रकार परमेश्वर ही तुमको चित्ता, चेतनभाव देता है। जहाँ अन्तःकरण आदि नहीं है वहाँ भी सत् तो है, चित् नहीं है। जितने भी जलाशय हैं उन सभी को सूर्य प्रकाशित करता है और जो जलाशय

नहीं चट्टानें या बालू के खण्ड हैं उनको भी सूर्य ही प्रकाशित करता है। जलाशयों को प्रकाशित भी करता है और उनके अंदर सूर्य का प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। जैसे सूर्य चमकता है वैसे ही वे भी चमकते हैं। चीज़ों को प्रकाशित सूर्य करता है पर चीज़ें उसके लिए क्या करती हैं? कुछ नहीं। अतः किसी भी उपकार की अपेक्षा बिना किए हुए वह उनको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार परमात्मा बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए सब चीज़ों के अंदर 'है'-रूप देता है। और जिस प्रकार से जलाशयों से कोई भी उपकार सूर्य का नहीं होता फिर भी उनमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अन्तःकरणों में परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। उन अन्तःकरणों से उसका कोई उपकार होने वाला नहीं है। इसलिए सुहृत् है।

'प्रभवः' जगत् की उत्पत्ति, होना भी वही है और 'प्रलयः' उसी में सब चीज़ें अन्त में लीन होती हैं, लीन होने की जगह भी वही है। 'स्थानम्', सब चीज़ों की स्थिति रखने वाला भी वही है। उसके कारण ही सब चीज़ें स्थित हैं। अथवा सृष्टि का प्रभवरूप ब्रह्मा जी, प्रलयरूप रुद्र और स्थानरूप विष्णु वही है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय   इन तीनों अवस्थाओं को बताने के लिए ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की बात कही जाती है। 'निधानं', आदमी चीज़ें रख लेता है कि कालान्तर में उन्हें भोगेगा। आजकल एक तिजोरी बहुतों के घर में हो गई है   रैफ्रिजरेटर। पहले तो भोजन बच जाता था तो कोई गरीब आये उसको दे देते थे, नहीं तो गाय भैंस को खिला देते थे क्योंकि अन्यथा पता था कि खराब हो जाएगा। अब ठण्डी अल्मारी में रख देते हैं कि शाम को खा लेंगे! इस तरह कालान्तर में भोग करने की चीज़ें बढ़ गईं। कालान्तर के अंदर जिनका उपभोग होगा, वह निधान भी मैं हूँ। सबसे बड़ा निधान तो आजकल बैंक है। सब उसमें पैसा जमा कराकर रखते हैं कि फिर कभी काम आएगा। अभी उस पैसे का कोई प्रयोजन नहीं है, बाद में काम आएगा। 'बीजम्', सब चीज़ों के अंदर उनकी बढ़ोत्तरी का जो हेतु है, जिससे चीज़ें बढ़ कर प्रकट होती हैं, वह बीज है। सब चीज़ों का बीज भी समझ सकते हो, अथवा सामान्यतः वृक्षों के बीज होते हैं यह प्रसिद्ध है अतः उन बीजों को भगवान् अपना रूप कह रहे हैं यह समझ सकते हो। कैसा बीज? 'अव्ययम्' अर्थात् जब तक संसार रहता है तब तक कभी ख़त्म नहीं होता। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज   यह अनादि परम्परा है और जब तक संसार रहता है तब तक रहती है। इसलिए इसको अव्यय बीज कह दिया। जिसका बीज नहीं हो, वह चीज़ कभी भी बढ़ कर कुछ हो नहीं सकती। हम लोगों को बीजों से पेड़ उगते हुए हमेशा दीखते हैं पर तत् तत् बीजों के नष्ट होने पर भी बीज-सन्तति बनी रहती है। अतः यहाँ अव्यय शब्द लगने के कारण केवल एक किसी विशिष्ट बीज को नहीं, बीज-सन्तति को समझना है क्योंकि अव्यय तो वही होती है। जब तक सृष्टि रहती है तब तक वह ख़त्म नहीं होती।

उसको अव्यय कहने का एक और खास कारण है कि सामान्यतः जब एक चीज़ से

कोई दूसरी चीज़ पैदा करते हो तो कारणरूप चीज़ बनी रहती है। मिट्टी से तुमने पौधा पैदा किया, घड़ा पैदा किया, दोनों में क्या फ़र्क है? फ़र्क यह है कि मिट्टी से बना घड़ा मिट्टीमात्र ही रहता है परन्तु मिट्टी से बना पेड़ मिट्टी *ही* नहीं रहता, मिट्टी से सर्वथा अलग दीखता है। अथवा, अन्न से हमारा शरीर बना परन्तु उस शरीर के अंदर जो हमारा बीज (शुक्र-शोणित) है, उससे जो पैदा हुआ वह बच्चा सर्वथा अलग, दूसरा दीखता है। अन्न खाकर हमारा पेट भी फूला, हाथ-गर्दन भी मोटे हुए, वह सब हमारा रूप ही दीखता है, यही लगता है कि देवदत्त ही मोटा हुआ, देवदत्त का पेट फूला। और अन्न से बने हुए शुक्र-शोणित के द्वारा जो उसका पुत्र यज्ञदत्त हुआ वह देवदत्त से सर्वथा भिन्न दीखता है। इस प्रकार से भिन्न दीखने वाले कारणों की ओर संकेत करने के लिये बीज कहा। वैसे तो जितने भी कारण हैं सभी अव्यय हैं, जब तक सृष्टि समाप्त नहीं होती तब तक मिट्टी, पानी आदि रहते हैं। लेकिन सर्वत्र सन्तति वाली बात नहीं आती। घड़ा फोड़कर तुमने फिर मिट्टी बना ली तो यह प्रतीति नहीं होती कि *दूसरी* मिट्टी बनी, यही लगता है कि वही मिट्टी है। गहना गलाने पर वही सोना हाथ आता है, अन्य सोना नहीं। लेकिन यज्ञदत्त के बेटे देवदत्त को देख कर 'यह वही यज्ञदत्त है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। यह फ़र्क होने के कारण बीज को भगवान् ने अलग से कह दिया।।१७।।

भगवान् ने जब कहा कि कुछ भक्त मेरी 'बहुधा', बहुत चीज़ों में उपासना करते हैं, तब प्रश्न हुआ कि उन चीज़ों की उपासना आपकी उपासना कैसे? इसके उत्तर में भगवान् बतला रहे हैं कि संसार के अंदर सब चीज़ों के अंदर मैं विद्यमान हूँ। इसी क्रममें कहते हैं

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१६।।

अर्जुन! (सूर्य होकर) मैं तपता हूँ, मैं जल ग्रहण करता और बरसाता हूँ, अमृत, मृत्यु, सत् और असत् मैं ही हूँ।

मैं सूर्य के रूप में गर्मियों के मौसम में तेज़ किरणों के द्वारा ताप देता हूँ जो ताप सबको तपाता है। कुछ तेज रश्मियों के द्वारा मैं तपाता हूँ तथा कुछ अन्य रश्मियों के द्वारा मैं वर्षा करता हूँ। गर्मियों में, वैशाख-ज्येष्ठ इन दो महीनों में मैं तपाता हूँ और फिर आषाढ और श्रावण दो मासों में मैं वर्षा करता हूँ। इस रश्मियों के भेद के बारे में आधुनिक लोगों को कुछ पता नहीं है कि किन विशेष रश्मियों से ताप होता है, किन विशेष रश्मियों से वर्षा होती है। सब रश्मियाँ एक जैसी नहीं हैं। फिर आठ मासों तक कुछ तीसरे प्रकार की रश्मियों के द्वारा, उस जल को मैं वापिस खींचता हूँ, सुखाता हूँ। अर्थात् जल का शोषण करने वाली एक प्रकारकी रश्मियाँ, वर्षा करने वाली दूसरे प्रकार की रश्मियाँ और ताप देने वाली तीसरे प्रकारकी रश्मियाँ हैं। 'अमृतं' देवताओं को

अमरता देने वाला अमृत भी मेरा ही स्वरूप है और 'मृत्युश्च', मरणधर्मा प्राणियों का मरण करने वाला भी मैं ही हूँ। देवताओं को अमर करने वाला, और प्राणियों को मारने वाला मैं ही हूँ।

'सत्' वह जिसके संबंध से कोई भी चीज़ विद्यमान रूप से प्रतीत होती है। 'है' का संबंध होने पर ही वस्तु विद्यमान प्रतीत होती है। जिसके संबंध से वस्तु विद्यमानतया प्रतीत होती है वह सत् मैं हूँ। और जिसके संबंध से 'नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है वह असत् भी मैं हूँ। घड़े का जब 'है' से संबंध होता है तब 'घड़ा है' प्रतीत होता है और घड़े का जब 'नहीं है' से संबंध होता है तब 'घड़ा नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे अमृत और मृत्यु द्वन्द्व हैं वैसे सत् और असत् परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व हैं लेकिन सत् और असत् दोनों ही परमात्मा का रूप हैं। इस सत्-असत् से कार्य-कारण भी ले सकते हैं क्योंकि दार्शनिक ढंग से सत् में कारणता होती है और असत् में कार्यता होती है; जो है उसी से जो अभी नहीं है, वह पैदा होता है। किन्तु यह अर्थ नहीं लेते हैं क्योंकि यह नैय्यायिकों के आरम्भवाद जैसी बात हो जाती है क्योंकि कार्य असत् है यह आरम्भवादी मानते हैं। परिणामवादी सत् कारण में सत् ही कार्य छिपा हुआ है ऐसा मानते हैं। मिट्टी के अंदर घड़ा नया पैदा नहीं होता, मिट्टी में जो छिपा घड़ा है, वही प्रकट हो जाता है यह परिणामवाद का मानना है। वेदान्त-प्रक्रियामें प्रायः परिणामवाद से व्यावहारिक जगत् की व्यवस्था बनाई जाती है, इसलिए यहाँ कार्य-कारण अर्थ नहीं समझकर जिसके संबंध से पदार्थ मौजूद प्रतीत होता है और जिसके संबंध से मौजूद नहीं ऐसा प्रतीत होता है, वे सत् और असत् समझे गये हैं। भगवान् स्वयं असत्-रूप हैं ऐसा अर्थ नहीं समझ लेना! सत् व असत् कहने से ऐसी प्रतीति होती है कि सत् भी हैं और अत्यन्त असत् शून्य भी वे ही हैं। किन्तु ऐसा तात्पर्य नहीं है। जिसके संबंध से होने की प्रतीति होती है उसे सत् कहा और मौजूद रहने पर भी जिसके संबंध से ग़ैर मौजूदगी की प्रतीति होती है उसे असत् कहा।

सभी अनुभवों के अंदर उनके नाम-रूप का बाध कर परमात्मदृष्टि करना रूपी जो यज्ञ है, उससे मेरी उपासना करते हैं। जो-जो चीज़ प्रतीत होती है चाहे वह है- रूप में, चाहे नहीं है- रूप में, उस 'है' और 'नहीं है' का बाध करते हुए एकमात्र अधिष्ठान को ही देखना यह यज्ञ है। जैसे घी को अग्नि में जलाते हैं वैसे ही यहाँ आकारों को विवेक के द्वारा जला देते हैं, एकमात्र अधिष्ठान शेष रह जाता है। इस प्रकार से ज्ञान यज्ञ के द्वारा पूजन करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं।।१६।।

जो इस परमात्मरूप को नहीं समझते, अज्ञानी हैं, वे लोग कामकामी हैं अर्थात् व्यवहार में आकार आदि का बाध करते हुए मुझे नहीं देखते, आकारों को वास्तविक मानकर उनकी ही कामना करते हैं। पदार्थ वे ही हैं, उनमें परमात्म-दृष्टि करने से परमात्म-प्राप्ति हो जाती है और पदार्थों को ही वास्तविक समझ लेना अज्ञान को बढ़ाने वाला, विषय-वासना

को बढ़ाने वाला होता है। निष्काम भगवद्भक्त मोक्ष पाते हैं पर कामना रहते तो संसरण चलता ही रहता है यह बताते हैं

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम् अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

यज्ञों द्वारा आराधना कर स्वर्गगमन चाहने वाले जिन सोमपायी वेदज्ञों के पाप धुल चुके हैं वे देवराज का पुण्य लोक पाकर उस द्युलोक में देवों के दिव्य भोगों का अनुभव करते हैं।

अज्ञानी भी शास्त्रानुसार कर्म करते हैं परन्तु काम-कामी होकर, 'मुझे इस फल की प्राप्ति होवे' यह चाहकर। 'त्रैविद्याः' वेदत्रयी-संबंधी तीनों विद्याओं वाले; जिन्होंने वेदों को और वेदों में कहे हुए कर्मों व देवताओं को ठीक से समझा है। ऐसे लोग वस्तुगत्या मेरी पूजा करने पर भी जिन वसु, रुद्र, आदित्यादि रूपों को पूजते हैं उन्हें मैं नहीं समझते, ईश्वर नहीं समझते। वे 'सोमपाः' सोमयज्ञ करके सोमपान करते हैं जिससे 'पूतपापाः' अपने पापों से छूटते हैं। बाहर से तो जो वसु आदि देवताओं को परमात्मा समझ कर यज्ञ करता है वह भी जैसा वेद में लिखा है, उसी ढंग से करता है, पर उसकी दृष्टि तो यज्ञ, क्रतु, हवन की सामग्री, आज्य आदि सबका प्रयोग करते हुए उन सबके अंदर विद्यमान जो अपना ही आत्मतत्त्व है उसको देखती है। अज्ञानी सामग्री को अलग समझते हैं, देवताओं को अलग समझते हैं, जिस अग्नि में आहुति देते हैं उसको अलग समझते हैं, सब चीज़ों को अलग-अलग समझ कर यज्ञ करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में 'स्वर्गति' स्वर्ग में जाना ही जीवन का लक्ष्य है, उसी को 'प्रार्थयन्ते' पाना चाहते हैं। सब चीज़ों को अपने आत्मा से भिन्न समझते हैं इसलिए यज्ञानुष्ठान से भी उनको केवल स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है। परिश्रम एक जैसा है परन्तु समझ कर करते हैं तो उसका फल मोक्ष हो जाता है और बिना समझे करते हैं तो फल स्वर्ग रह जाता है। स्वर्ग अर्थात् सुरेन्द्र का, देवताओं के राजा का लोक। वह पुण्यों के फलस्वरूप मिलता है इसलिये यहाँ उसे भी पुण्य कहा। उसे पाकर वे उन विषयों का उपभोग करते हैं जो वहीं हुआ करते हैं, निम्न लोकों से विलक्षण हैं, तथा देवताओं के योग्य हैं। किन्तु स्वर्ग गये सबको बराबर भोग नहीं मिलते! इन्द्र शतक्रतु सौ क्रतुओं का अनुष्ठाता बनकर स्वर्ग जाता है अतः वही सर्वाधिक भोग पाता है। बाकी सब अपने-अपने पुण्यों के अनुपात में ही भोग प्राप्त करते हैं। इसलिये स्वर्ग में भी तारतम्य का दुःख तो बना ही रहता है। भगवत्प्राप्ति में यों भेदभाव वाला नहीं, एकरस आनन्द है अतः बुद्धिमान् को स्वर्गेच्छा छोड़कर भगवान् को पाने का ही प्रयत्न करना चाहिये।।२०।।

स्वर्ग के भोग तारतम्य वाले ही नहीं, क्षयिष्णु भी हैं, इसलिये भी विवेकी द्वारा कमनीय नहीं यह समझाते हैं

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

वे उस विस्तीर्ण स्वर्ग लोक का उपभोग कर पुण्य खर्च हो चुकने पर मरणधर्मा प्राणियों के लोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार, वेदत्रयविहित धर्मों के अनुसर्ता किंतु विषयाभिलाषी लोगों को (ऊँचे-नीचे लोकों में) जाना-आना ही मिलता है।

'विशालं', स्वर्गलोक अत्यन्त विशाल है और वहाँ पहुँचने वाले हमेशा कम ही होते हैं। इसलिए भीड़ भड़क्के की तकलीफ़ वहाँ नहीं होती। किन्तु स्वर्ग में रखने वाला पुण्य खर्च होता जाता है। जितना पुण्य मनुष्य लोक में अर्जित किया है उसके अनुसार ही स्वर्ग में रहना मिलेगा। जिसने दो ही यज्ञ किये उसकी अपेक्षा बीस यज्ञ करने वाला दस गुणा समय वहाँ रह सकेगा। किंतु चाहे जितना हो, जब वह पुण्य भोग लिया तब 'क्षीणे पुण्ये' पुण्य का व्यय हो जाने पर फिर वापिस 'मर्त्यलोकं विशन्ति', इसी मर्त्यलोक में आ जाते हैं। जिन्होंने उन्हीं कर्मों को सब चीज़ों को आत्मा से अभिन्न समझकर किया है वे, जैसा पहले कहा था, ब्रह्मलोक जाकर वापिस नहीं आएँगे। परन्तु जिन्होंने भेद-दर्शन रखकर कर्म किये हैं वे पुनः लौटेंगे ही। अज्ञानी समझते हैं कि ये सब अलग ही हैं, वसु रुद्र आदित्य मैं नहीं हूँ, वे देवता हैं, मालिक हैं अलग हैं, हम यजमान, सेवक अलग हैं। इसी प्रकार से जिस आज्य की आहुति वगैरह देते हैं उसका अपने आत्मा से कोई संबंध नहीं समझते। अतः उन अज्ञ लोगों को केवल पुण्य होता है। पुण्य से दिव्य भोग मिलते हैं। जितनी देर दिव्य भोग भोगते हैं, उतनी देर उनके पुण्य क्षीण होते रहते हैं। क्षीण, कम ही होते हैं, स्वर्ग में रहने वाले के पुण्य सर्वथा समाप्त नहीं होते। सूत्रभाष्य में कहा है कि जैसे किसी बर्तन में तुम घी रख दो, फिर उस बर्तन को खाली करो तो बर्तन खाली होने पर भी उसमें थोड़ा-सा घी चिपका हुआ रह ही जाएगा। इसी प्रकार भोग से पुण्य समाप्त होने पर भी थोड़ा तो रह ही जाएगा।

'एवं त्रैधर्म्यम् अनुप्रपन्नाः' यह भाष्यानुसारी पाठ है। ऋक्, यजु, साम वेदों में होता, अध्वर्यु और उद्गाता के लिये विहित धर्मों को एकत्रकर त्रिधर्म और उसे ही त्रैधर्म्य कहते हैं। नीलकण्ठ आदि के अनुसार 'त्रयीधर्मम्' पाठ है, त्रयी अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित धर्म अर्थ है। दोनों पाठों में अर्थ एक ही है और दोनों सही पाठ हैं। वेदविहित कर्मों का नाम ही धर्म है। उस धर्म को 'अनुप्रपन्नाः' मानकर तदनुसार कर्म करने वाले 'गतागतं' आने-जाने वाले विषयों को प्राप्त करते हैं क्योंकि 'कामकामाः' उन्होंने कामनाएँ ही इन विषयों की की थीं। कामकामी होने के नाते काम्य विषयों की प्राप्ति ही होती है। कामकामियों की कामनाएँ कैसी हैं? आने-जाने वाले विषयों की ही हैं। उन्हें प्राप्य दिव्य भोगों के अंदर उनका स्वातन्त्र्य नहीं है, पुण्य के अनुसार मिलेंगे, पुण्य समाप्त होने पर चले जाएँगे।।२१।।

ऐसों से विलक्षण जो भगवान् से एकता को प्राप्त करेंगे वे स्वतंत्र रहेंगे क्योंकि भगवत्-स्वरूपमें आना-जाना नहीं है। आने-जाने वाली चीज़ों में परतन्त्रता होती है। जैसे मावे की कचौड़ी खाएँगे तब मावे की कचौड़ी का सुख मिलेगा। किन्तु मावे की अच्छी कचौड़ी मिलने में स्वतन्त्रता नहीं है। परंतु योगाभ्यास से हम अपनी रसना के ऊपर चित्त-वृत्ति को केन्द्रित करते हैं तो उससे बढ़िया स्वाद आते हैं। उन बढ़िया स्वादों में हम स्वतन्त्र हैं। सर्वथा स्वातंत्र्य तो वहाँ भी नहीं है लेकिन कम-से-कम किसी विषय के अधीन नहीं हैं। अपना स्वरूप हम शरीर, मन, प्राण को मानते हैं, उसी का रोध किया, और जब मर्ज़ी तब स्वाद ले लिया, अतः जिसे हम मैं समझ रहे हैं उसीके सहारे स्वाद को लेने से स्वतन्त्रता है। शरीर आदि के अधीन तो हैं ही, वे भी हमारा *वास्तविक* स्वरूप नहीं है, हमसे भिन्न हैं। शरीर, प्राण, अन्तःकरण आदि हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिए योगसिद्धि मिलने पर भी उनके अधीन तो रहते ही हैं। प्राणायाम करेंगे, मन्त्र जप करेंगे तब सुख होगा, इस सब के अधीन तो हैं ही।

परन्तु जो देहादि की उपाधि से रहित मेरा वास्तविक स्वरूप है उसे अपने सच्चिदानन्द के लिए किसी अन्य साधन की ज़रूरत नहीं है, वह स्वयं ही आनन्दरूप है। व्यावहारिक दृष्टि से हमारा शरीर क्योंकि जीवनभर रहता है इसलिए इसको गतागत नहीं भी कहेंगे, परन्तु वास्तविक दृष्टि से शरीर भी गतागत ही है। इसलिए उपाधियों से रहित जो अपना आनन्दस्वरूप है उसी में परम स्वातन्त्र्य है। वह आनंद किसी भी विषय की कामना से रहित है। काम शब्द का प्रयोग प्रायः करके विषयों के लिए होता है। इसलिए निष्काम का अर्थ है किसी भी विषय की इच्छा न रखना। अपने आत्मा की इच्छा होना सकामता नहीं है। परमात्मा हमारा स्वरूप है, उससे प्रेम होना, उसकी प्राप्तिकी इच्छा होना कामना नहीं है। विषय हमारा स्वरूप नहीं है, अतः उनसे प्रेम होना कामना है। विषयकामना को ही कामना कहा जाता है। इसलिए श्रुति में कहा है कि आत्मकाम आप्तकाम है। आत्मा की कामना को 'सारी कामनाएँ प्राप्त हो गईं' ऐसा कहा जाता है। निष्काम सम्यक् दर्शी परमात्मा के वास्तविक ब्रह्मस्वरूप को अपने आत्मा से अभिन्न जानने वाला होगा इसलिए परमात्मा की भेदबुद्धि से उपासना नहीं करेगा यह समझाते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

जो लोग (ईश्वर और जीव पृथक् हैं इस) भेदभाव से रहित होकर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी हर ओर से उपासना करते हैं, सदा पूर्णतः योगलग्न उनका योग-क्षेम मैं संपन्न करता हूँ।

भगवान् ने पहले कहा था कि जो मुझ परमात्मा को अपने से अन्य समझते हैं वे भेद-बुद्धि वाले हैं। उनसे विलक्षण हैं 'अनन्याः' परमात्मा अन्य नहीं है, इस प्रकार समझकर जो

चिन्तन करते हैं। परमात्मा उनसे पृथक्-भूत नहीं रहता है। उनकी उपासना अहंग्रह से होती है अर्थात् स्वयं से, अपने प्रत्यग्रूपसे अभिन्न कर वे परमात्मा का चिन्तन करते हैं। ऐसे जो लोग होंगे वे 'पर्युपासते' मेरी सर्वतः उपासना करते हैं। अन्यबुद्धि वालों की उपासना तो उपाधियों में सीमित ही रह सकती है, परितः अर्थात् सब तरफ से नहीं हो सकती। अनन्य होने पर ही परि उपासना संभव है। 'तेषां' इस प्रकार परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले 'नित्याभियुक्तानां' नित्य अभियुक्त होते हैं। नित्य, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक उपासना कर्तव्य है। नित्य जब तक मर न जाएँ तब तक। निरन्तर जगने से लेकर जब तक नींद न आ जाए तब तक। यहाँ 'नित्य' से नित्य और निरन्तर दोनों समझ लेना। ऐसे उपासक नित्य अभियुक्त होंगे, मुझसे हमेशा एक होंगे। उन्हें कोई विषय-कामना है नहीं, इसलिए विषयों के लिए प्रवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वे परमहंस संन्यासी ही होंगे। उनका व्यवहार कैसे चलेगा? भगवान् बताते हैं 'योग' जो उन्हें प्राप्त नहीं है वह मैं प्राप्त करा देता हूँ और 'क्षेम' जो प्राप्त है उसका रक्षण करता हूँ। उनके सारे योगक्षेभ का मैं वहन करता हूँ क्योंकि वे मुझे से अभिन्न है। मुझे से अभिन्न होने के कारण अत्यन्त प्रेमवश मेरी उपासना में ही लगे रहने से वे अपने योग-क्षेम के लिये कुछ नहीं करते अतः उनके योग-क्षेम को वहन करने वाला मैं ही हूँ। जो परमात्मा से अपने को भिन्न समझता है वह तो सोचता है कि 'अपने योग-क्षेम का वहन मुझे करना है, मैं करूँगा तो होगा, नहीं करूँगा तो कैसे होगा!' अज्ञानियों का यह भ्रम हमेशा रहता है। जिनका वह भ्रम मिट गया वे अकर्त्ता अभोक्ता स्वरूप वाले हैं इसलिए उनके प्रारब्ध का फल देने वाला मैं परमेश्वर ही उनके शरीर आदि का निर्वाह करता रहता हूँ।

परमेश्वर विभिन्न प्रकारके भक्तों में भेद-बुद्धि वाले होकर योगादि का वहन करते हैं ऐसा नहीं, अन्यथा उनके ऊपर दोष आ जाएगा कि क्यों एकका योग-क्षेम खुद वहन करते हैं और दूसरे का योग-क्षेम खुद नहीं वहन करते हैं? किन्तु दूसरे स्वयं प्रवृत्त हैं अपने प्रारब्ध-भोगों की प्राप्ति के लिए इसलिए उनको प्रतीति होती है कि 'यह हमारा प्रयत्न-साध्य है, हम करेंगे तब होगा।' मिलना तो प्रारब्ध भोग ही है, लेकिन अज्ञानी समझता है 'मेरे किए बिना नहीं होगा' इसलिए उसकी प्रतीति है कि 'मैंने किया तब हुआ।' जो उस प्रारब्ध-भोग को अपने द्वारा किया हुआ नहीं समझता है उसको भी भोग प्राप्त तो होगा ही, किन्तु उसका अनुभव है कि प्राप्त कराने वाला परमेश्वर ही है। इसलिए भगवान् ने कहा कि उसका योगक्षेम मैं ही करा देता हूँ। ईश्वर अज्ञानी को भी प्रारब्ध का फल देता है और ज्ञानी को भी प्रारब्ध का फल देता है। मिलना दोनों को प्रारब्ध का फल है। ज्ञानी में विशेष यह है कि वह अपने में कर्त्तृत्व लाकर 'करूँ' की भावना से रहित है। ऐसे समझ लो गर्मी पड़ रही है, हम बैठे हुए हैं। अकस्मात् ठण्डी हवा आई, हमें लगी तो सुख हुआ। तब प्रतीति होती है 'हवा ने मुझे सुख दिया', क्योंकि अपने में कर्त्तृत्व-बोध नहीं है। यदि मैंने पंखा चलाया या वातानुकूलनयंत्र चलाया जिससे हवा आई, तो लगता है कि 'मैंने

किया तब आई।' हवा का भोग तो बाहर बैठे हुए को भी हो रहा है, पंखे के नीचे बैठे हुए को भी हो रहा है, और दोनों हैं प्रारब्ध का ही फल, परन्तु पंखा चला करके प्रतीति मनुष्य को होती है कि 'मैंने चलाया तब हुआ' और बाहर बैठ कर प्रतीति होती है कि 'हवा चली तब हुआ।' प्रारब्ध का भोग तो ईश्वर ही सबको देता है परन्तु अज्ञानी समझता है कि 'मैं करूँगा तब होगा, परमेश्वर क्या करेगा!' जो जीवन और मरण के प्रति भी किसी प्रकार की स्पृहा से, कामना से रहित हैं, वे अपने को सदा भगवत्-शरण ही रखते हैं अतः उनकी सब पूर्ति केवल ईश्वर ही करता है। 'मैं करूँगा तब होगा' इस प्रकार का उनको अज्ञान नहीं रहता है।२२।।

शंका होती है कि आपने पहले कहा कि 'वसु रुद्र आदित्य भी मेरे ही स्वरूप हैं।' अतः जो वसु रुद्र आदित्य इत्यादि को आहुतियाँ देता है वह भी क्या आप की ही उपासना नहीं कर रहा है? भगवान् समाधान करते हैं कि मेरी उपासना करने पर भी जैसे फलभोग के अंदर दोनों की दृष्टियों का फ़र्क है वैसे ही यहाँ भी फ़र्क है

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कुन्तीपुत्र! ईश्वरसे अन्य समझकर देवताओं की भक्ति करने वाले भी जो श्रद्धासे सम्पन्न लोग पूजा करते हैं वे भी अज्ञानपूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं।

अज्ञानी परमेश्वर से भिन्न ही देवताओं को समझता है, अपने आत्मा से अभिन्न नहीं समझता। है भक्त, इसलिए आस्तिक बुद्धि से, श्रद्धा से युक्त हुआ पूजनादि करता है। किन्तु उसे लगता है कि 'कृष्ण देवता हैं, इनको आहुति दे रहा हूँ; मैंने खुद कमा कर आहुति की सामग्री रखी है।' अगर किसी से हमने सामग्री ली होगी तो कर्म के फल में फ़र्क आ जाएगा। बड़े सोमयाग आदि में अधिकतर काम तो पुरोहित लोग ही करते हैं। यजमान स्वयं तो थोड़ी-सी आहुतियाँ डालता है। किन्तु फल उन ब्राह्मणों को तो नहीं होगा क्योंकि सामग्री *उनकी* नहीं है। फल यजमान को होगा क्योंकि उसी ने सारी सामग्री दी है, और उन पंडितों को भी वह कार्य के लिए दक्षिणा देगा, दक्षिणा नहीं देगा तो यज्ञ पूरा नहीं होगा। यद्यपि वे लोग कर रहे हैं तथापि फल यजमान को होगा। इसी प्रकार से कहीं से हमने चोरी से चीज़ ले ली और उससे यज्ञ किया तो क्योंकि सामग्री हमारी थी नहीं इसलिये फल हमें नहीं होगा। इसलिए चाहे दान करो, चाहे देवताओं को हवि दो, चाहे पितरों को दो, सर्वत्र देने का तात्पर्य यही है कि अपनी मिलकियत को, स्वत्व को हटा करके परस्वत्व, दूसरे की मिलकियत का आपादन करना; जो अपनी चीज़ है वह दूसरे को देना। यदि वह अपनी चीज़ है ही नहीं तो दान नहीं होगा। एक की चीज़ दूसरे को दी यह तुम्हारा किया दान नहीं है क्योंकि अपनी चीज़ से स्वत्व हटाया नहीं गया, कारण कि वह पहले ही अपनी चीज़ नहीं थी।

कर्म के ऐसे सब सूक्ष्म भेदों में श्रद्धा से, 'जैसा शास्त्र बतला रहा है वैसा ही कर्तव्य है' इस निश्चय से युक्त होकर जो कर्मकाण्डी यज्ञ करते हैं वे भी 'मामेव यजन्ति', वसु रुद्र आदित्यादि रूप से मौजूद मेरी ही आराधना करते हैं। परन्तु 'अविधिपूर्वकम्' अज्ञानपूर्वक करते हैं। 'श्रद्धया' कह दिया है इसलिए 'अविधिपूर्वकम्' का मतलब यह नहीं लेना कि जैसा कर्मकाण्ड में लिखा है उस विधि को न मान कर करते हैं। उस विधि को न मान कर करेंगे तो यजन ही नहीं हो पाएगा। अतः अविधि मायने अज्ञान। 'यह सब कुछ परमात्मा है, मैं भी परमात्मा हूँ' इस बात को बिना समझे हुए, अपने को यजमान, अपने से भिन्न देवता इत्यादि मान कर करते हैं अतः उनका यज्ञ अविधिपूर्वक होता है।२३।।

अविधिपूर्वकता को और स्पष्ट करते हैं

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

मैं ही सब यज्ञोंका उपभोग करने वाला और अधिपति अवश्य हूँ, किन्तु (भेददर्शी) इस यथार्थरूपसे मुझे पहचानते नहीं अतः वे (स्वर्गादि से) पुनरावृत्त होते हैं।

अज्ञानी समझता है कि 'यह आहुति इन्द्र को दी, यह सोम को दी' परन्तु वस्तुतः सारे यज्ञों के फल को भोगने वाला आत्म-तत्त्व ही है। यज्ञों का फल अन्ततोगत्वा कहाँ आना है? स्वर्गलोक में जाकर मुझे ही आना है। अतः सारे यज्ञों का भोक्ता वस्तुतः तो परमात्म-तत्त्व ही है। जो इस बात को नहीं जानता, वह सोचता है कि विभिन्न देवता आहुतियों के भोक्ता हैं। 'प्रभुरेव च' जितने भी श्रौत-स्मार्त कर्म हैं उन सबका एकमात्र स्वामी मैं ही हूँ। पहले (८.४) कह आए हैं 'अधियज्ञोऽहमेव।' श्रुति भी कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ विष्णुरूप ही है, परमात्मरूप ही है। अतः सारे यज्ञों का प्रभु, स्वामी मैं हूँ। परन्तु उस आत्मतत्त्व को नहीं जानने के कारण अज्ञानी समझते हैं कि 'ये देवता भिन्न हैं, ये खुश होंगे तब हमें फल देंगे'। ऐसे लोग आत्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। देवताओं को, यज्ञ-सामग्री को, यज्ञ की अग्नि को सबको अपने से भिन्न समझते हैं। इस अज्ञान से, 'ये सब परमात्मस्वरूप हैं' इस तथ्यके अज्ञान के कारण उन्होंने यजन अविधिपूर्वक किया इसलिए याग का जो फल है, वह थोड़े समय के लिए मिल कर फिर वहाँ से 'च्यवन्ते' च्युत हो जाते हैं, सीमित भोग ही उनको प्राप्त होता है।

इस प्रकार से भगवान् ने दोनों को सर्वथा भिन्न मार्ग का अवलम्बन करने वाला बतला दिया। यद्यपि बाहर से देखने पर विवेकी भी उन्हीं यज्ञ पूजा इत्यादि को करने वाले दीखते हैं तथापि उनका करना अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करा कर मोक्ष को ले जाने वाला होता है और जो अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझ कर कामकामी हैं वे उन्हीं यज्ञों के फलस्वरूप स्वर्गादि जाकर लौट आते हैं। उपनिषद् में कहा है कि 'यह सब मेरा आत्मस्वरूप ही है' इस रहस्य को जान कर पूरी श्रद्धा के साथ करने पर कर्म वीर्यवत्तर

होता है अर्थात् तुमको ब्रह्मलोक ले जाने वाला होता है। वहाँ भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि इसका मतलब यह नहीं है कि जो इस बात को नहीं समझते उनका कर्म व्यर्थ जाता है। वीर्यवत् तो उनका भी है। कर्म का फल स्वर्ग आदि अथवा जिस कामना से किया है उस कामना की पूर्ति तो जो भेदबुद्धि से किन्तु श्रद्धापूर्वक करते हैं उनको भी प्राप्त होता है, पर अभेदबुद्धि से करने वाला जिस मोक्ष मार्ग को जाता है उसको वे नहीं जा सकते।।२४।।

जब सब कुछ ब्रह्मरूप है तब जिसका भी भजन करो वह ब्रह्म का ही भजन है। परन्तु 'यह ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान न होने से अर्थात् उपाधि का बाध न समझने के कारण जो 'उपाधि का ही भजन कर रहा हूँ' ऐसा समझता है उसको उपाधि का पूजन करने का ही फल भी मिलता है। पूजन के ढंग में फ़र्क नहीं है, एक-जैसा प्रयास करने पर भी अज्ञान के कारण वह मोक्षरूप फल से वंचित रह जाता है। इसी फलभेद को स्पष्ट करते हैं

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

देवविषयक पूजा करने वाल देवताओं को प्राप्त करते हैं, पितरों को उद्देश्य कर पूजा करने वाले पितरों को पाते हैं। भूतों के पूजक भूतों को पाते हैं, मुझ ईश्वर को ही पूजने के स्वभाव वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं। (यों प्रयत्न समान होने पर) भी (अज्ञानी दुर्दैववश तुच्छ फल ही पाते हैं)।

'देवव्रताः' देवताओं की उपाधि में ही नियमपूर्वक जिनकी भक्ति है अर्थात् 'यह देवता है', ऐसा समझ करके ही उसका भजन करते हैं। नियम है कि जिसका जैसा क्रतु होता है वैसा ही वह हो जाता है 'स यथाकामोभवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तद् अभिसम्पद्यते।' (बृ. ४.४.५)। जिस-जिस इष्ट देव का भजन करता है उस-उस इष्ट देव का सालोक्य, सामीप्य इत्यादि मुक्तियों में से कोई-न-कोई मुक्ति पा जाता है। यदि भजन अत्यन्त कम है तो सालोक्य, अपने इष्ट देव के लोक को चला जाता है। अगर भक्ति कुछ ज़्यादा होती है तो सामीप्य पाता है। लोक में होने से उनकी संनिधि होना ज़रूरी नहीं है लेकिन भजन ज़्यादा हुआ है तो संनिधि भी मिल जाती है, उनके पास कोई-न-कोई काम मिल जाता है, उनके पैर दबाने इत्यादि की सेवाएँ मिल जाती हैं। और ज़्यादा भजन करता है तो देवता का आयुध विशेष बन जाता है जो हमेशा देवता के ही हाथ में रहता है; या कोई अंग आदि बन जाता है। जो देवता का नियमपूर्वक भजन करते हैं वे अपने-अपने इष्ट देव को प्राप्त कर जाते हैं क्योंकि श्रुति ने नियम किया है कि जैसा संकल्प करेगा वैसा ही बन जायेगा।

जो श्राद्ध आदि करते हैं वे पितृव्रत हैं। अग्निष्वात्त आदि जो पितर हैं, उनका श्राद्ध आदि से स्वधा आदि के द्वारा सेवन करते हैं अर्थात् पितरों की ही भक्ति करते हैं। वे पितृलोक को जाते हैं। पितृलोक को ही सामान्यतः पुराणों में चन्द्रलोक कहा है।

दक्षिणायन से जाने वाले वहाँ जाते हैं। जो श्राद्ध आदि भी नहीं करते, भूतेज्य हैं, भूतपूजक हैं, वे उन्हें प्राप्त करते हैं। विनायक, मातृकाएँ, चतुःषष्टी योगिनियाँ हैं, इस प्रकार के भूतगणों की ही आराधना में जो लगे रहते हैं, तदनुकूल बलि इत्यादि देना ऐसी तामसी पूजाओं को करते रहते हैं, वे उन्हें ही पाते हैं। जो सात्त्विक होते हैं वे देवताओं की पूजा करते हैं। आगे भगवान् स्वयं कहेंगे कि सात्त्विक देवताओं को पूजते हैं, राजस लोग पितरों की पूजा इत्यादि करते हैं और तामस लोग भूतों की पूजा करते हैं। जो शास्त्र पर श्रद्धालु हैं वे गुणों के अनुसार न चलकर शास्त्र के अनुसार ही चलते हैं।

भगवान् सत्रहवें अध्याय में यह बात स्पष्ट करेंगे। भगवान् कहेंगे कि शास्त्र के अनुकूल मनुष्य को आचरण करना चाहिए। इस पर अर्जुन प्रश्न करेगा कि जो हैं श्रद्धा वाले लेकिन शास्त्र-ज्ञान से रहित होने के कारण दूसरे को देख कर वैसा ही करने लगते हैं, उनकी क्या गति होती है? तब भगवान् जवाब देंगे कि स्वभाव से ही जो प्रवृत्त होते हैं उनके सात्त्विक, राजस, तामस तीन स्वभाव हुआ करते हैं। जो शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करता है उसको गुणों से कुछ लेना-देना नहीं। जो शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करता है, वह दूसरों को देख कर ही प्रवृत्त होता है। तामसी देखता है कि खूब बलि चढ़ती है, खूब शराब चढ़ती है तो समझता है कि यही देवता अच्छा है। अपने गुणानुसार ही जँचता है। इसी प्रकार राजस हीरे मोती चढ़ना, बड़े-बड़े लोगों का आना अच्छा समझता है। सात्त्विक को जहाँ शांति, इन्द्रियों का दमन, त्याग-वैराग्य दीखता है वही अच्छा लगता है। जैसी सात्त्विक, राजस, तामस वृत्ति होती है वैसे पर ही श्रद्धा होकर वैसी ही प्रवृत्ति होती है।

इन प्रवृत्तियों को छोड़ कर 'मद्याजिनः' परमेश्वर ने जो नियम शास्त्रों में बताए हैं उनके अनुसार ही जो करता है वह मद्याजी है। भगवान् ने कहा है कि श्रुति-स्मृति मेरी अज्ञाएँ हैं। लोग पूछते हैं 'भगवान् क्या चाहते हैं यह कैसे पता लगे?' शास्त्र में भगवान् ने अपनी चाहना बतायी है। जो उनको न मान कर, उनका उल्लंघन कर व्यवहार करता है उसके लिये भगवान् ने कहा है कि उसने मेरी आज्ञा को काट दिया है इसलिए वस्तुतः वह मुझ अपने आत्म-स्वरूप का द्वेषी ही है। अन्तःकरण की सात्त्विक, राजस, तामस प्रवृत्तियों को वह प्रधान मानता है, परमेश्वर की आज्ञा को नहीं। इसलिए यहाँ बताया कि ऐसे लोग पूजा तो मेरी ही करते हैं लेकिन अविधि से। देवरूप में मेरी भक्ति करते हैं, पितररूप में मेरी भक्ति करते हैं, भूतरूप में मेरी भक्ति करते हैं; करते मेरी ही भक्ति हैं क्योंकि सारा मेरा रूप है, लेकिन आज्ञा-विरुद्ध; आत्म-स्वरूप को न जानने के कारण भक्ति करने पर भी, वे मेरे द्वेषी हैं, अतः उनको वैष्णव नहीं कह सकते अर्थात् परमेश्वर का भक्त नहीं कह सकते। जो शास्त्र के अनुसार चलने वाले हैं वे साक्षात् आत्मस्वरूप मेरा ही यजन करते हैं, भजन करते हैं। ऐसे वैष्णव 'माम् यान्ति', मुझ परमात्मस्वरूप में ही लीन हो जाते हैं जहाँ से लौट कर आना नहीं पड़ता। इस प्रकार से समान प्रयास होने पर भी, समान प्रयत्न होने पर भी अज्ञान और ज्ञान का बहुत बड़ा फ़र्क है।।२५।।

देवताओं, पितरों या भूतों की पूजा के लिए तो जैसा नियम या व्रत कहा है वैसा ही आचरण करना पड़ता है, नहीं तो वे लोग प्रसन्न नहीं होते क्योंकि उपाधि-प्रधान हो कर जब उपासना होगी तब चूंकि उपाधि परिच्छिन्न है इसलिए उपाधि वाले देवताओं को द्रव्यादि से बड़ा फ़र्क पड़ता है। लोक में भी प्रसिद्ध है कि देवी की पूजा में बलि नहीं दोगे तो देवी नाराज़ हो जाएगी। भैरव जी की पूजा में अमुक चीज़ नहीं चढ़ाओगे तो भैरव जी नाराज़ हो जाएँगे। यह इसलिये कि परिच्छिन्न *बुद्धि* वाले हैं। भगवान् इनसे विलक्षण अपनी विशेषता बताते हैं मैं आत्मस्वरूप होने से अपरिच्छिन्न हूँ। बुद्धि तो मेरी सीमा करने वाली है ही नहीं, साक्षात् मायाशक्ति वाला हूँ। इसलिए संसार में जो कुछ है उस सबका मैं ही प्रभु हूँ। अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व होने से अमुक वस्तु मिले तो ही प्रसन्नता हो ऐसा मेरे बारे में नहीं है। इसलिए

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

जो कोई भी नर पत्ता, फूल, फल, जल मुझे भक्तिसे प्रदान करता है, शुद्ध मति वाले उस व्यक्ति का भक्तिपूर्वक भेंट किया वह पदार्थ मैं खा लेता हूँ।

पत्ता, बेल का पत्ता भगवान् को चढ़ाओ, उसी से प्रसन्न हो जाएँगे। पुष्प, सब जगह होने वाला आकड़ा भी चढ़ाओ तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। फल, प्रसिद्ध ही है कि बेर का फल, जिसको साधारण आदमी कोई महत्त्व नहीं देता, वही खाकर राम जी प्रसन्न हो गये थे। आम, सेब, केला आदि अच्छे फल माने जाते हैं पर बेर का फल बिलकुल सामान्य माना जाता है। आयुर्वेद वाले तो कहते हैं कि बेर का फल हमेशा कुपथ्य है, नुकसान ही करता है। उस बेर के फल को शबरी ने खिलाया और भगवान् प्रसन्न हुए। जो इतना भी न कर सके उसके लिये उपाय है जल-समर्पण, भगवान् शङ्कर तो जलधाराप्रिय हैं, जलधारा से ही प्रसन्न हो जाते हैं। इन सब चीज़ों में कोई खास विशेषता नहीं और इन्हें अर्जित करने में खास श्रम नहीं। क्योंकि सारा संसार मेरा है इसलिए तुम हीरा लेकर आओ या पत्ता लेकर आओ, दोनों मेरे ही हैं और मुझे ही दोगे। लेकिन देना है 'भक्त्या' प्रेम से भर करके कि 'भगवान् मेरा आत्मस्वरूप है।' परमात्मा का भजन हमेशा आत्मरूप से होता है और आत्मा हमेशा प्रिय होता है। 'भगवान् मेरा आत्मा, शुद्ध स्वरूप है' ऐसा समझ कर जो 'प्रयच्छति', देता है उसका दिया मैं ग्रहण करता हूँ। काँच में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का वास्तविक स्वरूप कौन है? बिम्ब। जैसे बिम्बभूत चेहरा प्रतिबिम्बित मुख का स्वरूप ही होता है यद्यपि दीखता अन्यत्र है, इसी प्रकार मैं अन्तःकरण में दीख रहा हूँ परन्तु मेरा स्वरूप तो परमात्मा ही है। इस प्रकार समझने के कारण प्रेम से भर कर जो मुझे देता है, चढ़ाता है, 'तद्' वह चाहे पत्ता हो चाहे पानी हो, वह क्या चीज़ है यह मैं नहीं देखता, भक्ति के द्वारा लाया है यही देखता हूँ। वेद भी कहता है 'न ह वै देवा अश्नन्ति न

पिबन्ति' देवता न खाते हैं न पीते हैं। परन्तु तुम भक्तिपूर्वक लाए हो बस, 'यह प्रेम से लाया है' इसको देख कर मुझे तृप्ति हो जाती है। जैसे छोटा बच्चा कहीं से चॉकलेट लाकर माँ से कहे 'माँ, तुम खा लो।' तो माँ बहुत प्रसन्न होती है, बड़े प्रेम से हाथ फेर कर कहती है 'बेटा तू ही खा ले।' चॉकलेट के कारण माँ प्रसन्न नहीं हुई है, उसने प्रेम से दिया इस कारण से प्रसन्न होती है। इसी प्रकार परमात्मा तुम क्या *चीज़* लाए हो, यह देख कर प्रसन्न नहीं होते हैं, तुम ले आए हो प्रेमपूर्वक बस इसीसे प्रसन्न होते हैं।

भक्ति से कौन लाएगा? 'प्रयतात्मनः' जिसकी बुद्धि, अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है। जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध नहीं होता वह परमात्मा से प्रेम नहीं कर सकता। वह देव, पितर, आदि उपाधि को ही प्रधान मानता है। चूँकि उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिए जिस उपाधि से उसको लगता है कि अधिक फ़ायदा होने की सम्भावना है, उसी उपाधि को पूजता है। जो आत्मस्वरूप से परमेश्वर को चाहता है वह परमेश्वर से कोई विषय तो चाहता है नहीं, केवल परमात्मा को ही चाहता है। जो ऐसा शुद्धबुद्धि होगा अर्थात् जिसके अन्दर वैराग्य पूर्ण रूप से होगा, वह जब ऐसी भक्ति से लाता है तब 'अश्नामि' मैं स्वयं ग्रहण कर लेता हूँ। बच्चे ने चॉकलेट दिया, माँ ने कहा 'बेटा तू खा ले', लेकिन माता को अनुभव क्या होता है? 'बेटा खा रहा है तो मैं ही खा रही हूँ।' ठीक इसी प्रकार से जो कुछ भी भक्ति से दिया जाता है, उसको वह परमात्मा स्वयं ही ग्रहण कर लेता है। परमात्मा का ग्रहण करने का मतलब यह नहीं है कि वह ले लेता है! उसको तो कुछ चाहिए ही नहीं। परन्तु जैसे बिना खाए माता प्रसन्न होती है कि 'मानों मैंने खा लिया', इसी प्रकार परमात्मा प्रसन्न हो जाते हैं।।२६।।

पत्ते आदि लाने में, चढ़ाने में फिर भी परिश्रम करना पड़ता है। ऐसे ही पानी के लिये कुए पर जाओ, पानी निकालो, तब जाकर शङ्कर जी पर चढ़ाओ। भगवान् कहते हैं कि तू इस प्रकार अलग से कुछ भी मत कर, फिर भी मुझे प्रसन्न कर सकता है

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

हे कौन्तेय तुम जो कुछ भी करते हो, जो खाते हो, जो होम करते हो, जो दान करते हो, जो तपस्या करते हो, वह सब मुझे समर्पित कर दो।

'यत्करोषि', चाहे शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त हो कर अग्निहोत्रादि, चाहे शरीर आदि के निर्वाह के लिए लौकिक हेतुओं से प्रेरित होकर भिक्षाटन आदि तुम जो भी करते हो, 'तत् मदर्पणम् कुरुष्व' उसे 'मैं भगवान् के लिए कर रहा हूँ' इस निश्चय से करो। अग्निहोत्र आदि में यही बुद्धि रखनी है कि 'मैं उनके लिए कर रहा हूँ।' भिक्षाटन आदि में जा रहे हैं तब भी 'हृदय में स्थित जो आत्म-तत्त्व है उसके लिए ही भिक्षा ला रहे हैं' यह निश्चय रखना है। अपने जीवभाव की तृप्ति उद्देश्य नहीं, परमेश्वर के लिए ही कर रहे हैं यही

भाव रखना है। 'यद् अश्नासि' जो भी तुम खाते हो, इन्द्रियों के द्वारा भोगते हो, वह मदर्पण कर दो। इन्द्रियाँ स्रुवा की तरह हैं, उनके द्वारा अन्तःकरण में तुम आहुति देते हो या खाते हो तो जठराग्नि में आहुति देते हो। आगे भगवान् कहेंगे 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' भगवान् ही वैश्वानर अग्नि है। मुँह में तुम डाल रहे हो, लोग समझ रहे हैं तुम खा रहे हो और तुम जानो कि अपने उदर में स्थित जो वैश्वानर है उसको आहुति दे रहे हो। इसी प्रकार इन्द्रिय-मात्र से जो भी भोग भोगा जाता है, उस सारे भोग के अन्त में अन्तःकरण की वृत्ति साक्षी का विषय होती है। इसलिए हर भोग में जानो कि 'साक्षी का विषय होने के लिए ही यह अन्तःकरण की वृत्ति बना रहा हूँ जिसमें साक्षी उसको जान ले।' 'यज्जुहोषि', जो सोमयाग आदि श्रौत कर्म में अथवा वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म में हवन करते हो वह भी उस परमात्मा के अर्पण ही करो। अर्थात् उससे किसी भी प्रकार के फल की आशा नहीं रखो। परमेश्वर ने विधान किया है केवल इसलिए करो, उसमें लिखे फल की दृष्टि से नहीं करो। 'यत् ददासि' जो अमावस्या आदि में, कुरुक्षेत्र आदि में, वेदवेत्ता ब्राह्मण आदि को देते हो, उस दान का फल भी मत चाहो। 'उस वेदवेत्ता ब्राह्मण में जो परमात्म तत्त्व है, उसीको मिले, उसके बदले में मुझे कुछ नहीं चाहिए' यह निश्चय करो। वेदवेत्ता ब्राह्मण के अंदर जो आत्म-तत्त्व स्थित है, वह परमात्मा ही है। उसको ही दो। 'यत्तपस्यसि' इसी प्रकार से जो भी तप करते हो वह भी भगवदर्पण करो। छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया है कि अगर बुखार आवे तो बुखार के द्वारा जो कष्ट होता है, जलन होती है, उसमें तप की दृष्टि करो। पञ्चाग्नि तपते हैं तो जलन ही होती है। चारों तरफ आग जला ली ऊपर से सूर्य है, यह पंचाग्नि तपना है। अतः जो भी लौकिक कष्ट सहने पड़ते हैं उन्हें परमात्मा को अर्पण करके सहो कि 'परमात्मा ने इसको भेजा है इसलिए इसको आनन्द से सहन करता हूँ।' इसी प्रकार से मलेरिया बुखार में ठण्ड लग रही हो तो तप-दृष्टि करो। मलेरिया में शरीर काँपता है। माघ माह में प्रयाग जाकर गंगा जी में गोता लगाते हो तो भी शरीर काँपता है। जैसे गंगास्नान के बाद ठंड को सहन किया जाता है वैसे ही बुखार की ठण्ड भी तप की बुद्धि से सहो। इस तरह सारे स्वभाव-प्राप्त तप भी भगवदर्पण करने हैं। कृच्छ्र, चान्द्रायणादि शास्त्रीय तप भी इसी तरह भगवान् को अर्पित करो। श्रेष्ठ तप बताया है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' मन और इन्द्रियों को बार-बार उपनिषद् के अंदर बतलाए हुए 'एक' ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों की तरफ ही ले जाना परम तप है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन की जो एकाग्रता, परमात्म-मुखी करना है, यह परम तप भी भगवदर्पण करना है। जो भी तुम तप करते हो वह मेरे अर्पण ही करो।।२७।।

इस प्रकार से, जो कुछ करते हो, जो कुछ भोगते हो, जो कुछ दान आदि करते हो, वह यदि मेरे अर्पण करते हो तो महान् फल होता है। पत्ता, फूल, फल आदि चढ़ाने में तो तुमने सामान्य प्रयत्नों के सिवाय कुछ प्रयत्न किया, किंतु यदि स्वभाव से जो तुम करते हो वही परमात्मा के अर्पण करो तो भी फल महान् होता है। पूर्वश्लोकोक्त 'मदर्पण' का वह

महान् फल स्वयं बताते हैं

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

ऐसा करने से अच्छे-बुरे फलों वाले कर्मरूप बंधनों से छूट जाओगे तथा फलत्यागपूर्वक कर्म करने से शोधित चित्त वाले तुम जीवनकाल में मुक्त रहोगे व मरकर भी मुझे ही पा जाओगे।

शुभ फल अर्थात् जो फल हमें इष्ट है। सर्दी का मौसम होवे तो शाल इष्ट है, गर्मी का मौसम हो तो पंखा इष्ट है। अशुभ अर्थात् जो अनिष्ट फल है; सर्दी के मौसम में बर्फ की शिला बैठनेको मिल जाए तो अनिष्ट, गर्मी के मौसम में तुश की शाल ओढ़नी पड़े तो अनिष्ट। कर्म इष्ट या अनिष्ट फल देने वाले ही हैं। शुभ और अशुभ फल देने वाले जो कर्म हैं, दोनों ही बंधन के ही कारण हैं। जिससे अन्तःकरण सुखाकार बने, उस चीज़ के प्रति राग हो जाता है और उसके प्रति प्रवृत्ति हो जाती है। जिस चीज़ से अनिष्ट फल मिले उससे द्वेष हो जाता है, कि 'यह कभी न होवे, इससे दूर होवें' और उससे निवृत्ति होती है। सर्वरूप जो अधिष्ठान ब्रह्म है उसकी दृष्टि न होकर राग-द्वेष के कारण एक चीज़ को हम चाहते हैं और दूसरी न होवे ऐसा चाहते हैं। ये ही राग-द्वेष से किये कर्म बंधन हैं जिनके कारण हम बार-बार कर्म करते हैं। जो भी कर्म करते हो वह या किसी चीज़ को पाने के लिए या किसी चीज़ से दूर जाने के लिये। जैसे औषधि लेते हो तो या शरीर को पुष्ट करने के लिए या रोग को दूर करने के लिए। जो न पुष्टि चाहे, न रोग को दूर करना चाहे, उसको औषधि से क्या प्रयोजन है! इसी प्रकार जो अन्तःकरण को सुखी करना चाहता है, उसकी राग से प्रवृत्ति होगी, जो अन्तःकरण को दुःख से हटाना चाहता है उसकी द्वेष से निवृत्ति होगी। प्रवृत्ति-निवृत्ति ही सारा कर्म-बंधन है। किंतु भगवान् कह रहे हैं, 'एवं' अर्थात् पूर्वश्लोकोक्त प्रकार से जो सब कुछ मेरे अर्पण करता है वह 'कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे', राग द्वेष इत्यादि पैदा करके जो कर्म का बंधन होता है, उससे छूट जाता है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं कि कर्म *का* बंधन नहीं, कर्म ही बंधन है। प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही बंधनरूप ही हैं। अज्ञानी द्वारा बिना राग-द्वेष के कर्म हो नहीं सकता। मेरे अर्पण करने से साधक इस कर्म-बंधन से मुक्त हो जाएगा, अर्थात् राग-द्वेष से कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं करेगा, आत्मा स्वरूप से जैसा अकर्त्ता है वैसा प्रकट हो जाएगा। है तो आत्मा अभी भी अकर्त्ता अभोक्ता, उस पर अज्ञान का जो पर्दा है वह हट जाएगा।

कर्म बंधन से छूटना, मुक्त हो जाना इसलिये संभव है कि जो मैंने साधन बतलाया है इसमें संन्यास और योग दोनों बन जाते हैं। संन्यास का अर्थ होता है छोड़ना। चूंकि सब कुछ मेरे समर्पण कर देता है इसलिए छोड़ना हो गया, सम्यक् न्यास हो गया, संन्यास हो गया। और क्योंकि कर्म करता है, हवन करता है, दान करता है, तपस्या करता है, इसलिए

योग भी हो गया। परमेश्वर को समर्पण करने से कर्म ही योग भी हो गया, और मेरे लिए छोड़ता है इसलिए संन्यास भी हो गया। ऐसे यत्नशील का अंतःकरण संन्यास योग से युक्त हो जाता है। सन्न्यासयोग से युक्त जिसका अन्तःकरण है वह 'विमुक्तः' मोक्ष प्राप्त कर लेता है, कर्म बंधनों से छूट जाता है। जीते हुए ही कर्म बंधनों से छूट जाता है अर्थात् धीरे-धीरे अज्ञान की चद्दर हट कर प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने वाले राग-द्वेष रह नहीं जाते। और जब शरीर छूट जाता है तब 'मामुपैष्यसि'; जीवित रहते आत्मप्रतीति प्रारब्ध के द्वारा प्रतिबद्ध रहती है, जब प्रारब्ध का प्रतिबंध हट जाता है तब केवल शुद्ध आत्मतत्त्व ही रह जाता है। उपाधियों के अंदर जीते हुए ही उसको आकर्षण करने की शक्ति विषयों में नहीं रहती और प्रारब्ध का प्रतिबंधक ख़त्म होने के बाद भगवत्स्वरूप से ही रह जाता है।२८।।

भगवदर्पण करने वाले को भगवान् मुक्त कर देते हैं, जो यों समर्पण नहीं करता उसे बंधन में ही छोड़ देते हैं, तो क्या वे राग-द्वेष वाले हैं? यदि राग-द्वेष युक्त हों तो वे ईश्वर ही नहीं होंगे! यह शंका अनेकों को अब भी होती है, कहते हैं कि भगवान् खुशामद-पसन्द हैं! यहाँ भगवान् स्वयं इस शंका को दूर कर रहे हैं

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२६।।

सब प्राणियों के बारे में मैं एक-सा हूँ, न मेरे कोई द्वेष का भाजन है न प्रेम का। जो तो भक्ति से मुझे भजते हैं वे स्वभावतः ही मेरे पास रहते हैं और मैं स्वभावतः ही उन पर कृपालु रहता हूँ।

'सर्वभूतेषु अहं समः' सब प्राणियों के अंदर एक जैसा आत्मरूप मैं स्थित हूँ। सबके अंदर आत्मरूप से विद्यमान होने से कोई मेरा द्वेष्य है ऐसी बात नहीं और जो मेरा भक्त है उसके प्रति मुझे राग भी नहीं। ऐसा नहीं है कि भक्त में परमात्मा ज़्यादा रहता हो, अभक्त में परमात्मा कम रहता हो! घोर से घोर राक्षसी वृत्ति वाले में भी परमात्मा उतना ही है जितना बड़े से बड़े सदाचारी के अंदर। आत्मतत्त्व में कोई बड़ापन-छोटापन नहीं होता। आत्मा का अनुभव कहाँ होता है? 'मैं' इस प्रतीति में। अहम्-इत्याकारक वृत्ति के अंदर ही परमात्मा प्रतिफलित है, परमात्मा वहीं दीखता है और अहंकारात्मिका वृत्ति के अंदर कोई भेद सत्पुरुष और राक्षस में नहीं है। अहमाकार वृत्ति जैसी किसी की बनती है वैसी ही सब की बनती है। इसलिए, मैं किसी में कम और किसी में ज़्यादा प्रतिबिम्बित होता हूँ ऐसा नहीं है।

फिर फ़र्क का कारण क्या है? मान लो आग जल रही है। जो उसके पास बैठता है उसको गर्मी मिलती है, जो उससे दूर रहता है उसको गर्मी नहीं मिलती। जिसके प्रति राग वाली है उसको अग्नि गर्मी देवे और जिसके प्रति द्वेष वाली है उसे गर्मी नहीं देवे ऐसा कुछ तो है नहीं। अग्नि का स्वभाव गर्म है; उसके पास होने से गर्मी मिलती है, दूर वाले

तक उसकी गर्मी नहीं पहुँचती। अथवा, सूर्य साफ चमकदार रंग वाली दीवाल के ऊपर भी पड़ता है। परन्तु उसमें सूर्य नहीं दीखता और काँच रखा होवे तो सूर्य उस पर भी पड़ता है किन्तु स्वयं स्पष्ट दीख जाता है। सूर्य को काँच के प्रति कोई प्रेम होवे, राग होवे, या दीवाल के प्रति द्वेष होवे, ऐसा कुछ नहीं। इसी प्रकार जो अन्तःकरण शुद्ध होता है उसके अंदर परमेश्वर का सच्चिदानन्द रूप पूरी तरह से चमक जाता है। जो अन्तःकरण अशुद्ध होता है उसके अंदर भी 'मैं हूँ, मैं चेतन हूँ' यह प्रतीति तो होती है, लेकिन अन्तःकरण की अशुद्धियों से ढकी रहती है, अतः *जैसा* वह सत् चित् है *वैसी* प्रतीति नहीं होती, अन्तःकरण के रंग वाली प्रतीति होती है। 'मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कंगाल हूँ' ये जो अन्तःकरण के अंदर बैठे हुए दोष हैं, इनकी छाया के साथ ही आत्मा की प्रतीति होती है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ इस प्रकार से शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसमें भगवान् को कोई राग या द्वेष नहीं है, जिसका भी अन्तःकरण शुद्ध होता है वहाँ वे यथावत् प्रकाशित हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता है तो प्रकाशित नहीं होते। भगवान् हैं तो वहाँ भी पूरे रूप से मौजूद, सत् चित आनन्द रूप से ही वहाँ मौजूद हैं पर वह जिस अहंकार के अंदर अपनी आत्मबुद्धि रखता है, उस अहंकार में, अन्तःकरण में जो दोष है उसके कारण उसे सब मिला-जुला प्रतीत होता है। जो अन्तःकरण शुद्ध करके देखता है, उसे भगवान् सच्चिदानन्दरूप दीखते हैं और जो स्वयं को कंगला, धनी, बुद्धिमान्, मूर्ख, गोरा, काला, ब्राह्मण, शूद्र समझता है उसके ये सब भाव 'मैं' में प्रतिफलित होते रहते हैं। वह भी अपने को सत्-चित् रूप तो देख रहा है लेकिन अन्तःकरण की अशुद्धियों के कारण शुद्ध सच्चिदानन्द रूप नहीं देख रहा।

'ये मां भक्त्या भजन्ति'; मुझ में राग-द्वेष नहीं हैं कि मैं किसी पर अनुग्रह करूँ और किसी पर नहीं। पास में आने वाले पर अनुग्रह होता है, दूर में रहने वाले पर अनुग्रह नहीं होता। जो मुझ ईश्वर का भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, प्रेमपूर्वक सेवन करते हैं, सेवा करते हैं, 'ते मयि' वे मुझ में रहते हैं, हमेशा मेरे अन्दर, मेरे निकट रहते हैं। बार-बार परमेश्वर को ही अपना स्वरूप समझ कर उनमें ही रहते हैं, उनसे अलग होकर नहीं रहते। यह कोई मेरे राग के कारण नहीं है, जिन रागादि से वे दूसरी चीज़ों की तरफ जाते थे वे हट गये तो हमेशा से मौजूद मेरा सच्चिदानंद रूप अब अन्य भावों से बिना ढके जैसा सचमुच है वैसा भासता रहता है। अतः वे जानते हैं 'सच्चिदानन्दरूप ईश्वर ही मैं हूँ।' इसलिए भगवान् ने कहा 'तेषु अहम्' उनकी जो अहंकारात्मिका वृत्ति है उसमें मेरा शुद्ध सच्चिदानन्द रूप प्रकाशित होता है। चूंकि उन्होंने बाकी सब वृत्तियों को हटा कर केवल ईश्वराकार वृत्ति रखी इसलिए उनके अहम् में ईश्वराकार की प्रतीति है। हूँ तो सत्-चित् रूप से मैं सर्वत्र। अतः भगवान् में कोई राग या द्वेष नहीं है, वे सबके अन्तःकरणों में एक-जैसे हैं। दूसरी चीज़ों से अन्तःकरण को आक्रान्त करने वाला उस स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर पाता है, जब दूसरी चीज़ों का आवरण हट जाता है तब वह पूर्ण रूप प्रकाशित हो जाता

है।

'भक्त्या' भक्तिपूर्वक अर्थात् किसी अन्य वस्तु के राग को रख कर, उस फल के लिए नहीं। यहाँ जो विषय चल रहा है इसके अंदर केवल भक्ति से भजन करने वाले की बात है। जो आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी हैं वे तो दुःखनिवृत्ति के लिए, विषयप्राप्ति के लिए अथवा किसी चीज़ को जानने के लिए भक्ति करते हैं। अतः उनको अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। उनका यहाँ विषय नहीं है क्योंकि वे परिच्छिन्न वृत्ति वाले हैं। परन्तु जिन्होंने समझ लिया है कि 'वासुदेव ही सर्व है, वही कण-कण और क्षण-क्षण में व्याप्त है इसलिए वह मेरे में भी व्याप्त है' इसलिए जिनमें उसके प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है, किसी निमित्त से नहीं, वे स्वभाव से भगवान् का भजन करते रहते हैं अतः उनका अन्तःकरण हमेशा ही भगवान् की तरफ रहता है। जैसे अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा जिस विषय के सामने रहता है उस विषय के आकार का ही वह अन्तःकरण बन जाता है, उसी प्रकार से जिनका अन्तःकरण भगवान् की तरफ रहता है उनका अन्तःकरण भगवद्आकार ही बनता है। जैसे घटाकार वृत्ति बनने पर घट अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित रूप से प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही भगवान् ने कहा कि उनके अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित रूप से मेरा प्रवेश होने से 'मैं उनमें हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि मैं सर्वत्र हूँ तथापि वहाँ प्रतिबिम्बित रूप से मौजूद हो जाता हूँ क्योंकि उनका अन्तःकरण मेरे सामने है। जो भी मेरे सामने होता है उसमें मेरी वृत्ति बनने से मैं प्रतिबिम्बित हो जाता हूँ, यह स्वभाव है। जो घड़े के सामने आँख ले जाता है उसके अन्तःकरण में घटज्ञान हो जाता है, घटाकार वृत्ति बन जाती है, तो कोई नहीं कह सकता कि 'घट का इस आदमी के प्रति राग है इसलिए इसको घटज्ञान हुआ और दूसरे को नहीं हुआ।' वह तो विषय का स्वभाव है कि अन्तःकरण के साथ संबंधित होने पर अन्तःकरण तदाकार हो जाता है।।२६।।

इस भक्ति का माहात्म्य बतलाते हैं, महिमा बतलाते हैं

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि अतीव कुत्सित आचार वाला भी अनन्य प्रेम वाला होकर मुझे भजता है तो उसे सदाचारी ही मानना चाहिये क्योंकि वह सही निश्चय वाला है।

जितने भी योग हैं, साधन हैं उनके अंदर अधिकार का निरूपण होता है। कर्म करने जाओ तो तुम किस वर्ण के हो, तुम्हारे पास क्या सम्पत्ति है ये सब तुम्हारे अधिकार में आते हैं। इसलिए अगर तुम्हारे पास सोमयाग करने के लिए पदार्थ नहीं हैं तो नहीं कर सकते। अथवा तुम्हारे पास याज्ञोपवीत नहीं है तो वेदपाठादि नहीं कर सकते। अथवा तुमने अग्निहोत्र नहीं रखा है तो श्रौत याग नहीं कर सकते। इसी प्रकार से यदि योगाभ्यास करो तब भी तुम्हारे अंदर उस योग को करने का अधिकार चाहिए। अधिकार के बिना तुम

को योग सिद्ध नहीं होगा। अगर तुम ज्ञान चाहते हो तो तुम्हारे पास साधन-चतुष्टय और प्रधान रूप से वैराग्य की ज़रूरत है। विवेक की ज़रूरत वैराग्य के लिए; शम दम आदि वैराग्य के बिना सम्पन्न हो नहीं सकते; और मुमुक्षा तो आएगी ही नहीं बिना वैराग्य के। इसलिए प्रधान साधन आचार्य ने कह दिया 'वैराग्यस्य फलं बोधः।' जब तक पूर्ण वैराग्य नहीं होता तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। चाहे जितना श्रवण-मनन कर लो, बड़े विद्वान् हो जाओ, दूसरों को श्रवण-मनन करवा दो, परन्तु वैराग्य नहीं होने से ज्ञान तो होगा नहीं। बिना वैराग्य के ज्ञान का भी अधिकारी नहीं। किन्तु वैराग्य विवेकजन्य होना चाहिए, 'श्मशान वैराग्य' नहीं, उसका ज्ञान में उपयोग नहीं है। दुःख-विशेष का अनुभव करने से जो वैराग्य होता है उसका ज्ञान में विनियोग नहीं होता क्योंकि जैसे ही वह दुःख हटता है वैसे ही राग फिर आ जाता है। स्त्री ने तुम्हारे साथ धोखा किया, तुमको स्त्री जाति से वैराग्य हो गया। उसके बाद कोई अत्यन्त ही गुणवती स्त्री तुम्हारे पास आ गई तो पुनः राग उद्‌भूत हो जाता है। तुम्हारा धन लुट जाये तो कुछ समय तक धन से वैराग्य होता है पर जैसे ही सुरक्षा-व्यवस्था कर पाते हो पुनः धन बटोरते हो, प्रदर्शन भी करते हो। जो वैराग्य दुःख से होता है वह दुःख का कारण दूर होने पर हटकर पुनः राग को व्यक्त कर देता है। पर जो विवेक से वैराग्य होता है कि संसार में जो कुछ भी है वह कृतक है और मैं नित्य हूँ इसलिए वह मेरी इच्छा का विषय हो ही नहीं सकता, वह वैराग्य कभी इधर-उधर नहीं होता। उसी का ज्ञान में उपयोग होता है।

भक्ति के लिए भगवान् कहते हैं कि इनमें से कोई भी साधन अपेक्षित नहीं है। किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम का हो, दरिद्र हो, धनी हो, परमेश्वर की भक्ति का सभी को अधिकार है। भक्ति का अर्थ प्रेम है अतः, परमेश्वर से प्रेम होना चाहिए बस यही अपेक्षित है, बाकि कोई अधिकारहेतु नहीं है। इसलिए कहते हैं कि 'सुदुराचारः अपि चेत्' 'सु' अर्थात् सुष्ठु। इस शब्द का एक अर्थ कोषों के अंदर 'अत्यन्त' भी किया है, 'सुष्ठ्वत्यर्थप्रशंसयोः' ऐसा त्रिकाण्डशेष है। इसलिए सुदुराचारी का मतलब हुआ जो अत्यन्त दुराचार में प्रवृत्त है। परन्तु 'अनन्यभाक्', 'वासुदेव से भिन्न मैं कुछ नहीं हूँ' ऐसा उसको दृढ निश्चय है। उसे मालूम है कि 'मैं उनसे भिन्न नहीं हूँ, अच्छा-बुरा जो भी हूँ, उनमें ही हूँ क्योंकि उनसे भिन्न और कुछ नहीं है।' इसलिए 'भजते' मेरा भजन करता है। 'सः सम्यग् व्यवसितः', उसने सम्यक् अर्थात् जैसा चाहिए वैसा व्यवसाय अर्थात् निश्चय कर लिया है। अनन्यभाक् होने का मतलब है कि उसने निश्चय कर लिया है कि 'वासुदेव से भिन्न कहीं कुछ नहीं है, मैं भी उनसे भिन्न नहीं हूँ'। ऐसा उसने सम्यक् निश्चय किया है अतः 'स साधुरेव मन्तव्यः' वह चाहे जितना दुराचारी होवे, उसे भला आदमी ही समझना चाहिए, साधु पुरुष ही समझना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि वह दुराचारी भी रहेगा और साधु पुरुष भी रहेगा! क्योंकि उसने सबको वासुदेवरूप समझा है इसलिए उसका दुराचार अपने आप हटेगा ही। अतः जैसे डाक्टरी के प्रथम वर्ष में लड़का भर्ती हो

गया तो उसको सभी डाक्टर साहब कहने लगते हैं; अभी तो भर्ती ही हुआ है पर उसने ठीक निश्चय करके मैडिकल कॉलेज में भर्ती ले ली है तो डाक्टर बन ही जाएगा; इसी प्रकार इसने जब सबको वासुदेवरूप समझना शुरू कर दिया है, निश्चय कर लिया है, तो निष्पाप भी होगा ही क्योंकि सारे पाप भेद-बुद्धि से ही होते हैं, बिना भेद-बुद्धि के पाप होता नहीं। उसको भेद-दर्शन नहीं रह गया है इसलिए अब उसका दुराचार हटने ही वाला है इसलिए वह साधु पुरुष ही है ऐसा समझ लेना चाहिए, साधु बनने ही वाला है। ।३०।।

पूर्व श्लोक को लेकर कोई कह सकता है कि भक्त दुराचारी भी हो सकता है, दुराचारी रहते हुए भी भक्त हो सकता है, तो भी क्या वह भला आदमी ही है? इस प्रश्न को निराधार बनाने के लिये अगले श्लोक में ही भगवान् कहते हैं कि बाह्य दुराचार को वह अंदर के ठीक निश्चय के कारण हटा ही देता है

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है, नित्य उपशम पाता है। कौन्तेय! (तुम यह) प्रतिज्ञा कर सकते हो कि मुझ परमेश्वर का भक्त प्रणाश को प्राप्त नहीं होता।

'क्षिप्रं', अत्यन्त शीघ्र ही धर्मात्मा अर्थात् धर्म-चित्त वाला बन जाता है। जिसके चित्त में धर्म ही उठता है उसी को धर्मात्मा कहते हैं। इसके चित्त में फिर धर्म के संस्कार ही उठते हैं। धर्म के ही संस्कार क्यों उठते हैं? 'शान्तिं निगच्छति'; सारे पापों का कारण पदार्थों के प्रति राग है। पदार्थों में राग के कारण ही सारे पाप होते हैं। सब कुछ परमात्म-रूप होने के कारण इसको पदार्थों के प्रति राग नहीं रह जाता अतः पाप-प्रवृत्ति समाप्त होकर धर्मानुकूल ही बन जाता है। भगवान् ने यह नियम स्पष्ट कर दिया कि अगर तुमने ठीक निश्चय कर लिया है कि परमात्मा ही सर्वरूप है तो बाहर से तो तुम्हारी दुराचारिता देखने में नहीं आएगी और अंदर से विषयों के प्रति तुम्हारा राग ख़त्म होगा ही। ये दोनों मान-दण्ड भगवान् ने बिलकुल स्पष्ट दे दिए। दुराचारिता को तो पदार्थों में राग रहते हुए भी मनुष्य छोड़ सकता है; 'लोग अच्छा कहें' इसलिए सदाचारी बनते हैं बहुत-से लोग। लेकिन उनके मन से पदार्थों का राग नहीं जाता अतः उनको शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। दूसरी तरफ, कोई भी कह सकता है 'हमें विषयों से राग नहीं है' परन्तु यदि विषयों में राग नहीं है तो दुराचारिता नहीं हो सकती, क्योंकि राग के कारण ही दुराचारिता होती है। अपने अंदर पता लगता है कि विषयों का राग हमारा कितना कम होता जा रहा है। जब विषयों का राग सर्वथा न रहे तब समझना कि भगवान् के प्रति प्रेम हुआ है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में तुमको कोई दुराचार न दीखे तब समझना उसके अंदर भगवान् की भक्ति आई है।

भगवान् ने हमें बड़ा सरल उपाय बतला दिया अपनी परीक्षा का। प्रायः लोगों का

कहना रहता है कि 'आज के जीवन में दुराचारी बने बिना चलता नहीं, कोई इच्छा से नहीं करते, राग से नहीं करते, आवश्यक है इसलिये करते हैं।' यदि राग नहीं होगा तो जिसको तुम 'चलना' कहते हो उसका आग्रह रहेगा ही नहीं। चलना और नहीं चलना दोनों ही तो वासुदेवरूप हैं। भगवान् ने यहाँ जो मापदण्ड दे दिया इससे अपने अंदर भी मनुष्य समझ सकता है कि राग की कितनी कमी हो रही है और बाहर से भी समझा जा सकता है क्योंकि उससे दुराचारिता हटती है। यह कहना कि 'दुराचारी रहते हुए भक्ति हो जाती है', ठीक नहीं है।

भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय, हे कुन्तीपुत्र! 'प्रतिजानीहि', तू छाती ठोक कर निश्चित प्रतिज्ञा कर इस बात को कह सकता है कि मेरा भक्त अर्थात् जिसने अपना अन्तरात्मा मुझे समर्पित कर दिया है उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। नाश अर्थात् 'न दीखना'; ऐसे भक्त को कभी यह न दीखे, न भासे कि 'सब कुछ वासुदेवरूप है', यह संभव नहीं। 'प्रणश्यति' इसलिए कहा कि क्षणिक अदर्शन किसी समय हो भी जाए, परन्तु तुरन्त वापिस याद आ जाता है कि 'ऐसा नहीं, सचमुच में सब कुछ वासुदेवरूप है।' इसलिए प्रकर्ष से नाश अर्थात् परमात्मा की वृत्ति न रहे, यह नहीं होता। जिसने अपना अन्तरात्मा परमेश्वर को समर्पित कर दिया, वह कभी भी परमेश्वर को सामने न देखे ऐसा नहीं हो सकता। किसी प्रारब्ध-वेग के कारण क्षणमात्र को नहीं भी देखा तो तुरन्त उसे स्मरण हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट किया कि यदि कोई दुराचारी है अतः कर्म, ज्ञान आदि का अधिकारी नहीं है, तो भी यदि भगवान् के प्रति उसको भक्ति हो जाये, प्रेम हो जाये तो वह भक्ति का अधिकारी होकर दुराचारों से भी रहित हो जाएगा और वैराग्ययुक्त मन वाला भी हो जाएगा। वैराग्ययुक्त मन वाला होकर ज्ञान का अधिकारी हो जाएगा।३१।।

भक्ति में अधिकार के विषय को और स्पष्ट करके कहते हैं

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

हे पृथापुत्र! स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र जो पाप के कारण पैदा हुए हैं वे भी क्योंकि मुझे ही अपना सहारा स्वीकार कर उत्तम फल पा जाते हैं (इसलिये मेरी भक्ति कर्तव्य है)।

'हि' मायने क्योंकि मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय समझ कर, 'जो सर्वव्यापक, सर्वत्र विद्यमान है वही परमात्मा मेरा एकमात्र आश्रय है' यह समझकर परा गति मिलती है। ऐसे निश्चय वाले 'पापयोनयः' चाहे पापयोनि वाले ही क्यों न होवें, सद्गति पाते ही हैं। पाप के कारण जहाँ जन्म होता है उन योनियों को पापयोनि कहते हैं। स्त्री-बुद्धि अविद्या की बुद्धि को कहते हैं। प्रसिद्ध है कि बन्दरिया अपने बच्चे को चिपका कर रखती है। कहीं यह नहीं देखते कि बंदर अपने बच्चे को चिपका कर रखता है! स्त्री की इस प्रकार की

प्रवृत्ति बाहुल्य में देखी जाती है। स्त्रियों में अज्ञान, मोह अधिकतर मिलता है। दूसरी बात है कि स्त्री प्रायः स्वतन्त्र नहीं होती, किसी-न-किसी पुरुष के सहारे से ही रहती है। जिस प्रकार लता किसी-न-किसी पेड़ के सहारे से ही आगे बढ़ती है, बिना सहारे के नहीं, वैसे ही स्त्री सहारे से ही रहती है इसलिए परतन्त्र है। अतः अस्वतन्त्र व अज्ञान की बुद्धि को स्त्री का लक्षण मानते हैं।

'वैश्याः' निरन्तर धन की दृष्टि वाले। जो कामनाएँ सबसे ज़्यादा मनुष्य को तंग करती हैं, उनमें धन की कामना बड़ी प्रबल है। वैश्य निरन्तर धनोपार्जन को ही सामने रखता है, धन के नाश को ही नुकसान समझता है। ऐसी बुद्धि वाला ही वैश्य है। आजकल यह दृष्टि बहुत प्रबल है। प्रायः हर एक व्यक्ति यही समझता है और छाती ठोक कर कहता है कि धन के बिना काम नहीं चलता। यदि धन के बिना काम नहीं चलता यह मन में संस्कार दृढ रहेगा तो भगवान् के प्रति अनन्य भाव हो कैसे सकता है! विचारशील को तो लगता है कि परमात्मा के बिना काम नहीं चल सकता। धन आदि की प्राप्ति तो प्रारब्ध से हो जाती है। प्रारब्ध का फल देने वाला परमात्मा है। यदि प्रारब्ध का फल देने वाला परमात्मा न होवे और प्रारब्ध फल न देवे तो कहाँ यह संसार व्यवस्था चले! ये दो निश्चय साथ नहीं रह सकते कि धन ही आवश्यक है व परमात्मा ही आवश्यक है, क्योंकि अत्यन्त विरोधी बातें हैं। इसलिए भगवान् ने वैश्य को पापयोनियों में गिना। 'शूद्राः' शूद्र उपनयन आदि का अधिकारी नहीं होने से शास्त्र का ज्ञान करने में असमर्थ है। इसलिए बिना शास्त्रज्ञान के परमात्मा को समझेगा ही नहीं तो निश्चय कहाँ से करेगा! आजकल जैसे वैश्य वैसे ही शूद्र बहुतायत में मिलते हैं। अधिकतर लोग जो अपने को ब्राह्मण कहते हैं, वे भी शास्त्र-ज्ञान से रहित होने के कारण भगवान् जिन्हें यहाँ शूद्र कह रहे हैं उनके अन्तःपाती हो जाते हैं। इस प्रकार, आज का व्यक्ति, धन को ही प्रधान मानने वाला व्यक्ति वैश्य है, शास्त्र के ज्ञान से अपने को दूर रखने के कारण शूद्र है और ममता आदि से ग्रस्त होने से स्त्री भी है।

भगवान् कहते हैं कि ऐसे लोग भी मेरी शरण लेकर परम गति पा सकते हैं, यदि किसी पूर्वकृत पुण्य के कारण अथवा किसी महापुरुष का संग मिलने के कारण उनके अंदर परमात्मा के प्रति प्रेम आ जाये तो वे भी उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं।।३२।।

शंका होती है कि अगर स्त्री, वैश्य, शूद्र भी उसको प्राप्त कर लेते हैं तो ब्राह्मण आदि की जो विशेषता कही जाती है, क्या वह व्यर्थ हो जाएगी? भगवान् समाधान करते हैं कि नहीं

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर पुण्य के कारण जन्म लेने वाले ब्राह्मणों और राजर्षियों का क्या कहना!

अशाश्वत और सुखहीन इस मनुष्य लोक को पाकर मुझे भज (मेरी शरण ले)।

स्त्री, वैश्य और शूद्र भी जब मेरे साथ प्रेम करके परम गति को प्राप्त कर सकते हैं तो फिर पुण्ययोनि जो ब्राह्मण हैं उनका क्या कहना! सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को रमणीय योनि कहा है। जो पुण्यकर्त्ता होते हैं उन्हीं को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य जन्म मिलता है। इन लोगों को वेद में अधिकार होने से ये शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा के स्वरूप को समझ सकते हैं। भगवान् ने 'रमणीयचरणाः' को ही कहा 'पुण्याः' पुण्य योनियाँ। ब्राह्मण पुण्य योनि वाले हैं। अतः स्वभाव से ही उनके अंदर शम, दम, शास्त्रज्ञान आदि होते हैं। अतः 'सब कुछ वासुदेव रूप है' यह वे शास्त्रों के अध्ययन से जल्दी ही निश्चय कर लेते हैं और स्वभाव से सांसारिक प्रवृत्तियों की कमी होने से उनका मन भी शीघ्र ही शान्त होकर परमात्मा में लग जाता है। अन्यों को भक्ति से सद्गति संभव होने पर ब्राह्मण जन्म की श्रेष्ठता घट नहीं जाती।

इसी प्रकार से क्षत्रियों के अंदर जो ऋषि हैं अर्थात् विचार करने वाले हैं वे पुण्ययोनि हैं। अनेक क्षत्रिय तो केवल राज्य में ही लगे रहते हैं। परंतु जनक, अश्वपति जैसे क्षत्रिय, राजा होते हुए भी विचारक थे, बड़े-बड़े ऋषियों का बुला कर उनसे ब्रह्म के विषय में सुनते रहते थे, ज्ञान प्राप्त करते रहते थे। राजा होते हुए भी जो ऋषि हैं अर्थात् जिन्होंने ऋषियों से ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान में दृढता की तरफ प्रवृत्ति करना प्रारम्भ किया है, उन राजर्षियों का भी क्या कहना! वे तो भगवान् की भक्ति बड़ी सुलभता से कर सकते हैं। 'क्षत्रिय' के बजाय 'राजर्षि' कहकर भगवान् ने सूचित कर दिया कि श्रुतिमें रमणीयचरण कहे हुए भी वैश्य को यहाँ पापयोनि क्यों कहा।

हर हालत में, चाहे तुम ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, अन्य पाप योनियों वाले भी हो, क्योंकि सभी भक्ति कर सकते हैं इसलिए 'मां भजस्व' मुझ परमात्मा का ही भजन करो, इस संसार में और कोई कर्त्तव्य नहीं है। अन्य सब तो सांसारिक कर्त्तव्यों में बांधते हैं पर भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा एक ही वास्तविक कर्त्तव्य है कि जहाँ भी हो, जैसे भी हो, वहीं वैसे ही मेरा भजन करो। कोई यह कर्त्तव्य दृढता से कैसे कर सकता है? विचारपूर्वक यह निर्णय करके कि 'अनित्यम् असुखं लोकम्' यह लोक, विषय-बहुल संसार नित्य नहीं है, स्थायी नहीं है, हमेशा एक-सा नहीं रहता। बड़े-बड़े राजा लोग हम लोगों के देखते-देखते नष्ट हो गए। जापान में नाममात्र का राजा बचा, अधिकार उसका भी कुछ नहीं। भारतवर्ष में तो सब राजा ख़त्म ही हैं। बड़े-से-बड़ा पद भी अनित्य है, क्षणभंगुर है, देखते-देखते नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े धनी भी देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। अनेक व्यापारी घराने हम ही लोगों के सामने उजड़ गये। अभी थोड़े दिनों पहले ही संसार का सबसे बड़ा बहुराष्ट्रीय एनरोन ख़त्म हो गया, दीवाला निकल गया। तुम धन, राज्य, पद इत्यादि के लिए चाहे जितना प्रयत्न करो, उनमें से कोई भी टिक कर रहने वाला है नहीं। अतः इन चीज़ों के प्रति 'कर्तव्य' कभी समाप्त होगा ही नहीं क्योंकि जब कोई 'कर्तव्य'

पूरा करके चुकोगे तब अनित्य होने से फिर दूसरे रूप में सामने आ जाएगा। अतः संसार में किसी के लिय करना है बस यही तो सबसे बड़ा बंधन हो जाता है। विचार से, शास्त्रानुसारी विवेक से जब निश्चय हो जाता है कि इस लोक में कुछ भी पा लें, वह नष्ट ही होना है, तब संसार के प्रति अपने आप तुम्हारी प्रवृत्ति ख़त्म हो जाती है। किसी भी चीज़ की तरफ प्रवृत्ति होती है उसको 'अनित्य है' ऐसा न समझने के कारण। आदमी बड़ी कोशिश करता है कि 'मेरा प्रिय पिता बना रहे।' सब तरह से खर्च करता है इलाज के ऊपर, परन्तु जब डाक्टर कह देता है कि 'ये ठीक तो होने वाले हैं नहीं। जितने दिन इनको राम भुगाए उतने दिन ये भोग ही सकते हैं, तड़पते ही रहेंगे।' तब चाहे जितना खर्च करने वाला लड़का भी अन्त में यही कहता है 'बहुत तकलीफ पा रहे हैं, अब भगवान् इनको उठा लेवे तो अच्छा है।' जब तक आशा है तब तक खूब प्रयास करता है परन्तु जब आशा नहीं रहती तब प्रयास छोड़ देता है। इसी प्रकार संसार के जिस पदार्थ के बारे में अनित्यता का निश्चय हो जाता है, उसके प्रति प्रवृत्ति रुद्ध हो जाती है, रुक जाती है। 'यह बना रहेगा' बस यही तो उसके लिये प्रवृत्ति का हेतुभूत भ्रम है। भगवान् कहते हैं कि इस संसार में जो कुछ भी है, सभी अनित्य हैं 'लोकम्' का अर्थ अन्यत्र किया है कि विषयों को लोक कहते हैं, जो प्रतीत होते हैं वे ही लोक हैं। अतः लोक अर्थात् सभी चीज़ें अनित्य ही हैं इसलिए उनके साथ किसी प्रकार का संबंध रखना व्यर्थ है।

दूसरी चीज़ जो मनुष्य को खींचती है वह है 'इससे सुख होगा, यह चीज़ सुख देगी' यह भ्रम। दुःख देने वाली चीज़ के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता : कभी नहीं चाहता 'भगवान् करे खूब मच्छर होवें, मुझे काटें।' जो चीज़ सुख वाली लगती है, उसी की तरफ प्रवृत्ति होती है। भगवान् कहते हैं कि संसार में जितनी चीज़ें हैं, सब 'असुखं', सुखवर्जित हैं, उनके अंदर सुख है नहीं, उनमें सुख भ्रान्ति से प्रतीत होता है। जितने विषय है, सब सुखरहित हैं। भ्रान्ति से उनमें सुख की प्रतीति होती है। जैसे मृग-मरीचिका के अंदर जल की प्रतीति होती है लेकिन वहाँ जल की एक बूंद भी नहीं है, इसी प्रकार संसार के किसी भी विषय में सुख की एक बूंद भी नहीं है। सुख का कारण होता है हमारे मन का राग। जो चीज़ हमें अच्छी लगती है उसी से हमें सुख होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है 'यस्य यद् इष्टं तद् एव तस्य सुखम्'। सुख कोई जातिविशेष नहीं है कि विषयों में रहती हो। जैसे घटत्व सब घटों में रहता है वैसे सुखत्व सारी सुख की चीज़ों में रहता हो, ऐसा कुछ नहीं है। फिर क्या है? जो जिस चीज़ को चाहता है वही चीज़ उसको सुख वाली दीखती है। किंतु यथार्थ है कि जहाँ तुमको सुख दीख रहा है वहाँ सुख नहीं है। ठीक जिस प्रकार से पीलिया का रोग हो जाता है तो सफेद कमीज भी पीली दीखती है। जहाँ उस रोगी को पीला दीख रहा है वहाँ पीला नहीं है। पीला कहाँ है? रोग के कारण आँख में पीला है। इसी प्रकार से तुम्हारे मन में राग है इसलिए तुम को बाहर सुख दीखता है, वहाँ सुख है नहीं। जैसे ही तुम्हारा राग किसी दूसरी तरफ जाता है, फिर वहाँ सुख नहीं

दीखेगा। सुख किसी पदार्थ में नहीं, तुम्हारे मन के राग में है। अतः पदार्थों के अंदर सुख की दृष्टि सर्वथा भ्रम है।

जब कोई लौकिक पदार्थ सुखरूप नहीं है तब क्या करें? 'भजस्व माम्'। भगवान् कहते हैं मैं नित्य भी हूँ और आनन्दरूप भी हूँ। संसार में तो सभी कुछ अनित्य और असुख है, परमात्मा नित्य आनन्दरूप है। अतः मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि पहले विचार करके निश्चय करे कि 'अनित्यम् असुखं लोकम्।' अनित्य है इसलिए किसी चीज़ को नष्ट होते देख कर कोई विकार नहीं आयेगा क्योंकि जानेगा कि यही पदार्थों का स्वभाव है, नष्ट होते ही हैं। मकान बनते हैं गिरने के लिए, कपड़े बनते हैं फटने के लिए, अतः गिरने या फटने पर दुःख करना फालतू है। राज्य के जाने पर दुःखी होना व्यर्थ है। अगर राज्य प्राप्त हुए हैं तो नष्ट होने ही हैं। भगवान् ने कहा कि लोक अनित्य और असुख हैं यह मैं प्रमाणित करके कह रहा हूँ और तू इसका निश्चय कर ले तब जँचेगा कि एकमात्र कर्तव्य मेरा भजन ही है।।३३।।

भजन कैसे करना चाहिए यह संक्षेप में कहते हैं

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो
नाम नवमोध्यायः।।

मेरी शरण में रहकर मुझ में मन वाले, मुझ से प्रेम वाले और मेरे पूजक बनो, मुझे नमस्कार करो। यों मुझ में चित्त समाहित कर मुझ आत्मरूप को पा जाओगे।

'मन्मना भव', अपने हृदय में स्थित जो चिन्मात्र है, उसकी तरफ ही अपना मन ले जाना सीखो। अभी तो हम बहिर्मना हैं, हमेशा हमारा मन बाहर ही जाता है। इन्द्रियों से जाता है तो रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श ये चीज़ें हमारे सामने उपस्थित होती हैं। अथवा उनसे होने वाले राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य ये सब भी जो हम से बहिर्भूत हैं, अन्तःकरण के धर्म हैं, उनकी तरफ जाता है। भगवान् कहते हैं कि उस तरफ मन को न ले जाओ, केवल चिन्मात्र की तरफ ही मन को ले जाओ, तद्विषयक ही स्वभावतः संकल्प-विकल्प होवें। इसके लिए उस परमात्मतत्त्व को प्रतिपादित करने वाले जो उपनिषद् आदि हैं उन्हीं का बार-बार जब विचार किया जाता है तब उधर मन जाता है। जैसा किसी सन्त ने कहा है कि जो मन नारी के रूप को देखता है, वह नारी के आकार का बनता है। और वही मन यदि अपने अंदर चेतनरूप को निहारता है तो चिद्रूप बनता है। इसलिए भगवान् ने कहा 'मन्मना भव।'

इतना ही नहीं, 'मद्भक्तो भव' उस चेतन के प्रति प्रेमभाव से मन उधर ले जाना है। यह भावना दृढ रखनी है कि वह चेतन ही हमें प्राप्त होवे, तद्-अतिरिक्त हमें कुछ नहीं चाहिए। अभी हम सांसारिक विषयों के *भक्त* हैं, 'यह मिल जाए, वह मिल जाए, यह हो जाए, वह

हो जाए' इसी तरफ हमारा चित्त *प्रेम से* जाता है। जैसा हो जाये यह चाहते हैं वैसा हो गया तो प्रसन्न हो जाते हैं, उससे विपरीत हो गया तो दुःखी हो जाते हैं। वही तुमको सुखी-दुःखी कर सकता है जिसके प्रति तुम्हारी भक्ति है, प्रेम है। संसार में कितने टी.बी. के रोगी हैं, कोढ़ के रोगी है, उनमें से कई इलाज से ठीक भी हो जाते हैं, उनके ठीक होने पर भी तुमको कोई सुख नहीं होता, उनके ठीक नहीं होने से तुमको कोई दुःख भी नहीं होता। तुम्हारे लड़के को यदि कोढ़ हो जाता है, टी. बी. हो जाती है तो दुःखी होते हो और अगर किसी दवाई से ठीक हो जाता है तो सुखी हो जाते हो। यह इसलिये कि उस लड़के के साथ तुम्हारा प्रेम है, दूसरों के साथ कोई संबंध नहीं है। यदि केवल परमेश्वर से तुम्हारा प्रेम होगा तो परमेश्वर-विषयक ही तुमको सुख-दुःख हो सकते हैं। इसलिए कहा 'मद्भक्तः' मेरे ही भक्त बनो, हृदय के अंदर स्थित चिन्मात्र जो परमेश्वर का रूप है उसके प्रति ही तुम्हारा प्रेम होवे।

'मद्याजी', मेरी ही पूजा करो अर्थात् पूज्य-दृष्टि मुझ में ही रखो। अभी संसार के विषयों को लेकर पूज्य-दृष्टि होती है। धन में भक्ति वाला होता है तो धन को ही पूज्य समझता है। पद में भक्ति वाला होता है तो जो पद में अपने से श्रेष्ठ है उसी को पूज्य समझता है। कहते भी हैं कि कुर्सी को सलाम है। कुर्सी से जिसकी भक्ति होगी वह कुर्सी को सलाम करेगा, नहीं तो काहे के लिए करेगा! इसी प्रकार यदि विद्या में हमारा प्रेम है तो जहाँ ज़्यादा विद्या होती है वहाँ हमारी पूज्य-दृष्टि होती है। जो विद्वान् नहीं है उसको हम पूज्य नहीं मानते। भगवान् कहते हैं मद्-याजी, मेरे में ही पूज्य दृष्टि करके मेरी प्राप्ति के लिए ही पूजा करो। 'मां नमस्कुरु', इसी प्रकार से मुझे ही नमस्कार करो। पूर्व श्लोक में कहा था 'भजस्व मां', प्रश्न हुआ कि कैसे भजन करें? उत्तर में यहाँ चार चीज़ें भगवान् ने बतला दीं।

इस प्रकार होने पर 'माम् एव एष्यसि', तुम मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त करोगे, परमेश्वर को ही जाओगे। क्योंकि वही तुमने लक्ष्य किया है, और मन उसमें लगाया है, भक्ति-यजन-नमन सब कुछ उसके लिये किया है, इसलिये अन्ततः उसको ही प्राप्त कर जाओगे। 'एवम् आत्मानं युक्त्वा' अपने आपको इस प्रकार से युक्त करके, लगा करके 'मत्परायणः' जो चार साधन बताये उनके अनुष्ठान से मत्परायण हो जाओगे। 'अयन' अर्थात् गति। 'मत्-पर-अयन' अर्थात् एकमात्र परमेश्वर ही जिसकी परम गति का केन्द्र है। उसके लिये भगवान् ने निर्णय दिया मत्परायण साधक अपने-आपको युक्त कर मुझे ही प्राप्त होगा। परमात्मा सब भूतों का आत्मा है, परम गति है, यही उसका स्वरूप है। जो सारे भूतों की गति है, आत्मा है, हृदय में स्थित उसी चिन्मात्रस्वरूप को उक्त साधक प्राप्त हो जाता है। साधकावस्था में आत्मा में युक्त होने से आत्मा की ही प्राप्ति होती है तथा अन्त में उसी में स्थिति हो जाती है।।३४।।

अध्याय-प्रारम्भ में जिस राजविद्या राजगुह्य को बताने की प्रतिज्ञा की थी उसे इस नवम अध्याय में बताकर पूरा किया। अतः इस अध्याय का नाम 'राजविद्या-राजगुह्य-योग' है।

।। नौवाँ अध्याय ।।

ॐ

दसवाँ अध्यायः विभूतियोग

सप्तम अध्याय में भगवान् ने अपना स्वरूप और अपनी विभूतियाँ भी बतलाई थीं। फिर आठवें अध्याय में अपने कुछ अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिभूत इत्यादि रूपों का वर्णन किया। नौवें अध्याय में फिर भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया और कुछ विभूतियाँ भी बतलाईं। अब उन्हीं विभूतियों को विस्तार से बतलाने के लिए दसवाँ अध्याय प्रवृत्त होता है। जिन चीज़ों को लेकर भगवान् का चिन्तन करना है, अर्थात् जिनको प्रतीक बना करके उस प्रतीक का जो अधिष्ठान है, उसकी तरफ चित्त ले जाने के लिए उपासना करनी है, उन्हें प्रधानतः बतलाएँगे। बीच-बीच में अपना जो वास्तविक अधिष्ठान स्वरूप है, उसकी तरफ भी संकेत करेंगे। इस प्रकार सातवें, आठवें, नौवें, दसवें- इन सब अध्यायों के अन्दर भगवान् की विभूतियों का भी निरूपण है, और भगवान् के वास्तविक स्वरूप का भी निरूपण है। विभूतियों में उस स्वरूप का चिन्तन करना है। भगवान् के तत्त्व को बार-बार इसलिए कहना पड़ता है कि वह अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। हमें जब लगता है कि हमने भगवान् के स्वरूप को समझ लिया तभी झट कोई-न-कोई स्खलन होने से पता लगता है कि 'नहीं-नहीं, अभी पूरा नहीं समझा'। इसीलिए इसको दुर्विज्ञेय कहते हैं। कई चीज़ें होती हैं, जिनके बारे में लगता है 'बस, अब तो मिल ही गई', और जैसे ही यह लगता है, उसी समय कोई हेतु बन जाता है जिससे लगता है कि वह दूर चली गई! जैसे व्यवहार में सुख आदि पदार्थों के प्रति पदे पदे यह अनुभव होता है, उसी प्रकार परमात्मा को समझने में भी यही अनुभव होता है। जब लगता है कि समझ में आ गया, उसी समय कुछ ऐसी बात सामने आ जाती है जिससे लगता है कि नहीं समझे। और इसका कारण है कि जितने विरुद्ध धर्म हैं, सब उसमें कल्पित हैं। कल्पित चीज़ें एक ही अधिष्ठान में रह सकती हैं। इसलिए जब किसी एक रूप को हम समझते हैं कि 'हाँ, यह परमेश्वर में है', तभी कोई-न-कोई विरुद्ध कल्पित चीज़ सामने आ जाती है जो परमेश्वर में हो सके, यह समझ में नहीं आता। सारे विरुद्ध धर्मों का वही अधिष्ठान है, जो सारे जगत् का अधिष्ठान है। मन का स्वभाव पड़ा हुआ है कि विरुद्ध

धर्मों को एक ही स्थान पर देखने से घबरा जाता है, 'वस्तु समझ में नहीं आई' ऐसा लगता है। परमेश्वर का तत्त्व जैसा कहा गया वैसा उपासक *मानता* है। ज्ञानमार्ग में तो 'ये विरुद्ध धर्म मिथ्या होने से हैं नहीं', ऐसा निश्चय होता है, इसलिए जो नहीं हैं वे उस तत्त्व में किसी विकल्प को उपस्थापित ही नहीं करते हैं। अतः ज्ञानमार्गी के लिए विरोधदर्शन से कठिनाई नहीं आती, लेकिन जो उपासक है वह तो *मानता* है अतः विरुद्ध चीज़ें सामने आते ही 'इसको कैसे मानूँ?' यह तुरन्त उपस्थित हो जाता है। इसलिए भगवान् उस तत्त्व की बार-बार विभूतियों को बतलाते हैं और बार-बार तत्त्व की तरफ निर्देश करते हैं ताकि विभूति को परमेश्वर न समझ लिया जाये। जिसके अन्दर ये विभूतियाँ कल्पित हैं वह परमेश्वर है। इसलिए बार-बार परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करना ज़रूरी है क्योंकि वह दुर्विज्ञेय है। अतः अर्जुन के बिना पूछे हुए ही, यहाँ भगवान् वर्णन आरम्भ करेंगे। नियम है कि बिना पूछे कोई बात नहीं बतानी चाहिए पर अपनी अत्यन्त करुणा को प्रकट करते हुए, न पूछने पर भी बता रहे हैं। जिसके ऊपर अपना अत्यन्त प्रेम होता है, उसके नहीं पूछने पर भी गुरु समझाता है। अतः भगवान् स्वयं अर्जुन से कहते हैं -

श्रीभगवान् उवाच -
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हे महाबाहो अर्जुन ! (मेरे वचन सुनने से) प्रसन्न होने वाले तुम्हारे हित की इच्छा से मैं जो भी कहूँगा (वे) मेरे खास वचन पुनरपि सुनो।

भगवान् कहते हैं कि हे महाबाहो! हे महान् भुजाओं वाले! मनुष्य की कर्मेन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त प्रबल हो तब उसको महाबाहु कहेंगे। मनुष्य अधिकतर कार्य अपनी बाहों से ही अर्थात् हाथों से ही करता है। अर्जुन अनेक राजाओं को जीत कर राजसूय यज्ञ के अंदर अपना महाबाहुपना सिद्ध कर चुका है। और आगे महाभारत के युद्ध में उसको पूरी तरह से कर्म करना है। दोनों बातें अर्जुन को बतलाते हैं। आगे भी तुम्हें महाबाहु बनना है, और पहले से महाबाहु हो ही। 'भूय एव' फिर से ही। तत्त्व और विभूतियाँ मैं पहले बतला चुका हूँ, उसी बात को आगे बतलाना है। 'मे वचः शृणु', मैं जो बात कहने जा रहा हूँ वह मेरा वचन सुनो। सामने बैठा हुआ है, बोलेंगे तो सुनेगा ही। ऐसे स्थल में जब 'शृणु' कहते हैं, तो उसका मतलब होता है, *ध्यान देकर* के सुनो। सामने बैठे व्यक्ति से बात कर रहे हो, और उसको कोई खास बात बताना चाहते हो, तब कहते हो,'अरे, सुनो मेरी बात।' सुन तो रहा है, वहाँ 'सुनो' का मतलब है, 'ध्यान दो, ध्यान देकर के सुनो।' क्यों ध्यान दें? 'परमं वचः'। वचन की परमता विषय को लेकर है। 'आपने बहुत बड़ी बात कही', इसका मतलब यह नहीं होता कि आपका वाक्य बड़ा

लम्बा था, आपने जो कहा उसमें कई पदों का समास कर दिया था; यह मतलब नहीं होता है। उसका मतलब होता है कि बात के द्वारा जो प्रतिपादन किया गया वह विषय प्रधान था। इसी प्रकार 'परमं वचः' अर्थात् जिस बात को कहने जा रहा हूँ उससे महान् और कोई तत्त्व समझने का नहीं है। अतः जो बात मैं कहने जा रहा हूँ, वह सबसे उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है। परमेश्वर का तत्त्व और परमेश्वर की विभूति, इससे और कोई श्रेष्ठ चीज़ समझने की नहीं है। अगर यह तत्त्व समझ में आ जाता है तो यह अनादि काल से जो चला आ रहा जन्म-मरण- चक्र है, वह छूट जाता है। इस जन्म-मरण के प्रवाह को छुड़ाने वाला सिवाय परमेश्वर के ज्ञान के और कुछ नहीं है। सारे दुःख शुरू तभी होते हैं, जब जन्म लेते हो। सभी दुःखों का आधार क्या है? शरीर है। मन के भी जितने दुःख हैं वे सारे देह-आधारित ही हैं। किसी व्यक्ति के प्रति राग होता है क्योंकि उसने तुम्हारे *शरीर को* कुछ सुख दिया है। जो चीज़ शरीर को सुखदायी है उसी को तुम सुख समझते हो। इसी प्रकार से जो शरीर को दुःखदायी है, उसे निमित्त बनाकर ही सारे द्वेष आते हैं। जन्म होने पर अर्थात् शरीर से सम्बंध होने पर ही रागादि बनते हैं। पहले जिस शरीर से सम्बंध था, उस के सम्बंध से हमारे अन्दर संस्कार, राग, द्वेष आदि सब बने। आगे भी जिस शरीर से सम्बंध होगा, उस शरीर से जो हो सकते हैं वे ही राग, द्वेष प्रकट होंगे। दूसरे तो प्रकट होंगे नहीं। यद्यपि अंतःकरण में सारे संस्कार रहते हैं, तथापि प्रकट वे ही होंगे जो इस शरीर के द्वारा सम्बन्धित होते हैं। किसी जन्म में हम मछली भी थे, इसलिये तैरने के संस्कार भी हमारे अंदर हैं, परन्तु तैरने के संस्कार स्वभाव से मनुष्य शरीर में प्रकट होते नहीं। कभी पक्षी भी थे, इसलिये हमारे अंदर उड़ने के भी संस्कार तो हैं ही। परन्तु वे संस्कार मनुष्य शरीर में उदय होते नहीं। कभी ऐसा नहीं होता कि हम हाथ को फड़फड़ा कर सोचें कि हम उड़ जायेंगे। क्योंकि इस शरीर में वह सम्भव नहीं है इसलिये वे संस्कार उद्भूत भी नहीं होते हैं। दूसरे पक्षी आदि को देखकर के जो उड़ने का संस्कार होता है उसके कारण हम कोई ऐसा यंत्र, ऐसी औषधि, गुटिका इत्यादि बनाने में प्रयत्नशील होते हैं जिससे हम उड़ सकें। उड़ने वाला ज्ञान भी हमसे अलग है, उड़ाने वाली गुटिका भी हमसे अलग है। लेकिन 'मैं हाथ को हिलाकर उड़ जाऊँ' ऐसा संस्कार उद्बुद्ध होता नहीं। जिस शरीर के द्वारा जो संस्कार प्रकट हो सकेगा, उस शरीर को आधार करके वही संस्कार उद्बुद्ध होगा। सारे सुख-दुःखों का केन्द्र इसलिए जन्म ही है अर्थात् शरीर सम्बंध ही है। यदि शरीर का सम्बंध न रहे, तो आत्मा का आनन्दरूप प्रतिक्षण प्रकट हो जाये, अनन्तरूप प्रतिक्षण प्रकट हो जाये। इसको प्रकट करने वाला जो तत्त्व-ज्ञान है वही 'परमं वचः' परम वचन है।

वह तुमको क्यों बतलाते हैं? तुमको सुनाना चाहते हैं, सुनाने जा रहे हैं। इसमें दो कारण बतलाये, एक तो 'हितकाम्यया', तुम्हारे हित की इच्छा है इसलिये। तुम्हारा हित

होवे, इस इच्छा के कारण। दूसरी खास बात बतलाते हैं 'प्रीयमाणाय', मेरी बात सुन कर तुमको प्रसन्नता होती है, तुम उसको अमृत की तरह समझते हो। इतने प्रेम से उसको ग्रहण करते हो इसलिये बता रहे हैं। इसके द्वारा भगवान् कहते हैं कि चाहे जितनी तुम्हारे अन्दर हितकामना हो, और चाहे जितना व्यक्ति तुम्हारा नज़दीकी हो, परंतु यदि वह तुम्हारी बात को अमृत की तरह पीना नहीं चाहता है, तुम्हारी बात से प्रसन्न नहीं होता है, तो उसको सुनाने का प्रयत्न व्यर्थ जाता है। बहुत से लोग सोचते हैं, कि हमें तो दूसरों के कल्याण के लिये बोलना ही है! हितकामना से बोलना अर्थात् श्रोता के लाभ के लिये बोलना। भगवान् कहते हैं कि खाली हितकामना होवे, तब बोलना नहीं है, सुननेवाले को उससे प्रीति होवे, तब बोलना है, अन्यथा अपनी बात अपने पास रखो। जो सामान्यतः नियम किया जाता है, कि बिना पूछे न बताओ, वह भी इसलिये कि पूछने वाला उस उत्तर को सुनना चाहता है। पूछता है, इससे पता लगता है कि वह उत्तर को सुनना चाहता है, उसको इससे प्रसन्नता है। बिना पूछे नहीं कहना चाहिये, फिर भी इस अध्याय में अपनी तरफ से भगवान् कह रहे हैं, क्योंकि अर्जुन उनकी बात सुनने में प्रीति वाला है।।१।।

कोई शंका करे कि आप ही क्यों कह रहे हैं? परमात्मा के विषय में बताने वाले बहुत से लोग हैं, आप ही आगे काहे के लिये आ रहे हैं? अतः भगवान् कहते हैं-

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।२।।

मेरा प्रभाव (और उत्पत्ति) देवता व महर्षि भी नहीं जानते क्योंकि उनका हर तरह से कारण मैं ही हूँ।

ब्रह्मा, विष्णु, आदि जो देवता हैं, वे मेरे प्रभव को, मेरी उत्पत्ति को जानते नहीं इसलिये नहीं बतला सकते। 'प्रभव' के दोनों ही तात्पर्य हैं- प्रभाव को भी प्रभव कहते हैं। परमेश्वर की शक्ति अतिशय है। किसी के भी द्वारा जो किया जा सकता है वह तो परमेश्वर कर ही सकते हैं, जो कोई नहीं कर सकता, वह भी परमेश्वर कर सकते हैं, और जिसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते, वह भी परमेश्वर कर सकते हैं। जो किया जा सकता है, वह तो दूसरे लोग भी बता सकते हैं। परन्तु जो नहीं किया जा सकता और जो कल्पनातीत वे कर सकते हैं, उसे कैसे कोई जान सकता है! उनके करने के बाद तो जान लेंगे परन्तु पहले से पता लग नहीं सकता। शक्ति कहते ही उसको हैं, जिसका जब कार्य हो जाय तब अनुमान होता है। जब तक कोई कार्य किसी ने किया नहीं, तब तक उसमें उसे करने की शक्ति है यह कैसे कहा जा सकता है? बच्चा परीक्षा अच्छी नहीं करता, तो माँ क्या कहती है? 'तुम इससे अच्छा पढ़ सकते हो, पढ़ते नहीं हो।' वह बेहतर पढ़ सकता है यह माँ को कैसे पता! कौन क्या कर सकता है, किसमें

क्या शक्ति है, यह तब तक पता ही नहीं लग सकता जब तक वह उस कार्य को कर न लेवे। एक लड़के के सौ नम्बर आ गये, इससे हम *कल्पना* करते रहते हैं कि 'मेरे लड़के के भी सौ नम्बर आ सकते हैं, यह लगकर मेहनत करता नहीं है'। मालिक भी यही सोचता है कि नौकर कर सकता है, करता नहीं है, ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार नेता के बारे में हम सोचते हैं कि वह कर सकता है, कर नहीं रहा है। किंतु जो शक्ति के इस रहस्य को जानता है उसे यह भ्रम कभी नहीं होता कि दूसरे में यह शक्ति है अतः इसमें भी है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। देवदत्त सत्रह मील चल सकता है तो यज्ञदत्त भी सत्रह मील चल सकता है, यह कैसे कहोगे? जबर्दस्ती ले जाओ तो वह चौदह मील जाते-जाते बेचारा मूर्छित होकर गिर जाता है। इसलिये शक्ति कार्य से ही अनुमेय है, अतः बिना कार्य देखे देवता या महर्षि भी नहीं कह सकते कि क्या शक्ति है।

नास्तिकों को सबसे बड़ी शंका यह रहती है, कि परमेश्वर ऐसा कैसे कर सकता है? ऐसा नहीं हो सकता। किंतु परमेश्वर वैसा भी करके दिखला देता है! तब नास्तिक किसी कार्यकारणभाव की कल्पना करते रहते हैं। किसी को देखते हो, कि अत्यंत दुराचारी है, तुमको निश्चय है कि वह बिलकुल नरक ही जाने वाला है। अकस्मात् उसका जीवन सर्वथा बदल जाता है, वह उत्तम संत हो जाता है। परमेश्वर ने अपनी अनुग्रह शक्ति से उसको बदल दिया। जो परमेश्वर की ऐसी शक्ति स्वीकार नहीं करना चाहते वे कहते हैं, 'इसने पूर्व जन्म में कुछ किया होगा तभी फल हुआ होगा,' अर्थात् बिना कर्म के फल परमेश्वर नहीं दे सकता! यह ईश्वर को न समझने से होने वाला आग्रह है। ईश्वर रूप भी कल्पनातीत ले लेता है। जब तक भगवान् नृसिंह का विग्रह न देखो तब तक यह कल्पना नहीं हो सकती कि आधा शेर व आधा मनुष्य ऐसा कोई शरीर हो सकता है। गणेश जी की मूर्ति बिना देखे वैसे शरीर की कल्पना नहीं होती। इसी तरह से सप्तशती के अन्दर आता है कि आगे भगवती छह पैरों वाले मकड़ी इत्यादि का रूप लेकर आयेंगी। हम लोग कल्पना भी नहीं कर पाते हैं आज कि उस मकड़ी के रूप में भगवती कैसी होंगी? उनके हाथ-पैर कैसे होंगे, कैसे नहीं होंगे? कुछ कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार, जो हो सकता है वह भी, जो नहीं हो सकता है वह भी, और जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, वह भी करने में परमेश्वर समर्थ है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि उस परमेश्वर की, प्रभु की जो शक्ति है वह अतिशय है। और प्रभव का मतलब उत्पत्ति भी होता ही है। अतः भगवान् कह रहे हैं कि मेरी उत्पत्ति कोई नहीं जानता।

शंका होती है कि भृगु इत्यादि महर्षि लोग हैं, उनको तो पता होगा? भगवान् कहते हैं कि वे भी नहीं जानते। महर्षि इत्यादि जितने हैं वे सर्वज्ञकल्प, करीब-करीब सर्वज्ञ हैं। जो हुआ उस सबको तो जानते हैं। इसलिये सर्वज्ञ *कहे* जाते हैं। लेकिन आगे

क्या-क्या हो सकता है - यह वे जानते नहीं। जैसे, कोई रसायन शास्त्र को जानने वाला है, अधिकतर रसायन की प्रतिक्रियाओं को उसने पहले देखा है, अतः उसके अनुसार बतला देगा कि अमुक पदार्थ में अमुक रस मिलाओगे तो यह फल होगा। परन्तु कभी-कभी जैसा आज-तक देखा गया है वैसा नहीं होता! मैडम क्यूरी के जीवन में यही आता है; वह जो प्रयोग कर रही थी उसमें बिलकुल बेकार नतीजे निकल रहे थे। प्रयोगों का सारा कूड़ा वह बाहर फेंक देती थी। प्रयोग की विफलता से बड़ी दुःखी थी; रात में नींद नहीं आती थी। चाँदनी रात थी। खिड़की पर आकर खड़ी हुई, तो देखा कि जहाँ सारा कचरा डाला था, उसमें कोई चीज़ चमक रही थी। पहले उसने सोचा कोई जुगनू, कोई कीड़ा होगा। लेकिन थी वैज्ञानिक, इसलिये हर चीज़ को देखना, सुनना, समझना, ध्यान देना, उसके स्वभाव में था। उसने ध्यान देकर देखा कि वह चीज़ हिल-डुल नहीं रही है। जुगनु वगैरह कोई कीड़ा होता तो हिलता। चली गयी नीचे; कचरे में जाकर देखा, कोई प्राणी नहीं कोई पदार्थ ही था। वह नई चीज़ थी 'रेडियम'। रेडियम का आविष्कार करके वह दुनिया में बहुत प्रसिद्ध वैज्ञानिक हो गई। यों उनको पता लगा कि क्या-क्या मिलने से रेडियम प्रकट हो जाता है। रासायनिक ज्ञान वाला व्यक्ति रसायनों के मिलाने से क्या होगा - यह बहुत कुछ जान ही लेता है, इसलिये रसायन के बारे में सर्वज्ञकल्प है। परन्तु कोई-कोई चीज़ ऐसी होती है जो नई है, नहीं जानी हुई है, जैसे रेडियम इससे पहले कोई नहीं जानता था। इसी प्रकार महर्षि लोग सर्वज्ञकल्प हैं। सर्वज्ञ तो सिवाय परमेश्वर के कोई नहीं है। इसीलिये पुराने ज्योतिषि सारी भविष्यवाणी लिखने के बाद अंत में लिखते थे, 'आगे भैरव जी जानें'। ईश्वरवादी कोई अपने को सर्वज्ञ नहीं कहता जैसे आजकल के लोग कह देते हैं, 'मैने कह दिया अतः ऐसा ही होगा'। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि महर्षि सर्वज्ञ हैं, लेकिन फिर भी सब कुछ नहीं जानते।

मेरी उत्पत्ति को क्यों नहीं जानते? 'अहमादिर्हि देवानाम्'। बाप कहाँ कब पैदा हुआ था, इसको बेटा कभी नहीं *देख* सकता। सुनी-सुनाई बात तो बोल सकता है, परन्तु देख नहीं सकता। क्योंकि जब बाप पैदा हुआ था, तब बेटा था ही नहीं, तो कैसे देखता! इसी प्रकार से परमेश्वर से ही देवता उत्पन्न होते हैं। परमेश्वर ही देवताओं का उत्पादक अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण है। इसलिये देवता परमेश्वर की उत्पत्ति कैसे जान सकते हैं? जैसे देवताओं की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मैं ही हूँ, इसी प्रकार से महर्षियों की भी उत्पत्ति मुझसे ही हुई है। वे भी मेरी उत्पत्ति नहीं जान सकते। 'सर्वशः' - चीज़ों के दो प्रकार के कारण होते हैं। एक *जो* बनता है और दूसरा जो *बनाता* है। स्वैटर ऊन से बनता है। स्वैटर कौन बना? ऊन बना। और किसने बनाया? देवदत्त ने बनाया। किन साधनों से बनाया? सलाइयों से बनाया। इसी प्रकार से सब चीज़ों के दो कारण होते हैं। रोटी आटे से बनी। बेलन-चकले के द्वारा देवदत्त ने बनाई। बनाने

वाला देवदत्त हुआ, चकले इत्यादि की सहायता से बनाई और आटा उपादान कारण हुआ। जो बनता है वह उपादान कारण, जो बनाता है वह निमित्त कारण कहा जाता है। बाकी सहायक कारण होते हैं। 'सर्वशः' से भगवान् बता रहे हैं कि देवताओं और महर्षियों को उत्पन्न किया तो कौन बना? मैं बना। मेरे सिवाय वहाँ कुछ था ही नहीं। और किसने बनाया? मैंने बनाया। और किन साधनों से बनाया? मेरे सिवाय और कोई साधन भी नहीं थे! इसका यदि थोड़ा-बहुत नमूना तुम देखना चाहो, तो सपने में समझ सकते हो। सपने में जो धोती सूख रही है तार के ऊपर, वह धोती किससे बनी? कोई रुई तो थी नहीं, तुम ही थे वहाँ। कोई मशीन भी वहाँ नहीं थी। और बनाने वाला भी तुम्हारे सिवाय कोई जुलाहा नहीं था। जैसे स्वप्न को तुमने बिना किसी दूसरी चीज़ के बनाया और बने, उसी प्रकार परमेश्वर ही देवता, ऋषि इत्यादियों के रूप में बना और उसी ने सबको बनाया। यह उसका अतर्क्य माहात्म्य है जिसको बिना शास्त्र दृष्टि से हम नहीं सोच-समझ सकते।

स्वप्न भी हमारी समझ में नहीं आ पाता! क्यों नहीं समझ में आता? हमें पता ज़रूर है कि 'मेरे सिवाय वहाँ कुछ नहीं था तो मैंने ही बनाया और मैं ही बना' परन्तु न हमें वहाँ भान होता है, 'मैं बना रहा हूँ', न भान होता है कि 'मैं बन रहा हूँ'। बिना भान के ही बनना और बनाना वहाँ हो रहा है। इतना तो पता लग जाता है कि 'ऐसा होता है,' पर *कैसे* होता है - यह कुछ समझ में नहीं आता। शिवमहिम्नःस्तोत्र में 'किमीहः किंकायः' आदि श्लोक में परमेश्वर के इस ऐश्वर्य का महत्त्व स्पष्ट किया है। उस बारे में तुम्हारी बुद्धि की तर्कना काम नहीं करती। कोई ढंग नहीं है जिससे वह समझ में आवे। अनेक प्रश्न वहाँ किये : उसने बनाया तो, उसका प्रयोजन क्या था? प्रयोजन कुछ भी समझ में नहीं आता कि क्यों बनाया। इसीलिये यही कह-करके बड़े से बड़े विचारक को शान्ति करनी पड़ती है कि- 'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' देव का ऐसा स्वभाव है। इसके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। हम लोग अपनी दृष्टि से देखते हैं कि बिना किसी उद्देश्य के हम कुछ नहीं करते हैं तो परमात्मा का भी कोई उद्देश्य रहा होगा। पर उसका उद्देश्य कुछ नहीं, उसका स्वभाव है। 'किंकायः?' किस शरीर में बैठकर बनाया? शरीर तो कोई था ही नहीं। वे बनायेंगे तब शरीर बनेगा। 'किमुपायः?' किन साधनों को इक्ट्ठा किया? कोई साधन भी नहीं थे। उपादान भी कुछ नहीं था। इसलिये बिना किसी प्रयोजन के, बिना किसी साधन के, बिना किसी दूसरे उपादान कारण के, बिना किसी शरीर के ही उसका स्वभाव है जगत् की उत्पत्ति करना, स्थिति करना, फिर अपने में लय कर लेना। इसलिये कहा कि चूंकि देवता और महर्षियों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण सब प्रकार से मैं ही हूँ अतः वे मुझे नहीं जान सकते। मेरी शक्ति को नहीं जान सकते हैं। मेरी शक्ति ने काम करना शुरू किया, उसके बाद ही देवता भी आये, ऋषि भी आये, इसलिये मेरी शक्ति को, मेरे वैभव को नहीं जान सकते। उनकी असमर्थता जानकर ही यहाँ भगवान् स्वयमेव बताने का उपक्रम कर रहे हैं ।।२।।

'प्रभव' से जन्म समझें तो देवता व ऋषि भगवान् का जन्म इसलिये नहीं बता सकते कि भगवान् अजन्मा हैं, कभी उत्पन्न होते ही नहीं - यह सूचित करते हुए इस बात को समझने का फल बताते हैं -

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।३।।

मनुष्यों में जो मुझे जन्महीन, कारणरहित और सब लोकों का महान् शासक जानता है, वह सम्मोहशून्य हो जाता है तथा सब पापों से छूट जाता है।

जो मेरे इस वास्तविक स्वरूप को, जो सारी सृष्टि का कारण है, उसको अज अर्थात् वह आत्मतत्त्व जन्म रहित है, इस बात को जान लेता है वही मोह से छूटता है। परमात्मतत्त्व 'मैं' इस प्रतीति का विषय है। हम लोगों को आत्मा के बारे में भ्रम क्यों हैं? क्योंकि हम मैं के साथ हमेशा उपाधि को ही रखते हैं। 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान न होकर 'मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं कमज़ोर हूँ' इस प्रकार देहद्वय और इनके धर्मों के साथ ही, 'मैं' को जानते हैं, परमात्मतत्त्व को जानते हैं। चूँकि उन चीज़ों का जन्म है अतः 'मैं' का अपना जन्म मान लेते हैं। शरीर की उत्पत्ति होती है इसलिये मेरा जन्म हुआ- ऐसा ही समझते हैं। इसी प्रकार 'पहले मैं नहीं जानता था जर्मन भाषा, बाद में मैंने जर्मन भाषा जानी तो जर्मन के ज्ञान वाला मैं' - इस प्रकार से बुद्धि के जन्य ज्ञान के कारण अपना भी ज्ञान पैदा होने वाला मान लेते हैं। जो इस बात को ठीक तरह से समझ लेता है कि आत्मतत्त्व सच्चिदानंदस्वरूप है, वही वस्तुतः अस्मत्प्रतीति का विषय है, ये उपाधियाँ नहीं, उसका भ्रम मिट जाता है। जैसे, काँच में हम मुँह देखते हैं तो काँच के धब्बों से युक्त अपना प्रतिबिम्ब दीखता है जिससे हम यही मानते हैं कि 'मैं ऐसे धब्बों वाला हूँ', ऐसी ही प्रतीति हो जाती है। फिर कोई कहता है, 'अरे! तुम्हारे चेहरे पर तो कोई धब्बा नहीं है।' पहले तो हम यही कहते हैं, 'मुझे क्यों बेवकूफ बनाते हो! मैंने उस काँच में देखा है।' तब वह चूना लाता है, उस काँच के ऊपर लगाता है, फिर उसको कपड़े से साफ करता है। दाग चले जाते हैं, बिलकुल निर्मल काँच सामने आ जाता है। उसमें हम अपना चेहरा देखते हैं तो बिना धब्बे वाला दीखता है। तब पता लग जाता है कि 'मेरा चेहरा सर्वथा साफ है। काँच के धब्बों से ऐसा दीखा'। अपने चेहरे को साफ देखने के बाद किसी कारण से काँच पर कोई दाग आ भी गया तो यह भ्रम नहीं होता है कि 'मेरे चेहरे पर धब्बा है', क्योंकि जानते हैं कि काँच पर दाग है इसलिये ऐसा दीखता है। इसी प्रकार से मैंने अपने को हमेशा उपाधि से युक्त देखा, अतः जन्मवाला भी देखा और कारण वाला भी देखा। मेरा जन्म क्यों हुआ? कर्मफल-भोग के लिये हुआ। इस प्रकार अपना आदि, अर्थात् अपना कारण और अपना जन्म, दोनों दीखते हैं। कोई

ब्रह्मनिष्ठ तुमसे कहता है कि तुम जन्म और कारण से रहित हो। कहते हो 'ऐसा कैसे हो सकता है! हमको साक्षात् प्रतीति है। हमारे माँ बाप सब कहते रहे, 'तू छब्बीस जनवरी को पैदा हुआ था।' सब बेवकूफ हैं क्या?' वह आचार्य तुम्हारे मन-रूप काँच को कर्मोपासना के द्वारा साफ करता है। जब अंतःकरण साफ हो जाता है, तब तुमको उपाधिरहित अपना रूप प्रतीत होता है।

चित्त साफ करना विवेक के अभ्यास से भी हो सकता है और योगाभ्यास से भी हो सकता है। दोनों में से किसी से भी साफ हुए मन में हमें अपना जब स्वरूप दीखता है, तब पता लगता है कि मैं तो जन्म और कारण से रहित हूँ। वशिष्ठ जी ने भी कहा है कि योग और विवेक दोनों रास्ते हैं। इन दोनों में खास फ़र्क है कि योग में हम अशुद्ध चित्त वाली प्रतीति को 'यह है ही नहीं' ऐसा नहीं समझकर, उसे सचमुच में गलत मानकर सचमुच में ही चित्त को शुद्ध करते हैं। तब शुद्ध चित्त में हमें आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञान तो आत्मा का वैसा ही होता है जैसा वास्तव में आत्मा है, लेकिन हम उस ज्ञान के लिये शुद्ध चित्त पर निर्भर रहते हैं। अतः विक्षेप आने पर, व्यवहार दशा में हमें कार्यकारण का बंधन वास्तविक लगता है और हम चित्त को पुनः समाहित करने पर मज़बूर होते हैं। परन्तु जब विवेक मार्ग से चलते हैं तब यह निश्चय होता है कि अशुद्ध चित्त में जो प्रतीत हो रहा है, वह वस्तुतः नहीं है। अतः चित्त शुद्ध होकर आत्मा के यथार्थ दर्शन के बाद अन्तःकरण के अंदर काम क्रोध आदि की प्रतीति होने पर भी, 'मैं कामी, मैं क्रोधी हो गया,' ऐसा निश्चय नहीं होता। दोनों उपायों में यह खास फ़र्क है। इसलिये पतंजलि ने कहा कि योग के फलस्वरूप *समाधि काल में* तुम अपने स्वरूप में स्थित होते हो। 'समाधिकाल में' कहने से पता चल जाता है कि व्यवहार काल में फिर हिलते हो। किन्तु विवेकी का हिलना होता नहीं क्योंकि वह जानता है कि 'कभी भी मैं ऐसा हो ही नहीं सकता।' यहाँ जो भगवान् ने 'वेत्ति' कहा उसका तात्पर्य ऐसे विवेकपूर्ण निश्चय से है जो चित्तस्थिति पर निर्भर नहीं है।

आगे भगवान् कहते हैं कि अज व अनादि मैं ही सारे लोकों का महेश्वर हूँ। अज्ञान और उसके कार्यों से रहित जो तुरीय रूप है, वह महेश्वर है। ऐसा जो अपना स्वरूप है उसे जानना है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति - यह सारा अज्ञान का कार्य है। मेरी उपाधि जाग्रत् काल में इन्द्रियों के साथ है। जाग्रत् काल के अंदर हमेशा इंद्रियों से हम विषयों को ग्रहण करते हैं। इंद्रियों की उपाधि वाला तब मैं बाह्य विषयों को देखता हूँ। जब इंद्रियों की उपाधि हट गई, केवल चित्त और उसके संस्कारों की उपाधि रह गई, तब बिना इंद्रियों के ही स्वप्न देखता हूँ। चश्मा तो टेबल पर ही पड़ा रहता है और स्वप्न में सब चीज़ें साफ दीखती हैं। ऐसा नहीं होता कि चश्मा भूल आया हूँ इसलिये सपना साफ नहीं दीख रहा! बिना इंद्रियों के केवल अन्तःकरण से ही स्वप्न दीख जाता है। है तो अन्तःकरण भी आत्मा से बाहर, पर बाह्य विषयों की अपेक्षा उसको अंदर

मानकर कह देते हैं कि स्वप्न-काल में अंदर ही अनुभव होता है, बाहर का अनुभव नहीं। फिर जब गहरी नींद में जाता हूँ, तब मन से भी, अन्तःकरण से भी रहित हो जाता हूँ। इन तीनों का ईश्वर कौन है? मैं ही हूँ। इंद्रियों को चलाने वाला कौन? मैं। स्वप्न में मन के द्वारा देखने वाला, मनको चलाने वाला कौन? मैं। सुषुप्ति के अंदर इन उपाधियों से रहित रहने वाला कौन? मैं। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं का ईश्वर मैं। पर वस्तुतः तीनों उपाधियों के बदलने पर भी इनसे नहीं बदलता हूँ, इसलिये इन तीनों से अस्पृष्ट मैं हूँ। यह मेरा तुरीय अर्थात् महेश्वर रूप है। ज्ञान और अज्ञान के सब कार्यों से रहित अपना महेश्वर रूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों देखे जाते हैं, अनुभव का विषय बनते हैं। इन सबका महेश्वर मैं हूँ।

जो इस प्रकार अपने अंदर स्थित वासुदेव को जान लेता है, 'स मर्त्येषु असम्मूढः'। मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा, जो अपने को मरने वाला मानते हैं। सारे ही प्राणी, विशेष करके मनुष्य, मर्त्त्य कहे जाते हैं। उन सब प्राणियों में यह तत्त्ववेता ही ऐसा है जो असम्मूढ है। उसका सम्मोह, अर्थात् अज्ञान के साथ सम्बंध समाप्त हो गया है। अज्ञान को मोह कहते हैं। अतः असंमूढ अर्थात् अज्ञानरहित। मूढ या मुग्ध व्यक्ति उसको कहते हैं जो वास्तविक चीज़ को नहीं जानता। मोह में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी भी वास्तविकता को नहीं जानता। तत्त्वज्ञ वास्तविकता को जानता है इसलिये सम्मोह-वर्जित है। अतः 'सर्वपापैः प्रमुच्यते', जितने पाप अनादि काल से हुए हैं, और अभी भी हो रहे हैं, उनसे छूट जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि एक पाप सबसे बड़ा है, वह होता है तो बाकी पाप होते ही रहते हैं। वह पाप क्या है? शुद्ध आत्मा को न जानना, उसकी जगह दूसरी चीज़ों को जानना।

'योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किन्तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा।।'

आत्मतत्त्व को न जानना ही मानो आत्मतत्त्व का तुमने अपहरण कर रखा है। तुमने आत्मा को चुरा लिया, इसलिये सारे पाप तुमने कर लिये। आत्मा का स्वरूप तो सच्चिदानंद है। उसको जन्म और मरण वाला मान लेते हो, अतः सारे पाप कर लिये। क्योंकि सारे पाप तभी तक किये जाते हैं जब तक आत्मा का स्वरूप नहीं जानते। आत्मा का स्वरूप न जान कर सारे पाप किये गये, आत्मा का स्वरूप जानते ही पता लगता है कि आजतक कुछ भी नहीं किया गया! ज्ञात अज्ञात सारे ही पाप किये ही नहीं गये। - यह स्पष्ट अनुभव हो जाता है। प्रायश्चित्त आदि द्वारा भी पाप मिटते हैं, पर सभी पाप नहीं मिटते और नये पापों की सम्भावना खुली ही रहती है। परंतु ज्ञान से तो अनादि काल से लेकर जितने भी पाप हुए हैं उन सब का सम्बंध कभी हुआ ही नहीं - यह समझ आ जाता है। इसलिये 'प्रमुच्यते' कहा। ऐसे प्रकर्ष से मुक्त होता है कि फिर कभी उसकी सम्भावना भी नहीं।

अज और अनादि में पुनरुक्ति का भ्रम हो सकता है अतः इन्हें स्पष्ट समझना ज़रूरी है। भाष्यकार ने अनादिता को अजरूपता में हेतु बताकर इनका अन्तर स्पष्ट किया है। अर्थात् अनादि होने से ही अज है। आत्मा का कोई कारण न होने से ही वह जन्मरहित है। जिस चीज़ का कारण होता है, वही कारणाकार को छोड़ कर कार्याकार लेगी। कारणाकार को छोड़कर कार्याकार लेना - यही जन्म है। जब तक हम गर्भरूप में थे, तब तक कारणरूप में थे, अप्रकट थे। जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है क्योंकि मिट्टी में घड़ा है पर प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रकट नहीं है, मिट्टी को चाक पर चढ़ा दिया तो घड़ा प्रकट हो जाता है; इसी प्रकार मैं माता के पेट में था तो किसी को प्रकट नहीं था, कैसा हूँ क्या हूँ यह किसी को मालूम नहीं था। जैसे ही बाहर आया, सब के लिये प्रकट हो गया। इसलिये उसको जन्म माना जाता है। माता के पेट में कारणरूप से था, अतः कार्यरूप से बाहर प्रकट होता हूँ। जो कारणरहित है वह कारणरूप से कभी है ही नहीं तो कार्यरूप कभी बनेगा नहीं। कारण से कार्य बनता, तभी उसका आदि होता। अतः कहा कि अनादि होने से ही अज है। कार्य-कारण-भाव से रहित होने से ही वह स्वरूपतः जन्महीन है।।३।।

देवता और महर्षियों की उत्पत्ति से बाह्य जगत् को अपने से उत्पन्न बतलाया। अब भगवान् कहते हैं कि केवल बाह्य जगत् ही नहीं, आन्तर जगत् भी मुझसे ही पैदा हुआ है। देवता और महर्षि जैसे पैदा हुए हैं, वैसे ही हमारा जो आन्तर-जगत् है, वह भी उस परमेश्वर से ही पैदा हुआ है। इस बात को समझ लेने से जैसे बाह्य जगत् के पदार्थों का बाध हो जाता है, वैसे ही आन्तर जगत् के पदार्थों का भी बाध होता है। जब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहते हैं तब 'इदम्' का मतलब केवल बाहर के पदार्थ नहीं, अन्दर होने वाले भी सारे पदार्थ आत्मा की दृष्टि से बाह्य ही हैं। महेश्वर ही सबको पैदा करता है। अन्यथा लोगों को एक शंका रह जाती है कि 'बाहर की चीज़ें तो परमात्मा ने पैदा की परंतु मन के काम क्रोध आदि तो हम ही पैदा करते हैं! अर्थात् आन्तर जगत् हमारा ही किया हुआ है'। इसीलिये, यदि किसी का पैर फिसल जाये, वह गिर जाये, तब ऐसी प्रतीति हो जाती है कि इसका प्रारब्ध दुःख का था तो गिरा है, उसके प्रति हमदर्दी भी होती है। परन्तु कोई आदमी आन्तरिक स्तर पर गिर पड़े अर्थात् काम-क्रोध आदि की चपेट में आ जाये तो प्रारब्ध की मजबूरी में गिरा - ऐसा नहीं लगता, वरन् उसने गलती की - यह निश्चय होता है। किसी के प्रति तुम्हारे मन में हिंसा की भावना आ गई; उसने गाली दी, तुम्हें गुस्सा आ गया। सब कहते हैं 'गुस्सा नहीं करना चाहिये।' जैसे पैर फिसला, वैसे गुस्सा आया। किंतु चूंकि लोग समझते हैं कि बाह्य जगत् तो परमेश्वर ने किया, परन्तु आन्तर जगत् हम ही करने वाले हैं, इसलिये पैर फिसलने व गुस्सा करने को समकक्ष नहीं मान पाते। ऐसी विचारधारा वाले लोग दो प्रकार के कारण मान लेते हैं : बाह्य जगत् का कारण तो प्रकृति या माया है

और आन्तर जगत् का कारण अविद्या है। वर्तमान में एक सम्प्रदाय है जो मोक्षमार्ग के बारे में कहता है कि मान लो एक जेल है, उसमें एक कोठरी है। तुम कोठरी में बंद हो, कोठरी खोल दी गई, इतने-मात्र से तुम जेल से बाहर नहीं हो जाओगे। क्योंकि जिस जेल मे बंद हो उसका तो दरवाज़ा सांकल से बंद किया गया है। ऐसे ही यदि बाहर का दरवाज़ा खोल भी दिया जाय परन्तु तुम्हारी कोठरी को न खोला जाये, तो भी तुम बाहर नहीं निकल सकते हो। इसी तरह से तुम्हारी अविद्या एक ताला है जिससे ये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि होते हैं; इनके द्वारा भी बंद हो। दूसरा बाहर का ताला भी बंद है; सारे जगत् को देखते हो, इससे व्यवहार करते है, यह दूसरा माया का बंधन है। यदि केवल तुम्हारी अविद्या हटी, और माया बनी रही तो भी बन्धन रहेगा ही। बहुत-कुछ ऐसा ही सांख्यवादी भी कह देते हैं। किंतु सांख्यवादी मानते हैं कि प्रकृति *सामने* से हट जाती है। ये आधुनिक लोग ऐसा भी नहीं मानते। सारा बाह्य जगत् तुम्हारे अनुकूल हो जाये, पर तुम्हारी अविद्या नहीं हटी, तो भी बन्धन रहेगा। और केवल तुम्हारी अविद्या हटे, तो भी बाहर के संसार का बंधन रह जायेगा। इसलिये दोनों हटें - यह ज़रूरी है। बाह्य जगत् के बंधन को हटाने के लिये कुछ लोग योग को उपाय बतलाते हैं, जिससे बाह्य जगत् की तुमको प्रतीति न होवे। कुछ लोग भगवद्भक्ति को उपाय बतलाते हैं कि तुम्हारा बाहरी बंधन भगवान् हटा देंगे परन्तु अंदर के जो दोष हैं इनको तो तुम ही हटाओगे। ऐसे किसी भी भ्रम को दूर करने के लिये भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जैसे बाह्य जगत् माया का खेल है वैसे ही तुम्हारा आन्तर जगत् भी माया का ही खेल है। -

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।

समझ, जानकारी, सही गलत की पहचान, सहिष्णुता, सच, इंद्रियों पर व मन पर नियन्त्रण, आह्लाद, सन्ताप, उत्पत्ति, नाश, डर, निडरता (-सब मुझसे ही होते हैं)।

इस श्लोक का अगले श्लोक के साथ अन्वय है; 'भवन्ति भावाः'। कौन-कौन से भाव? यह बताना प्रारंभ किया 'बुद्धिः' इत्यादि से।

'बुद्धि' - अन्तःकरण के अंदर जो विवेक करके सूक्ष्म वस्तु को देखने की सामर्थ्य है। स्थूल चीज़ आँख से देखने पर भी सूक्ष्मता के दर्शन के लिये बुद्धि चाहिये। हीरा कितना ऊँचा है, कितना लम्बा-चौड़ा है। - यह सब तो स्थूल दृष्टि से सभी को दीखता है। पर यह हीरा दस लाख का है, या एक लाख का है, यह जौहरी को दीखता है, हम लोगों को नहीं दीखता। दीखता उसे भी आँख के द्वारा ही है, लेकिन जिसने दीर्घकाल तक हीरों की परख का संस्कार पैदा कर लिया है, उसको दीखता है। सूक्ष्म में भी कई भेद होते हैं। इसलिये आचार्य ने 'सूक्ष्म आदि अर्थ समझने की सामर्थ्य'

को बुद्धि कहा। 'सूक्ष्म आदि', यहाँ आदि मायने, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। हीरे की परख करने वाले भी सब एक जैसे नहीं होते हैं। हीरा जैसी चीज़ के बारे में यह बात है तो शास्त्र की सूक्ष्म चीज़ों को समझने में बुद्धि की आवश्यकता का क्या कहना! शास्त्र का स्थूल अर्थ तो सब समझते हैं, लेकिन जिनके अंदर शास्त्र को समझने के संस्कारों का अच्छी प्रकार से आधान हो गया है। वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम जो अर्थ हैं उन सबको स्पष्ट समझ पाते हैं। ज्ञान तो उनको भी उन्हीं शब्दों से होता है; जैसे उस हीरे की मणि से ही ज्ञान जानने वाले को भी होता है, नहीं जानने वाले को भी होता है, इसी प्रकार यहाँ भी शब्द दूसरे नहीं हैं, शब्द वे ही हैं। स्थूल बुद्धि वाले को स्थूल अर्थ ही ग्रहण होता है, सूक्ष्म अर्थ ग्रहण होता नहीं। जितने-जितने संस्कार होंगे उतने-उतने सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, सारे अर्थ ग्रहण होंगे। जो इस प्रकार सूक्ष्मतम चीज़ों तक पहुँच सकता है, उसी को लोक में बुद्धिमान् कहते हैं। सभी संस्कार सभी में नहीं हैं। सुनार सोने की परीक्षा खूब जानता है। लुहार, लोहे की परीक्षा खूब जानता है। प्रयत्न करके लुहार ऐसा लोहा बना सकता है जो सोने से भी मँहगा है। घड़ी के अन्दर एक स्प्रिंग होता है, जो घड़ी के ऊपर अपना नियंत्रण रखता है। यदि तोल के हिसाब से देखो तो वह सोने से भी, प्लेटिनम से भी मँहगा पड़ता है। किंतु उस की विशेषता घड़ीसाज ही समझ सकता है। जौहरी नगों को जानता है। इसी प्रकार जो शास्त्र-वेत्ता है वह शास्त्र को जानता है। अतः उसके द्वारा प्रकट किये अर्थों को देख करके कई बार जो स्थूल बुद्धि वाले होते हैं, वे ना-समझी से विस्वल हो जाते हैं। जैसे कोई हीरे वाला कहता है, 'यह दस लाख का है, दूसरा पाँच लाख का है'। अनजान को तो दोनों एक जैसे दीखते हैं अतः कह देता है 'ये तो सब इनकी बातें हैं जी, क्या फर्क हैं दोनों में? बिल्कुल एक जैसे हैं।' किंतु रहेगा दस लाख वाला उतने का ही, अनजान को समझ न आने से उसकी कीमत कम नहीं होती है। इसी प्रकार से जो शास्त्र के संस्कारों से रहित होते हैं, कहते हैं कि 'बात तो सीधी है, ये लोग उसे लम्बी चौड़ी बिना मतलब के बढ़ाते रहते हैं।' ऐसे अनजानों को न समझ आने से बुद्धिमानों द्वारा बताये सूक्ष्म आदि अर्थों का महत्त्व घट नहीं जाता। जैसे जिसे सोना चाहिये वह भरोसेमंद सुनार पर विश्वास करके ही खरीदेगा, अपनी समझहीन बुद्धि पर निर्भर होकर सौदा नहीं कर लेगा, वैसे जिसे शास्त्र का तात्पर्य समझना है वह शास्त्रीय समझ वाले पर श्रद्धा करके ही अध्ययन करेगा, ना-समझी पर भरोसा नहीं करेगा। सभी विषयों की बुद्धि किससे आती है, भगवान् ने कहा - मुझ लोकमहेश्वर से ही आती है। जो सच्चिदानंद परमात्मा अपने अन्दर बैठा हुआ है, उसके कारण ही बुद्धि है।

'ज्ञानम्', ज्ञान अर्थात् किसी भी चीज़ का अवबोध, वस्तु ठीक कैसी है इसको जानना। आत्मादि पदार्थों का भी यथावत् ज्ञान कि आत्मा का स्वरूप यही है, अनात्मा का स्वरूप यही है, इस प्रकार से अवबोध होना भी परमात्मा, लोकमहेश्वर ही करता

है। जब परमेश्वर ज्ञान न कराये तब जो चीज़ जैसी है वैसी समझना मुश्किल हो जाता है, असम्भव हो जाता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी, परमात्मा की कृपा न होवे तो अवबोध हो ही नहीं पाता।

'असम्मोहः', जो पदार्थ सामने है उसके बारे में विवेकपूर्वक निर्णयकर प्रवृत्ति होना। सर्वथा वही चीज़, सर्वथा वही परिस्थिति तो दुबारा आती नहीं है। जिसके अंदर असम्मोह नहीं होता वह हर नई परिस्थिति में सोचता है 'अब क्या करें?' गणित पढ़ाते समय हर अध्याय में कुछ नियम समझाये जाते हैं और फिर पचास-साठ प्रश्न हल कराते हैं। आजकल मातायें ठीक से सोचती नहीं। जब लड़के को सवाल नहीं आता है तो माँ उसको बतलाती है कि 'इसको इससे गुणा करो और इतना इसमें से घटा दो।' लड़का कर लेता है, जवाब सही आ जाता है। परन्तु लड़के का क्या नहीं गया? सम्मोह नहीं गया, 'ऐसा क्यों किया गया' यह उसकी समझ में आया नहीं। अगर ठीक वैसा ही सवाल आ जायेगा परीक्षा में, तब तो उत्तर लिख देगा, और थोड़ा इधर-उधर करके दूसरे ढंग से प्रश्न पूछ लिया, तो उसे पता नहीं कि क्या करना है। किंतु सब प्रकार से जिसकी समझ में ठीक आ गया है, कैसा ही घुमावदार प्रश्न होगा, उसकी उसमें विवेकपूर्वक प्रवृत्ति हो जायेगी, कि ऐसा करना है। परिस्थिति तुमको इतना समय नहीं देती कि तुम बैठ करके चार घंटे के बाद निर्णय करो कि क्या करना है। जैसे परीक्षा में इतने सवाल तुमको तीन घंटे में पूरे करने होते हैं, इसी प्रकार जीवन में हर परिस्थिति जब सामने आती है तब थोड़ी ही देर में उससे व्यवहार कर लेना पड़ता है, ठीक करो या गलत करो। व्यवहार रुकेगा नहीं। मोटर चला रहे हो, गर्मी का मौसम है, सड़क के ऊपर पानी दीखा। वह सच्चा पानी है या मृगमरीचिका है - इसका निर्णय करने के लिये लम्बा समय नहीं मिलेगा। उसी समय तुमको निर्णय कर लेना है। जिनमें असम्मोह नहीं होता है उनका कहना रहता है, 'मैं ठीक कर लेता लेकिन क्या करूँ 'समय पूरा नहीं मिला'। दो घंटे बाद उनको समझ में आता है, 'ऐसा करता तो ठीक होता।' लेकिन दूसरी बार ठीक वही घटना तो होनी नहीं है, कुछ-न-कुछ बदल जायेगा, तो फिर वह निर्णय कर नहीं पायेगा। यह असम्मोह भी भगवान् से ही पैदा होता है।

'क्षमा', कोई तुमको मारे, अथवा कोई तुम्हारे ऊपर गुस्सा करके कुछ बोले, सभी परिस्थितियों के अंदर चित्तवृत्ति में कोई विकार न आना। कोई गाली देता है तो सुनकर विकार आता है। कोई थप्पड़ मारता है तो भी विकार आता है। क्षमा का मतलब है, ऐसी परिस्थिति में विकार का न आना। उर्दू का 'माफ़ी' शब्द इसके लिये प्रयोग करते हैं, लेकिन वह क्षमा के वास्तविक अर्थ को नहीं बतलाता। 'तुम्हारा अपराध है, तुमको दण्ड देना चाहिये, पर नहीं दे रहे'- तो माफ़ी है। परन्तु क्षमा के अन्दर चित्त के अन्दर विकार ही नहीं आता है। ठीक जिस प्रकार से बैंक से हमने लाख रुपये का उधार लिया, उसे चुकाते हुए बैंक में हमने बीस हज़ार जमा कराये। हमारे खाते में एक

धेला भी नहीं चढ़ाया जाता, तब क्या यह विकार आता है कि 'अरे यह बैंक मैनेजर चोर हो गया है, मैंने जमा कराया, यह खा गया, जमा ही नहीं किया'? तुम जानते हो कि जमा करने से उधार में कमी हो गई, तुम्हारे खाते में वह जमा कहाँ से होगा! इस ज्ञान के कारण ही चित्त अविकृत रहता है। इसी प्रकार से मुझे गाली सुनाई दी या मुझे थप्पड़ का अनुभव हुआ। मेरे पिछले पापों का उधार इतना घट गया। इस बात को जानने वाले का चित्त अविकारी रहेगा। और जो इस बात को नहीं जानता है कि मेरे पाप का उधार वसूल हो गया, वह विकृत चित्त वाला हो जाता है कि इस आदमी ने मेरा अपमान कर दिया, इस आदमी ने मुझे पीट दिया। इस प्रकार की क्षमा भी लोकमहेश्वर से ही होती है।

'सत्यम्', सत्य का अर्थ है-

'यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य च आत्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथैव उच्चार्यमाणा वाक्'। जैसा हमने अनुभव किया है वैसा ही दूसरे समझें इसके लिये कही बात सच है। चतुराई से ऐसा कहना जो सच सिद्ध किया तो जा सके, पर जिसे सुना रहे हैं, उसे गलत ही ज्ञान कराये, सत्य नहीं है। जो कहते समय भी यह जानता है कि सामने वाला ठीक नहीं समझेगा, पर उस ढंग से कहता है, वह अपने मन में समझता है कि सत्य बोल दिया क्योंकि अगर उसको कोई चुनौती देगा तो वह कहेगा 'मेरा मतलब तो यह था,' पर उसका कहा सत्य की कोटि में नहीं है। कही बात ठीक होवे इतना ही नहीं, दूसरा उस बात को वैसा ही समझे इस प्रयत्न से बोलना सत्य है। प्रयत्न करने पर सामने वाला नहीं समझे, वह बात दूसरी है, पर तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिये कि बात जैसी मैंने सुनी, अनुभव की है वैसी ही श्रोता समझे। जैसे प्रत्यक्ष अनुभव की बात, वैसे ही 'मैंने बात जैसी सुनकर समझी है, वैसी ही उस बात को दूसरा समझे', इस दृष्टि से कहना सत्य है। सुनी हुई बात को भी लोग इस प्रकार से कहते हैं कि सामने वाला कुछ का कुछ समझे, तब सत्य का व्यवहार नहीं माना जा सकता।

'दमः', इंद्रियों का शांत होना। इंद्रियों का अपने वश में हो जाना दम है। इंद्रियों के ऊपर अभी तुम्हारा *ही* वश नहीं है, तुम्हारा भी वश है, और मन का भी वश है। तुम बैठे ध्यान करने के लिये, अतः तुम तो चाहते हो कि श्री कृष्ण की मूर्ति सामने रहे मन में। ज़ोर से बिजली चमक गई, तो आँख अपने आप ही मूर्ति को छोड़कर उस बिजली की चमक को देख लेती है! तुम तो ध्यान करना चाहते हो, पर मन जानना चाहता है कि 'क्या हुआ, क्या चीज़ है! ऐसा न हो कि बिजली की चिंगारी हो और कहीं आग लग जाये'! तुम तो बैठे हो ध्यान करने के लिये पर इंद्रिय मन के भी वश में है, अतः तुम्हारे न चाहने पर भी प्रवृत्त हो जाती है। जब इंद्रियाँ तुम्हारे वश में हो जाती हैं तब चूंकि तुम जानते हो कि सारा संसार प्रतीतिमात्र है, कुछ भी देखने लायक कहीं है ही नहीं, इसलिये आँख बाहर प्रवृत्त नहीं होगी। जब तक संसार को व्यावहारिक

सत्य समझेंगे तब तक सोचेंगे कि 'मिथ्या तो ठीक है, परंतु बिजली के तार में चिंगारी उठ रही है या नहीं - यह तो देखें ही'। परंतु जब परमात्मा की वास्तविकता समझ लेते हो तब तुम्हारे अन्दर भाव आता है, तुम जानते हो कि 'सारा आबू जल जाये तो भी मेरा कुछ नहीं जलता!' जनक की उक्ति प्रसिद्ध है कि 'सारा मिथिला राज्य जल जाये तो भी मेरा कुछ भी नहीं जलता है।' है एक आत्मा, वह न जल सकता है, न सूख सकता है; कोई भी क्रिया उसके साथ नहीं हो सकती। और जो नहीं है, उस अनात्मा का जलना भी, जलना नहीं है। इस निश्चय से ही बाह्य इंद्रियों का उपशम हो जाता है। वे फिर मन के कारण प्रवृत्ति नहीं करतीं, सर्वथा शान्त हो जाती हैं। यदि संसार में कहीं कुछ है तो इस उपशम की प्रप्ति नहीं होगी।

जैसे बाह्य इंद्रियों का उपशम, वैसे ही 'शम', अर्थात् आन्तर इंद्रिय का भी शांत हो जाना। (भाष्य में 'दमो बाह्येन्द्रियोपशमः, शमोऽन्तःकरणस्य' कहा है, वहाँ 'उपशमः' इस अंश का बाह्येन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों से सम्बंध है।) इस प्रकार के शम व दम की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान होने पर निश्चय होता है कि 'सारा संसार है ही नहीं, प्रतीतिमात्र है। जब जो प्रतीति होनी है, हो जाती है। उसमें तुमको कुछ करना-धरना है नहीं।' तब न तुमको मन से कुछ सोचना पड़ता है, न इंद्रियों से कुछ प्रवृत्ति करनी पड़ती है। यह उपशांति उस लोकमहेश्वर से ही होती है।

सब कुछ परमात्मा से होता है सुनकर प्रश्न उठ सकता है, कि यदि सारे भाव परमात्मा से उठते हैं, सब कुछ परमात्मरूप है, तो सम्मोह आदि भी उन्हीं से उठते हैं, परमात्मा से अपने को अलग समझना यह भी उन्हीं से उठता है। तब जीव का क्या कर्त्तव्य रह जाता है? क्या ज्ञातव्य रह जाता है? यदि सब कुछ वह कर रहा है, तो रावण जो कर रहा है वह भी परमेश्वर कर रहा है! फिर न हमारा कुछ कर्त्तव्य है, और न कुछ हमारा ज्ञातव्य है। न कुछ हमारे करने के योग्य है, न कुछ हमारे जानने योग्य है। यदि कर्त्तव्य और ज्ञातव्य नहीं है, तो वेद जो केवल धर्म और ब्रह्म दो का ही प्रतिपादन करता है, वह किसको उपदेश कर रहा है? क्या सारा ही वेद व्यर्थ है? इसके उत्तर में पहले समझ लेना चाहिए कि कर्त्तव्य और ज्ञातव्य की जिज्ञासा यह मान कर है कि 'मैं कर्त्ता और मैं ज्ञाता हूँ'। अतः यह भ्रम जब तक है तभी तक के लिये वेद का उपदेश है। इसीलिये विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि सारे प्रश्न और उत्तर अज्ञान-अवस्था में हैं, द्वैत की भाषा में हैं। जो इस बात को समझ गया कि सब परमात्मरूप है, उसके लिये न कोई प्रश्न है, न उसके लिये उत्तर है। जो नहीं समझा है उसे 'मानो यह समझ सकता है,' ऐसा मानकर उपदेश दिया जाता है। यह बिलकुल ठीक है कि समझ आयेगा परमात्मा की कृपा से ही, उसकी कृपा के बिना तुम कुछ भी करने और जानने में स्वतंत्र नहीं हो, यह बात बिलकुल ठीक है; परन्तु यह जब तक तुम्हारा अनुभव हो नहीं गया है तभी तक तुम्हारा कर्त्तव्य-ज्ञातव्य का प्रश्न है, अनुभव के बाद प्रश्न ही नहीं होगा।

और जब तक भ्रम-काल में कर्त्तव्य और ज्ञातव्य की जिज्ञासा है तब तक भ्रम-काल का ही उपदेश है, कि ऐसा करो, ऐसा जानो। अधिष्ठान की दृष्टि से जब देखते हैं, तब न प्रश्न है, न उत्तर है। जिस-अज्ञान अवस्था में प्रश्न है, उसी अज्ञान अवस्था में उसका उत्तर भी होगा। ऐसे समझ लो : सपने की प्यास झूठी है। खूब अच्छी तरह से पानी पीकर सोये हो, और सपने में देखते हो 'मैं प्यासा हूँ'। अतः सपने की प्यास झूठी है। पर यदि सपने में पूछते हो, 'प्यास लगी है, क्या करूँ?' तो सपने में जवाब होता है 'कुएँ से पानी निकाल कर पी लो।' कुआँ, कुएँ का पानी निकालना, सब ठीक वैसा ही असत्य है, जैसी प्यास असत्य है। पर झूठी प्यास को मिटाने के लिये झूठे पानी को पीने के लिये ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार अज्ञानावस्था के प्रश्नों का उत्तर उसी अवस्था में वेद देता है। इसीलिये अतिधन्यवेद संसार का एकमात्र ग्रंथ है, जो स्वयं ही कहता है, 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' उस स्थिति को प्राप्त करके वेद, वेद नहीं रह जाता; क्योंकि अज्ञान निद्रा से उठ चुकने पर वेद जिस कर्त्तव्य और ज्ञातव्य का उपदेश देता है, वह तुम्हारे लिये व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार, सब कुछ परमात्मा से होने पर भी अज्ञान रहने से हमारे लिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद रहता ही है।

'सुखं', 'ख' का अर्थ संस्कृत के अन्दर इंद्रियाँ भी होता है। जैसे कठोपनिषद् में कहा कि 'ब्रह्माजी ने बाहर जाने वाले 'ख' बनाये', वहाँ ख मायने इंद्रियाँ। 'सु' मायने अच्छा। इंद्रियों को जो अच्छा लगता है, उसको ही हम सुख समझते हैं। हमारे किये हुये जो पहले के कर्म हैं, उनमें से जब पुण्य कर्म सामने आता है तब इंद्रियों को अच्छा लगने वाला अनुभव होता है। और 'दुःख'; 'ख' मायने इंद्रियाँ, 'दुः' मायने बुरा। इंद्रियों को जो बुरा लगता है वह दुःख है। हमारे पाप कर्म का फल जब परमात्मा देते हैं, तब इंद्रियों को बुरा लगने वाला अनुभव होता है। चूँकि कर्म का फल देने वाला परमात्मा है, इसलिये उसीसे ये दोनों आते हैं। सुख और दुःख ये दोनों ही अनुभव परमात्मा से आते हैं। हमारे कर्मफल के रूप में आते हैं, परन्तु देने वाला परमात्मा ही है। जैसे हमने महीने-भर काम किया, उसके बाद एक तारीख को मालिक हमें वेतन देता है। यह ठीक है कि हमारे कर्म की मज़दूरी दे रहा है, परन्तु दे तो वह रहा है। इसलिये जो वेतन देता है उस मुनीम की खुशामद नौकर विशेषतः करता है। भले ही वह स्वयं किसी के अन्तर्गत हो या खुद भी राज्य आदि का कर्मचारी ही हो, पर प्रत्यक्ष में देता हुआ वही दीखता है अतः उसका महत्त्व प्रतीत होता है। इसी प्रकार से सभी कर्मफल देने वाला परमात्मा है। परमात्मा *ही* दे रहा है - इस अनुभव से शान्ति बनी रहती है। इस व्यक्ति ने या इन मच्छरों ने हमें नहीं काटा, हमारे पहले के पाप कर्मों को कम करने के लिये परमेश्वर ने ही मच्छर के द्वारा हमें कटवाया है। किस लिये कटवाया है? हमारे पाप कर्म को कम करने के लिये। ठीक जिस प्रकार से छोटा बालक बाहर खेल कर धूल से लिपटा आया, माँ उसको नहलाती है, साबुन लगाती है। बच्चे को कितना दुःख होता

है, हाथ-पैर मारता है, रोता है, चिल्लाता है, परन्तु माँ उसको छोड़ती नहीं है। खूब अच्छी तरह से नहला देती है, शरीर पोंछ देती है, फिर तेल लगा देती है, नये कपड़े पहना देती है, फिर छाती से चिपका कर चूमती है, चुप करा देती है। दुःख देने की नीयत से माँ ने वह सब नहीं किया परन्तु वह नहीं करने से उसके शरीर का मैल नहीं जाता, इसलिये किया है। इसलिये बड़े होकर जब याद आता है तो माता के प्रति मन में भाव आता है कि देखो! माता ने कितना कष्ट सहकर मुझे बड़ा किया। इसी प्रकार अध्यापक अगले दिन पूछता है 'कल क्या पढ़ाया था?' जो बच्चा ठीक याद नहीं करता उसको कह देता है, 'जाओ पहले इसको रट कर आओ', पहाड़ा सुनाओगे, तब पढ़ायेंगे। तब तक घर नहीं जा सकते।' उस समय तो लगता है कि 'मुझे कितनी. कठिनाई में अध्यापक डाल रहा है।' पर जब जीवन में गणित के ज्ञान से सुविधा होती है तब मन में आता है कि अध्यापक ने बहुत अच्छा पढ़ाया। ठीक इसी प्रकार से जब तक हम अविचार दशा में हैं तब तक लगता है कि भगवान् हमारे ऊपर कितना दुःख ला रहा है। पर जो इस तरह की उपासना करने वाला है वह इस बात को समझता है कि हमारे पाप कर्मों को हटा कर हमें शुद्ध बनाने के लिये ही परमात्मा हमें दुःख दे रहा है। सुख तो प्रायः परमात्मा की कृपा है यह आदमी की समझ में जल्दी से आ जाता है। परन्तु दुःख भी परमात्मा की कृपा है, यह विचार करने से समझ में आता है।

'भवः', कोई भी चीज़ जो उत्पन्न होती है, उसे उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही है। बीज हम बोते हैं। वह बीज आगे पेड़ बनने लिये कितनी-कितनी प्रक्रियाओं में से निकलता है! कौन उसको बड़ा करता है? परमात्मा ही बड़ा करता है। इसी प्रकार से अपने बच्चों के लिये हम प्रयत्न करते हैं, परन्तु सचमुच में वे बड़े परमात्मा की कृपा होती है, तभी होते हैं। बच्चों को हम शिक्षा देते हैं। तीन बच्चे हैं, दो तो शिक्षा में आगे बढ़ जाते हैं और एक पढ़ नहीं पाता। हम तो तीनों के लिये एक जैसा ही प्रयत्न करते हैं। अतः केवल हमारा प्रयत्न करना ही कारण नहीं है, परमात्मा की कृपा कारण है ही। उपासक हमेशा इस बात को सामने रखता है कि सभी प्रकार की उत्पत्ति, उन्नति के लिये परमात्मा ही कारण है। 'अभावः', चीज़ों का अभाव, समाप्ति, हट जाना भी परमेश्वर से है। कई चीज़ों का अभाव तो हमको भगवान् की कृपा झट लग जाती है, 'छह महीने से मेरी कमर में इतना दर्द था, उठा नहीं जाता था, भगवान् की कृपा से ठीक डाक्टर मिल गया, अब मैं ठीक हो गया।' रोग दूर हो जाता है तो हमें लग जाता है, कि भगवान् की कृपा है। परन्तु जब हमने एक बैंक में खाता खोला, वहीं दो लाख रुपये जमा कराये, बैंक डूब गया। वहाँ भी रुपया चला गया, अच्छा ही हुआ। लेकिन वह भगवान् की कृपा नहीं लगती। उल्टा लगता है कि भगवान् क्यों हमसे गुस्सा हो गये? उपासक इस बात को जानता है कि यह भी भगवान् की कृपा ही है। जैसे दुःख को भगवान् की कृपा समझा था, वैसे ही अभाव भी भगवान् की कृपा से ही है।

'भयम्' किसी भी अनिष्ट की सम्भावना से जो होता है, वह भय, डर। अनिष्ट के आने पर तो दुःख होता है, परन्तु अनिष्ट की सम्भावना से भय होता है। शेर आया, सामने आकर के दहाड़ा, तब भय होता है। जब उछल कर हमारी गर्दन को अपने दाँतों में दबा लिया, तब दुःख होगा। 'आश्रम के भीतर तक भालू आ जाता है' इस ज्ञान से भय लगता है कि 'अच्छा, यहाँ तक आ जाता है!' यही त्रास है। न भालू को देखा है, न भालू ने पकड़कर मारा है। लेकिन उसकी सम्भावना से जो होता है वह भय है। भय परमात्मा की कृपा इसलिये है कि आने वाले दुःख से बचाव का तुमको मौका दे देता है। एक रोग होता है, जिसमें मनुष्य को दर्द की अनुभूति नहीं होती। चाहे हड्डी टूट जाये, उसको कोई दर्द नहीं होता है। लोग समझते हैं कि बड़ी अच्छी बात है कि सिरदर्द नहीं है, पेटदर्द नहीं है, कोई दर्द नहीं हैं। किंतु डाक्टर उससे कहता है, 'बड़े सावधान रहना।' क्योंकि अगर वह गिर जायेगा, उसकी हड्डी टूट जायेगी, तो भी पता नहीं लगेगा। रोग बहुत बढ़ जायेगा। फिर उसकी चिकित्सा भी मुश्किल हो जायेगी। ऐसे रोग वाले को कहीं गहरी खरोंच लग जाती है, खून निकल जाता है, दर्द नहीं होता तो उसको पता ही नहीं लगता। यद्यपि सामान्य रूप से लगता है कि भय तो बुरी चीज़ है, लेकिन बुरी चीज़ नहीं है क्योंकि वह तुमको आने वाले दुःख से बचने का मौका दे देता है। उससे विपरीत है 'अभयम्'; अगर बच्चे को पता है कि पिता जी साथ हैं, तो जैसे ही बच्चे में भय भावना होती है, वह झट जोर से पिता के हाथ को या कपड़े को पकड़ता है और उसको पकड़ने के साथ ही उसका भय चला जाता है। इसी प्रकार से 'सभी भयों की परिस्थिति में परमात्मा हमारे साथ है अतः हम बचेंगे ही।' यह जो अभय का भाव है, यह परमात्मा की संनिधि का अनुभव करने से होता है। जैसे बच्चे ने कोई चीज़ देखी तो भय होता है लेकिन जैसे ही हाथ लगा कर उसने देखा कि पिता जी हैं, बस निर्भय हो गया; इसी प्रकार भय की परिस्थिति आते ही जो इस बात को समझ सकता है कि परमात्मा हमारे साथ हमको बचाने वाला है, वह अभय हो जाता है। यहाँ बताये सब आन्तरिक भाव हैं जो भगवान् से ही उपजते हैं ।।।४।।

और भी कहते हैं -

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

अहिंसा, सन्तुलितमनस्कता, सन्तोष, कष्ट सहना, दान, सत्कीर्ति, अपकीर्ति - (बुद्धि आदि ये सभी) नाना प्रकार के भाव प्राणियों में (उनके कर्मानुसार) मुझसे ही होते हैं।

अहिंसा- किसी भी प्राणी को कष्ट न हो ऐसा शरीर से, इंद्रियों से और मन से प्रयत्न करना। यह कायिक भी है, वाचिक भी है, मानसिक भी है। तीनों से ऐसा व्यवहार करना कि किसी भी प्राणी को पीडा न हो, कष्ट न हो, अहिंसा है। सामान्य

भाषा में अहिंसा का अर्थ केवल होता है किसी को जान से नहीं मारना। एक सज्जन के घर में चोर आ गया। कोई जगा हुआ था। उसने देख लिया, हल्ला मचा दिया, चोर पकड़ा गया। चोर के पकड़े जाने पर स्वाभाविक है, घरवालों को गुस्सा आया। बच्चे उसको पीटने लगे। तब तक दादा जी आ गये। पिटते देखा तो उन्होंने कहा 'अरे! ऐसा नहीं करो। किसी को पीटना नहीं चाहिए, बुरी बात है। ऐसा करो, इसको बोरे में बन्द करके, बोरा सील कर उसमें पत्थर डाल करके नदी में फैंक आओ। मार-पिटाई करना ठीक नहीं है।' चोर विचार करने लगा कि ऐसे अहिंसक से अच्छे तो ये हिंसक ही हैं। प्रायः हम लोग केवल कायिक अहिंसा को ही समझते हैं, वाचिक और मानसिक अहिंसा की तरफ ध्यान नहीं रहता। हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि कोई आदमी किसी कमज़ोर को सता रहा है, और हृष्ट पुष्ट पहलवान उसको देख कर चला जाता है जबकि उसको उस पीडा से बचाने में समर्थ है, तो उसने हिंसा कर दी। जितना उस मारने वाले का दोष है उतना पहलवान का भी दोष है। अहिंसा हमारे यहाँ केवल एक 'न करने' की बात नहीं है। सामर्थ्य होते हुए न करना भी करना हो जाता है। अतः कहा कि प्राणी को पीडा न हो इसके लिये प्रयत्न अहिंसा है। अतः जब हम पीडित को बचाने के लिये प्रयत्न करते हैं तब अहिंसा कर रहे हैं। और वहाँ से ऐसे ही चले जाते हैं तो हिंसा का ही प्रकार है क्योंकि उसे पीडा न हो इसके लिये हमने तो कुछ नहीं किया।

'समता' हर परिस्थिति के अन्दर चित्त एक जैसा बना रहे यह समता अन्तःकरण का, चित्त का धर्म है। समता कभी भी व्यवहार में नहीं होती। ऐसे समझ लो : पैर को हम हमेशा सड़क के ऊपर या कच्चे रास्ते में ही चलाते हैं। हाथ तो वहाँ नहीं चलाते! हमेशा हम अपने नितम्बों के ऊपर ही बैठते हैं। सिर के ऊपर तो नहीं बैठते कि हमेशा शीर्षासन में रहें! बाहर से तो लगता है कि पैर के प्रति, नितम्बों के प्रति हमको विषम दृष्टि है, हाथों के प्रति, सिर के प्रति रागमयी दृष्टि है। ऐसा बाहर से कोई देख कर कह सकता है। परन्तु ऐसा है क्या? तुमको अपना पैर उतना ही प्रिय है, अपने नितम्ब उतने ही प्रिय हैं जितना तुमको अपना सिर व हाथ। सब में तुम्हारी सम दृष्टि है यद्यपि व्यवहार अलग-अलग है। समचित्तता का पता कैसे लगता है? जैसे ही पैर के अंदर काँटा लगता है, तुम झट से पहला काम करते हो आँख को उधर एकाग्र करने का, फिर हाथ से काँटा निकालते हो। समचित्तता है अतः जैसे ही ज़रूरत पड़ी वैसे ही उतने ही प्रेम से हाथ पैर के लिये कार्य करने लगता है। घुटने में दर्द होता है तो हाथ मालिश करता है। व्यवहार में विषमता होने पर भी चित्त में जब समता होती है तब दूसरे के कष्ट को भी तुम उतने ही प्रेम से दूर करोगे, जितने प्रेम से अपने कष्ट को दूर करते हो या जिसको अपना समझते हो उसके कष्ट को दूर करते हो। व्यवहार तो जो चीज़ जिसके उपयोगी है उसको उसी उपयोग में लेना है। झाडू से सफाई ही की जायेगी। चँवर से मक्खी ही उड़ाई जायेगी। चँवर से झाडू तो नहीं लगाओगे! परन्तु

जितने प्रेम से तुम झाडू को ठीक करोगे, उसमें कोई खराबी आने पर, उतना ही चँवर के लिये करोगे। समता चित्त का धर्म है।

आजकल समता का नारा सबसे ज़्यादा लगाते हैं साम्यवादी लोग। वे सोचते हैं कि धन यदि सबके पास एक जैसा हो जाये तो लोग एक जैसे हो जायेंगे। धन को बराबर बाँटने को ही वे समझते हैं, यह पूरी समता है। परन्तु अन्य चीज़ों का क्या होगा? किसी की बुद्धि ज़्यादा है, किसी की बुद्धि कम है, किसी का शरीर पुष्ट है, किसी का शरीर कमज़ोर है, किसी का शरीर छोटी चीज़ों से प्रतिक्रियाग्रस्त हो जाता है। किसी का शरीर कभी वैसा पीडित होता ही नहीं। इन भेदों को कैसे मिटायेंगे? धन तो एक चीज़ है पर जीवन में अनेक चीज़ें हैं। जैसे उन सब की विषमता तुमको स्वीकार करनी ही पड़ती है इसी प्रकार से शास्त्रों का कहना है कि कोई धन कमाने में चतुर है, कुशल है। दूसरे को तुम वही काम दो तो वह उसको संभाल कर नहीं रख सकता। जो धन को ठीक कमाने में और सुरक्षित रखने में कुशल है उसको खूब धन कमाने दो रक्षा करने दो धन की और उसे प्रेरित करो तथा ऐसा महौल बनाओ कि वह उस धन का उपयोग दूसरों के लिये करे। इसी को गाँधी जी 'ट्रस्टी-शिप' कहते थे कि धनिक यह मानना छोड़ दे कि 'अपने कमाये धन का प्रयोग केवल मुझे अपने लिये करना है'। ठीक जैसे तुम्हारी आँख, पैर में चुभे काँटे को उसी समय निकालने मे तत्पर होती है, पर आँख है आँख ही। इसी प्रकार कमाने वाले के कमाने में रुकावट मत डालो, पर वह उसका उपयोग दूसरों के लिये भी करे - इसके उपाय करो। इसी प्रकार से जो बुद्धिमान् है, वह खूब विद्या को प्राप्त करे, परन्तु ज्ञान से प्राप्त अनुभव से वह फ़ायदा सबको उठाने दे। आजकल बड़ा भारी हल्ला मच रहा है, कि हमने जो अपनी बुद्धि से पैदा किया, जो आविष्कार किया, वह हमारा ही रहे, मुफ़्त में किसी के काम न आवे। इसीलिये उसको 'पेटेण्ट' कराते हैं। वैदिक लोगों की यह मान्यता नहीं है। हम लोग कहते हैं कि जैसे धन तुम्हारे पास है तो उसका सब के लिये उपयोग करो, वैसे ही बुद्धि से तुमने किसी चीज़ को प्राप्त किया तो तुम ही उपयोग करके लोगों से पैसा लेते रहो यह ठीक नहीं है। वह ज्ञान सबको दो। तुम्हें दवा पता चली तो जो-जो रोगी हैं वे उससे फ़ायदा उठावें। चाहे धन हो, चाहे कुछ भी हो, सभी के अन्दर हमारी दृष्टि समता की है कि जो जिस कार्य को अच्छी तरह से कर सकता है उसे अच्छी तरह से करे। परन्तु उसका लाभ जिसको भी उसकी ज़रूरत है उसको मिले।

किंतु लाभ दूसरे को मिले यह कब हो सकता है? बुरा नहीं मानना! ऐसी औरतों को हम जानते हैं, दिल्ली में, कलकत्ते में, जो इस समय में नौ सौ रुपये महीने में अपना सारा खर्च चलाती हैं। भाड़ा, कपड़ा, और खाना, सब उसमें चलाती हैं। वे जब मंदिर में आती हैं, या हम लोगों के पास भी आती हैं, तो एक रुपया चढ़ाती हैं। हो सकता है उसका नोट बड़ा पुराना-सा हो। दूसरों को लगता है - इसने एक रुपया ही कैसे

चढ़ाया? हमें पता है उसकी स्थिति का, उतने कम में से भी वह रुपया भगवान् को अर्पित करती है। और जिनको सत्तर हज़ार रुपया महीना मिलता है, मकान मुफ़्त का मिलता है, मोटर के लिये पेट्रोल का खर्च भी मिलता है, उनके सामने किसी कार्य का विषय आता है, तो कहते हैं, 'क्या बतावें! मन तो बहुत करता है, पर दो जून की रोटी का जुगाड़ ही इस महँगाई में कठिन हो गया है, दान के लिये बचायें कैसे?' जैसे दामोदर-लीला में भगवान् को बाँधने के लिये रस्सी हमेशा छोटी ही पड़ती रही, वैसे इन लोगों को धन की हमेशा कमी ही बनी रहती है। क्या कारण है? यह स्पष्ट करते हुये आगे भगवान् ने कहा 'तुष्टिः'। जो हमारे पास है वह पर्याप्त है यह बुद्धि तुष्टि या सन्तोष है। उसको नौ सौ रुपये में पर्याप्त बुद्धि है। सत्तर हज़ार वाला उतने को कम समझता है। तुष्टि, अर्थात् जितना हमें प्राप्त हो गया वह हमारे लिये काफी है, ऐसा मन में हमेशा भाव रहना। आज का उपदेश क्या है? 'महत्त्वाकांक्षी बनो, जहाँ हो वहीं सन्तोष मत कर लो। सारी उन्नति महत्त्वाकांक्षा से होती है।' यों प्रारम्भ से असंतोष सिखाते हैं। उन्नति काम करने से होती है, महत्त्वाकांक्षा से कुछ होता-हवाता नहीं है। तुष्टि होगी तभी मनुष्य में समता आ सकेगी। तुष्टि नहीं होगी तो समता नहीं आयेगी।

तुष्टि के साथ ही चाहिये 'तपः'। इंद्रियों का संयम करते हुए शरीर की पीडा को सहन करने का अभ्यास तप है। अगर हमें किसी भी चीज़ की आदत है और अकस्मात् उसके बिना रहना पड़े, तो हमारे लिये असह्य होगा और ऐसा न हो, इसके लिये हम चाहे कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु यदि हमने शरीर को पीडा सहन करने के अभ्यास वाला बना रखा है तो हम नहीं घबरा जायेंगे। इसलिये तप प्रधान साधन है जिससे मनुष्य धर्म का पालन कर सकता है। जब कभी कोई धर्म को छोड़ने का बहाना बताता है, तब एक ही बात कहता है, 'महाराज! आजकल चल नहीं सकता!' जिसने तप का अभ्यास किया है वह उस पीडा से बिना घबराये हुए धर्म का पालन कर लेता है, अन्यथा कहेगा 'क्या करें! अधर्म करना पड़ता है'। अतः शास्त्रों में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि तप का अभ्यास हमेशा करना ही चाहिये। पंखा लगा हुआ है, बिजली आ रही है, थोड़ी-सी गर्मी लग रही है, पंखा नही चलाया। थोड़ी ज़्यादा गर्मी हुई, फिर भी पंखा नहीं चलाया। जब इतनी गर्मी हो गई कि सहन नहीं कर पा रहे हैं, तब चला लिया। ऐसे धीरे-धीरे तुम्हें अभ्यास होगा गर्मी को सहन करने का। नहीं तो, हमारे एक भक्त थे; दिल्ली में रात में जैसे ही बिजली जाती थी गर्मी के मौसम में, वे अपने दोस्तों को टेलीफोन करते थे कि 'तुम्हारे घर बिजली है या नहीं?' किसी ने कहा 'हमारे यहाँ बिजली है,' तो वे अपना तकिया उठाकर वहाँ चले जाते थे! जिसको नहीं सहन करने का अभ्यास है उसके लिये बिजली के बिना एक घंटा बिताना असंभव हो जाता है। किन्तु यदि अभ्यास करोगे तो धीरे-धीरे ऐसा हो जायेगा कि बिजली के जाने से तुमको कोई घबराहट नहीं होगी। कभी विचार करो; अनादि काल से डेढ़ सौ साल

पहले तक बिजली नहीं थी, बिजली के पंखें भी नहीं थे। सारा संसार यथावत् चल रहा था। तुम्हारे अंदर इतनी घबराहट आ कहाँ से गई? तप का अभ्यास नहीं करने से। जैसे पंखे के बारे में, वैसे सब चीज़ों को समझ लेना चाहिए। हमेशा शरीर को थोड़ा कष्ट सहने का अभ्यास पड़ना चाहिए। तप के साथ इंद्रियसंयम चाहिये। कई बार आदमी कष्ट सहता है बिना इंद्रियों का संयम किये हुये। इंद्रियों में यहाँ अन्तःकरण भी समझ लेना। बहुत-से लोग व्रत करते हैं। अतः तप तो किया, पर इंद्रियों को स्वतंत्रता दिये रहते हैं। हम ऐसे लोगों को जानते हैं, जिन्होंने बारह साल तक मौन रखा। कभी किसी शब्द का उच्चारण बारह साल तक नहीं किया। उसके बाद जब उनका व्रत पूरा हो गया। तब जो उन्होंने बोलना शुरू किया तो यह परिस्थिति हो गयी कि उनको कोई देख ले तो झट कमरे में घुस कर बैठ जाये! जहाँ इंद्रियों का संयम नहीं होता है वहाँ जैसे ही कष्ट सहने का समय गया, वैसे ही फिर उसी मार्ग में व्यक्ति चल देता है। इसलिये जो भी शरीर को पीडा दो वह विचारपूर्वक दो। यह समझ कर कि इस क्रिया या भोग के बिना रहना ठीक है।

'दानम्'। अपनी शक्ति के अनुसार योग्य देश में, योग्य काल में, योग्य पात्र में, अपनी वस्तु दूसरे को देना। दान शब्द का अर्थ है कि अपनी सत्ता को हटा कर के, दूसरे की सत्ता का आपादन करना। पहले उस वस्तु पर अपनी सत्ता होनी चाहिये। प्रायः इस बात को आदमी भूल जाता है। 'मेरी सत्ता इस पर है या नहीं' इस बात का विचार बड़ा ज़रूरी है। कोई ब्राह्मण राजा के पास गया, राजा ने पूछा 'क्या चाहिये?' उसने कहा 'जो भी हो, आप अपनी चीज़ मुझे देना।' राजा विचार में पड़ गया! राजा के यहाँ तो दूसरों के यहाँ से ही कर आयेगा, या कोई गलती करेगा तो दण्ड आयेगा। अपना तो कुछ है ही नहीं! उसने कहा 'ऐसा करो कि कल आना।' राजा शाम के समय वेष बदल करके चला, इधर-उधर देखने लगा। एक जगह लुहार काम कर रहा था। उससे कहा, 'भैया, मुझे कुछ काम दे दो,' तो लुहार ने देखा भुजदंड वगैरह खूब कसे हुये हैं, सोचा कि काम करने लायक है। उसने राजा को घन पकड़ा दिया, कहा 'कूटो।' राजा घन कूटने लगा; हर बार घन मारे तो उसके सारे शरीर में सिहरन हो जाये! आधा घंटा उसने काम किया, और उससे हुआ नहीं, बिलकुल थककर चूर हो गया, पसीना-पसीना हो गया, उसने कहा 'बस भाई! इतना ही करना है।' लुहार ने उसको चार पैसे दे दिये! लेकर राजा आ गया। प्रातःकाल ब्राह्मण आया तो राजा ने उससे कहा, 'ये चार पैसे ही मेरे हैं।' जिस चीज़ पर अपनी सत्ता है, उस पर दूसरे की सत्ता का आपादन करना है, इसलिये 'मेरी सत्ता है या नहीं' यह बड़े विचार की बात है। अन्यथा तो 'मेरे पास है,' इतने मात्र से हम स्वयं को मालिक मान लेते हैं। योग्य देश-काल में, योग्य पात्र को, अपनी जो चीज़ है वह देना दान है।

'यशः' अर्थात् धर्मनिमित्तक जो कीर्ति है कि यह अच्छा आदमी है, इसका अच्छा

चरित्र है, धर्मानुकूल चरित्र है, धर्मानुकूल आचरण है, सत्य बोलने वाला है। यह सब यश कहा जायेगा। और 'अयशः', अधर्म के निमित्त से जो तुम्हारी अपकीर्ति होती है, वह अयश कहा जाता है। जैसे जितने लोग राम जी को जानते हैं उतने ही लोग रावण को जानते हैं। कोई फ़र्क नहीं है, प्रसिद्धि तो दोनों की है। रावण की प्रसिद्धि अधर्म निमित्तक है कि वह महापापी था। राम का धर्म-निमित्तक यश है कि वे महान् धर्मात्मा थे। नाम होना मात्र यश नहीं है। धर्म-निमित्तक जो तुम्हारी कीर्ति है, तुम्हारा नाम है वह यश है, अन्यथा अयश है।

भगवान् कहते हैं कि ये सब मुझ से ही हैं। इनमें अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यहाँ तक भगवान् ने जो बातें कहीं वे सब मानसिक हैं, स्वयं तुम्हारे मन में होने वाली हैं। यश और अयश तुम्हारे मन के भाव नहीं हैं, तुम्हारे मन में नहीं हैं, दूसरे के मन में यश या अयश हैं। फिर भगवान् ने इन्हें इस क्रम में क्यों जोड़ा? क्योंकि ये तुम्हारे चरित्र-निमित्तक हैं, तुम्हारा चरित्र धार्मिक होगा तब तुम्हारा यश धार्मिक होगा। तुम्हारा चरित्र अधार्मिक होगा, तब अधर्म को लेकर अयश होगा। तुम्हारे मन के साथ तो सम्बन्ध इतना ही है कि 'यश के लिये ऐसा आचरण करूँ' - यह तुम्हारे मन में भावना होनी चहिये। उत्तम मनुष्य चाहता है कि मेरा यश हो कि 'यह धर्मात्मा है'। 'मेरे पास धन हो, मैं धनी हूँ ऐसी प्रसिद्धि हो' यह उत्तम लोगों को इच्छा नहीं होती है। इस प्रकार अहिंसादि क्रम में कहकर भगवान् ने बताया कि उत्तम आचरण करने की जो मानसिक भावना है वह भी परमेश्वर की कृपा से ही है। दूसरी बात, यश और अयश, दूसरों के भी मानसिक भाव ही हैं। अतः इसके द्वारा भगवान् कहते हैं कि खाली तुम्हारे ही मानसिक भाव नहीं, संसार में जहाँ कहीं मानसिक भाव हैं वे सब मुझ से ही हैं। प्राणियों के अन्दर जो मानसिक भाव हैं, वे सारे मुझ से ही होते हैं। 'पृथग्विधाः भावाः' अलग-अलग भाव अर्थात् जितने गिनाये हैं, उनसे अतिरिक्त भी, काम, क्रोध, लोभ आदि जो भाव यहाँ नहीं गिनाये हैं, वे भी साथ में ले लेना। दान का विरोधी लोभ है, इसी प्रकार से अहिंसा का विरोधी क्रूरता है, उन सबको भी भगवान् पैदा करते हैं। पैदा होंगे तो अपने-अपने कर्म के अनुरूप, परन्तु जैसे बाहर के पदार्थ परमात्मा के कारण ही होते हैं, उसी प्रकार ये भाव भी परमात्मा से ही आते हैं, हम तो उसका निमित्त ही बनते हैं। रसगुल्ला बन कर भगवान् आ गये, हमें सुख हो गया, जली रोटी बन कर आ गये तो हमें दुःख हो गया। आये तो भगवान् ही और हमारे कर्म के अनुरूप ही आये हैं। इसी प्रकार हमारे कर्म के अनुरूप ही सद्भाव भी आते हैं, और दुर्भाव भी आते हैं। इसलिये सर्वत्र परमात्मा की, कर्मफलदाता की दृष्टि बार-बार लानी है।

मानस भाव जितने भी उत्पन्न होते हैं, उनमें प्रायः सभी को ऐसा लगता है, कि 'मुझ से ही उत्पन्न हुए'; 'मैं गुस्सा हुआ' ऐसी ही प्रतीति होती है। बाह्य जगत् के

पदार्थों में तो अधिकतर प्रतीति ऐसी होती है कि बाहर की चीज़ें मेरे कारण नहीं हैं। बाहर की चीज़ खुद ही है - ऐसा लगता है। पहाड़ मेरे कारण तो नहीं हैं, मैंने तो नहीं बनाये! बाह्य पदार्थों के बारे में अपने कर्त्तृत्व की प्रतीति नहीं होती है। केवल वहाँ होती है जहाँ प्रयत्नपूर्वक मैंने कुछ किया। जैसे घड़ा मैंने बनाया तो घड़े का बनाने वाला मैं हूँ। परन्तु जिस मिट्टी से बनाया, उस मिट्टी को बनाने वाला तो नहीं हूँ। इसी प्रकार जितनी चीज़ों को हमने चेतना के साथ निर्माण किया है, चेतना है कि 'मैं बना रहा हूँ,' उनका खुद को कर्ता मानते हैं। जिसमें 'मैं बना रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है, उस सारी सृष्टि को मानते हैं कि 'मैंने नहीं बनाई, प्रकृति से है, परमात्मा ने बनायी है, देवता ने बनायी है, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि चाहे जिसने बनायी है, मैंने तो नहीं बनायी।' परन्तु बुद्धि ज्ञान इत्यादि जो भाव हैं, उनमें प्रतीति होती है कि 'मैं ही इन्हें करता हूँ, मेरे कारण ही हैं' भगवान् ने बाह्य चीज़ों को भी अपना बनाया कह दिया और आन्तर चीज़ों को भी कह दिया। इसके द्वारा भगवान् ने बतलाया, कि अन्दर की चीज़ें भी उतनी ही भगवान् के अधीन हैं जितनी बाहर की चीज़ें, उनमें भी तुम्हारा स्वातंत्र्य नहीं है। कोई कह सकता है कि 'आंतरिक भाव भी मैं चेतन हूँ, तभी होते हैं, अतः मैं कारण अवश्य हूँ।' किन्तु इस दृष्टि से बाह्य जगत् का भी स्वयं को कारण मानना पड़ेगा! तुम्हारा कोई ऐसा कर्म फलीभूत होने लगता है तभी तुम्हें पहाड़ भी दीखता है, तुम उसे भोगने वाले हो, तभी वह पहाड़ है। अनेक लोगों के एक-से कर्म फलीभूत होते हैं, तो उन सबको यह पहाड़ दीखता है। जिस चीज़ का किसी को अनुभव नहीं वह चीज़ है यही सिद्ध नहीं होता, उसकी सत्ता में प्रमाण ही नहीं है। अतः हमारा होना कारण है तो आन्तर ही नहीं बाह्य जगत् के प्रति भी है, और यदि सर्वथा स्वतंत्र होकर जो उत्पन्न करे वही कारण है तो भगवान् स्वयं कह ही रहे हैं कि परमेश्वर ही कारण है। आन्तर-बाह्य में फ़र्क इतना है कि अंदर की चीज़ें वे कही जाती हैं जो अन्तःकरण के परिणाम हैं। इसी दृष्टि से भगवान् ने कहा है 'भूतानां भावाः', भाव अन्तःकरण के परिवर्तन हैं। बाहर की चीज़ें स्थूल पंचमहाभूतों के परिणाम हैं। अन्तःकरण के अंदर हमारा अध्यास प्रबल है, इसलिये अन्तःकरण में जो होता है, उसमें हमें साक्षात् प्रतीति होती है कि 'मैं ही कर रहा हूँ'। क्योंकि बाहरी पंचमहाभूतों के साथ हमारा वैसा तादात्म्य नहीं है इसलिये बाह्य विषयों में ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अधिष्ठान चेतन तो एक जैसा ही कारण है। अपना जो स्थूल शरीर है, वह बीच में स्थित है; बाहरी जगत् एक तरफ, अन्तःकरण दूसरी तरफ। अन्तःकरण में तो हमारा सर्वथा ऐक्य रहने से, अन्तःकरण में जो भी होता है, उसमें 'मैंने किया' ऐसी ही प्रतीति होती है। बाह्य जगत् में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि मैंने किया। शरीर बीच में है। स्थूल पंचमहाभूतों का कार्य है इसलिये बाहर भी है और इसके साथ, हमारा एकता का अध्यास, एकता का ज्ञान है, कि यह शरीर मैं ही हूँ, इसलिये इसमें अनेक कार्य ऐसे

हैं, जो लगते हैं कि 'मैंने ही किया', जैसे, हमने किसी को चिट्ठी लिखी, तब तो यह निश्चित बोध होता है, 'मैंने चिट्ठी लिखी, चिट्ठी लिखने वाला मैं हूँ।' परन्तु मैं ठोड़ी पर हाथ रख कर बैठा हुआ हूँ, और हाथ फिसल गया; तो प्रतीति यह नहीं होती कि 'मैंने हाथ को हटाया', बल्कि होती है कि 'हाथ फिसल गया'। शरीर के अन्दर अनेक कार्यों के प्रति अध्यास की प्रबलता से लगता है कि 'मैंने स्वतंत्र होकर किया', और अनेकों में लगता है कि 'हो गया, मैंने किया नहीं।' पैर जब फिसल जाता है चलते हुए, तब 'मैंने फिसला दिया,' ऐसी प्रतीति नहीं होती। दूसरी ओर, चिट्ठी लिखने में यह प्रतीति नहीं होती कि 'चिट्ठी लिख गई,' वरन् होती है कि 'मैंने लिखी।' शरीर के अंदर दोनों तरह की प्रतीति है इसलिये इसे मध्य में माना। इस प्रकार भगवान् ने बुद्धि आदि अन्दर की और देव, महर्षि बाहर की, दोनों विभूतियों को बतलाया ।।५।।

बाहर की विभूतियों को और ज़रा विस्तार से बतलायेंगे।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

लोक में (फैली) ये जिनकी प्रजायें हैं (वे) अतीतकालीन सात महर्षि तथा चार मनु - जो हमेशा मुझमें ही प्रेम रखते रहे - (मेरे) मनसे ही उत्पन्न हुए।

'महर्षयः', भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ - ये सात महर्षि सृष्टि के आदिकाल में भगवान् ने प्रकट किये थे। इन्हीं को सप्तर्षि कहा जाता है। ये प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म का उपदेश करने वाले हैं। धर्म से अधर्म भी समझ लेना - क्या अधर्म है, क्या-क्या नहीं करना चाहिये, और क्या धर्म है, यह भी इन्होंने बतलाया। 'पूर्वे चत्वारः' का भाष्य में अर्थ बताया है- अतीतकाल-सम्बन्धी चार मनु। किन्तु विष्णुपुराण आदि के अन्दर बतलाया है, कि प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश करने के पहले परमेश्वर ने दक्षिणामूर्ति रूप से निवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, और सनातन, इन चारों को निवृत्ति-मार्ग का उपदेश, भगवान् शंकर ने दक्षिणामूर्ति रूप से पहले दिया, उसके बाद ब्रह्मारूप से उन्होंने प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। दोनों उपदेश करने वाले वही हैं। इसके अनुसार कुछ आचार्यों ने अर्थ किया है कि प्रवृत्ति-मार्ग के प्रवर्तक सप्त महर्षियों से पहले, सनकादि चार कुमारों को उत्पन्न किया। और 'मनवस्तथा' मनुओं को उत्पन्न किया। मनु तो चौदह हैं, चार को ही क्यों लिया? भाष्यकार ने स्पष्ट किया है 'सावर्णा इति प्रसिद्धाः' चार 'सावर्ण' नाम से प्रसिद्ध मनु यहाँ कहे जा रहे हैं। चौदह मनुओं के अलग-अलग नाम हैं। (१. स्वायम्भुव, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ६. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. देवसावर्णि, १४. इन्द्रसावर्णि।) उनमें सावर्णि, धर्मसावर्णि, दक्षसावर्णि और रुद्र-सावर्णि, इन चार का

'सावर्ण' यह सामूहिक नाम विष्णुपुराण में आया है। इन चार मनुओं के बारे में पुराणों के अन्दर कहा है कि ये भगवान् वासुदेव के विशेष भक्त थे। अतः चौदह में से चार को भगवान् अपनी विभूति बतला रहे हैं।

'मद्भावाः', सात महर्षि, चार सनाकादिक, और चार मनु ये सारे 'मद्भावाः' थे, इनकी सारी भावनायें मुझ परमेश्वर में अर्पित थीं। अर्थात् ये सब परमेश्वर के अत्यन्त भक्त थे। परमेश्वर के भक्त होने के कारण ये परमेश्वर की सामर्थ्य से युक्त थे। अत्यन्त भक्त होने से, परमेश्वर ने उनको विशिष्ट सामर्थ्य से युक्त किया था। इस अध्याय के अन्त में भगवान् कहेंगे, कि जहाँ कहीं विशेष ऐश्वर्य देखने में आता है, उसे मेरा रूप समझें। यद्यपि सारा संसार ही परमेश्वर का रूप है, तथापि जहाँ वे विशेष रूप से विद्यमान हैं, वहाँ उपास्य-बुद्धि हो जाती है, अतः वह उपासना का विषय है। मोटी भाषा में समझ लो, संगमरमर के अन्दर चतुर्भुज मूर्ति बनाकर विष्णु की प्रतिष्ठा कर दी गई, वह तो पूज्य होता है, और बाकी भी है तो संगमरमर पत्थर ही, पर इसके अन्दर पूज्य दृष्टि नहीं होती है। मूर्ति और फ़र्श पर जड़ा, दोनों ही संगमरमर पत्थर हैं, परन्तु जो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुये, प्राण-प्रतिष्ठित मूर्ति है उसको पूज्य कहेंगे, दूसरे को पूज्य नहीं कहेंगे। इसी प्रकार किसी भी चीज़ की असलियत क्या है? सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है। रावण में जैसा परमात्मा है, वैसा ही राम में है। दोनों जगह परमेश्वर की सत्ता एक जैसी है। परन्तु फिर भी राम पूज्य है, रावण पूज्य नहीं है, राम का चरित्र अनुकरणीय है, रावण का चरित्र अनुकरणीय नहीं है। यहाँ जो सात ऋषि आदि कहे इनकी भी महत्ता है कि मुझ में भावना वाले होने से ये विशेष सामर्थ्य से युक्त हैं।

ये कैसे पैदा हुए? 'मानसा जाताः', हिरण्यगर्भ से ही ये उत्पन्न हुए। जब परमेश्वर, समष्टि मन वाले होते हैं तभी उनको हिरण्यगर्भ कहते हैं। जैसे तुम ही जाग रहे हो, तुम ही सपना देखते हो, और तुम ही गहरी नींद लेते हो। तुम जब जाग्रत् अवस्था में हो, तब तुम्हारा नाम विश्व है। तुम जब स्वप्न अवस्था में हो तब नाम तैजस है। तुम जब गहरी नींद में हो तब तुम्हारा नाम प्राज्ञ है। हो तुम एक ही। लौकिक व्यवहार में भी आफिस में बड़े पद पर 'साहब' कहा जाता है। घर में आता है तो पिता उसको कहते हैं 'ए बबुआ! इधर आ।' व्यवहार जहाँ जैसा होता है, उसके अनुसार नाम हो जाता है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ - ये व्यवहारानुसारी नाम हैं। अतः किसी एक के ये विशेष नाम नहीं, जो कोई भी जगा है, उसका नाम विश्व ही है, हर सपना देखने वाला तैजस ही है और सभी गहरी नींद वाले प्राज्ञ ही हैं। विश्व कहने से केवल यह पता लगता है कि जाग्रत् अवस्था वाले की बात हो रही है। इसी प्रकार से तैजस कह देते हैं तो पता चल जाता है कि स्वप्न अवस्था वाले की बात हो रही है। सभी का नाम स्वप्न-काल में तैजस हो जायेगा। जीव के जैसे विश्व आदि तीन नाम, ऐसे ही भगवान्

के विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर - ये तीन नाम पड़ते हैं। समष्टि जाग्रत् वाले परमेश्वर को विराट् कहते हैं। इसी के लिये वैश्वानर नाम भी प्रसिद्ध है। विराट् हो गया सारे स्थूल शरीरों वाला अर्थात् सारी स्थूल सृष्टि उसका शरीर है। सारी जाग्रत् अवस्थाओं को वह वैसे ही अनुभव करता है जैसे हम करते हैं। फ़र्क इतना है कि हम जाग्रत् अवस्था के अन्दर साढ़े तीन हाथ के शरीर मात्र को 'मैं' समझते हैं जबकि सात ऊपर के लोक, सात नीचे के लोक और उनमें रहने वाले सब लोग परमेश्वर के लिये 'मैं' ही हैं। इसी प्रकार से सारे लोगों के सपने परमेश्वर के लिये अपने ही हैं। समष्टि सूक्ष्माभिमानी को हिरण्यगर्भ कहते हैं जैसे व्यष्टि सूक्ष्माभिमानी को तैजस कहते हैं। स्वप्न के अन्दर जैसे मन ही सब चीज़ों को बनाता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ की सृष्टि को भी मानस कहते हैं क्योंकि हिरण्यगर्भ की अवस्था में समष्टि मन प्रधान उपाधि है। जैसे तुम स्वप्न के अन्दर देवदत्त का निर्माण कर देते हो; सपने में जो तुम्हें देवदत्त दीखा, उसे किसने बनाया? तुमने बनाया। वह किसी गर्भ से तो पैदा हुआ नहीं! सीधा बीस साल का आदमी सामने खड़ा हो गया। न वह किसी के पेट से पैदा हुआ है, न कभी बच्चा था, क्योंकि मानस है। इसी प्रकार भगवान् ने ऋषियों को उत्पन्न किया तो किन्हीं माँ-बाप से नहीं। यह नहीं कह सकते कि जो पैदा हुआ उसके माँ-बाप ज़रूर होंगे क्योंकि जिस देवदत्त को तुमने स्वप्न में देखा था उसके कौन माँ-बाप थे? जैसे उसके कोई माता पिता नहीं, वैसे ही ऋषियों के भी नहीं। इसी प्रकार मनु मानस उत्पन्न हुये हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने कह दिया - 'मद्भावा मानसा जाताः' ।

'येषां लोक इमाः प्रजाः' लोक के अन्दर जितनी प्रजायें दीख रही हैं सब इन्हीं की संतानें हैं। 'लोक' से सात ऊपर के, सात नीचे के लोक सभी समझ लेना। उनके अन्दर जितनी भी ये प्रजायें हैं, जितने भी जीव देखने में आते हैं, वे सारे इन महर्षियों से और मनुओं से उत्पन्न हुये हैं। मनुओं से तो वंश-परम्परायें चलीं। बाप, बेटा, पोता, पड़पोता यह वंश-परम्परा मनुओं से चली। और महर्षियों से विद्या-परम्परा चली। जैसे वंश-परम्परा शरीर से उत्पन्न होती है, वैसे ही हमारा जो मानस जगत् है, वह सारा ज्ञान से उत्पन्न होता है। बाह्य जगत् को स्वयं देखकर अर्जित ज्ञान तो बहुत थोड़ा होता है, हम लोगों का बारह आना ज्ञान पढ़े-लिखे का ही ज्ञान है। विज्ञान, इतिहास, भूगोल, आदि सब पढ़ा हुआ या सुना हुआ है। चाहे तुम किताब से पढ़ो, चाहे कान से सुनो, सारी ही विद्या-परम्परा है। मनुष्य जीवन के अन्दर, बारह आना तो विद्या-परम्परा ही हमारे अन्दर प्रविष्ट है। उपनिषदों के अन्दर हर विद्या के उपदेश के बाद उसकी वंश-परम्परा आती है कि ज्ञान किस परम्परा से आया। सबसे पहले किसको हुआ, उसने किसको बताया, उसने किसको बताया। विद्या की परम्परा जानना बड़ा ज़रूरी है। आज कल लोग विद्या-परम्परा की तरफ दृष्टि देते ही नहीं। खास करके जो चीज़ें प्रत्यक्ष और अनुमान

के द्वारा समझी ही नहीं जा सकतीं उन्हें जानने के लिये विद्या ही साधन है। कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनके बारे में किताब में पढ़ने के बाद यदि तुमको शंका हो, कि ऐसा है या नहीं, तो तुम उस जगह चले जाओ और देख लो कि वहाँ ऐसा है कि नहीं; परन्तु 'अकबर बड़ा अच्छा राजा था'; है तुम्हारे पास यह देखने का तरीका था कि नहीं था? किन्हीं लोगों की बातों को ही तो तुमको मानना पड़ेगा। अगर तुम कह दो कि 'इनमें से किसी की बात मैं नहीं मानूँगा, कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दीजिये,' तो अकबर था - इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण कोई क्या देगा! कोई कह दे कि सिकन्दरा में उसकी कब्र बनी है, तो उससे केवल यह पता लगेगा कि यह *किसी की* कब्र है, वह अकबर की कब्र है - यह कैसे पता है? हम लोगों को कुछ ऐसा ज्ञान है जिसे हम प्रत्यक्ष-अनुमान से देख सकते हैं परन्तु बहुत ज़्यादा ज्ञान ऐसा है जिसके बारे में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वहाँ शब्द ही प्रमाण है।

अधिकतर आध्यात्मिक चीज़ें ऐसी हैं जिन्हें तुम प्रत्यक्ष अनुमान से नहीं जान सकते। अतः कुछ लोगों का कहना रहता है कि चूँकि ऐसी चीज़ों के बारे में अनेक लोगों के अनेक कथन हैं इसलिये कुछ पता नहीं लगता। हमारे वैदिक धर्म की विशेषता है कि हम कहते हैं कि जो कुछ भी कहा गया है उसको तुम प्रत्यक्ष की तरह जान लो इसके लिये निश्चित साधना है, उस साधना को सफलता-पूर्वक कर लो, तब तुम्हें वह चीज़ प्रत्यक्ष हो जायेगी। हमारे यहाँ किसी भी ऋषि ने यह नहीं कहा कि 'यह हमने अनुभव किया है, और कोई नहीं कर सकता'। स्वामी विवेकानन्द जी एक जगह लिखते हैं कि हम सबकी पाँच अंगुलियाँ होती हैं, कोई-कोई छंगा होता है, जिसकी छह अंगुलियाँ होती हैं। छंगे को असामान्य माना जाता है, पाँच अंगुलियों वालों को नहीं। इसी प्रकार से यदि कोई कहता है कि 'यह केवल मैंने अनुभव किया, कोई दूसरा नहीं कर सकता,' तो इसका मतलब है कि उस आदमी में ही कोई गड़बड़ी है। अतः कोई ऐसा कहे तो उसकी बात हम कैसे मान लेवें? क्योंकि उसके कथन से पता लगता है कि वह व्यक्ति असामान्य है। वैदिक परम्पराओं में यह बात स्पष्ट कर दी जाती है कि अमुक साधना करने से अनुभव होता है। तुम्हें इतना ही मानना है जितने से उस साधना में प्रवृत्ति करो। साधना करके जब फल मिल जायेगा तब तुम्हें पता चल जायेगा कि ठीक है कि नहीं। इतना विश्वास पैदा करने के लिये सम्प्रदाय-परम्परा बतलाती है कि किन-किन लोगों ने यह अनुभव इन साधनाओं के द्वारा प्राप्त किया। अनेक श्रद्धेय लोगों द्वारा अपनाये साधन और उन्हें हुए अनुभव पर विश्वास करके आदमी को प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। इससे विपरीत, जिस के बारे में पता नहीं है कि किस-किस ने कैसे वह अनुभव किया, जिसका उपदेशक ही कहता है कि 'मैंने ही अनुभव किया, मैंने ही देखा,' उस पर श्रद्धा नहीं की जा सकती। इसलिये सम्प्रदाय-परम्परा पर बहुत ज़ोर दिया गया है। वंश-परम्परा का स्मरण अन्तःकरण की शुद्धि का कारण होता है, अर्थात् अन्तःकरण

के अन्दर अश्रद्धा-रूप जो अशुद्धि है वह इसके द्वारा कटती है। महर्षियों से विद्या-परम्परा आयी है, ज्ञान की परम्परा आयी है, मनुओं से शरीर की परम्परा आयी है। यहाँ 'प्रजाओं' से पेड़-पौधे सब समझ लेना, हमारे यहाँ पेड़-पौधे भी जीव हैं। सभी प्रजाओं के आदि - पुरुषों को भगवान् ने यहाँ अपनी विभूति कह दिया।।६।।

विभूतियों को जानने का फल बतलाते हैं-

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

मेरा यह वैभव-विस्तार तथा सब कुछ बनाने की सामर्थ्य जैसे हैं वैसे जो समझ लेता है वह सम्यग् ज्ञान की स्थिरतारूप योग से सम्पन्न हो जाता है इसमें संदेह नहीं।

'एतां विभूतिं' यह जो विभूति मैंने बतलाई, कि कैसे सारे संसार के विस्तार का एकमात्र कारण मैं हूँ, इसे जानना सफल है। 'योगं च' योग अर्थात् किस प्रकार आत्मा इस सारे संसार को उत्पन्न करता है। परमेश्वर के ऐश्वर्य और उसकी सामर्थ्य को हम समझते हैं तो महान् फल पाते हैं। 'यः तत्त्वतः वेत्ति' ये जैसे हैं वैसा इन्हें जो जानता है। सभी उपनिषदों में हमेशा प्रसंग यहीं से शुरू होता है कि पहले केवल परमात्मा था और उसी से सारी सृष्टि हुई। परमात्मा से सृष्टि कैसे हुई - इस क्रम को बार-बार सोच कर इसका निश्चय करना पड़ेगा। इसके द्वारा परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता हमारे अन्दर स्थिर भाव से बैठ जाती है। हमारे अन्दर भाव है कि 'यह मेरा किया हुआ है या किसी दूसरे जीव का किया हुआ है,' यह हट जाता है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का हटना सबसे प्रधान चीज़ है।

'तत्त्वतः', अर्थात् ठीक-ठीक समझना पड़ता है कि कैसे-कैसे सब कुछ उत्पन्न हुआ। इसका उद्देश्य है कि तुम लय-प्रक्रिया के द्वारा धीरे-धीरे अन्तःकरण को लीन करके समाधि का अभ्यास कर पाते हो। जब समाधि का अभ्यास पड़ जाता है तब 'अविकम्पेन योगेन' तुम्हारा योग स्थिर हो जाता है। अभी भी हम लयप्रक्रिया और सृष्टि-प्रक्रिया समझते हैं किन्तु जब तक बैठ कर अभ्यास करते हैं, तब तक तो याद रहता है कि परमात्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, फिर उसका पंचीकरण हुआ, अपंचीकृत तत्त्वों से इंद्रियाँ बनीं; इत्यादि, किन्तु उस अवस्था को छोड़ कर किसी भी व्यवहार को करने गये तो उस समय नहीं लगता कि 'मन सोच रहा है तो ये अपंचीकृत भूतों के अन्दर क्रिया हो रही है!' ऐसी प्रतीति नहीं होती। तब लगता है 'मैं सोच रहा हूँ'। इसी प्रकार देवदत्त के मुँह से कुछ गालियाँ निकलती हैं तो ऐसी प्रतीति नहीं होती, कि अग्नि तत्त्व से बनी हुई जीभ है, उसके अन्दर स्पन्दन हो रहा है, क्रिया हो रही है, उससे उत्पन्न होने वाला आकाश का धर्म शब्द आ रहा है। वरन् झट प्रतीति होती है, 'देवदत्त मुझे गाली दे रहा

है।' तत्त्वतः ज्ञान से पूर्व जो होता है, वह विकम्प योग है। योग तो है, जितनी देर बैठते हो उतनी देर बोध है, लेकिन फिर कम्प हो जाता है, हिल जाता है। 'ये सब परमात्मा ने ही रूप लिये हैं' यह ज्ञान चला जाता है। जब यह स्थिर होता है तब अविकम्प योग है। कभी भी इससे कम्पायमान नहीं होते, सब समय पता है कि जो कुछ भी है, वह सब परमात्मारूप ही है। इस प्रकार जो कभी न हिले ऐसी सम्यक् दर्शन की स्थिरता की प्राप्ति हो जाती है। 'न संशयः', ऐसा ही होता है, इसमें तुमको अपनी बुद्धि से संशय करने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि भगवान् की सभी बातें सच्ची ही हैं लेकिन यह बात सामान्यतः असम्भव लगती है, कि व्यवहार करते हुये सबको परमात्मा देख लें। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा अभ्यास करोगे तो यह स्थिति आ जायेगी, तुम्हें ऐसा अनुभव हो जायेगा, इसमें शंका मत रखो।।७।।

अविकम्प योग के लिये आवश्यक विभूतियों के ज्ञान को स्पष्ट करते हैं-

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।८।।

मैं सबका जनक हूँ, मुझसे सब संचालित हो रहा है- यह समझकर परमार्थ तत्त्व के निश्चय वाले बुद्धिमान् मुझे भजते हैं।

'भावसमन्विताः' भावना से युक्त साधक। भावना, अर्थात् परमार्थ तत्त्व के अन्दर अभिनिवेश करना, आग्रह पूर्वक मन को इस परमार्थ तत्त्व में ही लगाना। भगवान् भाष्यकार ने एक जगह कहा है कि जैसा दृढ हमें भान है कि 'मैं शरीर हूँ,' वैसा ही दृढ भान हो जाए कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तभी मोक्ष सम्भव है। हम स्वप्न में भी अपना एक शरीर देखते हैं, वह शरीर इस शरीर के जैसा ही होता है। इस शरीर से यत्किंचित् भेद भी हो जाता है। जिसकी टाँग कटी है वह स्वप्न के अन्दर टाँग वाला भी अपने को देख लेता है। स्वप्न में यह शरीर न होने पर भी, इस शरीर के जैसे शरीर वाले ही अपनी प्रतीति होती है। आत्मनिष्ठ की दृष्टि से संसार स्वप्न ही है। जैसे जाग्रत् के संस्कारों से स्वप्न की प्रतीति, उसी प्रकार प्रारब्ध के संस्कारों से आत्मनिष्ठ को जगत् की प्रतीति है। जब तक अज्ञान रहता है तब तक तो जाग्रत् प्रतीत होगा परन्तु जब अपने ब्रह्मस्वरूप को जान लेता है तब जाग्रत् भी प्रारब्ध के जो संस्कार हैं उनके अनुसार ही प्रतीत होता है। सारा व्यवहार करते हुए, 'संस्कार- मात्र से ही प्रतीति हो रही है', ऐसा उसका दृढ निश्चय रहता है। स्वभाव से वह आत्ममात्ररूप रहता है, और अन्तःकरण में पड़ते प्रतिबिम्ब को भी जैसा आत्मा है वैसा ही देखता है, क्योंकि एक तो उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध है कि यथावत् प्रतिबिम्ब बनने देता है; दूसरा, वह अपने स्वरूप के बारे में ऐसा निःसन्दिग्ध हो चुकता है कि अन्तःकरण के यदि किन्हीं अनिवार्य दोषों के कारण प्रतिबिम्ब में कोई विकृति दीखे तो भी वह जानता है कि वास्तव में बिम्ब

विकृत नहीं, शुद्ध ही है। उसे मालूम है 'मैं सच्चिदानंद हूँ'। वैसा ही सच्चिदानंद अंतःकरण में प्रतीत होता है। अन्तःकरण की उपस्थिति में प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती ही है। इस प्रकार यहाँ 'भाव' से परमार्थ-अवबोध की दृढता कही है, उससे सम्पन्न को भावसमन्वित कहा है।

कौन ऐसा होगा? 'बुधाः', जिन्होंने पहले श्रवण-मनन से परमात्मा के स्वरूप को यथावत् समझ लिया है। बुध होने से पता है कि परमात्मा का स्वरूप क्या है, और उसी स्वरूप में अभिनिवेश करके वे रहते हैं, साधकावस्था में ऐसी प्रमाणाधारित भावना रहती है, और सिद्ध में यह अपरोक्ष ज्ञान रहता है, इतना इनमें अन्तर है। ऐसे अधिकारी 'मां भजन्ते', मेरा भजन करते हैं। मैं कौन हूँ? 'अहं सर्वस्य प्रभवः'। 'अहं' कौन है? अहम् परमेश्वर ही है जो सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला है। सारे जगत् की उत्पत्ति जिस परमेश्वर से होती हैं वही मैं हूँ। जिससे उत्पन्न होता है वह उपादान कारण कहा जाता है। जैसे मिट्टी से घड़ा पैदा होता है, तो मिट्टी उपादान कारण है। अहम् केवल उपादान कारण नहीं है, 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' सब चीज़ों की, सारे जगत् की स्थिति मुझसे ही है। मुझमें ही सबका नाश है। मुझसे ही सबको अपने कर्मों का फल भोगने को मिलता है। मैं ही, जिसने जैसा कर्म किया है तदनुरूप उसको फल देता हूँ। इस प्रकार मैं ही सारे जगत् का एकमात्र उपादान कारण हूँ, और मैं ही इसका निमित्त कारण हूँ। इस प्रकार से 'मैं' को परमात्मा रूप से जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण समझना है। संसार में जितने भी अवैदिक प्रसिद्ध धर्म हैं, कोई भी परमात्मा को अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नहीं मानता। परमात्मा ने बनाया - यह तो बहुत-से धर्म मानते हैं, परन्तु परमात्मा स्वयं बना - यह नहीं मानते। सर्वात्मा, सर्वकारण, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् का भजन वे ही करते हैं जो इस सत्य को जानते हैं कि मिथ्या होने से नाम-रूप प्रपंच असार है। तभी परमार्थ तत्त्व में उन्हें प्रेम व आदर होता है। इस तरह भजन के साधन स्पष्ट किये।।८।।

भगवद्भजन में इतने ही नहीं, और भी साधन हैं यह बताते हैं -

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।६।।

जिनके चित्त व इंद्रियाँ मुझमें उपसंहृत हैं, जो आपस में हमेशा मेरा ही कथन करते हैं और मेरे बारे में समझाते हैं, वे स्वभाव से ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं।

'मच्चित्ताः', जिनका चित्त अर्थात् निश्चय मेरे बारे में ही है। हम लोग इस विचार में अपना मनुष्य जीवन व्यर्थ में खोते हैं कि संसार की चीज़ें कैसी हैं। इसने मुझ से यह कहा तो क्यों कहा? इसने मुझे नमस्ते नहीं की तो क्यों नहीं की, इत्यादि। भावसमन्वित बुध जानता है कि यदि किसी ने कोई बात नहीं कही तो परमात्मा ने नहीं

कही, नमस्ते नहीं किया तो परमात्मा ने नहीं किया। वह निश्चय इस बात का करता है कि यह अभिन्न-निमित्तोपादान कारण केवल मैं वासुदेव ही हूँ। अतः बार-बार उसका निश्चय मद्विषयक, परमात्मविषयक ही बनता है। हम लोग कह तो देते हैं 'परमात्मा सर्वस्वरूप है,' लेकिन किसी की ठोकर लगते ही हमारा निश्चय बनता है कि इसने मुझे धक्का दिया। इस प्रकार हमारा कभी भी अविकम्प योग नहीं हो पाता। जो उत्तम साधक है, उसका हमेशा यही निश्चय रहता है, 'वासुदेवः सर्वमिति'। ऐसा निश्चय कायम रखने में रुकावट यह आग्रह डालता है कि इससे लोकव्यवहार नहीं चलेगा! किंतु विचार करो, अनादि काल से असंख्य जन्मों में व्यवहार चला ही रहे हो। चला कर तुमको मिला क्या? जिस स्थिति में हो, यही स्थिति आई व्यवहार चला कर। कुछ समय तक व्यवहार नहीं चला कर देखो, क्या होता है। चला कर जब कोई फ़ायदा नहीं है तो नहीं चला कर नुकसान क्या होगा ! इसलिये 'मद्गतप्राणाः' का एक अर्थ आचार्य करते हैं 'मद्गतजीवनाः' मेरे लिये ही जिनका सारा जीवन जिन्हें परमात्मा के लिये है, अपने हृदय में स्थित वासुदेव के लिये ही सारा जीवन व्यतीत करना है, बाकी किसी के लिये कोई व्यवहार नहीं करना है। ऐसा हो सकेगा, जब तुम यह निश्चय करोगे कि वह अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, इसलिये उसके लिये जीवन अर्पण क़रने से कुछ होना है। बाकी चीज़ों को तो जीवन अर्पण करके देख लिया, अनादिकाल से यही करते रहे हैं। जैसा आचार्य शंकर कहते हैं -

'कति नाम सुता न लालिताः, कति वा नेह वधूरभुंजि हि ।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयम् भवसंगः खलु पान्थसंगमः' ।।

हर जन्म में कितने बेटों से हमने लाड़-प्यार नहीं कर लिया। क्या मिला उनके लाड़-प्यार से? वे अच्छे निकल गये तो क्या हुआ! जितना भी इनके लिये करो, जब तुम्हारे सौ साल पूर हो जायेंगे, तब खट से सम्बन्ध टूट जायेगा। इस विचार से जिनका संसार-आकर्षण क्षीण हो गया, वे ही मेरे लिये सारा जीवन अर्पित कर सकते हैं।

अथवा प्राण का अर्थ, इंद्रियाँ और मन भी है। उपनिषद् के अन्दर कहा है कि रुद्र ही प्राण है, और एकादश रुद्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण। इनको रुद्र कहते हैं क्योंकि ये ही आजीवन रुलाते रहते हैं। अनादिकाल से हमारा जितना रोना है वह या इंद्रियों के कारण या मन के। किसी ने गाली दी; हमारे कान ने सुना तभी हमें दुःख हुआ। अगर हमारे कान ने न सुना होता तो किसी की गाली से कुछ नहीं होता। इसी प्रकार किसी ने मारा, मेरी त्वक् इंद्रिय ने मार को जाना तभी दुःख हुआ। ये एकादश प्राण हमें हमेशा रुलाते रहते हैं। इसलिये इनको रुद्र कहा। तब 'मद्गतप्राणाः' का मतलब है, कि अपने सारे ज्ञानसाधनों को, क्रियासाधनों को परमात्मा में ही उपसंहृत कर देना है। जो कुछ भी दीखता है, सुनाई देता है, छुआ जाता है, वह सब एकमात्र शिव ही है। जिस-जिस चीज़ को इंद्रिय विषय करती है,

अन्तःकरण विषय करता है, वह सब एकमात्र शिव-रूप ही है। दोनों व्याख्याओं का करीब-करीब तात्पर्य एक ही हो जाता है।

मद्गतप्राण होने से वाणी का प्रयोग कैसे करते हैं? 'परस्परम् बोधयन्तः', एक दूसरे को बोधन करते हैं, जगाते हैं, बार-बार याद दिलाते हैं। सभी साधक होने के नाते, कभी कोई कमज़ोर पड़ा तो उसको साथ वाला बोधन करा देता है 'अरे! क्या इन बेकार की चीज़ों में फँसते हो।' कभी हम कमज़ोर हो जाते हैं, तो उस समय वह याद दिला देता है, 'अरे! किस चक्कर में फँस गये?' ऐसा तभी होगा जब तुम ऐसे लोगों का संग करो, जो साधक हैं। असाधक के साथ यदि तुम संग करोगे तो वह तुम्हें बार-बार संसार की सत्यता ही समझायेगा। उस समय पहले ही तुम कुछ कमज़ोर हो, तभी संसार की सत्यता को लेकर सुख-दुःख हो रहा है, उसने और उन्हीं संस्कारों को बढ़ाया तो तुम उधर ही चले जाओगे। जैसे क्षमा की साधना करो तो दूसरा दबाये ही जायेगा। तुम कुछ विचलित होगे ही। तब यदि साथ वाला भी कह दे, 'हाँ, भाई ऐसा ही है संसार। बीच-बीच में थोड़ी लत्ती भी मारनी पड़ती है'। तो तुम क्षमा का नियम छोड़ ही दोगे। इससे विपरीत, यदि साधक साथ होगा, तो कहेगा 'अपने अन्दर है ही कौन-सी चीज़ जो कुचले जाने लायक नहीं है। यदि दूसरा कुचल रहा है तो अच्छा ही कर रहा है, दुश्मन को कुचल रहा है। हमारे शरीर का, हमारे अन्तःकरण का, हमारी इंद्रियों का अपमान कर रहा है, इन्हीं को कुचल रहा है। हम भी तो कुचलना चाहते हैं, खत्म करना चाहते हैं। उसने इस कार्य में मदद ही की है, कोई नुकसान तो किया नहीं।' तब फिर तुम्हें भी जागृति आ जायेगी। इसलिये कहा 'बोधयन्तः परस्परम्'। अगर बोधन का समय नहीं है तो 'मां कथयन्तः।' मेरे ज्ञान, बल, वीर्य इत्यादि जो धर्म हैं, उन सबको ही एक-दूसरे को कहते हैं। 'कथयन्तः' वहाँ भी सम्भव हो जाता है जहाँ एक सिद्ध है, दूसरा साधक है। जब सिद्ध साधक को समझाता है, तब भगवत्कथा हो जाती है। वह जब बात करेगा, परमात्मा की ही करेगा।

मेरा कथन, मेरा बोधन करते हुये, 'तुष्यन्ति', तोष को प्राप्त करते हैं। उससे उन्हें बहुत सन्तोष होता है। जैसे गर्मी के मौसम में ठंडी हवा आने से संतुष्टि होती है उसी प्रकार उन्हें नाम-रूपात्मक संसार, दावाग्नि की तरह लगता है, और परमात्मविषयक बात चाहे सहज साधकों के बोधन के रूप में सुनें, या ज्ञानी गुरु द्वारा कथन के रूप में सुनें, दोनों ही रूप में ठंडी हवा की तरह लगती है। जैसे जब शुकदेव परीक्षित को भागवत सुना रहे थे, तब तीन दिन हो गये, परीक्षित ने न कुछ खाया, न कुछ पिया, वैसा का वैसा बैठा सुनता रहा। घड़ियों का तो जमाना था नहीं! आजकल तो अगर दस बजे प्रवचन समाप्त होना है, तो पौने दस से ही लोग घड़ियाँ देखने लगते हैं। लेकिन परीक्षित तो भूख प्यास से भी अछूता रहा। उसने कहा कि हालाँकि भूख प्यास सहना अत्यन्त कठिन होता है, फिर भी मुझे उनसे कोई कष्ट नहीं है क्योंकि आपके

मुख से निकलने वाला जो परमात्मा के गुण-कर्म का वर्णन है, वह अमृत की तरह लग रहा है। भगवत् सन्दर्भ जब ऐसा लगता है तब 'रमन्ति च'। जैसे दीर्घकाल से प्रवास में गया हुआ पति जब घर आता है, तब सब कार्यों को छोड़कर उसके साथ बैठने में ही मन रमता है, काम करना पड़े तो सहन नहीं होता। यहाँ तक शास्त्रों में कहा है कि भगवान् का दर्शन करते हुये ब्रह्मा जी को कोसते हैं कि आपने पलकें क्यों बनाई? पलक झपकती है तो क्षणभर को भगवान् नहीं दीखते, जिसे भगवान् के दर्शन में रमण होगा उसे इतना-सा व्यवधान भी असह्य लगता है। कभी कदाचित् ऐसा तोष-रमण होता हो यह नहीं, 'नित्यम्' हमेशा ही तोष और रमण उसी में होता है।

तोष और रमण करीब-करीब एक जैसी चीज़ें हैं। पर दोनों में खास फ़र्क समझ लेना चाहिए। अपने आप जो हो वह तोषप्रद माना जाता है और जिसके लिये तुम्हारा प्रयत्न हुआ करे, उस प्रयत्न का कारण रमण माना जाता है। इसलिये प्रारब्ध-भोग के कारण जो भी प्राप्त होता है उसमें 'यह परमात्मा का ही है,' ऐसा जान कर तोष होता है और अपनी तरफ से जब प्रवृत्ति करता है, मंदिर में दर्शन के लिये जाता है, तीर्थ-यात्रा को जाता है, श्रवण मनन करता है, तब वह करने का कारण रमण है। चीज़ अत्यन्त अच्छी लगती है, उसमें मन रमता है, इसी लिये उधर के लिये प्रवृत्ति करता है। 'बोधयन्तः परस्परम्' में तोष प्रधान है क्योंकि साथ वाला कहता है, तब जागृति आती है। खुद उसने उस समय प्रयत्न नहीं किया। और 'कथयन्तः' में वह स्वयं प्रयत्न करता है क्योंकि उसी की बात उसे अच्छी लगती है, ठीक जैसे संसारी व्यक्ति को संसारी बात अच्छी लगती है।

तीन पीढ़ी पहले हमारे एक मंडलेश्वर थे; कोई आता था, तो गद्दी पर बैठे हुये मसनद पर सिर रखकर सो जाते; कुछ खास कहते नहीं थें। वहाँ के जो कार्य करने वाले कोठारी थे, उन्होंने उनसे कहा 'महाराज! लोग आते हैं, कुछ उपदेश करिये, कुछ उनको सुनाइये। आप तो सो जाते हैं।' उन्होंने कहा 'अरे, वे बेचारे आते हैं, सुना जाते हैं, सुनने को कोई आता नहीं है।' उन्होंने कहा 'नहीं महाराज, ऐसा थोड़े ही होता है, बाकी सब सुनाते हैं।' वे बोले 'तुम कहते हो तो सुना देंगे।' अगले दिन कोई आया तो उन्होंने आत्मतत्त्व की बात सुनाना शुरू की तो जो घंटाभर बैठ कर अपनी बात सुनाता रहता था, उसने दस मिनट के बाद ही कहा 'महाराज! आज हमें ज़रा काम है, कहीं जाना है।' इस प्रकार तीन चार व्यक्ति जो सुनाते रहते थे, वे जल्दी चले गये। दो तीन दिन ऐसा होने के बाद उन्होंने कोठारी को बुला कर कहा 'देख लो, घंटाभर बैठने वाले दस मिनट में चल देते हैं! ये कोई सुनने नहीं आते, अपनी बातें सुनाने आते हैं। मैं सो भी जाता था तो, उन्हें लगता था कि सुन रहा हूँ अतः जी-भरकर सुना लेते थे, सुनाकर खुश हो जाते थे, मेरी कोई हानि नहीं; पर सुनने कोई नहीं आता।'

इसलिये भगवान् ने कहा कि श्रवण-मनन में वही लगेगा जो भगवत्स्वरूप में रमण

करने वाला है। अपनी तरफ से प्रवृत्ति वही करेगा। हमारे एक स्वामी जी कभी-कभी कहते हैं कि किताब का पढ़ना तो तभी होता है, जब कोई सवाल उठे या किसी को पढ़ाना हो! अर्थात् अपने अन्दर से प्रवृत्ति नहीं होती। पढ़ने में रति हो, रमण हो तब स्वतः पढ़ने की प्रवृत्ति होगी ही। ऐसा व्यक्ति सब समय श्रवण-मनन की प्रवृत्ति ही करेगा, उसके लिये ही प्रवृत्त रहेगा। इस तरह, प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन कैसे किया जाता है, यह स्पष्ट किया।।९।।

इस प्रकार से जो भजन करने वाले भक्त हैं, उन्हें क्या फल मिलता है यह बताते हैं-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०।।

मुझ परमेश्वर में ही जिनकी अनवरत एकाग्रता है और स्नेह से मेरा भजन करते हैं, उनका संबंध मैं अपनी वास्तविकता के सम्यक् ज्ञान से करा देता हूँ जिससे वे मुझे पा लेते हैं।

नित्य ही, सतत परमात्मा से युक्त वही होगा जिसको बाहर के पदार्थों के प्रति परम वैराग्य है। मन इकट्ठे ही दो विपरीत तरफ नहीं जा सकता। जैसे जब सौत आ जाती है, तब पति का ध्यान अवश्य बँट जाता है, दोनों से प्रेम करे तो भी ध्यान बँटना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार से, श्रवण-मनन के अंदर सतत युक्त रहने से रोकने वाली चीज़ है बाहरी विषयों की कामना। बाह्य किसी न किसी पदार्थ की इच्छा आने पर ही परमात्मा के श्रवण-मनन से मन हटेगा। 'सततयुक्तानां' कह कर भगवान् ने स्पष्ट बतला दिया कि यह भक्त परम वैराग्य वाला है। जब बाह्य कामना निवृत्त हो गई तब सांसारिक प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, अतः वह निवृत्ति-धर्मों का ही पालन करेगा। न उसको कोई अर्थ चाहिए, और न कोई काम की पूर्ति चाहिए। प्रेम के कारण ही वह भगवान् का भजन करता है। बंगाल में एक महापुरुष हुए हैं रामकृष्ण परमहंस; उनके एक शिष्य थे नरेन्द्र, जो बाद में विवेकानंद हुए। रामकृष्ण उनसे बहुत ज़्यादा प्रेम करते थे। एक बार नरेन्द्र उनसे मिलने गये तो उन्होंने नरेन्द्र से बात ही नहीं की! उन्होंने कुछ बात करने की चेष्टा की भी तो परमहंस मुँह फेर कर बैठ गये! और ऐसा सात दिनों तक निरन्तर चलता रहा। नरेन्द्र नियम से जाते रहे, जैसे हमेशा करते थे वैसे अपनी तरफ से बात करने की कोशिश करते रहे। सात दिनों के बाद परमहंस ने कहा 'अरे, मैं तुमसे बोलता नहीं, तुम्हारी तरफ मुँह करता नहीं, तुम बोलते हो तो मुँह फेर लेता हूँ, फिर यहाँ आते क्यों रहते हो?' नरेन्द्र ने कहा 'मैं कोई आपसे बातचीत करने के लिये थोड़े ही आता हूँ, यह तो आपकी मर्ज़ी है कि आप बोलें या न बोलें। मुझे तो आपसे प्रेम है, इसलिये मैं आये बिना नहीं रह सकता।' तब उन्होंने बड़े प्रेम से उसको छाती से लगा कर कहा 'मुझे भी तू इतना ही प्रिय है, मैं देखना चाहता था कि

तुम्हारा प्रेम मेरे लिये है, या तुमको ज़रा मैं प्रधानता देता हूँ इसलिये है।' इस प्रकार से जो किसी हेतु के बिना परमात्मा के प्रति प्रेम होता है, उससे प्रेरित होकर भजन करने वाला ही अविकम्प योग पाता है।

इस प्रकार परम वैराग्य और आत्मबल के प्रति परम प्रेम जब होता है, तब 'बुद्धियोगं ददामि,' उसको बुद्धियोग देता हूँ। बुद्धि अर्थात् ब्रह्माकार निश्चयात्मिका वृत्ति। जो परमात्म- विषयक निश्चयात्मिका वृत्ति है, सम्यक् दर्शन है, उस बुद्धि को ही यहाँ योग कहा है। 'मैं ही परब्रह्म हूँ,' इसके अर्थ का बोध हो जाना, ऐसी बुद्धि ही योग है। 'बुद्धियोग को दे देता हूँ' अर्थात् परमात्मा का सम्यक् दर्शन उसे हो जाता है। वास्तव में परमात्मा जैसा है, वैसा ही उसे पता लग जाता है। यद्यपि अभी वह उपासना कर रहा है, तथापि उपास्य का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ। बुद्धि मिलने पर उपास्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। 'मैं परमात्मा हूँ,' इस बात का दर्शन न होना ही हमारे यहाँ अज्ञान कहा जाता है। जर्मन भाषा सुनने पर उसका अवबोध नहीं होता है, कि क्या कहा जा रहा है। ध्वनि सुनाई देती है, परन्तु क्या कहा जा रहा है यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार उपनिषदों का अध्ययन करते हैं तो बात सुनाई दे जाती है, लेकिन उसका जो लक्ष्यार्थ है उसका प्रबोध नहीं होता। इसी का नाम अज्ञान है। बुद्धियोग की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् अन्तःकरण अखंड ब्रह्माकार ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, जो अखंड ब्रह्म अब तक उपास्य था वह अब उपास्य नहीं रहता, अपना प्रत्यक् स्वरूप हो जाता है। जिस चीज़ को तुम भली प्रकार से देख लेते हो, उसके बारे में किसी परिस्थिति में कभी संदेह नहीं होता। जब तक निश्चय दृढ नहीं है तब तक तो संदेह हो सकता है, पर जब निश्चय हो जाता है तब संदेह संभव नहीं होता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संशय ही सबसे बड़ा बंधक हो जाता है। संशय में विरुद्ध कोटि के ज्ञान होते हैं, एक कोटि सही ज्ञान की और दूसरी गलत की। यदि गलत कोटि का ज्ञान दृढ हो जाये तो उसे विपर्यय कहते हैं। संशय में तो दोनों कोटियाँ बराबरी की लगती हैं। और विपर्यय के अन्दर गलत कोटि का ही निश्चय हो जाता है। जब श्रवण-मनन करते हैं तब संशय होता है। अभी तो इस संसार के बारे में संशय बिलकुल नहीं है कि संसार है या नहीं? विपयर्य ज्ञांन है कि संसार है ही। जब शास्त्र सुनते हैं, तब संशय होता है, कि 'इतने बड़े-बड़े ऋषियों ने, इतने बड़े-बड़े महापुरुषों ने इस बात को ही दृढ किया है कि संसार है ही नहीं तो क्या ऐसा भी हो सकता है?' संसार मुझे स्पष्ट दीख रहा है, अतः है - यह कोटि भी रहती है और महापुरुष कह रहे हैं, अतः वास्तव में नहीं हैं - यह कोटि भी रहती है। दोनों विरुद्ध कोटियों में से किसी एक का निश्चय नहीं हो पाता है। अतः संशय होता है कि संसार है या नहीं है? इस प्रकार शास्त्र का श्रवण-मनन करने से संशय आता है। वह संशय यदि हट जाये कि शास्त्र कह रहा है तो, 'नेह नानास्ति किंचन' ही ठीक है, तो सम्यक् निश्चय हो जायेगा। ऐसे

समझ लो : मंद अंधकार में पड़ी रस्सी को हमने साँप समझ लिया। उस समय लगता है, यह साँप ही है। फिर प्रकाश में देख लिया तो निश्चय होगा, 'रस्सी ही है,' उसके बाद कोई कितना ही समझाने की कोशिश करे कि यह साँप है, बात जमती नहीं है। ऐसे दार्शनिक हुये हैं जो कहते हैं, रस्सी में साँप इसलिये दीखता है कि उसमें छोटा-सा साँप होता है, जो दोष से बड़ा दीख जाता है! परन्तु ऐसी बातें सुनकर भी किसी को सन्देह नहीं होता क्योंकि स्वयं स्पष्ट देख लेता है कि रस्सी में साँप का नाम निशान नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से इस सम्यक् दर्शन लक्षण बुद्धियोग की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार जब अखण्ड बोध से अपरोक्ष हो जाता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ, सारा दृश्य मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है,' तब संशय विपर्यय दूर हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं, 'येन माम् उपयान्ति' अर्थात् सिवाय इस अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति के और कोई उपाय नहीं है जिससे मुझे प्राप्त कर जायें। ऐसी जगह 'उपयान्ति' या प्राप्ति का अर्थ अज्ञाननिवृत्तिरूप प्राप्ति ही होता है। अतः भाष्यकार कहते हैं, 'मां परमेश्वरम् आत्मभूतम् आत्मत्वेन उपयान्ति प्रतिपद्यन्ते,' है तो पहले भी हम ब्रह्मरूप ही, लेकिन हमें जो भ्रम है वह हट जाता है, इसी को प्राप्ति कहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने प्रतिज्ञा की कि जो निरन्तर निदिध्यासन में लगे हुए हैं, उस तत्त्व को समझ कर के निरन्तर उसी का चिन्तन, उसी का कथन करते रहते हैं, उसी के लिये अपना जीवन समर्पित कर चुके हैं, उनको मैं कृपा करके, साक्षात् दर्शन दे देता हूँ।। १०।।

प्रीतिपूर्वक भगवान् का भजन करने वाले को बुद्धियोग की प्राप्ति बतायी। 'प्रीतिपूर्वक' अर्थात् प्रेम से वह भजन करता है। अन्य अनिवार्य व्यवहार प्रीतिपूर्वक, प्रेम से, रुचि से नहीं करता। अज्ञानावस्था में संसार से सर्वथा व्यवहार न हो यह सम्भव नहीं पर यदि संसार के प्रति प्रीति न रहे तो वह व्यवहार बन्धनकारी नहीं रह जाता है। इच्छा से, कामना से, विषय-सम्बंध हो तभी बंधनका हेतु बनता है। निवृत्तकाम व्यक्ति, विषयदर्शन मात्र से परमात्मविमुख नहीं हो जाता है। परमेश्वर को अपना आत्मा जानने से उसे उसका हमेशा भान रहता है। और आत्मा होने से उससे हमेशा असीम प्रेम बना रहता है। ऐसा भक्त भले ही कुछ न चाहे पर उसे दुःख-दर्शन की संभावना भी नहीं रहे इसलिये कृपा कर भगवान् स्वयं उसे बुद्धियोग देते हैं। आत्मस्वरूप की समग्रता का साक्षात् ज्ञान ही बुद्धियोग या सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन की कमी ही सारे संसार के दुःखों का कारण है। वे भक्त सतत युक्त हैं, अतः सत्य को जानते तो हैं, परन्तु परोक्षतया जानते हैं, अपरोक्षतया नहीं जानते। 'यह सब ब्रह्म-स्वरूप है सच्चिदानंदरूप है', यह परोक्ष ज्ञान हुआ। 'मैं ही परम ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष है। थोड़ा ही फ़र्क रहता है, परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान में। 'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है, मैं *भी* ब्रह्म स्वरूप हूँ' यह ज्ञान है तब तक परोक्षता है। इस स्थिति में सब कुछ है, परन्तु उसकी वास्तविकता ब्रह्मरूप है और सब कुछ के अन्दर मैं भी कुछ हूँ ज़रूर जिसकी वास्तविकता ब्रह्म है।

किन्तु मैं *ही* ब्रह्म हूँ, मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं हैं। यह अपरोक्ष ज्ञान है। बुद्धियोग से उस सतत युक्त भक्त को यही अपरोक्ष दर्शन हो जाता है। इसी बात को कहते हैंः

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। ११।।

उन्हीं पर कृपा करने के लिये उनके अन्तःकरण की अखण्डाकार वृत्ति में स्थित हुआ मैं सम्यक् दर्शनरूप प्रभा वाले ज्ञानरूप दीपक से अज्ञान से उत्पन्न तम को नष्ट कर देता हूँ।

जो सतत युक्त रह कर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, 'तेषां' उन लोगों पर ही यह विशेष कृपा होती है। जब तक साधक इस स्थिति में नहीं पहुँचा है तब तक उसको भगवान् बुद्धियोग देते नहीं। जब किसी पर दया आती है तब तीव्र इच्छा होती है कि इसके दुःख को मैं निवृत्त करूँ। बिना दया आये ऐसा होता नहीं। परमेश्वर को दया तब आती है जब भक्त सतत युक्त प्रीतिपूर्वक भजन करता है। बहुत से लोगों के मन में यही रहता है कि भगवान् सब को मुक्त क्यों नहीं कर देते? प्राचीन काल में एक राजा रन्ति देव हुऐ हैं, उन्होंने भगवान् से प्रार्थना ही यह की थी कि 'जितने पाप हैं उन सब को भोगने को मैं तैयार हूँ, ताकि सारा संसार मुक्त हो जाये! सबके बदले मैं भोग लूँगा।' भगवान् ने कहा, ऐसा नहीं होता; जब उन्हें दया आयेगी तभी वे बुद्धियोग देंगे जिससे मोक्ष होगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि उनके ही ऊपर अनुकम्पा करने के लिये कि 'इनका श्रेय कैसे होवे, कल्याण कैसे होवे', मैं बुद्धियोग देता हूँ। ज्ञान के प्रति, अपरोक्ष प्रतीति के प्रति, कारण एकमात्र परमेश्वर की दया है। दया तब होती है जब उसके लिये सततयुक्त प्रीतिपूर्वक भजन किया जाता है। तभी वह बुद्धि तैयार होती है कि दया उसके ऊपर प्रकट हो सके। शास्त्रीय भाषा में कहो तो अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति जड होने से अज्ञान का नाश नहीं कर सकती। अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति में ब्रह्म प्रतिबिम्बित होकर ही अज्ञान को नष्ट कर सकता है। चूंकि ब्रह्म खुद ही प्रतिबिम्बित होकर नष्ट करता है इसलिये अज्ञान का नाशक ब्रह्म ही है।

एक और पारिभाषिक प्रश्न उठता है कि ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ता है, या नहीं? आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्मज्ञान-स्थल में वृत्तिव्याप्ति ही है, फलव्याप्ति नहीं। असली बात है कि जिस प्रकार से धूप में बैठे हुऐ हो, वहाँ एक पाँच नम्बर का लट्टू जल रहा है, या पाँच सौ नम्बर का जल रहा है, कोई फ़र्क नहीं पड़ता! लट्टू तो निश्चित जल रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन *उससे* कोई अंधेरा वहाँ मिट नहीं रहा क्योंकि धूप खिली होने से वहाँ अंधेरा है ही नहीं। लट्टू जलता है तो अंधेरा नष्ट *हो सकता* है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन वहाँ अंधेरा है ही नहीं तो, लट्टू का प्रकाश क्या नष्ट करेगा! इसी प्रकार से वृत्ति बनेगी तो उसके अंदर प्रतिबिम्ब पड़ेगा,

लेकिन जिस ब्रह्म को वह प्रकाशित करता वह स्वयम् ही असीम ज्ञानरूप है, अतः प्रतिबिम्ब के करने लायक कोई कृत्य नहीं है। जैसे करोड़ों सूर्यों का प्रकाश जहाँ पहले से ही मौजूद है वहाँ पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी बेकार है, कोई काम करता नहीं, इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्बत चेतन कुछ कर नहीं पाता, इसी दृष्टि से कहा जाता है कि फलव्याप्ति नहीं है अर्थात् *उससे* वह प्रकाशित नहीं होता, वह स्वयं ही अपने अंधकार को नष्ट कर देता है।

मैं परमेश्वर किसे नष्ट करता हूँ? 'अज्ञानजं तमः।' एकता का जो अज्ञान है, अखण्डता का जो अज्ञान है, उससे होने वाला जो तम है अर्थात् मोहान्धकार है, उसे नष्ट करता हूँ। मोह के अन्धकार का सारा क्रम समझ लेना; अज्ञान समेत उससे जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब नष्ट करता हूँ। अज्ञान से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वहाँ से चल कर ठेठ पृथ्वी तक सब एक के बाद एक पैदा होते रहे, उन सबका पंचीकरण हो गया, इंद्रियाँ बन गईं, यह सब किस से हुआ? अज्ञान से। होता वैसे ही है जैसे सोमशर्मा की कथा है : भिक्षा माँगने गया तो किसी सोम शर्मा को सत्तू ज़्यादा मिल गया। जितना खाना था, खा लिया। बाकी लाकर किसी के बारामदे में एक खूँटी पर पोटली में बाँधकर टाँग दिया। स्वयं का घर तो था नहीं, किसी के घर के बाहर बरामदे में सो जाया करता था। लेट गयः तो ख्वाब देखने लगाः आज सत्तू खूब मिला है। अगर शाम के समय इसको बाजार में बेच दूँगा तो दो-तीन कौड़ी मिल जायेंगी। कल भी खाने को तो भीख मिल ही जायेगी। इन दो-तीन कौड़ियों से थोड़ा चना लेकर बाजार में बेच दूँगा तो दो आने मिल जायेंगे। फिर परसों दो आने से कुछ मुड़ी (मुरमुरा) ले लूँगा तो चार आने मिल जायेंगे पड़ा हुआ यों सोच रहा था बरामदे में। आगे सोचा की ज़रा पैसे हो जायेंगे तो दुकान बना लूँगा। मेरी दुकान हो जायेगी तो लोग मुझे लड़की दे देंगे तो ब्याह हो जायेगा, बच्चे हो जायेंगे। दुकान में काम कर रहा होऊँगा और बच्चे शोर मचायेंगे तो मैं मारूँगा एक लात, 'जाओ यहाँ से, काम करने दो'। यह सोचते हुये उसने जो लात मारी वह सत्तू की पोटली में लगी और सारा सत्तू नाली में गिर गया! बेचारा बड़े ज़ोर से रोने लगा। दूसरे जितने उसके साथी भिखारी थे वे आकर पूछने लगे 'क्या हो गया? इतना क्यों रो रहा है, आज तो सत्तू भी अच्छा मिल गया था?' उसने नाली में पड़े सत्तू को दिखाकर कहा 'सब नष्ट हो गया!' उन्होंने कहा 'अरे, खा तो चुका था, इतना-सा सत्तू गया तो रोने की बात क्या है?' कहने लगा, 'मैं सत्तू को थोड़े ही रो रहा हूँ! मेरी दुकान गई, घरवाली गई, सब कुछ चला गया।' जैसे यह ख्वाब था, वैसे ही अज्ञान से आकाश दीखा, आकाश से वायु आदि क्रम से पृथ्वी दीखी। बड़े-बड़े शहर दीखे। मोटरें घूमती हुई दीख गईं, उन मोटरों के अन्दर मोह हो गया कि 'मेरी मर्सिडीज़ गाड़ी बढ़िया है।' किस की गाड़ी है! किस का क्या है! मिथ्या प्रतीति मात्र ही जिसका लक्षण है, ऐसा यह मोह अंधकार है। थोड़ा-सा भी विचार करो

तो झट से समझ में आ जाता है कि मोहान्धकार है, इसमें तथ्य कुछ नहीं है।

इसे समझाने के लिये भगवान् ने दो चीज़ें बहुत बढ़िया बनाईं - एक तो तीन अवस्थाएँ और दूसरा, जन्म-मृत्यु का प्रवाह। जाग्रत् का धन स्वप्न में काम नहीं आता है। अगर सच्चा होता तो किसी भी अवस्था में बना रहना चाहिए। तुम्हारे पास सोना है, तो तुम संसार में किसी भी देश में जाओ, बेच सकते हो। तुम्हारे पास पाँच सौ रुपये का नोट है, तो तुम भारत से अन्यत्र जाकर उससे कुछ नहीं खरीद सकते। इसलिये लोग नोट देकर सोना खरीदते हैं। सोना आज भी मूल्यवान् है, दस साल बाद भी रहेगा। नोट ऐसा नहीं, क्योंकि सच्चा धन नहीं है। इसी प्रकार से जाग्रत् की कोई चीज़ स्वप्न के काम की नहीं और स्वप्न की कोई चीज़ जाग्रत् के काम की नहीं। दोनों जगह मैं तो एक ही हूँ। मुझ में कोई फ़र्क आता नहीं। और जब मैं गहरी नींद में चला जाता हूँ तब न जाग्रत् रहता है, न स्वप्न रहता है, दोनों ही नहीं हैं। इस प्रकार तीन अवस्थाओं के द्वारा भगवान् ने हमारे सामने अपने को जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से अलग करके दिखा दिया।

दूसरा प्रश्न लोग उठाते रहते हैं कि स्वप्न से तो हम घंटे-आधे घंटे में उठ जाते हैं, फिर स्वप्न की चीज़ तो कभी सामने नहीं आती, पर जाग्रत् की चीज़ें ठीक है कि स्वप्न में अनुभव में नहीं आती हैं, परन्तु जब हम वापिस जाग्रत् में आते हैं, तब चीज़ें ऐसी की ऐसी मिलती हैं। अतः जाग्रत् को स्वप्न की तरह सर्वथा मिथ्या कैसे मान लें? इसलिये भगवान् ने दूसरी सुन्दर चीज़ दी - जन्म-मृत्यु का प्रवाह। यह मोटर, यह मकान, यह घरवाली, ये गहने, जाग्रत् में तुम्हारे हैं और सौ साल जब तक पूरे होंगे तब तक तुम्हारे रहेंगें, पर यहाँ से जाओगे तो क्या बाँध कर ले जाओगे? घरवाली को ले जाओगे? घरवाली के गहने ले जाओगे? कुछ भी तो यहाँ से लेकर नहीं जा सकोगे। और क्या ये तुमको फिर कभी दीखेंगे? हम कम-से-कम हज़ार आदमियों को जानते हैं जिनके पिता उनसे बहुत प्रेम करते थे। कहते थे, 'बच्चों के बिना मैं रह ही नहीं सकता। मेरे बच्चे बहुत ही अच्छे हैं।' फिर मर गये। किसी को मरे बीस साल हो गये, किसी को पन्द्रह साल हो गये, किसी को दस साल हो गये। आज तक किसी के पास, पाँच पैसे का पोस्टकार्ड तक नहीं आया कि 'बेटा मैं तो ठीक हूँ, तुम लोग कैसे हो?' अतः जैसे स्वप्न शीघ्र मिटकर पुनः सामने नहीं आता वैसे जाग्रत् के पदार्थ कुछ लम्बे समय के लिये दीखकर जैसे ही मृत्यु का क्षण आता है उसके बाद कुछ नहीं रहते। इसलिये संसार को है समझना, संसार के ही एक अंश शरीर-मन को मैं और मेरा समझना, यही मोह है। जैसे ही विचार करते हैं वैसे ही इसकी सिद्धि हो जाती है, कि ये सब कुछ सच्चे नहीं हैं।

यद्यपि भगवान् ने अवस्थात्रय और मृत्यु देकर विवेक का अत्यंत सुन्दर मौका दे रखा है तथापि अज्ञान का ऐसा प्रभाव है कि इनके बारे में सोचने ही नहीं देता। मृत्यु

की चर्चा को ही लोग अमंगल मानते हैं, स्वप्न के बारे में भी प्रसिद्ध कर रखा है कि अमुक स्वप्न का अमुक फल होता है, अर्थात् स्वप्न को भी जाग्रत् से जोड़ रखा है, ताकि उसका सर्वथा बाध्य रूप न रह जाये, उसमें भी कोई सत्यांश प्रतीत हो जाये। ऐसे ही वेद ने जो सृष्टि-प्रक्रिया कही है, संसार को मिथ्या व एकमात्र परमात्मा की व्यापकता को बताने के लिये, उसी प्रक्रिया से लोग संसार को सत्य सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र ने कहा है कि आकाश से वायु उत्पन्न हुआ तो ज़रूर हुआ! भगवान् कह रहे हैं कि वे ही कृपा कर अज्ञान के इस सारे मोहजाल को नष्ट कर देते हैं। कहाँ रहकर नष्ट करते हैं? 'आत्मभावस्थः', अन्तःकरण में स्थित होकर। जो सतत युक्त प्रीतिपूर्वक भजन कर चुका है, उस अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर अज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

कैसे नष्ट करते हैं इसे भगवान् एक दृष्टांत से स्पष्ट करते हैंः 'भास्वता ज्ञानदीपेन', जिस प्रकार सें अन्धकार को अत्यन्त तेजस्वी दीपक नष्ट कर देता है। तेजस्वी दीपक आते ही अन्धकार चला जाता है, कुछ पता नहीं लगता कि कहाँ गया। कोई ठिकाना पता लगता है जहाँ गया हो अंधेरा? इसी प्रकार से आचार्य शंकर लिखते हैं कि ज्ञान होने पर लगता है कि अभी-अभी यह जगत् था और अब अचानक ही रह नहीं गया! कहाँ गया? कौन ले गया?

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनम् इदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महद् अद्भुतम्।।'

इसकी कोई भस्मी भी बची नहीं रहती, सारा का सारा खत्म हो जाता है। जैसे अन्धकार का कोई लवलेश रहता नहीं वैसे ही इस मोहान्धकार का लवलेश रहता नहीं। दीपक बहुत छोटा हो तो थोड़ी-सी रोशनी देगा जो अत्यंत छोटे-मोटे किसी काम में सहायता देगी, पर ज़्यादातर व्यवहार के लिये बेकार है। इसी प्रकार से जब तक ज्ञान प्रतिबद्ध रहता है तब तक भी वह ज्ञान दीपक है, इसमें कोई सन्देह नहीं; जिस क्षण तुम्हारे विचार की पूर्ण तीव्रता होती है, उस समय तुमको सत्य प्रतीत भी हो जायेगा, पर वह ज्ञान अज्ञान के अन्धकार को नष्ट नहीं करता। इसलिये कह दिया 'भास्वता ज्ञानदीपेन', अत्यंत दीप्तिमान् जो ज्ञान है, विवेक-प्रत्यय है, उसके द्वारा ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। ज्ञान दीपक जलाने का तरीका भाष्यकार ने समझाया है। भगवान् ने इसको खोला इसलिये नहीं था कि 'सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्' इत्यादि के द्वारा तुम्हारा दीपक तैयार होगा तो भास्वान् ज्ञानदीप जल ही जायेगा। लेकिन हम लोग जल्दी समझ नहीं पाते इसलिये आचार्य ने ज़रा स्पष्ट किया। दीपक में तेल होता है; 'भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन', भक्ति का जो प्रसाद अर्थात् अनुग्रह है, वही ज्ञानदीप के लिये तेल है। किंतु ऐसी भक्ति जिसके अन्दर कहीं किसी प्रकार की अर्थ काम आदि की इच्छा का लेश नहीं रहता है, ऐसा प्रेम जिसमें और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है,

उसी भक्ति से जो भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होता है वही तेल है। यदि ज्ञानदीप जलाना चाहते हो तो ऐसा तेल होना चाहिए। जब तक हवा नहीं होवे तब तक दीपक नहीं जलता है। बिना वायु के दीपक नहीं जलता है। अगर तुम ऐसी जगह दीपक जलाना चाहो जहाँ ऑक्सीजन नहीं है तो नहीं जलेगा। सच्चिदानंद परमेश्वर की भावना का अभिनिवेश, आग्रह ही यहाँ वायु है। सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र उपादाननिमित्त कारण है। इस भावना का अभिनिवेश रखना है। परमात्मा कारण है, इतना तो सब मान लेते हैं, किन्तु वही एकमात्र कारण है, उससे अतिरिक्त कोई कारण है ही नहीं - यह स्वीकारने के लिये भक्ति की, विवेक की अत्यंत दृढता चाहिये। जब तक तत्त्वज्ञान दृढ नहीं होता, तब तक अन्य कारणों की प्रतीति होती है। भूख लगी, रोटी खाई, भूख मिटी; तो रोटी से भूख मिटती है - ऐसी प्रतीति होती है। उक्त अभिनिवेश वाला कहता है कि परमात्मा ही रोटीरूप से मेरी भूख को मिटाते हैं। उनके सिवाय और कोई कारण नहीं। स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है, पर अभिनिवेश रखना पड़ता है। क्योंकि अन्य-कारणता जहाँ स्वीकारी वहाँ सततयुक्तता खण्डित हो जायेगी। इसीलिये उपनिषदों में अज्ञान से आकाश आदि की सारी उत्पत्ति का जो क्रम है, वह यही बतलाने के लिये है कि चावल का दाना भी परमात्मा ही है। व्यवहार के अन्दर जो हम लोगों को अन्यत्र कारणता की प्रतीति होती है, उसे हटाने के लिये अभिनिवेश करना पड़ता है, कि और कोई नहीं, केवल परमात्मा ही कारण है।

दीपक के लिए बत्ती भी होनी चाहिये। यहाँ बत्ती की जगह तुम्हारी बुद्धि है। 'ब्रह्मचर्यादिसाधनसंस्कारवत्प्रज्ञावर्तिना'। जैसे तुम रुई को बट कर एकाग्र करते हो एक बिन्दु पर और उसके ऊपर हल्के हाथ से राख, कपूर भी लगाते हो, वैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, इन सब साधनों के पुनः पुनः अभ्यास से इनके संस्कारों वाली बनी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि ही यहाँ वर्ती, बत्ती है। जैसे रुई बटनी पड़ती है, वैसे चान्द्रायण, पंचाग्नि आदि तपस्याओं का अभ्यास बुद्धि को इस लायक बनाने के लिये ही है कि ज्ञानदीप प्रज्वलित हो जाये। जब बत्ती तैयार है, तेल तैयार है, तब एक दिया, दिवोटिया भी चाहिये जिसके अन्दर तुम तेल डाल के उसमें बत्ती लगाकर रखो। 'विरक्तान्तःकरणाधारेण' जो विरक्त अन्तःकरण है वही यहाँ आधार है। बुद्धि ही बत्ती है, बुद्धि ही दिवोटिया है। प्राचीन काल में रुई को थोड़े से आटे के साथ मिलाकर उसी का दिया बना लेते थे। इसी प्रकार यहाँ बत्ती भी बुद्धि है, और दीपक भी अन्तःकरण या बुद्धि ही है। सारी तैयारी होने पर जलाने के लिये क्या करते हो? कभी देखा होगा लोगों को बीड़ी पीते हुऐ; पहले चारों तरफ से हथेली से घेर लेते हैं, फिर दियासलाई लगाते हैं ताकि हवा से बुझे नहीं। 'विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन' विषयों से व्यावृत्त और रागादि से अकलुषित जो चित्त वही उस घिरी जगह की तरह है जहाँ ज्ञानदीप जलेगा। विषयों से व्यावृत्त, अर्थात् विषयों की तरफ जो सर्वथा नहीं

जा रहा। जिस समय ब्रह्माकार वृत्ति बनती है, उस समय में किंचित् भी अन्यत्र वृत्ति चली गई, तो एकाकार नहीं हो पायेंगे। कोई-कोई कहते हैं कि 'हमें चरखा कातते-कातते ही ध्यान हो जाता है।' या चरखा कातना रुक जायेगा, या ध्यान की गम्भीरता नहीं हो पायेगी। इसलिये जिस समय तुम ज्ञानदीप को तैयार करके जलाने जा रहे हो उस समय चित्त विषयां से व्यावृत्त कर ही देना पड़ेगा। यदि विषयों की उपस्थिति किंचित् भी रह गई तो ज्ञान को नहीं होने देगी। रामकृष्ण परमहंस के जीवन में यहाँ तक आता हैः उन्होंने बहुत भक्ति की थी। जब उनके गुरुजी, तोतापुरी जी ने उपदेश दिया और कहा कि 'अब यह वृत्ति बना कर बैठ', तो थोड़ी देर में रामकृष्ण कहने लगे, 'मुझसे नहीं होता।' उन्होंने पूछा 'क्या याद आता है?' वे बोले 'बाकी सब जगह से तो मन हट जाता है, देवी जी सामने आ जाती हैं।' गुरु जी बोले 'नहीं-नहीं, उसको भी हटा दे।' एक-दो बार प्रयास करके परमहंस ने कहा 'वह नहीं हटती। बार-बार देवी जी आ जाती हैं।' तोतापुरी पंजाबी थे, बड़े गुस्सैल थे। उन्होंने रामकृष्ण के भ्रूमध्य में काँच ठोक दिया और कह दिया कि 'सच्चिदानंद निर्विषय है। देवी में सच्चिदानंद के साथ नाम-रूप भी है। विवेक की तलवार से नाम-रूपको काट कर अलग कर दे।' ऐसा जब अभ्यास किया तब समाधि में स्थित हो गये। चाहे कितना दिव्य या शुद्ध विषय हो, विषय से व्यावृत्ति नहीं होगी तो वहीं भटक जाओगे। चित्त को इधर-उधर बहाने वाली हवा को रोक देना पड़ता है, और यह क्षण-दो क्षण का काम नहीं है, बैठ कर बिलकुल स्थिररूप से करना पड़ता है। तब 'नित्यप्रवृत्तैकाग्रध्यानजनितसम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेन' हमेशा कायम रखी एकाग्रता पूर्वक ध्यान से सम्यगुदर्शन पैदा होता है। यह ज्ञानदीप है जिससे अज्ञानजन्य तम नष्ट होता है। अतः भगवान् ने कहा कि ये सब साधन होते हैं, तब ज्ञानदीप द्वारा मैं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानतम को नष्ट कर देता हूँ।। ११।।

श्रेष्ठ उपासक के लिये तो इतने साधन बताने से काम हो जायेगा, परन्तु जो मंद, मध्यम उपासक हैं वे अभी सतत युक्त हो नहीं सकते, क्योंकि उनके मन में कुछ कामनायें भी होती हैं, सारी कामनाओं से रहित नहीं होते अतः भक्ति की पूर्णता भी नहीं होती; उनके लिये क्या साधन है - यह पूछने की इच्छा से अर्जुन आगे प्रसंग उठाता है-

अर्जुन उवाच-

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। १२।।

आहुस्त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। १३।।

अर्जुन ने कहा- आप परमात्मा हैं, सर्वोत्तम तेज हैं, अत्यन्त शुद्ध व कूटस्थ हैं। सारे ऋषि आपको प्रपंच से अतीत, सर्वकारण, स्वप्रकाश, अजन्मा, व्यापक, सनातन पुरुष कहते हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी यही कहते हैं। और खुद आप भी मुझे यही समझा रहे हैं।

मन्द-मध्यम अधिकारी द्वारा उपासनीय विभूतियाँ जानने के लिये अर्जुन भगवान् को प्रसन्न करने वाले वचनों से बता रहा है कि आपने जैसा कहा वैसा मैं तो समझ लेता हूँ, परन्तु अन्य अधिकारियों के लिये मेरा प्रश्न है।

'परं ब्रह्म भवान्' आप परब्रह्म हैं। ब्रह्म की वास्तविकता तो हमेशा ही मैं के रूप में प्रतीत होगी, मैं - इस प्रतीति का विषय ही ब्रह्म होता है, इदम्-प्रतीति का विषय नहीं होता है। किन्तु जब तक तत्-त्वम् पदार्थों का पूर्ण शोधन नहीं हो जाता तब तक 'अहं ब्रह्म' बोध नहीं हो पाता, ब्रह्म में पराक्-रूपता लगती है इसलिये 'भवान् ब्रह्म' कहा कि आप ब्रह्म हैं। इस स्थिति में ब्रह्म में अस्मत् प्रतीति का आरोप करना पड़ता है। अस्मत् प्रतीति के साथ जो उपासना की जाती है, वह परमेश्वर को सर्वाधिक प्रिय है, परन्तु वह सब के लिये सम्भव नहीं हो पाती है। इस बात को जानते हुये 'भवान्' कहा कि 'आप परमेश्वर होने से अन्तःकरण में, हृदय के अन्दर ही निवास करने वाले हैं। फिर भी मैं आपको अपने से अलग समझकर उपासना कर पा रहा हूँ।' अनेक ध्यानों के अन्दर परमेश्वर को अपने हृदय में बैठा समझने को कहते हैं। कई बार उपासक प्रश्न करते हैं कि हृदय में परमेश्वर बैठे हैं तो हम कहाँ हैं? अपने को बाहर देखना पड़ेगा ! अपने को अपने ही हृदय से बाहर देखना, प्रारम्भ में बड़ा कठिन होता है। शरीर में कोई और बैठा हुआ है - ठीक-ठीक इसका चिन्तन करने जाओ तो बिजली का झटका-सा लगता है। देहरादून में एक सज्जन का मकान था, ताला बन्द करके वह दो महीने के लिये कहीं घूमने चला गया। किसी बदमाश ने किसी ग्राहक को समझा दिया कि वह उसी का मकान है, और बेच दिया! जब वह दो महीने के बाद आया तो उसने देखा कि अन्दर में कोई आदमी-औरत बैठे हुऐ हैं। उसने पूछा 'तुम कौन हो?' वे बोले 'तुम कौन हो? हम लोगों ने तो मकान खरीदा है। हम यहाँ के वाशिंदे हैं।' उसने कहा 'अरे! मकान मेरा, तुमने कैसे खरीदा! तुम्हारा कहाँ से हो गया मकान!' उस बेचारे को कहीं अन्यत्र जाकर रहना पड़ा। मुकदमा हुआ, कई सालों के बाद मकान फिर खाली हो पाया। जैसे उस मकान के अन्दर दूसरे लोगों को बैठा देखकर उसको बड़ा झटका लगा, ऐसे ही अपने शरीर में कोई और बैठा हुआ है यह देखने से बिजली का - सा झटका लगता है। धीरे-धीरे जब आदमी इस साधना को करता रहता है, तो इसमें बैठे हुये परमेश्वर के प्रति अस्मत्-बुद्धि बनती चली जाती है, और इस शरीर आदि के प्रति होने वाली अस्मत्-बुद्धि हटती चली जाती है। 'परं ब्रह्म'; जीव भी प्रतिबिम्बरूप से तो ब्रह्म है, परन्तु परमेश्वर साक्षात् ही ब्रह्म है। जैसे दर्पण में भी सूर्य है,

प्रतिबिम्बरूप से वह भी चका-चौंध पैदा करता है, प्रकाश देता है, परन्तु आकाश में जो है वही साक्षात् सूर्य है। ऐसे जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण ब्रह्म है, पर उपाधि को लेकर है। और परमेश्वर प्रतिबिम्ब होने से नहीं, स्वरूप से ही ब्रह्म है। अन्तःकरण की उपाधि होने पर तो जीवरूप से ब्रह्म की प्रतीति है, परन्तु अन्तःकरण का कारण मूलाज्ञान जब नष्ट हो जाता है, तब जो है, वह साक्षात् परमेश्वर है। इसलिये जीवरूप से वैलक्षण्य बताने के लिये केवल 'ब्रह्म' नहीं कह कर 'परं ब्रह्म' कहा।

'परं धाम', धाम का एक अर्थ होता है, जहाँ रहा जाता है। जैसे किसी से पूछते हैं 'आपका नाम-धाम क्या है?' जिसको आजकल के लोग पता-ठिकाना (एड्रेस) कहते हैं, वह धाम है। एकमात्र परमेश्वर ही सबका अंतिम ठिकाना है। बाकी जितने ठिकाने हैं वे सब तात्कालिक हैं, अस्थायी हैं। मकान का ठिकाना लोग बतला देते हैं, कि मेरा यह पक्का ठिकाना है। थोड़े दिनों में मकान बेच देते हैं। दूसरा ठिकाना हो जाता है। पक्का कहाँ रहा? अगर शरीर को ठिकाना कहो, तो शरीर भी सौ साल में छोड़ कर चले जाते हो? वहाँ भी तुम्हारा कुछ अता-पता नहीं लगता। अगर अन्तःकरण को ठिकाना कह दो तब भी काम नहीं बनेगा। गहरी नींद में वह अन्तःकरण नहीं रहता। महाप्रलय में भी अन्तःकरण नहीं रहता। हमेशा कहाँ रहते हो? मैं - इस अनुभव में भासमान जो चेतन है, वही तुम्हारा वास्तविक निवास है। क्षणमात्र के लिये भी उस चेतन-स्वरूप में कमी नहीं आती। अतः बाकी जितने भी धाम हैं वे अपर धाम हैं, और यह परम धाम है, क्योंकि यहाँ से कभी भी कहीं जाना ही नहीं होता, हमेशा ही चेतन बना रहता है। अनादि काल से हम लोग खूब कोशिश कर रहे हैं जड बनने की, कोशिश कर रहे है कि अहंकारात्मिका वृत्ति मैं हूँ। जैसे सूक्ष्म शरीर, वैसे ही स्थूल शरीर बनने की भी कोशिश करते हैं। छाती ठोक कर कहते हैं 'यह मैं हूँ'। अहम्-इत्याकार वृत्ति से लेकर देह पर्यन्त उपाधियों से एकता बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी कभी क्षणमात्र को भी चेतनभाव छोड़ नहीं पाते! और हम लोगों के दुःख का यह एक बड़ा कारण है। उपाधियाँ अनात्मा हैं, अपने नियमों से, संस्कारों से चलेंगी। इनका चलना अनुकूल होगा तो तुम खुद को सुधरा समझकर खुश हो जाओगे, इनमें प्रतिकूलता आयी तो स्वयं को बिगड़ा मानकर दुःखी हो जाओगे। ये मायिक होने से कभी हमेशा सुधरे रह नहीं सकते, इनमें मायिक, माया के दोष रहेंगे ही। इनसे तादात्म्य रखोगे तो हमेशा दुःखी बने रहना पड़ेगा। वस्तुतः तुम कभी इनसे एक नहीं हो सकते क्योंकि तुम चेतन हो, जड नहीं हो सकते। जो यह मानेगा कि 'शरीर ठीक होगा तब मैं ठीक होऊँगा, मन ठीक होगा तब मैं ठीक होऊँगा, बुद्धि ठीक होगी तो मैं ठीक होऊँगा;' उसकी हमेशा समस्या रहेगी, हमेशा दुःखी होता रहेगा। जब तुम जान लेते हो 'मैं चेतन हूँ, इनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है,' तब तुम अपने परम धाम को पहुँच जाओगे। अतः अर्जुन कहता है, 'भगवन् आप ही परम धाम हैं।'

धाम का दूसरा अर्थ होता है प्रकाश, तेज। बाकी जितने प्रकाश हैं वे किसी अन्य से प्रकाशित होते हैं। किताब प्रकाशित होती है सूर्य-प्रकाश से। सूर्य प्रकाशित होता है आँख के प्रकाश से। किसी अन्धे आदमी के लिये जेठ के बारह बजे भी प्रकाश नहीं है! जब तक आँख नहीं होगी तब तक सूर्य का प्रकाश भी अन्धकार ही रहेगा। आँख का प्रकाश भी अपेक्षा रखता है अन्तःकरण के प्रकाश की, मन के प्रकाश की। मन के द्वारा ही आँख का प्रकाश प्रकाशित होता है, जाना जाता है। आगे मन की वृत्ति का, बुद्धि की वृत्ति का प्रकाश करने वाला तो परमेश्वर ही है। उसको कौन प्रकाशित करे! ब्रह्म को कौन जानता है? इस प्रश्न का वेद में स्पष्ट जवाब है : ब्रह्म को कोई नहीं जानता। ब्रह्म को ब्रह्म ही जानता है। जब तक ब्रह्म नहीं होवोगे तब तक ब्रह्म को जानोगे नहीं। उसका कोई प्रकाशक नहीं । वह जानने वाला है, कभी जाना नहीं जाता। इसलिये कहा 'परम धाम आप परम तेज हैं'। आगे भगवान् पन्द्रहवें अध्याय में बतलायेंगे कि सूर्य चन्द्रमा आदि सबको वे प्रकाशित करते हैं। सचमुच में, वे ही सबको प्रकाशित करते हैं, और कोई दूसरा प्रकाश करने वाला नहीं है। दोनों ही अर्थ 'परं धाम' के समझ लेना।

'पवित्रं'; जिसके रहने मात्र से सब कुछ पावन कहा जाता है, वही सचमुच में पवित्र है। जैसे जिस चीनी के पड़ने से सारी मिठाइयाँ मीठी होती हैं, वह चीनी ही वस्तुतः मीठी है, दूसरे तो उसके स्पर्श से मीठे हैं, इसी प्रकार गंगा, यमुना आदि नदियाँ, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ, ऋषि मुनि आदि सब पवित्र तभी होते हैं जब परमात्मा से सम्बन्धित हैं। पत्थर के अन्दर जब कारीगर ने शंख, चक्र, गदा, पद्म बना दिये, विष्णु-मूर्ति हो गई, तब पत्थर पवित्र हो गया। उसको धोकर उस पानी को छिड़क लो तो पवित्र हो जाते हो। दूसरा भी पत्थर रखा हुआ है, वह क्यों नहीं पवित्र समझा जाता है? क्योंकि उसका भगवान् विष्णु से सम्बंध नहीं हुआ। माता की वन्दना करते हैं। वह पवित्र है कब तक? जब तक उसका परमात्मा से सम्बन्ध है। जैसे ही वह सम्बन्ध गया, वैसे ही कहते हैं, 'इसकी मिट्टी को रास्ते लगाओ।' जिसको इतना पूज्य मानते थे कि अगर कभी मुँह से उसके लिये तुकारा निकल जाये तो प्रायश्चित्त करना पड़ता था, उसी माता के कपाल का भेदन करने का विधान है। क्यों? क्योंकि वह जो पवित्र करने वाली चीज़ थी वह चली गयी। परमात्मा ही सर्वत्र पवित्रता का हेतु है अतः वही परम पवित्र है।

'परमं पुरुषम्;' आप परम पुरुष हैं। पुरुष उसको कहते हैं जो पूर्ण होता है। जिसकी पूर्णता सापेक्ष है, वह पुरुष तो है परन्तु परम पुरुष नहीं है। ऋषि, महर्षि, देवऋषि जितने भी हैं, सारे के सारे पूर्ण किसको लेकर हुये? परमेश्वर को ही प्राप्त करके पूर्ण हुए। अतः उनको सापेक्ष पुरुष कह सकते हैं। और जिसको प्राप्त करके ये पुरुष बने, वह परम पुरुष है।

'शाश्वतं' हमेशा एक जैसे हैं, किसी प्रकार का विकार कभी आप में आता ही नहीं। अनन्त काल से अनन्त सृष्टियाँ आपके अन्दर उत्पन्न हुई, लीन हुई, पर आप में किसी प्रकार का किसी से सम्बन्ध नहीं हुआ; आप में कोई परिवर्तन हो गया हो, ऐसा नहीं हुआ। जैसा भगवान् भाष्यकार कहते हैं, चाहे सैकड़ों वर्षों तक रेगिस्तान के अन्दर जल दीखता रहे, परन्तु क्या सैकड़ों साल दीखा वह जल वहाँ की बालू के एक कण को भी गीला करता है? ठीक इसी प्रकार अनादि काल से न जाने कितने शरीर आदि और उनके कितने विकार आदि मुझ आत्मतत्त्व में होते रहे, परन्तु क्या वे मुझे कुछ परिवर्तित कर पाये! हम तो वैसे के वैसे हैं। अनादि काल से न जाने हमने कितने पाप किये, परमेश्वर को प्रणाम तक नहीं किया। एक आचार्य कहते हैं, 'हमने इसके पहले परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति नहीं की इसमें मेरा शरीर पैदा होना ही प्रमाण है। जन्म लिया, इससे यह सिद्ध होता है कि इसके पहले कभी भी भगवान् की तरफ मैं गया ही नहीं, प्रणाम किया ही नहीं। इतना ही नहीं, यह निश्चित है कि भगवान् की तरफ आ गया, भगवान् को प्रणाम कर लिया तो आगे भी कभी जन्म होगा नहीं। इस प्रकार इस शरीर के पहले किसी शरीर में भगवान् को प्रणाम नहीं किया और इस शरीर के बाद शरीर होगा ही नहीं तो फिर कभी प्रणाम नहीं कर सकूँगा - इन दोनों ही अपराधों के लिये क्षमा-याचना करता हूँ'। इस प्रकार पूर्व जन्मों में असंख्य अपराधों से क्या आत्मतत्त्व कुछ मलिन हो गया? नहीं । यह तो ऐसा शाश्वत तत्त्व है, जिसमें कभी क्षणिक विकार भी आता ही नहीं।

'दिव्यम्'; आप हमेशा अप्राकृत ही रहते हैं। जिस समय आप प्राकृत दीख रहे हैं, उस समय भी आप प्राकृत होते नहीं। जैसे रस्सी साँप दीखते हुये भी साँप होती नहीं ऐसे ही यहाँ आप प्राकृत दीख रहे हैं। प्रकृति के विकार आप में दीख रहे हैं। आपका रूप भी दीख रहा है। आप में रस भी है, गन्ध भी है, आपका धीर गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा है, स्पर्श भी है, प्रकृति की सारी चीज़ें आप में दीख रही हैं। परन्तु ये सब दीखने पर भी आप दिव्य अप्राकृत, प्रकृति से अतीत ही हैं। इसमें शाश्वतत्व को हेतु भी समझ लेना; निर्विकार होने से ही दिव्य बने रहते हैं। सारे विकारों की आप में प्रतीति होने पर भी किसी प्रकार से आप विकृत होते नहीं। 'आदिदेवम्' आप सबका मूल होने से आदि तथा स्वयंप्रकाश होने से देव हैं। किंच आप ही सब देवताओं के आदि अर्थात् कारण भी हैं। भगवान् खुद कह आये हैं, 'मैं ही अपने स्वरूप को जानता हूँ, क्योंकि देवता ऋषि इत्यादि सब तो मेरे बाद पैदा हुये।' 'अजम्' सबका आदिकारण स्वयं तो जन्मरहित होगा ही। जो सब का बाप है, अगर वह किसी से पैदा हो जाये, तो *सब* का बाप नहीं हो सकता; इसलिये अर्जुन ने कहा कि आप कारणरूप हैं, कारण से रहित हैं। बाकी सब को तो आपने पैदा किया परन्तु आप कभी पैदा हुये नहीं। भगवान् की जन्म-कथा में आता है, कि देवकी ने जब पैदा किया उस समय वहाँ चतुर्भुजी मूर्ति

दीखी और वसुदेव आदि ने प्रार्थना की कि 'अब आप बच्चे की तरह दीख जाइये'। इसके द्वारा पता लग जाता है कि हम जिस का जन्म मना रहे हैं वह अज है। वसुदेव की प्रार्थना पर बालकरूप हैं, अन्यथा तो पूर्व से स्थित हैं ही।

'विभुम्' भाष्यकार लिखते हैं, 'विभुं विभवनशीलम्'; विभु का सीधा अर्थ है व्यापक। कभी तेज़ प्रकाश में किसी बहुत बढ़िया हीरे को देखो तो एक क्षण ऐसा नहीं रहता कि एक जैसा प्रकाश दीखे। वही हीरा है, हीरे में कुछ फ़र्क नहीं पड़ रहा है, पर देखने वाले को उसमें निरन्तर बदलते हुये रंगों की प्रतीति होती है। ठीक उसी प्रकार से परमेश्वर बिल्कुल एक जैसा बना रहता है, और देखने वालों को अनादि काल से सृष्टि के अनंत दृश्य वहाँ दीख रहे हैं। महर्षि वशिष्ठ ने इसी लिये उनको एक बृहत् शिला कहा। अखंड शिला के ऊपर अनंत रूप खोद दिये जाते हैं। कभी जाकर देखो घुष्मेश्वर में, एलोरा में, वहाँ जो कैलास मंदिर है, वह एक ही पत्थर से बना है। सीढ़ी, बरामदे, खम्भे, गर्भगृह, शिखर, दीवारों पर मूर्तियाँ आदि सब जैसा कोई बड़ा मंदिर होता है, वैसा ही बना है, पर समूचा मंदिर एक अखंड पत्थर में ही खोदा गया है, उस शिला से अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं है। उसमें रामलीला भी खुदी हुई है। एक जना कहता है, 'देखो-देखो, यहाँ भगवती को रावण ले जा रहा है।' दूसरा कहता है कि 'राज्याभिषेक हो रहा है।' जिस दृश्य के सामने जो द्रष्टा आ गया, वही उसके लिये है। इसी प्रकार से परमात्मारूप शिला के अन्दर सारा त्रैलोक्य अंकित है। ब्रह्म के अन्दर केवल अज्ञान से संसार कल्पित है। जैसे हीरे के अन्दर कोई परिवर्तन नहीं, केवल तुम्हारे देखने से प्रतीति होती है, इसी प्रकार परमात्मा में केवल देखने से संसार प्रतीत होता है। जब भगवान् कंस के वहाँ गये तब बतलाया है कि-

'मल्लानामशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः।।
मृत्युर्भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां ।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः।।'

जो बड़े-बड़े मल्ल थे, उनको लग रहा था कि बड़ा पहलवान आ गया, जो स्त्रियाँ थीं उनको लग रहा था कि अत्यंत नागर पुरुष आ गया। कंस को लग रहा था कि साक्षात् मृत्यु ही आ गई। सब लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दीख रहे थे। पर भगवान् में कोई भेद नहीं था। परमेश्वर की ऐसी व्यापकता है, व्याप्य-व्यापकभाव वाली व्यापकता नहीं है। कोई दूसरा होवे जिसमें वे व्याप्त होवें या उनमें कई छोटी चीज़ें होवें इसलिये व्यापक होवें - इस प्रकार से नहीं, वरन् अनन्त रूपों में प्रतीत होना ही उसका व्यापक स्वभाव है। बिना बदले हुये बदले हुऐ की प्रतीति होना - बस, यही उसका स्वभाव है, यही उसकी व्यापकता है।

अर्जुन अपने द्वारा किये वर्णन को साधार बताते हुये कहता है कि अब तक जिन ऋषियों को सुना-पढ़ा, सब आपके बारे में ये ही बातें कहते हैं। 'ऋषयः' की व्याख्या में भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'वसिष्ठादयः'। भगवान् वसिष्ठ ने जो उपदेश दिया, उसी को महारामायण भी कहते हैं, योगवसिष्ठ भी कहते हैं। दक्षिण में ज्ञानवशिष्ठ कहते हैं। उसके अन्दर परमात्मा के इस स्वरूप का बड़े विस्तार से वर्णन है। बाकी सब ने भी कहा है, पर जितना सुन्दर प्रतिपादन वसिष्ठ जी का है उतना दूसरों का नहीं है। वेदान्त सम्प्रदाय के अन्दर सबसे पहले आचार्य वसिष्ठ जी हैं जिनका हम स्मरण करते हैं। नारायण तो साक्षात् परमेश्वर हैं, पद्मभव ब्रह्मा जी देवता हैं। इनके बाद पहला नाम आता है वसिष्ठ का, वे ऋषि थे। इस तरह हम लोग परम्परा में स्मरण करते हैं तो प्रथम ऋषि के रूप में वसिष्ठ ही आते हैं। वसिष्ठ जी द्वारा दृष्ट ऋग्वेद में सप्तम मंडल है, उसके वशिष्ठ जी प्रधान ऋषि हैं, उसमें भी वेदान्त का विषय काफी आया है। इसलिये भी भाष्यकार ने वशिष्ठ का यहाँ ग्रहण किया। 'तथा देवर्षिर्नारदः' उसी प्रकार से देवऋषियों में नारद ने कहा है। सनत्कुमारों से नारद ने ज्ञान प्राप्त किया था। अद्वैत तत्त्व का उन्होंने सर्वत्र प्रतिपादन किया है। हो सकता था कि भगवान् अर्जुन से पूछें 'तुमको किसने सुनाया?' अतः कहता है हमारे कुलगुरु हैं असित देवल, उन्होंने भी इसी बात को बार-बार कहा कि आप ही परम ब्रह्म परम धाम हैं। (असित देवल नामक ऋषि धौम्य के अग्रज थे। 'असित देवल का विशेषण है' ऐसा महाभारत में प्रतीत होता है।) और हमारे सम्बंधी भगवान् वेदव्यास ने भी इसी बात को बार-बार कहा। ब्रह्मसूत्रों में अत्यन्त विस्तार से यह कहा है। इस तरह अद्वैत तत्त्व सब तरफ से मैंने पाया है, अतः मेरी इस पर परम श्रद्धा होना स्वाभाविक है। एक नियम है 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'। जिस बात को तुम माता से सुनो, उसी बात को तुम पिता से सुनो, और वही तुम गुरु से सुनो तब पूरी श्रद्धा के द्वारा तुम उसका अनुभव कर सकते हो। माँ कुछ कहे, बाप कुछ अन्य कहे, गुरु उससे भी कुछ अलग कहे, तो पूरी तरह से श्रद्धा जमती नहीं। जीवन के पहले तीन साल ऐसे होते हैं जिनमें सर्वाधिक संस्कार अन्तःकरण पर पड़ते हैं। किसी भी अन्य तीन सालों में जितने संस्कार पड़ते हैं, उससे ज़्यादा पहले तीन साल में पड़ते हैं। माता से जिन बातों को सुनोगे उनके संस्कार दृढ पड़ेंगे। एक बार पड़ा हुआ संस्कार धुलता नहीं है; दब तो जाता है, पर धुलता नहीं। उसके बाद दो या तीन साल तक पिता के ऊपर अत्यंत सद्भावना होती है, पिता जो कहता है, उसे बच्चा पूर्णतः मानता है। उसके बाद बच्चा अध्यापक के पास पहुँचता है, उसे अपने अध्यापक के ऊपर पूरा भरोसा होता है। यदि माता-पिता के बताये से विपरीत भी अध्यापक कहता है तो बच्चा उसी की बात मानता है, माँ-बाप की कही बात को गलत समझने लगता है। इस प्रकार, जीवन के विभिन्न वर्षों में विभिन्न संस्कारों की दृढता होती है। यदि बचपन में भी यही संस्कार पड़े कि परमेश्वर

ही सर्वरूप है, वही संस्कार मझली अवस्था में भी पड़े और बड़ी अवस्था में भी पड़े, तब तो वह दृढ होगा, नहीं तो व्यक्ति डाँवा-डोल बने रहते हैं। आज के बच्चों की श्रद्धा अदृढ रहने का यह एक बड़ा कारण है कि उन्हें एक ढंग के संस्कार निरन्तर नहीं मिलते वरन् विरोधी संस्कार ही मिलते हैं। किंतु अर्जुन को सही संस्कार मिले थे अतः वह अद्वैत के प्रति श्रद्धा वाला था। 'स्वयं चैव ब्रवीषि मे' और आप जो खुद ही अद्वितीय आत्मतत्त्व हैं, स्वयं भी मुझे इसी बात को समझा रहे हैं। मेरी श्रद्धा पूर्ण है, उसे भी आप दृढ कर रहे हैं।

इस प्रकार से परमेश्वर का क्या रूप समझा है, इसे अर्जुन ने बतलाया और कहाँ-कहाँ से समझा है यह भी बतलाया। अपनी पूर्ण श्रद्धा को दिखलाया। आगे जो प्रसंग अर्जुन उठा रहे हैं वह विभूतियोग अत्यंत श्रद्धा वाला ही समझ सकेगा, अन्य नहीं समझ सकेगा। परमेश्वर सर्वरूप है, यह बात तो विचार से समझ में आ जाती है। परन्तु वह किसी विभूति के द्वारा उपासना करने पर प्रसन्न होता है, वैसी ही दूसरी किसी चीज़ की उपासना से नहीं- यह विचार का विषय नहीं है, इसमें तो श्रद्धा ही काम करेगी। सब कुछ परमात्मरूप है- यहाँ तक बुद्धि चल जायेगी। जैसे अपने अन्दर ही देखो : 'सारे शरीर में मैं हूँ।' यह तो बात हम लोगों की समझ में आती है।। किंतु जब वेद या भगवान् ही कहते हैं कि 'हृदय में ईश्वर रूप से मैं हूँ।' तो तरह-तरह के सन्देह होते हैं। हृदय में ही क्यों? इधर क्यों नहीं? उधर क्यों नहीं? वहीं क्यों ध्यान किया जाय? हार्दाकाश में ध्यान करके फल होता है यह तो ध्यान करके ही देखा जा सकता है, इसलिये श्रद्धा-पूर्वक करना ही पड़ेगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये अर्जुन ने बताया कि मैं श्रद्धा से पूर्ण हूँ।। १२–१३।।

भगवान् की विभूतियों को - संक्षेप में जिनको सातवें और नौवें में सुन चुका था - विस्तार से सुनने के लिये अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न करने से पूर्व अपनी श्रद्धा व्यक्त की-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। १४।।

हे केशव ! हे भगवन् ! मुझे आप जो समझा रहे हैं उस सबको मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि आपके प्रभाव को, स्वभाव को, देव दानव कोई नहीं जानते।

केशव भगवान् का ऐसा नाम है जिसमें 'क' का अर्थ प्रजापति ब्रह्मा, 'ईश' शंकर और 'व' विष्णु हैं अतः त्रिमूर्ति का संयुक्त नाम हो जाता है केशव। अर्थात् सृष्टि, स्थिति, विलय को आप ही करने वाले हैं अतः आपके लिये वास्तविकता हाथ में रखे हुये आँवले की तरह स्पष्ट है। ऋषि भी जानते हैं, लेकिन इसीलिये कि आपने बताया है। संसार को बनते हुये तो वे देख नहीं सकते, क्योंकि तब थे ही नहीं। भगवान् के सिवाय और सभी सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश, नियमन - इन विषयों में शब्द प्रमाण के

अधीन हैं। परन्तु परमेश्वर स्वयं करने वाले हैं इसलिये शब्द प्रमाण के अधीन होकर नहीं जानते। केशव सम्बोधन के द्वारा यही कहा। 'यन्मां वदसि', जो आप कह रहे हैं। भगवान् ने अभी यही बतलाया कि 'सब चीज़ों को मैं ही बनाता हूँ, इसलिये मुझे, बाद में पैदा होने वाले ऋषियों के द्वारा साक्षात् नहीं जाना जा सकता।' यह जो आपने सब कहा, उसको 'ऋतं मन्ये', ऋत जानता हूँ अर्थात् सत्य जानता हूँ। संस्कृत के अन्दर दो शब्द हैं - ऋत और सत्य। यद्यपि दोनों एकार्थक भी हैं तथापि कहीं दोनों का एक-साथ प्रयोग भी होता है। दोनों में फ़र्क है कि जिसका कभी भी बाध नहीं होता है वह सत्य है। और जो सृष्टि के नियम इत्यादि हैं उन्हें ऋत कहते हैं। भगवान् सृष्टि आदि करने वाले हैं अतः इसके नियमों के वे ही पूर्णतः ज्ञाता हैं। परमेश्वर की विचित्रता है कि वे कोई काम सीधे-सीधे नहीं करते! किसी-न-किसी निमित्त के द्वारा ही करते हैं। और इसलिये कारण-परम्परा का विचार करने वाले लोग उन निमित्तों को ही कारण मान लेते हैं। मुझे मलेरिया क्यों हुआ? मच्छर ने काटा, इसलिये। उस मच्छर से बचने का प्रयत्न भी होता है। संसार का सारा व्यवहार ऐसे ही चलता है। इसमें यदि कोई पूछे कि ऋत क्या है? तो उत्तर होगा - मेरे किये हुऐ पाप का फल देने के लिये ज्वर को परमेश्वर ने नियत किया। निमित्त उन्होंने मच्छर को बना दिया। हम मच्छर की तरफ ही देख पाते हैं; न अपने कर्म की तरफ देख पाते हैं कि 'मेरे पाप का यह फल है,' न परमेश्वर की तरफ देख पाते हैं कि कर्मफल देने वाले परमेश्वर ने ही किया है। जैसा दुःख के बारे में, वैसा सुख के बारे में : किसी ने हमें बढ़िया रसगुल्ला खिला दिया। तो हम उससे उपकृत हो जाते हैं कि इसने मेरा उपकार किया। मुझे रसगुल्ला खा कर जो सुख हुआ, वह मेरे ही पुण्य का फल है। पुण्य का फल देने के लिये भगवान् ने उस व्यक्ति को और रसगुल्ले को निमित्त बना लिया। हम सुख का कारण रसगुल्ले को मान लेते हैं या उस आदमी को मान लेते हैं। न हम परमेश्वर को मान पाते हैं और न हम अपने कर्म को मान पाते हैं। कोई बहुत बड़ी सुख की या दुःख की घटना हो जाये, तब तो जो सत्संगी है, उसको कम-से-कम याद आ जाता है कि मेरा ही कोई पाप होगा, इसलिये यह कष्ट पड़ा; लेकिन सामान्य चीज़ों में भी निरन्तर इस बात का अनुसन्धान रखना नहीं बन पाता। ऋत कहकर ध्वनि है कि सृष्टि, स्थिति, लय, आविर्भाव, तिरोभाव, नियमन - ये सब आपके ही कृत्य हैं, यही हमेशा मान्य नियम है, कभी नहीं बदलने वाला नियम है। ऐसा मैं 'मन्ये' स्वीकार करता हूँ।

'देवाः ते व्यक्तिं न हि विदुः', देवता भी आपके व्यक्त होने को नहीं जानते। परमेश्वर की बड़ी ज़बरदस्त शक्ति है - बिना बदले हुये बदले हुये की तरह प्रतीत होना। प्रतीत बदला हुआ होता है। परन्तु उस प्रतीति-काल में भी वह नहीं बदला हुआ ही रहता है। कैसे आप सारा बदलाव व्यक्त करते हैं - यह देवता लोग भी समझ नहीं सकते। शास्त्रकार कहते हैं कि आप अपनी माया से ऐसा करते हैं। इतना सुन्दर शब्द है

'माया', 'मा' मायने 'नहीं', 'या' मायने 'जो'; जो 'नहीं है' उसको उन्होंने 'है' कर दिया! अज्ञान के द्वारा जब हम देखते हैं तब माया के प्रभाव 'है' दीखते हैं। परन्तु वास्तव में वे नहीं हैं। देवता भी इस बात को नहीं समझ सकते कि भगवान् कैसे ऐसा करते हैं। कोई उपाय इसे समझने का है ही नहीं इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहते हैं। रात-दिन हमारी बुद्धि का प्रयास रहता है कि जो कभी समझा नहीं जा सकता वह कैसे समझ में आवे। इसी तरह देवों से सर्वथा विरुद्ध जो दानव हैं, वे भी नहीं जानते। देवता सत्त्वगुण से सम्पन्न हैं अतः शास्त्रादि में श्रद्धा रखने वाले हैं। उनको अन्ततः यही कहना पड़ता है कि समझ में नहीं आता, अचिन्त्य है। और दानव वे हैं जो शास्त्र में श्रद्धा वाले नहीं हैं, जिनकी संख्या हमेशा बड़ी होती है। वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाले पचास करोड़ आदमी मिलना मुश्किल होंगे और बाकी सारी दुनिया वेदादि में श्रद्धा नहीं रखने वाली है। ऐसे लोग दानव ही हैं। परमेश्वर को नहीं मानते तो सृष्टि के अन्दर नियमों को ढूँढने में लगे रहते हैं। ऐसा भगवान् ने यह गोरख धन्धा बनाया है कि इसमें चाहे जितना प्रयास करो, कभी पता लगता नहीं। श्रद्धा रखने वाले भी वेदादिशास्त्रों को यथावत् मान मात्र सकते हैं; कैसे होता है? - यह नहीं समझा जा सकता। और शास्त्र के बिना स्वतः इन नियमों को, प्रक्रियाओं को ढूँढ कर समझ लें, यह तो असम्भव है।। १४।।

अतः अर्जुन कहता है-

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। १५।।

हे पुरुषोत्तम! भूतोत्पादक! भूतशासक! देवाधिदेव! जगत्स्वामी! आप स्वयं अपने से ही अपने आपको जानते हैं।

जो पूर्ण होवे वह पुरुष है। स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों को पूर्ण करने वाला आत्मा है। इसलिये उसको पुरुष कहते हैं। आदमी में सब कुछ होवे, खाली वह ज़िन्दा न हो तो उसे कोई पुरुष नहीं कहेगा, शव ही कहेगा। भगवान् पुरुषों के अन्दर उत्तम हैं। अर्थात् केवल एक स्थूल-सूक्ष्म शरीर को पूरा करने वाले नहीं, सारा ब्रह्माण्ड उनके कारण ही पूर्ण है। सब चीज़ें 'है' से सम्बंध वाली होकर ही पूरी होती हैं। घड़ा है तब सब काम उससे कर लोगे और वही घड़ा 'नहीं है' तो उससे कोई काम नहीं कर सकते! सच्चिदानंद परमात्मा जब तक किसी चीज़ से सम्बंधित नहीं होता है तब तक वह चीज़ सर्वथा शून्य रूप ही है। यह बात संसार के सारे पदार्थों में है। ब्रह्मलोक से लेकर घास के तिनके तक, बिना सत् के सम्बन्ध के सब व्यर्थ है। इसलिये परमेश्वर को भी पुरुषोत्तम कहते हैं।

'स्वयमेव' खुद ही। हमारा ज्ञान शब्द के द्वारा होता है। वेदादि जो शब्द हैं वे ही

हमें ज्ञान करायेंगे। परमेश्वर का ज्ञान खुद ही होता है, शब्द से नहीं होता। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने भी कहा कि ईश्वर सबके आदिगुरु हैं। हमने अपने गुरु से जाना। गुरु को कैसे पता लगा? दादा गुरुजी ने कहा। इस प्रकार पहले से पहले जो जानकार हुए उनके भी गुरु परमेश्वर हैं, वे तो स्वयं ही जानते हैं। श्रुति भी कहती है कि परम शिव पहले ब्रह्मा को बनाते हैं और फिर उसे वेद का उपदेश देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर वंश-परम्परा आई है। उसके अंत में आता है 'स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' ब्रह्म के आगे और गुरुपरम्परा नहीं है। क्योंकि उन्होंने किसी से ज्ञान प्राप्त नहीं किया। हम लोग परतः जानते हैं, वेदादि शास्त्रों के अधीन होकर जानते हैं, जबकि भगवान् स्वयमेव जानते हैं। यह परमेश्वर की निरतिशय ज्ञानशक्ति है। ब्रह्मज्ञान हमें भी होता है, ब्रह्मस्वरूप में स्थिति हमारी भी हो जायेगी। लेकिन जिससे अज्ञान निवृत्त हुआ, उस ब्रह्मज्ञान का मूल कारण तत्त्वमस्यादि वेद-वाक्य ही है। ऐसे समझ लो : किसी बच्चे को मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता-पिता ने जन्म होते ही कहीं अन्यत्र ही भेज दिया, वहीं बड़ा होता रहा, स्वयं को उसी घर का बच्चा जानता रहा। एक बार कोई उसके गाँव का आदमी आया जिसे सारी बात का पता था। उसने बताया 'अरे! तू सचमुच में अमुक का लड़का है। मूलों में पैदा हुआ था इसलिये भेज दिया गया था।' पता लगाने से निश्चय भी हो गया कि 'मैं वही हूँ'। लेकिन उस आदमी ने नहीं बताया होता तो वह पता लगाने की कोई कोशिश भी नहीं करता। ठीक यही हम लोगों का हाल है। ब्रह्मस्वरूप होते हुऐ ही मूलाज्ञान के कारण हम अपने को जानते नहीं कि ब्रह्म तो मैं ही हूँ। जब शास्त्र कहता है, 'तू ही ब्रह्म है' तो हम जान लेते हैं। इस प्रकार जीव तो प्रमाण पर निर्भर होकर जानता है, परन्तु परमेश्वर स्वयमेव जानते हैं। अतः अर्जुन ने कहा, प्रत्यगात्मस्वरूप से आप स्वयं ही अपने को जानते हैं।

'भूतभावन', सारे भूतों को आप ही उत्पन्न करते हैं। सारे भूतों को बनाने वाले होने से आपकी शक्ति निरतिशय है। हम लोगों की शक्ति सीमित है। बीस मील चलने वाला आदमी चार हफ्ते बिना अन्न के रख दिया जाये तो बीस कदम चलना मुश्किल हो जायेगा! परन्तु परमेश्वर की शक्ति निरतिशय है।

'भूतेश' सारे प्राणियों को निरन्तर शासन में रखने वाले हैं, उनके शासन का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। अतिधन्य वेद कहता है 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' जो अत्यंत सामर्थ्य वाले सूर्य चंद्रादि हैं वे भी परमेश्वर के प्रशासन के अंतर्गत ही चल रहे हैं। पंचांग बनाने वाला सौ साल का पंचांग बना कर लिख देता है अमुक दिन सूर्य पाँच बजकर साढ़े सत्रह मिनट पर उदय होगा। सौ वर्ष पहले ही उसने लिख दिया। ठीक पाँच बजकर साढ़े सत्रह मिनट पर ही उदय होता है। किसी का भय है, तभी। अगर उस परमेश्वर का भय नहीं होता तो रेल की तरह कभी देर भी करता! सरकारी दफ्तर में नियमतः दस बजे, कार्य प्रारम्भ हो जाना

चाहिए पर प्रायः तब तक बाबू लोग कुर्सी पर नहीं आते! क्यों? क्योंकि किसी का भय नहीं है कि दण्ड मिलेगा। लोगों को सबसे ज़्यादा भय लगता है मृत्यु से। बड़ी सामर्थ्य वाला माना जाता है मृत्यु, सबको मार डालता है। कभी खूब ज़ोर से पानी बरस रहा हो, ओले गिर रहे हों, रात के बारह बजे का समय हो तो क्या तुम निश्चिन्त रह सकते हो कि इतने पानी और ओले में कहाँ आयेंगे यमराज! किसी का भय है, तभी आता है बेचारा। सबका शासन करने वाले भगवान् हैं। उनका ऐश्वर्य असीम है। बाकी सबका ऐश्वर्य सीमित है परन्तु परमेश्वर का ऐश्वर्य असीम तथा बिना किसी प्रयास के है।

'देवदेव' आप केवल शासन करने वाले ही नहीं हैं, देवों के अन्दर जो दैवी शक्ति है, देवतापना है, वह भी आप ही हैं। देवों का देवपना भी परमेश्वर से ही है। अतः श्रुति कहती है 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते', कि परमेश्वर जिसको ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म करवाता है, तभी वह ऊपर जाता है। लोग समझते हैं, कि शुभ कर्म ऊपर ले गया। इसी प्रकार जिसको परमेश्वर नीचे ले जाना चाहता है, उससे अशुभ कर्म करवाता है। अशुभ कर्म करके व्यक्ति नीचे जाता है। प्रसिद्ध यही होता है कि अशुभ कर्म उसे नीचे ले गया। परन्तु शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों कब होते हैं? जब आत्मा है। परन्तु निमित्त चूंकि शुभ कर्म और अशुभ कर्म बनाया, इसलिये बतलाना पड़ता है कि शुभ कर्म करो, अशुभ कर्म से बचो। ईंट-पत्थर को तो कभी नहीं कहना पड़ता, 'अशुभ कर्म से बचो, शुभ कर्म करो।' क्योंकि वहाँ चेतना ही नहीं। आत्मा है, तभी शुभ कर्म हुआ, आत्मा है तभी अशुभ कर्म हुआ। सारे अशुभ कर्मों को कराने वाला कौन है? मन है। अतः हमारे यहाँ सबसे पहला कदम साधना का है, कि जो शास्त्र ने कहा है, वह करो, अपने मन की मत करो। कामना को उत्पन्न करती है अविद्या। अविद्या, काम, कर्म, यह क्रम भगवान् भाष्यकार जगह-जगह कहते हैं। यह है बन्धन का तरीका। अगर कामना से कर्म नहीं करोगे तो जो विद्यास्वरूप वेदादि शास्त्र हैं, उनके अनुसार ही कर्म करोगे। जब उनके अनुसार करोगे, तब शुभ कर्म होंगे जिनसे सद्गति मिलेगी। शास्त्र के अनुसरण में रुकावट यह है कि अनादि काल से हमने मन को खुली छूट दे रखी है, मालिक बना दिया है। मन जो चाहता है, वह हमें लगता है, 'मैं चाहता हूँ'। मन जो नहीं चाहता उसको समझते हैं, 'मैं नहीं चाहता।' मान लो किसी दुकान में कोई तुम्हारा मुनीम बीस साल से काम कर रहा है। तुम्हारा लड़का काम करने लायक हुआ तो तुमने सोचा कि मुनीम को लड़के के अन्तर्गत करें। अब तक तो मुनीम सीधा सेठ जी की बात सुनता था। इसलिये अब सेठ जी के लड़के की बात नहीं सुनना चाहता। मुनीम को अकस्मात् निकाल भी नहीं सकते क्योंकि काम वही जानता है। तब धीरे-धीरे उसके पंख काटे जाते हैं, उसकी शक्ति सीमित की जाती है, और लड़के की बढ़ाई जाती है। लेकिन यह काम धीरे-धीरे

करना पड़ता है। इसी प्रकार अभी तो मन बना हुआ है मुख्य कार्यकारी अधिकारी, सब काम उसके द्वारा ही होते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे सारे काम शास्त्रानुकूल होवें, तो एक दिन में वह सुनेगा नहीं। तरह-तरह की शंकायें मन उठाता है। अतः शास्त्र सबसे पहले कहता है कि चाहे शुभ कर्म करो, शुभ ज्ञान प्राप्त करो या शुभ उपासना करो, सबसे पहले तुम्हारे मन में श्रद्धा होनी चाहिये। अन्यथा मन तुम्हारे अन्दर इतने सन्देह पैदा करता रहेगा कि तुम शास्त्रानुकूल जीवन नहीं बना सकोगे। देवभाव आत्मप्रधान है, दानवभाव मायाप्रधान है। यह निश्चय कि शास्त्र ही वस्तुतः *हमारा* निर्णय है, श्रद्धा का रूप है। सच्चा निर्णय शास्त्र का है, मन का निर्णय सच्चा नहीं है। वर्तमान काल में मन को खुली छूट देने का सर्वत्र विस्तार होता जा रहा है। इसीलिये देवभाव कम होता जा रहा हैं दानव भाव बढ़ता जा रहा है। देव हुआ सत्त्वगुणी वृत्ति वाला जीव, वह सत्त्वगुणी तभी तक रहता है जब तक उसके अन्दर आत्मा है। अतः 'देव' अर्थात् सात्त्विक आदि को देव बनाने वाले होने से भगवान् देवदेव हैं।

'जगत्पते' भूतों को आपने उत्पन्न किया; भूतों पर आपका शासन है; भूतों की देवरूपता आपको लेकर है; और इतना सब होने के साथ आप सारे जगत् का पालन करने वाले हैं। पालन करने वाले को पति कहते हैं। परमेश्वर कैसा पालक है? एक भक्त था, उसका नियम था कि जो भी अतिथि आये, उसको भोजन कराता था। एक दिन एक अतिथि आया, महात्मा के रूप में था, बड़े आदर से उसने उसे भोजन करने बैठाया। अतिथि ने ब्रह्मार्पण नहीं किया, आचमन नहीं किया, कुछ भी नहीं किया, सीधे खाने लगा। भक्त को मन में बहुत बुरा लगा, बोला 'मैंने आपको महात्मा समझा, पर आपने परमेश्वर का किसी भी प्रकार का स्मरण नहीं किया!' अतिथि कहने लगा 'मैं नास्तिक हूँ। मैं तुम्हारे ईश्वर को नहीं मानता।' भक्त को यह सुनकर गुस्सा आ गया, बोला 'ऐसे बेकार नास्तिकों को खिलाने के लिये मेरी जगह नहीं है, जाओ।' वह उठ कर चल दिया। शाम के समय जब भक्त ध्यान कर रहा था, तब भगवान् ने उससे कहा, 'आज सबेरे जो खाने आया था, उसकी उम्र क्या थी?' भक्त ने कहा 'चालीस साल होगी।' उन्होंने कहा 'चालीस साल तक जिसको मैं सबेरे-शाम दो समय भोजन दे सकता हूँ, उसको तू एक समय नहीं खिला सका! नहीं मानता तो मुझे नहीं मानता था, तेरा क्या लेता था?' भक्त को अपनी गलती महसूस हुई। भगवान् सारे जगत् का पक्षपातहीन पालन करते रहते हैं। कोई कह सकता है कि भगवान् ने कहा है कि 'भक्त का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।' अतः बाकी सब अपना-अपना पालन करते हैं तो वे 'जगत्पति' कहाँ हुऐ, केवल भक्तों का ही पालन करने वाले हैं? इसके उत्तर में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि सारे संसार का पालन करने वाले वे ही हैं, तथापि भक्त इस बात को समझता है और दूसरे इस बात को समझते नहीं कि वे पालन करने वाले हैं। जिस-किसी निमित्त से वे पालन करते हैं, बस लोग उस निमित्त की बड़ाई करते रहते

हैं। छोटे-से-छोटा कीटाणु हो या बड़े से बड़ा प्रजापति हो, सबका पालन करने वाले एकमात्र परमेश्वर ही हैं।।१५।।

अब अर्जुन निवेदन करता है कि क्योंकि आप स्वयं अपने आपको जानते हैं, अतः आप ही अपने वैभव का खुलासा कीजिये -

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकान् इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१६।।

अपने माहात्म्य के जिन विस्तारों से इन लोकों को घेरकर आप रहते हैं, अपने वे असाधारण विस्तार आपको पूरी तरह बताने चाहिये।

'विभूति' अर्थात् जिस-जिस जगह आप विशेषरूप से प्रकट हैं। 'वि' अर्थात् विशिष्ट रूप से, भूति अर्थात् होना; जहाँ भगवान् खास तरह से मौजूद हैं वह विभूति है। यों तो सारे ब्रह्माण्ड में वे हैं ही, परन्तु जहाँ विशेष प्राकट्य है, वह विभूति है। यहाँ उपासना का प्रकरण माना है अतः जिस आधार में उपासना करने से आपका साक्षात्कार होता है, विशेष प्राकट्य वहाँ है। तभी उसके सहारे उपासना की जाने पर आप फल अतिशीघ्र दे देते हैं। इस प्रकार विभूति से वे खास स्थल ही पूछे जा रहे हैं। कौन-सी 'आत्मविभूतयः?' स्पष्ट किया 'दिव्या ह्यात्मविभूतयः।' तीन प्रकार की उपासनायें होती हैं - सात्त्विक उपासना, राजस उपासना और तामस उपासना। तामस उपासना में भी जो उपास्य हैं उनमें परमेश्वर की आत्मविभूति तो है, पर है वह तामस। अभी भी अनेक देवी-देवता शराब पीने वाले प्रसिद्ध हैं, वे तामस विभूतियों में ही गिने जायेंगे। सात्त्विक लोग उनकी उपासना नहीं कर सकते। परमेश्वर सबका रूप है, इसलिये तामस उपास्य भी होते हैं। इसी तरह से राजस उपास्य भी होते हैं। परन्तु गीता शास्त्र के अन्दर सात्त्विक पुरुषों का अधिकार है। अतः उनके लिये दिव्य विभूतियाँ ही उपास्य होंगी। शास्त्र में राजस, तामस उपासनाओं का बहुत विस्तार से विचार है। संसार में अधिकतर लोग राजस-तामस होने से उसी तरह की उपासना कर भी सकते हैं। 'दिव्य' से अर्जुन ने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ सात्त्विक उपासना करने वालों का विषय पूछ रहा है।

'अशेषेण वक्तुमर्हसि' कुछ बाकी न रह जाये, इस प्रकार आप विभूतियाँ बतावें। आगे भगवान् कहेंगे कि विभूतियों का तो अंत ही नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें अशेष तो बता ही नहीं सकते। फिर अर्जुन ने कैसे कहा 'अशेषेण?' अर्जुन का तात्पर्य है कि शेष का एक अर्थ होता है अंग, अंगांगिभाव को भी शेषशेषिभाव कहा जाता है। जैसे भगवान् विष्णु का पूजन करो तो सोलह उपचार या पाँच उपचार पूजन का अंग हैं, ये हों तभी पूजन पूरा होगा। जिसके बिना पूरा नहीं होता है वह अंग कहा जाता है। अतः अर्जुन का भाव है कि केवल उपास्य ही नहीं, उपास्य के बारे में जितनी चीज़ें समझने योग्य हैं, सब बतला दीजिये। यद्यपि ऐसा प्रतिपादन यहाँ भगवान् ने नहीं किया है

तथापि अन्यत्र इन सब चीज़ों का प्रतिपादन है। उस सबका यहाँ उपसंहार समझ लेना चाहिये। 'याभिः विभूतिभिः' जिन विभूतियों से 'इमान् लोकान्' इन लोकों को 'व्याप्य' व्याप्तकर 'तिष्ठसि' आप रहते हैं। जितना कुछ संसार हम जानते हैं, उससे आगे भी ब्रह्माण्ड का बहुत बड़ा विस्तार है; न जाने कितने ब्रह्मा हैं, न जाने कितने कहाँ लोक हैं! लेकिन 'इमान्' अर्थात् हमारे लिये जो प्रत्यक्षसिद्ध लोक है, जिन लोकों का हम अनुभव करते हैं, उनमें जिन विभूतियों से आप विद्यमान हैं, उन्हें कहिये। अन्य लोकों में तो आपकी और अनन्त विभूतियाँ हैं पर उनकी उपासना अशक्य होने से उन्हें जानने का लाभ नहीं। जो हमारे अनुभव के लोक हैं, उनमें आप जिन विभूतियों से स्थित हैं उन्हें बताइये। 'व्याप्य तिष्ठसि,' अर्थात् व्यापक आप बने रहते हैं, विभूतियाँ सब व्याप्य हैं।। १६।।

विभूति-जिज्ञासा का तात्पर्य यह जानना है कि किन उपाधियों में उपासना करके भगवान् की प्राप्ति होती है। इसी को और स्पष्ट करता है -

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया।। १७।।

हे योगी! मैं हमेशा हर तरह से चिन्तन करते हुये आपको कैसे जानूँ? हे भगवन्! किन-किन वस्तुओं में आप मेरे द्वारा ध्येय हैं।

अघटित घटना करने की शक्ति से सम्पन्न होने से भगवान् को 'योगी' सम्बोधन किया। जो सामान्यतया घट नहीं सकता उसको घटा देना - इसको योग कहते हैं। उपाधियों के बारे में मैं इसलिये पूछ रहा हूँ कि केवल एक उपाधि का ध्यान तो किया जा सकता है, परन्तु उसका सदा परिचिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि अन्य-अन्य पदार्थों से व्यवहार करते समय वह उपाधि ध्यान में रहेगी नहीं। 'सदा परिचिन्तयन्,' हमेशा आपका परिचिन्तन करना है, क्योंकि आपने कहा था, 'सततयुक्तानाम्'। इस सततयुक्तता के लिये जानना चाहता हूँ कि हमेशा आपका परिचिन्तन करते हुऐ कैसे रह सकूँ? आपकी विभूतिरूप अनेक भाव ज्ञात हों तो उनमें से कोई-न-कोई भाव सामने आने पर आपकी तो याद आती रहेगी। 'अहम् विद्याम्' मैं जानूँ। विद्या का अर्थ उपासना होता ही है, इसलिये चिंतन करते हुये कैसे उपासना करूँ - यह भाव है। 'मया केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि', मैं किन-किन भावों में आपका चिन्तन कर सकता हूँ? चिन्तन अर्थात् ध्यान; किन-किन वस्तुओं के अंदर आपका ध्यान कर सकता हूँ?। १७।।

प्रश्न का उपसंहार करता है -

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। १८।।

हे जनार्दन! अपनी शक्ति और ध्येय उपाधियों के विस्तार को बिना संक्षेप किये फिर से कहिये क्योंकि आपका वचनामृत सुनते हुये मुझे तृप्ति नहीं हो रही।

'आत्मनो योगम्' योग अर्थात् विशेष शक्ति, अघटित घटना करने की शक्ति, ऐश्वर्य शक्ति, 'विभूतिं च' और विभूतियाँ अर्थात् ध्येय उपाधियाँ, इन्हें 'विस्तरेण कथय' विस्तार से कहिये। संक्षेप से तो भगवान् कह चुके हैं सातवें और नौवें में, इसलिये प्रार्थना की कि यहाँ ज़रा विस्तार से कहिये। 'भूयः' अर्थात् आपने पहले कहा है यह बात मैं भूला नही हूँ, अब फिर से कहिये। फिर से क्यों कहूँ? 'हि' मायने जिस कारण से 'अमृतम् शृण्वतः तृप्तिः नास्ति'। अमृत को सुनते हुये मुझे तृप्ति नहीं है। यह विचित्र लगता है! अमृत पीने की चीज़ होती है और कथन सुनने की चीज़ होती है। इसलिये इसका तात्पर्य है कि मैं कानों से पी रहा हूँ। भगवान् के वचन दोनों दृष्टियों से अमृत हैं। उन वचनों से कैवल्य का मार्ग पता चलता है जिस पर चलकर मृत्यु से परे पहुँचा जा सकता है। अमृत वही है जो मृत्यु को समाप्त कर दे। और दूसरा मृत्यु का एक अर्थ 'प्रमाद' है, 'प्रमादो वै मृत्युः'। भगवान् के वचन में ऐसा सामर्थ्य है कि श्रोता को प्रमाद नहीं होता। प्रायः किसी गंभीर विषय में, खासकर अध्यात्म के विषय में सुनते हुये कुछ ही देर में थकान हो जाती है, प्रमाद होकर नींद का झोंका भी आ जाता है। पर भगवान् की वाणी इस मृत्यु को भी नहीं आने देती, इसलिये अमृत है। ऐसा अमृत होने से ही इससे 'तृप्तिर्नास्ति' तृप्ति नहीं होती। यह नहीं लगता कि और न सुनें। पचास रसगुल्ले खा चुकें तो तृप्ति महसूस होती है कि अब और रसगुल्ले नहीं खा सकते। भगवान् की वाणी को चाहे जितना सुन लें, ऐसा नहीं होता कि और सुनने की इच्छा न रह जाये।

'जनार्दन!' अर्द धातु के दो अर्थ होते हैं - गमन और याचन। अतः भाष्यकार ने इस शब्द के दो अर्थ कहे। एक तो 'असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वात् जनार्दनः' असुरों को नरकादि ले जाने वाले होने से भगवान् को जनार्दन कहा। जन अर्थात् देवताओं का विरोध करने वाले जो असुर लोग हैं उनको भगवान् नरकादि पहुँचाते हैं इसलिये उनको जनार्दन कहते हैं। अर्द का दूसरा अर्थ है याचना अतः 'अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वजनैर्याच्यत इति वा'- लोगों के द्वारा इस लोक की उन्नति के लिये भी भगवान् से याचना की जाती है, और मोक्ष की प्राप्ति के लिये भी भगवान् से ही प्रार्थना की जाती है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार के पुरुषार्थों के प्रयोजन से आपकी याचना करते हैं अतः जनों के द्वारा आप याचित होते हैं इसलिये आप जनार्दन हैं। अर्जुन की ध्वनि है कि मैं आपकी उपासना करने जा रहा हूँ, अतः चाहता हूँ कि अन्तःकरण में निरन्तर दैवी वृत्तियाँ आवें, देवभाव आवे। उसके विरोधी राग-द्वेष-प्रसूत आसुर भाव यदि आ जाते हैं तो उन आसुर भावों को आप हमेशा के लिये विदा कर दीजिये, उनका जो स्थान नरक हैं वहाँ भेज दीजिये ताकि इस प्रकार का

विघ्न मेरी साधना में न आवे। अनादि काल से हमारे अंदर न जाने कितने राग-द्वेष आदि के संस्कार पड़े हुऐ हैं। हमारी शक्ति बड़ी सीमित है। उन अनन्त संस्कारों को हटाना हमारे लिये असंभव है। परन्तु जो हमारे लिये अत्यन्त कठिन काम है वह परमेश्वर के तो संकल्पमात्र से हो जाता है। अतः कहा कि आप उनको हमारे अन्तःकरण से हटा करके नरकों में भेज दीजिये जिससे हमारी साधना ठीक चले। संसार के स्वरूप को मैं समझ चुका हूँ यह पहले अध्याय में ही बता दिया। इसलिये मैंने प्रश्न ही किया था, 'यच्छ्रेयः स्याद् निश्चितं ब्रूहि तद् मे;' श्रेयः-पथ का साधक हूँ, इसलिये उसके लिये आप से याचना करता हूँ। मुझे कल्याण के मार्ग में ले जाइये और अनादि काल से भरे हुए जो आसुरी भाव हैं उनको आप नष्ट कर दीजिये। इन भावों के सूचनार्थ भगवान् को जनार्दन कहा ।। १८ ।।

इस प्रकार जब अर्जुन ने पूछा तब भगवान् जवाब देना प्रारम्भ करते हैं

श्रीभगवान् उवाच -

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। १९।।

हे कुरुकुल में श्रेष्ठ! अब तुम्हें अपनी प्रधान ही असाधारण विभूतियाँ बताऊँगा क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

'हन्त' अर्थात् अब, इसी समय। तुमने जो बात पूछी है उसका मैं अभी ही जवाब देता हूँ। जो तुमने दिव्य विभूतियों को पूछा है वे तुम्हारे प्रति बतलाता हूँ। दिव्य विभूतियाँ इसलिये बताता हूँ कि सात्त्विक उपासक के लिये वे ही उपास्य हैं। इसीलिये तुमने भी उन्हीं को पूछा है और मैं भी उन्हीं को बतलाता हूँ। सारी विभूतियाँ तो मैं नहीं बतला सकता। इसलिये 'प्राधान्यतः,' दिव्य विभूतियों में भी जो प्रधान हैं उनको बतलाता हूँ। जिस-जिस क्षेत्र में जो-जो विभूति प्रधान है, उसको ही बतला देता हूँ। अर्थात् ऐसे नहीं समझ लेना कि ये ही विभूतियाँ हैं, दूसरी नहीं। दृष्टांत के तौर पर, यहाँ परशुरामावतार को कहेंगे, रामावतार को कहेंगे, कृष्णावतार को कहेंगे। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, इन सब अवतारों का कोई वर्णन नहीं आयेगा। इससे ऐसा नहीं समझ लेना की वे भगवान् की विभूतियाँ नहीं हैं। विभूतियों में जो प्रधान हैं, उनको मैं बतला रहा हूँ, दूसरी विभूतियाँ हैं ही। अर्जुन कह सकता था 'मैंने तो विस्तार से सुनाने को कहा था, सारी ही बतला क्यों नहीं देते?' तब कहते हैं 'मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति' मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है। अर्थात् अशेष वर्णन कोई मेरी विभूतियों का कर सके, यह सम्भव नहीं है।

एक कथा कही जाती है कि पहले दिग्गजों के सिर के ऊपर सारे संसार का बोझ था। उसको वे धारण करते थे। दीर्घकाल तक धारण करने के कारण बड़े थक गये।

कोई भी आता था तो उससे कहते थे 'अरे! मेरा ज़रा भार कम कर दो,' पर कौन करता, सारे संसार का भार कौन अपने सिर लेता! कोई तैयार नहीं होता था। एक बार नारद जी उधर से गुज़रे। उन्होंने नारद जी से पूछा 'महाराज! बोझ लिये इतना समय हो गया, कोई उपाय हो तो करिये। कहीं कोई तैयार होवे तो उसको बोझ दे दें।' नारद ने कहा 'मैं भगवान् से पूछूँगा।' नारद जी ने जाकर भगवान् से कहा 'आप किसी दूसरे को नियुक्त कर दें तो उन्हें ज़रा छुट्टी मिले, बड़े परेशान हैं।' भगवान् ने कहा 'अच्छा ऐसा करो, उनसे कहो कि थोड़े समय के लिये किसी को तैयार कर लेवें। बजाय यह कहने के कि बोझ ले लो, यह कहें कि थोड़े समय के लिये ले लो।' नारद जी ने कहा 'ठीक है।' आकर दिग्गजों से कहा 'थोड़े समय के लिये किसी को दिया जा सकता है।' उन्होंने कहा 'थोड़े समय तक देने का क्या फ़ायदा! लम्बे समय के लिये कोई ले तभी ठीक है।' नारद जी ने कहा 'मैं तुमको युक्ति बतलाता हूँ। तुम उससे कहना कि भगवान् के सारे नामों का एक बार पाठ कर ले, इतनी देर के लिये बोझ ले ले, फिर वापिस कर दे।' दिग्गजों ने कहा 'नाम तो जल्दी ही खत्म हो जायेंगे!' नारद ने कहा 'घबराओ नहीं, खत्म होने वाले नहीं हैं'। नागलोक जाकर नारद जी ने तैयार कर लिया अनन्त नाग को। उससे कहा 'दिग्गज बड़े परेशान हैं, खाली थोड़े समय के लिये आराम चाहते हैं। एक बार भगवान् के नामों का आवर्तन समाप्त हो जाये; बस इतनी सी देर बाद बोझ वापिस ले लेंगे।' अनन्त नाग ने विचार किया 'मेरे हज़ार तो मुख हैं और हर मुख में हज़ार जीभें हैं। हर एक से उच्चारण होगा तो कितने भी नाम होंगे, जल्दी ही खत्म हो जायेंगे।' पर तब से जो वह बोझ लिये खड़ा है, आजतक वे नाम खत्म नहीं हुये, न उसका समय समाप्त हुआ! भगवान् का ऐसा विस्तार है इसलिये भगवान् कहते हैं 'मे विस्तरस्य अंतः नास्ति' न मेरे नामों का अंत है, न मेरे रूपों का अंत है, न मेरी क्रियाओं का अन्त है। परमात्मा का सब कुछ अनन्त ही है। इसलिये यद्यपि तुमने तो कहा था विस्तार से अशेष बताइये, परन्तु विस्तार यही हो सकता है कि कुछ प्रधानों को गिना दूँ।। १६।।

भगवान् मुख्य चिन्तनीय विभूति बताने से प्रसंग शुरू करते हैं -

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। २०।।

हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के मन में स्थित आत्मा मैं हूँ। भूतों का कारण, उनकी स्थिति व उनका प्रलय भी मैं ही हूँ।

सबसे पहले सर्वोत्तम विभूति बतलायी है। इस विभूति का चिन्तन हर क्षण हर व्यक्ति करता ही है। जान कर भले ही नहीं करता, पर करता है। हर-एक के अन्दर जो 'मैं' को उठा रहा है वही प्रत्यगात्मा है। अहंकारात्मिका वृत्ति उसी के कारण उठ रही

है। सामने घड़ा हो तो अन्तःकरण में घटाकार वृत्ति बनती है, वस्त्र हो तो वस्त्राकार वृत्ति बनती है। जो चीज़ सामने हो उसके अनुसार वृत्ति बनती है। इसी प्रकार जो अपने अन्दर प्रत्यगात्मा है उसे विषय करने वाली वृत्ति का आकार अहम् है। भाष्यकार ने सूत्रभाष्य में स्पष्ट किया कि आत्मा सर्वथा ही अविषय नहीं क्योंकि 'मैं'-अनुभव का वह विषय बनता है। 'मैं'-प्रतीति का विषय है ही परमात्मा। हम कुछ भी करें, कुछ भी जानें, कुछ भी चाहें, पहले मैं की वृत्ति होगी, तभी आगे कोई भी वृत्ति बनेगी कि 'मैं यह करूँ, मैं यह जानूँ'। बिना 'मैं' की प्रतीति हुये और किसी चीज़ की प्रतीति हो नहीं सकती। उससे जो प्रत्यगात्मा प्रतीत हो रहा है, उसे भगवान् कहते हैं उनकी विभूति है। श्रुति ने कहा ही है, 'तत् सृष्ट्वा तद् एव अनुप्राविशत्' इस सारी सृष्टि को बनाकर वह इसमें प्रविष्ट हुआ। किस रूप से प्रविष्ट हुआ? प्रत्यगात्मा रूप से प्रविष्ट हुआ। स्मृति ने कहा है 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' सारे संसार के रूप को लेकर फिर जीवरूप से उसी ने इसमें प्रवेश किया। अर्जुन ने पूछा था कि आपका सदा परिचिन्तन कैसे किया जाये? सदा परिचिन्तन का सबसे सीधा उपाय यही है कि जब अहम् मन में आवे, तब जानो कि यह अहम् ब्रह्म है, परमात्मा है। 'सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों के हृदय में यह स्थित है। जैसे घड़ा सामने रखा है, तो देवदत्त, यज्ञदत्त, भानुदत्त आदि जितने लोग हैं सभी की घटाकार वृत्ति बनती है। इसी प्रकार इस ब्रह्म की हर अन्तःकरण के अंदर अहम् इत्याकारक वृत्ति बन रही है। सब अहंवृत्तियों का विषय ब्रह्म ही है। प्रत्यगात्मा रूप से उसकी उपासना करनी है, लेकिन ख्याल रखना है कि सब प्राणियों के हृदय के अंदर जो अहम् का अनुभव हो रहा है, वह उसी प्रत्यगात्मा का है।

'हे गुडाकेश!' गुडाका कहते हैं निद्रा को, निद्रा का जो ईश होवे अर्थात् निद्रा के ऊपर जिसका पूरा नियंत्रण होवे, उसी को गुडाकेश कहेंगे अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया है, निद्रा उसके अनुसार चलती है, वह निद्रा के अनुसार नहीं। निद्रा के अंदर आदमी को होश नहीं रहता। अतः भगवान् का अभिप्राय है कि तू ऐसा है जो कि हमेशा होश में रहता है। इसीलिये तू अहम् का ध्यान करने का अधिकारी है। पहली वृत्ति सबकी बनती ज़रूर 'मैं' की है परन्तु व्यक्ति उस मैं मात्र को तुरन्त भूल जाता है अतः होश खोने वाला व्यक्ति यह ध्यान नहीं कर सकता। साधक से अपेक्षा है कि उसका छोटे-से-छोटा काम भी होश के साथ हो। हम लोगों के बहुत से काम ऐसे अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसका होश रहता ही नहीं। अतः कर कुछ रहे हैं, मन कहीं घूम रहा है! इसलिये कोई भी शास्त्रीय कर्म प्रारम्भ कराते हैं, तो लोगों से संकल्प कराते हैं। आज क्या देश है, क्या काल है, तुम कौन हो? संकल्प में कई चीज़ों का चिन्तन है। यह चिन्तन हर कार्य में रखना उचित है। अपने देश-काल और परम्परा के ही अनुसार खान, पान, उठना, बैठना, पहनना, ओढ़ना, आदि सब हो, यही उचित है।

रात सोने का समय है, तब बिजली-बत्ती जलाकर जगो और दिन में खिड़कियाँ बंदकर सो जाओ - यह काल के विरुद्ध कार्य है। अपनी कुलपरम्परा के अनुरूप कार्यों में ही प्रवृत्ति करना उचित है, परम्परा के अनुसार शोभा न दे ऐसे कार्यों में नहीं। और जो कार्य करने जा रहे हैं वह अभीष्ट फल का हेतु है, यह भी निश्चित कर तब प्रवृत्ति करनी चाहिये। यह सब तभी संभव है जब व्यक्ति होश में रहकर, सावधान होकर कार्य करे, अन्यथा संभव नहीं। अतः अर्जुन को 'गुडाकेश' संबोधन किया। जो प्रत्यगात्मा की दृष्टि रखेगा, उसके सामने तुरन्त प्रश्न आएगा कि इस देश काल और प्रयोजन का निर्णय किस से होवे? उत्तर है कि शास्त्र से होवे। मैं प्रत्यगात्मा हूँ, मैं ये देहादि नहीं हूँ। प्रत्यगात्मा परमात्म-स्वरूप है और परमात्मा की इच्छाओं को बतलाने वाला वेद है, शास्त्र है। अभी तुम मन से पूछते हो, जो मन को अच्छा लगे सो करोगे। जब तुम इस बात को याद रखोगे कि मन मैं नहीं हूँ, मैं तो प्रत्यगात्मा हूँ तब उस प्रत्यगात्मा को क्या अच्छा लगता है यह पता लगाओगे। तब तुम्हारे सारे व्यवहार स्वभाव से शास्त्रानुकूल होंगे। होगा यह तभी जब गुडाकेश बनो। नहीं तो अधिकतर काम हम लोगों के नींद में ही होते रहते हैं! जो इस भाव से चिन्तन कर सकता है उसे और कुछ चिन्तन करने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

जो इस चिन्तन को न कर सके उसके लिये कहा - 'अहं भूतानाम् आदिः मध्यं अन्तश्च'। भगवान् ही सभी भूतों के, सभी पदार्थों के, सभी जीवों के आदि हैं, अर्थात् वे ही सब को उत्पन्न करने वाले हैं। मध्य भी हैं, अर्थात् वे ही सब को स्थित रखने वाले हैं। और अन्त भी हैं, सब वापिस उन्हीं में जाते हैं। भगवान् का लक्षण ही है 'जन्माद्यस्य यतः' जगत् के जन्म-स्थिति-भंग का कारण ही परमेश्वर है। हर जीव या हर भूत को जब देखो, तिनके से लेकर हिमालय पर्यन्त जिसको देखो, तुरन्त याद करो कि यह परमात्मा से ही पैदा हुआ है, और परमात्मा ही इसको स्थिर रख रहा है, एवं अन्त में यह परमात्मा में ही जायेगा। इस प्रकार जिस भी चीज़ का अनुभव करोगे, उसके अन्दर बार-बार 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की आवृत्ति होती रहेगी। पहली विभूति बतलाई प्रत्यगात्मा; उसका चिंतन करने में जो अशक्त होवे, वह सारे भूतों को उसी से उत्पन्न, उसी में स्थित और उसी में लीन होता देखे। इस तरह उसका भी हमेशा चिन्तन होता रहेगा।

इतना याद रखना कि कल्याण चाहने वाला, श्रेयोमार्ग का पथिक इह लोक में सफलता को ज़्यादा महत्त्व नहीं दे सकता। लौकिक काम ठीक और जल्दी करने के लिये अभ्यासवश उन्हें बेहोशी से करना ज़रूरी है। हवाई जहाज या मोटरकार भी चलाते हुये हर बार यदि सोच-विचार कर गेयर बदलो या दाँये-बाँये मोड़ो तो टक्कर ही होगी! इसके लिये तो अभ्यास ऐसा चाहिये कि मौके के अनुसार स्वतः प्रतिक्रिया हो जाये, तुम्हें कुछ सोचने में समय न गवाँना पड़े। बिना सोच कर करोगे तभी जल्दी कार्य हो

जायेगा, सोचने का समय नहीं लगेगा। इसलिये सांसारिक कार्यों की शिक्षा के अंदर कितना काम अभ्यास से अपने आप बिना सोचे कर लेते हो यह सिखाना आवश्यक होता है। जल्दी काम करने वाले को बेहोशी से काम करना पड़ता है। होश से काम करने वाले में इतनी तेज़ी नहीं रहेगी। परन्तु जो श्रेयःपथ का साधक है वह केवल इस संसार में कार्य जल्दी कर लेवे इसको विशेषता नहीं मानता। कैसे करते हैं इसके ऊपर उसका ज़्यादा ज़ोर है, कितना करते हैं इस पर ज़्यादा ज़ोर नहीं है। लौकिक लोग सोचते हैं कि जो जितना ज़्यादा काम करता है वह उतना अच्छा है। परन्तु श्रेयःपथ में चलने वाला इस दृष्टि से चलता है कि हर काम अच्छे से अच्छा होवे। इसलिये भगवान् ने गुडाकेशता, सावधानता की ओर ध्यान दिलाया। उत्तम व मध्यम विभूतियों की उपासना सावधान साधक ही कर सकता है।। २०।।

बहुत कम लोग इतने सावधान हो पाते हैं! इसलिये जो ये उपासनायें नहीं कर पायें, उनके लिये साधारण विभूतियाँ बतलाते हैं-

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। २१।।

अदितिसुतों में मैं विष्णु हूँ, प्रकाश वालों में किरण-सम्पन्न सूर्य हूँ, मरुद्गणों में मरीचि हूँ तथा नक्षत्रों का अधिपति चन्द्र हूँ।

महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थी दिति और अदिति। दिति से दैत्य पैदा हुये और अदिति से आदित्य पैदा हुये। धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु - ये आदित्य बारह हैं। उनके अन्दर विष्णु नाम का आदित्य मेरी विभूति है। अन्य अदिति के पुत्रों की अपेक्षा विष्णु ही श्रेष्ठ है अतः विष्णु ध्येय है। और जो प्रकाश करने वाली चीज़ें हैं उनके अंदर किरणों से भरा हुआ सूर्य ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सर्वाधिक प्रकाश इसी का है। नक्षत्र आदि में भी प्रकाश है, परन्तु उनका प्रकाश ऐसा तेजस्वी नहीं है कि अन्धकार को नष्ट करे। अंशुमान् कह कर बतलाया कि किरणें ही उसका रूप है। सूर्य किरणों का ही समूह है। मरुत् देवता अर्थात् वायु देवता; उनन्चास भिन्न-भिन्न वायु हैं। उनके अंदर मरीचि नाम का देव मैं हूँ। एक समस्या है कि तीन-चार सूचियाँ उनन्चास मरुतों की पुराणों में मिलती हैं, उनके अंदर 'मरीचि' यह नाम नहीं मिलता है। अतः समझ सकते हैं कि मरीचि का अर्थ 'वेग' भी होता है। वायु के अन्दर प्रधान चीज़ वेग है। सभी उनन्चास वायुओं के अंदर जो वेग है, वह मेरा रूप है, यह भगवान् का भाव है। लोक में भी जब कहते हैं कि 'इस कमरे में हवा नहीं है, या हवा है'। तब हवा का मतलब है चलने वाली हवा। वायु के अनुभव के लिये हमें वेग की अपेक्षा होती है। जो हमें वायु का अनुभव कराता है वह वेग भगवान् की विभूति है।

'नक्षत्राणामहं शशी' नक्षत्रों के अंदर मैं चन्द्रमा हूँ। सत्ताइस नक्षत्र गिने गये हैं, नक्षत्रों का पति चन्द्रमा को माना गया है क्योंकि सभी नक्षत्रों से उनका विवाह हुआ था। अधिलोक की दृष्टि से देखो तो सत्ताइसों नक्षत्रों के पास से चन्द्रमा गुज़र चुकता है, तब एक मास पूरा होता है। सत्ताइस नक्षत्रों का भोग हो जाता है चन्द्रमा द्वारा, तब एक मास होता है। इसीलिये सारे नक्षत्रों का पति चन्द्रमा है। नक्षत्रों का पति होने से चंद्र को नक्षत्रों में अपनी विभूति कहा। सीधा 'चंद्र' न कह कर के शशी शब्द का प्रयोग किया। चन्द्रमा के बीच में जो काला हिस्सा है, उसको शश कहते हैं। थोड़ी कल्पना की दृष्टि से देखो तो वह खरगोश की तरह दीखेगा। वह धब्बा विवाह के निमित्त से दक्ष के शापवश लगा था। नक्षत्रों के पतिरूप का संकेत करने के लिये सीधा 'चन्द्र' नहीं कह कर शशी कह दिया। स्वयं नक्षत्र न होने पर भी उनका पति होने से शशी को नक्षत्र-सम्बन्धी विभूति कहा है।

अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग विभूतियों का चिन्तन ज़्यादा उपादेय हो सकता है पर बताये सभी करने के लिये ही जाते हैं। जो ज्योतिष का ज़्यादा प्रयोग करते हैं, उनको सब समय नक्षत्रों का चिन्तन करना पड़ता है। हमेशा नक्षत्रों का शशी के साथ सम्बंध याद रख कर नक्षत्रों के पति रूप से भगवान् का वे चिन्तन करते रह सकते हैं। इसी प्रकार से जिनको वायु का प्रयोग करना है, चाहे प्राणायाम आदि के अंदर, चाहे बाह्य जगत् के अंदर जैसे मौसम विभाग वाले करते रहते हैं, वे उसमें वेगरूप से बार-बार भगवान् का चिन्तन कर सकते हैं। यद्यपि सब विभूतियों की उपासना सब के द्वारा करने में कोई रुकावट नहीं है, की जा सकती है और करनी भी चाहिये, तथापि जो जिस चीज़ का अधिक प्रयोग रात-दिन कर रहा है, उसके लिये वह करने से 'सदा परिचिन्तन' सरल हो जाता है।। २१।।

अन्य विभूतियाँ गिनाते हैं-

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। २२।।

वेदों में सामवेद, देवताओं में इंद्र, इंद्रियों में मन और भूतों में चेतना हूँ।

ऋग्वेद के ही मन्त्र सामवेद में गाये जाते हैं इसलिये ऋग् को साम की योनि कहा है। मंत्रों के अन्य प्रकार के उच्चारणों से मन्त्रों का गान भगवान् को ज़्यादा प्रिय है। लोक में भी अच्छे स्वर से गाया गाना लोगों को प्रिय रहता है। सामवेद शास्त्र-पद्धति से गाया जाता है, जबकि आजकल के गान केवल मन को रिझाने वाले हैं। वेदों में सामवेद अर्थात् जिस ढंग का गान वेदों में प्रतिपादित है उस प्रकार का गान मेरी विशेष विभूति है। देवताओं में देवताओं का राजा इंद्र मेरा रूप है। राजा होने से वह श्रेष्ठ है यह स्पष्ट ही है। इंद्रियों के अन्दर मैं मन हूँ। इस प्रसंग में प्रायः निर्धारण में षष्ठी है

अर्थात् घटकों में से किसी एक को विभूति निर्धारित कर दिया है, जैसे आदित्य-गण में आये विष्णु को विभूति कह दिया। कहीं सम्बंध-द्योतन के लिये षष्ठी है, जैसे नक्षत्रों से सम्बद्ध शशी को विभूति कहा। वहाँ शशी को नक्षत्रविशेष नहीं कहा है। सामवेद भी वेद है, चार वेदों में उसे श्रेष्ठ बता दिया। इंद्र भी देवता है, उसे देवताओं में श्रेष्ठ कह दिया। किंतु इंद्रियों का अधिपति होने से मन श्रेष्ठ है। मन को इंद्रिय नहीं माना गया है। जहाँ मन को इंद्रियों के साथ गिन लेते हैं, वहाँ भी गिनती वैसी ही मानी जाती है जैसे महाभारत बहुत श्रेष्ठ है, इसलिये कई जगह पर महाभारत को चार वेदों के साथ पंचम वेद कहा है। वहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि महाभारत वेद है, केवल उसको वेदों के जैसा श्रेष्ठ बतलाने में तात्पर्य है। इसी प्रकार मन को इंद्रियों के साथ गिनते हैं तो तात्पर्य है कि मन सब इंद्रियों को चलाने वाला है। इंद्रियाँ बाह्य विषयों को प्रकट करती हैं। घट पट के रूप रस आदि को दिखलाती हैं। मन बाहर की चीज़ों को तो प्रकट करता नहीं, वह केवल अंतःकरण है, अन्दर की चीज़ों को प्रकट करने का साधन है। इसलिये उसको इंद्रियों से अलग कहते हैं। विषयों को प्रकट दोनों करते हैं, यह तो दोनों में सम्बंध हो गया, अन्दर की चीज़ों को मन प्रकट करता है, बाहर की चीज़ों को इंद्रियाँ प्रकट करती हैं। प्रकट करने वाले होने से दोनों का सम्बंध बन जाता है। मन इंद्रियों पर नियंत्रण करता है क्योंकि संकल्प-विकल्प-पूर्वक ही इंद्रिय की प्रवृत्ति होती है, इसलिये उनका वह अधिपति माना जाता है।

'भूतानाम् चेतना अस्मि', भूत अर्थात् शरीर इंद्रियादि का संघात। जैसे मोटर का जो बाह्य शरीर हम लोगों को दीखता है वह चलने वाला है और अन्दर जो यंत्र लगा हुआ है वह चलाने वाला है, इसी प्रकार जो शरीर हमें दीखता है वह चलने वाला है, इसके अंदर जो सूक्ष्म शरीर है, वह इसको चलाता है। इस कार्यकरणसंघात अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरों के सम्मिलित रूप में हमेशा एक बुद्धिवृत्ति मौजूद रहती है, जो अनुभव कराती है 'मैं चेतन हूँ'; वह शरीर को भी चेतन अनुभव कराती है, इंद्रियों को भी चेतन अनुभव कराती है। संघात चेतन है तो नहीं लेकिन बुद्धिवृत्ति के कारण इसका सम्बन्ध चेतन से हो जाता है। जाग्रत् काल में चेतना हमेशा बनी ही रहती है। नित्य अभिव्यक्त होने के कारण इसे भगवान् ने विभूति बताया ।। २२।।

और विभूतियाँ बताते हैं -

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। २३।।

रुद्रों में शंकर, यक्षों व राक्षसों में धनपति कुबेर, वसुओं में पावक, और चोटी वालों में मेरु हूँ।

जैसे द्वादश आदित्य हैं, वैसे ही वीरभद्र, शंभु गिरीश, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य,

पिनाकी, भवानीश, कपाली, दिक्पति, और स्थाणु ये एकादश रुद्र हैं। उन ग्यारह रुद्रों के अंदर शंकर अर्थात् शंभु नाम का रुद्र मैं हूँ। शंकर रुद्र तो है ही, साथ में रुद्रों का अधिपति भी है जैसे देवताओं का अधिपति इंद्र है। इसलिये शंकर की विशेषता है। और वह हमेशा प्राणियों का कल्याण करने वाला है इसलिये भी विशेष है। शम् अर्थात् कल्याण, कल्याण करने वाला शंकर है। रुद्र देवता भीषण रूप वाले हैं, उनमें शंकर रूप से भी सौम्य है, और क्रिया से भी सौम्य है, इसलिये इसकी विशेषता है। यक्ष और राक्षसों के अन्दर मैं वित्तेश अर्थात् कुबेर हूँ। देवलोक में धन इत्यादि का सारा कार्य यक्ष लोग करते हैं। धन आदि का रक्षण करने वाले जो हैं उन्हें रक्षः कहा है, वे रक्षा करने वाले हैं। धन जहाँ भी होगा वहाँ उसकी रक्षा ज़रूरी हो जाती है। धन एक ऐसी चीज़ है जिसके प्रति सब लोगों का आकर्षण होता है। खाली आजकल के ज़माने के नोट को ही धन नहीं समझ लेना, पशु भी धन है, रत्न, स्वर्ण आदि सभी धन है। ये सब चीज़ें ऐसी हैं जिनके प्रति लोगों का सहज आकर्षण रहता है। अतः ज़रूर ये किसी-न-किसी के द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। इसलिये 'यक्ष-रक्षसाम्' यों साथ गिना है। वित्तेश अर्थात् कुबेर इनका अधिपति होने से श्रेष्ठ कहा गया। 'वसूनां पावकश्चास्मि' द्वादश आदित्य हैं, एकादश रुद्र हैं, वैसे ही धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास - ये आठ वसु हैं। उन आठ वसुओं के अन्दर पावक अर्थात् अग्नि (अनल) विशेष रूप है। 'मेरुः शिखरिणाम्', जो बड़े-बड़े शिखर वाले, चोटी वाले पहाड़ हैं उनके अंदर मैं मेरु हूँ। मेरु पर्वत के चारों ओर सारे ग्रह नक्षत्र इत्यादि चक्कर लगाते हैं। मेरु पर्वत के बारे में जैसा वर्णन आता है वैसा हम लोगों के देखने में तो कोई पहाड़ नहीं आता परन्तु शास्त्रसिद्ध है। नक्षत्र ग्रह इत्यादियों की सारी गतियाँ मेरु के चारों ओर हो रही हैं। वही सबका केन्द्र है, इसलिये वह श्रेष्ठ है ।। २३।।

अन्य विभूतियों का उल्लेख करते हैं-

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। २४।।

हे पार्थ! पुरोहितों में प्रधान जो बृहस्पति उन्हें मैं समझो। सेनापतियों में स्कन्द एवं जलाशयों में सागर हूँ।

पुरोधा अर्थात् पुरोहित; जो आगे चल कर तुम्हारा हित सोचे उसको पुरोहित या पुरोधा कहते हैं। अतः पुरोहित हमारे यहाँ बहुत ही मान्य पद है। तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति इत्यादि आने वाली हो तो वह पहले से ही सारी व्यवस्था रखता है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही इसलिये अग्नि को पुरोहित कहा है। पुरोहितों के अंदर मुख्य बृहस्पति हैं। देवताओं के वे पुरोहित हैं। सेनानी अर्थात् सेनापति; उनके अंदर देवताओं की सेना का अधिपति होने से स्कन्द अर्थात् कार्तिक स्वामी श्रेष्ठ हैं। 'सरसाम्' जो देवताओं के

द्वारा खोदे गये तालाब हैं, उनको सरस कहते हैं। उनके अन्दर देवताओं के द्वारा खोदा हुआ सबसे बड़ा तालाब सागर है। पश्चिम में उड़ीसा, मद्रास और पूर्व में बर्मा - इनके बीच के समुद्र को साहित्य में प्रायः 'सागर' कहते हैं। इसकी ठीक सीध में उत्तर में हिमालय की चोटी पड़ती है जिसको आजकल माउन्ट एवरेस्ट कहते हैं, और हिंदी में 'सागर माथा' कहते हैं मानो वह सागर का सिर है। इसी में गंगा जी का संगम होता है, अतः इसकी श्रेष्ठता सुगम है ।। २४।।

विभूति-कथन का ही क्रम चलाते हुये बताते हैं -

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। २५।।

महर्षियों में भृगु, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में जप यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय हूँ।

महर्षियों के अंदर भृगु नाम का महर्षि मैं हूँ, क्योंकि उसी के कुल में आगे चल कर परशुराम पैदा हुए। भृगु की शक्ति इतनी थी कि स्वयं भगवान् विष्णु की परीक्षा करने के लिये उनको भी लात मारी थी! इस प्रकार अत्यधिक शक्ति से सम्पन्न होने से अन्य ऋषियों की अपेक्षा भृगु को भगवान् ने अपनी विभूति बतलाया। एक बात याद रखना कि दानवों का पुरोहितत्व भी भृगु ने किया है इसलिये भी उनकी श्रेष्ठता है। 'गिराम्' अर्थात् शब्दों में, पदों में, 'एकम् अक्षरम्', एक अक्षर जो ओंकार है वह साक्षात् परमात्मा का प्रतीक होने के कारण श्रेष्ठ कहा गया है। यद्यपि उसके अन्दर तीन अक्षरों की कल्पना होती है- अ, उ, म्, तथापि उसका स्वरूप तो एकाक्षर ही है। कई जगह ॐ को एकाक्षर कहा गया है। है वह एकाक्षर, उसके अन्दर अकार उकार मकार की कल्पना होती है। परमेश्वर के तीनों रूपों को प्रकट करने के लिये जीवों की तीनों अवस्थाओं को भी बतलाने वाली वह कल्पना हो जाती है। इस प्रकार कहने को तो एक अक्षर है, पर उसमें अनेक तरह की चीज़ें कल्पित हो जाती हैं इसलिये वह श्रेष्ठ है। भगवान् का साक्षात् नाम होने से भी श्रेष्ठ है।

यज्ञ - परमेश्वर के निमित्त से या देवताओं के निमित्त से जो पूजा पाठ इत्यादि किये जाते हैं वे सब यज्ञ हैं। तीन चीज़ें जहाँ होती हैं, वहाँ यज्ञ सम्पन्न हो जाता है : एक तो मन्त्र का उच्चारण होना चाहिए; दूसरा, किसी द्रव्य का त्याग होना चहिए; और तीसरा, त्याग किसी देवता के उद्देश्य से होना चाहिए। ये तीन चीज़ें जहाँ होती हैं, वह यज्ञ हो जाता है। जितनी भी पूजा इत्यादि करते हैं, उसमें मन्त्र का भी उच्चारण होता है, कोई-न-कोई फूल, चन्दन आदि द्रव्य चढ़ाया जाता है और किसी-न-किसी देवता के उद्देश्य से अर्पित किया जाता है। इस प्रकार के जो अनेक यज्ञ हैं, स्वयं भगवान् ने भी पहले कई यज्ञ गिनाए थे, उन सब में जप यज्ञ की श्रेष्ठता है। जप यज्ञ

की श्रेष्ठता एक तो इसलिये है कि इसके अन्दर हिंसा इत्यादि की कोई सम्भावना नहीं है। यदि अग्नि को जलाकर यज्ञ करते हैं तो कितना भी सावधान रहें पर कोइ-न-कोई कीड़े मकौड़े इत्यादि मर ही जाते हैं। द्रव्य की शुद्धि भी बड़ी कठिन होती है। अपनी तरफ से कितना भी सावधान रहें लेकिन अधिकतर पदार्थ लेने तो दूसरों से ही पड़ेंगे, उसमें दोष की सम्भावना रह ही जाती है। थोड़ा भी बड़ा यज्ञ हो तो कई पुरोहितों का उसमें योगदान रहता है। उनमें से किसी का उच्चारण ठीक न होवे तो भी यज्ञ ठीक तरह से सम्पन्न नहीं हो पाता है। कई बार उससे बहुत बड़े अनिष्ट भी हो जाते हैं। एक बहुत बड़े ऋषि थे, उन्होंने अच्छे-अच्छे पुरोहितों को चुन कर पुत्रेष्टि यज्ञ किया, ऋषियों में सामवेदी बूढ़ा था। इसलिये कहीं-कहीं पर उसका स्वरभंग हो जाता था, बुढ़ापे के कारण। जो कामनापूर्वक कर्म करता है, वह चाहता है कि त्रुटि न रहे ताकि फल अवश्य मिले। यजमान ऋषि जानकार थे अतः स्वरदोष पहचान लेते थे जिसके फलस्वरूप उन्हें गुस्सा आ गया। स्वाभाविक है। गुस्से में उससे कहा कि 'अरे! तुम्हें पता है कि मैं पुत्र के लिए यज्ञ कर रहा हूँ, फिर भी तुम स्वरभंग कर रहे हो!' उसने कहा 'भाई, शरीर बूढ़ा हो गया है तो बीच में स्वरभंग हो जाता है। इस बात के लिये तुम इतना क्रोध कर रहे हो तो जाओ तुम्हें लड़का तो होगा लेकिन गूंगा होगा।' यजमान, ऋषि ने हाथ जोड़ कर किसी तरह उनको खुश किया तो उन्होंने कहा 'बारह साल के बाद वह बोलने लगेगा।' ये सब कठिनाइयाँ जप यज्ञ में नहीं हैं। बाह्य किसी द्रव्य का तुमको उपयोग नहीं करना है, किसी दूसरे का तुमको साथ नहीं लेना है। परन्तु जप के लिये खुद अपनी शुद्धि पूरी चहिए। इसलिये कहा है कि जिस हाथ से जप करते हो वह चाहे जो प्रतिग्रह लेने से अशुद्ध हो जाता है। दूसरों की स्त्रियों इत्यादि का चिन्तन करने से मन दुष्ट हो जाता है। और जिस जीभ से तुम जप करते हो उससे अगर असत्य बोलते हो तो वह वाणी अपवित्र हो जाती है। जप में सिद्धि के लिये इन तीनों अपवित्रताओं से बचना चाहिये। अशुद्ध प्रतिग्रह से, झूठ से, परायी स्त्री आदि वस्तुओं के चिन्तन से दूर रहकर ही जप का सफल अभ्यास सम्भव है। ये सब अपने करने के कार्य होने से सरलता, स्वतंत्रता है। बाह्य यज्ञों में तो दूसरों का सहारा लेना पड़ता है, अतः परतंत्रता है। यही जप यज्ञ की विशेषता है।

'स्थावराणां' जो चीज़ें चलती फिरती नहीं हैं, स्थिर रहती हैं, उनमें हिमालय भगवान् की विभूति है। स्थिरता को देने वाली चीज़ वजन है और हिमालय का वजन सबसे ज़्यादा है। हिमालय को कालिदास ने सारे संसार को तोलने वाला दण्ड कहा है। वह अत्यन्त स्थिर है, उससे ज़्यादा कोई स्थिर या भारी चीज़ है ही नहीं, इसलिये उसकी श्रेष्ठता है। इस प्रसंग में ख्याल रखना है कि विशेषता बताई है इस लिये उपपत्ति या कारण खोज लेते हैं, ऐसा नहीं कि इन कारणों से विशेषता का निर्धारण है! विशेषता तो भगवान् ने बता दी, उसे हृदयंगम करने के लिये हेतु समझ लिये जाते हैं।।२५।।

अन्य विभूतियाँ कहते हैं -

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। २६ ।।

सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ एवं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

पेड़ों के अंदर पीपल मेरी विभूति है। इस संसार की उपमा प्रायः अश्वत्थ से वेदों में दी है। वेद कहता है कि 'एषोऽश्वत्थः सनातनः' संसार सनातन अश्वत्थ है। भगवान् भी पन्द्रहवें अध्याय में बतलायेंगे कि यह संसार अश्वत्थ है। कभी पीपल के पत्ते को देखोगे तो चाहे बिलकुल भी हवा नहीं चल रही हो, उसका पत्ता कुछ-न-कुछ हिलता ही रहेगा। इसलिये संसार की चंचलता इसको देखने से मन में तुरन्त स्फुरित होती है। यह इसकी श्रेष्ठता है। इसका नाम भी इसलिये रखा गया 'श्वो न तिष्ठति इति अश्वत्थः', 'श्वः' मायने आगामी कल, आगामी कल तक जो नहीं रहता है उसको अश्वत्थ कहते हैं। इसका पत्ता चाञ्चल्य को दिखला देता है और इसका नाम भी अस्थिरता को प्रकट कर देता है। पीपल को पानी देना, पीपल के नीचे दीपक रखना इत्यादि अनेक प्रकार के स्मार्त कर्मों के अंदर पीपल की श्रेष्ठता वैसे भी प्रकट है।

देवर्षियों के अन्दर नारद हूँ। देवर्षियों के अन्दर नारद की श्रेष्ठता इसलिये है कि नारद ने सनत्कुमारों से आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति की। जब तक वह ज्ञान नहीं मिला तब तक संतोष नहीं किया। सारे शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन कर लिया, सब कुछ पढ़ लिया, जान लिया, परन्तु उन्होंने देखा कि सब प्राप्त करके भी शोक-मोह तो दूर हुआ ही नहीं! प्रायः जितना बड़ा विद्वान् होता है उतना बड़ा उसमें औद्धत्य होता है। 'मैं सब जानता हूँ' यह भावना स्वभाव से रहती है विद्वानों के अन्दर। नारद सबसे बड़े विद्वान् होकर भी इस अभिमान से रहित थे। बल्कि उनके मन में यही आया कि 'ये सब पढ़ कर क्या हुआ! शोक-मोह तो दूर हुआ ही नहीं।' विद्या ने उनके अन्दर मद नहीं लाया। इसलिये उनकी श्रेष्ठता है। वैसे पुराणों में अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमें स्पष्ट है कि भगवत्-लीला के अन्दर हमेशा ही कहीं-न-कहीं नारद का कोई-न-कोई सहाय अपेक्षित रहता है। भगवान् की लीला को पूरी करने के लिये वे अवश्य सचेष्ट रहते हैं। इसलिये उनकी श्रेष्ठता है।

गंधर्वों में चित्ररथ नाम का जो गन्धर्व है उसने भगवान् शंकर की दीर्घ काल तक सेवा की थी। परमेश्वर की तरफ गन्धर्वों की प्रवृत्ति प्रायः नहीं होती है। गन्धर्व गान, नृत्य और इसी प्रकार की कलाओं के आनन्द को लेने में हमेशा लगे रहते हैं अतः भगवान् की तरफ प्रवृत्ति नहीं कर पाते, पर चित्ररथ ने गन्धर्व होकर भी नाच-गाना आदि से अपनी पूर्णता नहीं समझी और भगवान् की तरफ गया, इसलिये उसकी

श्रेष्ठता है।

सिद्ध भी एक वर्ग-विशेष है; जैसे यक्ष हैं, राक्षस हैं, गन्धर्व हैं, उसी प्रकार से सिद्ध भी देववर्ग में आते हैं। जन्म से ही उनमें धर्म भी बहुत होता है, ज्ञान भी बहुत होता है, वैराग्य भी बहुत होता है, ऐश्वर्य भी बहुत होता है। ये सब जिसके अन्दर होते हैं वे ही सिद्ध कहे जाते हैं। लोक में भी ऐसी विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न को लोग सिद्ध कहते हैं। जो किसी-न-किसी ज्ञान, वैराग्य, धर्म इत्यादि ऐश्वर्यों के अन्दर पूर्ण होता है वह जिस कार्य को करता है वह लोगों को चमत्कार लगता है। जिस मनुष्य में भी ऐसी एक-आध शक्ति भी देखने में आती हैं, उसको सिद्ध कह देते हैं। कपिल मुनि के अन्दर सारे ही ये गुण मौजूद थे, इसलिये इनकी श्रेष्ठता है। पुराणों में एक कपिल को भगवान् का अवतार भी कहा है। उनसे अलग करने के लिये केवल कपिल नहीं कहा, मुनि कह दिया। सांख्य शास्त्र को बनाने वाले कपिल को यहाँ विभूति कहा है। भगवान् के अवतार कपिल, जिन्होंने सगरपुत्रों का संहार किया था, विभूतिरूप कपिल मुनि से अलग हैं।। २६।।

ध्येय विभूतियाँ और भी हैं यह बतलाते हैं -

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। २७।।

घोड़ों में मुझे उच्चैःश्रवा समझो जो अमृतनिमित्त समुद्र-मंथन से उत्पन्न हुआ था। श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत एवं नरों में नरों का अधिपति, राजा मुझे समझो।

'अमृतोद्भवम्' मायने अमृत के निमित्त जब मंथन किया गया था तब जो पैदा हुआ था; यह इसकी श्रेष्ठता में निमित्त है। इसी प्रकार जो बड़े-बड़े हाथी हैं गजेन्द्र हैं, उनमें ऐरावत मेरी विभूति है। सामान्य हाथी को गज कहते हैं और बहुत बड़े हाथी को गजेन्द्र कहते हैं। इरावती से पैदा हुआ हाथी ऐरावत है। इन्द्र उसके ऊपर सवारी करता है। बाकी सब हाथियों के एक सूँड होती है, ऐरावत की सात सूँडे हैं अतः उसकी श्रेष्ठता स्पष्ट ही है। इसी श्रेष्ठता के कारण दिव्य माला आदि उसे मिल जाती हैं।

'नराणां च नराधिपम्', नरों में राजा मेरी विभूति है। अन्यत्र शास्त्र में बतलाया है कि आठों वसुओं के अंश राजा के शरीर में हुआ करते हैं। राजा बनता है तो उसको जिन वैदिक मंत्रों से अभिषिक्त करते हैं, उनसे उसके अन्दर सारे देवताओं का आवाहन करके स्थापन कराया जाता है। इसलिये उसकी श्रेष्ठता है कि अभिषेक के द्वारा देवताओं का उसके अन्दर वास कराया गया है। वहाँ राजा को सबका राजा बतलाया है पर उस मंत्र के अन्त में आता है, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा', अभिषेक करने वाला ब्राह्मण कहता है कि बाकी सबके तुम राजा हो पर हम ब्राह्मणों के राजा तो

भगवान् शंकर ही हैं। राजा सबको हुक्म देगा, लेकिन किसके आधार से? ब्राह्मण उसे जो ठीक बतलाएँगे उसके आधार पर। जब तक सोम राजा वाले ब्राह्मणों के अनुरूप रहेगा तभी तक वसुओं का नराधिपमें वास रहेगा, अन्यथा वे छोड़कर चले जाते हैं। राजा में तभी तक देवताओं का वास रहता है जब तक वह परमेश्वर के भक्त ब्राह्मणों के अनुसार रहे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार आठ वसुओं का वास होने के कारण राजा श्रेष्ठ है।। २७।।

भगवान् अपनी विभूतियों का विस्तार करते हुए कहते हैं -

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। २८।।

आयुधों में वज्र, धेनुओं में कामधेनु तथा सर्पों में वासुकि हूँ। किं च प्रजोत्पादक काम मैं हूँ।

युद्ध के अन्दर जिसको फेंक कर मारते हैं उसे आयुध कहते हैं। आयुधों के अन्दर इंद्र के हाथ में रहने वाला वज्र भगवान् की विभूति है। वज्र बनाने के लिये दधीचि महर्षि ने अपनी रीढ़ की हड्डी प्रदान की थी और उसके अन्दर सभी देवताओं ने अपनी शक्ति स्थापित की थी। इसलिये सब देवताओं के द्वारा प्राप्त शक्ति वाला और दधीचि के द्वारा दिया गया होने से उसकी श्रेष्ठता है। देवताओं के ऊपर जब दानवों का आधिपत्य होने लगा तब उन्होंने अपने शस्त्रों को छुपाने के लिये दधीचि के आश्रम में रख दिया। दधीचि महर्षि ने सोचा की दानवों को पता लगेगा तो हम लोगों को मारेंगे और ये अस्त्र-शस्त्र भी उनके हाथ लग जायेंगे। अतः उन्होंने उन सब अस्त्रों को घोल कर पी लिया। बाद में देवताओं को ज़रूरत पड़ने पर उन्होंने अपनी हड्डी प्रदान की जिससे वज्र बना। इस तरह देवताओं के सारे अस्त्र वज्र रूप से बने और फिर उनके अन्दर देवताओं ने विशेष शक्तियों का आधान किया, इन सब कारणों से वज्र की श्रेष्ठता है।

धेनु कहते हैं दूध देने वाली गाय को। दूध देने वाली गायों के अन्दर कामधुक्, कामधेनु विभूति है। सामान्य गायों से केवल दूध दुहा जाता है, पर कामधेनु सारी कामनाएँ पूरी करती है, अतः इसका महत्त्व है। वशिष्ठ ने कामधेनु के द्वारा ही विश्वामित्र पर विजय प्राप्त की थी। विश्वामित्र से वशिष्ठ ने स्वभाव से ही कहा 'यहीं ठहर जाइये।' कोई भी आवे तो आदमी ऐसा कहता ही है। विश्वामित्र को बड़ा घमण्ड था। उसने कहा 'अरे! मैं अकेला थोड़े ही हूँ, मेरी बड़ी फौज पलटन है, कहाँ ठहरूँगा?' वशिष्ठ जी से उसका मद सहन नहीं हुआ। उन्होंने कहा 'ले आओ सबको' कामधेनु की सहायता से उन्होंने वहीं सबके रहने की जगह बना दी, खान-पान की भी सारी व्यवस्था कर दी। विश्वामित्र ने देखा कि अरे! इनके पास तो यह सारा वैभव है, उन्होंने

पूछा 'इतना सब वैभव कहाँ से आया?' ऋषि झूठ बोलना तो जानते नहीं थे, उन्होंने कहा 'यह मेरी गाय है, इससे सब मिल जाता है।' विश्वामित्र पीछे पड़ गये कि 'गाय मैं ले जाऊँगा, क्योंकि जो भी रत्नभूत चीज़ होती है, श्रेष्ठ चीज़ होती है, वह राजा की होती है।' वशिष्ठ ब्राह्मण थे इसलिये उनके गौ रत्न के ऊपर राजा विश्वामित्र का अधिकार तो था नहीं, पर राजमद में इस बात का विचार नहीं किया। कामधेनु को जब ज़बरदस्ती ले जाने लगा तब महर्षि वशिष्ठ ने कह दिया 'माँ! मैं तो असमर्थ हूँ, तू ही अपनी रक्षा कर ले।' तब उसने जो फुंफकारा, उससे असंख्य प्राणी निकले जिन्होंने विश्वामित्र की फौज को ठण्डा कर दिया। इस प्रकार से दण्ड देने की शक्ति भी उन्होंने उससे दुह ली, भोग देने की शक्ति भी उन्होंने उससे दुह ली, इसलिये उसको यहाँ विशेष विभूति बतलाया है। लोक में कुछ विशेष गायें होती हैं, जिनसे जब चाहो तब दुह सकते हो। देतीं थोड़ा दूध हैं परन्तु दिन में चाहे दस बार दुह सकते हो। ऐसी गायों को भी कामधेनु कहते हैं। अतः यहाँ यह भी अभिप्राय है कि दुधारू गायों में ऐसी गाय श्रेष्ठ है, गायों में उस की भी उपासना हो सकती है। इसलिये भाष्यकार ने दोनों ही अर्थ बतला दिये हैं।

इसी प्रकार 'कन्दर्पः,' काम भी मेरा रूप है। लेकिन कौन-सा काम? तो कहा 'प्रजनः,' जो पुत्रोत्पत्ति के हेतु काम है। पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से नहीं किया हुआ काम मेरा रूप नहीं है। पुत्रोत्पत्ति को यज्ञविशेष माना गया है, उसमें कौन-कौन से अंग यज्ञ से कैसे सम्बद्ध हैं इत्यादि सब उपनिषदों में बताया है। गर्भाधान एक संस्कार है। समावर्त्तन के समय भी यही आदेश गुरु देते हैं कि हमें मनचाही दक्षिणा देकर के जाओ और जाकर प्रजातन्तु मत तोड़ना, प्रजा होवे, इसके लिये प्रयत्न करना। पुत्र उत्पन्न करना एक विहित कर्म है, धर्म है। पितृऋण पुत्र से चुकाया जाता है यही कंदर्प की श्रेष्ठता में हेतु है। परन्तु इस उद्देश्य को छोड़ करके अन्यत्र जहाँ काम है, वह भगवान् का रूप नहीं है। इसी प्रकार सर्पों के अन्दर मैं उनका राजा वासुकि हूँ। अगले श्लोक में नागों को पृथक् कहेंगे। नाग व सर्प विभिन्न जातियाँ हैं सरीसृपों की ।। २८।।

अन्य विभूतियाँ कहते हैं -

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।। २९।।

नागों में अनन्त हूँ, जलचरों में (या जल देवताओं में) वरुण हूँ, पितरों में अर्यमा हूँ, और संयमन करने वालों में यम हूँ।

सर्पों का विशेष भेद है नाग, जिनके गले पर त्रिशूल का चिह्न होता है। नागों में मैं अनन्त नाग हूँ, जो सारे संसार के बोझ को लिए रहता है। अनन्त पर ही भगवान् विष्णु शयन भी करते हैं। अनन्त को भगवान् विष्णु का ही रूप मानते हैं। जो चतुर्व्यूह

की दृष्टि से उपासक हैं, उनके यहाँ भगवान् वासुदेव चार व्यूहों में प्रकट होते हैं - वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध; इनमें संकर्षण अनन्त नाग हैं। अतः इनका विभूति होना उचित है। 'यादसाम्' अर्थात् जितने भी जल-सम्बंधी जन्तु हैं अथवा जल-सम्बंधी देवता हैं, उनमें वरुण विभूति हैं। जहाँ भी बड़ा तालाब इत्यादि जल का समूह होता है वहाँ उस सबका एक अधिष्ठाता देवता भी होता है। जिस प्रकार से गाँव बनता है तो गाँव का एक देवता भी हो जाता है, ग्राम देवता। जब तुम घर बनाते हो तब घर का भी एक देवता हो जाता है, जिसे गृहदेवता भी कहते हैं, स्थान-देवता भी कहते हैं। नियमित रूप से जहाँ संघात होगा वहाँ उसका अधिष्ठाता अवश्य होगा, ऐसी हम लोगों की मान्यता है। इसी प्रकार से जलों का जहाँ समूह होता है, वहाँ उन सबके देवता होते हैं। इसीलिये किसी भी अज्ञात जल में जहाँ प्रवेश करना होता है, वहाँ पहले उस देवता को नमस्कार करके फिर उस जल में प्रवेश करते हैं। उन देवताओं के राजा वरुण हैं, वे भगवान् की विभूति हैं। 'पितृणाम् अर्यमा अस्मि,' पितरों के लोक का राजा अर्यमा है। हम लोग भी रोज़ शान्तिपाठ में कहते हैं, 'शन्नो भवतु अर्यमा'। अर्यमा देवता पितरों का राजा है, वह भी परमेश्वर की विभूति है। और 'संयमताम्', जो लोग दूसरों को नियन्त्रण में रखने वाले हैं, ऐसे नियन्त्रण में रखने वालों में यम नामक सबका अधिपति मैं हूँ। नियमन करने वालें में यम की प्रसिद्धि है, वह सभी प्राणियों को ठीक समय पर मृत्यु इत्यादि के द्वारा फल दे देता है, कोई भी उस के शासन से बचता नहीं है।। २९।।

विभूतिभेद का ही विस्तार कहते हैं -

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। ३०।।

दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गिनने वालों में समय हूँ, जानवरों में शेर हूँ, और पक्षियों में गरुड हूँ।

दैत्य कुल के अन्दर राक्षसी प्रवृत्ति के लोग ही अधिक होते हैं। किन्तु दैत्य कुल के अन्दर प्रसिद्ध प्रह्लाद सात्त्विक गुणों वाला हुआ है। परमेश्वर का परम भक्त था। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी उसने परमेश्वर की शरणागति को नहीं छोड़ा। भक्तों में श्रेष्ठ है, इसलिये इसका विभूतिरूप युक्त है। 'कलयताम्' गिनती करने वालों में काल ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि अनादि काल से आज तक वह एक ही ऐसी गिनती है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। हर चीज़ काल के अनुसार परिगणित होती ही चली जाती है। प्राचीन काल से लोग हर कार्य में काल का ध्यान रखते रहे हैं। किसी भी कार्य को सही गणनापूर्वक निश्चित किये काल में ही करते हैं, जितने भी विवाह आदि कर्म हैं, सबके लिये निश्चित काल है, उसमें ही करना पड़ता है। आज कल काल की जो

मूर्ति है घड़ी, उसे हाथ में तो लोग बाँध लेते हैं, परन्तु काल के अनुसार कार्य नहीं करते। प्राचीन काल में हम लोगों में काल की पाबन्दी बहुत ज़्यादा थी, हर कार्य का मुहूर्त होता था, उस समय ही वह कार्य करते थे। वर्त्तमान काल में हम लोगों का उस तरफ बिलकुल ध्यान नहीं रहता है। मृग अर्थात् वन्य पशु, जंगल के जानवर, उनका राजा सिंह या व्याघ्र कहा जाता है। मृगेन्द्र सिंह को भी कहते हैं, व्याघ्र को भी कहते हैं। है तो वह भी वन्य पशु लेकिन उनका राजा है इसलिये श्रेष्ठ है। भगवान् विष्णु ने भी नृसिंह रूप को ही ग्रहण किया था। पक्षी अर्थात् उड़ने वाले; उड़ने वालों में जो सबसे अधिक तेज़ है, वह गरुड है। पक्षियों का राजा होने से, भगवान् विष्णु का वाहन होने से और सबसे ज़्यादा तेज़ उड़ने वाला होने से भी वह भगवान् की विभूति है, यह स्पष्ट ही है। पांचरात्र तन्त्रों के अनुसार गरुड की पूजा के बाद ही भगवान् विष्णु की पूजा होती है। अतः वह श्रेष्ठ है।। ३०।।

अन्य विभूतियाँ गिनाते हैं-

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१।।

पवित्र करने वालों में पवन हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, मछलियों में मकर हूँ, एवं वेगवाली नदियों में गंगा हूँ।

'पवताम्', किसी भी चीज़ को शुद्ध करने वालों में पवन अर्थात् वायु मैं हूँ। जैसे ऊन के कपड़े को हवा लगा दो तो बिना धोये ही शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार से नदी के अन्दर पता नहीं कितनी गन्दगी डाल देते हैं लोग, परन्तु दस बारह मील आगे जाते-जाते जल बिलकुल शुद्ध हो जाता है। उसे शुद्ध करने वाली सूर्य की रश्मियाँ और वायु, दो ही चीज़ें हैं। इसलिये शुद्ध करने वाली चीज़ों के अन्दर वायु को विभूति कहा गया है। उपनिषदों में तो वायु को ब्रह्म का प्रतीक कहकर नमस्कार किया गया है। वायु की ब्रह्मरूपता का उपनिषदों के अन्दर भी प्रतिपादन होने से उसकी श्रेष्ठता स्पष्ट ही है। 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि', ऐसा उपनिषदों में कहा गया है। 'शस्त्रभृताम्', शस्त्र धारण करने वालों में दशरथ के पुत्र राम मेरी विभूति हैं। राम नाम से तीन बड़े प्रसिद्ध भगवान् के रूप हुये- परशु धारण करने वाले राम, धनुष धारण करने वाले राम और हल धारण करने वाले बलराम। ये तीनों ही भगवान् के अवतार कहे गये हैं। इसलिये जहाँ अवतारों का वर्णन करते हैं, वहाँ 'रामो रामश्च रामश्च' तीन राम कह देते हैं परशुराम, दाशरथी राम और बलराम। यहाँ कहा है 'शस्त्रभृताम्'। धनुर्वेद के अनुसार हाथ में पकड़ कर जिसे चलाया जाता है उसे शस्त्र कहते हैं और जिसे हाथ से छोड़कर, फैंककर चलाया जाता है, उसे अस्त्र कहते हैं, अस्त्र और शस्त्र में यह भेद है। अतः कुछ लोगों का कहना है कि हाथ में रख कर चलने वाला तो परशुराम का

फरसा ही है, इसलिये यहाँ परशुराम विभूति कहे हैं। किन्तु भाष्यकार ने 'दाशरथी रामोऽहम्' व्याख्या की है। शस्त्र को धारण करने वाले दाशरथी राम हैं ही, क्योंकि हमेशा उनके हाथ में धनुष रहता ही है।

'झषाणां' जो जल के अन्दर रहने वाली मछलियाँ इत्यादि हैं, उन सब में मगर ही प्रधान है। सबसे अधिक बलवाला है, इसलिये वह मेरी विभूति है। उसमें भी एक विशेष मगर था जिसने गजराज को पकड़ा था और उसको बचाने के लिये भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से उस मगर को मारा था। भगवान् के शस्त्र से निहत होने के कारण उसकी विशेषता है ही। दूसरा एक मकर है, जिसके ऊपर भगवती गंगा बैठती हैं। सामान्य रूप से मकर समझें अथवा गजेन्द्र को पकड़ने वाला मकर समझें अथवा गंगा के वाहन मकर को समझें, हर हालत में मकर भगवान् की विशेष विभूति है। 'स्रोतसाम्' जो पर्वत गुहा इत्यादि स्रोत से निकलती हैं, उन्हें 'स्रोतसाम्' में गिना। पहाड़ों में जाओगे तो जगह-जगह स्रोत से नदियाँ निकलती हैं। ऐसी जो स्रोत से निकलने वाली नदियाँ है, उनके अन्दर मैं जाह्नवी हूँ। भगवती गंगा को जाह्नवी इसलिये कहते हैं कि किसी कारणवश जह्नु महर्षि ने उसका पान कर लिया था, पी लिया था। फिर स्तुति करने पर उन्होंने विचार किया कि पवित्र गंगा को अपने मुख से निकालूँ तो ठीक नहीं, उच्छिष्ट हो जाएँगी, निम्न छिद्रों से निकालना तो और खराब है, अतः उन्होंने अपने दोनों कानों से ही गंगा जी को बाहर प्रकट कर दिया। इस प्रकार से जह्नु महर्षि के द्वारा प्रकट होने के कारण जाह्नवी कही जाती है। गंगा बिना किसी भेदभाव के मानवमात्र के लिये एक जैसी उपकारक है। इसलिये किसी भक्त ने कहा भी है कि कोई कहते हैं कि परमात्मा निराकार है, उसके आकार हैं ही नहीं। कोई कहते हैं परमात्मा साकार है, आकार होवे ही नहीं तो उसका कैसे ध्यान, चिन्तन किया जा सकता है! इन दोनों झगड़ों से हट कर मैं तो नीराकार का उपासक हूँ। उसको आकार कह भी नहीं सकते और आकार है भी। शास्त्र तो यहाँ तक कहता है कि 'गङ्गे गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि' हज़ारों मील दूर से यदि 'गंगा गंगा' ऐसे गंगा का उच्चारण भी करते हो तो भी पापों को धो डालते हो। साक्षात् गंगा के अंदर स्नान का तो क्या महत्त्व कहा जाए! उस गंगा की धारा को ही बंद किया जा रहा है यह भारत का दुर्भाग्य है।। ३१।।

अर्जुन को सम्बोधित कर और भी विभूतियाँ सुनाते हैं -

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। ३२।।

अर्जुन! सृष्टियों का प्रारम्भ, बीच और समाप्ति मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ एवं प्रकृष्ट बातें कहने वालों के बात कहने के तरीकों में मैं वाद हूँ।

सर्ग अर्थात् सृष्टि। सृष्टियों का आदि-मध्य-अन्त मैं हूँ। भगवान् श्लोक २० में कह

आए हैं 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च,' उससे इसकी पुनरुक्ति लग सकती है, परन्तु वहाँ भूतों से चेतनों की सृष्टि आदि, जीवों की सृष्टि आदि कही थी और यहाँ सारी ही सृष्टि के प्रारम्भ आदि को कह रहे हैं। इस प्रकार से वहाँ भूत शब्द का प्रयोग और यहाँ सर्ग शब्द का प्रयोग होने से पुनरुक्ति नहीं है। 'सर्गाणाम्' में भगवान् ने बहुवचन कहा है। इसके द्वारा बतलाया कि सृष्टि एक नहीं है। सृष्टि और प्रलय का प्रवाह नित्य चलता रहता है। सृष्टि होती है, फिर प्रलय होता है, फिर सृष्टि होती है, फिर प्रलय होता है। ऐसा कुछ नहीं है कि कोई सर्वप्रथम सृष्टि हो। भगवान् कह रहे हैं कि हर सृष्टि का आदि तो मैं ही हूँ। सृष्टियों के भेद से सृष्टि-निर्माता का भेद प्राप्त होता है। इस सृष्टि को एक ने बनाया तो दूसरी सृष्टि को किसी और ने बनाया होगा - यह सम्भावना होती हैं। और पुराणों में अलग-अलग सृष्टियों को अलग-अलग ब्रह्मा ने बनाया है, इस प्रकार भी कहा गया है। भगवान् कहते हैं कि चाहे जिस ब्रह्मा से, चाहे जिस निमित्त से उत्पन्न होवे, वास्तविक कारण तो मैं ही हूँ।

जैसा यह सृष्टियों के प्रति समझना है वैसा ही हर चीज़ की उत्पत्ति के लिये समझना है। किसी चीज़ को बनाते हो तो उसको सर्ग कह देते हैं। धीरे-धीरे अभ्यास करना है यह समझने का कि कोई भी चीज़ होती है तो उस का कारण परमेश्वर ही है। बहुवचन से भगवान् ने यह संकेत दे दिया। जैसे आदि मैं हूँ, वैसे ही कोई भी चीज़ वापिस मुझ में ही लय होती है। इस विचार को जाग्रत् रखने के लिये हमेशा सीधा हिसाब रखो कि कोई कारण है तब कुछ भी कार्य उत्पन्न होगा और कार्य पुनः किसी न किसी है के अन्दर ही लीन होता है। धागा है तो कपड़ा बना; कारण धागा नहीं, धागा का हैपना है क्योंकि यदि धागे का हैपना न होवे तो कपड़ा नहीं बनेगा, 'धागा नहीं है' से तो कभी कपड़ा बनेगा नहीं! और बने हुये कपड़े को जला दिया तो राख है / कपड़ा कहाँ गया? राख है, जो है उसी में गया। सब कुछ सत् से ही उत्पन्न होता है और सत् के अन्दर ही जाता है। 'मध्यं चैवाहम् अर्जुन' जब तक कपड़ा रहता है तब तक भी कपड़ा है। कपड़ा पैदा होने से पहले भी कुछ है, कपड़े के काल में कपड़ा है, और कपड़े के नष्ट होने पर राख है। अतः है आदि में भी है अन्त में भी है और मध्य में भी है। इस प्रकार यह विभूति सदा प्रत्यक्ष है।

'अध्यात्मविद्या विद्यानां'। विद्या शब्द का अर्थ ऐसे स्थलों में होता है जो मोक्ष देने वाली है। शास्त्र कहते हैं 'सा विद्या या विमुक्तये', जो मोक्ष देती है उसको विद्या मानते हैं और बंधन की तरफ ले जाती है उसको अविद्या मानते हैं। मोक्ष देने वाली विद्याओं में अध्यात्म विद्या, जो आत्मा को अधिकृत करके विचार होता है, वह साक्षात् आत्म-ज्ञान को देकर के मोक्ष देती है, अतः श्रेष्ठ है। अध्यात्म शास्त्र होने से ही ब्रह्मसूत्र का प्राचीन काल से नाम है शारीरकमीमांसा। शारीरक अर्थात् शरीर में होने वाला जो स्वरूप है, उसका विचार। शरीर के अन्दर ही चेतन का अनुभव होता है, और कहीं

कभी चेतन का अनुभव नहीं होता है। कल्पना ज़रूर करते हैं कि सामने वाला चेतन है, परन्तु है या नहीं - इसका निर्णय नाडी, आँखें, हृदय आदि की गति पर ही निर्भर है। प्रत्यक्ष रूप से पता नहीं चलता है कि वह चेतन है। पर 'मैं चेतन हूँ' यह हमेशा अपरोक्ष होता है। एक ही स्थल ऐसा है जहाँ चेतन का प्राकट्य है, वह शरीर है। इसलिये शरीर में जो चेतन का विचार है वह साक्षात् आत्मज्ञान को देने वाला है। शरीररूप उपाधि के अन्दर चेतनता स्फुट है, केवल इसका विचार करना है कि यह चेतनता है क्या। अन्यत्र जब कभी परमात्मा का विचार करोगे तो हमेशा परोक्ष रूप से ही विचार रहेगा। वहाँ चेतनता का कभी भी अपरोक्ष हो नहीं सकता। इसीलिये ब्रह्मसूत्र को शारीरक मीमांसा कहा। अतः उसकी श्रेष्ठता बताई है।

'प्रवदतां वादः' आपस में जब लोग बातचीत करते हैं तब उसको प्रवाद कहते हैं। आपस में बातचीत तीन तरह से होती हैं : एक तरह की बातचीत जो आजकल के पढ़े-लिखों में बहुत है, उसको वितण्डा कहते हैं। वितण्डा जो करता है उससे पूछो 'भाई! तू बता, जवाब क्या है?' तो कहेगा 'मैं तो वितण्डा में प्रवृत्त हूँ, जवाब देना मेरा काम नहीं है। तुम जो कहो उसमें दोष दिखाना - बस यही मेरा काम है।' आजकल के पढ़े लिखों में वितण्डावाद बहुत प्रचलित है। जब कभी शास्त्रीय बातें आएँगी तब तो वे सब प्रकार के लाञ्छन लगाते चले जाएँगे। आगे उनसे पूछो कि 'तुम्हारा क्या समाधान है?' तब कहेंगे 'हमें पता नहीं है!' ऐसे वितण्डावादियों को जवाब देने के लिये आचार्यों ने तरीके बताये हैं। आचार्य श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य सबसे प्रमुख वितण्डा ग्रन्थ है। उसमें वेदान्ती की तरफ से, जितनी दूसरों की बातें हैं उनका खण्डन करते हैं। अन्त में प्रश्न उठाया कि 'आप क्या मानते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया है कि यदि तुम शास्त्रर्थ में पूछना चाहते हो तो हम वितण्डावादी हैं। इसलिये कुछ नहीं मानते! यदि सच्ची बात जानना चाहते हो तो जो उपनिषदों में लिखा है वही हम मानते हैं। उपनिषद् में लिखा है, इसलिये हम मानते हैं। तुम युक्ति से उसका खण्डन कर दो इससे हमें कोई फ़र्क पड़ेगा नहीं क्योंकि तुम्हारी युक्तियों का हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। इस प्रकार का वितण्डावाद भी बातचीत करने का एक ढंग है। परन्तु उसके अन्दर किसी अर्थ का निर्णय नहीं होता। दूसरे का खण्डन वगैरह तो हो जाएगा - परन्तु आखिर इससे नतीजा क्या निकला यह पता नहीं क्योंकि निकला ही नहीं! अर्थ-निर्णय का हेतु वह प्रकार नहीं है। दूसरा बात चीत का ढंग होता है - तुमने किसी सिद्धान्त को माना है, हम किसी और सिद्धान्त को मानते हैं। हम अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने की युक्तियाँ भी देंगे और तुम्हारे सिद्धान्त में दोष देने की युक्तियाँ भी कहेंगे। इसी प्रकार तुम भी अपने सिद्धान्त के अनुसार अपनी बात को पुष्ट करोगे, हम जो कहेंगे उसका जवाब दोगे। यह ढंग उठा-पटक तो कर देगा, पर दोनों ही अपने-अपने पक्ष में पहले से निश्चित हैं, इसलिये इसमें भी अर्थ-निर्णय के लिये प्रवृत्त नहीं हुआ जाता है।

अर्थ-निर्णय के लिये ढंग वाद है। गुरु-शिष्य, साथ-साथ पढ़ने वाले साथी, ये आपस में जिस ढंग से बात करते हैं, उसको वाद कहते हैं। अगर तुमने ठीक ढंग से बात कही तो हम मान लेंगे और हमने कोई बात ठीक कही तो तुम मान लोगे। यह प्रक्रिया चले तब अर्थ का निर्णय होता है। इन तीन प्रकारों का जो प्रवदन है उसमें वाद अर्थनिर्णय का हेतु होने से ही मेरी विभूति है क्योंकि इसके द्वारा ही तत्त्व-निर्णय होता है। हम लोग शान्तिपाठ में कहते हैं 'सह वीर्यं' गुरु और शिष्य दोनों मिलकर के परिश्रम करें। केवल गुरु बोलता रहे और शिष्य उसको सुनता रहे, तब भी ज्ञान नहीं होगा। शिष्य के मन के जितने प्रश्न हैं, वे जब तक हल नहीं हो जाते तब तक उसे ज्ञान नहीं होगा, इसलिये वेदादि में एक ही बात बार-बार, तरह-तरह से समझायी जाती है। 'हम पहले कह आये हैं फिर क्यों कहें?' या, आगे कहना ही है तो अभी भी क्यों समझायें?' इस प्रकार का मंत्रें तथा आचार्यों में कोई आलस्य नहीं होता है। वाद के अन्दर अर्थ-निर्णय प्रधान है। इसमें गुरु और शिष्य दोनों को प्रयत्न करना पड़ता है। यही वाद की श्रेष्ठता है।। ३२।।

और भी कहते हैं -

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। ३३ ।।

अक्षरों में अकार हूँ, समाससमूह में द्वन्द्व हूँ, मैं ही क्षीण न होने वाला काल हूँ और मैं विश्वरूप विधाता हूँ।

अक्षरों के अन्दर सबसे प्रथम आता है 'अ' अतः अकार ही श्रेष्ठ है। उपनिषदों के अन्दर अकार की श्रेष्ठता बतलाते हुये कहा है कि जैसे किसी भी पेड़ के पत्ते की तुम भली प्रकार से परीक्षा करो तो उसमें चारों तरफ नाडियाँ फैली हुई होती हैं, उसके द्वारा ही सर्वत्र भोजन पहुँचता है, वैसे ही सारे शब्दों में अकार फैला रहता है। किसी भी शब्द को हम लोग 'अ' के साथ बोलना-लिखना सिखलाते हैं। क, ख, ग, घ, सब अकार के साथ सिखलाते हैं। यूरोप की भाषा में ऐसी बात नहीं है। कहीं कोई स्वर लगा देते हैं, कहीं कोई लगा देते हैं। बी, सी, डी, इन सबमें ईकार लगा दिया और फिर आगे 'फी' नहीं 'एफ' कर दिया! अपने यहाँ एकरूपता से अकार के साथ ही उच्चारण है। सबसे प्रथम आता है और सब अक्षरों मे मौजूद रहता है अतः विशिष्ट है। अकार को परमात्मा का रूप समझ लो तो जब किसी भी अक्षर का प्रयोग करोगे तब उसके अकार को परमात्मा देख लो कि यह परमात्मा का रूप है। जितनी देर तुम बातें भी करोगे उतनी देर तुम्हारा चिन्तन परमात्मा के विषय में चलता ही रहेगा।

'सामासिकस्य द्वन्द्वः', सामासिक अर्थात् समासों का समूह; कई प्रकार के समास होते हैं। समास अर्थात् कई शब्द मिलकर एक शब्द बन जाते हैं। कुछ निश्चित नियम

हैं संस्कृत में जिनके अनुसार समास होते हैं। शब्द मिलाने तो सब भाषाओं में पड़ते हैं। किसी समास में पूर्वपद प्रधान होता है, कहीं अन्तिम शब्द प्रधान हो जाता है, कहीं समास में सुने जाते शब्दों के अर्थ से अन्य ही अर्थ समास से सूचित हो जाता है। अलग-अलग समासों के अलग-अलग नियम हैं। द्वन्द्व समास ऐसा है जहाँ दोनों शब्द एक जैसे प्रधान रहते हैं। न अपने से भिन्न किसी तीसरे की प्रधानता लाते हैं, न आपस में कोई गुण प्रधानभाव है। यही इसकी विशेषता है। इससे यह भी सूचित होता है कि जहाँ दो या अधिक लोग इकट्ठे होते हैं, वहाँ पर यदि उन सबकी एक जैसी प्रधानता है तब भगवद्-विभूति है और एक-दूसरे को कम प्रभावी बनाने का प्रयत्न है, एक-दूसरे को छोटा करने का प्रयत्न है तो वह संगठन विभूति नहीं है।

'अक्षयः कालः अहमेव' दो प्रकार के काल हमारे शास्त्रों में बताए हैं। एक क्षणिक काल और दूसरा नित्य काल। नित्य काल तो परमात्मा का स्वरूप है। भगवान् कहेंगे 'कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'।।११.३२।। अर्जुन पूछेगा आप कौन हैं? तो भगवान् कहेंगे 'मैं काल हूँ।' एक तो नित्य काल है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसको समझना हो तो वर्त्तमान काल में सिनेमा की रील को समझ लो : तुमने किसी शादी का चलचित्र बना लिया। शादी के अन्दर तो मिलनी का काल पहले था, फेरों का काल बाद में था, विदाई का काल और बाद में था। ऐसा क्रम होता है। पर रील में तो तीनों घटनाएँ इकट्ठी ही मौजूद हैं! तुम चाहो तो पहले विदाई वाली घटना देख लोग, फिर फेरों वाली देख लो। उसमें सब एक काल में है। इसी प्रकार परमात्मा का जो काल रूप है उसमें आगे-पीछे का भेद नहीं है, सब चीज़ें हमेशा हैं। दूसरा होता है क्षणिक काल जिसमें हम सारा व्यवहार कर रहे हैं। जो अक्षय काल कभी भी क्षीण नहीं होता, हमेशा एक जैसा रहता है, वह परमात्मा की विभूति है। हम लोगों के लिये क्रम है, परमेश्वर के लिये कोई क्रम नहीं है, क्योंकि वह अक्षय काल है। श्लोक ३० में कहा काल क्षय वाला था, वह भी विभूति ही है।

धाता, कर्म- फल देने वाला। लोक में प्रसिद्ध है कि बच्चा पैदा हो जाता है तो छठे दिन विधाता आकर भाल पर लिख जाते हैं कि क्या-क्या फल भोगने हैं। जो लिखने वाले हैं कर्म फल को, उन्हें विधाता कहते हैं। सारे जगत् के कर्मफल को देने वाला जो परमेश्वर का रूप है, वह विश्वतोमुख है अर्थात् सर्वत्र उसका मुख मौजूद है। चारों तरफ हर चीज़ के अन्दर उसका मुख विद्यमान है। इसलिये इसकी उपासना करने वाला जहाँ कहीं कर्मफल आता है वहीं परमेश्वर का मुख देखता है। मुख का मतलब खाली चेहरा ही नहीं समझ लेना ! जिससे हम किसी आदमी को पहचानते हैं उसको मुख कह देते हैं। मुँह देख करके आदमी निश्चित पहचान लिया जाता है। खाली हाथ-पैर इत्यादि देखों तो निश्चय नहीं होता। उसी प्रकार जहाँ भी कर्मफल का भोग हो रहा है, सुख-दुःख का भोग हो रहा है, वह भोग ही मुख है जिससे पता लग जाता है कि

परमात्मा भोग दे रहा है। इस प्रकार विधातारूप से भगवान् की उपासना संभव हो जाती है।। ३३।।

अन्य विभूतियों का उल्लेख करते हैं -

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। ३४।।

सब कुछ हर लेने वाला मृत्यु मै हूँ, भावी कल्याणों में उत्कर्ष हूँ, नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

ज्योतिष शास्त्र में धन की हानि, पुत्र की हानि, पत्नी की हानि, इस प्रकार के सभी बड़े कष्टों को मृत्यु कहा जाता है। ये सभी नुकसान मनुष्य के सत्त्व का हरण करते हैं, अर्थात् व्यक्ति की जो वास्तविकता है उसको क्षीण करते हैं। पुत्र, पत्नी, धन इत्यादि ये सभी चीज़ें मनुष्य की सत्ता को प्रकट करती हैं, कि वह कितना बड़ा है, कैसा है। परन्तु ये मृत्युएँ एक दो चीजो़ं का हरण करती हैं जबकि मुख्य मृत्यु सर्वहर है। सबको एक-साथ हर लेती है। मरने के साथ ही पत्नी का सम्बन्ध, पुत्र का सम्बंध, धन का सम्बंध, व्यापार का सम्बंध, सब सम्बंध एक झटके में ही खत्म हो जाते हैं। अतः हरण करने वालों में सर्वस्व हरण करने वाली मृत्यु भगवान् की विभूति है। अथवा, प्रलय काल में सभी चीज़ें एक-साथ ही समाप्त हो जाती हैं। प्रलय के अन्दर मृत्युरूप से परमेश्वर सारी सृष्टियों को हरण करके अपने अंदर ले लेता है। इसीलिये वेदों मे अनेक जगह कहा है कि प्रलय काल में सब कुछ 'मृत्यु' से ढका हुआ था, अर्थात् परमेश्वर का जो मृत्युरूप है, उसी में सब कुछ लीन था। दोनों - अर्थात् व्यष्टि मृत्यु और समष्टि मृत्यु - भगवान् की विभूति ही हैं। दोनों में से कोई भी मृत्यु लो, वह सृष्टि के क्रम का अन्त नहीं हैं! प्रलय के बाद सृष्टि अवश्यम्भावी है और मृत्यु के बाद जन्म अवश्यम्भावी है। इसलिये पहले ही भगवान् कह आये हैं 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च' जो मरा है, उसका जन्म निश्चित है और जो जन्मा है उसका मरण निश्चित है। यही बात समष्टि मृत्यु अर्थात् प्रलय के बारे में है; प्रलय के बाद सृष्टि अवश्यम्भावी है और सृष्टि होने पर प्रलय भी अवश्यम्भावी है। इसलिये सर्वहर कह कर आगे कहते हैं 'भविष्यताम् उद्भवः' भविष्य में जो होने वाली चीज़ें है उनकी उत्पत्ति का केन्द्र भी मैं ही हूँ अर्थात् पुनः सृष्टि भी मुझ परमेश्वर के द्वारा ही होगी। यदि व्यष्टि मृत्यु समझते हो तो जिस मृत्यु ने तुमको पूर्व प्रारब्ध की समाप्ति के कारण वहाँ से हटाया, वह पुनः तुम्हारे बचे हुऐ कर्मों के फल देने के लिये तुम्हारी उत्पत्ति का कारण भी होता है। उद्भव का एक अर्थ 'ऊपर की ओर जाना' भी है अर्थात् अभ्युदय। संसार के अंदर अनेक चीज़ों की उपलब्धि के द्वारा तुम्हारा उत्कर्ष होता है। जो मृत्यु तुम्हारे सारे उत्कर्ष के सत्त्वों का हरण कर लेती है, वही तुम्हारी अभ्युदय-प्राप्ति का कारण भी बन जाती है। जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर वर्त्तमान में जो चीज़ें तुम्हारे साथ

सम्बंधित है, तुम्हारे उत्कर्ष का कारण हैं उनसे तुम्हें मृत्यु ने दूर किया वैसे ही अगले प्रारब्ध के फलभोग के लिये वह सारे उत्कर्ष के साधन तुम्हारे अन्दर ले आयेगी, तुमको उत्कर्ष-प्राप्ति के योग्य बना देगी। सामान्य दृष्टि से यदि देखो तो मनुष्य की मृत्यु प्रायः इसलिये होती है कि शरीर अब काम का रह नहीं गया। वृद्धावस्था में तो सीधा है, पैर चलने लायक नहीं रह गये, आँखें देखने लायक नहीं रह गईं, कान सुनने के लायक नहीं रह गऐ, पेट हजम करने के लायक नहीं रह गया, चाहे जितना इलाज करा लो, वापिस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। इनकी पूर्णता-प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है कि तुम्हें इस शरीर से छुड़ा कर नये शरीर की प्राप्ति करायी जाए जहाँ ये सब तरोताजा मिल जाएँ। इस प्रकार यहाँ की दृष्टि से देखो तो मृत्यु ने सर्व हरण कर लिया, और आगे की दृष्टि से देखो तो मृत्यु ने तुमको सभी चीज़ें ताजी और नवीन उत्कर्ष के योग्य दे दीं। भूटान कम-से-कम एक देश ऐसा है जहाँ मरने पर शोक नहीं मानते, बड़ा उत्सव मनाते हैं, बड़ी प्रसन्नता होती है कि मृत को नया शरीर मिल गया। प्रायः तो 'यहाँ मरा' - इसी को देखते हैं परन्तु वहाँ पर आगे के उत्कर्ष को ध्यान में रख कर प्रसन्न होते हैं। इसलिये भगवान् ने कहा कि भावी कल्याण में उत्कर्ष-प्राप्ति की योग्यता भी मैं ही हूँ।

स्त्रियों में मेरी विभूति कीर्ति आदि हैं। इसका एक तात्पर्य है कि स्त्री-जाति में ये स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इनमें वाक् को छोड़कर सब दक्ष की कन्यायें हैं। कीर्ति, श्री, मेधा और धृति, से सभी दक्ष-कन्याएँ धर्म को ब्याही गई थीं। इसलिये धर्म की पत्नियाँ थीं। धर्म की पत्नी होने से और सब प्रकार से योग्य होने से ये विभूति होवें यह ठीक ही है। स्मृति भी दक्ष की कन्या थी, उन अंगिरा को ब्याही गई थी जो अथर्ववेद के द्रष्टा हैं। इतने बड़े ऋषि को ब्याही गई थी, इसी से उसकी श्रेष्ठता प्रकट है। इसी प्रकार पुलह ऋषि को क्षमा ब्याही गई। वाक् ब्रह्मा की पुत्री है। इसकी श्रेष्ठता भी विदित ही है क्योंकि सारी विद्याओं की यही अधिपति है। इस तरह यदि महाभारत आदि की दृष्टि से देखें तो दक्षकन्याओं के रूप में और ब्रह्मा की मानस पुत्री के रूप में, धर्म आदि की पत्नी के रूप में, श्रेष्ठ नारियों को भगवान् ने विभूति गिना दिया। स्त्रियों में ये उत्तम हैं, यह एक तात्पर्य है। अथवा अभिप्राय है कि स्त्रियों के अन्दर ये गुण होने पर स्त्रियाँ उत्तम होती हैं अर्थात् स्त्रियों में इन गुणों के रूप में ही विद्यमान हूँ। पहली चीज़ है कीर्ति। कीर्ति का मतलब है धर्म के कारण देश-विदेश के अन्दर लोगों में प्रख्यात होना। धर्म-निमित्तक को ही कीर्ति कहते हैं। प्रख्यात तो व्यक्ति धर्म के कारण भी होता है, अधर्म के कारण भी होता है। जितनी राम की प्रसिद्धि है, उतनी ही रावण की भी प्रसिद्धि है। पर प्रसिद्धि-मात्र को कीर्ति यहाँ नहीं कहा गया। पूर्वव्याख्या में कीर्ति को धर्म की पत्नी बताकर भी यह तथ्य व्यक्त किया है। जो प्रख्याति स्त्री में देखने में आवे, वह परमेश्वर की विभूति है। प्रायः जिसकी कीर्ति है उसी को हम

विशिष्ट समझते हैं। यहाँ परमेश्वर कह रहे हैं कि उस कीर्ति को *उसकी* मत समझो जिसकी प्रतीत हो रही है, वरन् जानो की परमेश्वर की कीर्ति के साथ ही इसका सम्बंध हो रहा है। अर्थात् कीर्तिरूप से परमेश्वर इसमें मौजूद है। ऐसे समझ लो : कोई कहता है 'जल गया।' 'काहे से जल गया?' कहता है 'पानी से जल गया'। साधारण अविचारशील यही मानते हैं कि खौलता पानी हाथ पर गिर गया तो पानी से जल गया। परन्तु विवेकी इस बात को जानता है कि पानी कभी जला ही नहीं सकता! जलाने वाली तो आग है। जल ने जलाया - ऐसी प्रतीति होने पर भी जैसे विवेकी जानता है कि अग्नि ने पानी में बैठ कर इसको जलाया, इसी प्रकार अविवेकी को लगता है - सती अनसूया बड़ी प्रसिद्ध है, क्योंकि उसने ब्रह्मा-विष्णु को भी छोटे-छोटे बच्चे बना दिया था। ऐसी उसकी सामर्थ्य थी। साधारण व्यक्ति समझता है कि अनसूया की कीर्ति है। परमेश्वर कहते हैं कि उपासक इस बात को देखता है कि परमेश्वर के सम्बंध से ही उसमें कीर्ति प्रतीत हो रही है। वस्तुतः तो परमेश्वर की कीर्ति है, वही उसमें दीखती है इसलिये भ्रम होता है कि इसकी कीर्ति है। जैसे कीर्ति है वैसे ही श्री अर्थात् ऐश्वर्य। बहुत-सी स्त्रियाँ अपने पति से कहती रहती हैं कि अमुक-अमुक काम करने हैं, और वह हमेशा टालता रहता है। कई स्त्रियाँ जैसे ही कोई काम बताती हैं वैसे ही पति हो या कोई और हो तुरन्त वह काम कर लेता है। लोग कहते भी हैं कि 'इस स्त्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली है, सबको इसकी बात माननी पड़ती है'। सामान्य दृष्टि वाला समझता है कि यह स्त्री का ऐश्वर्य है, ईश्वरभाव है, परन्तु उपासक को दृष्टि करनी है कि उसमें परमेश्वर का श्रीरूप से विद्यमान रहना ही उसमें ऐश्वर्य को दिखला रहा है। अतः उसकी महत्ता नहीं है, परमेश्वर की महत्ता है।

वाक् के वाणी और विद्या दोनों ही अर्थ हैं। वाक् से संस्कृत भाषा भी अर्थ समझा जाता है। संस्कृत के शब्दों में अपनी शक्ति होती है। प्राकृत-शब्दों के अंदर आरोपित शक्ति होती है, स्वतः शक्ति नहीं होती। इसलिये जपादि के लिये संस्कृत का प्रयोग जिस प्रकार से कारगर होता है, प्राकृत-शब्दों का जप नहीं। 'नमः शिवाय' मायने शिवजी को नमस्कार है। पर 'शिवजी को नमस्कार है' बोलते रहने से वे स्पन्द नहीं हो सकते जो 'नमः शिवाय' बोलने से होंगे। प्रायः स्त्रियाँ प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करती हैं। प्राचीन नाटकों में स्त्रियों को प्राकृत भाषा बोलता ही दिखाते हैं। जिस स्त्री के अंदर संस्कृत भाषा का प्रयोग देखा जाये वह उस स्त्री की विशेषता नहीं, परमेश्वर की वाक् शक्ति ही उसमें विद्यमान है। वाक् का अर्थ विद्या भी है ही। संस्कृत भाषा जानेगा, तो संस्कृत भाषा के अन्दर जितनी आध्यात्मिक विद्याएँ हैं, उनके लिये उसका रास्ता खुलेगा। यह नहीं कह रहे हैं कि प्राकृत भाषा से तुम्हें समझ में नहीं आएगा! ठीक जिस प्रकार से इन्जीनियरिंग तुम हिन्दी में भी पढ़ सकते हो, परन्तु अंग्रेज़ी भाषा में जिन हज़ारों ग्रन्थों को तुम पढ़ सकते हो इंजीनियरिंग के, वे हिन्दी से पढ़ कर समझ

नहीं पाओगे क्योंकि हिन्दी के अन्दर वे सारे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार संस्कृत के अंदर तो अध्यात्म विद्या का सम्पूर्ण विस्तार है। अतः संस्कृत के द्वारा तुमको उस सबमें प्रवेश मिल जाता है। अन्य भाषाओं के अन्दर तो जितना अनुवाद मिलेगा उसी तक सीमित रहते हो। अतः विद्या भी भगवान् की विभूति है। वाक् से वाणी भी अभिप्रेत है। वाणी की तीन शोभाएँ शास्त्रकारों ने बताई हैं : पहली शोभा सत्य है, वाणी सत्य होनी चहिये। उसमें असत्य का अंश नहीं आना चहिए। शास्त्रों के अंदर तो यहाँ तक बतलाया है कि जो बारह वर्ष तक पूर्ण सावधानी से सत्य का वाणी से प्रयोग करता है उसकी वाणी मे यह शक्ति आ जाती है कि अगर उसके मुँह से कोई बात निकल जाती है तो वह सत्य हो जाती है। अर्थात् उसके मुँह से निकली बात कभी भी असत्य नहीं होती, ऐसी उसमें सामर्थ्य आ जाती है। सत्य वाणी की शोभा है। आजकल प्रचार किया जाता है कि असत्य वाणी की शोभा है! कौन से वकील को सबसे ज़्यादा फीस मिलती है? जो झूठी बात को सिद्ध करे। असत्य के कारण जो वाणी की विशेषता है वह भगवान् की विभूति नहीं है, प्रशस्त, उपास्य नहीं है। वाणी की दूसरी शोभा है प्रियता। ऐसी बोली होनी चाहिए जो दूसरे को प्रिय लगे। उपनयन के समय बटुक को उपदेश देते हैं कि हमेशा प्रिय शब्द बोलना, अन्धे को अंधा नहीं कहना, काणे को काणा नहीं कहना, बहुत सी स्त्रियों के दाढ़ी-मूँछ निकलती है, उसको कभी नहीं कहना कि तुम दाढ़ी-मूँछ वाली हो। पुराने लोग इसीलिये कोई अन्धा आवे, तो यही कहते थे 'सूरदास आ गये'। तुम कितनी भी अच्छी बात कहने वाले हो, अगर अप्रिय ढंग से उसी को बोलते हो तो कभी भी लोग पसन्द नहीं करेंगे। तीसरा वाणी का सौन्दर्य है हितकारिता। दूसरे के हित की बात कहो, अहित की बात नहीं कहो। इन तीनों गुणों से युक्त वाक् अथवा इनमें से एक गुण से भी युक्त वाक् किसी स्त्री में दिखाई देती है तो निश्चित जानो कि परमेश्वर की वाक् शक्ति है, स्त्री की विशेषता नहीं।

इसी प्रकार स्मृति विभूति है। स्मृति अर्थात् बहुत पहले हुई बात को भी यथावत् याद रखना। बहुत-सी स्त्रियों को बड़ी पुरानी बातें याद रहती हैं। पारस्कर गृह्यसूत्रों के अन्दर जहाँ विवाह का प्रकरण आया है वहाँ विवाह का कर्मकाण्ड बतलाते हुये जोड़ा है कि वहाँ की वृद्ध स्त्रियों से पूछ लेना और क्या प्राचीन कुलपरम्परा है। अभी भी किसी आदमी से पूछो 'तुम्हारा ब्याह हुआ था तो तुमने किसी रंग का कपड़ा पहना था?' तो सौ में अस्सी आदमियों को पता नहीं होगा कि उस दिन क्या पहना था! और स्त्रियों को पूछो तो सौ में से निन्यानबें बता देंगी। परमेश्वर की स्मरण शक्ति के कारण ही उन्हें याद रहता है।

मेधा। शब्दों के समूह को देख करके उनका एक अर्थ तो सामान्यतः भान हो जाता है। परन्तु उन्हीं शब्दों के अंदर कोई गूढ रहस्य छिपा हुआ है, यह कोई-कोई समझ पाता है। वह समझने की शक्ति को मेधा शक्ति कहते हैं। पहली बार किसी ग्रन्थ को

पढ़ो तो ऊपरी-ऊपरी बातों का ज्ञान हो जाएगा, गहराई का पता नहीं चलता। जितनी बार पढ़ोगे उसके और अर्थ खुलते जाएँगे, नये नये अर्थों का उद्‌भावन होता जाएगा। मेधा का सम्बंध श्रद्धा के साथ बतलाया गया। अतः जब ग्रन्थ को श्रद्धा की दृष्टि से पढ़ते हो तब गहन अर्थ प्रकट होते हैं। अश्रद्धा से पढ़ते हो तो केवल ऊपर-ऊपर का अर्थ ही ज्ञात होता है। वर्तमान में अधिकतर लोग हम लोगों के धार्मिक ग्रन्थों को श्रद्धा से नहीं पढ़ते इसलिये गंभीर अर्थों तक पहुँच नहीं पाते। मेधा को परमेश्वर की विभूति जानो।

इसी प्रकार धृति अर्थात् धैर्य। धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है। जब कठिनाई आती है तब धैर्य की परीक्षा होती है। जब सब सुविधाएँ हैं तब तो सभी धीरज वाले हैं! विपत्ति आने पर स्थिर रहना धैर्य है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर जब थके होवें उस समय भी उनको उठा कर कार्य करने की जो क्षमता है वह धृति है। स्त्रियों में धृति बहुत होती है। भगवान् ने यह शक्ति उनमें विशेष दी है क्योंकि उनको बच्चों को पैदा करना, और बड़ा करना है। बच्चों को पैदा करना भी कष्टकारी काम है। नौ महीने तक निरन्तर बोझ लिऐ रहना पड़ता है। परमेश्वर ने उनको ऐसा धैर्य दिया है कि उनको कुछ ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि कोई बड़ा भारी बोझ आ गया है। इसी प्रकार छोटा बच्चा कितनी बार चाहे जहाँ टट्टी-पेशाब करेगा, उल्टी करेगा, सभी को सहना पड़ता है। इसीलिये उनके अन्दर धृति भगवान् ने पहले ही दे रखी है। इसलिये धर्म पर स्त्री जितनी निष्ठा से रहती है उतनी निष्ठा से पुरुष नहीं रहते हैं। हम कम-से-कम पचास स्थल जानते हैं जहाँ बच्चा एक दो साल का था, पति मर गया, औरत ने चाहे चक्की पीस कर, चाहे दूसरों के बर्त्तन माँज कर उस लड़के को बड़ा किया, पढ़ा लिखा कर तैयार कर लिया। परन्तु हमारे देखने में एक भी आदमी ऐसा नहीं है जिसका दो साल का बच्चा होवे और पत्नी मर जाये तथा खुद उसको बड़ा कर लेवे! या दूसरा ब्याह कर लेगा, या अपनी माँ अर्थात् बच्चे की दादी के भरोसे कर देगा, बहन के भरोसे कर देगा, परन्तु स्वयं अपनी सामर्थ्य से नहीं पाल पाता। इस सबसे लगता तो है कि स्त्रियों में धैर्य है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं वहाँ धृतिरूप में मौजूद हूँ, इसलिए उनकी विशेषता नहीं है, मेरी ही विशेषता है।

क्षमा - दूसरा हमारा कितना भी नुकसान करे, उसके नुकसान की भावना तक न करना। यदि मन में आये कि 'जिसने हमारा नुकसान किया उसको भगवान् देखेगा' तब उसको दण्ड मिले यह हृदय में भावना है अतः क्षमा नहीं है। 'मेरे प्रति किये अपकार के कारण उसका कोई भी अपकार न हो,' ऐसी भावना रहे, अपकार करने की चेष्टा ही नहीं हो, तब क्षमा कही जाती है। यदि किसी स्त्री में क्षमा होती है तो वह उसकी विशेषता नहीं, भगवत्सम्बंध से उसमें उपलब्ध है यह दृष्टि रखनी चाहिए।

केवल स्त्रियों में ये गुण भगवद्विभूति हो ऐसा नहीं, पुरुषों में भी इन्हें भगवान् की

विभूति ही समझना है। भाष्यकार ने कीर्ति आदि को स्त्रियों में उत्तम कहा है और बताया है कि इनकी छाया के सम्बंध से भी लोग स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। कीर्ति आदि शब्द स्त्रीलिंग में हैं, इससे भी इन्हें स्त्रियों में गिनना संगत है। हर हालत में भगवान् की विभूति हैं, जहाँ भी मिलें इनसे भगवान् का चिन्तन करने में ही सहारा मिलता है।।३४।।

और भी अपनी विभूतियाँ समझाते हैं -

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। ३५।।

सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष व ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ।

पहले कह आये हैं कि वेदों में मैं सामवेद हूँ। अब कहते हैं कि सामवेद के इतने सारे मंत्रें में भी बृहत्साम मेरा स्वरूप है। बृहत्साम एक सामविशेष है जो ऋग्वेद की ४.७.२१.१, 'त्वामिद्धि हवामहे' आदि ऋचा पर गाया जाता है। सामवेद के पूर्वार्चिक में तीसरे अध्याय का यह दूसरा ही मंत्र है। प्रधान रूप से उसमें इंद्र की सर्वेश्वररूप से स्तुति की है। वेदों में इंद्र-विषयक बहुत स्तुतियाँ हैं, क्योकि इंद्र का अर्थ है परमेश्वर। 'इदि परमैश्वर्ये' (भ्वा.प.से.) धातु से इंद्र शब्द बनकर परमेश्वर अर्थ बताता है। इंद्र की सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के रूप में बृहत्साम में स्तुति की गई है, परमेश्वर का विस्तृत वर्णन किया गया है। अतः यह सबसे श्रेष्ठ है। साक्षात् परमेश्वर की स्तुति होना उसके वैशिष्ट्य का सीधा कारण है। 'गायत्री छन्दसामहम्' छन्द का मतलब होता है नियत-पादाक्षर-योजना, जिसमें कितने पाद होंवे यह भी निश्चित हो और हर पाद में अक्षर भी निश्चित होवें। जैसे अनुष्टुप् छंद में चार ही पाद होंगे और हर पाद में आठ ही अक्षर होंगे। इसी प्रकार जहाँ नियत-पादाक्षर-योजना होती है वह छन्द कहा जाता है। छंदों में गायत्री श्रेष्ठ है। गायत्री में तीन पाद होते हैं और कुल चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री की विशेषता है कि मनुष्य द्वितीय जन्म को धारण करता है गायत्री के द्वारा। यज्ञोपवीत के बाद गायत्री की ही दीक्षा होती है। गायत्री से द्विजत्व की प्राप्ति है और द्विज होने पर ही सारे वैदिक कर्मों का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः इसकी श्रेष्ठता स्फुट है। शास्त्र में बतलाया है कि त्रिष्टुप् और जगती भी सोम लेने के लिये भेजे गये थे लेकिन इनके द्वारा सोम की प्राप्ति हुई नहीं। अन्त में गायत्री के द्वारा ही सोम की प्राप्ति हुई। इस प्रकार सोम की प्राप्ति का साक्षात् हेतु बना इसलिये भी गायत्री श्रेष्ठ है।

प्रसिद्ध गायत्री मंत्र की अत्यन्त प्रतिष्ठा है क्योंकि गायत्री मंत्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है कि परमात्मा सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला है। सारे जगत् का प्रसव करने वाला परमेश्वर है। वेद में कहीं किसी अन्य चीज़ को नहीं कहा है कि वह

द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है; वेद में जहाँ किसी कर्म को बतलाया है, वहाँ उसका फल बतलाया है। परन्तु बिना कोई फल बताये देखने सुनने विचारने योग्य परमात्मा को ही कहा है। इसलिये बिना किसी निमित्त के ही परमात्मा हम लोगों को आदेश दे रहा है कि परमात्मा का दर्शन करना ही चाहिये। किसी कामना की पूर्ति के लिये नहीं, वरन् क्योंकि वह तुम्हारा कर्त्तव्य है। यही बात गायत्री में कही कि वही एकमात्र वरणीय है, वरण करने योग्य है। बाकी कुछ भी वरेण्य नहीं कहा। परमेश्वर ही वरेण्य है। परमेश्वर की शक्ति बतलायी है 'भर्गः' तुम्हारे सारे पापों को भूँज डालता है। जैसे भड़भूँजा चना आदि को भूँज देता है तो वे बोने लायक नहीं रह जाते, क्योंकि भूँजना उसकी आगे पैदा करने की शक्ति को नष्ट कर देता है, इसी प्रकार तुम परमेश्वर को जो भी अर्पण कर देते हो वह आगे तुमको जन्म-मरण का फल नहीं देता। जिस कर्म को करके तुम परमेश्वरार्पण नहीं करोगे, उसका तो तुमको कर्मफल भोगना पड़ेगा, परन्तु जो परमेश्वर के अर्पण कर दिया वह आगे फल पैदा नहीं करेगा। ऐसे परमेश्वर से प्रार्थना केवल यह है कि हमारी बुद्धि को प्रवृत्त करे। हमारी बुद्धि को प्राचीन संस्कार प्रवृत्त करते रहते हैं। पुराने संस्कारों के कारण ही हमारी कामना होती है, हम सब कुछ करते हैं। संस्कार अच्छे हैं तो अच्छा काम कर लेते हैं, बुरे हैं तो बुरा काम कर लेते हैं। प्रार्थना है कि संस्कार हमें न प्रवृत्त करें, परमेश्वर ही बुद्धि को प्रवृत्त करें। बुद्धि ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। अहंकार बुद्धि की ही वृत्तिविशेष है। चाहे अहंकार को प्रवृत्त करने वाला कहो, चाहे बुद्धि को प्रवृत्त करने वाला कहो, एक ही बात है। प्रार्थना है कि हमारी सारी प्रवृत्ति तुम ही कराओ। हम अपने पुराने संस्कारों के अनुसार न चलें। इस प्रकार इस छोटे से मंत्र में परमेश्वर का स्वरूप, परमेश्वर की वरणीयता और परमेश्वर की पूर्ण शरणागति, ये सब बतला दिये हैं। इसलिये इसकी श्रेष्ठता स्फुट ही है।

मासों में मार्गशीर्ष को विभूति कहा। बारह महीनों में मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है इसमें एक कारण है कि प्राचीन हिसाब में मार्गशीर्ष प्रथम मास होता था। इसलिये इसका दूसरा नाम भी है अग्रहायण। पहला मास होने से विशेष है। महाभारत में भी जहाँ प्रत्येक मास में अलग-अलग दान आदि प्रकरण आए हैं वहाँ सर्वत्र मार्गशीर्ष से प्रारम्भ किया है। इसलिये मार्गशीर्ष विभूति है। मार्गशीर्ष का मास ऐसा होता है कि जब न अधिक ठण्ड होती है और न गर्मी रह जाती है। सब प्रकार से सुखद होने से भी श्रेष्ठ है। मार्गशीर्ष के मास में कन्याएँ प्रातः काल स्नान आदि करती हैं, शीघ्र और योग्य पति की प्रप्ति के लिये गौरी का पूजन करती हैं। दक्षिण भारत में अब भी मार्गशीर्ष के मास में तमिल भाषा में भगवान् की कीर्तियों का गान करते हुये लड़कियाँ प्रातः काल स्नान करने जाती हैं नदी इत्यादि में। इन सब कारणों से मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपना विशेष मास बतलाया। और ऋतुओं के अन्दर कुसुमाकर अर्थात् वसन्त ऋतु को विभूति कहा। जैसे मार्गशीर्ष का मास गर्मी सर्दी वाला नहीं होता है,

इसी प्रकार से वसन्त ऋतु में भी गर्मी सर्दी ज़्यादा नहीं होती हैं। शिशिर हेमन्त के अन्दर वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं, वसन्त के आने पर पुनः नई कोपलें आने लगती हैं। भगवान् ने इसलिये वसन्त नहीं कह कर यहाँ उसको कहा ही दूसरे नाम से 'कुसुमाकर'। कुसुम अर्थात् फूल, फूल जब अधिक होवें वह ऋतु विभूति होना उचित ही है।।३५।।

विभूति-प्रसंग ही चलाते हुये कहते हैं -

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

छलने वालों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, सात्त्विकों मे सत्त्व मैं हूँ तथा जीत और निश्चय मैं हूँ।

'छलयताम्' छल करने के जो तरीके हैं तो उनमें द्यूत, जुआ विभूति है। दुकान में माल इत्यादि बेचते हैं, माल की कमज़ोरी छिपा कर उसकी प्रशंसा करके बेच देते हैं। व्यापार को इसलिये संस्कृत में 'सत्यानृत' शब्द से भी कहा जाता है। सच के साथ थोड़ा-बहुत झूठ मिला करके व्यापार चलता है। इसी प्रकार जो कर्जा इत्यादि देने का काम होता है उसके अन्दर भी छल का प्रयोग होता है। जब दूसरे को उधार देते हैं, तब सौर मास से देते हैं लेकिन जब ब्याज लेते हैं तब चान्द्रमास से लेते हैं, यों तीन साल में एक महीने के ब्याज का फ़ायदा हो जाता है। इसी तरह से ज़मीन की खरीद-बेच होती है, तब भी कमज़ोरियाँ छिपा दी जाती हैं। ये सब अनेक प्रकार के छल चलते हैं। परन्तु इन सबमें थोड़ा-बहुत ही तुम दूसरे को धोखा दे सकते हो। पर जुआ ऐसी चीज़ है जिसमें तुम व्यक्ति का सर्वस्व हरण कर सकते हो!

सब कुछ हरण की सामर्थ्य वाला होने से द्यूत भगवान् की विभूति है। अन्य उपायों में तो 'मैं हरण कर रहा हूँ' इसे छिपाते भी हैं, द्यूत में कुछ भी छिपाने की ज़रूरत नहीं है, सब खुले आम ही होता है। दाँव पर लगाने वाला भी जान-बूझकर लगाता है, इसलिये द्यूत को भगवान् ने अपनी विभूतियों में गिना।

इसी प्रकार जो लोग तेज अर्थात् प्रागल्भ्य के धनी होते हैं उनमें तेज भगवान् की विभूति है। किसी भी प्रकार का प्रश्न आवे, उसका उसी समय यथोचित जवाब दे सकना तेज है। तेजस्वियों के अन्दर तेज भगवान् की विभूति है। इसी प्रकार जीतने वालों को जो जय मिलता है वह भी भगवान् कहते हैं- मेरा रूप है, मेरी विभूति है। किंच जो लोग व्यवसाय, अत्यन्त उद्यम करते हैं, उनमें व्यवसाय हूँ। उद्यम करने वाले में सबसे बड़ा गुण होना चाहिये झट और निश्चय-पूर्वक निर्णय करे। जो व्यापारी डाँवा-डोल सोचता रहता है वह कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता। तुरन्त निश्चय करना और जो निश्चय किया उसके अनुसार पूरे परिश्रम से काम करना - यह भी मेरी विभूति

है। कुछ लोग तो निश्चय नहीं कर पाते और कुछ लोग यदि निश्चय करते हैं, तो उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिये पूरी तरह से लग नहीं पाते। उनमें भगवान् की विभूति नहीं है। ऐसे ही जो सात्त्विक पुरुष हैं उनके अन्दर सत्त्वगुण भी मेरी ही विभूति है। प्रायः लोग राजस-तामस होते हैं, सात्त्विक नहीं होते, सात्त्विक लोगों के अन्दर सत्त्व गुण मेरा स्वरूप है जिसके कारण वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सात्त्विक कार्यों वाले प्रतीत होते हैं।।३६।।

और भी विभूतियाँ आगे गिनाते हैं -

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।। ३७।।

यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्र कवि हूँ।

यादव वंश के अन्दर वृष्णि कुल है, उस कुल के अन्दर वसुदेव का पुत्र वासुदेव विशेष विभूति है। यद्यपि भगवान् कृष्ण खुद ही वासुदेव हैं, फिर भी यहाँ उन्होंने 'वासुदेव' नाम लेकर स्पष्ट कर दिया कि गीता शास्त्र में भगवान् प्रायः 'अहम्' शब्द का प्रयोग प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमेश्वर है, उसको लेकर करते हैं, किसी एक विभूति को लेकर के नहीं। अतः यह नहीं कहा कि 'वृष्णि कुल में मैं हूँ।' क्योंकि 'मैं' वे उसे कहते हैं जो विभूति नहीं है, सारी विभूतियों का अधिष्ठान है। गीता शास्त्र के अन्दर भगवान् ने 'अहम्' का प्रयोग उसी दृष्टि से किया है अतः यहाँ बजाय यह कहने के कि 'वृष्णि कुल में मैं हूँ,' परोक्ष रूपेण वासुदेव का नाम लिया। भगवान् कृष्ण का अद्भुत माहात्म्य तो सब जानते ही हैं! पैदा होने के थोड़े समय में ही पूतना जैसी राक्षसी को मार दिया, कालिय का दमन कर दिया। ग्यारह साल की उम्र मे चाणूर आदि को मार कर के अन्त मे कंस को भी मार दिया। इस प्रकार पैदा होने के साथ ही भगवान् की विभूतिरूपता तो स्पष्ट ही है।

पाण्डवों में अर्जुन विभूति हैं। राजसूय यज्ञ के समय में अकेले ही वह सारे राजाओं को परास्त कर धन जीत कर लाया था, जिससे राजसूय यज्ञ किया गया था। अतः अपार धन को जीतने वाला होने से धनंजय कहलाने वाला मेरी ही विभूति है। इसके द्वारा संकेत से यह भी कह रहे हैं जो आगे के अध्याय में स्फुट होगा, कि 'भीष्म, द्रोण आदि जितने हैं उन सबको तो मैं ही मारने वाला हूँ। मारने वाला तू नहीं है, तू ज़िदपूर्वक युद्ध नहीं करे तो भी ये बचने वाले नहीं हैं। तू तो केवल निमित्तमात्र है।' इस प्रकार, परमेश्वर के संकल्प को पूरा करने का साधन होने से अर्जुन विभूति है। विराट्-राज्य की गायें लूटने आये भीष्म-द्रोण-कर्ण आदि सबको अकेले अर्जुन ने परास्त कर उनके कपड़े तक खोल लिये थे! भगवान् सावधान कर रहे हैं कि यह सारा अपना महत्त्व मत समझना, मेरा ही वैभव है, तुझे तो निमित्त बनाया जाता है।

मुनियों में व्यास हूँ। मनन-पूर्वक सारे ही पदार्थों को जानने में जो समर्थ हो वह मुनि है। दो प्रकार से ज्ञान होता है, इंद्रियों के द्वारा और विचार के द्वारा। इंद्रियों के द्वारा ज्ञान अत्यन्त परिच्छिन्न होता है। उसी देश, उसी काल, और केवल उतनी-सी वस्तु का ज्ञान इंद्रियों से होता है। परन्तु विचार-पूर्वक मन से जो ज्ञान होता है, वह सब पदार्थों का हो जाता है। भात का एक दाना पका - यह तो तुमको इंद्रियों से ज्ञान होता है। भात का दाना लिया और मसला, पता लग गया कि यह चावल का दाना पका हुआ है। परन्तु मन से क्या ज्ञान होता है? *सारे* चावल पक गये। इसी प्रकार थोड़ी-सी चीज़ के द्वारा तत्सम्बंधी सारे पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, यह मनन का फल है। सारे पदार्थों को ऐसे जानने वालों में, मनन करने वालों में, भगवान् ने कहा, व्यास मेरी ही विभूति है। शास्त्रकारों ने व्यास को नारायण का अवतार कहा है। उन्होंने पुराण आदि की रचना की जिनके अन्दर कोई भी शास्त्र अछूता नहीं रहा है। अग्नि पुराण में सारा पाणिनीय व्याकरण आ जाता है। इसी प्रकार सारा नाट्य शास्त्र, शिल्प शास्त्र आदि सब शास्त्र पुराणादि के अन्तर्गत आ जाते हैं। पुराणों के अन्दर भगवान् व्यास का सब पदार्थों के बारे में जो ज्ञान है वह प्रकट है।

कवियों में मैं उशना कवि हूँ। यहाँ कवि शब्द का पौनरुक्त्य प्रयोजन से है। कवि का एक प्रसिद्ध अर्थ होता है जो छन्दों के अंदर रचना करता है। इस अर्थ में लोक में कवि शब्द प्रसिद्ध है। कवि का दूसरा अर्थ है, क्रान्तदर्शी अर्थात् भूत, भविष्य, और वर्त्तमान को जानने वाला। ईशावास्योपनिषद् के अंदर परमेश्वर को जहाँ कवि कहा है, वहाँ आचार्य शंकर उसका अर्थ कहते हैं, क्रान्तदर्शी। ऐसे लोगों के अंदर शुक्राचार्य मेरी विभूति हैं। जिस समय बलि यज्ञ कर रहा था, वामन आए, उन्होंने कहा 'हमें तीन पैर ज़मीन दे दो।' शुक्राचार्य ने तुरन्त बलि से कहा 'अरे! सावधान हो जा, यह तीन पैर ज़मीन का सवाल नहीं है, यह तो सब कुछ लेने वाला है!' बलि नहीं माना, उसने कहा 'यदि मेरे सामने सारे संसार का अधिपति भिक्षुक होकर आ ही गया है तो इसे देने में अच्छा ही है। ऐसा माँगने वाला कहाँ मिलेगा!' संसार के अंदर विष्णु भगवान् ने वहीं एक बार माँगा है, अन्यथा तो जो लोग वर माँगते हैं, उनको वे ही देते हैं। अतः बलि ने कहा, 'सारी दुनिया को देने वाला आज मुझसे लेने वाला बन रहा है, यह तो हमेशा के लिये कीर्ति की बात है।' इसलिये उसने शुक्राचार्य की बात नहीं सुनी और दान दिया। भगवान् ने सब कुछ ले ही लिया उसका। क्रान्तदर्शी थे इसलिये शुक्र को तुरन्त रहस्य का पता लग गया। इसलिये शुक्रनीति विशेष करके राजनैतिक शास्त्रों को जानने वालों के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण स्मृति मानी जाती है। राजनीति का खेल ऐसा है कि जो आगे-पीछे सब बातें समझे वही ठीक निर्णय कर सकता है। अतः शुक्रनीति को श्रेष्ठ माना जाता है।।३७।।

अन्य विभूतियों को सुनाते हुये कहते हैं -

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। ३८।।

गलत रास्ते जाने वालों को सही रास्ते पर लाने के लिये प्रयासशीलों में मैं दण्ड हूँ, जीतना चाहने वालों में नीति हूँ, गोपनीयों में मौन हूँ, ज्ञानवालों में ज्ञान हूँ।

जो अधर्माचरण को रोकना चाहते हैं उनके अन्दर मैं दण्ड हूँ, क्योंकि अधर्माचरण को दण्ड के द्वारा ही रोका जा सकता है। भारतवर्ष में यह स्पष्ट देख लो : वर्तमान में चूंकि दण्डव्यवस्था नहीं है, इसलिये ग़लत रास्ते चलना बढ़ रहा है। दण्ड की जगह उल्टी व्यवस्था है, पाप करने वाले के प्रति हमदर्दी है। पाप करने वाले के प्रति दण्ड को क्रूरता मानते हैं। बड़ा लम्बा चौड़ा आजकल शास्त्र बन गया है कि आर्थिक कारणों से बेचारे अपराध करते हैं; ऐसे ही अपराधियों की प्रवृत्तियों के प्रति नाना प्रकार के हेतु खोज लाते हैं, जिनसे सिद्ध करना चाहते हैं कि अपराधी गलत नहीं, वे हेतु उपस्थित करने वाले ही गलत थे, उन्हीं के कारण अपराध हुआ! नतीजा हो रहा है कि अपराध बढ़ते जा रहे हैं। पहले विनोबा भावे ने बागियों को माफ करा दिया, फिर जयप्रकाश नारायण ने करा दिया; जब दण्ड मिलने का डर नहीं, तब कोई अपराध क्यों छोडे? नतीजा होता है कि जहाँ दण्ड नहीं चलता है वहाँ धर्माचरण नहीं होता है। जैसा बाह्य दमन के लिये यह नियम है, वैसा ही आन्तरिक दमन के लिये समझ लेना। इंद्रियों का दमन करना पड़ता है। आजकल एक गलत विज्ञान पढ़ाया जाता है, जिसमें कहते हैं कि अपनी इंद्रियों का दमन मत करो, नहीं तो तुम्हारे अन्तःकरण में बड़ी ग्रन्थियाँ पड़ जायेंगी। अतः कहते हैं कि इंद्रियों को खुली छूट देनी चाहिये। इसका जो सबसे बड़ा प्रचारक जर्मनी का फ्राय्ड हुआ था, अपने जीवन के अन्त में उसने यही लिखा है कि मनुष्य दुःखी होने के लिये ही पैदा हुआ है : अगर इंद्रियों का दमन करता है, तब मन में ग्रन्थियाँ हो जाती हैं इसलिये दुःखी हो जाता है, और अगर दमन नहीं करता तो समाज दुःखी कर देता है। हमारे पास पैसा है नहीं, रास्ते में जा रहे हैं, मिठाई की दुकान देखी गुलाब जामुन उठा कर खा लिया। मन में तो ग्रन्थि नहीं पड़ेगी लेकिन सिर के ऊपर हलवाई का डण्डा तो पड़ ही जायेगा! इस तरह यदि मन की करो तो दुःख पाओ, और मन की न करो तो दुःख पाओ। दो ही सम्भावनाएँ हैं। इसलिये मनुष्य हमेशा दुःखी होने के लिये ही पैदा हुआ है, होता ही रहेगा। - यह उसने नतीजा निकाला। सुख पाने के लिये जो अपने अन्दर इंद्रियों की गलत प्रवृत्तियाँ हैं, उनको दण्ड देना पड़ता है। महाराज जी कहा करते थे कि ध्यान करने बैठो और अगर नींद का झोंका आवे तो आँखों में मिर्च मल लो! अगर मुँह से झूठ निकले तो उस पूरे दिन पानी मत पियो, भोजन नहीं करो। अगर इस प्रकार से तुम अपने को दण्ड देते रहोगे तब इंद्रियाँ नियंत्रण में आ जाएँगी। वशिष्ठ जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इंद्रियों पर दमन के लिये, उन्हें गलत करने से रोकने के लिये हाथों से हाथों को मसल डालो, दाँतों को

दाँतों से रगड़ कर चूर्ण बना दो, परन्तु सर्वप्रथम अपने मन को जीत लो। इस प्रकार जो दण्ड देगा वह अपनी इंद्रियों का दमन कर लेगा। यह दण्ड भगवान् की विभूति है, तभी सफल होकर कल्याण का उपाय बनता है।

जो जीतना चाहते हैं, उनके अंदर नीति मेरा स्वरूप है। दुश्मन पर विजय प्राप्त करने के लिये जब तक तुम नीति को नहीं समझोगे तब तक सफल नहीं हो सकते। कहाँ साम का प्रयोग करना पड़ेगा, कहाँ दाम का प्रयोग करना पड़ेगा, कहाँ दण्ड का प्रयोग करना पडेगा, कहाँ भेद का प्रयोग करना पड़ेगा, इन चार में से किससे जीत होगी - यह विचार करके जो प्रयत्न करता है वह जीतेगा। हिटलर ने सारे यूरोप को जीत लिया, इंगलैण्ड पर चढ़ाई करने जा रहा था। चर्चिल के पास कोई खास संसाधन नहीं था, पर उसने अपने झूठे प्रचार इत्यादि के द्वारा हिटलर को जँचा दिया कि 'तुमने इंगलैण्ड पर धावा बोला तो रूस तुम्हारे ऊपर पीछे से धावा कर देगा। इंगलैण्ड जाने के लिये बीच में समुद्र पड़ेगा और रूस को जर्मनी में घुसने के लिये ऐसी कोई समस्या है नहीं। इसलिये जो तुम्हारे पृष्ठ का दुश्मन है, उसको पहले जीतो, इंगलेण्ड तो छोटी-सी चीज़ है, चाहे जब जीत लेना।' ऐसा उसने चक्रव्यूह बनाया कि हिटलर रूस से लड़ने के लिये चला गया और वहाँ जाकर नष्ट हो गया। इसको नीति कहते हैं। नीति के लिये बड़ा धैर्य चाहिये। प्रतिदिन इंगलैण्ड में बम पड़ रहे थे। निश्चय कर लिया गया सदन के द्वारा कि वहाँ से राजधानी केनेडा ले जाऐंगे क्योंकि अब बचाना सम्भव नहीं है। चर्चिल ने सभा में सबकी बात स्वीकार ली। सब तैयारी हो गई। राजा के साथ प्रधानमंत्री का जाना ज़रूरी था। चर्चिल ने कहा 'किसी दूसरे को प्रधान मंत्री बना लो, मैं तो लंदन की गलियों में लड़ते हुये ही मरूँगा, मैं देश नहीं छोड़ने वाला।' यह भारी नीति थी। अगर वहाँ से राजधानी हट जाती तो स्वभावतः उसको बचाने का पूरा प्रयास रहता ही नहीं। उसने दुश्मन को रूस में फँसाया और यहाँ ऐसी बात कर दी कि राजा ने कहा 'जब यह ही नहीं जाएगा छोड़ कर तो मैं क्यों जाऊँ?' कोई नहीं गया! सीधे ही कहता कि लंदन मत छोड़ो तो कोई नहीं मानता क्योंकि वहाँ रहने में नुकसान स्पष्ट दीख रहे थे। अतः उसने नीतिपूर्वक काम किया। इस प्रकार नीति के कारण ही सबसे भयंकर परिस्थिति जो उस देश पर आई थी, उसको बचा सका, केवल फौज के बल से नहीं बचा पाया। इसलिये जो जीतने की इच्छा करे वह साम, दाम, दण्ड, भेद सब नीतियों का विचार करे। नीति का विचार मेरी विभूति है।

गुह्य अर्थात् जिस चीज़ को गुप्त रखा जाए, गुप्त रखने के लायक जो चीज़ है। गुप्त रखने का सर्वोत्तम साधन है उसके बारे में बोलो नहीं, मौन रहो। पुराणों में प्रसिद्ध कथा आती है सत्यव्रत की। उसका नियम था झूठ बोलना नहीं। उसके सामने से एक गाय भाग कर गई, उसके पीछे उसको मारने वाले कसाई आ गये। उसको छिपाना था इस बात को कि गाय किधर गई है, कैसे छिपावे? झूठ उसको बोलना नहीं था। गाय के

बारे में उसने कोई बात कही ही नहीं। जब कसाई ने पूछा तब कहा 'अरे कसाई! जो आँख देखती है वह बोलती नहीं, और जो जबान बोलती है, वह देखती नहीं, तेरे प्रश्न का जवाब कौन दे सकता है?' कसाई समझ गया कि चक्कर की बातें कर रहा है, समय गँवाना बेकार है, आगे चला गया। इसी प्रकार से जो बात गुह्य रखनी होवे उसके बारे में कभी कुछ बोलना ही नहीं चाहिए। मौन शब्द का मूल भाव है मनन करना। साधारण आदमी झूठ बोल कर गुह्य रखना चाहता है। झूठ के अंदर कठिनाई रहती है कि कुछ-न-कुछ उसमें सच का अंश आ ही जाएगा। अतः उसके बारे में कुछ नहीं बोलोगे तभी चीज़ गुप्त रह सकेगी। इस प्रकार का जो मनन-पूर्वक, विचार-पूर्वक मौन है वह परमेश्वर की विभूति है। अथवा संन्यासाश्रम को, मुनिभाव को यहाँ मौन नामक विभूति समझ सकते हैं।

जो ज्ञानी लोग हैं उनके अंदर ज्ञानस्वरूप से मैं हूँ, मैं हूँ तब उनको ज्ञान है। घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान आदि में ज्ञानरूप से परमेश्वर ही हैं। प्रत्येक ज्ञान के अंदर ज्ञानरूप से परमात्मा को देखना, ज्ञान को परमेश्वर की विभूति समझना उपासना है। अथवा जो नित्य ज्ञान है वह तो अधिष्ठान परमात्मा का स्वरूप है, परन्तु जो उसके बारे में सम्यक् स्थिर निश्चय है, वह ज्ञान उनकी विभूति है।। ३८।।

अभी तक विविध पृथक्-पृथक् विभूतियाँ गिनायीं। प्रारम्भ में भगवान् ने कहा था कि मुख्य विभूति, वैभव है कि सब भूतों का आदि-मध्य-अंत मैं हूँ (श्लोक २०)। परमेश्वर का यही प्रधान ऐश्वर्य श्रुति, स्मृति व शास्त्र में कहा गया है। विभूति-वर्णन के समापन में पुनः अपनी वही मूलकारणरूपता प्रकट करेंगे। उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता से तात्पर्य स्पष्ट होता है यह विचारकों ने स्वीकारा है। इस रहस्य को सूचित करते हुये प्रकरण का उपसंहार करते हैं-

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। ३९।।

और अर्जुन! जो सब भूतों का बीज है वह मैं हूँ। चर-अचर कोई भूत नहीं जो मेरे बिना हो।

सभी भूत अर्थात् चाहे जड हो, चाहे चेतन हो, सारे के सारे मुझसे ही निकलते हैं अतः मैं ही उनका बीज हूँ। वृक्षरूप में बीज ही प्रकट होता है परन्तु साथ में खाद और जल की आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवों की कर्मरूप खाद से ही सबके बीजभूत परमेश्वर से सब कुछ प्रकट होता है। कर्मफल का सहारा लेकर प्रकट तो परमेश्वर ही हो रहे हैं। मायाविशिष्ट चेतन सब प्राणियों का बीज है। जब उसको ज्ञानाग्नि से भून दिया जाता है, तत्त्वमस्यादि से होने वाला जो ज्ञान है उससे इस बीज को भून दिया जाता है, तब आगे फिर कोई कर्मफल उसमें से निकलेगा नहीं। जब तक भूना नहीं गया

है तब तक कर्म फल देता रहेगा। कर्मफलों का दाता मायाविशिष्ट चेतन है और वही जब भून दिया गया तब बीजावस्था नहीं रह जाती, शुद्ध चिन्मात्र रहता है।

चर-अचर जड और चेतन, दोनों में कोई भी ऐसी चीज़ नहीं है जो मेरे बिना हो सके, क्योंकि 'है'-रूप मैं हूँ। है-रूप मुझसे सम्बंधित हुये बिना कोई चीज़ 'है' तो हो ही नहीं सकती। इसलिये मेरे बिना कहीं कुछ भी जड या चेतन नहीं है। जहाँ मैं नहीं हूँ उसका स्वरूप सिद्ध ही नहीं होता, निरात्मक हो जाता है। 'घड़ा नहीं है' का क्या रूप है? कोई रूप नहीं है। 'घड़ा है' इसका रूप तो तुमको स्पष्ट है। घड़ा नहीं है, कपड़ा नहीं है, लड्डू नहीं है, पेड़ा नहीं है, सब 'नहीं है' तो एक जैसे ही हैं! उनका कोई अलग-अलग स्वरूप नहीं है। इसके द्वारा जो बौद्धों का कथन है कि 'कुछ नहीं है' से सब कुछ पैदा होता है, उसका सर्वथा निराकरण कर दिया। जो है, उससे तो दूसरी चीज़ें पैदा होती हैं। जो नहीं है, उससे कुछ भी पैदा नहीं हो सकता। भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि मुझसे जो छूटा हुआ है वह शून्य है। जो कुछ है वह मेरा रूप है। इस विभूति को उपक्रम में और उपसंहार में कहा और अभ्यास लिंग को पूर्ण करने के लिये बीच में भी 'सर्गाणां आदिरन्तश्च' से उसी बात को कहा। सारे विभूतियोग का असली तात्पर्य है कि सब कुछ परमात्मा से ही प्रकट हुआ है, उसके बिना कहीं कुछ भी नहीं है। जिन चीज़ों में लोगों को प्रायः श्रेष्ठ बुद्धि होती है उनमें पहले मन एकाग्र कर लेना चाहिए। लेकिन अन्ततोगत्वा वासुदेव का सर्वात्मरूप समझने लायक है। जब तक मायाविशिष्ट चेतन की दृष्टि है तब तक ये सब परमेश्वर की विभूतियाँ हैं, परमेश्वर का ऐश्वर्य है। परन्तु जब पारमार्थिक दृष्टि से देखते हैं तब ये सब बाध करने के लिये हैं, इन सबका बाध करने से उस निर्विशेष का स्पष्ट बोध होता है। परमेश्वर की अनन्तता को माया के द्वारा प्रकट करने का साधनमात्र विभूतियाँ हैं, उस अनन्तता को समझने पर ये सब मिथ्या होने से नहीं हैं।। ३९।।

अर्जुन द्वारा पूछी गयी दिव्य विभूतियाँ अनंत हैं, यह कहते हुये प्रसंग का समापन करते हैं -

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। ४०।।

हे शत्रुतापन! मेरी दिव्य विभूतियों की समाप्ति नहीं है। विभूतियों के इस विस्तार-वर्णन में मैंने उनके एक हिस्से का ही कथन किया है।

अर्जुन ने विस्तार से विभूतियाँ बताने की प्रार्थना की थी। भगवान् ने थोड़ी-सी विभूतियाँ ही बताई हैं। इसलिये कहते हैं, अनन्तता को प्रकट करने के कारण मेरी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। उनका अंत नहीं हैं। कहीं-कहीं पुराणों में जहाँ भगवान् के अवतारों का वर्णन है वहाँ कहीं आठ अवतार कहे, कहीं दस कहे, कहीं चौबीस कहे,

कहीं एक सौ आठ कहे और अन्त में कह दिया कि अनन्त अवतार हैं अर्थात् परमेश्वर की विभूतियाँ अनन्त हैं। इसी बात को यहाँ कहा कि मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। कोई भी नहीं कह सकता है कि जो सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है उसकी कोई इयत्ता हो सकती है, कोई माप हो सकता है। अन्यथा परमेश्वर परिच्छिन्न हो जायेगा। उसका निर्विशेष भाव भी अपरिच्छिन्न है और माया भी अपरिच्छिन्न है, इसलिये माया-विशिष्ट चेतन भी अपरिच्छिन्न है, अनन्त ही है। इसलिये तुमने विस्तार से बताने को कहा पर मैंने एकदेश से बतला दिया है, थोड़ी-सी विभूतियाँ बतला दी हैं।।४०।।

यदि अनन्त हैं तो जहाँ-कहीं देखें उसको 'विभूति' जानने का तरीका क्या है? बताते हैं -

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ।। ४१।।

लोक में जो-जो ऐश्वर्य वाली वस्तु लक्ष्मीसमेत या उत्साहयुक्त हो, उस-उसको मेरे तेज के अंश से उत्पन्न जानो।

अपने अन्तःकरण में जो भी वृत्ति पूर्ण उत्साह के साथ आती है, वह परमेश्वर की विभूति है। और बाहर जहाँ-कहीं हमें किसी प्रकार का ऐश्वर्य देखने में आता है वह सब परमेश्वर की विभूति है। इसीलिये मन में पूर्ण उत्साह हो तो समझ लेना चाहिये कि परमेश्वर ही उस उत्साह के रूप में प्रकट हुआ है। जहाँ 'कर्म को कब करे?' इसके बारे में भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न विचार कहे हैं वहाँ

'उषः प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः।
अंगिरा मनउत्साहो ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः।।'

गर्ग महर्षि का कहना है कि उषा काल में, सूर्योदय के पहले, किसी भी कार्य को प्रारम्भ करना ठीक है। बृहस्पति का कहना है कि जिस कार्य के विषय में अच्छा शकुन होवे, सगुन होवे, वह कर लेना चाहिए। अंगिरा महर्षि कहते हैं कि जब मन में उत्साह हो उस समय कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिय। अन्त में कहा कि भगवान् कृष्ण तो कहते हैं कि शास्त्र ने जो कह दिया, वेद ने जो करने को कह दिया, उसको करने में किसी देश-काल का विचार करने की ज़रूरत नहीं है। शकुन अच्छा भी भगवान् ही लाते हैं। ब्रह्ममुहूर्त में सवेरे-सवेरे जो वृत्ति उठती है उसके अन्दर भगवान् की प्रेरणा होती है। उत्साह तो भगवान् की विभूति है ही। अपने अन्दर परमेश्वर की विभूति उत्साह को समझ लो और बाहर जहाँ श्रीमद् होवें वहाँ समझ लो। मुझ ईश्वर का जो तेज है उसके एकदेश से जो उत्पन्न है, वही वस्तु लोक में विभूति समझ ली जाती है। माया अनन्त है परन्तु जहाँ बाहर तुमको विशेष ऐश्वर्य देखने में आता है वह उस माया का एक हिस्सा है। इसी प्रकार से अंदर में जो प्रेरणा आती है वह भी माया के कार्य अन्तःकरण

के अंदर उसका ही एकदेश है, अनन्त उद्‌भवों में से एक उद्‌भव है - यही तात्पर्य 'अंश' कहने का है। तेज इसी दृष्टि से कहा कि वहाँ विशेष प्राकट्य प्रतीत होता है। है तो वह सर्वत्र एक जैसा, परन्तु हमारी दृष्टि से वह चीज़ विशेषता वाली प्रतीत होती है। परमेश्वर की दृष्टि से कहीं विशेष और सामान्य का भेद नहीं है। माया भी एक जैसी, चेतन भी एक जैसा, परन्तु हम लोगों की दृष्टि में ऐसी प्रतीति होती है क्योंकि हमारे संस्कारों के कारण हमको कोई चीज़ विशेष ऐश्वर्य वाली दीखती है, दूसरी चीज़ नहीं दीखती।।४१।।

सबको सुविधा से समझ आ जायें इसलिये अलग-अलग विभूतियाँ बताईं। अब जो बात सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि कर सकने वाले भक्त ही समझ सकते हैं वह बताकर अध्याय परिसमाप्त करते हैं -

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

अर्जुन! इस जाने गये बहुत से तुम्हें क्या (लाभ)? वह सब छोड़कर जानो कि एक अंश से इस सारे जगत् को पूरी तरह धारणकर मैं मौजूद हूँ।

'अथवा', अर्थात् पूर्वोक्त अनेक विभूतियों वाला पक्ष छोड़कर दूसरा पक्ष कह रहे हैं: सचमुच में यदि तुम जानना चाहते हो तो इस प्रकार से विशेष बहुत-सी विभूतियाँ जानने से तुम्हें क्या लाभ! इस प्रकार से गिनने पर तो विभूति-विस्तार तुम पूरी तरह से नहीं जान पाओगे। बहुत-सी चीज़ों को तुम परमेश्वर का विस्तार मानोगे ही नहीं। जगत् के अंदर देश व काल दोनों आने जाने वाले हैं। इसलिये इसको जगत् कहते हैं, 'गच्छति' चलता ही रहता है, बदलता ही रहता है। सृष्टि के आदि क्षण से लेकर प्रलय के अन्तिम क्षण तक, यह सारा संसार मेरे एक अंश में ही स्थित है। अर्थात् सृष्टि से प्रलय तक जो भी विभूतियाँ प्रकट हुई हैं, कण-कण और क्षण-क्षण में प्रकट होने पर भी, वह एक अंशमात्र है। हर सृष्टि में कुछ नवीनता होती है, कुछ पहले जैसा होगा। मैं इसमें कैसे स्थित हूँ? 'विष्टभ्य', इसको स्थिर रखते हुये। जगत् में हर चीज़ बदल रही है, लेकिन उन सारी बदलने वाली चीज़ों को मैं ही स्तम्भित करके रखता हूँ, अर्थात् उन सबके अंदर एक सत्त्व पिरोया हुआ है। सब चीज़ों के अंदर नहीं बदलने वाला जो स्वरूप है वह मैं हूँ। यह सारा परिवर्तन केवल एक छोटे-से हिस्से में होता है। इसीलिये पुरुष सूक्त के अंदर कहा है कि जितने अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, ये सारे के सारे मेरे एक पाद में, एक चौथाई में हैं! यहाँ गणित का चौथाई हिस्सा मत समझना! बहुत छोटे हिस्से में हैं, बस इतना तात्पर्य है। जो त्रिपादी है अर्थात् उससे बहुत बड़ा हिस्सा है, वह तो

नहीं बदलने वाले अमृत भाव के अंदर ही स्थित है। उसी को कुछ दार्शनिक मुक्तोपसृप्य ब्रह्म मानते हैं। मुक्त लोग परमेश्वर के किस भाव को प्राप्त करते हैं? उस अमृत भाव को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म का परिवर्तनशील भाव तो अविद्या के द्वारा ही है। विद्या के द्वारा त्रिपादी ही रहती है। अर्थात् विद्या के द्वारा कहीं कुछ परिवर्तन नहीं है। अविद्या से जो प्रतीति होती है वह भी उसके एक अंश में है।

इस प्रकार से विभूतियोग भगवान् ने यहाँ बतलाया। सारा प्रपंच ही उनका ध्येय रूप है। और उससे अतीत है उनका निरुपाधिक तत्त्व जो परिपूर्ण सच्चिदानंद एकरस वस्तु महावाक्य में आये 'तत्'-पद का लक्ष्यार्थ है।। ४२।।

।। दसवाँ अध्याय ।।

ॐ

ग्यारहवाँ अध्याय : विश्वरूपदर्शनयोग

विभूतियों को जब सुन लिया और भगवान् ने कह दिया कि 'सारा जगत् मेरे एक अंश मात्र में स्थित है', तब स्वभावतः अर्जुन की इच्छा देखने की हुई कि परमेश्वर का स्वरूप कैसा है, जिसके एक अंश में ये सब स्थित हैं? उसके दर्शन के लिये प्रार्थना करने की भूमिका बाँधते हुए कहता है -

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

मुझ पर करुणाकर उपकार करने के लिये जो आपने उत्तम रहस्यभूत अध्यात्म-नामक उपदेश-वचन कहा उससे मेरी यह अविवेक-बुद्धि दूर हुई।

अर्जुन स्वीकार रहा है कि भगवान् ने कृपाकर ही उसे यह रहस्यात्मक विषय समझाया है। स्वयं उसने कहा था (१०.१४) कि देव-दानव भी भगवान् का प्रभाव नहीं समझ पाते। भगवान् ने भी कहा था (१०.२) कि देवता और महर्षि भी भगवान् का प्रभाव पूरी तरह नहीं समझ सकते। उन्होंने बाताया था- 'मैं अनन्त हूँ इसलिये मेरी थोड़ी- बहुत विभूतियों का ज्ञान तो किसी को हो जाये पर पूरी विभूतियों का ज्ञान नहीं हो सकता'। फिर भी अर्जुन कहता है कि विभूतियों का वर्णन उपासना के लिये आपने किया तो यह मेरे ऊपर अनुग्रह है, कृपा है। 'अध्यात्मसञ्ज्ञितम्' अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेक को विषय करने वाला यह उपदेश था। भगवान् ने सबके अन्दर निर्विकार रूप से रहने वाला आत्मतत्त्व और अविद्या के द्वारा प्रतीत होने वाली अनन्त विभूतियाँ दोनों बताकर, आत्मा और अनात्मा के विवेक को स्पष्ट कर दिया। 'परमं गुह्यं' यह अत्यन्त गोपनीय विद्या है क्योंकि यह ऐसी चाबी है जिससे सारी सृष्टि का खेल ख़त्म हो जाता है! सृष्टि का खेल तभी तक है जब तक तुम आत्मा और अनात्मा को एक करके जानते हो। मोटी भाषा में कहें तो जब तक तुम मैं को एक वस्तु जानते हो। अहम् जो प्रतीति

है, उस के विषय को हम लोग एक समझते हैं कि यह एक चीज़ है। विभूति योग को बतलाने से स्पष्ट हो जाता है कि इस अहम् में दो तत्त्वों को प्रकट करने वाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं जो ये सारी विभूतियाँ है। मैं में ये दो हैं- एक, चेतन और दूसरा, अन्तःकरण। अन्तःकरण विभूतियों का विस्तार करने वाला है जबकि स्थिर रहने वाला केवल आत्मतत्त्व है। जब यह समझ में आ जाता है तब पता लग जाता है कि करने वाला, जानने वाला मैं नहीं, वरन् मैं हूँ इसलिये अन्तःकरण करता है, जानता है। मुझ में अधिष्ठित न होवे तो अन्तःकरण सर्वथा तत्त्व से रहित हो जाने के कारण कुछ भी नहीं कर सकता कुछ नहीं जान सकता। मुझ में अधिष्ठित होकर वह सब कुछ कर रहा है, सब कुछ जान रहा है। जब अन्तःकरण नहीं है तब मेरा स्वरूप कैसे सिद्ध होवे? इसके लिये अज्ञानियों को समझाने के लिये भगवान् ने एक बना दी सुषुप्ति की अवस्था। सुषुप्ति की अवस्था में निश्चय है कि मैं था। किसी को सन्देह नहीं है कि मैं मर गया था! परन्तु वहाँ कोई विभूति नहीं थी। अन्तःकरण नहीं होने से किसी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं था परन्तु चेतन था। सुषुप्ति की अवस्था से जगने पर यह सब निकलता है इसलिये बीज रूप में वहाँ सब कुछ था, जैसा भगवान् ने कहा था (१०.३६) कि मैं बीज हूँ। बीज क्या है? आत्मा के स्वरूप को न जानना। जब रस्सी साफ नहीं दीखती तब हमारा मन सैकड़ों कल्पनाएँ करता है- यहाँ साँप है, जलधारा है, हार है, भूछिद्र है, अनेक कल्पनाएँ करता है क्योंकि रस्सी दीखी नहीं, परन्तु जैसे ही बत्ती जली और रस्सी दीख गई वैसे ही कोई कल्पना नहीं रह जाती। वहाँ जो कई चीज़ें तुमको दीखती रहीं उसका कारण रस्सी का अज्ञान है। इसी प्रकार 'मैं' वस्तुतः क्या हूँ, यह पता नहीं होने से, उस मैं के बारे में सारी कल्पनाएँ होती हैं परन्तु जैसे ही 'मैं' का वास्तविक ज्ञान होता है, वैसे ही पता लग जाता है कि सब कल्पनाओं के अधिष्ठान रूप में तो केवल चेतन मात्र ही है। इस ज्ञान से बीज नष्ट हो जाता है। सुषुप्ति में इतना तो पता चल जाता है कि मैं चेतन हूँ, अहंकार के बिना भी हूँ। परन्तु उस विशेषतः अज्ञात चेतन से ही सारी अन्तःकरण की वृत्तियाँ, सारा संसार निकल कर आता है, यह ज्ञान नहीं है। जैसे ही यह ज्ञान होता है कि मैं चेतन ब्रह्म हूँ, वैसे ही संसार का बीज समाप्त हो जाता है, सारी कल्पनाएँ ख़त्म हो जाती हैं। यदि दीर्घ काल तक हमें कोई भ्रम रहा है तो अधिष्ठान के जानने के बाद भी थोड़ी देर तक संस्कार कायम रहता है इसलिये रस्सी दीख गई, फिर भी एक-दूसरे से कहते हैं 'देखो, यह सिर की तरह दीख रहा है, यह पूँछ की तरह दीख रहा है।' अर्थात् अभी सिर और पूँछ के थोड़े संस्कार बचे हुए हैं! इसी प्रकार जब तक प्रारब्ध है तब तक इस तत्त्व का निश्चय करने के बाद भी संस्कारों के कारण कुछ-कुछ प्रतीति होती है। परन्तु जैसे वहाँ सिर पूँछ कहते हुए भी जानते हो कि है नहीं, इसी प्रकार अन्तःकरण के अन्दर कर्तृत्व-भोक्तृत्व को देखने पर भी जानते हो कि ये नहीं हैं प्रतीतिमात्र है, संस्कारमात्र है। चूँकि इस

अध्यात्म ज्ञान से संसार का चक्र समाप्त हो जाता है इसलिये यह परम गोपनीय है, जो अधिकृत पुरुष होता है उसके सामने ही बताने योग्य है। कई बार आधुनिक लोग प्रश्न करते हैं कि फिर सबको बताने से क्या फायदा? यह ऐसा विषय है कि जो अधिकारी नहीं है, उसको सुनने से भी समझ में वस्तुतः कुछ आयेगा नहीं! उसको इस बारे में संशय ही उत्पन्न होते रहेंगे। इसलिये तुम छिपा कर रखो यह ज़रूरी नहीं है, यह तो स्वयं ही गुह्य है, स्वयं ही छिपा रहता है। भगवान् के मुख में ब्रह्माण्ड देखकर भी यशोदा को ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यह तो गुह्य है। उसको देखकर उसने कहा कि भगवान् को कोई भूत लग गया है, नोन मिर्च करो! ऐसा गुह्य है कि प्रकट करो तो भी सामने वाले को प्रकट होगा नहीं। जो विश्वरूप अर्जुन को दिखलाया है, वही विश्वरूप जब दूत बनकर गये थे तब दुर्योधन आदि को दिखलाया था। दुर्योधन को लगा कि 'अरे यह जादूगर है, जादू दिखलाता है।' इसलिये, सब को बतलाना नहीं चाहिये यह इस 'गुह्य' का अर्थ नहीं, *बताने पर* भी उनको बोध हो नहीं सकता, इसलिये स्वरूप से ही गुह्य है। 'परमं गुह्यं' इससे ज़्यादा और कोई गुह्य रहस्य नहीं है।

अर्जुन कहता है कि आपने जो उपदेश दिया, उससे मेरी अविवेक बुद्धि हट गई, आत्मा और अनात्मा को अलग करके न जानना मोह है, वह चला गया। यहाँ भी अर्जुन ने कहा है 'मोहोऽयं विगतो मम' और अन्त में भी कहेगा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' यहीं मोह नष्ट हो गया तो वहाँ क्या हुआ? यहाँ विगत और वहाँ नष्ट कहा। अन्तःकरण से भिन्न हूँ यह जानने से मोह विगत हो जाता है और अन्तःकरण का अधिष्ठान हूँ- यह जानने से मोह नष्ट हो जाता है। विवेक बुद्धि के द्वारा अनात्मा से आत्मा अलग है - यह तो पता चला परन्तु अनात्मा है ही नहीं, तीन काल में इसकी सत्ता नहीं है, ऐसा निश्चय नहीं होता इसलिये मोह नष्ट नहीं होता।।१।।

भगवान् के वचनों का ही वर्णन करता है -

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

कमल की पंखुड़ी-सी आँखों वाले भगवन्! भूतों के जन्म-नाश आपसे ही होते हैं तथा आपकी अक्षय महत्ता है यह आपसे विस्तारपूर्वक सुना।

भव अर्थात् सब चीज़ों का उद्भव, उत्पत्ति और अप्यय अर्थात् सब चीज़ों का लीन होना, समाप्त होना, अर्थात् सृष्टि और प्रलय। चराचर, जड चेतन जो भी भूत है उस सबके उत्पत्ति और लय भगवान् से ही हैं। 'श्रुतौ' अर्थात् 'मैंने ठीक तरह सुन लिये'। इसका मतलब है कि जो बात कही गई उसकी महिमा को समझ लिया। आप कैसे हैं? कमलपत्राक्ष! कमल के पत्ते की तरह आपकी आँखें हैं। कमल का पत्ता जल की बूंदों को अपने ऊपर लेते ही हटा देता है। चाहे जितना पानी पड़े कमल के पत्ते को जाकर

देखोगे, हाथ लगाओगे तो कहीं से गीला नहीं होगा। पानी उस पर पड़ा नहीं, ऐसी बात तो है नहीं, लेकिन पड़ने पर भी कोई असर नहीं हुआ। इसी प्रकार आत्मरूप आपके ऊपर ये सारी विभूतियाँ प्रतीत होने पर भी इनके द्वारा आप में कोई विशेष का आपादन नहीं होता। यह बात मैंने ठीक तरह से समझ ली और साथ में आपका वैभव भी समझा। आपका माहात्म्य कैसा है? 'अव्ययम्' अनादि अनन्त है, कभी समाप्त होने वाला नहीं है। कोई चीज़ सच्ची हो तो उसका आदि अन्त हो जाता है। पर झूठी बात का आदि-अन्त नहीं होता। जगत् मिथ्या है, इसलिये इसका आदि-अन्त हो ही नहीं सकता। इसी दृ ट से इस माहात्म्य को अव्यय कहा। अनादि काल से हम लोग इस सृष्टि-चक्र में चल रहे हैं। असंख्य जीवनों में अनन्त अनुभव कर लिये। पर अब भी अनुभव होता है तो सोचते हैं 'यह नयी बात है!' लगता है मोबाईल फोन कैसा नया निकला, ऐसा तो पहले था ही नहीं! इसलिये माहात्म्य अक्षय है।।२।।

भूमिका के बाद निवेदन करता है-

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

परमेश्वर! आप स्वयं को जैसा बता रहे हैं वैसे ही आप हैं। पुरुषोत्तम! मैं आपका ईश्वर-सम्बन्धी रूप देखना चाहता हूँ।

इस प्रकार अर्जुन अपनी श्रद्धा प्रकट कर रहा है- जैसा आपने कहा वैसा ही है, उसके अन्दर कुछ भी संदेह नहीं है। जो कही वह बात तो निश्चित है क्योंकि आप परमेश्वर हैं, जैसा आपने कहा वैसा ही आपका अव्यय माहात्म्य है। परन्तु आपका जो निरतिशय ज्ञान, निरतिशय ऐश्वर्य, निरतिशय बल, निरतिशय शक्ति, निरतिशय वीर्य, वाला रूप है वह देखना चाहता हूँ। गीता के शुरू में ही भाष्यकार ने कहा था कि ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, तेज आदि सबसे भगवान् हमेशा ही युक्त रहते हैं; कभी युक्त होते हैं और कभी नहीं होते ऐसा नहीं है, हमेशा युक्त रहते हैं। जब माँ का दूध पी रहे थे तब भी पूतना को समाप्त कर रहे थे। ऐसा नहीं है कि बाद में उनके अन्दर शक्ति आई। वह जो आपका ऐश्वर रूप है, ऐश्वर्य वाला रूप है उसको मैं देखने की इच्छा करता हूँ, मैं देखना चाहता हूँ। 'हे पुरुषोत्तम!' आगे पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् पुरुषोत्तम का वर्णन करेंगे। क्षर और अक्षर दोनों से जो अतीत है वह पुरुषोत्तम है। अर्जुन कहता है कि आप पुरुषोत्तम हैं, यह बात मेरी समझ में आई है, फिर भी मैं आपका ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य वाला जो स्वरूप है उसको देखना चाहता हूँ। पुरुषोत्तम सम्बोधन से बतलाया कि आपने अपना जो आत्म-रूप कहा, वह ठीक है ऐसा मैं जानता हूँ, परन्तु सारा सोपाधिक रूप सर्वथा मिथ्या है- अभी तक ऐसी मेरी निश्चित स्थिति नहीं हुई है। इसलिये ऐश्वर्य वाले रूप में मेरी अब भी आस्था बनी हुई है, कि रूप कैसा है। परमेश्वर

का अधिष्ठान रूप यदि समझ लिया जाता है तब तो ऐश्वर्य वाले रूप के प्रति मनुष्य की भावना हट जाती है। परन्तु जब तक अधिष्ठान रूप को नहीं समझा है तब तक ऐश्वर्य वाले रूप की महिमा मन में बनी ही रहती है।।३।।

प्रार्थना समाप्त करते हुए अर्जुन कहता है-

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

प्रभो! योगीश्वर! उसे मैं देख सकता हूँ ऐसा अगर आप समझते हैं तो (क्योंकि मैं उसे देखने का बहुत इच्छुक हूँ) इसलिये आप मुझे (अपना) अव्यय स्वरूप दिखलाइये।

मेरी देखने की इच्छा है अतः आप दिखा दीजिये- इतना ही नहीं कहता क्योंकि समझता है कि कठिन विषय है, इसलिये भगवान् के ऊपर छोड़ता है कि मैं देख सकता हूँ, ऐसा यदि आपको लगता है, ऐसा आप सोचते हैं तो दिखाने की कृपा करें। अगर मैं अयोग्य होऊँ तो नहीं दिखाइये। यह हर साधक को याद रखना चाहिये। भगवान् से माँगने में तो हम स्वतन्त्र हैं, जो चाहे सो माँग सकते हैं, पर भक्त माँगने के साथ कहता है 'यदि मेरे कर्मफल आदि का विचार करके आप इसको ठीक समझें तो ही करियेगा। मैंने कह दिया मैं क्या चाहता हूँ। पर मेरे लिये ठीक हो तभी आप दीजिये।' छोटा बच्चा अंगारे को पकड़ना चहता है, माँ रोकती है। माँ उस को अंगारा पकड़वा सकती है, ऐसा नहीं है कि नहीं पकड़वा सकती, परन्तु जानती है इसके लिये हानिप्रद है अतः नहीं पकड़ाती। बच्चा नहीं समझता, फिर भी माँ का रोकना उसकी भलाई के लिये है। इसी प्रकार मैं समझता हूँ अमुक चीज़ मेरे लिये अच्छी है। परन्तु यदि मेरे लिये अच्छी नहीं है ऐसा भगवान् समझकर हमें नहीं देते तो प्रसन्न होना चाहिये कि इससे मेरा कोई-न-कोई अवश्य नुकसान होता, इसलिये भगवान् ने नहीं दिया। यह फ़र्क है भक्त और सकाम कर्मी में। कर्मी में भी कामना है, परमेश्वर के भक्त में भी कामना है। लेकिन सकाम कर्मी ज़बरदस्ती, नफे-नुकसान का निर्णय भगवान् पर छोड़े बिना चाहता है। भक्त के अन्दर भी कामना है लेकिन निर्णय परमेश्वर पर छोड़ता है। सम्बोधन करता है 'प्रभो!' मालिक आप हैं। अर्जी देना हमारा काम है, आगे मर्ज़ी तुम्हारी है। जब हम किसी को अपना प्रभु समझते हैं, स्वामी, मालिक समझते हैं तब अपनी अपेक्षाएँ बताकर निर्णय उसी पर छोड़ते और उसके निर्णय को हृदय से स्वीकारते हैं। इसी प्रकार अर्जुन भगवान् को प्रभु मान रहा है। इसलिए 'हे योगेश्वर' आप योगों के ईश्वर हैं अर्थात् किसी भी चीज़ को घटित करना आपके हाथ में है। किसी भी चीज़ को घटाने में आप सामर्थ्य वाले हैं। इसलिये आप दिखा सकते हैं। लेकिन मेरी योग्यता देखें तभी दिखाइये।।४।।

अर्जुन द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् ने कहा -

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मेरे सैकड़ों, किंवा हज़ारों, अनेक प्रकार के, अनेक रंगों ओर आकारों वाले अप्राकृत रूपों को देख।

प्रार्थना सुनने के बाद भगवान् ने केवल कहा नहीं कि 'दिखा दूँगा', उसी समय उसको विश्वरूप दिखा दिया। उसने जो उन्हें योगेश्वर कहा था, उसको भगवान् ने सत्य करके दिखला दिया। इच्छामात्र से उन्होंने अपना यह रूप दिखा दिया जो सारी सृष्टि का कारण है, जिसमें यह स्थिति काल में दीखती है और अन्त में यह सब कुछ जिसमें लीन हो जाता है। इसलिये यह रूप भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों को अन्तभूर्त कर लेता है। योग-शक्ति अर्थात् जो घट न सके उसको घटा कर दिखा देना। यह जो परमेश्वर की शक्ति है वह तुरन्त उन्होंने प्रकट कर दी। अर्जुन ने कहा था 'दर्शय' इसलिये भगवान् ने भी कहा 'पश्य', देखो। न अर्जुन का तात्पर्य था कि केवल आँख से ही देखे और न भगवान् का अर्थ है केवल आँख से ही देखे। किन्तु उसके कहते ही उन्होंने कहा ' हे पार्थ! तेरे लिये क्या शक्य नहीं है! तू तो पृथा का पुत्र है, कुन्ती का पुत्र है, इसलिये तेरे लिये मैं कुछ भी कर सकता हूँ'। इस प्रकार अपने अतीव स्नेह को प्रकट करने के लिये अपना अत्यन्त नज़दीकी जो सम्बन्ध है, वह बतलाया पार्थ कहकर। 'मे' अर्थात् मेरे का मतलब है माया-विशिष्ट चेतन जो मैं हूँ उसके रूप। जैसा पहले भी कहा था, गीता शास्त्र में अहम् पद का अर्थ केवल एक वासुदेव शरीर नहीं है, इसीलिये वासुदेव को भी अपनी अनन्त विभूतियों में एक विभूति बतलाया था। जो सारे ही अवतारों का, सारे ही संसार का बीजरूप माया-विशिष्ट चेतन है उसके ये सैकड़ों और हज़ारों रूप हैं। 'शतशः अथ सहस्रशः' इसका मतलब है अनेक रूप। 'दिव्यानि', ये सभी अप्राकृत रूप हैं। प्राकृत रूप उसको कहते हैं जो किसी देश-काल से विशिष्ट होकर प्रतीत होता है। प्रकृति के कार्य प्रकृति के अनुरूप क्रम से प्रकट होते हैं, एक के बाद दूसरा। एक के बाद दूसरा न होना, यह अप्राकृत है। 'दिव्यानि' से कहा कि मेरी माया शक्ति से सीधे ही इनकी प्रतीति होती है। अनेक तो रंग हैं इन रूपों के और अनेक आकृतियाँ हैं। जिसके अन्दर अलग-अलग अवयव-संस्थान होवें, उसको आकृति कहते हैं। आकृति का मतलब अलग-अलग अवयवों के सहित रूप है।।५।।

सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाले इस रूप में क्या-क्या देखना है यह बताते हैं-

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

भरतकुल-भूषण! आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, अश्विनी कुमारों को, मरुद्गणों को तथा पहले न देखे बहुत आश्चर्यों को देखो।

बारह आदित्य हैं, अष्ट वसु हैं, और ग्यारह रुद्र हैं। ये इकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति को लेकर जो तैंतीस हैं वे सृष्टि चलाने वाले प्रधान देवता हैं। केवल प्रधान देवता ही नहीं, गौण देवता भी देखो। अश्विनी कुमार ये दो भाई हैं, हमेशा साथ रहते हैं, पहले इनको यज्ञ में भाग नहीं मिलता था, बाद में मिलने लगा। इसके द्वारा पता लगता है कि ये प्रधान नहीं, गौण हैं। 'मरुतः', उनन्चास मरुत् हैं। इसलिए ये हमेशा बहुवचन में कहे जाते हैं। इन्द्र ने पहले इनके सात टुकड़े किये और फिर हर टुकड़े के सात टुकड़े कर दिये, इस प्रकार सात के सात टुकड़े हुये तो उनन्चास हो गये। इन्द्र को भय था इनसे, इसलिये उसने ऐसा किया। बाद में कश्यप महर्षि ने इन्द्र और मरुतों की दोस्ती करा दी। अर्थात् देवताओं का राजा इन्द्र है, उसके अनुसार ही मरुत् उससे मित्रता करके रहने लगे। ये भी अश्विनी कुमारों की तरह गौण देवता हैं। कुछ का नाम लेकर कह दिया कि सारे देवताओं को देख लो। इतना ही नहीं, अदृष्टपूर्व, जो पहले कहीं नहीं देखे गये हैं उन्हें भी देख लो। आदित्य, वसु, रुद्र देवता तो यज्ञादि के अन्दर दीख सकते हैं। बड़े-बड़े यज्ञ अर्जुन ने किये ही थे। परन्तु जिनको पहले नहीं जाना है, उनको भी देख लो, 'आश्चर्याणि' जो सर्वथा अद्भुत हैं, कल्पनातीत होने से आश्चर्य हैं, ऐसे पदार्थ भी देख लो। 'अदृष्टपूर्वाणि' से विशेष करके मनुष्य लोक में दीखने वाले आश्चर्यों का कथन है। मनुष्य लोक की चीज़ें ही दृष्ट होना संभव हैं। उन्हें शास्त्रों के द्वारा तुमने देखा है पर आँखों से नहीं देखा। इसके द्वारा भगवान् ने संकेत कर दिया कि देवताओं अथवा दूसरे अनेक प्रकार के आश्चर्यों को तुम स्वप्न में भी देखते हो। परन्तु यह स्वप्न की तरह नहीं है। ये मेरे मालिक रूप से प्रकट होने वाले हैं, स्वप्न की तरह नहीं हैं। स्वप्न में जो चीज़ें दीखती हैं, उनका कारण संस्कार होते हैं, और संस्कार तो पहले जिस चीज़ को देखा है उसी का पड़ेगा। अदृष्टपूर्व जो होगा वह संस्कार से जन्य नहीं होगा। स्वप्न या दिवा स्वप्न में जो देखते हो वे दृष्टपूर्व चीज़ें हैं, जो पहले देखी हुई हैं। अवयवों में तो हेर-फेर कर लेते हो; किसी की तुमको सुन्दर नाक दीखी है, किसी दूसरे के होंठ दीखे हैं, किसी तीसरे का कान दीखा है, संस्कारों को मिला कर लगता है नया चेहरा देख रहे हैं; परन्तु जब उस चेहरे का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तब पता लग जाता है कि नाक वहाँ का, होंठ वहाँ के। अदृष्टपूर्व वह होगा जिसके जैसी कोई चीज़ पहले देखी ही नहीं है, इसलिये उसके संस्कार हैं ही नहीं। अदृष्टपूर्व कह कर स्पष्ट कर दिया कि यह स्वप्न या संस्कार-जन्य दर्शन नहीं है। जो मैं दिखा रहा हूँ वह माया से ही दृश्य बन रहा है।।६।।

और भी कहते हैं -

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

गुडाकेश! आज मेरे इस शरीर में एक ही जगह विद्यमान चर-अचर सहित सारा जगत् तथा और भी जो देखना चाहता है, देख ले।

'इह' अर्थात् यहीं पर 'एकस्थम्' एक जो यह मायिक रूप मैं दिखला रहा हूँ, उस एक रूप में ही सारे जगत् को देख ले। कैसा जगत्? 'सचराचरम्', जड-चेतन सारा जगत्। 'अद्य पश्य', बस अभी ही देख ले अर्थात् भूत भविष्य वर्त्तमान सारा तुम्हें अभी ही दीख जायेगा। 'इह' को ही स्पष्ट करते हैं 'मम देहे'। मैं जो शरीर प्रकट कर रहा हूँ उसी में। मायाविशिष्ट परमेश्वर का देह मायिक ही होगा। और भी तू जो भी देखना चाहता है, भूत भविष्य वर्त्तमान इस जगत् के अन्दर, वह सब देख सकता है। माया के द्वारा सब चीज़ें एक-साथ दीख जाती हैं। पहले अर्जुन कह चुका है 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' 'पता नहीं जीतेंगे कि नहीं जीतेंगे! भीष्म इच्छामृत्यु वाले सामने खड़े हैं। इसी प्रकार द्रोण खड़े हैं। इनको मैं मार सकूँ, न मार सकूँ, यह सन्देह की बात है।' तू यदि देखना चाहता है कि वे मरेंगे या नहीं, तो अभी ही देख ले। अभी जो होगा वह कालातीत अनुभव है। तेरे मन में जो भी शंका है उस सबका समाधान इसमें देख ले।।७।।

इतना कह कर भगवान् ने देखा कि अुर्जन तो आँखें फाड़ कर देखना चाहता है! देखने के लिये जो अन्तःकरण की विशेष वृत्ति चाहिये, वह उसके पास नहीं है। इसलिये भगवान् ने अपनी तरफ से ही कहा-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

किन्तु अपनी इसी आँख से मुझे नहीं देख सकता। तुझे अप्राकृत चक्षु देता हूँ (उससे) मेरी योगशक्ति का अतिशय देख।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड वाला मेरा शरीर तू अपनी इसी आँख से, किसी भी इन्द्रिय से विषय नहीं कर सकता। इन्द्रिय वर्त्तमान को देख सकती है, भूत और भविष्य को नहीं देख सकती, यह इन्द्रिय की सीमा है। मन भूत और भविष्य को देख सकता है। पुरानी बातों को हम लोग याद करते हैं परन्तु आँख के द्वारा तो उन चीज़ों को नहीं देख सकते जो पहले देखी थीं। इसी तरह से भविष्य के बारे में भी मन कल्पना करता है परन्तु आँखों से तो उसको नहीं देख सकते। इसलिये भगवान् ने कहा कि मेरा वह रूप अप्राकृत है और तेरी आँखें प्राकृत हैं। अप्राकृत का दर्शन प्राकृत आँख नहीं कर सकती।'स्व-चक्षुषा' अर्थात् तू जिसे अपनी आँख समझता है, उससे नहीं देख सकता। इसलिये 'ते दिव्यं चक्षुः ददामि'। जिस अप्राकृत चक्षु से इसे देखा जा सकता है वह

अन्तःकरण है। मन जानी हुई चीज़ों को भूत-सम्बन्ध से जान सकता है परन्तु 'वह अभी मौज़ूद है' इस तरह से तो नहीं देख सकता। अतः जहाँ भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों एक जगह उपस्थित होवें, उसे देखने के लिये सामान्य अन्तःकरण की सामर्थ्य नहीं है। उसके अन्दर भी दिव्यता अर्थात् अप्राकृतता की शक्ति-विशेष चाहिये। इन शक्ति-विशेषों का वर्णन पतंजलि ने बड़े विस्तार से अपने योग-दर्शन में किया है। साधन-विशेष के द्वारा तुम भूत-भविष्य-वर्त्तमान को देख सकते हो, दूर देश की चीज़ों को देख सकते हो। यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो सामर्थ्य उन साधनों से आती है, वह अपनी कृपा से मैं तुझे दे रहा हूँ। अर्थात् दिव्य-चक्षु किसी साधना से नहीं, मेरी कृपा से मैं दे रहा हूँ। साधन के द्वारा जो शक्ति प्राप्त की जाती है वह तुम्हारे साथ रहती है और यहाँ भगवान् जितनी देर के लिये देंगे उतनी देर रहेगी, हमेशा नहीं रहेगी। यह साधन से और इस तरह मिलने में फ़र्क रहेगा। चक्षु शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि आँख से दीखता है तो चीज़ हम लोगों को प्रत्यक्ष लगती है। हमने जिस चीज़ को आँख से देखा, उस को हम प्रत्यक्ष ही समझते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की दिव्य शक्ति से जो तुम्हें दीखेगा, वह प्रत्यक्ष की तरह दीखेगा। दिव्य चक्षु है अन्तःकरण की सामर्थ्य परन्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीति कराती है इसलिये उसको चक्षु कह दिया।

'ऐश्वरं योगं पश्य' मुझ ईश्वर की अतिशय शक्ति देख। सृष्टि स्थित लय करने वाली जो मेरी अतिशय शक्ति है, सारे ब्रह्माण्ड को प्रकट करने वाली जो मेरी अतिशय शक्ति है, उस अतिशय शक्ति को देख। उस अतिशय शक्ति के अन्दर यह भी है कि तूने कोई साधन नहीं किया फिर भी तुझे मैं दिखा रहा हूँ। यह परमेश्वर की अतिशय शक्ति है। कर्मफल परमात्मा देते हैं वह तो निश्चित है, लेकिन कर्मफल *ही* परमात्मा देते हैं ऐसा नहीं है। कर्मफल तो अवश्य देते हैं परन्तु कर्मफल से अतिरिक्त भी अपनी सामर्थ्य से दे सकते हैं और देते हैं। लोक में भी तुमने जितना काम किया, उसका जितना मेहनताना बना, वह कोई भी अच्छा मालिक तुम्हें देगा ही। परन्तु उतना ही देवे, ऐसा नियम नहीं है। तुमको किसी कष्ट में देखता है, तुम्हारे पास दवाई की सामर्थ्य नहीं है तो मालिक कहता है 'ये दस हज़ार रुपये ले जाओ, इलाज के काम में ले लेना'। दस हज़ार रुपये तुम्हारी कमाई वाले नहीं हैं। इसी प्रकार परमेश्वर कर्मफल तो अवश्य देता है, परन्तु उससे अतिरिक्त, यदि तुम अत्यन्त कष्ट में हो तो कष्ट मिटा देता है, यदि तुमको किसी अर्थ की अत्यन्त अभिलाषा है तो उसको भी पूरा करता है। अतः भगवान् ने कहा- मेरी जो यह अतिशय शक्ति है, योग है, उससे तू देख ले।।८।।

गीता शास्त्र के अन्दर सम्बन्ध वाक्य संजय के कहे हुये हैं। प्रायः वाक्य भगवान् के हैं, कुछ वाक्य अर्जुन के हैं और केवल कथा को जोड़ने के लिये जो वाक्य हैं वे संजय के हैं। गीता कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है, महाभारत के अन्दर आये हुये अध्याय हैं इसलिये सम्बन्ध जोड़ा जाना स्वाभाविक है। प्रारम्भ ही संजय के वचन से हुआ,

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' यह संजय का वाक्य था। अन्त में भी आयेगा संजय का वाक्य। संजय ने भीष्म के मरने के बाद सारी कथा धृतराष्ट्र को सुनाई है। यहाँ भी छह श्लोकों में संजय उस विराट् रूप का और उसे देखते हुए अर्जुन की हालत का वर्णन कर रहा है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

संजय ने कहा- हे राजा धृतराष्ट्र! यों कहकर महान् योगीश्वर श्रीहरि ने ईश्वर का परम रूप पार्थ को दिखलाया।

'महायोगेश्वरो हरिः'। योग से शक्ति-विशेष आती है पर वे शक्तियाँ सीमित हैं। परमेश्वर का ध्यान इत्यादि करके शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जिसका ध्यान करके शक्तियाँ मिलती हैं, उसके अन्दर तो उससे बहुत ज़्यादा शक्ति होती ही है। दूसरे लोग योगेश्वर हो भी जाएँ लेकिन परमेश्वर हमेशा महायोगेश्वर कहे जाएँगे। 'हरिः' द्वारा संजय फिर इस बात को प्रकट कर रहा है कि जो रूप दिखलाया वह सृष्टि के आदिकर्ता साक्षात् नारायण ने पार्थ को दिखलाया है। यद्यपि वहाँ सारी फौजें खड़ी थीं, उनमें से किसी को दीखा हो, ऐसा नहीं है। अर्जुन को ही दीखा, क्योंकि भगवान् ने उसी को दिव्य चक्षु दिए थे। व्यास जी ने संजय को ऐसी दृष्टि दी थी जिससे महाभारत के बीच में जो कुछ भी होगा वह सब उसको ज्ञात होगा। नारायण का ही दूसरा रूप थे वेद-व्यास, उन्होंने संजय को जो शक्ति दी थी युद्धस्थल की घटनाएँ देखने को, उससे उसने देखा क्योंकि यह दर्शन भी युद्धस्थल पर ही भगवान् ने अर्जुन को कराया था। 'ऐश्वरम् परमं रूपम्'। ईश्वर का जो परम रूप है। अनेक अवतार आदि हैं पर वे सारे अपर रूप हैं अर्थात् माया-विशिष्ट चेतन जब उनको प्रकट करता है तब वे रूप हैं, जब तक प्रकट नहीं करे तब तक नहीं हैं। परन्तु सारे रूप बीजरूप से माया में तो विद्यमान ही हैं। इसलिये यहाँ जो दिखाया वह मायाविशिष्ट चेतन का परम रूप है।।९।।

उस रूप का संजय वर्णन करता है-

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

वह रूप अनेक मुखों और आँखों वाला था, उसमें अनेक विस्मयकारी दर्शन हो रहे थे, वह अनेक अलौकिक गहनों से सजा था तथा दिव्य व अनके चलने को तैयार हथियार उसमें थे। (ऐसा रूप भगवान् ने दिखाया।)

उसमें अनगिनत मुख थे और अनगिनत आँखें थीं। 'वक्त्र' कह कर बताया कि उसमें से प्रकट होना और उसमें लीन होना संभव था। मुख से तुम प्रकट भी करते होः सिर में दर्द है, इसको तुम मुख से प्रकट करते हो; और भोजन को तुम मुख में लीन कर लेते हो, खा लेते हो। अनेक जगह से अनन्त रूप निकल रहे थे और लीन हो रहे थे। आगे अर्जुन इस बात को और स्पष्ट करके कहेगा। 'नयन' के द्वारा उन सभी रूपों के अन्दर जो चेतनता है, उसको बतलाते हैं; अर्थात् भगवान्, खा रहे थे और देख रहे थे। खाना तो क्रियारूप होने से ज़बरदस्ती भी किया जा सकता है। मरे रोगी के मुँह में नली से भोजन ठूस सकते हैं। पर आँख से देखना, केवल चेतन ही कर सकता है। इसलिये वक्त्र और नयन दोनों के द्वारा स्फुट कर दिया कि वह चेतन रूप था। 'अनेकाद्भुतदर्शनम्'। अद्भुत अर्थात् जो तुमको स्तम्भित कर देवे। विस्मय होता है तो आदमी स्तम्भित हो जाता है। कोई ऐसी चीज़ हो जो पहले कभी भी देखी न हो तो उसे अचानक देखकर स्तम्भित हो जाते हो कि 'यह क्या है!' क्षणभर को मन निश्चल रह जाता है, बाद में विचार होने लगता है कि क्या हो सकता है। ऐसा एक अद्भुत दर्शन नहीं है, अनेक अद्भुत विस्मय करने वाली चीज़ें एक-साथ हैं। 'अनेकदिव्याभरणं' इन मूर्तियों के अन्दर अलग-अलग तरह के गहने भी विद्यमान हैं। ये सारे आभरण दिव्य हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि सोने हीरे-पन्ने के आभरण हैं, आभरण भी मायिक हैं, अप्राकृत हैं। दिव्य आयुध भी हैं। 'उद्यतायुधम्' बस, छोड़े जाने के लिये तैयार असंख्य आयुध हैं। अर्जुन विशेष करके युद्ध के विषय में जिज्ञासु था इसलिये आयुधों का हिस्सा उसको देखने में ज़्यादा आया। आयुध भी अप्राकृत हैं। उस सारे रूप की अलौकिकता समझाने के लिये बार-बार दिव्य शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।।१०।।

उसी रूप का और वर्णन सुनाता है-

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। ११।।

वह रूप दिव्य पुष्प और वस्त्र धारण किये था, उस पर दिव्य सुगंध-युक्त लेप लगे थे, प्रायः उसमें सभी कुछ चकित करने वाला था, हर ओर मुखों वाला वह अन्तहीन तथा देदीप्यमान रूप (भगवान् ने अर्जुन को दिखाया)।

पुष्प, मालाएँ, वस्त्र, चन्दन, अंगराग आदि जो कुछ भी उस रूप में दीख रहा था सब आश्चर्य उत्पन्न करने वाला और दिव्य ही था। आकार में भी वह अनन्त था, जहाँ तक नज़र जाये वहाँ तक वह रूप ही दीखता था। उसकी समाप्ति की प्रतीति ही नहीं हो रही थी। 'विश्वतोमुखम्' सब जगह उसके मुख थे अर्थात् सारे प्राणी उसके साथ एक हुए थे। ऐसा रूप भगवान् ने दिखाया, अर्जुन ने देखा।। ११।।

धृतराष्ट्र को उस रूप की तेजस्विता समझाते हुये संजय कहता है-

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।। १२।।

आकाशमें अगर हज़ारों सूर्यों की प्रभा एक-साथ फैल जाये तो भी उस विश्वरूप के तेज के समान शायद ही हो!

हज़ारों सूर्य एक-साथ उग जायें तो जैसा प्रकाश होगा उससे अधिक प्रकाश उस दिव्य महान् विश्वरूप का था। यद्यपि 'यदि उत्थिता, सदृशी स्यात्' कहने से लगता है कि अगर हज़ारों सूर्यों की प्रभा एकत्र हो जाये तो विश्वरूप की प्रभा के समान हो जायेगी तथापि भाष्यकार ने समझाया है कि तात्पर्य है कि विश्वरूप की प्रभा उससे भी अधिक ही थी। उसकी तुलना कुछ कर सकें तो हज़ारों सूर्यों से कर सकते हैं पर वस्तुतः तो उससे भी ज़्यादा तेजवान् रूप था। हज़ारों सूर्यों का एक-साथ उगना असंभव है, पर उसे मान भी लें तो भी उपमान नहीं बन पायेगा यह 'यदि'- शब्द से सूचित है।।१२।।

अर्जुन ने और क्या देखा यह बताता है-

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। १३।।

अर्जुन ने देवताओं में देवत्व के कारणभूत भगवान् के उस एक विश्वरूप शरीर में स्थित बहुत-से भेदों में बँटे सारे संसार को तब देखा।

जैसा भगवान् ने कहा था 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं', वैसा अुर्जन ने देखा। जैसा भगवान् ने कहा था वैसा ही सारा जगत् वहाँ था। देवता, पितर, यक्ष, मनुष्य सब पृथक्-पृथक् दीख रहे थे। रूप एक होने पर भी सब चीज़ें अलग-अलग थीं, अर्थात् माया की एक ही वृत्ति नहीं थी, माया की अनन्त वृत्तियाँ थीं। हरि के शरीर में सब चीज़ों को, सारे जगत् को पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देखा।।१३।।

देखकर अर्जुन की क्या स्थिति हुई यह बताता है-

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। १४।।

वह रूप देखने से धनंजय में मानों विस्मय का आवेश हो गया! उसके रौंगटे खड़े हो गये। सिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम कर हाथ जोड़े हुये वह बोला-।

'ततः' दिव्य चक्षु द्वारा इस प्रकार से देखने से, वह भयंकर आश्चर्य से आविष्ट हो गया। उसे ऐसा लगा कि बस, आश्चर्य ही आश्चर्य रह गया है, और कुछ नहीं रह गया। जैसे जब मनुष्य भूताविष्ट होता है तब उस भूत के द्वारा जो देखा जाता है वही दीखता है, उसी प्रकार दिव्य चक्षु से जो देखा जा रहा था, वही अर्जुन को दीख रहा

था, उससे अतिरिक्त इधर-उधर कुछ नहीं दीख रहा था। इन्द्रियाँ इत्यादि सब स्तब्ध हो गई थीं, विश्वरूप से अन्य किसी चीज़ का भान नहीं हो रहा था। इसलिये उसके रोएँ खड़े हो गये थे। जब मनुष्य को ज़बरदस्त आश्चर्य होता है तब बाल खड़े हो जाते हैं। 'धनञ्जय' कहने का अभिप्राय यह बताना है कि अर्जुन अत्यन्त बलशाली था, फिर भी अपने सारे बल को भूल कर स्तब्ध रह गया था। उसने उस हरि के रूप को सिर नीचा करके पहले नमस्कार किया, और फिर 'कृताञ्जलिः' नमस्कार के लिये जो उसने अंजली बाँधी थी, उसको वैसी ही रख कर, हाथ जोड़े हुये ही अपने अनुभवका वर्णन करने लगा।

यहाँ तक संजय का वाक्य था। अब आगे अर्जुन अपने अनुभव को प्रकट करेगा। अभी जो अनुभव कहा था, वह तो संजय का था, अब अर्जुन अपने अनुभव को बोलेगा।। १४।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। १५।।

अर्जुन ने कहा- हे देव! आपके शरीर में सारे देवता देख रहा हूँ, स्थावर-जंगम अनेक शरीरों वाले प्राणियों के समूह देख रहा हूँ, कमलरूप आसन पर स्थित प्रजापति ब्रह्मा को देख रहा हूँ, सारे दिव्य ऋषियों को व सर्पों को देख रहा हूँ।

देव अर्थात् प्रकाशरूप। संसार की वस्तुएँ प्रकाश के माध्यम से दीखती हैं। परन्तु जो स्वप्रकाश चीज़ है उसे देखने के लिये इन्द्रियादि की ज़रूरत नहीं पड़ती, जैसे सुख-दुःख को देखने अर्थात् अनुभव करने के लिये किसी भी इन्द्रिय की ज़रूरत नहीं है क्योंकि सुख-दुःख अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं अतः खुद अपने प्रकाश से प्रकाशित हैं, उन्हें अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार से अर्जुन कहता है- आप देव हैं इसलिये आपका देह भी किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, स्वप्रकाशरूप है, अन्तःकरण की वृत्ति की तरह। यह अप्राकृत दर्शन है; जैसे सुख-दुःख का हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है परन्तु किसी इन्द्रिय से नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर के मायिक रूप का दर्शन अन्तःकरणमात्र से हो जाता है, अंतःकरण उन वृत्तियों को बनावे इतना ही ज़रूरी है, स्वप्रकाश होने से उसे देखने के लिये किसी अन्य इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा नहीं है। 'भूतविशेषसङ्घान्'; भूतविशेष, शेर, बघेरे, गायें, भैंसें, सारे भूतविशेष हैं। भूतसामन्य अर्थात् जाति रूप से नहीं देख रहा हूँ, तत्-तत् भूतों के आकारों को देख रहा हूँ। चाहे हिलने-डुलने वाले भूतविशेष शेर आदि हैं, या नहीं हिलने-डुलने वाले पेड़ इत्यादि हैं, दोनों को ही मैं देख रहा हूँ। वे सारे भिन्न-भिन्न अवयवों के संस्थान रूप से दीख रहे

हैं। 'सङ्घान्' समूहों में दीख रहे हैं। एक गाय दीख गई, एक भैंस दीख गई, ऐसा नहीं है, गायों का भी बड़ा समूह, भैंसों का भी बड़ा समूह, पेड़ों का भी बड़ा समूह। नैयायिक कहते हैं कि हम लोग भी गाय की जाति को जान लेने से जाति रूप से सब गायों को जान लेते हैं! किन्तु अर्जुन को वैसा यहाँ दर्शन नहीं है, सब अलग-अलग गायें, अलग-अलग भैंसें दीख रही हैं। 'ईशं कमलासनस्थं ब्रह्माणम्' ईश अर्थात् सबका शासन करने वाले, प्रजाओं के ऊपर जिनका हमेशा शासन रहता है वे कमलासन पर बैठे हुये ब्रह्मा जी। पृथ्वी कमल की तरह है। आजकल पढ़ाते हैं कि वह नारंगी की तरह होती है। हमारे ग्रंथकार उसको कमल की उपमा देते थे कि वह कमल की तरह है। पृथ्वीरूपी कमल में जो मेरु पर्वत है, वही ब्रह्माजी का आसन है। कमल के बीच में देखोगे तो जहाँ से सब पंखुड़ियाँ निकलती हैं उसी कर्णिका के ऊपर ब्रह्मा जी बैठे हुये हैं। इसके द्वारा बतलाया कि अत्यन्त दूर की चीज़ें भी दीख रही हैं क्योंकि मेरु पर्वत भारतवर्ष में रहने वालों के लिये अतिदूर पदार्थ है। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि भी दीख रहे हैं। और जितने पेट से चलने वाले दिव्य प्राणी हैं, जैसे नाग, सर्प जिन्हें हिन्दी में रेंगने वाला कहते हैं- वे भी दीख रहे हैं।।१५।।

और क्या दीख रहा है यह बताता है -

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

संसार-शासक! समस्त रूप धारण करने वाले! आपको अनेक भुजाओं-पेटों-मुखों-नेत्रों वाला तथा सर्वत्र अनंत रूपों वाला देख रहा हूँ। आपका न अंत, न बीच और न शुरू ही देख पा रहा हूँ।

अनेक प्राणी हैं तो उनकी अनेक भुजाएँ हैं; उदर का अर्थ पेट होता है, यहाँ पर धड़ समझ लेना चाहिये। वक्त्र अर्थात् मुख और नेत्र अर्थात् जिससे देखते हैं। अर्जुन कह रहा है कि आपके अनेक भुजाएँ हैं, अनेक धड़ हैं, अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं। ये अनेक केवल सामने ही नहीं हैं, 'सर्वतः त्वा पश्यामि'; 'सर्वतः' मायने सर्वत्र, केवल सामने नहीं, चारों तरफ जिधर भी देखता हूँ आपका वह रूप ही दीख रहा है। 'अनन्तरूपम्' कितनी तरह के स्थावर-जंगम प्राणी दीख रहे हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है, गिनना ही सम्भव नहीं है। चारों तरफ दीख रहा है इसलिये उस रूपका अन्त नहीं है। जैसे गोल चक्र का आदि-अन्त नहीं कहा जा सकता वैसे यह रूप चारों ओर दीखने से इसका आदि-अन्त नहीं, अत एव बीच भी नहीं है। 'यहाँ से शुरू हुआ, यहाँ ख़त्म हुआ, यह इसका बीच है', ऐसा कुछ नहीं प्रतीत हो रहा है। पंक्ति के दो किनारों की अपेक्षा से मध्य कहा जाता है। जो चारों तरफ चक्राकार होगा, उसका मध्य होना भी सम्भव नहीं। 'हे विश्वेश्वर!' आप इस विश्व के एकमात्र शासन करने वाले हैं और

'विश्वरूप!' इस समय आप सारे संसार के रूप में दीख रहे हैं। विश्वेश्वर के द्वारा कहा कि इन सब शरीरों में एक साथ ही आप अधिष्ठित हैं। सब शरीरों में आप हैं, इनको चलाने वाले निमित्त कारण आप हैं और इन सब रूपों में बनने वाले भी आप ही हैं। विश्वेश्वर से उनकी निमित्त-कारणता को स्पष्ट कर दिया और विश्वरूप से उनकी उपादान-कारणता को स्पष्ट कर दिया। अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप से आपकी प्रतीति हो रही है।१६।।

प्रकारान्तरसे भगवद्रूपका वर्णन करता है-

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

सब तरफ धधकती आग और चिलचिलाते सूर्य की चमक जैसी चमक वाले (अत एव) जिन्हें साफ-साफ देखना भी मुश्किल है ऐसे, प्रमाणों के अविषय आपको मुकुट गदा व चक्र धारण किये हुए हर ओर दीप्ति वाले तेज के पुंज के रूप में देख रहा हूँ।

आपके सिर के ऊपर किरीट दीख रहा है। सिर के ऊपर का आभरणविशेष किरीट होता है। मुकुट सारे सिर को घेरे होता है और किरीट केवल भाल के हिस्से के ऊपर ही होता है। मुकुट नहीं कहकर किरीट इसलिये कहा कि अगर पीछे के हिस्से को देखूँ तब मुकुट है या नहीं पता लगे, लेकिन मैं बीच में हूँ और चारों तरफ आप हैं, आपकी पीठ तो मुझे दीख नहीं रही है इसलिये लगता है कि किरीट ही पहने हुये हैं। 'गदिनं' आपके अनेक हाथों में गदाएँ हैं, 'चक्रिणं च', अनेक हाथों में आप चक्र भी धारण किये हुये हैं। 'तेजोराशिं' आप मानो प्रकाश की राशि हैं अर्थात् प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र प्रतीत हो रहा है। जितने रूप दीख रहे हैं सब प्रकाश के ही पुंज दीख रहे हैं। सूर्य का प्रकाश किसी चीज़ पर पड़ता है तो उधर पदार्थ प्रकाशरूप दीखता है, दूसरी तरफ जाकर देखो तो छायारूप दीखता है। परन्तु यह ऐसा नहीं है, 'सर्वतो दीप्तिमन्तम्'। जिस प्रकार दीपक का कहीं भी छायामय रूप नहीं दीखता क्योंकि वह स्वप्रकाश है, सूर्य की भी कभी छाया नहीं पड़ सकती क्योंकि सब तरफ से प्रकाशरूप है; उसी प्रकार आप भी सब तरफ से प्रकाशरूप ही हैं। और 'दुर्निरीक्ष्यम्।' प्रकाश के ऊपर आदमी ज़्यादा देर तक आँखें केन्द्रित रख नहीं सकता। आँख चौन्धियाने लगती है। जेठ के महीने में तुम सूर्य को देखना चाहो तो दो-चार मिनट देखने के बाद सिर घूमने लगता है, सिर में दर्द हो जाता है। यहाँ तो चारों तरफ सूर्य ही सूर्य होवें ऐसा सर्वत्र प्रकाश है इसलिये देखना अत्यन्त कठिन है। (किन्ही आचार्यों ने 'दुर्निरीक्षं' ऐसा यकार के बिना भी पाठ है यह बताया है।) सब तरफ से आप अत्यन्त तेज प्रकाश वाले हैं। अनल अर्थात् अग्नि और अर्क अर्थात् सूर्य। जंगल जलता है तब वहाँ जो दीप्त अनल दीखता है उसको देखना कठिन होता है। पर कैसा भी जंगल जल रहा होवे, धीरे-धीरे क्षीण होता है

क्योंकि जिन लकड़ियों में आग लगी है, वे जितनी-जितनी कम होती जाती हैं उतनी आग की दीप्ति भी कम होती जाती है। परन्तु सूर्य की दीप्ति एक जैसी बनी रहती है इसलिये अर्क भी कहा। दुर्निरीक्ष्य होने से ही वह रूप अप्रमेय है। प्रमा कहते हैं यथार्थ ज्ञान को; जो चीज़ जैसी है ठीक वैसी दीख जाये, तब प्रमा कहेंगे। आँखें टिका कर देखो तब तो तुमको प्रमा हो कि चीज़ कैसी है। लेकिन आँखें टिका कर देख ही नहीं पाओ तो प्रमा कैसे होगी! अतः प्रमा के द्वारा उस रूप का परिच्छेद नहीं किया जा सकता अर्थात् 'मैंने ठीक-ठीक देख लिया' ऐसा नहीं कह सकते।।१७।।

आगे अर्जुन कहता है कि इस प्रकार आपने क्षणमात्र में अपने को दिखला दिया इसलिये मुझे अनुमान होता है कि-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। १८।।

मेरा मानना है कि आप कभी क्षीण न होने वाले ज्ञेय ब्रह्म हैं, आप ही इस संसार के उत्तम आश्रय हैं, आप में कभी कमी नहीं आती, सनातनधर्म के रक्षक आप स्वयं भी नित्य व चित्स्वरूप हैं।

अर्जुन कहता है कि आपके अन्दर योग ऐश्वर्य देख कर निश्चय होता है कि 'त्वम् परमं अक्षरम्'। आपका कभी भी क्षरण नहीं होता, हमेशा एक-जैसे रहते हैं, कहीं किसी प्रकार की कमी आप में नहीं मिलती। लोक में कार्य बनने पर कारण में कमी आ जाती है, जैसे पाँच सेर आटा रखा है, दो सेर आटे के फुलके बन गये तो तीन सेर ही आटा बचा। किन्तु भगवान् से अनंत सृष्टियाँ हमेशा होती रहने पर भी उनमें किसी तरह की कमी नहीं आती। इसीलिये श्रुति कहती है कि पूर्ण से पूर्ण निकल कर पीछे पूर्ण ही बचता है! ऐसा नहीं है कि जिस समय जगत् बन गया उस समय ब्रह्म में कोई कमी आ गई हो कि इतना हिस्सा तो जगत् बन गया! 'अक्षर' के द्वारा अव्यक्त या माया को भी कहा जाता है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ पैदा हुईं, परन्तु फिर भी अव्यक्त वैसा का वैसा है। वह अव्यक्त भी ज्ञान से नष्ट हो जाता है, बाधित हो जाता है। परन्तु आप *परम* अक्षर हैं अर्थात् ज्ञान से भी आपका बाध होता नहीं। ज्ञान से ज्ञान का बाध नहीं होता, ज्ञान से अज्ञान का ही बाध होता है। 'वेदितव्यं', मुमुक्षुओं को आपका ही ज्ञान करना योग्य है। इस परम अक्षर को ही जानना सारे निवृत्ति मार्ग का एकमात्र उद्देश्य है अर्थात् मुमुक्षु जिसको जानेंगे वह परम अक्षर आप ही हैं। 'अस्य विश्वस्य परं निधानम् त्वम्'। जैसे घड़े में पानी रखते हैं ऐसे ही सारा जगत् आपमें निहित है। परम अक्षर तो हैं ही परन्तु सारा जगत् आपमें ही निहित भी है। प्रकृति इत्यादि कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसमें यह निहित होवे, यह बात भी वेदितव्य है। 'विद्' धातु का दूसरा अर्थ होता है उपासना। सारे जगत् का निधान परमेश्वर है, यह

उसका उपास्य रूप है। सारे जगत् के बनने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। रस्सी अनेक रूपों को धारण करने पर भी रस्सी में कोई परिवर्तन नहीं आता क्योंकि वह अधिष्ठान है। अधिष्ठान रूप से परमेश्वर ज्ञेय है, जाना जाता है, और 'सारे संसार का इसी में निधान है' अर्थात् वही संसार का एकमात्र कारण है यों उसकी उपासना होती है।

'त्वम् अव्ययः', आप ही अव्यय हैं। अक्षर कहने से अव्यय का भाव तो आ ही गया पर अव्यय अपरिवर्तनशील को भी कहते हैं। कमी न आये परन्तु बढ़ोत्तरी हो जाती होगी? इस संदेह को दूर करने के लिये अव्यय कहा। व्याकरण की दृष्टि से अव्यय उन शब्दों को कहते हैं जिनमें परिवर्तन न किया जा सके। दूसरे शब्दों में तो कारक प्रत्यय जुड़ करके कुछ परिवर्तन हो जाता है। शब्द वही रहता है परन्तु प्रत्ययों के लगने पर जोड़-घटाव हो जाता है, परन्तु अव्यय उसे कहते हैं जिसमें कोई भी प्रत्यय लगाओ, कुछ भी फर्क नहीं आता, वैसा ही रहता है। इसी तरह अर्जुन का कहना है कि आप में से कुछ घटता भी नहीं और आप में कोई चीज़ जोड़ी भी नहीं जा सकती। जोड़-घटाव से आप रहित हैं। 'शाश्वतधर्मगोप्ता' जो हमेशा होता है उसको शाश्वत कहते हैं। वेद हमेशा रहता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वर नित्य है, उनका ज्ञान भी नित्य है। अतः वेदों में कहे गए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग शाश्वत धर्म हैं। शाश्वत वेद के द्वारा जो निर्णीत धर्म है, उसके आप गोप्ता हैं अर्थात् रक्षक हैं। वैदिक धर्म की रक्षा करने वाले परमेश्वर ही हैं। 'सनातनः' धर्म शाश्वत है तो धर्म के रक्षक को भी शाश्वत ही होना पड़ेगा! ऐसे आप पुरुष हैं। जो पूर्ण होता है उसको पुरुष कहते हैं। आप पूर्ण हैं। 'मे मतः' ऐसा मुझे लगता है।। १८।।

विश्वरूप के प्रभाव का उल्लेख करता है-

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। १६।।

प्रारम्भ बीच व समाप्ति से रहित, अमित प्रभाव वाले, असंख्य भुजाओं वाले, चन्द्रसूर्यरूप नेत्रों वाले, धधकती आगरूप मुख वाले, अपनी आभा से इस विश्व को सन्तप्त करने वाले आपको देख रहा हूँ।

आदमी को कोई बड़ा भारी आश्चर्य होता है तो बार-बार उसी ढंग से कहने लगता है। इसलिए यहाँ कई बातों में पुनरावृत्ति आएगी जो केवल अर्जुन के संभ्रम को बतलाती है। 'अनन्तवीर्यम्'; वीरता को वीर्य कहते हैं। आपके वीरभाव का अन्त नहीं है। अर्जुन क्षत्रिय है इसलिए उसको वीर्य में विशिष्ट बुद्धि होती है। जैसे ब्राह्मण को ज्ञान में विशिष्ट बुद्धि होती है, जहाँ ज्ञान देखता है उसे अत्यन्त श्रेष्ठ मानता है, वैसे ही क्षत्रिय होने से वीरता का महत्त्व पहचानता है। कहता है आपका जो वीर्य है आपकी

जो वीरता है, वह हर क्षण बढ़ती ही जाती है, उसका अन्त नहीं है कि 'बस, इतनी वीरता होगी, आगे नहीं'। वीरता प्रकट करने के लिए जो आवश्यक हैं ऐसे बाहु आपके अनंत हैं। चाहे तलवार चलाओ, चाहे धनुष चलाओ, कोई भी आयुध चलाओ तो बाहु की ज़रूरत है। 'शशिसूर्यनेत्रम्' सूर्य और चन्द्र ही आपके नेत्र हैं। 'दीप्तहुताशवक्त्रं', हुत अर्थात् आहुति को जो खाता है उसको हुताश कहते हैं। आहुति को खाने वाली अग्नि है। आपका मुख अत्यन्त दीप्त है अर्थात् मुख के अन्दर अग्नि ही दीखती है, अग्नि ही मानो आपका मुख है। 'इदं विश्वम् स्वतेजसा तपन्तम्'। सारा संसार अपने इस तेज से आप तप्त कर रहे हैं। सूर्य जेठ के महीने में सब चीज़ों को तप्त करता है, पर माघ के महीने में सूर्य होने पर भी तप्त नहीं होता। परन्तु आप सभी देश-कालों के अन्दर ताप देने वाले हैं। ताप का दूसरा अर्थ होता है दुःख, सारा संसार जन्म-मरण का दुःख भोग रहा है और आप ही सबके जन्म-मरण के एकमात्र कारण हैं। इसलिए इस सारे विश्व को आप तप्त कर रहे हैं।।१६।।

भगवान् के इस रूप की व्यापकता व्यक्त करता है -

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

उदार स्वभाव वाले भगवन्! देवलोक व पृथ्वी के बीच का सारा आकाश और सारी दिशाएँ अकेले आपने घेर रखी हैं। आपका यह विस्मयकारी क्रूर रूप देखकर त्रिलोकी बहुत डर रही है।

द्युलोक ऊपर का, जहाँ ये सारे तारे दिखाई देते हैं और पृथ्वी, जहाँ हम लोग खड़े हैं। इनके बीच में, अर्थात् सारा अन्तरिक्ष 'त्वया एकेन व्याप्तं' आपने अकेले व्याप्त कर रखा है। न ऊपर आकाश दिखाई देता है, न नीचे पृथ्वी दिखाई देती है, केवल आप ही आप दिखाई देते हैं। 'एकेन' अर्थात् विश्वरूपधर आप के द्वारा; चीज़ें तो आपमें अनेक दीख रही हैं परन्तु जैसे किसी का सिर देखो तो उसमें अनन्त बाल दीखने पर भी यही कहते हो 'एक सिर ही दीख रहा है', इसी प्रकार आपके अन्दर अनन्त बाहूदरवक्त्र आदि दीख रहे हैं फिर भी अकेले आप ही दीख रहे हैं। 'सर्वाः दिशश्च' पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व, अधः - इन दशों दिशाओं में आप ही आप दीख रहे हैं। 'तव इदम् उग्रम् अद्भुतं रूपं' आपका रूप उग्र है। आगे भगवान् खुद कहेंगे 'सबको निगलने के लिए मैं तैयार हूँ।' इसलिए यह उग्र रूप है। आगे अर्जुन इसलिए प्रार्थना करेगा 'आप अपना सौम्य रूप दिखाइए।' परमेश्वर के दोनों ही रूप हैं - उग्र और सौम्य। हम लोग सौम्य रूप देखना चाहते हैं, उग्र रूप से घबराते हैं। घर में लड़का पैदा होता है तो थाली बजाते हैं खुशी के मारे। बेटा पैदा हुआ - यह सौम्य रूप है। लेकिन कभी विचार मन में आता है कि बेटा कैसे पैदा हुआ?

कहीं कोई मरा है तभी यहाँ कोई पैदा हुआ है। उधर मरेगा तब इधर पैदा होगा। जहाँ मरा हुआ है वहाँ लोग भगवान् का मारने वाला उग्र रूप देखते हैं, वह पसन्द नहीं आता है लोगों को; और जहाँ बच्चा पैदा हुआ वहाँ उनका सौम्य रूप देखते हैं तो पसन्द आता है, खुश होते हैं। यहाँ तो सारे संसार के सब लोगों को इस महाभारत के युद्ध के अन्दर झोंक देना है, इसलिए रूप उग्र है। केवल उग्र नहीं है, 'अद्‌भुतं', आश्चर्य में डालने वाला है। उग्र है लेकिन कुछ समझ में नहीं आता। ठीक जैसे हम मृत्यु रूप को देखते हैं, वह उग्र है और आश्चर्य-जनक है। अभी-अभी जिससे बात कर रहे होते हैं, वही पाँच मिनट में लुढ़क जाता है! अत्यन्त आश्चर्य होता है। किसी को तेज बुखार आवे, दस-पन्द्रह दिन बुखार आ जाए, फिर पेट खराब हो जाए, फिर साँस में तकलीफ हो जाए; है तो वह भी उग्र, परन्तु वह जब मरता है तब आश्चर्य नहीं होता। परन्तु जिससे तुम बात कर रहे हो, बिलकुल स्वस्थ है, और झट वहीं लुढ़क जाता है, तब आश्चर्य होता है। अर्जुन कहता है कि आपका यह रूप उग्र और अद्भुत है। 'हे महात्मन्!' आपका स्वभाव क्षुद्र नहीं है, पक्षपात से आप किसी को दुःख देते हों, ऐसा नहीं है। किंच केवल मुझे ही यह उग्र रूप दीख रहा होवे ऐसा नहीं, इसको देख कर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं अर्थात् भय से चलायमान हो रहे हैं कि पता नहीं क्या हो जाएगा!।।२०।।

अर्जुन का मूल संशय था कि हम जीतेंगे या नहीं जीतेंगे, भगवान् निर्णय कराना चाहते हैं कि निश्चित रूप से तुम ही जीतोगे। इसलिये भगवान् के अन्दर ही उसको भीष्मादि का मरण दीखेगा। उससे पूर्व उनमें विलीन होते देवादि का दर्शन करता है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

देवताओं के ये समुदाय क्योंकि आप में घुस रहे हैं (इसलिए) कई देवता हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं (तथा) महर्षियों व सिद्धों के समूह 'कल्याण हो' यह कहकर अर्थ से भरपूर स्तुतियों द्वारा आपकी प्रशंसा कर रहे हैं।

'हि' क्योंकि सब प्रव्यथित हो रहे हैं इसलिये प्रार्थना कर रहे हैं। जैसे चिता में लाशें पड़ती हैं वैसे ये सारे देवता आपमें जाकर जल जाते हैं। 'केचिद्भीताः', कुछ जब आप में पड़ने वाले होते हैं तब डर के मारे 'प्राञ्जलयो गृणन्ति', हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करते हैं। महाभारत के अन्त मे बतलाया है कि महाभारत युद्ध में जितने भी बड़े-बड़े सेनापति थे, सारे किसी-न-किसी देवता के ही रूप थे। जैसे इन्द्र का रूप अर्जुन, धर्मराज का रूप युधिष्ठिर, वायु का रूप भीम, इसी प्रकार से भीष्म, द्रोण इत्यादि जितने थे, सब किसी-न-किसी शापवशात् देवताओं से आए थे। जब देवता ही आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं तब पृथ्वी पर आये उनके रूपों का कहना ही क्या! इस सारे

युद्ध में होने वाली घटनाओं को महर्षि लोग और सिद्ध लोग देख रहे हैं। सिद्ध भी एक प्रकार की योनि-विशेष है जो मनुष्य की अपेक्षा दिव्य होते हैं। महर्षियों के और सिद्धों के संघ के सब सदस्य कह रहे हैं 'स्वस्ति', 'सब कुछ ठीक हो जाए'। 'पुष्कलाभिः स्तुतिभिः', इसके लिए बहुत स्तुति करते हुए 'त्वां स्तुवन्ति', आपकी स्तुति कर रहे हैं। जब कोई भयंकर परिस्थिति आने वाली होती है तब अनेक प्रकार के बुरे शकुन होने लगते हैं। भयंकर युद्ध आदि होता है तो देवताओं की मूर्तियों से आँसू निकलने लग जाते हैं, बड़े ज़ोर का अन्धड़ चलने लग जाता है। इस प्रकार का वर्णन महाभारत में कई जगह आता है। जब इस प्रकार से होने लगता है तब वहाँ के बड़े-बड़े पुजारी इत्यादि सब 'स्वस्ति स्वस्ति' 'सब ठीक हो सब ठीक हो', इस प्रकार से कहते हैं। वैसे ही यहाँ महर्षि लोग और सिद्ध लोग आपकी स्तुति कर रहे हैं। 'पुष्कल' अर्थात् बहुत प्रकार की स्तुतियाँ कर रहे हैं। भाष्यकार ने 'पुष्कलाभिः सम्पूर्णाभिः' व्याख्या की है, अर्थात् पूरी स्तुति। जैसे महिम्नः स्तोत्र का एक-आध श्लोक बोल दिया तो भी स्तुति है परन्तु सारा स्तोत्र बोला तो सम्पूर्ण स्तुति हो गई। पुष्कल का एक अर्थ होता है पर्याप्त। पूरी स्तुति करो तब पर्याप्त होता है परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए। एक-आध श्लोक बोला, तो वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं होता है, पुष्कल नहीं होता है। कुछ आचार्यों ने 'परिपूर्णार्थाभिः' अर्थ किया है अर्थात् स्तुतियों में सारी बात कह रहे हैं, उनमें आधी-अधूरी बातें नहीं हैं। अथवा परिपूर्ण परमात्मा जिनका प्रतिपाद्य है ऐसी स्तुतियाँ कर रहे हैं।।२१।।

उस रूप की आश्चर्यमयता का और वर्णन करता है-

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, और जो साध्य देव हैं, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के संघ, सभी आपको देख रहे हैं एवं विस्मय अनुभव कर रहे हैं।

रुद्र, आदित्य और वसु अ. १० श्लो.२१ व २३ में बताये थे। साध्या नामकी दक्षकन्या के बारह पुत्र 'साध्य' कहलाते हैं। विश्वा नाम की दक्षकन्या में धर्म से उत्पन्न दस पुत्र 'विश्वेदेव' कहे जाते हैं। सूर्यपत्नी संज्ञा के पुत्र तथा देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार दो भाई हैं जिनका अलग-अलग नाम नासत्य और दस्र है। मरुद्गणों को पूर्वाध्याय में बता चुके हैं। 'ऊष्मपाः' अर्थात् पितर। 'ऊष्मभागा हि पितरः'- पितर गर्म अन्न को ही पीते या ग्रहण करते हैं अतः ऊष्मप कहे जाते हैं। जब तक भोजन गर्म होता है तभी तक इन लोगों को सुगन्धि इत्यादि के द्वारा तृप्ति होती है। इसीलिए श्राद्धादि में गर्म भोजन ही परोसा जाता है। पहले भगवान् ने छठे श्लोक में 'आदित्यान्, वसून्,

रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः’, इन सब देवताओं के नाम लिए थे कि इन सबको देखो इसलिए इन सब देवताओं को अर्जुन ने देखा। हाहा, हूहू इत्यादि गन्धर्व लोग हैं। दक्षकी मुनि नामक कन्या में कश्यप से ये सब उत्पन्न हुए व देवताओं के लिये गाया करते हैं। कुबेर इत्यादि यक्ष प्रसिद्ध हैं। विरोचन आदि असुर भी प्रसिद्ध हैं। कपिल इत्यादि सिद्ध भी प्रसिद्ध हैं। ये सभी समुदाय रूप में रहते हैं इसलिए सभी के संघों का कथन किया कि सभी के संघ आप का दर्शन कर रहे हैं। ये लोग आपको देख रहे हैं और विस्मित हैं। यह रूप इन लोगों को भी सामान्यतः दीखता नहीं अतः इस रूप को देख करके ये सभी विस्मित हैं। केवल मैं ही आश्चर्यचकित नहीं हूँ ,ये देवता सिद्ध इत्यादि भी आश्चर्यचकित हैं क्योंकि आपका रूप ही ऐसा है।। २२।।

त्रिलोकी की व्यथा उपपन्न करता है-

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्।। २३।।

हे महाबाहो! आपका महान् रूप बहुत मुखों आँखों भुजाओं जंघाओं और पैरों वाला है तथा बहुत दाढों से विकृत (अतः भयानक) है। इसे देख मुझ समेत सारे प्राणी व्यथित हैं।

एक साथ, एक ही जगह सब देव, दानव आदि चराचर जगत् सब दीख जाए, ऐसा नहीं होता। किन्तु यहाँ ऐसा दीख रहा है इसलिए यह महत् रूप है अर्थात् यह कितना लम्बा-चौड़ा है, कुछ नहीं जाना जा सकता। इस रूप में बहुत-से मुख हैं, बहुत-से नेत्र हैं, बहुत-सी भुजाएँ हैं, बहुत-सी जाँघें हैं, बहुत-से पैर हैं, बहुत-से पेट अर्थात् धड़ हैं और बहुतेरी बड़ी-बड़ी दाढ़ें हैं जो अत्यन्त भयंकर लगती हैं। इसलिए इस रूप को देख कर सभी लोग व्यथित हो रहे हैं, सभी प्राणी डाँवाडोल हो रहे हैं कि ‘क्या होने वाला है? क्या हो जाएगा? कहीं प्रलय का समय तो नहीं आ गया, सब चीज़ें इकट्ठी ही दीख रही है!’ इत्यादि। केवल अन्य लोग नहीं ,‘तथा अहम्’ मैंने आपसे प्रार्थना की थी इस रूप को दिखाने की, परन्तु यह ऐसा भयंकर है कि मैं भी विचलित हो रहा हूँ! घबरा रहा हूँ कि क्या हो जाएगा।। २३।।

रूप की महत्ता स्पष्ट करता है-

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।। २४।।

विष्णु! व्योमव्यापी, जाज्वल्यमान, अनेक रंगों वाले, पूर्णतः खुले मुखों वाले, जलते विस्तीर्ण नेत्रों वाले आपको देखकर क्योंकि मेरा मन भयभीत है इसलिए धैर्य व शांति नहीं पा रहा हूँ।

'नभःस्पृशं', ऊपर द्युलोक तक आपका यह रूप है। ऊपर जहाँ तक हम लोगों को दिखाई देता है नीले रंग का आकाश, वहाँ तक सब जगह आपसे भरी हुई है। आप दीप्त हैं मानो जल रहे हों। आप में रंग भी अनेक दीख रहे हैं। इस रूप में मुख बिलकुल चौड़े हैं मानो रसगुल्ला खाने की तैयारी कर रहे हों! इसीलिए दाढ़ें भी भयंकर दीखती हैं, मुख बन्द होवे तो दाढ़ें दीखें नहीं। 'दीप्तविशालनेत्रम्', आप की आँखें बिलकुल लाल हैं, जलते हुए अंगारे की तरह। जब नाश की लीला होती है उस समय भगवान् की आँखें भी लाल हो जाती हैं। ऐसे आपके रूप को देख कर 'प्रव्यथितान्तरात्मा'। 'हि' क्योंकि भयंकर रूप है इसलिए मेरा अन्तःकरण, मन अत्यन्त भयग्रस्त है, प्र=प्रकर्षेण व्यथित= बहुत ज़्यादा कष्ट महसूस कर रहा है। इसलिए 'धृतिं न विन्दामि', बिलकुल धीरज नहीं बँध रहा है। 'ये तो भगवान् ही हैं, कोई घबराने की बात नहीं है,' ऐसा धैर्य बिलकुल नहीं बँध रहा है। आप से मैंने ही प्रार्थना की, इसीलिए आप दिखला रहे हैं, हैं आप ही, यह जान कर भी धीरज नहीं बँध रहा है। जब भयंकर परिस्थिति सामने आती है तब वास्तविकता जान कर भी मनुष्य को धैर्य बँधना मुश्किल हो जाता है। मैंने कहा, आपने दिखाया, इसलिए मन को शान्त होना चाहिए, प्रसन्न हो जाना चाहिए कि 'हाँ, मैंने कहा और आपने दिखाया', लेकिन इस प्रकार से मन के अन्दर कोई शान्ति भी नहीं हो रही है। मेरे कहने से आपने दिखलाया है, फिर भी इसको देख कर मन शान्त नहीं हो रहा है। 'विष्णो!' मैं जानता हूँ कि आप भगवान् विष्णु ही हैं फिर भी ऐसे भयंकर रूप को देख कर धीरज नहीं बँध रहा है और बड़ी घबराहट हो रही है।।२४।।

भयंकरता को और स्पष्ट करता है

दृष्ट्रैकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

दाढों के कारण विकराल, प्रलयकालिक अग्नि जैसे आपके मुख देखकर ही मुझे दिङ्मोह हो रहा है, कोई सुख नहीं मिल रहा है। हे देवेश्वर! जगत् के निवास-स्थान! प्रसन्न हो जाइये।

आपके अनेक मुख हैं व सारे के सारे भयंकर दाढ़ों वाले हैं। प्रलय काल की जो अग्नि कालानल है वही मानो आपकी दाढ़ों के अन्दर चमक रही है। 'दिशो न जाने' दिशाओं का ही पता नहीं लगता। किधर क्या है- कुछ नहीं देखने में आ रहा है, चारों तरफ आप ही आप दीख रहे हैं। इसलिए 'शर्म न लभे', अपनी चाही चीज़ को देख करके भी सन्तोष नहीं हो रहा है, सुख नहीं हो रहा है, दुःख ही हो रहा है। कई बार कहीं कोई भीषण दुर्घटना हो जाती है तो चाह करके देखने जाते हैं कि पता चले क्या हुआ, लेकिन वहाँ जाकर जो भयंकर दृश्य देखते हैं, उससे मन विचलित हो जाता है,

यही लगता है कि 'अरे! यहाँ नहीं आते तो ही ठीक था'। इसी तरह, इच्छा-पूर्ति में जो अर्जुन को सुख होना चाहिए, वह इस भयंकर रूप के कारण नहीं हो रहा है। अतः वह प्रार्थना करता है- आपका शान्त रूप दीखे, ऐसे अब आप प्रसन्न हो जाइये। आप सारे देवताओं के ईश्वर हैं, सारा जगत् आपके अन्दर है, यह मैंने समझ लिया पर आप शान्त हो जाइए, अपने शान्त रूप को ही दिखाइए।।२५।।

भगवान् ने कहा था 'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि' 'और जो तू देखना चाहता है देख ले।' अर्जुन के मन में तो यही था कि युद्ध में जीत होगी कि नहीं। सामने भीष्म द्रोण जैसे लोग खड़े हैं, पता नहीं क्या होता है? अब बताता है कि वह देखने की, जानने की इच्छा भी पूरी हो रही है

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

और भूपालों के समुदायों समेत धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र तथा हमारे पक्ष के भी मुख्य योद्धाओं सहित भीष्म, द्रोण एवं यह कर्ण आपमें लीन हो रहे हैं।

'अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' दुर्योधन दुःशासन आदि जो इस सारे युद्ध के प्रधान नायक हैं, वे सभी धृतराष्ट्रपुत्र लीन होते दीख रहे हैं। इसमें धृतराष्ट्र के 'सर्वे पुत्राः' सारे पुत्र कहा परन्तु इतना जोड़ लेना चाहिये कि एक पुत्र को छोड़ कर। युद्ध के शुरू होते समय युधिष्ठिर ने घोषणा की थी कि 'इस समय में भी यदि कोई पाली बदलना चाहे, उधर नहीं इधर रहना चाहे, या इधर का व्यक्ति उधर जाना चाहे तो बदल ले। आगे मरने-जीने का सवाल है। इसलिए जिधर से भी युद्ध करो, खूब उत्साह से करना।' जब यह बात कही तब धृतराष्ट्र के एक पुत्र युयुत्सु ने कहा 'मैं आपके साथ आना चाहता हूँ।' युधिष्ठिर ने उसी समय उसको अभय दान दे दिया था कि 'तुम इधर आ जाओ क्योंकि लगता है कि इन सबका औधर्वदेहिक कर्म तेरे हाथों से ही होगा, इनके कुल में तू ही एक बच जाएगा।' अतः उसको छोडकर बाकी धृतराष्ट्रपुत्र भगवान् में जाते दीखे यह समझना चाहिये। अर्जुन कहता है, सारे-के-सारे आपके अन्दर लीन हो रहे हैं! केवल दुर्योधन आदि ही नहीं, पृथ्वी के पालन करने वाले राजा लोगों के सब समूह भी आपमें ही जा रहे हैं। इस श्लोक में 'विशन्ति' क्रियापद नहीं कहा है, अगले श्लोक में कहेंगे, इसलिए इन दोनों श्लोकों को युग्म समझ लेना चाहिए। भाष्यकार ने 'त्वां त्वरमाणा विशन्ति' यह अन्वय बताया है। अर्जुन देख रहा है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अन्य कौरव-पक्षीय और पाण्डवपक्षीय योद्धा सभी भगवान् के अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं, वे सबको खाते जा रहे हैं, सब समाप्त हो रहे हैं। वह कहता है- ये सब अत्यन्त जल्दी करते हुए आपके अन्दर प्रवेश कर रहे हैं, आपके मुख में घुसे जा रहे हैं। इच्छा-मृत्यु पाने वाले भीष्म पितामह, जो परशुराम से युद्ध करके भी हारे नहीं, वे भी आपके मुख

में घुसे जा रहे हैं। सारे शास्त्रों को तथा शस्त्रों को सिखाने वाले हमारे गुरु द्रोण भी आपके मुख में घुसे जा रहे हैं। और जिसने कसम खा रखी है कि 'मैं सारे पाण्डवों को मारूँगा', ऐसा सूतपुत्र कर्ण भी मुख में घुस रहा है। कर्ण कवच कुण्डल के साथ पैदा हुआ था और उसने इन्द्र से ऐसी अमोघ शक्ति पाई थी, उस कवच कुण्डल के बदले में, कि जो एक बार जिस पर छोड़ी जाएगी, उसको बचाने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए जब भीम का पुत्र घटोत्कच युद्ध में आया और भयंकर युद्ध होने लगा जिससे सारे ही दुर्योधन-पक्ष के लोग घोर दुःखी हो गए, तब दुर्योधन ने कर्ण से कहा 'अरे तेरे पास जो शक्ति है, उसे छोड़ इसके ऊपर, क्या देख रहा है!' बहुत देर तक तो कर्ण समझाता रहा कि 'उसको मैंने अर्जुन के लिए रखा है', पर दुर्योधन तत्काल की परिस्थिति से घबराया हुआ था, उस ने कहा 'मैं तेरे को राजा की हैसियत से आज्ञा देता हूँ कि छोड़ उस शक्ति को।' जबरदस्ती कर्ण से वह शक्ति भीम के पुत्र के ऊपर छुड़वाई गई जिससे वह मारा गया क्योंकि शक्ति अमोघ थी। घटोत्कच के उस भयंकर युद्ध को देख करके, उसके द्वारा धृतराष्ट्र की फौज पीडित हो रही थी इस बात को देख कर उसके मारे जाने पर बाकी सब तो घोर दुःखी हो गए पर एकमात्र श्री कृष्ण बड़े प्रसन्न हो गए, बहुत खुश हो गए! युधिष्ठिर ने कहा 'महाराज! हमारा लड़का मारा गया, और आप कह रहे हैं 'मुझे बडी़ खुशी है', क्या बात है?' वे बोले,'भाई, मुझे तो रात में नींद भी नहीं आती थी कि कर्ण के पास अमोघ शक्ति है, कहीं अर्जुन पर छोड़ न देवे। और अर्जुन मुझे अत्यन्त प्रिय है। आज वह अमोघ शक्ति उसके हाथ से चली गई। मुझे बडी़ प्रसन्नता है कि अर्जुन बच गया।'

आगे अर्जुन कहता है - ऐसी सामर्थ्य वाला कर्ण भी भगवान् में लीन होता दीख रहा है। केवल धृतराष्ट्र के पक्ष वाले ही आप में नहीं घुस रहे हैं,'अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः', युद्ध करने वालों में जो प्रमुख हैं ऐसे हमारे पक्ष वाले भी घुस रहे हैं। धृष्टद्युम्न जिसको सेनापति बनाया गया था; वह जा रहा है आपके मुख में। इसी प्रकार से शिखण्डी जो भीष्म को मारने में निमित्त बनेगा वह भी आपके मुख में जा रहा है। हमारे भी जितने बड़े-बड़े योद्धा हैं सब जा रहे हैं।। २६।।

उसी बात को आगे बढ़ाता है -

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।। २७।।

(पूर्वोक्त तथा अन्य योद्धा) जल्दी मचाते हुए आपके उन मुखों में घुस रहे हैं जो दाढ़ों के कारण विकृत और डरावने हैं। मुखों में घुसे कोई तो चूर्ण हुए सिरों सहित दाँतों के बीच फँसे दीख रहे हैं।

आपके जो ये अनेक बहुदंष्ट्राकराल मुख हैं उनमें से कोई किसी मुख में, कोई किसी

मुख में जा रहा है। और सब दौड़ते हुए जा रहे हैं! 'दंष्ट्राकरालानि', दाढ़ों वाले भयंकर मुखों में सब घुस रहे हैं। घुस कर कुछ लोग 'दशनान्तरेषु विलग्नाः' दाँतों के बीच में फँसे हुए हैं। जैसे हम लोग कभी बीज वाला परवल खाएँ तो दाँतों के बीच में फँस जाता है, ऐसे कई वीर अन्दर जाकर दाँतों के बीच में फँसे हुए हैं। 'उत्तमांगैः चूर्णितैः' उनके जो उत्तमांग सिर हैं, उनको आपने दाढों से चबा डाला है। इसलिए वे चूर्ण हो गए हैं।।२७।।

वीरों के उस मुखप्रवेश में उदाहरण देता है-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

जैसे नदियों के वेगवाले असंख्य जलकण समुद्र की ओर मुँहकर ही बहते जाते हैं वैसे मनुष्य लोक के ये वीर आपके उन मुखों में ही प्रवेश किये जा रहे हैं जो सब तरफ से जल रहे हैं।

नदियों के अन्दर अलग-अलग तरह के पानी होते हैं। जैसे गंगा जी का पानी सफेद है, जमुना जी का पानी साँवला है, महानदी का पानी लाल है। अलग-अलग नदियों के पानी अलग-अलग रंग के होते हैं। अलग-अलग स्वाद के भी होते हैं। अनेक प्रकार के पानी वाली नदियों के 'अम्बुवेगाः' वेग भी अलग-अलग तरह के हैं। कोई नदी बड़ी-बड़ी लहरों के साथ समुद्र में जाती है। समुद्र के किनारे जाकर के देखो तो कई नदियाँ तो बड़ी तरंगों को लेते हुए जाती हैं, जैसे महानदी। और कई अत्यन्त शान्त होकर जाती हैं जैसे गंगा जी जब गंगा सागर में लीन होती हैं तो कहीं कोई लहरें नहीं हैं, बिलकुल शान्त होकर जाती हैं। नदियों के जलों के वेग अनेक प्रकार के हैं। लेकिन 'समुद्रमेवाभिमुखाः' नदियों के सभी जलवेग समुद्र की तरफ मुख करके ही जाते हैं, सारी नदियाँ उधर ही जाती हैं। (अम्बु अर्थात् जल के अनेक वेगों अर्थात् प्रवाहों को अम्बुवेग कहा है। अथवा वेगवान् होने से अम्बु अर्थात् जल को ही वेग कहा है।) इसी प्रकार ये सब बड़े-बड़े योद्धा भी आपके अन्दर जा रहे हैं, कोई ज़्यादा तेज़ी से कोई कम तेज़ी से, लेकिन सब आपके दाढों और दाँतों के बीच पिस रहे हैं। मनुष्य लोक के जो बहादुर हैं, वे सब आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। 'अभिविज्वलन्ति' आपके मुख अत्यन्त तेज प्रकाश से जलते हुए प्रतीत हो रहे हैं ('अभितो ज्वलन्ति' ऐसा भी पाठान्तर है।)।।२८।।

नदी समझ-बूझकर समुद्र में नहीं घुसती है, उसका प्रवाह उसे उधर ले जाता है। इसलिए दूसरा दृष्टान्त देता है चेतन का। दूसरी बात, नदी समुद्र में जाकर नष्ट नहीं होती। समुद्र में लीन हो जाती है पर पानी पानीरूप ही रहता है जबकि अब ये लोग अपने रूपों से तो रहने वाले हैं नहीं। इन दोनों कारणों से दूसरा दृष्टान्त देता है-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२६।।

जैसे धधकती आग में बडे वेग वाले पतंगे अपने नाश के लिये प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही बढ़े वेग वाले ये लोग अपने नाश के लिये ही आपके मुखों में घुस रहे हैं।

बरसात के बाद शुरू-शुरू में पृथ्वी को फोड़ कर पतंगे निकलते हैं। निकल करके, जहाँ पर दीपक जल रहा हो वहाँ अपनी इच्छा से ही जाते हैं। नदी का जैसे प्रवाह है वैसे उनका कोई प्रवाह नहीं है। वे स्वेच्छापूर्वक ही जाते हैं। इसी प्रकार ये लोग आपके मुख में स्वेच्छापूर्वक घुस रहे हैं। सब लोग यहाँ युद्ध करने के लिए, मरने-मारने के लिए आए हैं, इसलिए इच्छापूर्वक ही घुस रहे हैं। अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि में पतंगे इच्छापूर्वक ही 'नाशाय विशन्ति' स्वनाशार्थ घुसते हैं। नदी का तो समुद्र में जाकर अपना जलरूप नष्ट नहीं होता है लेकिन पतंगा जाता है अग्नि में तो जल जाता है। इच्छापूर्वक अपने नाश के लिए उसकी प्रवृत्ति है। इसी प्रकार ये लोग भी यहाँ मरने-मारने को अपनी इच्छा से ही आए हैं। और सब जल्द-बाजी में हैं 'समृद्धवेगाः', आपके अन्दर घुसने के लिए इनके अन्दर वेग बहुत बढा हुआ है। जो वीर होते हैं वे युद्ध में 'अहम्-अहमिका' से, 'मैं पहले-मैं पहले' इस भाव से लड़ते हैं। 'दूसरा मारे उसके पहले मैं मार लूँ' यह उत्साह होता है। ये सभी लोग, सभी प्राणी अपने नाश के लिए आप में प्रविष्ट हो रहे हैं।।२६।।

योद्धाओं की चेष्टायें बताकर अर्जुन सुनाता है कि भगवान् क्या कर रहे हैं-

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

जलते मुखों द्वारा समस्त लोकों को हर तरफ से खाते हुए आप आस्वादन कर रहे हैं। हे विष्णु! आपकी दीप्तियाँ सारे जगत् को प्रभाओं से भरकर सन्तप्त कर रही हैं।

जो लड़ने आए हैं वे तो सब मुखों में प्रवेश कर ही रहे हैं परन्तु यह काल रूप है इसलिए इसके अन्दर जितने प्राणी हैं, सारे के सारे प्रविष्ट हो रहे हैं! युद्ध में मरें या बिना युद्ध के, मरना सभी को है। आप सभी को ग्रस रहे हैं, अपना कौर (कवल) बनाये जा रहे हैं। जैसे लोग आस्वादन करते हुए रसगुल्ला मुँह में लेते हैं ऐसे आप सारे लोकों को खा रहे हैं। 'लेलिह्यसे' बड़ा स्वादिष्ट पदार्थ हो तो उसे आदमी प्रेम से चाटता है। 'लिह आस्वादने' (अ.उ.अ.) धातु का यङन्त रूप है 'लेलिह्यसे', रसगुल्ले को मुँह में रखकर इधर-उधर धीरे-धीरे घुमाते हुए उसका मज़ा लेता है। बाहर होठ में लगी चासनी को जीभ से चाटकर मुँह के भीतर कर लेता है। इसी प्रकार आप भी चाट-चाट कर आनन्द ले रहे हैं! दोनों तरह से खाया जाता है; रोटी के टुकड़े को तोड़ कर एक-एक टुकड़ा करके खाते हो, तथा रसगुल्ला पूरा ही मुँह में डालते हो। भगवान् इस

दूसरे ढंग से 'समन्तात्' सारा का सारा मुख में ले रहे हैं। 'समग्रान् लोकान्', सारे ही लोकों को; युद्ध के अन्दर जो हैं और युद्ध के बिना भी जो हैं, सभी को खाए जा रहे हैं। 'ज्वलद्भिः वदनैः', आपके मुख भयंकर अग्नि से, कालानल से, जल रहे हैं। उन सारे भिन्न-भिन्न मुखों के अन्दर किसी में भीष्म घुस गए, किसी में द्रोण घुस गए, किसी में अन्य प्राणी घुस गए, ऐसे दनादन आप खाए जा रहे हैं। 'तेजोभिः' विभिन्न प्रकार के तेजों द्वारा, कालानल से सब चीज़ें व्याप्त हो रही हैं। आप की जो यह अत्यन्त क्रूर अग्नि है उससे सारे ही लोक 'प्रतपन्ति' अत्यन्त ताप को प्राप्त कर रहे हैं, जल रहे हैं, अत्यन्त कष्ट को प्राप्त कर रहे हैं। हे विष्णु! मैं जानता हूँ आप विष्णु हैं पर आप दिखला भयंकर रूप को रहे हैं। सम्बोधनों से अर्जुन कह रहा है कि ऐसा नहीं है कि मैं समझता नहीं कि किसका रूप है! मैं समझता हूँ, फिर भी ऐसी भयंकर परिस्थिति को देख करके मन घबराता है।।३०।।

अर्जुन भगवान् के स्वरूप को समझने के लिये प्रश्न करता है कि यह आपका सौम्य रूप तो है नहीं जो हमने बहुत बार देखा है, वह रूप तो शान्त है। यह उससे विपरीत घोर है। जो संहार का कारण तमोगुण है वह यहाँ प्रतीत हो रहा है इसलिए शांत से विपरीत उग्र रूप वाले आप कौन हैं?

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

मुझे बताइये कि (इस) क्रूर आकार वाले आप कौन हैं? आप को प्रणाम है। देवश्रेष्ठ! क्रूरता छोड़िये। क्योंकि मैं आपकी चेष्टा को समझ नहीं पा रहा इसलिये सर्वकारण आपको मैं विशेषतः जानना चाहता हूँ।

सत्त्वगुण से सम्पन्न आप विष्णु इस भयंकर रूप में दीख रहे हैं तो कहीं यह किसी दूसरे का रूप तो नहीं है? रुद्र का रूप तो नहीं है? मुझे आप बता दीजिये।'हे देववर! ते नमः अस्तु' आप जो कोई भी देववर हैं, देवताओं में श्रेष्ठ हैं, विष्णु हों चाहे रुद्र हों, या कोई भी हों, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। 'प्रसीद', अब आप शान्त हो जाइए। संहारकारी रूप को अब आप शान्त रूप करिए। आप 'आद्यं' सबके आदि हैं, सबके कारण आप ही हैं, आपको 'विज्ञातुमिच्छामि' मैं ठीक-ठीक समझना चाहता हूँ कि यह किसका रूप है। 'आद्यं' से कहा कि जिस कारण से चीज़ पैदा होती है, अन्ततोगत्वा उसी कारण में लीन होती है। ये सब आपमें लीन हो रहे हैं इसलिए आप ही इनके आदि कारण हैं। मैं आपके स्वरूप को 'विज्ञातुम्' अपरोक्ष समझना चाहता हूँ, क्योंकि आप जो यह सबको खा लेने की प्रवृत्ति, चेष्टा कर रहे हैं इसको मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। आपको देख तो रहा हूँ पर आप क्या और क्यों करना चाहते हैं? आप कौन हैं? आपका वास्तविक रूप क्या है? यह समझना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने आपसे

प्रार्थना की थी अतः यह रूप आप भगवान् विष्णु का ही होना चाहिए, तथापि ऐसे भयंकर रूप को देख करके लगता नहीं कि यह आपका रूप है! इसलिए आप ही बतलाइये कि आपकी इस प्रवृत्ति में क्या कारण है, कौन-सी प्रवृत्ति आप करना चाहते हैं और वस्तुतः आप कौन हैं?।।३१।।

भगवान् अर्जुन के प्रश्न का जवाब देते हैं-

श्रीभगवानुवाच

कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

श्रीभगवान् ने कहा - लोकों का नाश करने वाला मैं बढा हुआ काल हूँ और इस समय लोकों का संहार करने के लिये सचेष्ट हूँ। दोनों सेनाओं में तैनात जो योद्धा हैं वे सब तेरे (लड़े) बिना भी (जीवित) रहेंगे नहीं!

भगवान् ने जवाब दिया- सारे लोकों को नष्ट करने वाला काल मैं हूँ। यहाँ दो तात्पर्य हैं: वैदिक दृष्टि से एक ही परमेश्वर सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। यही परमेश्वर का लक्षण वेदों में बार-बार किया है। वैदिक दृष्टि से तो जो लोकों को क्षय करने वाला है वही परमेश्वर सृष्टि को स्थिर करने वाला भी है। अर्थात् लोकक्षयकृत्, लोकस्रष्टा और लोकस्थितिकृत् एक परमेश्वर ही है। वैदिक दृष्टि से यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि मैं परमेश्वर इस समय लोकों का क्षय करने में प्रवृत्त हूँ इसलिए यह मेरा कालाग्निरुद्र रूप है जो सारे संसार को नष्ट करता है। रुद्रीय में पंचब्रह्म मन्त्रों में 'कालाय नमः' भगवान् को काल कहा है। एक ही परमेश्वर सृष्टि स्थिति लय करने वाला है, पर पौराणिकों की मान्यता है कि ब्रह्मा सृष्टि करने वाला है, विष्णु स्थिति करने वाला है और शंकर नाश करने वाला है। महाभारत में स्थल-स्थल पर दोनों दृष्टियाँ आई हैं। गीता महाभारत का अंग है। पौराणिक दृष्टि से विष्णु हमेशा स्थिति करने वाले हैं इसलिये अर्जुन का प्रश्न यह मान कर है कि विष्णु तो सौम्य रूप है, अतः यह उग्ररूप विष्णु का नहीं, किसी अन्य का है। इसी दृष्टि से भगवान् कहते हैं यह मेरा लोकक्षयकृत् कालाग्निरुद्र शिवरूप है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि अर्जुन का कहना था कि आप *अपना* रूप दिखलाईये अतः भगवान् को अपना स्थिति करने वाला रूप दिखाना चाहिए था। संहार करने वाला रूप कैसे दिखाया? इसके जवाब में समझना चाहिये कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में कहा था 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं ऐश्वरं पुरुषोत्तम'। ऐश्वर अर्थात् ईश्वर का, शिव का रूप देखने के लिये ही उसने निवेदन किया था। क्योंकि वह जानता था कि युद्ध का निर्णय तो इसी पर होगा कि किस-किस को नष्ट होना है, किस-किस को नहीं होना है और नष्ट करने वाला क्योंकि ऐश्वर रूप है अर्थात् शिव रूप है, इसलिए उसने उसी को देखने

की प्रार्थना की थी। अतः उसने कुछ पूछा और भगवान् ने कुछ और दिखलाया ऐसी बात नहीं है। और भगवान् ने भी इसलिए जवाब में यही कहा था 'पश्य मे योगमैश्वरम्' मेरा ऐश्वर - ईश्वर का - रूप देखो। यदि पुराणों की दृष्टि से ब्रह्मा विष्णु रुद्र का भेद मानते हैं तो 'कालोस्मि' से यहाँ शंकर का रूप बताया। कृष्ण इसको दिखला सकते थे क्योंकि उन्होंने केदारनाथ में लम्बे समय रह कर उपमन्यु के उपदेश के बाद शिव की उपासना करके शिव से अपने इस ऐक्य को प्राप्त किया था। यहाँ पर 'ऐश्वरं योगम्' (११.८) कहा था कि ईश्वर-सम्बंधी योग अर्थात् शिव-ऐक्य जो मैंने प्राप्त किया उसको दिखलाता हूँ।

अर्जुन ने युद्ध के बीच में एक बार पूछा है कि 'मैं जब लड़ने जाता हूँ तब मुझे एक शूल लिए हुए दिखायी देता है, वह जिसको मारता है वही मेरे बाण से मारा जाता है। वह कौन मुझे दिखाई देता है?' तब भगवान् कृष्ण ने जवाब दिया है

'यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते।
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम्।।' (महाभा.१२.३४२.३६)

'जो तेरे रथ के आगे-आगे शूल लिए हुए चल रहा है, जिसके बारे में तू पूछ रहा है, हे कौन्तेय! तुम उसको जटाजूटधारी देवदेव कालाग्नि रुद्र समझो। उसके द्वारा मारे जा चुके शत्रुओं को ही तू मारता है।' वहाँ भी कहा है 'निहतांस्तेन वै पूर्वम्' और यहाँ भी भगवान् कहेंगे 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'। वहाँ स्पष्ट कहा है कि जो पहले मार देता है उसे तुम रुद्र जानो अतः यहाँ भी उससे एकता का अनुभव करते हुए कहते हैं 'मयैवैते'।

'पूर्वमेव' इस दृष्टि से भी है कि महाभारत में (१.१६७) वर्णन है कि किसी देवस्त्री पर मुग्ध हो उसके अपहरण में प्रवृत्त इंद्र को भगवान् शंकर ने दण्डित करने के लिये एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे अपने से पूर्व के चार और इंद्र मिले! फिर सभी ने मिलकर प्रार्थना की तो भगवान् ने कहा कि 'तुम सब मनुष्य पैदा होकर बहुतों को मारकर तब पुनः इन्द्रलोक लौटोगे।' वे पाँचों पाण्डव हुए। इस प्रकार पूर्व में ही भगवान् ने निश्चित कर दिया था कि कौन मरेंगे और मारेंगे। 'पहले ही मरे हैं' अर्थात् 'उनकी मृत्यु मेरे द्वारा पहले ही निश्चित है।' भगवान् के निश्चय के अनुरूप ही घटनाएँ हुआ करती हैं अतः निश्चय हो चुका तो मानो मृत्यु भी हो ही चुकी। इसलिए 'त्वा ऋतेऽपि', तेरे बिना भी 'सर्वे न भविष्यन्ति' ये सब बचेंगे नहीं। तू भीष्म द्रोण आदि को अजेय समझ रहा है। किंतु इन्हें तू नहीं मारेगा तो भी इनका मरने का समय आया है अतः ये मरेंगे ही। जब जिसकी मृत्यु निश्चित है, उस समय उसको मरना ही है। जो हम लोगों को मारने वाला कारण दीखता है वह तो केवल निमित्त ही है। मरता वह इसलिए है कि परमेश्वर ने पहले ही निश्चित कर दिया है कि इस समय मरना है। जो उसको

जहर देता है, या उसको बाण मारता है, या उसके विरोध में कृत्या प्रयोग इत्यादि करता है, क्योंकि उसने संकल्पपूर्वक उसके हनन में प्रवृत्ति की इसलिए उसको पाप की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु उसका जो मरना है वह तो वस्तुतः काल आने पर ही होगा। यूरोप में एक बड़ा राजा हुआ है नैपोलियन बोनापार्ट; वह युद्ध में हमेशा आगे चला करता था। जिस समय वह स्विट्ज़रलैण्ड को विजय करने जा रहा था, किसी ने कहा 'यहाँ तो पहाड़ के मोड़ हैं, पता ही नहीं लगेगा और सामने से दुश्मन झट मार देगा अतः आप आगे मत चलिए, ज़रा पीछे रहिए। हम लोग मरेंगे तो कोई बात नहीं।' तब नैपोलियन बोनापार्ट ने हँस कर कहा, 'वह गोली अब तक ढली नहीं है जो नैपोलियन बोनापार्ट को मारे। जिस दिन ढल जाएगी, उस दिन तुम सब इकट्ठे होकर भी नैपोलियन को बचा नहीं सकोगे!' मृत्यु सर्वथा परमेश्वर के द्वारा हमारे कर्मों के अनुसार निश्चित कर दी गई है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि 'तुम्हारे बिना भी इनमें से कोई बचने वाला नहीं है क्योंकि मैं इनको मारने वाला हूँ।' 'प्रत्यनीकेषु'; अनीक अर्थात् सेना; दोनों परस्पर प्रतिपक्षभूत सेनाओं में लड़ने को सावधान हुए योद्धा मरेंगे ही, रहेंगे नहीं, जीवित नहीं बचेंगे। भगवान् का भाव है - तू यह सन्देह छोड़ दे कि 'मैं नहीं मारूँगा तो भीष्म द्रोण नहीं मरेंगे'। ऐसा कुछ नहीं है।।३२।।

अर्जुन पूछ सकता है कि 'यदि आप से ही सब मर चुके हैं तो मुझे लड़ने को क्यों कह रहे हैं?' इसका जवाब भगवान् देते हैं-

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

इसलिये तू उठ। यश प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। हे सव्यसाचिन्! मेरे द्वारा ये पहले ही मारे जा चुके हैं, तू इनके मरने में केवल निमित्त बन जा।

तू लड़ या न लड़, इनको तो मरना ही है। अतः 'मैं अपने दादा को कैसे मारूँ, अपने गुरु को कैसे मारूँ' इत्यादि जो तेरी सोचने की प्रणाली है, वह आधारभूत ढंग से गलत है क्योंकि मारने वाला मैं हूँ, तू नहीं। (अतः खड़ा हो जा। पहले अर्जुन शस्त्र छोड़ कर रथोपस्थ पर बैठ गया था इसलिए कहा खड़ा हो जा, अब लड़।) मार तो मैंने दिया है, फिर भी तुम्हें मारने को कह रहा हूँ क्योंकि 'यशो लभस्व' इससे हमेशा के लिए तेरी कीर्ति होगी कि भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसों को अर्जुन ने मारा! भीष्म परशुराम से नहीं हारे, उनको भी तू मार लेगा तो अपार कीर्ति होगी। क्षत्रिय के लिए सर्वोत्तम कीर्ति वीरता-निमित्तक है, वह तुझे प्राप्त होगी। तूने मेरी अति-भक्ति की है, अतिप्रेम किया है, इसलिए मैं तुझे यशस्वी बनाना चाहता हूँ। मारने के लिए मुझे तुम्हारी मदद चाहिए ऐसी कोई बात नहीं है! जो यश अत्यन्त पुण्य करने वालों को

मिलता है वह यश तूने मेरी भक्ति की है इसलिए तुझे मिल जाए यह चाहता हूँ। 'शत्रून् जित्वा', दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीत। तूने तथा भीम ने द्रौपदी को कैसे-कैसे आश्वासन दिए हैं? युधिष्ठिर को कैसे-कैसे आश्वासन दिए हैं? उनको पूरा कर। इनको जीत कर 'समृद्धम्' अकंटक, जिसका किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं ऐसे राज्य का भोग कर। यह सब मेरी भक्ति का फल है। दुर्लभ यश की प्राप्ति होगी, जो तूने प्रतिज्ञाएँ की हैं, वे सारी सच हो जाएँगी और निष्कंटक राज्य की प्राप्ति भी हो जाएगी। 'मयैव पूर्वमेव निहताः'। ये लोग पैदा हुए उसके पहले ही 'महाभारत युद्ध में ये सब मारे जाएँगे' यह मैंने निर्णीत कर दिया था।

'सव्यसाचिन्' सव्य शब्द बड़ा विचित्र है, बाएँ को भी कहता है और दाएँ को भी कहता है 'वामदक्षिणयोः सव्यम्' कोश है। अर्जुन दोनों हाथों से गाण्डीव चलाता था। दाहिने हाथ से प्रत्यंचा खींच कर बाण चलाने वाले साधारण लोग होते हैं परन्तु अर्जुन की विशेषता थी कि दाहिने से भी चलाता था, बाएँ से भी चलाता था। इसलिये कुछ लोगों ने 'सव्यश्च सव्यश्च' का एकशेष कर 'साची' (अर्थात् क्षेपक) से समास किया है अर्थात् दोनों हाथों से वह बाण चलाता था। अथवा क्योंकि दायें हाथ से बाण चलाना सामान्य बात है, बाँयें से चलाने में विशेषता है, इसलिये 'बाँये से भी बाण चलाने वाला' यह अर्थ भी उचित है।।३३।।

अर्जुन को जिनसे विशेष भय संभावित था उनका नाम लेते हुए भगवान् उसे उत्साहित करते हैं-

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

मेरे द्वारा मारे जा चुके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य युद्धविशारदों को मारो, डरो मत। (क्योंकि) युद्ध में शत्रुओं को (अवश्य) जीतोगे (इसलिए) लड़ो।

द्रोण अर्जुन के गुरु थे, द्रोणाचार्य से ही उसने सारा युद्ध कौशल सीखा था। जो कुछ अर्जुन जानता है वह सब द्रोणाचार्य जानते ही हैं। उसे मालूम था कि 'द्रोणाचार्य से युद्ध करने के लिये मैं कोई नया तरीका अपना सकूँगा यह तो सम्भव नहीं है'। सामान्यतः प्रसिद्ध है कि गुरु शिष्य से अधिक जानने वाला होता है, इसलिए द्रोण से उसे भय था। दूसरा एक और भी कारण है; द्रोणाचार्य ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि अश्वत्थामा के मरने पर जीवित नहीं रहेंगे, और अश्वत्थामा चिरंजीवी है। अश्वत्थामा के मरे बिना द्रोणाचार्य नहीं मर सकते और अश्वत्थामा दीर्घायु होने से मारा नहीं जा सकता, इसलिए द्रोण से अत्यन्त भयभीत रहना स्वाभाविक ही था। भगवान् कहते हैं कि चाहे अश्वत्थामा अमर हो, चाहे द्रोणाचार्य ने प्रतिज्ञा कर रखी हो, पर 'मयैवैते निहताः' मैंने इनका समय निश्चित कर दिया है, इनका प्रारब्ध समाप्त हो रहा है, इनको

मरना ही है।

'भीष्मं च', भीष्म को पिता के द्वारा वरदान मिला हुआ था कि वे जब *चाहें* तब मरें, इच्छामृत्यु थे। भीष्म कब चाहेंगे कि 'मैं मरुँ'? दिव्य अस्त्रों से वे सम्पन्न भी थे। और साक्षात् परशुराम इनको हरा नहीं सके थे। काशीराज की तीन कन्याओं को भीष्म भगा लाये थे। उनमें दो का ब्याह तो करा दिया गया, तीसरी बच गई। भीष्म ने कहा 'यहाँ दो का ही ब्याह हो सकता है, अतः तुम चली जाओ।' उसने कहा 'क्षत्रियों का नियम है कि जो भगा कर लाये उसे ब्याह करना चाहिये। इसलिए तुमको मुझसे विवाह करना पडेगा।' भीष्म ने कहा 'मेरी तो यह दृढ प्रतिज्ञा है कि मैं विवाह करूँगा नहीं।' वह दुःखी होकर परशुराम के पास गई। परशुराम ने कहा 'अभी चलकर मैं उसको ठीक कर देता हूँ!' बड़े ज़ोर-शोर से आए। अनेक दिनों तक युद्ध हुआ लेकिन भीष्म को पराजित नहीं कर सके! तब उन्होंने उस लड़की से कहा 'मैनें तो अपना पूरा पौरुष करके देख लिया, उसको जीत नहीं सकता तो करुँ क्या!' इस प्रकार से परशुराम से द्वन्द्व युद्ध हुआ परन्तु भीष्म पराजित नहीं हुए। 'परशुराम से जो पराजित नहीं हुआ, उसको मैं पराजित कर दूँगा', यह बड़ा दुष्कर काम लगता था अर्जुन को। परन्तु भगवान् कहते हैं कि इनको भी मैंने मार दिया है। 'मैं नहीं मार सकता हूँ इन्हें' यह तू ठीक ही समझ रहा है। द्रोण भीष्म को तू मार लेवे, यह सम्भव नहीं है। परन्तु मैं तो कालाग्नि रुद्र हूँ, मैं सारे संसार को ही जला देता हूँ! अतः मैंने मारा है।

'जयद्रथं च' जयद्रथके पिता सिन्धु नदी के किनारे बैठ कर तप कर रहे थे 'जो मेरे बेटे के सिर को नीचे गिरा देगा, उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे' अतः जो उसको मारेगा, उसका मरना निश्चित है। ऐसे जयद्रथ को कैसे मारा जाए! जयद्रथ से भयभीत होना स्वाभाविक है। परन्तु कहते हैं 'मैं तो कालाग्नि रुद्र हूँ, मैंने इसको भी मार रखा है।' इसलिए भगवान् के समझाये ढंग से अर्जुन ने जयद्रथ का सिर ऐसे दिव्य बाण से काटा कि वह कुरुक्षेत्र से जाकर ठेठ सिन्धु के किनारे जहाँ उसके पिता तपस्या कर रहे थे वहाँ उनकी गोद में गिरा। 'जो इसका सिर *ज़मीन* पर गिराएगा, उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे' यह निश्चित था किंतु अर्जुन ने ज़मीन पर तो गिराया नहीं, उसके बाप की गोद में ही गिराया अतः अर्जुन तो बचा रहा और गोद में अचानक सिर गिरने से घबराकर उसके पिता उठ खड़े हुए तो सिर नीचे धरती पर गिर गया जिससे उन्हीं के सिर के सौ टुकड़े हो गए! जब कालाग्नि रुद्र मारने वाला है तब सब व्यवस्था हो जाती है।

'कर्णम्'। पहले बतला चुके हैं कि वह अमोघ शक्ति से युक्त था। वह सूर्यपुत्र होने से भी तेजस्वी था। उसको मारना सम्भव नहीं था परन्तु उस शक्ति को घटोत्कच के लिए प्रयुक्त करवा दिया और फिर वह मारा गया।

बड़ों-बड़ों का नाम ले दिया है, छोटों को तो अर्जुन जानता ही था कि मार ही लेगा। फिर भी भगवान् कहते हैं - खाली इतनों को ही मैंने नहीं मारा है, बाकि भी जितने

इस युद्ध में आए हुए वीर लोग हैं, सभी मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। मेरे द्वारा जो मार दिए गए हैं उनको तू मार डाल। मैं तुझे यश दिलाना चाहता हूँ इसलिए कह रहा हूँ, अन्यथा मरना तो इन्हें है ही। अतः युद्ध में दीखा था कि जिसको शूल लगता है उसको तो अर्जुन का बाण मार देता है, और जिसको शूल नहीं लगता उसकी बारी आगे किसी दिन आएगी! अतः भगवान् ने कहा मैंने जिनको मार दिया है उन्हें तू मारने वाला बन जा। 'मा व्यथिष्ठा' तू इन बड़ों-बड़ों से व्यथा को प्राप्त मत कर; 'इनके रहते मैं कैसे जीतूँगा', ऐसी जो तेरी व्यथा है, उसको करने की ज़रूरत नहीं है। 'युध्यस्व' युद्ध कर। 'रणे सपत्नान् जेतासि' युद्ध के अन्दर दुर्योधनादि जो तुम्हारे शत्रु हैं, सपत्न हैं, उन सबको तू जीतने वाला है। अतः जो तेरे मन में सन्देह है कि 'हम जीतें या न जीतें' वह संदेह छोड़ दे। तेरी जीत तो निश्चित ही है।।३४।।

भगवान् ने यों निर्भय करते हुए उत्साहित किया फिर भी अर्जुन एकाएक स्वस्थ नहीं हो पाया यह संजय धृतराष्ट्र को सुनाता है-

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। ३५।।

संजय ने कहा - केशवका यह वचन सुनकर (भी) किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़े काँप रहा था। अत्यन्त डरे हुए अर्जुन ने (मनसे) प्रणामपूर्वक (शरीर से) नमस्कार कर फिर से श्रीकृष्ण को भरी आवाज में कहा।

'वेपमानः', उस भयंकर विश्वरूप को देख कर भगवान् के ये वचन कहने पर भी अर्जुन अभी काँप ही रहा था! 'नमस्कृत्वा' हाथ जोड़ करके पुनः नमस्कार किया तथा 'भूय एव कृष्णम् आह' फिर से अपनी बात कहना शुरू किया। 'सगद्गदं', गद्‌गद होकर। कई तरह से आदमी गद्‌गद होता हैः अत्यन्त भय होवे तो भी कण्ठ से ठीक वाक्य नहीं निकलते जिसे लोग कहते हैं 'उनकी घिग्गी बँध गई'। और जब अत्यन्त प्रेम का उद्रेक होता है तब भी कण्ठ गद्‌गद हो जाता है, साफ-साफ बोल नहीं पाता। अपना लड़का दो साल के लिए विदेश जा रहा हो तो घर से बिदा करते समय माँ गद्‌गद हो जाती है, बहुत कुछ बोलना चाहती है पर कुछ भी वाणी नहीं निकलती। और अत्यन्त हर्ष की बात हो तब भी व्यक्ति गद्‌गद होता है। हर्ष अत्यधिक होता है तब भी रोने लगता है और कण्ठ गद्‌गद हो जाता है। चाहे भय हो, अत्यन्त दुःख हो, अत्यन्त स्नेह का उद्रेक हो, इन सबमें श्लेष्मा से कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, गले में कफ भर जाता है इसलिए आवाज़ ठीक से निकल नहीं पाती। यहाँ अर्जुन में सभी चीज़ें थीं : विश्वरूप को देख कर भय से आविष्ट था। 'भगवान् सब कुछ खुद करके मुझे यश दिलाना चाहते हैं, इतना मेरे ऊपर इनका स्नेह है', यह देखकर प्रेमोद्रेक भी था। जीत कर

निष्कंटक राज्य का भोग करूँगा, यह सोचकर हर्ष भी पूरा था। इसलिए कहा 'सगद्गदम्'। परन्तु प्रधानता भय की थी। कालाग्नि रुद्र रूप अभी सामने था ही इसलिए दूसरी बातें होने पर भी प्रधान रूप से भय से आविष्ट था। इसलिए 'प्रणम्य'। स्नेहाविष्टता और हर्षोद्भव के अन्दर जो गद्गदता आती है, उसमें नमस्कार करने का औचित्य नहीं है। प्रेमातिरेक से दुलार तो कर लेगा पर प्रणाम नहीं करेगा अतः यहाँ कालाग्नि रुद्र को देख कर भीतभीत हुआ वह प्रणाम करता है।

आचार्य शंकर यहाँ कहते हैं कि संजय का यह वचन साभिप्राय हैः भीष्म, द्रोण, कर्ण के सहारे से ही धृतराष्ट्र समझता है कि मैं जीत लूँगा। संजय चाहता है कि वह इस बात को समझ ले कि इनका मरना निश्चित है और इनके मरने के बाद दुर्योधन निराश्रय हो जाएगा। ये चार जो अजेय हैं इनके मरने के बाद दुर्योधन किसके आश्रय में रहेगा! अतः दुर्योधन मर ही जाएगा। भगवान् ने यहाँ दुर्योधन का नाम नहीं लिया था, परन्तु समझने की बात है कि इनके सहारे ही वह इतना नाच कूद कर रहा था अतः उनके जाने के बाद निराश्रय होकर मारा ही जाएगा। इस बात को समझ कर धृतराष्ट्र जय की आशा छोड़ देवे और संधि का प्रयास करे। युधिष्ठिर आदि तो सन्धि के लिए पहले से ही तैयार हैं। अतः शान्ति हो जाएगी। ऐसी संजय की इच्छा थी। परन्तु भाष्यकार कहते हैं 'तदपि नाऽश्रौषीद् धृतराष्ट्रः भवितव्यवशात्' -जैसा भावी होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। इतना स्पष्ट समझाने पर भी धृतराष्ट्र ने मानो कुछ सुना ही नहीं, सुलह की चर्चा तक नहीं की।।३५।।

गद्गद हो अर्जुन ने यह ग्यारह श्लोकों में प्रार्थना की -

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।। ३६।।

सर्वेन्द्रियप्रेरक! (अन्तर्यामिन्!) आपके माहात्म्य के कीर्तन से जगत् अत्यन्त प्रसन्न होता है, (आपमें) अनुरक्त होता है, डरे हुए सब राक्षस नाना दिशाओं में भागते फिरतें हैं और सिद्धों के समूह (आपको) प्रणाम करते हैं- यह सब युक्त ही है।

'हृषीकेश!' सब इन्द्रियों को जो प्रवृत्त करने वाला है। हृषीका अर्थात् इन्द्रियाँ। सारी इन्द्रियों का जो अधीश्वर है वह हृषीकेश है। इसके द्वारा बतलाया कि यह जो दर्शन आदि किया, वह इसीलिए कि आप सारी इन्द्रियों के अधीश्वर हैं, आपने ही मुझे यह सब दिखा दिया। आपके माहात्म्य का कीर्तन करके या सुन कर सारा जगत् प्रसन्न हो रहा है। परमेश्वर की महिमा को समझ कर सब लोग प्रसन्न होते हैं। निरन्तर अनुभव है कि संसार में दुष्ट लोग ही हमेशा आगे बढ़ते हैं इसलिए साधु पुरुषों के मन में बड़ा सन्देह रहता है कि 'परमेश्वर इन सबको ठीक क्यों नहीं कर देते? कहीं ऐसा

तो नहीं है कि दुष्ट ही हमेशा सफल होते रहें?' अमेरिका के अन्दर एक ऐसा 'म्यूच्युअल फण्ड' है जो बुरी चीज़ों के व्यापार में निवेश नहीं करता। शराब, सिगरेट इत्यादि के उद्योग से उसे परहेज है। उसको देखकर किसी दूसरे ने म्यूच्युअल फण्ड निकाला जो जितने बुरे काम हैं शराब, जुआ आदि, उन कम्पनियों के शेयर ही खरीदता है! इस वर्ष अच्छी कम्पनियों वाले ने पच्चीस प्रतिशत भाग दिया और बुरी कम्पनियों का काम करने वाले नें पैंसठ प्रतिशत दिया! प्रायः व्यवहार में सर्वत्र प्रतीति होती है कि दुष्ट ही जीतते हैं। इसलिए अर्जुन कहता है कि आपके इस भयंकर रूप को देखकर, जिसमें जितने दुर्जन हैं वे सारे नष्ट हो रहे हैं, सभी सज्जन लोग अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं। यह बात 'स्थाने' युक्त है, ठीक है, ऐसा ही होना चाहिए अर्थात् हर्ष आदि का विषय भगवान् होवें यह युक्त ही है, ठीक ही है। इसी से पता लगता है कि परमेश्वर सर्वभूतहित करने वाले हैं। इतना ही नहीं, इस प्रकार आप की महिमा से, महिमा को देख कर या सुन कर 'अनुरज्यते च', आपके प्रति अनुराग, प्रेम बढ़ता है। 'सर्वे रक्षांसि' सभी राक्षस लोग अर्थात् राक्षसी प्रवृत्ति के लोग आपके इस रूप से भय प्राप्त करके चारों दिशाओं में दौड़ते हैं। जो भले आदमी हैं वे तो प्रसन्न होते हैं और जो बुरे लोग हैं वे भय से भागने लगते हैं। लोक में देखा जाता है कि प्रायः जो दुष्टात्मा हैं वे मृत्यु सामने आने पर घबराते हैं कि 'आगे क्या होगा!' जब तक मृत्यु का सामना नहीं होता तब तक तो सोचते हैं 'हम बड़े बुद्धिमान् हैं, हमने अपना सब काम बना लिया '। इस संसार में जो काम बनाया है वह सारा-का-सारा मृत्यु के क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः जब मृत्यु सामने झाँकती है तब अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। और भी अर्जुन बताता है, जो सिद्धों के समुदाय हैं, 'नमस्यन्ति' वे आपको नमस्कार करते हैं। यह भी 'स्थाने' ठीक ही है क्योंकि सिद्ध सारी सिद्धियाँ परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त करते हैं।।३६।।

'स्थाने' अर्थात् उक्त संगतता को ही अर्जुन उपपन्न करता है।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महामना! असीम! देवाधिप! जगदाश्रय! आप भाव-अभावरूप उपाधियों वाले अक्षर और वास्तव में उन उपाधियों से परे हैं। ब्रह्मा के भी कारण, सर्वाधिक गौरवशाली आपको वे क्यों न प्रणाम करें!

क्यों न आपको वे नमस्कार करें जिन्होंने आपकी कृपा से सिद्धि प्राप्त की है! 'हे महात्मन्!' आप महात्मा हैं अर्थात् अन्य सब लोगों से आपकी श्रेष्ठता है क्योंकि ब्रह्मा के भी आप गुरु हैं, उनसे भी आप गुरुतर हैं। हम लोगों को जितना भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सारा ब्रह्मा जी से ही होता है और इस सारे संसार को भी ब्रह्मा जी बनाते

हैं। परन्तु ब्रह्मा जी तब बना पाते हैं जब पहले पंचमहाभूत आदि की सृष्टि परमेश्वर कर लेते हैं। विराट् स्थल में आकर ब्रह्मा हुए, स्थूल पंचमहाभूतों से ही ब्रह्मा का शरीर बनेगा। इसलिए उसके पहले ईश्वर ने पंचमहाभूतों की सृष्टि, उनका पंचीकरण इत्यादि कर दिया, तब आगे सृष्टि ब्रह्मा जी कर सकते हैं। आप ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं अर्थात् ये अपंचीकृत पंचमहाभूत, पंचीकरण- यह सब करने वाले हैं। किंच ब्रह्मा जी जब उत्पन्न हुए तब उनको ज्ञान कहाँ से मिला? वेद स्पष्ट कहता है 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' परमेश्वर पहले ब्रह्मा जी को बनाते हैं और फिर वेद का ज्ञान ब्रह्मा को देते हैं। वेद से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का पता लगता है। ब्रह्मा हम सबके गुरु हैं इसलिए उपनिषदों में वंश ब्राह्मण में अन्त में ब्रह्मा का नाम आता है। अतः ब्रह्मा हम सबके गुरु हुए। उनके भी गुरु होने से परमेश्वर 'गरीयसे', गरीयान् है। जब हमें प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मोंका और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो गया, तब हम उस आदिकर्त्ता को नमस्कार कैसे न करें! कपिल आदि सिद्ध और हम सब नमस्कार करते ही हैं।

'अनन्त!' वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। देश, काल और वस्तु तीन सीमाओं से ही कोई चीज़ परिच्छिन्न हो सकती है। देश से परिच्छेद अर्थात् यहाँ तक, इसके आगे नहीं। काल से परिच्छेद अर्थात् अब तक, इसके बाद नहीं। वस्तु से परिच्छेद अर्थात् यह है, वह नहीं। परमात्मा में इस प्रकार न देश का परिच्छेद, न काल का परिच्छेद, न वस्तु का परिच्छेद है। तीनों परिच्छेदों से रहित परमेश्वर है। ठीक जिस प्रकार से जब हम स्वप्न देखते हैं तब स्वप्न का देश हमें परिच्छिन्न नहीं करता क्योंकि जो देश हम बनाते हैं स्वप्न में वही देश है। स्वप्न का काल भी हमें परिच्छिन्न नहीं करता क्योंकि स्वप्न का काल भी बनाने वाले हम ही हैं। स्वप्न की वस्तुएँ भी हमारा परिच्छेद नहीं करतीं क्योंकि स्वप्न की वस्तुएँ भी सब हम ने ही बनाई हैं, हम ही बने हैं। जैसे जो स्वप्न का अधिष्ठान जीव है, उसको स्वप्न का देश कालादि परिच्छिन्न नहीं कर सकता, इसी प्रकार अपनी माया से बने हुए देश काल वस्तु से परमात्मा भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति ने कहा कि परमेश्वर अनन्त है। केवल अनन्त कहने से किसी को प्रतीत हो सकता है कि जड चीज़ भी व्यवहार में अनन्त देखी जाती है जैसे आकाश। आकाश हम लोगों को न देश से परिच्छिन्न लगता है, न काल से परिच्छिन्न लगता है, न वस्तु से परिच्छिन्न लगता है। घड़े में आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है पर परिच्छिन्न होता तो नहीं है। क्या वह परमेश्वर भी अव्यक्त या सांख्यों की प्रकृति की तरह देश काल से अपरिच्छिन्न होता है? इसके उत्तर में कहा 'देवेश!' आप देवताओं के भी ईश्वर हैं। इन्द्रियों को देवता कहते हैं। इन्द्रियों का ईशन करने वाला चेतन ही होता है। मन को इन्द्रियों में ही समझ लेना चाहिए ऐसे स्थल में। अतः आप केवल उपादान कारण, जड कारण नहीं हैं, चेतन कारण हैं। आप ही एकमात्र नित्य कारण हैं। अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण अधिष्ठान हुआ करता है

इसलिए कहा 'जगन्निवास!' सारा जगत् आपमें ही अधिष्ठित है, आप ही इसके अधिष्ठान हैं।

'त्वम् अक्षरं' आप अक्षर हैं अर्थात् आप कभी भी कुछ भी कम नहीं होते। इतनी सारी सृष्टि आपसे निकली, इतने सारे जीव आपसे निकले, फिर भी आप वैसे के वैसे हैं। इसलिए श्रुति कहती है 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' पूर्ण परमेश्वर से ही यह पूर्ण सृष्टि निकलती है लेकिन निकलने पर भी 'पूर्णमेव अवशिष्यते'। जगन्निवास होने से ही आप ऐसे अक्षर हैं। रस्सी से सर्प, जलधारा, हार, इत्यादि सब निकलने के बाद भी वह रस्सी वैसी-की-वैसी रहती है। 'सत्'; जहाँ भी 'कोई चीज़ विद्यमान है' ऐसी सद्बुद्धि होती है, उसके विषय आप ही हैं। आप हैं इसलिए हमको सत् प्रतीत होता है। ठीक जिस प्रकार से नेत्र के सम्बन्ध से रस्सी का ज्ञान है, तभी आगे सर्प का भ्रम होता है, इसी प्रकार सत्-रूप आप हैं, इसलिए घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है, पेड़ा है ये सब भ्रम सम्भव हैं। इस तरह आप सत्-रूप हैं। और जहाँ बुद्धि है कि 'यह चीज़ नहीं है', जैसे मिट्टी को देख कर लगता है 'घड़ा नहीं है', वहाँ 'नहीं है' की बुद्धि भी आप हैं तभी होती है। खाली 'नहीं है' की प्रतीति कभी नहीं होती! 'मेज़ पर कलम नहीं है, मिट्टी में घड़ा नहीं है' यों मेज़ मिट्टी आदि कोई चीज़ 'है' तभी 'नहीं है' की प्रतीति होती है। 'नहीं है' की प्रतीति में भी सचमुच प्रतीति तो किसी चीज़ के होने की है। उसके बाद, 'यदि अमुक चीज़ यहाँ होती तो दीखती' इस तरह 'नहीं है' का अनुभव हो पाता है। सत् और असत् से व्यक्त और अव्यक्त, कार्य और कारण भी कहे जाते हैं। जो प्रतीत होता है वह कार्य है और नहीं प्रतीत होने वाले को कारण कहते हैं। सत् और असत्, ये दोनों ही अक्षर हैं। सत् और असत् दोनों आपके बिना असम्भव हैं। वस्तुतः तो आप न कार्य हैं न कारण हैं। कार्यरूप से भी आप प्रकट हैं, कारण-रूप से भी आप ही प्रकट हैं। पर वस्तुतः आप न कार्य हैं, न कारण हैं। जब हम माया की दृष्टि से देखते हैं तब आप कारण हैं। जब हम माया के कार्य घट-पट आदि की दृष्टि से देखते हैं तब आप कार्य हैं। और जब माया की दृष्टि को छोड़ कर देखते हैं तब आप दोनों से परे हैं अर्थात् आप न कार्य हैं न कारण हैं, न व्यक्त हैं, न अव्यक्त हैं।।३७।।

और भी स्तुति करता है-

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। ३८।।

आप सर्वकारण चेतन हैं, पूर्ण हैं, चिरन्तन हैं, आप इस विश्व के उत्तम आश्रय हैं, ज्ञाता-ज्ञेय दोनों हैं, अंतिम प्राप्तव्य हैं, हे आनंद रूप वाले! आपके द्वारा विश्व व्याप्त है।

'त्वम् आदिदेवः;' जब आप महाप्रलय करते हैं तब सब चीज़ों का संहार करके

अकेले ही रहते हैं। फिर सृष्टि के समय आप सबको प्रकट करते हैं इसलिए आप ही आदिदेव हैं। अथवा आप सबके आदि भी हैं और चेतन होने से देव भी हैं। 'पुरुषः', आप ही हृदय पुण्डरीक के अन्दर आकर बैठे हैं तभी अन्तःकरण की 'मैं' वृत्ति में प्रकाश होता है। मैं का भान 'मैं चेतन हूँ' ऐसा ही होता है। क्योंकि हृदय पुरी के अन्दर आप विद्यमान हैं इसलिए अहंकारात्मिका वृत्ति आपको विषय करती है। 'पुराणः', 'पुरापि नव एव', पहले से पहले कभी भी चले जायें, भगवान् वैसे-के-वैसे नए वहाँ पर भी विद्यमान हैं। पुराने होने मात्र से पुराण होवें ऐसा नहीं; पहले से पहले भी वे वैसे ही नए रहते हैं जैसे आज नए हैं। ऐसा नहीं है कि बुड्ढे हो गए! पहले भी वैसे ही नए थे और अभी भी वैसे ही नए हैं। इसलिए कहा 'पुराणः'। 'अस्य विश्वस्य परं निधानम् त्वम्', यह जो सारा विश्व है वह सारा ही महाप्रलय के समय लीन हो जाता है। इसके आप ही परम निधान हैं। जैसे मिट्टी के कार्य मिट्टी में जाएँगे, वैसे मिट्टी जल में जाएगी इसलिए मिट्टी का निधान जल है। जल तेज में जाएगा, इसलिए जल का निधान तेज है। अन्त में सब चीज़ें माया में लीन होंगी और माया ब्रह्म में लीन हो जाती है। आप 'परं निधानम्', आप से परे कुछ नहीं क्योंकि आप किसी में लीन होते नहीं।

आप ही 'वेत्तासि'; अन्तःकरण के अन्दर अहमाकार से प्रकाशित होकर जानने वाले आप ही हैं। 'वेद्यं', जो जाना जाता है वह भी आप ही हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', इदं-रूप से जो कुछ जाना जाता है उसको श्रुति ब्रह्मरूप कहती है और 'अयमात्मा ब्रह्म' के द्वारा जो जानने वाला है उसको भी ब्रह्म ही कहती है। आप ही वेत्ता और आप ही वेद्य हैं। इसी को बतलाने के लिए मार्कण्डेय ऋषि को जब भगवान् ने दर्शन दिया था तब एक पत्ते के ऊपर छोटे बालक रूप में अपने पैर के अंगूठे को खुद ही चूस रहे थे। जैसे जो चूसने वाला है वही चूसा जाने वाला है, इसी प्रकार जो जानने वाला है वही, जो जाना जाता है वह भी है। 'वेद्यं' का तात्पर्य जानने के *योग्य* भी होता है। वेद ने कहीं किसी चीज़ को जानने के योग्य नहीं बताया है, केवल 'आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः' एकमात्र आत्मा को ही जानने के लायक कहा है। अतः वेद्य के द्वारा कहा कि परमात्मा ही एक है जिसको जानना है। बाकी सब चीज़ें तो इन्द्रियों से जानी जाएँगी, मन-बुद्धि से जानी जाएँगी। परन्तु परमात्मा खाली अहम्-प्रत्यय से वेद्य है।'अहम्' इस प्रतीति से ही परमात्मा को जाना जाएगा। वेत्ता रूप से आप ही अपने को जानते हैं और वेद्य रूप से आप ही जाने जाते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक जो अखण्ड वृत्ति बनती है, उसके अन्दर ब्रह्म ही ब्रह्म को जानता है। इसलिए 'परं च धाम' आप ही परम् पद हैं, परम् धाम हैं अर्थात् आप ही एकमात्र पहुँचने के लायक स्थान हैं। इसीलिए श्रुति कहती है 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्', 'तद् विष्णोः परमं पदम्', वही परं धाम, परं पद है।

'हे अनन्तरूप! त्वया विश्वम् ततम्।' अनन्त रूपों को आपने धारण किया है इसलिए उन सारे अनन्तरूपों में आप ही व्याप्त हैं, आपके द्वारा ही वे तत हैं, व्याप्त

किए गए हैं। 'ततं' के दोनों ही अर्थ यहाँ समझ लेने चाहिए : आपने ही अपने को इन सारे रूपों में प्रकट किया है। 'तत' अर्थात् विस्तृत। आपने ही सारे संसार को प्रकट किया है और क्योंकि कोई और उसमें उपादान कारण नहीं है इसलिए सबमें आप ही हैं। जिस प्रकार से अनेक प्रकार की पकौड़ियाँ बनाते हो- आलू की पकौड़ी, भिण्डी की पकौड़ी, टमाटर की पकौड़ी, इन सारे रूपों को धारण करने वाला कौन है? बेसन है। बेसन ही लिपट कर इन सारे रूपों को प्रकट करता है। अथवा बेसन की ही कई शक्लें देकर तुम पकौड़ियाँ बनाते हो, सब अलग-अलग ढंग की दीखेंगी। बेसन ही उन सब रूपों में अपने को प्रकट करता है और बेसन सबमें व्याप्त है। इसी प्रकार सब रूप भगवान् ने ही लिये हैं अतः वे सबमें व्याप्त हैं।।३८।।

भगवान् की सर्वात्मता, सर्वदेवरूपता स्पष्ट करता है-

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, प्रजापति ब्रह्मा व उन ब्रह्मा के भी जनक हैं। हज़ारों दफ़ा, बारम्बार, फिर-फिर आपको प्रणाम है।

वायु देवता, जिन्हें पहले मरुद्गण कह आए हैं वे आप ही हैं। यमदेवता, अग्नि देवता, वरुण देवता, चन्द्र देवता, कश्यपादि प्रजापति और 'प्रपितामह'- सबके दादा ब्रह्मा जी भी आप ही हैं। अथवा यदि प्रजापति से ब्रह्मा को लें तो ब्रह्मा भी विष्णु के नाभिकमल से प्रकट हुए इसलिए विष्णु प्रपितामह हो जाएँगे। आपको नमस्कार है, हज़ारों बार नमस्कार है, फिर नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। इस प्रकार नमस्कार का जो बार-बार कथन किया गया है, इसके द्वारा श्रद्धा और भक्ति की अतिशयता बतला रहे हैं। बार-बार नमस्कार करके भी अर्जुन को सन्तोष नहीं हो रहा। अपनी श्रद्धा भक्ति के अतिशय को प्रकट करने के लिए वह पुनः पुनः नमन कर रहा है।।३९।।

दूसरी तरह से स्तुति व प्रणाम करता है-

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे सर्वरूप! आगे से, पीछे से, सब तरफ से आप को नमन हैं। आप असीम सामर्थ्य वाले और अपार पराक्रम वाले हैं। क्योंकि आप सभी को व्याप्त किये हैं इसलिये आप सभी कुछ हैं।

'नमः पुरस्तात्', सामने की दिशा में, पूर्व दिशा में भी आप हैं, सूर्य रूप से; आपको नमस्कार है। 'पृष्ठतः' पीठ की तरफ, पश्चिम दिशा में भी नमस्कार है; अर्थात् उदय होने वाले सूर्य को भी नमस्कार है, अस्त होने वाले सूर्य को भी नमस्कार है, आने वाली

रात्रि को भी नमस्कार है और जाने वाली रात्रि को भी नमस्कार है। केवल पूर्व पश्चिम में ही नहीं, 'सर्वतः ते नमः अस्तु' पूर्व पश्चिम की तरह दक्षिण उत्तर आदि सब दिशाओं के अन्दर आपको नमस्कार है। क्योंकि आप सर्वरूप हैं, इसलिए आपको सब तरफ नमस्कार है। सारी दिशाओं में आप स्थित हैं। केवल स्थित ही नहीं हैं, आप अनन्त वीर्य अर्थात् सामर्थ्य वाले हैं। सब देश सब काल और सब वस्तुओं के अन्दर पूरी तरह से आपकी सामर्थ्य कारगर होती है। लोक में देखा जाता है कि बहुत-से लोग सामर्थ्य वाले तो होते हैं, शस्त्र आदि चलाना खूब जानते हैं, परन्तु पराक्रम नहीं करते, सामर्थ्य होने पर भी पराक्रम से रहित होते हैं। जैसे एक बार द्रोणाचार्य को दुर्योधन ने बहुत भला-बुरा कहा, कि 'आप जान बूझ कर अर्जुन को आगे जाने देते हैं। आपकी सामर्थ्य है परन्तु आप पराक्रम नहीं करते, विक्रम नहीं करते, नहीं तो ज़रूर मार देते'। तब द्रोणाचार्य को क्रोध आ गया, उन्होंने उससे कहा 'युद्ध के मैदान में मुझे सेनापति बनाया है इसलिए तुम सेना के अंग होने से मेरे आदेश के अनुसार चलो : जाओ, मैं कहता हूँ तुम जाकर अर्जुन से लड़ो। मैं बुड्ढा आदमी हूँ, तुम तो जवान हो, उससे लड़ो।' दुर्योधन ने नमस्कार किया और चुपचाप चल दिया कि 'यदि मैं सेनापति की आज्ञा नहीं मानूँगा तो सेनापति की आज्ञा कौन मानेगा!' जब चलने लगा तब द्रोणाचार्य को दया आई कि 'यह जाएगा तो एक मिनट में खत्म हो जाएगा'। उस समय अर्जुन बड़ा पराक्रम दिखला रहा था, इसीलिए द्रोणाचार्य को भी कठिनाई आ रही थी। उसको वापिस बुलाया और अभेद्य कवच उन्होंने मन्त्रित करके दिया ताकि कोई भी अस्त्र शस्त्र उसके ऊपर काम नहीं कर सके। ऐसे अभेद्य कवच से उसको युक्त कर उसको कहा - 'अब तुम्हारे ऊपर कोई भी दिव्यास्त्र काम नहीं करेगा, तुम जा करके युद्ध करो।' गया दुर्योधन, युद्ध करने लगा। अर्जुन तो दुर्योधन को कुछ समझता नहीं था, छोटे-मोटे अस्त्र चलाए पर कुछ काम नहीं हुआ। दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया, फिर भी कुछ काम नहीं हुआ, दुर्योधन लड़ता रहा। भगवान् ने कहा 'अरे अर्जुन! आज क्या हो गया? तू दुर्योधन को ही नहीं हटा सक रहा है!' तब अर्जुन हँसा, बोला 'लगता है द्रोणाचार्य ने इसको अभेद्य कवच से अभिमन्त्रित कर दिया है। इसलिए इसको आज मारना तो असम्भव है। दिव्यास्त्र भी इस पर काम नहीं करेंगे। परन्तु युद्ध करने के लिए केवल सामर्थ्य से काम नहीं होता है, पराक्रमी भी होना पड़ता है। अभेद्य कवच सारे शरीर को तो अभेद्य बना देता है पर हाथ तो अभेद्य नहीं हो सकते क्योंकि वे अभेद्य हो जाएँ तो कार्य नहीं कर पाएँगे। मैं अभी इसको ठीक करता हूँ।' उसने हाथों के ऊपर बाण मारना शुरू किया और वे बाण इतने लगे कि उससे सहन नहीं हुआ, उसने कहा अपने सारथी से कि 'अरे! चलो-चलो।' दुर्योधन में सामर्थ्य का आपादन तो द्रोणाचार्य कर सकते थे परन्तु पराक्रम तो खुद करना पड़ता है।

भगवान् केवल अनन्तवीर्य ही नहीं हैं, अमित विक्रम वाले भी हैं।अमित अर्थात्

जिसको कभी नाप ही नहीं सकते। किसी बड़ी चीज़ से ही छोटी को नाप सकते हो। उनका विक्रम कभी नापा ही नहीं जा सकता क्योंकि उससे बड़ा विक्रम किसी के पास होवे तब उससे तुलना कर कह सकते हैं कि भगवान् का विक्रम इतना है। अतः अमित एक तरह से अनन्त ही हो गया। अनन्त वीर्य वाले हैं, अनन्त विक्रम वाले हैं।

'सर्वं समाप्नोषि' सबको आप एक अपने आत्मस्वरूप से ही व्याप्त करके रखते हैं। क्योंकि सबको व्याप्त करके रखते हैं इसलिए 'ततः सर्वः असि' आप ही सर्व हैं। इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् की स्तुति की।।४०।।

अब अर्जुन क्षमायाचना करता है कि आपके साथ व्यवहार में जो मुझ से भूलें हुई उन्हें आप क्षमा करें -

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।।४१।।

आपकी यह महिमा न जानते हुए मैंने मोह से या प्रेम से भी आप मित्र हैं ऐसा मानकर जो विनयहीन ढंग से कहा 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' इत्यादि (उसे माफ कर दीजिये)।

एक जैसी उम्र वाले जब आपस में प्रेम-भाव से रहते हैं, तब उनको सखा कहा जाता है। समान उम्र के कारण सखा मान कर आपसे व्यवहार करता रहा। मेरी आपकी कोई बराबरी नहीं। आप आदि-पुरुष हैं, सबकी उत्पत्ति के पहले से हैं और मैं अभी पैदा हुआ हूँ। अतः मैंने जो आपको सखा समझा वह मेरा विपर्यय ज्ञान था, विपरीत बुद्धि थी। परन्तु इस विपरीत बुद्धि के कारण 'प्रसभं' अर्थात् आपको अभिभूत करते हुए, आपका अनादर करते हुए मैंने व्यवहार किया। विपरीत बुद्धि ने मेरी आपको समझने की सामर्थ्य ढाँक दी थी इसलिए आपको सखा मान कर 'यदुक्तं' जो मैं इस प्रकार कहता रहा 'हे कृष्ण!' आदि, उसकी माफी चाहता हूँ। शास्त्र में विधान है अपने से बड़े को साक्षात् नाम लेकर नहीं बुलाते। मैं आपको साक्षात् नाम लेकर बुलाता था 'हे कृष्ण!' यह एक तरह से आपका अपमान ही है। बड़े को साक्षात् नाम लेकर बुलाना उसका अपमान होता है। इतना ही नहीं, आपका रंग काला है इसलिए कृष्ण कह कर मैं आपको काला कहता था। इस प्रकार से मेरी विपरीत बुद्धि थी। इसी तरह से मैंने आपको यदुकुल का समझा- 'हे यादव!' आप यदुकुल के नहीं हैं, आप तो सर्वव्यापक हैं, परन्तु विपरीत बुद्धि के कारण मैं आपको यदुकुल में उत्पन्न हुआ मानता था। 'हे सखे!' सम्बोधन करता था। मैं आपको हम-उम्र दोस्त समझ कर 'सखा' ('सखे इति' की 'सखेति' यह सन्धि आर्ष है। सारस्वतव्याकरण के वृत्तिकार ने तो 'छन्दसि तु भवति' कहकर इस 'सखेति' का ही उदाहरण दिया है) ऐसा भी सम्बोधन करता था।

'तव इदं महिमानं अजानता' आपकी इस महिमा को न जानते हुए ही यह सब

करता रहा। 'महिमानं' के साथ 'इमं' होना चाहिए, परन्तु यहाँ 'इदं' है अतः आचार्यों ने कहा कि यदि कहीं इमं पाठ मिले तब तो सीधा ही तात्पर्य हो जाएगा। अन्यथा 'तव महिमानं अजानता' और 'तव इदं विश्वरूपं अजानता', यों दो बातें हैं- आपके इस रूप को मैं नहीं जानता था और आपकी महिमा को नहीं जानता था। 'प्रमादात्' बचपन से लेकर अब तक आपकी इतनी चमत्कारिक घटनाओं को जान कर भी मैंने समझा नहीं कि आप कौन हैं इसलिए यह प्रमाद रहा। देखकर भी नहीं देखना, समझकर भी नहीं समझना प्रमाद है। शिशुपाल को भगवान् ने मारा, कंस को मारा, ये सब बातें जानते हुए भी, 'बड़ा शक्तिशाली है' इस रूप से ही समझता था। विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति चीज़ को देख कर भी उसकी सचाई नहीं समझता। भगवान् की सामान्य लीलाओं को देख कर 'ये परमेश्वर हैं', यह दृष्टि सामने नहीं आई। दूसरा कारण इसमें प्रणय भी था, 'प्रणयेन वापि'। जहाँ स्नेह होता है वहाँ देखने पर भी महिमा पर ध्यान नहीं रहता। जैसे बिलकुल बेपढ़ी-लिखी माँ अपने अत्यंत योग्य विद्वान् राष्ट्रपति बन गये पुत्र की महत्ता जानती तो है, 'मुझसे अत्यधिक महत्त्वशाली है' ऐसा उसे ज्ञान तो है, लेकिन ख्याल नहीं रहता, उसे वैसा ही बालक समझती है जैसा उसके बचपन में समझती रही। कभी प्रमाद के कारण, कभी स्नेह के कारण और कभी दोनों कारणों के मिल जाने से मैंने ऐसा व्यवहार किया। उस सबको आप माफ करें।।४१।।

और भी व्यवहारों के लिये क्षमा माँगता है-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

अच्युत! और जो परिहास के लिये अकेले में या सबके सामने घूमने में, सोने में, बैठने में, भोजन करने में आप मुझसे तिरस्कृत हुए, वह सब मैं प्रमाणातीत स्वरूप वाले आपसे माफ कराता हूँ।

अवहास अर्थात् हँसी में किसी को नीचा दिखाना। हँसी के कारण आपको नीचा दिखाया। कहाँ-कहाँ पर ऐसा किया? 'विहार' कभी टहलने जा रहे हैं, भगवान् कुछ पीछे रह गए तो, हँसी में कह दिया 'इतने में ही थक गए!' यों अवहासार्थ नीचा दिखाया। 'शय्या' एक ही बिछौने पर कभी सोना पड़ा तो कह दिया 'सारी जगह आपने ही घेर ली! मुझे भी तो सोना है, कितने मोटे हो गए हो!' 'आसन' जहाँ बैठने की जगह होती है तो बजाय इसके कि आपको कहता 'बैठिए', खुद ही जा करके बैठ जाता था। बाद में आकर आप नीचे बैठते थे। 'भोजनेषु' भोजन करने के लिये एक पंक्ति में बैठते हैं तो बड़े को प्रधान स्थान पर बैठाते हैं। प्रधान स्थान पर मैं खुद बैठ जाता था, आपको गौण स्थान देता था। अथवा विहार का मतलब खेल-कूद भी होता है। खेल-कूद में भी आपका परिभव कर देता था। 'असत्कृतोऽसि' इन सब तरह से आपको

नीचा दिखाने का प्रयत्न किया परन्तु किया हँसी-मज़ाक में। 'एकः' जब अकेले में थे तब भी किया। 'अथवा तत्समक्षं' या बहुत-से लोगों के, दोस्तों के, परिवार वालों के सामने भी किया। 'तत्क्षामये' इन सारे अपराधों को, ऐसे अन्य भी जो अपराध हुऐ उन्हें भी आपसे क्षमा कराता हूँ, प्रार्थना करता हूँ कि आप क्षमा करें।

आप कैसे हैं? अप्रमेय हैं। आपकी वास्तविकता आपको देखकर के, साथ रह करके भी नहीं जान पाते। परमात्मा की अप्रमेयता सबके लिए ऐसी ही है। संसार के कण-कण और क्षण-क्षण को जब हम देखते हैं तब देखते तो सच्चिदानन्द को ही हैं, पर देखने पर भी अप्रमेय है इसलिए पता नहीं लगता कि यही सच्चिदानन्द है। मन्दिर में जाकर मूर्त्ति देखते हैं तब तो लगता है 'हम भगवान् को देख रहे हैं' पर और किसी को देखते हैं तो ऐसा नहीं लगता कि 'ये भगवान् हैं', क्योंकि प्रमा के अविषय हैं। एक बार नामदेव फुलका बना रहे थे, एक कुत्ता आया, रोटी लेकर दौड़ा, वे उसके पीछे दौड़े 'भगवन्! ज़रा घी तो चुपड़ लेने दो फिर ले जाना।' जो पहचानता है उसकी तो ऐसी अनुभूति है। पर हम कुत्ते के रूप में परमेश्वर को नहीं देखते अतः लट्ठ लेकर दौड़ते हैं उसको मारने के लिए। क्यों? क्योंकि वह अप्रमेय है, प्रमा का विषय नहीं है। इसके द्वारा अपने व्यवहार का कारण भी बतला रहा है : ठीक है, मेरा प्रमाद भी था, स्नेह भी था, लेकिन किया क्या जाए! आप हैं ही अप्रमेय। इसलिए अगर मैंने आपको नहीं पहचाना तो आपको क्षमा कर देना चाहिए।।४२।।

अप्रमेय भगवान् का बड़प्पन स्पष्ट करता है-

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

आप इस स्थावर-जंगम संसार के पिता हैं, सबके पूज्य गुरु हैं, अत्यधिक गरिमाशाली हैं। हे बेजोड़ प्रभाव वाले! त्रिलोकी में आप की बराबरी वाला ही कोई नहीं है तो आपसे अधिक कहाँ से होगा!

सारे संसार को आप ने ही पैदा किया। महाप्रलय के अन्दर एकमात्र आप थे, आपने ही पंचमहाभूत आदि बना कर सब चीज़ों को पैदा किया इसलिए आप सबके पिता हैं। चेतन जगत् के भी पिता हैं और जड जगत् के भी पिता हैं। पंचमहाभूतों से इन्द्रियाँ मन इत्यादि बनाए और मन बना तभी उसमें जीवभाव का प्रतिबिम्ब पड़ा इसलिए उसके भी पिता हैं और महाभूतों का पंचीकरण करके सारा संसार बनाया, दृश्य जगत् बनाया, इसलिए इसके भी आप ही पिता हैं। 'पूज्यश्च', बहुत बार पिता सत्-स्वभाव का नहीं होता, जैसे प्रह्लाद के पिता तो थे ही हिरण्यकशिपु परन्तु सत्-स्वभाव के नहीं थे इसलिए पिता में उसकी पूज्य दृष्टि नहीं थी। परन्तु आप केवल पिता ही नहीं, पूज्य भी हैं। 'गरीयान् गुरुः', गुरुतर गुरु हैं। परमेश्वर ही सारे गुरुओं का मूल स्थान हैं।

पतंजलि ने कहा है 'स पूर्वेषाम् अपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्' पूर्व से पूर्व चले जाओ, उसके भी पहले ज्ञान को देने वाले परमेश्वर हैं ही। दूसरे सब गुरुओं की अपेक्षा आप गुरुतर हैं क्योंकि सारी विद्याओं का आप से ही प्रारम्भ होता है। 'त्वत्समः न अस्ति', आपके जैसा कोई नहीं है, आपकी बराबरी कर सके ऐसा कोई नहीं है। बाकी सबका ज्ञान अन्तःकरण को आश्रित करके रहेगा, अन्तःकरण देश काल से परिच्छिन्न है इसलिए सबका ज्ञान देश काल से परिच्छिन्न ही रहेगा। परन्तु आप तो माया वृत्ति से जानते हैं, साक्षी-रूप होने से अन्तःकरण आपके लिए अपेक्षित ही नहीं है। इसलिए आपके लिए भूत भविष्य वर्त्तमान, यहाँ वहाँ इत्यादि देश काल का परिच्छेद है ही नहीं। इसलिए आप गुरुतर गुरु हैं। जब आपके समान ही कोई नहीं है तो 'अभ्यधिकः कुतः' आपसे बड़ा कौन हो सकता है! अगर परमेश्वर के जैसा कोई दूसरा हो जाए तो दो परमेश्वर होंगे जिससे दोनों का ईश्वरत्व खण्डित हो जाएगा। दोनों के विपरीत संकल्पादि होने पर असंभव स्थिति हो जायेगी। इसलिए शास्त्रकारों ने निर्णय किया है कि सृष्टि स्थिति लय इत्यादि जो जगत्-व्यापार है वह केवल परमेश्वर ही माया-उपाधि के द्वारा कर सकता है। ब्रह्म-स्वरूप होने पर भी मुक्त पुरुष माया-उपाधि के ऊपर नियन्त्रण वाला नहीं होता। जब दो परमेश्वर ही नहीं हो सकते तो फिर परमेश्वर से बड़ा कोई कैसे हो सकता है! 'लोकत्रयेपि', तीनों लोको में; ऐसा नहीं कि यहाँ तो आप बड़े हैं लेकिन आगे किसी जगह कोई और बड़ा हो। जैसे यहाँ राजा सबसे बड़ा है, स्वतन्त्र है, परन्तु उस राजा का राज्य स्वर्गलोक में, तपःलोक में, जन-लोक में नहीं चल सकता। ऐसा आपके विषय में नहीं है क्योंकि सब लोकों में आपका एक ही अखण्ड शासन है।

सभी लोकों में आप 'अप्रतिमप्रभाव' हैं। आपके समान प्रभाव वाला कोई नहीं है। जैसा तुम्हारा माप है वैसा ही दूसरे का माप होवे तब उसको प्रतिमा कहेंगे। तुम्हारे पास भी एक किलो का बाट, हमारे पास भी एक किलो का बाट तो दोनों बाट समान हो गए, एक जैसा नाप हुआ। इसी प्रकार से जैसा तुम्हारा प्रभाव वैसा ही दूसरे का प्रभाव होवे तब तुम्हारे जैसे प्रभाव वाला दूसरा हो। सर्वज्ञ सर्वेश्वर सारे ब्रह्माण्डों में एक ही है। अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्दर हर ब्रह्माण्ड में एक ब्रह्मा भी होगा, एक इन्द्र भी होगा, मनु भी होंगे, हर बार जब सृष्टि होती है तब ये सब होते हैं। परन्तु ऐसे हर सृष्टि में परमेश्वर अलग नहीं होता! इसलिए इन्द्रादि के समान तो दूसरे ब्रह्माण्ड का जो स्वर्ग है उसका राजा दूसरा हो सकता है, परन्तु परमेश्वर तो सब ब्रह्माण्डों का एक ही है इसलिए अप्रतिमप्रभाव अर्थात् आपका प्रभाव निरतिशय है, इससे ज्यादा प्रभाव किसी का नहीं है।।४३।।

ऐसे होने से ही भगवान् क्षमा करें यह उचित है ऐसा कहता है-

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इसलिए शरीर झुकाकर प्रणाम कर आप स्तुत्य ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और प्रिय प्रिया के अपराध सह लेता है ऐसे हे देव! आपको मेरे अपराध सह लेने चाहिए।

आप क्षमा करें इसकेलिये आपको बाध्य तो कर नहीं सकता लेकिन 'कायं प्रणिधाय प्रणम्य' मैं साष्टांग दण्डवत् आपको प्रणाम करता हूँ। प्रणाम अहंकार भाव को छोड़ने के लिए किया जाता है। इस प्रकार भाव है- मेरी कोई सत्ता ही नहीं है, आपकी ही सत्ता होने से मैंने चाहे अच्छा किया या बुरा किया, लेकिन आपकी माया के अध ीन होकर ही किया है। जब तक मनुष्य में अभिमान है कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, मैं करने वाला, भोगने वाला हूँ' तब तक उसको पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ता है। परन्तु जब अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अहंकार छोड़ देता है, 'मैं कुछ भी न कर सकता हूँ, न भोग सकता हूँ, मेरी वास्तविकता तो केवल साक्षी रूप ही है' इस प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व का त्याग ही वस्तुतः जो प्रणाम का अर्थ है वह अंगीकार कर लेता है, तब कर्मफलव्यवस्था से छूटने लायक हो जाता है। 'कायं प्रणिधाय', शरीर को भली प्रकार से नँवा कर 'प्रणम्य' प्रणाम करके 'प्रसादये', आपको प्रसन्न कर रहा हूँ। बस यही मैं कर सकता हूँ, इसके सिवाय और कुछ कर भी नहीं सकता! मैं आपको प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ ताकि मेरे अपराधों को क्षमा कर देवें। आप ही 'ईशम्' इस माया को चलाने वाले हैं। इसके शासक आप ही हैं। मैं तो आपके हाथ में खिलौने की तरह हूँ, जैसा आप खेल करा देते हैं, वैसा कर देता हूँ। 'ईड्यम्', आपकी केवल स्तुति ही की जा सकती है क्योंकि स्तुति के योग्य आप ही हैं। विहार शय्या आसन भोजन के अन्दर मैंने आपकी स्तुति नहीं करके अवहास किया। परन्तु अब मैंने इस बात को समझ लिया है कि आप ही स्तुत्य हैं।

'पुत्रस्य पिता इव सोढुम् अर्हसि' जैसे छोटा पुत्र पिता की महिमा को नहीं जानता तो कई बार लात भी मार देता है पर पिता उसको क्षमा कर देता है कि 'बच्चा है, कुछ समझता नहीं है'। इसी प्रकार से मैं आपके पुत्र की तरह हूँ, मैंने भी अज्ञान के कारण आपको समझा नहीं, अतः जैसे पिता पुत्र को क्षमा करता है वैसे आप क्षमा करें। 'सख्युः सखा इव', इसी प्रकार मित्र भी अपने मित्र के अपराध को क्षमा कर देते हैं। मित्र कोई ग़लती करता है तो उसके मित्र उसे दण्ड नहीं देना चाहते, माफ़ ही कर देते हैं क्षमा कर देते हैं। इसी प्रकार से मैं भी आपसे सखा की तरह प्रेम करता हूँ, इसलिए क्षमा कर देवें। प्रतिबिम्बरूप जीव का बिम्ब होने से तथा प्रतिबिम्बग्राहक उपाधि का निर्माता होने से ईश्वर को जीवका पिता समझना ठीक है। इसी प्रकार श्रुति कहती है

कि ईश्वर और जीव आपस में सखा हैं 'सयुजौ सखायौ'। दोनों एक ही जगह रहते हैं। जीव के अहंकार का सामान्य स्थान कहाँ है? हृदय है। और ईश्वर कहाँ रहते हैं? हृदय में रहते हैं। दोनों एक स्थान में रहते हैं। वे ही अन्तःकरण और इन्द्रियाँ ईश्वर से भी चलती हैं और जीव से भी चलती हैं। फ़र्क केवल क्या है? परमेश्वर वहाँ रहते हुए भी अज्ञान से रहित होने के कारण साक्षी रूप से रहता है अतः कर्मफल का उसके साथ कोई सम्बन्ध होता नहीं। और अज्ञान के कारण जीव इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा जो होता है, उसको 'मैंने किया' इस प्रकार से कर्त्ता भोक्ता बन कर कर्म के फल को भोगता है। श्रुति ही आपको सखा बतलाती है। सखा होने के नाते भी आप मुझे क्षमा करें।

इसी प्रकार से अपनी प्रिय स्त्री का जो अपराध है, वह उसका प्रिय पति क्षमा कर देता है। कई ऐसे प्रसंग आते हैं जब पत्नी पति को झिड़क देती है, लेकिन फिर भी पति उसको क्षमा करता है क्योंकि उससे प्रेम है। इसी प्रकार, बुद्धि के साथ एक होने के कारण बुद्धि रूपी पत्नी मैं बन गया और उसके प्रेरक आप पति हैं। मनुष्य सारे कार्य करता है सुख की प्राप्ति के लिए और आनन्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। परन्तु आनन्द के वास्तविक रूप को बिना समझे करता है, बुद्धि के साथ एक होने के कारण बुद्धि जिसको आनन्द समझती है, उसी तरफ जाता है। उस बुद्धि को प्रेरणा करने वाले आप ही हैं। रोज़ प्रार्थना करते ही हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' आप ही इस बुद्धि को प्रवृत्त करते हैं। जिस प्रकार के कर्म का फल देने का समय आता है, उस फल के निमित्त को प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न करते हैं। फल रूप से जो आएगा वह आनन्द ब्रह्मरूप है परन्तु आएगा रसगुल्ले के द्वारा। रसगुल्ले में जो आनन्द की प्रतीति होती है, वह संस्कार के कारण, बुद्धि के कारण। इस प्रकार बुद्धि से एक होने के कारण मैं प्रिया हूँ और आनन्दस्वरूप आपके लिए प्रयत्न करता हूँ, अतः आप ही मेरे प्रिय हैं। अतः मेरा अपराध आपको सहन कर लेना चाहिए, 'सोढुम् अर्हसि'। सहन करने का यहाँ मतलब है क्षमा कर देना चाहिए। अपनी पत्नी ने कोई ग़लती की तो प्रेमी पति जैसे प्रसन्नता पूर्वक उसे माफ़ करता है, उसने जो किया उसे सह लेता है, ऐसे ही आप सह जाइये, मुझे क्षमा कीजिये (यहाँ भी 'प्रियायाः अर्हसि' में सन्धि आर्ष है।)।।४४।।

अब अर्जुन विश्वरूप के उपसंहार की प्रार्थना करता है-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

पहले न देखा यह विश्वरूप देखकर मुझे हर्ष हुआ साथ ही मेरा मन डर से व्याकुल हो गया। देव! देवशासक! जगदाश्रय! प्रसन्न होइये, मुझे वही रूप दिखाइये (जिसे अपने सखा के रूपमें मैं देखता रहा हूँ)।

आपका भयंकर कालाग्निरूप कभी भी देखा नहीं था, अदृष्टपूर्व था। आपसे मैंने कहा कि 'दिखाइए' और आपने दिखा दिया। मेरे कहने मात्र से आपने इतनी बड़ी कृपा की इसीलिए अत्यन्त हर्ष है। परन्तु आपका यह बड़ा भयंकर रूप है इसलिए 'भयेन मे मनः प्रव्यथितं' भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित है, अत्यन्त दुःखी है। हर्ष का एक अर्थ रोंगटे खड़े होना भी है। तदनुसार यह भी समझ सकते हैं कि भय के कारण मुझे रोमांच हो रहा है। भय से मन अत्यन्त प्रव्यथित हो रहा है क्योंकि अभी तक भगवान् का कालाग्निरूप, रुद्ररूप ही सामने है उसके। अतः कहता है- 'हे देव! तदेव रूपं मे दर्शय', जो रूप आपका मैं हमेशा देखा करता हूँ वह रूप मुझे दिखाइए। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन इस बात को समझ रहा है कि जिस परमेश्वर का रूप कालाग्निरुद्र है, उसी परमेश्वर का रूप कृष्ण हैं। दो हैं- ऐसी बुद्धि उसकी नहीं है। अधिकतर लोगों को सौम्य मूर्त्ति पसन्द होती है। अथवा इष्ट मूर्ति पसन्द होती है, वह अपने को प्रिय लगती है। कई बार ऐसा अनुभव होता हैः अपना साथी किसी बहुत बड़े पद पर पहुँच गया। तदनुरूप ठाट-बाट से ताम-झाम सहित उसे देखकर प्रसन्नता होती है किन्तु जब शाम को सारे आडम्बर के बिना घर पर उससे मिलते हैं तब ज़्यादा प्रसन्नता होती है क्योंकि चिर अभ्याससे वही रूप आकर्षक लगता है। इसी तरह अर्जुन कह रहा है कि कालाग्नि रुद्र रूप से भी आप ही हैं और मेरे साथ रात-दिन रहने वाले कृष्ण रूप से भी आप ही हैं क्योंकि आप देव हैं, अलौकिक हैं। 'देव' कहने से ऐसा नहीं कि मैं आपको इन्द्रादि देवताओं की तरह समझता हूँ, आप तो 'देवेश' हैं। सारा जगत् आप में रहता है, आप ही इस जगत् के अधिष्ठान हैं। परन्तु मुझे तो आप वह पहले वाला रूप दिखाइए।।४५।।

जिसे देखना चाहता है उसी कृष्ण के स्वाभाविक रूप का वर्णन करता है-

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

किरीटधारी, गदाधारी, हाथ में चक्र लिये (जैसा मैं अब तक देखता रहा हूँ) वैसा ही मैं आपको देखना चाहता हूँ। हे हज़ारों भुजाओं वाले! विश्वरूप धारण करने वाले! उसी चतुर्भुज रूप से हो जाइये।

सिर के ऊपर किरीट, हाथ में गदा और चक्र लिये जो आपका रूप वह दिखाइए। भगवान् कह सकते थे कि 'यह रूप ही तो यहाँ दीख रहा है तुम को!' क्योंकि पहले अर्जुन ने सत्रहवें श्लोक में विश्वरूप को देखते हुए कहा था 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च', लेकिन वह था 'दीप्तानलार्क-द्युतिम्' अत्यन्त तेज से युक्त था। उसको देख करके आँखें चौंधिया गई थी। इसलिए अर्जुन का अभिप्राय है कि जो आपका सौम्य रूप है वह दिखाइये अतः कहा 'तथैव' आपका जो रूप हमेशा देखता हूँ वही दिखाइये। आप

ही हैं कालाग्नि रुद्र, पर फिर भी जो मेरा इष्ट आपका सौम्य रूप है, रात-दिन साथ वाला रूप है, उसमें आपको देखना चाहता हूँ उसी चतुर्भुज रूप से अर्थात् वसुदेव-पुत्र के रूप में आ जाइये।

यहाँ कई लोगों ने शंका की है कि भागवत इत्यादि में भगवान् के द्विभुज रूप का वर्णन आया है फिर यहाँ चतुर्भुज रूप कैसे कहा? समाधान है कि विष्णुपुराण व महाभारत के अन्दर स्पष्ट है, और भागवत में भी ध्यान से देखें तो कहा है, कि पहले-पहल जब भगवान् प्रकट हुए थे तब चतुर्भुज रूप वाले थे। फिर वसुदेव ने कहा था 'महाराज! साधारण रूप से बन जाइए, नहीं तो आपको कंस मार डालेगा।' नन्द ने भी तपस्या इसीलिए की थी कि साधारण बालक के रूप में भगवान् उनके पुत्र की तरह रहें। वसुदेव की प्रार्थना और नन्द की तपस्या के फलस्वरूप कंस के मरने के पूर्व तक भगवान् ने अपना चतुर्भुज रूप छिपा कर द्विभुज रूप रखा। कंस को मारने के बाद उनका जो चतुर्भुज रूप था, वह वापिस प्रकट हो गया। कंसवध के बाद वसुदेव का भय भी समाप्त हो गया था और नन्द को जितना पुत्र खिलाना था खिला लिया, उसके बाद भगवान् उसके पास रहे नहीं, अतः वापिस चतुर्भुज रूप वाले हो गए। इसीलिए काशी का राजा जो पौण्ड्रक था उसने भी अपने को भगवान् बतलाने के लिए लकड़ी के हाथ लगा लिए थे, उनके अन्दर चक्र इत्यादि धारण कर रखे थे। भगवान् ने उसको खत्म किया। अर्जुन और भगवान् का सम्बन्ध तो तभी हुआ था जब कंस को मारने के बाद चतुर्भुज हो गए थे। इसलिए गोपिकाओं द्वारा तो द्विभुज मूर्ति का वर्णन है क्योंकि उन्होंने वही देखा था परन्तु अर्जुन ने वह रूप देखा नहीं था। चतुर्भुज रूप ही देखा था।

अभी आप कैसे हैं? 'विश्वमूर्ते!' सारे ब्रह्माण्ड का रूप आप लिए हुए हैं, इसलिए 'सहस्रबाहो!' आपकी अनन्त भुजाएँ हैं। उन अनन्त भुजाओं में भी कई हाथों में चक्र भी है गदा भी है, लेकिन यह हजारों हाथों वाला रूप नहीं देखना चाहता, जो चार हाथों वाला रूप है अर्थात् वसुदेवपुत्र रूप है, उसी में आप मुझे प्रतीत होवें।।४६।।

जब अर्जुन ने ऐसी प्रार्थना की तब भगवान् ने अपना विश्वरूप उपसंगृहीत कर लिया। पुनः उसी चतुर्भुज रूप से, वसुदेव के पुत्र वाले रूप से भगवान् अर्जुन को दीखने लगे। फिर उसको शान्त करते हुए, आश्वस्त करते हुए कहा-

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अर्जुन! तुझ पर कृपालु हुए मैंने अपनी सामर्थ्य से तुझे यह उत्तम, तेजःप्रचुर समष्ट्यात्मक, अन्तहीन, सर्वकारणात्मक, विश्वरूप दिखाया जो मेरा रूप तुझसे अतिरिक्त किसी ने पहले नहीं देख रखा।

हे अर्जुन! क्योंकि जन्म भर मेरे ही अधीन रह कर तू सारे कार्य करता रहा है इसलिए मेरा तेरे ऊपर अनुग्रह है। प्रसन्नता, प्रसाद अर्थात् अनुग्रह करने की इच्छा, कृपा करने की इच्छा। कृपा क्यों हुई ? जन्म भर मेरे अधीन रह करके कार्य करने से तेरे ऊपर मेरी अनुग्रह बुद्धि है। अगले श्लोक में भगवान् कहेंगे कि मेरे अनुग्रह के बिना और कोई उपाय नहीं है इस सर्वरूप के दर्शन का, इसमें एकमात्र कारण मेरा अनुग्रह ही है। क्यों मेरा ही अनुग्रह इसमें कारण है? 'आत्मयोगात्' जिस माया के कारण मैं ईश्वर हूँ, वह मेरी माया शक्ति मेरे अधीन है, उस मायाधीशपने, ईश्वरपने के अन्दर ही यह सामर्थ्य है। सिवाय ईश्वर के इस रूप को दिखाना किसी के अधीन नहीं है, किसी के हाथ में नहीं है। 'परं रूपं' साकार दर्शन में 'सब कुछ वासुदेव रूप है' यही पर दर्शन है, बाकी सब अपर रूप हैं, विश्वरूप पररूप है क्योंकि इसके आगे केवल निर्गुण बोध ही है। ऐसी इसकी परता क्यों है? बाकी जितने भी रूप हैं वे माया के कार्य हैं, और ये तेजोमय है; यह शुद्ध माया का ही रूप है, इसलिए इसके अन्दर सर्वत्र परमात्मा का तेज विद्यमान है। जो भी तुमने यहाँ देखा है सब तेज ही देखा है। अर्थात् ये सभी चीज़ें ज्ञानरूप ही हैं, और कोई इसमें दूसरा हेतु नहीं है। अन्यत्र सामने माया का कोई कार्य होता है, तब उसके अनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति बनती है। इसलिए अन्य विषयों को ज्ञानमय नहीं कह सकते, तेजोमय नहीं कह सकते। विश्वरूप में केवल वासुदेव रूप की वृत्ति है, वही इसमें जाज्वल्यमान रूप से प्रकाशित हो रहा है इसलिए यह तेजोमय है। ऐसा ज्ञानमय रूप कभी तुमने देखा नहीं अतः ऐसा लगता था कि यह जला देगा। 'अनन्तं विश्वं' अन्त से रहित यह रूप है अर्थात् माया का कभी अन्त होता नहीं। ज्ञान से इसका बाध होता है, अन्त नहीं होता। अन्त कहते हैं सावशेष नाश को। जैसे तुम रस्सी को जलाते हो तो राख बच जाती है, तब कहते हो रस्सी का अन्त हो गया। परन्तु रस्सी में दीखने वाले साँप को जला कर नष्ट नहीं कर सकते, उसकी भस्म नहीं बनेगी! अतः उसका बाध है, अन्त नहीं।

यह केवल अनन्त ही नहीं है, 'आद्यं' अर्थात् सबका प्रथम कारण होने से आद्य है। सबसे पहले यही है, इसके पहले और कुछ नहीं। माया अनादि है, इसका कोई आदि नहीं है क्योंकि यह अज्ञानस्वरूप है। अज्ञान ज्ञान से बाधित होता है इतनी बात तो है, परन्तु अज्ञान से पहले ज्ञान था यह भ्रम कभी नहीं करना चाहिए। प्रायः यह प्रश्न लोगों को व्यथित करता रहता है कि एक ब्रह्म ही था तो यह सृष्टि क्यों की गई? वे सोचते हैं कि सृष्टि का कोई आदि है। परन्तु सृष्टि में हम देखते हैं माया के कार्यों को। माया के कार्य तो किसी-न-किसी कारण से पैदा होते हैं। इसलिए कार्य अवस्था से पहले कारण अवस्था है। परन्तु माया स्वतः कार्य नहीं है। अतः माया किसी से उत्पन्न होती नहीं। अगर माया उत्पन्न होती तब तो वह अपने कारण में जाती और उसका अन्त हो जाता। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि परमेश्वर स्वाभाविक रूप से है ही।

ज्ञान से माया का बाध करके ब्रह्मरूपता की स्थिति है। 'पहले ब्रह्म था, फिर माया के सम्बन्ध से ईश्वर हुआ' ऐसा नहीं है। कहते ज़रूर हैं कि ब्रह्म माया के सम्बन्ध से ईश्वर बना, परन्तु पहले ब्रह्म था और, फिर माया का सम्बन्ध हुआ - ऐसा नहीं है। माया के सम्बन्ध वाला ब्रह्म है, आत्मज्ञान से माया का बाध हो जाने पर ब्रह्म बच जाता है। इसलिये कहा कि मुझ ईश्वर का यह पर रूप है।

'त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' तुम्हारे सिवाय इसको किसी ने नहीं देखा। यह भगवान् का विचित्र वाक्य है! यशोदा को भगवान् के मुख में विश्वरूप दीखा था। इसी प्रकार अक्रूर को तालाब में स्नान करते हुए विश्वरूप दीखा था। इसी प्रकार दूत बन कर गए हुए भगवान् ने भीष्म आदि को अपना विश्वरूप दिखाया था। कई जगह भगवान् ने इस प्रकार विश्वरूप पहले दिखा दिया है। फिर कैसे कह दिया कि 'और किसी ने देखा हो, ऐसा नहीं है'? इसलिये यहाँ मतलब है कि अर्जुन की तरह जिसके ऊपर मेरी कृपा होती है, उसको ही दीख जाता है। मेरी कृपा होवे तब मैं अपना ऐश्वर रूप दिखलाता हूँ। और इसके जानने का कोई दूसरा प्रकार नहीं है।।४७।।

और कोई उपाय होगा- इस शंका को दूर करते हैं

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

कुरुकुल में सर्वोत्तम वीर! मनुष्य लोक में तुम्हारे अलावा किसी के द्वारा इस रूप वाला मैं वेदाध्ययन, यज्ञाध्ययन, दान, क्रिया, और घोर तपस्याओं द्वारा नहीं देखा जा सकता।

वेद में आत्मविषयक सारी बातें आई हैं। भगवान् कहते हैं कि वेदों के अध्ययन से ईश्वर का परोक्ष ज्ञान हो सकता है, ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। अपरोक्ष ज्ञान वहाँ हुआ करता है जहाँ 'मैंने इसको देख लिया' ऐसी बुद्धि होती है। वेदाध्ययन से 'मैंने इसको सुन लिया' यह बुद्धि तो हो जाएगी लेकिन 'देख लिया' यह बुद्धि नहीं होगी। 'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्याकार वृत्ति से अपरोक्ष ज्ञान इसलिए होता है कि अहम् अपरोक्ष है इसलिए उसकी ब्रह्मरूपता भी अपरोक्ष है। जैसे किसी ने पूछा 'यहाँ घनश्याम है?' हमने कहा - घनश्याम है। यहाँ घनश्याम बैठा हुआ है परन्तु सुनने वाले को ज्ञान केवल इतना होगा कि 'यहाँ जितने बैठे हैं उनमें कोई घनश्याम है'। यह बुद्धि नहीं होगी कि 'मैंने घनश्याम को देख लिया'। इसलिए उसका अगला प्रश्न होता है, 'घनश्याम कौन-सा है?' तब इशारा करके कहते हैं 'यह घनश्याम है।' इससे पूर्व यद्यपि वह घनश्याम को देख रहा है, तथापि जान नहीं रहा कि 'यह घनश्याम है', इसलिये घनश्याम परोक्ष रहता है। अंगुली के निर्देश से जब जान लेता है तब घनश्याम का अपरोक्ष हो जाता है। किन्तु यदि घनश्याम यहाँ नहीं बैठा है अर्थात् अपरोक्ष नहीं है

तब तो घनश्याम के बारे में कुछ भी कहने से उसके बारे में परोक्ष ज्ञान ही होगा। इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमेश्वर है, यह सुनने से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा परन्तु जब कहते हैं 'तू ब्रह्म है, सच्चिदानन्द है' तब चूँकि मैं अपरोक्ष हूँ और उसी को सच्चिदानन्द कह दिया, इसलिए अपरोक्ष पता लग जाता है कि मैं ब्रह्म हूँ। शुद्ध चेतन तो अहम्-प्रतीति का विषय हो सकता है, माया के कार्य इन्द्रियों से अपरोक्ष हो जाएँगे, परन्तु माया स्वतः तो तुमको अपरोक्ष हो नहीं सकती क्योंकि माया अव्यक्त है, अर्थात् व्यक्त वह कभी है नहीं। इसका थोड़ा अनुभव हम लोगों को गहरी नींद में हो जाता है। सुषुप्ति में केवल अज्ञान था और तुम थे। परन्तु उस अज्ञान का तुमको कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'मैंने अज्ञान को जान लिया'। 'मैंने कुछ नहीं जाना' - इसी रूप में प्रतीति होती है। इससे अज्ञान की सिद्धि हो जाती है परन्तु नहीं जानने वाला जो कारण अज्ञान, उसका कोई प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं। इसलिए भगवान् ने कहा कि वेदाध्ययन से विश्वरूप अदृश्य है।

वेदाध्ययन से अतिरिक्त भगवान् ने यज्ञाध्ययन भी कहा। शंका होती है कि वेदाध्ययन से ही यज्ञाध्ययन हो जाता है। सारे यज्ञ वेद में ही बताए गए हैं, फिर पृथक् क्यों कहा? यहाँ यज्ञाध्ययन का मतलब है यज्ञ को किस प्रकार से सम्पन्न किया जाए इसको समझना। वेदार्थ जानने मात्र से किस-किस प्रकार का कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे विनियोग करना है यह पता नहीं चलता। मीमांसा, श्रौतादि सूत्र आदि सहायक शास्त्रों का विचार करने से ही यज्ञादि के क्रमका पता चलता है। अतः वेदाध्ययन से ही यज्ञाध्ययन सिद्ध नहीं है। अतः भगवान् ने यहाँ यज्ञाध्ययन का अलग से ग्रहण किया। यज्ञों के अध्ययन से धर्म कैसे करना चाहिए तो पता लग जाएगा पर धर्म का फल कैसे होता है यह पता नहीं चलता है। यज्ञ कैसे अपने फल को देता है- यह अध्ययन से समझ में नहीं आता। मायासहित रूप वाला परमेश्वर ही फल का प्रदाता है। कैसे फल होता है- यह परमेश्वर ही अपनी माया वृत्ति से जानते हैं।

'न दानैः', तुला पुरुषादि बड़े-बड़े दान देकर भी मेरा यह रूप नहीं देखा जा सकता। 'न च क्रियाभिः' अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सारी क्रियाओं को करने से भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं होता। क्रियाओं का निश्चित फल बताया गया है कि किस क्रिया का क्या फल है। किसी क्रिया का फल नहीं बतलाया है कि मायाविशिष्ट चेतन का दर्शन हो जाता है। जैसे अग्निहोत्र आदि बाह्य कर्म हैं वैसे ही सारी उपासनाएँ मानसिक कर्म हैं। उपासना ध्यान आदि भी क्रिया ही हैं क्योंकि उन्हें मन से करते हो। मन दोनों काम करता है- जानता भी है और करता भी है। जहाँ तुम करने में स्वतन्त्र हो वह मानसिक क्रिया, उपासना है। और जिसको करने में तुम स्वतन्त्र नहीं हो, जैसा विषय है वैसा होता है, वह ज्ञान है। न यज्ञादि बाह्य क्रियाओं से और न उपासना आदि मानसिक क्रिया से विश्वरूपदर्शन हो सकता है। 'तपो हि दुर्धर्षं

वदन्ति', शास्त्रों के अन्दर कहा है कि जो किसी भी प्रकार से प्राप्त न किया जा सके वह भी तप के द्वारा प्राप्त हो जाता है। किन्तु भगवान् कहते हैं 'उग्रैः तपोभिः न' अत्यन्त उग्र चान्द्रायण आदि तप से भी मैं नहीं दीख सकता। पिप्पलाद ने उग्र तप किया था। वह छोटा ही था जब उसके पिता दधीचि को देवताओं ने वज्रप्राप्ति करने के लिए समाप्त कर दिया था। अतः मामा के घर पला होने से पिप्पलाद मामा को ही अपना पिता कहता था। कुछ बड़ा हुआ तो उसके ममेरे भाई उसको कभी-कभी छेड़ते थे 'अरे तू अपने मामा को पिता जी क्यों कहता है?' उसने माँ से पूछा, कि 'माँ, क्या ये मेरे पिता नहीं हैं?' तब माँ ने बतलाया कि 'तेरे पिता ने देवकार्य के लिये अपने आपको ख़त्म कर दिया। बड़े भारी महर्षि थे, सामर्थ्यवान् थे परन्तु देवताओं को आवश्यकता थी वज्र की, इसलिए इस प्रकार से बड़े दिव्य भाव से उन्होंने अपने शरीर को छोड़ दिया।' पिप्पलाद को देवताओं के प्रति क्रोध हो गया। उसने निर्णय किया 'देवताओं ने मेरे बाप को मारा, अब मैं सब देवताओं को मारूँगा।' बड़ा उग्र तप प्रारम्भ किया। तप के कारण सर्वत्र सब प्राणियों को पीडा होने लगी। भगवान् शंकर ने आकर उससे कहा 'तू तप किसलिए कर रहा है, माँग ले जो माँगना होवे।' पिप्पलाद ने कहा 'महाराज! आपकी जो संहार-शक्ति है, कालाग्नि रुद्र की संहारशक्ति है, वह मुझे देवें।' भगवान् हँस कर कहने लगे, 'वह तुम्हारे काम की नहीं है। वह ऐश्वर शक्ति है, किसी दूसरे के काम नहीं आ सकती।' उसने कहा 'मुझे तो वही चाहिए, और कुछ नहीं चाहिए। मैं तब तक तप करता ही रहूँगा जब तक वह शक्ति न आवे।' भगवान् शंकर ने उससे कहा 'अच्छा, बैठ जा। आँखें बन्द कर ले।' जैसे ही उसने आँखें बन्द करके चित्त एकाग्र किया, उसको ऐसा लगा मानो कान फट जाएँगे, आँखें फट जाएँगी, नाक फट जाएगा, जिह्वा फट जाएगी। घबरा कर उसने आँखें खोली और कहा 'भगवान् क्या कर रहे हैं! मैंने तो दूसरों को मारने के लिए शक्ति माँगी थी, आप तो मुझे ही मारने लग गए!' भगवान् शंकर ने हँस कर कहा, 'मैंने तुझ से पहले ही कहा था। विचार कर, जब समष्टि आदित्य जलेगा तब क्या तुम्हारी व्यष्टि आँख बच सकती है? समष्टि अश्विनी कुमार जलेंगे तो क्या तुम्हारी नाक बच सकती है, घ्राण-शक्ति बच सकती है? देवताओं का संहार करेगा तो अपना संहार अपने आप ही हो जायेगा।' पिप्पलाद ने पूछा 'महाराज! फिर आप कैसे करते हैं?' उन्होंने कहा 'मैं तो इन सबका संहार पहले ही कर लेता हूँ!' पिप्पलाद समझ गया कि ऐश्वरशक्ति उग्र-तप से प्राप्त होने लायक नहीं है।

वेदाध्ययन, यज्ञाध्ययन, दान, क्रियाएँ और तप - यही सब साधन हैं जिनसे मनुष्य किसी चीज़ को प्राप्त कर सकता है। इन सबका यहाँ निषेध कर दिया। इसीलिए ब्रह्माजी ने भी कैवल्योपनिषद् में यही कहा कि न कर्म से प्राप्त हो सकता है, न तप से प्राप्त हो सकता है, न प्रजा से प्राप्त हो सकता है। आजकल मानते हैं कि सब कुछ

पैसे से मिलता है! अतः ब्रह्माजी ने धन का भी निषेध कर दिया कि इस मायावी का दर्शन पैसे से भी नहीं मिल सकता। धन यज्ञादि का साधन है इसलिए उसका निषेध कर दिया तो दान यज्ञ आदि का निषेध अपने आप ही हो गया। किससे प्राप्त होता है? वहाँ कहा 'त्यागेनैकेन' जिन लोगों ने इन सबका त्याग किया है ऐसे संन्यासी ही उसको प्राप्त कर सकते हैं। कुछ करके परमात्मा नहीं मिलता, यह भगवान् ने यहाँ स्पष्ट कह दिया।

'एवंरूपः' अर्थात् जिस रूप से तुमको यह दर्शन हुआ है इस प्रकार से कोई देख नहीं सकता। कहाँ? 'नृलोके', मनुष्यों के लोक में। जब विश्वरूप दिखलाया था तब वहाँ देवता ऋषि इत्यादि उसकी स्तुति कर ही रहे थे, अतः वे देख ही रहे थे; परन्तु मनुष्य लोक में इस प्रकार का दर्शन सम्भव नहीं। अर्जुन पूछ सकता था 'मैं भी तो नृलोक में हूँ?' अतः कहा 'त्वदन्येन द्रष्टुम् नशक्यः'। तुमसे अन्य अर्थात् जैसे तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त किया है वैसा अनुग्रह जिसने प्राप्त नहीं किया, वह कुछ करके नहीं देख सकता। यह दर्शन तो केवल मेरी कृपा से हो सकता है। (शक्यः अहम्-यहाँ विसर्गलोप छान्दस है, लोक में 'शक्योऽहम्' प्रयोग होगा।) तुम्हारे ऊपर इसीलिए कृपा है कि तुम 'कुरुप्रवीर' कुरुवंश के अन्दर सबसे अधिक वीर योद्धा हो। अर्जुन दूसरे राजाओं को हराता ही था, अपने चित्त को भी सर्वथा काबू में रखता था। जब वह स्वर्ग में गया था और इन्द्र ने उर्वशी को भेजा था, उस समय स्पष्ट हो गया था कि उसने अपने अन्दर के काम क्रोध को विजय कर लिया है। अतः भगवान् कह रहे हैं- अन्दर के, बाहर के, दोनों शत्रुओं को मारने में तू वीर है इसलिए मेरा कृपापात्र है। इसी प्रकार जिसने अपने अन्दर के शत्रुओं को जीत लिया हो और बाहर भी सर्वथा निर्भय हो, उसी को मेरे अनुग्रह की प्राप्ति सम्भव है।।४८।।

अर्जुन ने प्रार्थना की थी कि 'आपके इस रूप से मैं व्यथित हूँ'। उसका जवाब देते हैं-

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४६।।

मेरा ऐसा घोर रूप देखकर न पीडित हो, न मोह में पड़। डर छोड़कर प्रसन्न मन वाला हुआ तू मेरा वही यह रूप पुनः जी भरकर देख ले।

अभी जो मैंने विश्वरूप दिखाया वह मेरा घोर रूप है। 'मम' के दोनों ही अर्थ समझ लेना- परमेश्वररूप से यह मेरा ही रूप है और रुद्र की उपासना से प्राप्त होने के कारण शिव से अभेद हो जाने से उनका भी रूप मेरा ही है। किन्तु इससे तुझे व्यथा न होवे और मूढ मत बन। उस रूप को देख कर तुझे पूछना पड़ा कि 'आप कौन हैं?' यह मूढ भाव है - जिसको जानते हैं, उसी को नहीं जानते! ऐसा विमूढ भाव तुझे न होवे।

'व्यपेतभीः' तेरा भय हट जाए। 'पुनः प्रीतमनाः' जैसे पहले तुम्हारा मन प्रसन्न था, उसी प्रकार फिर से हो जाए। 'तदेव इदं रूपं प्रपश्य' मेरा जो वह वासुदेव रूप है, सौम्यरूप है उसे देख। उसे देखकर तू हमेशा भयरहित रहता है कि 'कृष्ण के रहते मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है?' उस रूप में इष्ट-बुद्धि होने से, प्रिय-बुद्धि होने से उसे देखते ही प्रसन्न हो जाता है। वह जो मेरा वासुदेव रूप है वही देख ले। इस भयंकर रूप में और सौम्य रूप में मुझमें कोई फ़र्क नहीं है। उसको फिर से तू 'प्रपश्य' देख ले।।४६।।

अब कथानक को जोड़ते हुए संजय कहता है -

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

वासुदेव ने अर्जुन से यों कहकर पुनः अपना वैसा ही रूप दिखा दिया और उन परमकारुणिक ने सौम्य शरीर वाले होकर डरे हुए उस अर्जुन को ढाढस बँधाया।

'मया प्रसन्नेन' से लेकर 'रूपमिदम् प्रपश्य' तक भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को कहकर 'स्वकं तथा रूपं भूयः दर्शयामास', अपना रूप पुनः दिखा दिया। 'स्वकं' का अर्थ यह नहीं समझ लेना कि चतुर्भुज रूप भगवान् का अपना है इसलिए इसको 'स्वकं' कहा और कालाग्निरुद्र वाला विश्वरूप उनका नहीं है! विश्वरूप जैसा उनका है वैसा ही वासुदेव रूप है। रूपों में भेद है लेकिन *जिसके* रूप हैं वह एक है। 'स्वकं स्वकीयं', बुआ के बेटे के रूप में जिसे तू 'मेरे ही भाई हैं' इस तरह जानता है, वह रूप देख। मेरे लिए तो दोनों रूप एक-जैसे हैं पर इस रूप में तेरी स्वकीय बुद्धि है। परमेश्वर के अनेक रूप होने पर भी जिसको जिस रूप में इष्ट बुद्धि होती है उस रूप को ही वह देखना चाहता है। इससे परमेश्वर के रूपों में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उनके लिए तो सारे रूप एक-जैसे हैं, पर जिसको तुम इष्ट समझ लो, उसमें तुम्हारी स्वकीय बुद्धि हो जाती है। 'भूयः' मायने जैसा वह पहले देखता था वैसा ही अपना रूप दिखला दिया। इतना ही नहीं, 'एनं भीतं' वह अभी भी डर से काँप रहा था। क्षणमात्र में तो भय जाता नहीं, थोड़ी देर तक उसकी अनुवृत्ति रहती है। इसलिए भगवान् ने 'आश्वासयामास', उसको अच्छी तरह से दुलारा, 'अरे! घबरा नहीं, घबरा नहीं, मैं वही हूँ' इत्यादि समझाकर प्रकृतिस्थ किया। 'सौम्यवपुः पुनः भूत्वा', सौम्य जो वासुदेवरूप वह धारण करके उसको आश्वस्त किया। ऐसा वे क्यों करते हैं? क्योंकि 'महात्मा' हैं। अर्जुन ने प्रार्थना की तो विश्वरूप दिखला दिया। फिर अर्जुन ने प्रार्थना की तो तुरन्त वासुदेव रूप दिखा दिया। वे महान् ऐश्वर्य वाले हैं अतः महात्मा हैं। महात्मा कभी भी क्षुद्र चीज़ों से प्रभावित नहीं होते। क्षुद्र चीज़ों से प्रभावित होने वाले अल्पात्मा होते हैं। एक चीज़ उनको खुश करती है, उससे विपरीत चीज़ उनको नाराज़ करती है। परन्तु

भगवान् वासुदेव महात्मा हैं। यह नहीं कहा 'तू विश्वरूप देखना चाहता था तो देख ले। तैने ही तो कहा था!' ऐसा व्यवहार करने वाले लोग महात्मा नहीं होते। अर्जुन ने पहले ही कहा था 'मैं आपका विनीत शिष्य हूँ'; इसलिए इसके द्वारा यह भी संकेत कर दिया कि चाहे जितनी अजीबोगरीब शंकाएँ शिष्य की होवें, गुरु उन शंकाओं को धैर्यपूर्वक निवृत्त ही करे। शिष्य की बेवकूफियों से कभी भी अपना अनुग्रह उसके ऊपर से न हटाये, हमेशा प्रसन्न ही रहे।।५०।।

निर्भय होकर अर्जुन बोला-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

हे भक्तदुःखनाशक! आपका यह शांत मानव रूप देखकर अब मैं प्रसन्न और स्वस्थ हो गया हूँ।

'इदं मानुषं रूपं दृष्ट्वा' जो मेरे भाई वाला रूप है, यह मानुष, मनुष्य रूप है। 'हे जनार्दन! तव रूपं', मैं जान गया हूँ कि कालाग्निरुद्र और आप एक ही हैं। फिर भी यह रूप 'सौम्यं' सौम्य है, मुझे प्रिय लगता है। इसको देख कर 'इदानीं' अर्थात् देखने के साथ ही 'सचेताः संवृत्तः', मेरा होश वापिस ठिकाने आ गया है अर्थात् जैसा मैं पहले था शान्तचित्त वाला, वैसा ही अब वापिस शान्त चित्त वाला हो गया हूँ। 'प्रकृतिं गतः', मैं प्रकृति के अधीन हूँ। इसलिए कोई रूप अच्छा लगता है, कोई रूप आपका ही है यह जानकर भी भयंकर अतः अप्रिय ही लगता है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। 'प्रकृतिं' प्रकृति में 'गतः' चला गया अर्थात् मैं जैसा पहले था वैसा ही हो गया।।५१।।

भगवान् ने अपने विश्वरूप का उपसंहार किया और चतुर्भुज मूर्ति का दर्शन दिया। उसको देखकर अर्जुन शान्त हो गया। अब भगवान् विश्वरूप की उपास्यता बताने के लिये उसकी स्तुति करते हैं -

श्रीभगवान् उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

भगवान् ने कहा- जो मेरा रूप तूने देखा यह देखना अत्यन्त मुश्किल है। देवता भी इस रूप का दर्शन हमेशा चाहते रहते हैं।

'इदं' से वर्तमान मानुष रूपका निर्देष नहीं वरन् थोड़ी देर पहले देखे गये विश्वरूप का निर्द्रेश है। 'सुदुर्दर्शम्' सुदुर्दर्श है अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से ही उसका दर्शन होता है। बहुत साधना के बाद ही यह रूप दीखता है। 'देवाः अपि नित्यं दर्शनकांक्षिणः'

देवता भी विश्वरूप देखने की इच्छा वाले ही रहते हैं। 'नित्यं' मायने हमेशा। दर्शन की आकांक्षा वाले तो हैं, पर दर्शन उन्हें भी होता नहीं! इस समय जब तुम्हारे लिए दर्शन दिया तब देवता ऋषि इत्यादि सब आ गए थे, उन्होंने भी दर्शन कर लिया, परन्तु उनकी आकांक्षा बहुत कम ही पूर्ण होती है इसलिए हमेशा दर्शन की इच्छा वाले ही बने रहते हैं।।५२।।

दर्शन की दुर्लभता को प्रसिद्ध उपायों की साधनता के निषेध से स्पष्ट करते हैं -

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न वेदोंसे, न तपस्यासे, न दानसे और न पूजासे मैं इस तरह का देखा जा सकता हूँ जैसा मुझे तू देख चुका है।

श्लोक ४८ का विषय दुहराया गया है। वहाँ 'क्रियाभिः' कहा था, यहाँ 'इज्यया' अर्थात् यज्ञ द्वारा, पूजा द्वारा कह दिया। विश्वरूप का दर्शन केवल मेरे अनुग्रह से ही हो सकता है, किसी कर्म का फल नहीं है क्योंकि किसी भी कर्म के फल में यह नहीं कहा है कि 'यह कर्म करने से विश्वरूप का दर्शन होगा'। केवल परमेश्वर के अनुग्रह से ही यह दर्शन हो सकता है।।५३।।

प्रश्न होगा कि उनकी कृपा कब होती है, क्या करने से होती है? वस्तुतः 'कृपा क्या करने से होती है' यह पूछना नहीं बनता क्योंकि इसका अर्थ होगा कि कृपा भी कर्मफल है! कृपा का कारण तो कोई साधन नहीं है, परन्तु कृपापात्रता अपने अंदर लाई जा सकती है। ठीक जैसे सूर्य भगवान् आकाश में चमक रहे हैं। तुम कमरे से बाहर जाओ तब तुमको धूप मिलेगी। कमरे में बैठे रहोगे तो धूप मिलेगी नहीं, पर यह नहीं कह सकते कि तुम्हारा बाहर जाना धूप मिलने का कारण है क्योंकि रात के समय चाहे जितना बाहर खड़े रहो, धूप तो मिलेगी नहीं! धूप तो सूर्य की स्वतन्त्र इच्छा से ही खिलती है। जब वह उदय हुआ है, तभी मिलती है, परन्तु जो बाहर खड़ा नहीं है उसको नहीं मिलती है। इसी प्रकार जिसने यह आगे (श्लो. ५५में) कहे हुए साधनों को नहीं किया है, उसको परमेश्वर का अनुग्रह मिलता नहीं है। फिर भी यह अर्थ नहीं कि ये साधन करोगे तो अनुग्रह ज़रूर हो जाएगा! तैयारी ज़रूर कर सकते हो। तैयारी का उपाय भगवान् स्वयं बताते हैं-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। ५४।।

परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्ति से तो मैं इस प्रकार वास्तव में जाना और देखा जा सकता हूँ तथा भक्ति से ही मुझमें सचमुच प्रवेश भी पाया जा सकता है।

'अनन्यया भक्त्या', अन्य नहीं है- इस प्रकार की भक्ति से अर्थात् 'न बाह्य जगत् परमात्मा से भिन्न है और न मैं ही परमात्मा से भिन्न हूँ' इस प्रकार के अभेद-निश्चय के द्वारा, बाहर भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप ही है और मैं जो इसका द्रष्टा हूँ वह भी भगवान् ही हैं। दृश्य और द्रष्टा - दोनों ही परमात्मा के रूप हैं। परमात्मा से अतिरिक्त न द्रष्टा है, न परमात्मा से अतिरिक्त दृश्य हैं। इस निश्चय से भक्ति होती है तभी सारी इन्द्रियों के द्वारा तुमको परमात्मा का ज्ञान होता है। जब हम घड़े को देखते हैं तभी आँखों के द्वारा ही घड़े का हैपना भी दीख रहा है। इसी प्रकार संसार में जिस किसी चीज़ का ज्ञान होता है वह बिना 'है' के ज्ञान के नहीं होता। और 'है'- यही तो ब्रह्म है! उसी से सारी चीज़ें उत्पन्न हुई हैं। हम लोग समझते हैं घड़े में मिट्टी है; परन्तु मिट्टी तो सिकोरे में, कुल्हड़ में, कई चीज़ों में है; हाथ धोने की मिट्टी भी है! अतः घड़े में मिट्टी नहीं है, मिट्टी में घड़ा स्थित है। यदि मिट्टी चली जाए तो घड़ा नहीं रहेगा। घड़े के फूटने पर तो मिट्टी रहती है परन्तु मिट्टी के बिना घड़ा नहीं रहता। इसलिए मिट्टी से अतिरिक्त घड़ा नहीं हैं। मिट्टी में ही घड़ा दीख रहा है। इसी प्रकार से जगत् की कारणता का जब विचार करते हैं तब 'है' से ही सारे रूप बने हैं। अतः है ही घट-पट आदि आकार से दीख रहा है। इसी प्रकार शब्द भी 'शब्द है' इसी रूप से सुनाई देगा, गन्ध है इसी रूप से गंध प्रतीत होगी। परमात्मा से पृथक्-भूत कुछ नहीं है- जब इस बात को समझते हैं तब प्रत्येक ज्ञान में हम परमात्मा का अनुसंधान कर सकते हैं, प्रत्येक ज्ञान में हमें परमात्मा की प्रतीति हो सकती है और होती ही है। तब अनन्या भक्ति है। जब तक परमेश्वर से अन्य किसी चीज़ को समझेंगे तब तक अनन्य भक्ति नहीं होगी। विश्वरूप-दर्शन के अन्दर परमात्मा की सर्वरूपता प्रत्यक्ष होती है और जिस चीज़ की तुम उपासना करोगे, ध्यान करोगे, वही ध्यान की परिपक्व दशा में तुम्हारे लिए प्रत्यक्ष हो जाएगी। जब अनन्य भक्ति करोगे, कि परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है, तब विश्वरूप-दर्शन होगा कि परमेश्वर ही सर्वरूप है। (शक्यअहम्- यहाँ विसर्गलोप छांदस है।)

इस भक्ति से क्या-क्या शक्य है, क्या-क्या हो सकता है? इसको आगे स्पष्ट करते हैं 'ज्ञातुं'; जब केवल कहते हैं 'परमेश्वर सर्वरूप है' तब मन में वहम बैठा ही रहता है कि 'मिट्टी घड़ा है परन्तु घड़े से भिन्न भी तो वह कुछ है ही'। संसार के सब दार्शनिकों के लिए यह समस्या है। विदेशों में इसको रूप और द्रव्य की समस्या कहते हैं। द्रव्य हो गया जो वस्तुतः कारण है और रूप हो गया जो आकार तुमको दीखता है। रूप या आकार और द्रव्य- इनका आपस में क्या सम्बन्ध है? अलग-अलग दार्शनिकों ने अलग-अलग सम्बन्ध माने। नैय्यायिकों ने कहा कि घटका प्रागभाव मिट्टी में है। परिणामवादी सांख्यों ने कहा कि मिट्टी में घड़ा छिपा हुआ है, भुरभुरा इत्यादि जो रूप हैं, उनसे ढका हुआ है, उन रूपों को हटा दें तो घट रूप प्रकट हो जाएगा।

नैय्यायिक कहते हैं कि मिट्टी से घड़ा बनाया गया। सांख्यवादी कहते हैं कि संगमरमर के पत्थर की शिला से दूसरे हिस्सों को निकाल दिया तो अन्दर जो मूर्ति थी वह प्रकट हो गई। दूसरी चीज़ों से मूर्ति ढकी हुई थी, मूर्ति तो वहाँ पहले ही मौजूद थी। इसी प्रकार से घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद है लेकिन अन्य रूपों से ढका हुआ है, उन रूपों को हटा दो तो घड़े का रूप प्रकट हो जाएगा। वेदान्ती कहता है कि मिट्टी मिट्टी रहते हुए ही घड़े रूप से प्रकट हो रही है। मिट्टी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मिट्टी घड़े के रूप में दीख रही है। द्रव्य ही आकारों के रूप में प्रकट हो जाता है। जैसे जो जल है समुद्र के अन्दर, वही लहररूप से प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमात्मा का सत्-रूप इन सारे दृश्य और द्रष्टा रूपों में प्रतीत होते हुए भी सत् वैसा ही रहता है, उसमें कोई परिणाम नहीं है। 'ज्ञातुं', शास्त्र के द्वारा इस बात का पता लगता है।

अनन्य भक्ति से शास्त्र द्वारा यह जान लेते हैं कि वस्तुतः एक ब्रह्म ही सारे रूपों में प्रतीत हो रहा है। कैसे प्रतीत हो रहा है, यह शास्त्र से पता लगता है। शास्त्र से पता लगाना क्यों ज़रूरी है? आधुनिक लोगों का प्रायः कहना है कि हमें दर्शन होंगे तब पता लग जाएगा, शास्त्र की क्या ज़रूरत है? ध्यान की दृढता के लिए तुमको पहले संशयरहित निश्चय होना चाहिए। संशय वाला व्यक्ति ध्यान करेगा तो दृढ नहीं होगा। इसलिए सर्वत्र जहाँ- कहीं उपासना का विषय आया है, वहाँ कहा है कि इसमें श्रद्धालु को ही अधिकार है। श्रद्धारहित को उपासना में अधिकार नहीं। जब तक संशय रहेगा तब तक दृढ श्रद्धा नहीं होगी। अतः शास्त्र-ज्ञान से जब तुम संशय से रहित हो जाते हो तब ध्यान सफलता की तरफ जाता है और 'द्रष्टुम्' उस चीज़ का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है।

समुद्र के अन्दर स्नान करने जाओ, तो बड़ी-बड़ी लहरें आती हैं और थोड़े भी असावधान होओ तो उस लहर के द्वारा तुम खींच कर समुद्र के अन्दर ले जाए जाओगे! इसी प्रकार से विश्वरूप का दर्शन होता है तो वह तुमको खींच कर विश्वरूप ही बना देता है! इसलिए कहा 'तत्त्वेन प्रवेष्टुं'। तत्त्व रूप से अर्थात् जो सच्चिदानन्द तत्त्व है, उस रूप से ही रह जाता है। तत्त्व में प्रवेश कहो या मोक्ष कहो, एक ही बात है।

अर्जुन ऐसा करने में समर्थ है इसलिए भगवान् कहते हैं 'परन्तप'। जो अत्यन्त तपस्वी होता है, वही ऐसा कर सकता है। अर्जुन ने घोर तपस्या करके इतनी सामर्थ्य प्राप्त की थी कि साक्षात् भगवान् शंकर से युद्ध करते हुए उसने पैरों से उनको उठा लिया पछाड़ने के लिए। तब देखा कि वे भगवान् शंकर हैं! उसने भगवान् शंकर का पूजन करके जो माला पहनाई थी, वह माला उस भील के गले में देखी तो झट समझ गया, पैरों पर गिर पड़ा। तब भगवान् ने उसको पाशुपत अस्त्र दिया। इतने ज़बरदस्त शस्त्र को चलाने वाले को स्वयं पहले पूर्ण बल वाला होना पड़ता है। जो बल वाला नहीं होगा उसके हाथ में यह

शस्त्र जाएगा तो वह उसका नियमन नहीं कर सकेगा। इसका पता चला है महाभारत युद्ध के बाद : अश्वत्थमा ने अभिमन्यु के बालक को गर्भ में ही ब्रह्मास्त्र से दग्ध करने का विचार किया। उसने जब ब्रह्मास्त्र चलाया तब अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र चलाया। दो ब्रह्मास्त्र आमने-सामने हो गए तो ऋषि लोग बीच में आ गए क्योंकि ऋषियों के ऊपर वे चलते नहीं। ऋषियों ने कहा 'तुम लोग इन्हें हटा लो अन्यथा सारी दुनिया नष्ट हो जाएगी, क्या फायदा'! ऋषियों के कहने से अर्जुन ने तो वापिस ले लिया। अश्वत्थामा कहने लगा 'मेरे अन्दर वह तप नहीं है कि मैं इसको वापिस ले सकूँ! अर्जुन ने तो कर लिया, मैं नहीं कर सकता।' फिर उस अस्त्र से अभिमन्यु के पुत्र को बचाने के लिए भगवान् नारायण स्वयं चक्र लेकर उसकी रक्षा करते रहे। अर्जुन ऐसा परम तपस्वी था इसलिए उसको पाशुपत अस्त्र मिला और उसने ब्रह्मास्त्र का उपसंहार भी कर लिया। 'परंतप' से भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे जो घोर तपस्वी होते हैं, वे ही इस उपासना को कर सकते हैं। जो भोगों में पड़े हुए हैं उनसे यह उपासना सिद्ध नहीं हो सकती। परमात्मा सर्वरूप है- यह देखने के लिए तुमको अपने पहले के जो राग-द्वेष के संस्कार हैं वे हटाने पड़ेंगे।।५४।।

इस अनन्य भक्ति की प्राप्ति के लिए क्या किया जाए? उसका साधन क्या है? यह भगवान् कहते हैं -

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। ५५।।

।। ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नाम एकादशोऽध्यायः ।। ११।।

हे पाण्डुसुत! जो मेरे लिये ही कर्म करता है, मुझे ही अपनी वास्तविक गति जानता है, मेरा ही भजन करता है, धनादि में अनासक्त और प्राणिमात्र के प्रति वैर त्यागे रहता है, वह मुझे पा लेता है।

भगवान् भाष्यकार इस श्लोक के लिए कहते हैं 'अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्य उच्यते'। गीता के अन्दर जो सात सौ श्लोकों में इतना विस्तार किया, उसका जो सार, तात्पर्य है वह यहाँ भगवान् बतला रहे हैं। यही निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए, मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन है। यह अनुष्ठेय साधन है अर्थात् करने का साधन है। पहली बात कही 'मत्कर्मकृत्'; श्रौत, स्मार्त, लौकिक जो भी कर्म करो वह परमेश्वर के लिए ही करो। किसी भी कर्म का केवल उद्देश्य हो कि 'इससे परमेश्वर ही मेरे ऊपर प्रसन्न हो'; परमेश्वर के लिए ही करो। लौकिक कर्म भी परमेश्वर के लिए करो। भोजन करने बैठो तो भी सोचो 'पेट में

वैश्वानर रूप से मौजूद जो नारायण हैं, उनको ही मैं आहुति दे रहा हूँ।' इसी प्रकार स्नान करो तो 'हृदय में उपस्थित जो नारायण हैं, उनके मन्दिर की शुद्धि कर रहा हूँ, उनके मन्दिर को साफ कर रहा हूँ'। इस प्रकार जो सामान्य लौकिक कर्म हैं वे भी परमेश्वर के लिए करो। अग्निहोत्र, वैश्वदेवादि भी स्वर्ग के लिए मत करो, परमेश्वर के लिए ही करो। स्मार्ताग्नि का परिचरण भी परमात्मा के लिए करो। श्रौत, स्मार्त, लौकिक जितने भी कर्म हैं, सब परमेश्वरार्थ करो। यह पहला कदम ही जब अनुष्ठान रूप से करते हो तब लम्बा समय लेता है! क्योंकि अनादि काल की इतनी कामनाएँ भरी हुई हैं कि उनसे पिण्ड छुड़ाकर भगवान् के लिये नियमतः किया नहीं जा पाता। बुलवाने को तो पंडित जी बुलवा देते हैं, 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु', तुम भी बोल देते हो। महीने-बीस दिन के बाद कहते हो 'पंडित जी, अनुष्ठान तो हुआ लेकिन फल नहीं हुआ?' अगर पंडितजी कहें 'तुमने तो कृष्णार्पण कह दिया, अब तुम फल अपने लिए क्यों चाह रहे हो?' तो यही कहोगे कि 'कृष्णार्पण कहा ही तो था, किया थोड़े ही था!' अनादिकाल के संस्कार होने से पहला साधन ही कठिन है।

फिर 'मत्परमः', मैं ही अन्तिम गति हूँ यह स्वीकारना अर्थात् यह निश्चय कि परमात्मा से आगे और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। राजा का नौकर सब काम राजा के लिए करता है या दुकान का मुनीम सब काम मालिक के लिए करता है परन्तु मालिक को या राजा को परम नहीं मानता। सेठ है तो राजा उससे बड़ा है। राजा है तो महाराजा उससे बड़ा है। इसलिए उन्हें 'परम' नहीं माना जाता। ऐसे केवल भगवान् के लिये कर्म करने से अनन्यता सिद्ध नहीं होगी, 'मत्परमः' मेरे को ही परम गति समझना भी ज़रूरी है। मेरे से अधिक और किसी चीज़ में उसकी दृष्टि नहीं होनी चाहिये।

तब 'मद्भक्तः'। भाष्यकार कहते हैं 'मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते' सब प्रकार से मुझे ही भजता है। बोलने को तो हम लोग रोज़ बोलते हैं

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

माता पिता इत्यादि जितने भी प्रेम हैं, सम्बन्ध हैं, सब केवल परमात्मा से ही होवें। और फिर कहते हैं 'भगवान्, कुआँ खुदवाना है, इसके लिए कहीं से पैसा तो आना चाहिए।' एक बार रमण महर्षि के आश्रम में एक मन्दिर बनने जा रहा था। सब बैठ कर सूची बना रहे थे कि बम्बई में इन-इन सेठों के पास जाकर लाएँगे। जगह-जगह उनके भक्त थे, सभी को याद किया जा रहा था। महर्षि को बिलकुल अच्छा नहीं लग रहा था। थोड़ी देर के बाद किसी ने उनकी तरफ देखा तो समझ आया कि उन्हें बड़ा बुरा लग रहा है। लोगों ने कहा 'क्यों, कोई हेर-फेर करना है?' उन्होंने कहा 'नहीं-नहीं, तुमको जो करना हो सो करो।' कार्यकर्त्ता बोले 'आप कुछ तो कहिए।' उन्होंने कहा 'जितने

सेठों के तुम नाम लिख रहे हो, ये तो यहाँ आकर नाक रगड़ते हैं कि हमारा काम हो जाए, और तुम उनसे माँगने की सोच रहे हो!' यह सुनकर ठण्डे पड़ गए। यह भक्ति है। हम लोग मन में समझते हैं कि विद्या से विद्या का काम होगा, धन से धन का काम होगा। सब काम भगवान् से थोड़े ही हो जाएगा! वही सब चीज़ों की 'है' रूप से वास्तविक सत्ता है। वे सर्वात्मा हैं। जहाँ कहीं किसी चीज़ के अन्दर सामर्थ्य है तो उसी परमात्मा के कारण। जब तक परमात्मा बैठा है तभी तक सिद्ध महापुरुष की सिद्धाई रहती है, उसके बाद उसका शव पड़ा कोई प्रभाव नहीं पैदा करता! सबका आत्मा अर्थात् वास्तविक स्वरूप तो परमेश्वर ही है। 'सर्वोत्साहेन भजते' अपना जितना उत्साह है उस सारे उत्साह से हमको परमेश्वर की भक्ति करनी है, भजन करना है। प्रायः जब कोई सकाम अनुष्ठान होता है तब हम पंडित जी से कहते हैं, 'पण्डित जी, सामान की तरफ पूरा ध्यान रखना, खर्चे की कोई बात नहीं देखना। सब चीज़ बिलकुल ठीक पूरी होनी चाहिए।' लेकिन जब जन्माष्टमी आदि नित्य-नैमित्तिक भगवान् की पूजा करनी है, तब क्या वह भाव रहता है? उसमें तो अक्षत से ही सब उपचारों का काम हो जाता है! सकाम कर्म में हमारा उत्साह दूसरा होता है और नित्य रूप से जहाँ भजन करते हैं, वहाँ हमारा उत्साह ढीला पड़ जाता है। विचार करो, जिन कर्मों का परमात्मा ही फल है वे नित्य-नैमित्तिक कर्म तो सबसे बड़े काम्य कर्म हैं! उनसे स्वयं परमात्मा मिलने वाला है।

यह सब कब हो सकता है? 'संगवर्जितः' धन, पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धुवर्ग- इन सबसे जब तुम्हारा स्नेह हटे तब। सर्वउत्साह भजन में तब आएगा जब इन से स्नेह हटेगा। हम लोगों का स्नेह इन सबमें बँटा रहता है। परमेश्वर में स्नेह नहीं है, ऐसी बात नहीं है लेकिन और पचास चीज़ों में है तो पचासवाँ हिस्सा ही भगवान् के हिस्से में आएगा! इसलिए संगवर्जित होना पड़ेगा, इनके साथ कोई भी प्रीति नहीं रहने देनी है। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना कि इनसे तुम कठोर व्यवहार करो! देवी की स्तुति करते हुए कहा है 'चित्ते क्षमा समरनिष्ठुरता' चित्त में पूरी क्षमा रखते हुए ही समर में निष्ठुरता है। यह है संगरहित होना। उनके लिए सब कुछ करो, परन्तु इसलिए कि उनमें है-रूप से परमात्मा मौजूद है। उनमें ममता रखकर मत करो, परमात्मरूप उनमें विद्यमान है इसलिए करो। तब तुम्हारा स्नेह परमात्मा से ही रहता है। प्रायः लोग समझते हैं कि स्नेह न करने का मतलब उदासीन होना है। स्नेहरहित होने का मतलब उदासीन होना नहीं है। स्नेहरहित का मतलब है कि उस नामरूप में स्नेह नहीं रखना है, नाम-रूप जिस परमात्मा के हैं, उस परमात्मा से स्नेह रखना ही है। बाहर से तो भक्त हर काम जैसा शास्त्र ने कहा है वैसा ही करता है परन्तु अन्दर से जानता है कि परमात्मा इस रूप में है, केवल इसलिए मैं कर रहा हूँ।

'सर्वभूतेषु निर्वैरः', संगरहित कहने से तुरन्त आ जाता है कि प्राणियों के प्रति

उसको कोई दया नहीं रहेगी। इसलिये निर्वैरता कही। अपना बड़े-से-बड़ा नुकसान करने वाला भी होवे, अत्यन्त अपकार में प्रवृत्त हो, उसके प्रति भी कोई वैर नहीं रखना है क्योंकि है तो वह भी परमात्मा का ही रूप। जैसे, रास्ते में जा रहे हो, कोई पीछे से तुमको ज़ोर से मुक्का मारता है। तुम पलट कर देखते हो, कि किसने मारा। देखते हो- एक तुम्हारा सालों पुराना लंगोटिया यार है दस साल के बाद मिला है इसलिए उसने प्रेम से मुक्का मारा। तुम उससे लिपट जाते हो, झगड़ा नहीं करते हो! इसी प्रकार जो बड़े-से-बड़ा मेरा नुकसान करने आया है, वह है कौन? परमात्मा है। जब हम उसमें परमात्मा को नहीं पहचानते तभी वैर होता है जैसे यदि मित्र को एकाएक पहचानते नहीं तो झगड़ा हो जाता। पहचान लेते हैं कि 'अरे, यह तो मेरा दोस्त है', तब वैर कहाँ रह जाता है! इसी प्रकार जो बड़े-से-बड़ा अपकार कर रहा है, वह भी तो 'है' का ही रूप है। इसलिए वैर हो ही नहीं सकता।

भगवान् ने तीन कार्य करने के लिए कहे और दो नहीं करने के लिए कहे। (१) मेरे लिए ही कर्म करे, (२) मुझे ही परम गति समझे और (३) मुझमें ही सारा स्नेह रखे- ये तीन तो करने के साधन हैं। (१) किसी में राग, संग न करे और (२) किसी से द्वेष, वैर न करे- ये दो कार्य नहीं करने हैं। जो इस प्रकार का मेरा भजन करने वाला है, 'सः मामेति', वह क्योंकि मुझे ही अपनी परम गति समझता है इसलिए जैसे समुद्र की लहर किसी चीज़ को अपने अन्दर ले लेती है वैसे ही मैं उसको अपने अन्दर ले लेता हूँ। 'हे पाण्डव!' अर्जुन से कहते हैं - बस यही मेरा उपदेश तेरे लिए इष्ट है। समस्त गीता शास्त्र का सार भगवान् भाष्यकार ने इसे बतलाया है।

।। ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त।।

ॐ

बारहवाँ अध्याय: भक्तियोग

दूसरे अध्याय से प्रारम्भ कर ग्यारहवें अध्याय तक, जो सारे विशेषणों से रहित है उस अक्षर ब्रह्मरूप परमात्मा की उपासना को बतलाया तथा सारे योगों का ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति जो सोपाधिक परमेश्वर है, उसकी उपासना का प्रतिपादन भी किया। विश्वरूप-अध्याय में ईश्वर का जो आदिरूप है, जो सारे जगत् का उपादान कारण है और सारा विश्व जिसके अन्दर कार्यरूप से स्थित है, उसकी उपासना बतलाई। इस प्रकार, एक हुआ विध्वस्त-सर्व-विशेषण रूप और दूसरा हुआ समस्त-जगदात्म-रूप। इन दोनों में कौन-सी उपासना विशिष्टतर है, अर्थात् इन दोनों में किसकी अपेक्षा कौन-सी उपासना श्रेष्ठ है? यह जानने की इच्छा अर्जुन को हुई। क्योंकि दो उपासनाएँ बतलाई, इसलिये इनमें श्रेष्ठ कौन-सी है यह जिज्ञासा होती है। एक तो समग्र विशेषों से रहित परमेश्वर की उपासना है, और दूसरी समग्र विश्व के कारण-रूप की है, जिसमें कार्यरूप से सारा विश्व स्थित है। अर्जुन स्वयं भगवान् से पूछता है कि इन दोनों में कौन-सी आप बेहतर समझते हैं?

अर्जुन उवाच
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'मत्कर्मकृत्' आदि ढंग से निरन्तर प्रवृत्त जो भक्त आपका ध्यान करते हैं, और जो करण-अगोचर व्यापक तत्त्व का ध्यान करते हैं, इन दोनों में से कौन ज़्यादा योगविद् हैं?

'एवं' अर्थात् 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु' इस प्रकार पूर्वाध्यायान्त में कहे साधनों द्वारा जो सततयुक्त हैं अर्थात् निरन्तर सचेष्ट हैं। परमेश्वर की ही तरफ उनके मन-बुद्धि लगे हैं, उसकी तरफ शरीर आदि की क्रियाएँ लगी हैं। सततयुक्त अर्थात् चित्त को समाहित करके निरन्तर ही ईश्वर के लिये कर्म करते हैं। 'भक्ता अनन्यशरणाः' परमात्मा से अन्य किसी की नहीं, उसी की शरण में हैं। 'त्वां'

विश्वरूपदर्शन में जिसको दिखलाया गया उस का 'पर्युपासते,' ध्यान करते हैं। विश्वरूप से ध्यान करना ही ईश्वर का ध्यान है। 'ये चापि' और जिनको आपने पहले बतलाया था अर्थात् जिन्होंने अपनी सारी एषणाओं का परित्याग करके सर्व कर्मों का परित्याग कर दिया, वे अक्षर ब्रह्म का अर्थात् सारे विशेषों से रहित निर्विशेष का ध्यान करते हैं। वह कैसा है? अव्यक्त है, इंद्रियों का अविषय है। विश्वरूप इन्द्रियों का विषय है। उसके लिये कर्म हो सकता है पर क्योंकि अक्षर में सारी उपाधियों का निरास है, वह इंद्रियों का विषय नहीं, इसलिये वहाँ सर्वकर्मत्याग ही हो सकता है। जो इंद्रियों का विषय होता है, उसी को संसार में व्यक्त कहा जाता है। घड़ा व्यक्त है। मिट्टी में घड़ा है परन्तु इंद्रियों से दीखता नहीं है, इसलिये घड़े को वहाँ अव्यक्त कहा जाएगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि में अतएव उसे व्यावृत्ति से बताया कि सत्य का मतलब है वह असत्य नहीं है, ज्ञान अर्थात् अज्ञानरूप नहीं है, अनन्त अर्थात् परिच्छिन्न नहीं है। इसी प्रकार से उसका उपदेश करना पड़ता है। अव्यक्त होने से, 'यह ऐसा है' यों नहीं कह सकते। 'ऐसा नहीं है' - बस यही कह सकते हैं। विश्वरूप में तो सब कुछ मौजूद है और यहाँ सब कुछ अव्यक्त है। ये जो दो प्रकार की उपासनाएँ करने वाले हैं, इनमें अतिशयेन योगवेत्ता कौन है? 'तेषां' मतलब अनेक होने चाहिए लेकिन यहाँ उपासकों के बाहुल्य को लेकर बहुवचन है, उपासना तो दो तरह की ही है। क्योंकि अव्यक्त के उपासक भी बहुत हैं और विश्वरूप के उपासक भी बहुत हैं इसलिये बहुवचन से कहा 'उनमें'। दोनों योगवित् तो हैं, अतिशय वाला कौन है - यह प्रश्न है ।।१।।

यहाँ जवाब देने में भगवान् की शैली वेदान्त-परम्परा के अनुरूप है। श्रेष्ठता का निर्णायक अधिकारी होता है कि किस अधिकारी के लिये कौन-सा श्रेष्ठ है। अतः पूछा जाता है तो जवाब जैसा अधिकारी होगा वैसा ही दिया जाएगा। जिस प्रकार, चार दवाईयों में से रोगी पूछता है 'इनमें सबसे अच्छी कौन-सी है?' तो डाक्टर जवाब इसी भाव से देता है कि उस रोगी के लिये सबसे अच्छी अमुक है। रोगी यदि कहता है 'मैनें तो सुना या पढ़ा था कि अमुक दवाई इससे ज़्यादा श्रेष्ठ है।' तो भी डाक्टर कहता है 'नहीं-नहीं, यही श्रेष्ठ है, यही लो।' ऐसा नहीं कि डाक्टर जानता नहीं कि वह ज़्यादा काम करने वाली है, परन्तु वह यह भी समझता है कि उस रोगी के लिये वह दवा हितकारी नहीं है, इसलिये उसके लिये तो वह श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार, एक बड़ा ही कमज़ोर बंगाली स्वामी विवेकानन्द जी के पास गया और कहने लगा 'परमात्मा की प्राप्ति का सबसे अच्छा साधन कौन-सा है?' उन्होंने कहा 'रोज़ फुटबाल खेलो, फुटबाल खेलने का नियम करो, तभी भगवान् मिलेंगे।' उनका यह तात्पर्य नहीं था कि फुटबाल खेलने से परमात्मा मिलता है! उनका मतलब तो था 'तुम इतने कमज़ोर हो कि साधन तुमसे हो नहीं सकता। पहले शरीर ठीक करो।' बीमार आदमी न श्रवण कर सकता है, न मनन कर सकता है, कुछ नहीं कर सकता। ऐसे कमज़ोर के लिये जो उन्होंने बात कही थी, वह बिलकुल ठीक है।

कमज़ोरी में कोई साधना नहीं हो सकती। भामतीकार ने भी कहा है कि ऐसी तपस्या जिससे धातु कुपित हो जाते हैं, श्रवण-मनन में बाधक है। ऐसा नहीं है कि विवेकानन्द जी जानते नहीं थे कि श्रवण-मनन ही सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक उत्तम साधन है। जानते तो थे, लेकिन जो पूछ रहा है उसके उपयोगी जवाब देना ही उचित है। इसी प्रकार, यहाँ पूछ रहा है अर्जुन। अतः उसको यदि कहते कि 'सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक श्रवण-मनन करना ही उत्तम साधन है, अर्थात् अव्यक्त की उपासना अच्छा साधन है', तो उसके अधिकार से बाहर की बात होती, वह उसका अधिकारी है नहीं। इसलिए उन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है - इस निर्णय को तो भगवान् रहने देते हैं, उसका निर्णय यथास्थान करेंगे, अर्जुन के लिये जो श्रेष्ठ है उसी को यहाँ श्रेष्ठ कहते हैं -

श्रीभगवान् उवाच
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

भगवान् ने कहा - मुझ विश्वरूप परमेश्वर में मन समाहित कर जो मेरे प्रेमी, 'मत्कर्मकृद्' आदि ढंग से निरन्तर यत्न करते हुये दृढ श्रद्धा से मेरा सदा स्मरण करते हैं, वे मुझे योग में सर्वाधिक संलग्न मान्य हैं।

'मयि मनः आवेश्य', मुझ में अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर में मन को प्रवेश करा के अर्थात् मन को समाधानपूर्वक, एकाग्रतापूर्वक मुझ में लगा कर, फिर 'नित्ययुक्ताः' अर्थात् सतत युक्त रहते हैं। भगवान् ने कहा था 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' इत्यादि, तदनुसार रहना ही नित्ययुक्तता है। शरीर से हो या मन से, कर्म वह परमेश्वर के लिये ही करता है। विचार करता है तो परमेश्वर का ही। 'श्रद्धया' अर्थात् संशय से रहित हो कर 'परया' उत्तम श्रद्धा से उपासना करता है। एक तो 'काम चलाऊ' श्रद्धा होती है प्रवृत्ति का हेतु। जब तक कोई चीज़ तुमको ठीक लगेगी नहीं, तब तक तुम उसमें प्रवृत्त होगे ही नहीं, अतः प्रवर्तक भी श्रद्धा होती है। परन्तु वह पक्की श्रद्धा नहीं है। कोई तुम्हें संशय पैदा कर दे तो तुम्हारी श्रद्धा डगमगा जाती है। एक आदमी रोज़ विष्णुसहस्रनाम का पाठ करता था, उसको नुकसान हो गया। उस का पड़ौसी नास्तिक था। उसने उससे कहा 'जानते हो, क्यों तुम्हारा नुकसान हुआ?' उसने कहा 'यह तो किस्मत की बात है।' उसने कहा 'किस्मत की नहीं, तुम जो सवेरे-सवेरे उठ कर विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हो, इसीलिये तुम्हारा नुकसान हुआ है'। उसके मन में संशय आ गया! परन्तु जिसकी श्रद्धा निश्चित होती है, उसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता। नरसिंह मेहता को सब लोगों ने डिगाने का प्रयत्न किया परन्तु वे निश्चित रहे, 'मैंने कृष्ण की उपासना की है, अपने-आप रक्षा करेंगे' यह उनकी श्रद्धा थी। अतः उन्होंने यहाँ तक कहा है कि यदि हमारी नहीं भी सुनेंगे तो क्या हुआ! हम तो नाम लेते ही

रहेंगे। यह है निःसंशय श्रद्धा। इसमें दृढता रहती है कि 'वे जो करेंगे, अच्छा ही है, वही मेरे लिये ठीक है'। इसलिये भगवान् ने कहा 'परया श्रद्धया' प्रकृष्ट श्रद्धा, जो कभी भी संशय से आक्रान्त नहीं होती। परम श्रद्धा से 'उपेताः' युक्त होकर जो नित्ययुक्त रहते हुये उपासना करते हैं। रागादि क्लेशों से परमेश्वर सर्वथा रहित है। अतः जो रागादि से रहित हैं उन्हीं की परमेश्वर पर श्रद्धा जमती है। राग-द्वेष वाला तो कहता है 'जो मुझे चाहिए वह होना चाहिए' और राग-द्वेष से रहित कहता है 'जो भगवान् को चाहिए वह करे'। इस तरह की श्रद्धा से ही सततयुक्तता आती है। 'ते' मायने ऐसे जो भक्त हैं, वे 'युक्ततमाः मे मताः' युक्ततम मुझे स्वीकार हैं। अर्जुन ने पूछा था 'उनमें से कौन योगवित्तम हैं?' उसको जवाब दे दिया कि ये ही युक्ततम हैं क्योंकि निरन्तर, जब तक नींद न आवे तब तक दिन या रात में परमात्मा का ही चिन्तन करते हैं।।२।।

अब प्रश्न होता है कि सर्वकर्म-संन्यास करके श्रवण-मनन से निर्विशेष की पर्युपासना करने वाले जो हैं उनकी क्या स्थिति है? भगवान् ने कह दिया 'युक्ततम' मायने उससे और कोई श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता है। 'युक्ततराः' भी नहीं कहा, 'युक्ततमाः' कह दिया। दो के बीच बेहतर पूछा था तो 'युक्ततराः' भी कह सकते थे। इसके जवाब में भगवान् कहते हैं कि अक्षरोपासक को युक्ततम आदि नहीं कह सकते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।। ३।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। ४।।

इंद्रियाँ संयमित कर, बुद्धि को हमेशा राग-द्वेषादि से अप्रभावित रख, सब भूतों के हित में निरंतर रहते हुए जो तो शब्दों के, अन्य प्रमाणों के एवं मानस विचार के अविषय, व्यापी, समस्त मिथ्या के अधिष्ठान, निष्क्रिय व नित्य अक्षर ब्रह्म की हर तरह से उपासना करते हैं, वे मुझे ही पा जाते हैं।

उनको युक्त युक्ततम नहीं कह सकते क्योंकि 'वे प्राप्नुवन्ति मामेव'। पहले (७.१८) भी कह आए हैं 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' अक्षरोपासक तो मुझको ही प्राप्त करते हैं, मेरे रूप वाले ही हैं। जहाँ दो चीज़ें होवें, वहाँ 'योग' होता है, अर्थात् दोनों चीज़ें जुड़ती हैं, पर फिर वियोग भी होता है! परन्तु कोई चीज़ खुद से न जुड़ सकती है, न बिछुड़ सकती है। स्व से स्व का वियोग भी सम्भव नहीं और स्व का स्व से योग भी सम्भव नहीं। इसलिये उनको युक्त-युक्ततर कुछ नहीं कह सकते, वे तो मुझे ही प्राप्त करते हैं। जो भगवत्स्वरूप हैं, उनके अन्दर युक्ततम, युक्ततर, या युक्त - ये शब्द संगत नहीं होते। इस प्रकार से अर्जुन को उसके अधिकार के अनुसार युक्ततम भी बता दिये और 'ज्ञानी मेरा स्वरूप है अतः उसको तो क्या श्रेष्ठ कहा जाए!' यों वास्तविकता भी सूचित कर दी।

अब अक्षर की उपासना बतलाते हैंः 'अक्षर', जिसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आता। विशेषणों के कम होने से कोई चीज़ कम हो जाती है। विशेषणों के ज़्यादा होने से कोई चीज़ बढ़ जाती है। बढ़ना-घटना किसी-न-किसी विशेषण से होता है। जो सारे विशेषणों से रहित है उसमें घटना भी नहीं, बढ़ना भी नहीं, वह अक्षर है। अक्षर होने से ही 'अनिर्देश्यम्' शब्द का विषय नहीं हो सकता। जिस-जिस को तुम शब्द से बतला सकते हो वह क्षर ही होगा। शब्द की प्रवृत्ति या गुण को लेकर के होती है - यह गोरा है, काला है। या क्रिया को लेकर होती है - रसोईया है, दुकानदार है। या जाति को लेकर होती है - यह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है। या सम्बंध को लेकर होती है - यह इसका बेटा है, उसका बाप है। जाति-गुण-क्रिया-सम्बंध - बस इन्हीं से तुम शब्द द्वारा किसी चीज़ का निर्देश कर सकते हो, किसी चीज़ को बतला सकते हो। निर्विशेष परमात्मा की न तो जाति है; कम-से-कम दो ब्रह्म होवें, एक को तुम जानते हो, तब कह सकते हैं, कि उसी ब्रह्म-जाति का यह दूसरा है। अथवा उसमें गुण होवें तो उनसे उसे बतला सकते हो; पर जो सारे गुणों से रहित है, उसको कैसे बतलाओगे? सारी क्रियाओं से रहित है इसलिये क्रिया के द्वारा भी उसको नहीं बतला सकते। कोई दूसरा है ही नहीं तो इसका सम्बंध किससे होवे! इसलिये अनिर्देश्य, शब्द का गोचर नहीं है। 'अव्यक्तं' प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और इन्हीं के भेद उपमान, अर्थापत्ति, इन प्रमाणों से जिसको व्यक्त कर सकते हो उसको व्यक्त कहते हैं। परमेश्वर 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' (कठ ३.१५) रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सबसे रहित है, इसलिये प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका कोई लिंग, चिह्न नहीं है जिससे उसका पता लग सके। शब्द की अगोचरता पहले ही बतला दी है अनिर्देश्य से। उसकी कोई उपमा भी नहीं है, अभी अर्जुन ने भी कहा था 'अप्रतिमस्वभाव', वेद भी कहता है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' कोई दूसरा नहीं है जिसको दिखा कर कह सको कि 'ऐसा वह है'। तो किसी भी प्रमाण के द्वारा वह व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसलिये अव्यक्त है।

उसको 'पर्युपासते'; 'नेति नेति' के द्वारा जो प्रतिपाद्य है, उसी की उपासना करते हैं अर्थात् श्रवण-मनन में लगे रहते हैं। उपासना का अर्थ होता है, जैसा उपास्य शास्त्र में बतलाया है वैसा ही बार-बार चिन्तन करना। भाष्यकार ने दो प्रकार का चिन्तन बतलाया है - शब्दों की पुनः-पुनः आवृत्ति, यह चिन्तन का एक प्रकार है; और उस शब्द से जो तुम समझते हो उस समझ को, मन की वृत्ति को, बार-बार दुहराना - यह भी चिन्तन का प्रकार है। दुहराना कैसा हो? तेलधारा की तरह, अर्थात् बीच में कहीं टूटे नहीं; ऐसा दीर्घकाल तक जब तुम करते रहते हो, तब उसे उप-आसना कहते हैं। उपनिषदों का श्रवण-मनन करना उपासना है क्योंकि वहीं इस अक्षर ब्रह्म को बतलाया गया है।

'सर्वत्रगम्', सब जगह मौज़ूद है। यह ख़्याल रखना कि 'सर्वत्र' कहने से देश की

प्राप्ति होती है, किंतु देश को वह व्याप्त कर रहा है, देश उसको व्याप्त नहीं कर रहा है! अतः देश *में* वह नहीं है, उसमें देश है। सर्वत्रगम् कहने से प्रतीति होती है कि वह *सबमें* है; ऐसी बात नहीं, वरन् व्यावृत्ति के ढंग से समझना है कि कहीं भी वह नहीं है ऐसा नहीं। देश की प्रतीति हमेशा 'देश है' रूप में ही होगी। निर्विशेष की उपासना विश्वरूप की उपासना से भिन्न है। विश्वरूप की उपासना में, वह सब जगह है, सबमें है। अव्यक्तोपासना में उसकी जगह यह हो जाएगा - कोई ऐसी जगह हो ही नहीं सकती जहाँ 'है' न होवे। बारीक फ़र्क है। 'अचिन्त्यम्' वह चिन्तन का विषय नहीं। श्रवण-मनन करते हो तो चिन्तन नहीं होता है क्या? जो इंद्रियों का विषय होता है, इंद्रियों से जो जाना जाता है, उसी के संस्कार अन्तःकरण में होते हैं। जो तुमने देखा-सुना, जिसका तुमने अनुभव किया, उसी का संस्का़र है, अतः वह पदार्थ जब इंद्रियों का विषय नहीं है तब भी उसकी स्मृति कर सकते हो। जो इंद्रियों का विषय है ही नहीं, अतः उसका संस्कार भी नहीं है, तुम उसको सोच कैसे सकते हो? अतः जैसे कोई देश ऐसा नहीं जहाँ वह नहीं, वैसे ही कोई अनुभव नहीं जहाँ वह नहीं - इसी रूप में चिन्तन करना पड़ेगा।

'कूटस्थम्'; कूट किसको कहते हैं? खोटे को। मारवाड़ी में झूठ बोलने वाले को कहते हैं 'कूड़ाबोला', कूट का ही कूड़ा अपभ्रंश है। झूठ क्या चीज़ है? जो प्रतीत सच्ची होती है पर सच्ची होती नहीं। कोई आदमी अगर असम्बद्ध वाक्य बोले तो तुम उसे झूठ बोलने वाला नहीं कहोगे। यही कहोगे 'पता नहीं क्या बोल रहा है!' झूठा व्यक्ति सम्बद्ध वाक्य बोलता है - 'आज मैंने देखा, देवदत्त बाज़ार में बैठा हुआ पकौड़ी खा रहा था।' देवदत्त बेचारा किसी के हाथ का नहीं खाता, स्वयंपाकी है। उसने बात सम्बद्ध तो कही कि 'देवदत्त को पकौड़ी खाते देखा', परन्तु है कैसी? झूठी है। ऊपर से सच लगे और हो झूठी, वह चीज़ कूट है। सारा संसार कैसा अनुभव में आता है? बिलकुल सत्य है - ऐसा ही लगता है। शास्त्र-युक्ति से परीक्षा करने पर क्या पता चलता है? संसार है ही नहीं। इसलिये संसार 'कूट' है, झूठा है। इसकी प्रतीति कराने वाली माया, अविद्या भी कूट ही है। इसलिये अविद्या और अविद्या का कार्य कूट शब्द से कहा जाता है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ हुई हैं। उनका बीज क्या है? अविद्या। संसार अविद्या का कार्य होने से झूठा होता हुआ सत्य दीख रहा है अविद्या के कारण। वस्तुतः नहीं है परन्तु लगता सच्चा है इसलिये कूट है। इस सारे कूट के अंदर वह अध्यक्ष रूप से मौज़ूद है, इसलिये कूटस्थ है। वह है, इसलिये यह सब तुम्हें दीख रहा है। वह न होता, तो यह कुछ नहीं दीखता। कूट में स्थित होने से यह कूटस्थ है। कूट हो गई माया और माया का कार्य। इसलिये श्रुति ने भी कहा है कि महेश्वर मायी, मायावी, मायाका नियामक है। निसर्ग या प्रकृति तो कूट है, उसमें विद्यमान परमात्मा है। जैसे उस आदमी के 'मैं बाज़ार गया था, देवदत्त वहाँ बैठा हुआ दुकान पर पकौड़ी खा रहा

था,' इस कथन में सच्ची बात क्या है? केवल मैं। न वह बाज़ार गया, न उसने देवदत्त को देखा, न दुकान देखी, न खाते देखा और न देखा ही! पर इतना निश्चित है कि वह है। इस सारे वाक्य में सच्चाई केवल 'मैं' है क्योंकि वह ज़रूर है। बाकी उसने जितनी बातें कहीं, सब झूठी हैं। इसी प्रकार, कूटस्थ रूप साक्षी मैं ही सच्चा हूँ, बाकी जितनी चीज़ें परिवर्तित हुई दीखती हैं, सब झूठी हैं। पूछो, कैसे मान लेवें झूठी हैं? रस्सी में तुमने साँप देखा। थोड़ी देर में कोई आता है, कहता है, 'अरे भाई, क्या बात है, आगे क्यों नहीं जा रहे हो?' कहते हो, 'वहाँ साँप पड़ा है।' हँसकर कहता है 'अरे! साँप नहीं है, मैंने पानी लेने के लिये काला पाईप डाला है।' क्या जब तुमको साँप दीखा तब वहाँ साँप आ गया था? ठीक इसी प्रकार से, मैं हूँ, इसलिये मेरी अविद्या और सारा संसार प्रतीत हो रहा है। किंतु जो मैं हूँ, उसके सिवाय कोई सच्चा नहीं है। सारे कूट में वह स्थित है अध्यक्ष रूप से। अध्यक्ष अर्थात् साक्षी रूप से, अधिष्ठान रूप से।

इसलिये 'अचलम्' वह कहीं चल कर जा नहीं सकता। यदि कोई जगह हो जहाँ वह न हो तो उसे चल कर जाना पड़े। दो तरह के चलने होते हैं : एक देश से दूसरे देश में जाना - यह एक चलना है। दूसरा चलना होता है - वहीं बैठे-बैठे शरीर को हिलाते रहो, जिसे स्पन्दन कहते हैं संस्कृत में। दो प्रकार का चलन होता है - एक देश से दूसरे देश में गए अथवा वहीं बैठे-बैठे चलायमान होते रहे। दूसरी तरह का चलन मन में बहुत ज़्यादा होता है! मन जो भिन्न-भिन्न स्पन्दन करता है उसमें स्थानान्तरण नहीं होता। मन बड़ी तेज़ी से चलता है, पर चल कर कहीं जाता नहीं, वहीं का वहीं रहता है। दुनिया भर की चीज़ें सोच रहे हो, पर कोई आकर तुमको मुक्का मारे तो तुरन्त पता चलता है 'मुक्का मारा है'। मन चल कर कहीं गया होता तो यहाँ पता नहीं चलता ! मन हरिद्वार के अंदर ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा रहा हो, अर्थात् मन वहाँ हो तो फिर यहाँ मुक्का मारे तो पता नहीं लगना चहिए। लगता है, अतः मन रहता यहीं है। परमात्मा में ऐसा स्पन्दन भी नहीं है इसलिये कहा 'ध्रुवम्'ध्रुव है, स्पन्द भी नहीं है। उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं है।

इसका चिन्तन कौन कर सकता है? 'इंद्रियग्रामं सन्नियम्य'। इंद्रयों के समूह का भली प्रकार से जब नियमन कर लेते हो, भली प्रकार से संहार कर लेते हो तभी अक्षर का चिन्तन कर सकते हो। संस्कृत में संहार का मतलब होता है कार्य को कारण में ले जाना। इंद्रियों को प्रवृत्त करने के लिये मन चाहिए, मन होगा तभी ज्ञानेन्द्रियाँ काम करेंगी, मन होगा तभी कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी। इंद्रियों का उपसंहार करने का मतलब है कि मन को किसी भी इंद्रिय की तरफ न प्रवृत्त होने देना। इंद्रियग्राम को, दसों इंद्रियों को, संहार करके अर्थात् उनका नियमन करके, वे विषयों की तरफ प्रवृत्त न होवें ऐसा नियंत्रित करके, 'सर्वत्र समबुद्धयः' जो बन चुके वे अक्षरचिन्तन कर सकेंगे। यहाँ 'सर्वत्र' से देश भी समझ लेना, काल भी समझ लेना। सभी देश, सभी काल के अंदर

समबुद्धि रहना ज़रूरी है। इंद्रियों की प्रवृत्ति का नियमन करने के बाद मन संस्कारों से चिन्तन करता है। मन ही चिन्तन करता है कि 'यह सुःख देने वाला है, या यह दुःख देने वाला है।' यदि सब देश-काल में जो अनुभव किया है उसमें तुम्हारी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ख़त्म हो जाए तो मन इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति या परिहार का चिन्तन न करने के कारण स्थिर हो जाता है। जब तक इष्ट और अनिष्ट की दृष्टि न बने, तब तक मन चले कैसे? अतः तभी बुद्धि समता को प्राप्त हो जाती है अर्थात्, स्पन्द नहीं करती, स्थिर हो जाती है क्योंकि उसको अस्थिर करने वाली चीज़ इष्ट और अनिष्ट का विचार ही है।

'सर्वभूतहिते रताः' जो कुछ भी जड-चेतन है, उसके हित में ही जो रत है वही अक्षरोपासना कर सकेगा। सारे प्राणियों का हित क्या है? आनन्द ही सारे प्राणियों का एकमात्र हित है। आनंद को ढाँकने वाला कौन है? अविद्या, अज्ञान है। इसलिये अज्ञान को निवृत्त करना ही सब भूतों का हित है। अविद्या मिटाकर जड-चेतन सबको तुम आनंद-स्वरूप बना देते हो क्योंकि सबका अधिष्ठान विज्ञान आनन्द ब्रह्म ही है। सबका इष्ट हित जो आनंद, वही है निर्विशेष परमात्मा का स्वरूप, उसी में जिसकी रति है वह सर्वभूतहिते रत है। जो ऐसे हैं, उनके बारे में भगवान् ने कहा - 'ते माम् एव प्राप्नुवन्ति', उनके बारे में क्या कहें, क्योंकि वे तो मुझे ही प्राप्त हुए रहेंगे। ऐसा चिन्तन करने वाले जो सर्वकर्मसंन्यासी हैं, वे भगवत्स्वरूप होने के कारण युक्त-युक्ततम आदि कोटियों में नहीं कहे जा सकते।।३–४।।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि अक्षरोपासना में अधिक कठिनाई है, इसलिये सविशेषोपासकों को अच्छा कहा था -

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अव्यक्त में सर्वथा संलग्न चित्त वाले उन अक्षरोपासकों को क्लेश (आयास) सविशेषोपासकों की अपेक्षा अधिक ही होता है क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त गति मुश्किल से प्राप्त होती है।

'देहवद्भिः', देह में जब तक अभिमान है, 'यह शरीर ही मैं हूँ' ऐसा जब तक अनुभव है, तब तक अव्यक्तोपासना बनती नहीं। जब तक 'स्थूल-सूक्ष्म शरीर से आत्मा अलग है' इस बात का निःसंशय निश्चय नहीं कर लिया है तब तक अक्षरचिन्तन संभव नहीं है। निःसंशय का मतलब होता है कि चाहे हमें उसका अनुभव नहीं है परन्तु 'वह ऐसा ही है' इस विषय में कोई शंका नहीं है। बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं, जो अनुभव में न आने पर भी निश्चय का रूप ले लेती हैं, जैसे 'एक और एक दो होते हैं'। सर्वथा समान इकाइयाँ ही जोड़ी जा सकती हैं। और व्यवहार में कभी भी दो चीज़ें बिलकुल

समान नहीं होती हैं! दो सेब बिलकुल एक जैसे कभी होते नहीं हैं। एक पच्चीस ग्राम का है तो दूसरा सत्ताईस ग्राम का होगा। जब सर्वथा समान नहीं तब उन्हें जोड़कर कैसे कहें? रुपये और आनों को तुम जोड़ते नहीं क्योंकि एक रुपया सोलह आने के बराबर है। एक रुपया और इकन्नी इन्हें, तुम 'दो' नहीं कहते, कि दो रुपये हो गए या दो इकन्नियाँ हो गईं क्योंकि रुपया और इकन्नी एक-से नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार पच्चीस ग्राम का और सत्ताईस ग्राम का सेब एक-जैसे तो नहीं हैं, फिर उन्हें 'दो सेब' कैसे कहते हो? अर्थात् लौकिक अनुभव में जुड़कर दो होना नहीं मिलने पर भी गणित शास्त्र के आधार पर निःसंशय स्वीकारा जाता है। इसी प्रकार पंक्ति का लक्षण किया गया है - जिसमें चौड़ाई न होवे, केवल लम्बाई हो। चाहे जितनी पतली-से-पतली तुम पंक्ति खींचो उसमें कुछ चौड़ाई तो ज़रूर होगी। फिर भी तुम स्वीकारते हो कि पंक्ति वह है जिसमें चौड़ाई नहीं होती। चौड़ाई के बिना वाली पंक्ति तुम्हारे *अनुभव* का विषय नहीं, जैसे 'दो सेब' तुम्हारे अनुभव का विषय नहीं, फिर भी तुम निःसंशय हो। त्रिकोण के अन्दर एक सौ अस्सी अंश होते हैं। चाहे जैसा त्रिकोण बनाओ, यदि तुम नापोगे तो कभी एक सौ अस्सी अंश होंगे नहीं क्योंकि कोई पंक्ति ऐसी मिलेगी नहीं जिसमें चौड़ाई नहीं है। परन्तु ऐसा जानने पर भी तुमको निःसंशय ज्ञान है कि दो सेब हैं, पंक्ति है, त्रिकोण में एक सौ अस्सी अंश हैं। अनुभव न होने पर भी निश्चय है। इसी प्रकार से 'इस सारे संसार का कारण सच्चिदानंद है' - यह बात व्यक्त तो है नहीं, अनुभव में आयी नहीं है। अनुभव में तो सत् किसी-न-किसी विशेष के द्वारा ही कारणरूप से प्रतीत होता है। मिट्टी रूप से 'है', घड़े रूप का कारण बनता है। केवल 'है' की कारणता कहीं देखने में तो आएगी नहीं। परन्तु शास्त्र और युक्ति से विचार करके निश्चय हो जाता है कि सद् ब्रह्म ही जगत् का कारण है। इसी प्रकार से विवेक के द्वारा निश्चय हो जाता है 'त्वम्'-पदार्थ का। जब हम भली प्रकार विवेक करते हैं तब निश्चय हो जाता है कि देह वस्तुतः त्वम्-पदार्थ नहीं है। अहम् की प्रतीति अहंकार के साथ होगी। परन्तु वह प्रतीति होने पर भी निश्चय हो जाता है कि वस्तुतः मैं अहंकार (देह-मन आदि संघात) नहीं हूँ। अहंकारात्मिका वृत्ति मन की वृत्ति होने से सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के साथ अपना अनुभव होते हुए निश्चय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि मैं सूक्ष्म शरीर नहीं हूँ। 'देहवद्भिः' अर्थात् जब तक देहाभिमान है तब तक यह कठिनाई बनी रहेगी।

'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' अव्यक्त में आसक्त जिनका चित्त है अर्थात् निर्विशेष सच्चिदानंद में जिनका चित्त लगा है। 'तेषाम् अधिकतरः क्लेशः'। काफी क्लेश तो सविशेष उपासना में भी है, 'मत्कर्मकृत्' ही बड़ा कठिन है। अपने लिये कुछ न करो, जो कुछ करो परमात्मा के लिये करो, यह बहुत बड़ा क्लेश है। कहने में बड़ा सरल लगता है, पर अपने लिए कुछ नहीं करना, जो कुछ करना परमात्मा के लिये करना - यह अभ्यास

करो तो झट पता लग जाता है कि कितना कठिन है। 'संगवर्जितः' राग-द्वेष से, आसक्ति से रहित होना बहुत कठिन है। भिक्षा में यदि करेले का साग रोज़ पंद्रह दिनों तक मिले तो सोलहवें दिन सोचेंगे 'कहीं अन्यत्र ही नारायण हरि करें'! क्योंकि करेले का साग अच्छा नहीं लगता, कड़वा लगता है। ऐसे ही 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' चाहे जितना अपना अपकार करे फिर भी उसके प्रति मन में कोई शत्रुता की भावना न आना - यह करना काफी क्लेशप्रद है। अधिक क्लेश तो सविशेषोपासना में भी है, कोई सरल मामला नहीं है, परन्तु जो परमार्थदर्शी हैं, उनको देहाभिमान त्याग करके अव्यक्त में चित्त को आसक्त करना उससे भी अधिक कष्टकारी है। अधिकतर, मायने अधिक क्लेश तो सविशेष मार्ग में भी है, पर इसमें इससे भी ज़्यादा क्लेश है। 'हि' अर्थात् चूँकि अव्यक्त की जो गति है वह 'दुःखं' दुःख से, कठिनाई से मिलती है। देहाभिमान रहते हुये बहुत बड़ा दुःख होता है अव्यक्त को समझने में, अव्यक्तोपासक मेरा रूप ही होता है परन्तु देहाभिमान रहते हुये वह उपासना होती नहीं। जब तक त्वम्-पदार्थ का शोधन बिलकुल स्पष्ट न हो जाए तब तक तत् से एकता का चिन्तन करना अत्यंत ही कष्टदायक है। अक्षरोपासक किस प्रकार से प्रगति करते हैं, यह आगे बताएँगे।।५।।

विश्वरूप की उपासना करने वालों का निश्चित उद्धार बतलाते हैं -

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

हे पार्थ! जो तो मुझे ही परागति जानकर, सारे कर्म मुझे ही समर्पित कर, मुझसे अतिरिक्त जिसमें आलंबन नहीं उसी समाधि द्वारा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझ विश्वरूप में समाहित चित्त वाले उनका मैं शीघ्र ही मृत्युयुक्त सागरतुल्य संसार से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।

'तु' से अव्यक्तोपासकों से पृथक् कर विश्वरूपोपासकों का प्रसंग बताया। वे सारे कर्म मुझ ईश्वर को अर्पित कर देते हैं। पूर्वोक्त 'मत्कर्मकृत्' का ही 'कर्माणि मयि संन्यस्य' व्याख्यान है। 'मत्परमः' को कह दिया 'मत्पराः' से। परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकार का अनन्य योग ही साधन है। न जो कुछ हमारे अनुभव में आ रहा है वह परमात्मा से भिन्न है और न मैं ही परमात्मा से भिन्न हूँ, वही सर्वरूप है, अतः दूसरा कोई भी आलम्बन नहीं है। एकमात्र वह विश्वरूप देव, जिसमें सब कुछ है, वही आलंबन है। अक्षरोपासकों की तो 'उसमें कुछ नहीं है,' इस प्रकार से उपासना है। जबकि इनकी, 'उसमें ही सब कुछ है,' इस प्रकार से उपासना है। 'अनन्येनैव योगेन' अर्थात् केवल एकमात्र परमात्मा ही है, इस प्रकार की वृत्ति बनाकर 'मां' अर्थात् मुझ

विश्वरूप को ही 'ध्यायन्तः' चिन्तन करते हुए 'उपासते' उसी में चित्त एकाग्र करते हैं। जो अव्यक्त उपासक हैं, वे तो मद्रूप हो जाते हैं, परन्तु जो उक्त ढंग से विश्वरूप की उपासना करते हैं, जिनकी भावना है कि जो कुछ अनुभव में आता है, वह भी परमात्मा है और अनुभव करने वाला मैं भी परमात्मा हूँ, उनका मैं उद्धार करता हूँ। जब सब कुछ परमात्मरूप देखते हैं, विश्वरूप का दर्शन करते रहते हैं, तब मैं उनके उद्धार करने वाले रूप से उनका उद्धार कर देता हूँ। वे अपने प्रयत्न से उद्धृत नहीं होते, अपने प्रयत्न से मुझ ईश्वर को प्रसन्न करते हैं और मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।

किससे उद्धार कर देता हूँ? 'मृत्युसंसारसागरात्' संसार मृत्युयुक्त है अर्थात् संसार के अन्दर मृत्यु अवश्यंभावी है। विश्वरूप, कालरूप है और काल का नियम है हर चीज़ को बदलते चले जाना। बदलने का मतलब ही है कि पूर्व रूप में नहीं रह करके उत्तर रूप में आ जाना। यही मृत्यु है। घड़े का घड़ेरूप में न रहकर मिट्टीरूप में हो जाना ही उसका नाश है। इसी प्रकार से देवदत्त का देवदत्त शरीर के रूप में न रहकर, देवदत्त के बुड्ढे शरीर के अंदर न रह कर, यज्ञदत्त के तुरन्त उत्पन्न हुये रूप में हो जाना - इसी का नाम देवदत्त की मृत्यु है। संसार मृत्यु-युक्त है। जैसे सागर को तैरकर पार नहीं कर सकते वैसे ही इस मृत्य-संसार को पार नहीं कर सकते। काल का कभी पार नहीं आता। 'अब काल ख़त्म हो गया, इसलिये आगे परिवर्तन नहीं होगा'- ऐसा कुछ नहीं हो सकता। इसलिये मृत्य-संसार-सागर से *पार* नहीं जा सकते। परन्तु इससे *बाहर* निकल सकते हो। उत् का मतलब ऊर्ध्व है। हर्ता मायने हरण कर ले जाने वाला। सम्यक् उद्धर्ता अर्थात् इस जन्म-मरण की परम्परा से अलग करा देने वाला। तैरकर इसको पार नहीं कर सकते, इससे ऊपर उठ सकते हैं। वही समुद्धार कर सकता है जो इससे बाहर है। कीचड़ के बाहर जो आदमी खड़ा हुआ है, वह तो तुमको कीचड़ से निकाल सकता है। कीचड़ में धँसा हुआ तुमको निकालेगा तो, खुद कीचड़ में और ज़्यादा फँसता चला जाएगा! चूँकि भगवान् इस सबसे हमेशा अलग हैं इसलिये समुद्धर्ता बन जाते हैं। इसलिये भगवान् ने कहा था : जितना कुछ है वह तो मेरे एक पाद में है और मेरी त्रिपादी तो उससे हमेशा ऊर्ध्व रहती है। दसवें के अन्त में भगवान् ने यह कहा था। परमेश्वर संसार से बाहर हैं, इसलिये वे तुम्हारा समुद्धार कर देते हैं, तुमको इससे खींच कर बाहर कर देते हैं।

कब करेंगे? 'हे पार्थ! चिरात् न भवामि,' ऐसा नहीं समझ लेना कि कई जन्मों के बाद तुम्हारा उद्धार करेंगे। 'न चिरात्' लम्बा समय नहीं लगेगा, शीघ्र ही कर देंगे। 'चिर' कितनी देर है, यह कोई नहीं कह सकता। परन्तु भगवान् आगे कहेंगे 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते' कि बहुत जन्मों के अन्त में जाकर बुद्धियोग अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होकर मुझसे एक हो जाता है। 'बहूनां' का विचार करते हुये शास्त्रकारों ने कहा है कि तीन को बताने के लिये बहुवचन हो जाता है। तीन का बोधक होकर

ही बहुवचन गतार्थ हो जाता है तो उसका चार पाँच छह आदि अर्थ करना निरर्थक कल्पना हो जाती है। अतः अधिकतम तीन जन्मों का विलम्ब हो सकता है। हो सकता है इस जन्म में ही उद्धार हो जाए, या अगले जन्म में हो जाए, परन्तु तीसरे जन्म में तो निश्चित ही हो जाएगा। किसका? 'मय्यावेशितचेतसाम्' मेरा जो विश्वरूप है, उस विश्वरूप में जिनका चित्त सर्वथा प्रविष्ट है। अर्थात् 'जो भी अनुभव में आता है, वह विश्वरूप परमेश्वर है और मैं अनुभव करने वाला भी विश्वरूप परमेश्वर हूँ' - इस प्रकार हमेशा जिनके चित्त में रहने लग गया है, उनका उद्धार शीघ्र कर देता हूँ। जब तक इसकी दृढता नहीं हुई तब तक शीघ्र उद्धार की आशा नहीं। दृश्य और द्रष्टा दोनों केवल परमात्मा ही हैं - इसका निश्चय करने में चाहे जितना समय लगाओ, लेकिन ऐसा हर क्षण जब निश्चय रहने लग गया तब दीर्घकाल नहीं लगता, उसका भगवान् उद्धार कर देते हैं।।६–७।।

क्योंकि मय्यावेशित चित्त वालों का उद्धार शीघ्र कर देते है इसलिये भगवान् अर्जुन को निर्देश देते हैं-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मुझ विश्वरूप ईश्वर के बारे में ही संकल्प-विकल्प और निश्चय करो (ताकि) शरीर छूटने के बाद अवश्य मुझ में ही रहोगे।

'मय्यावेशितचेतस्ता' कैसे होवे? मुझ विश्वरूप ईश्वर में ही संकल्प-विकल्पात्मक मन को स्थापित करो। और कोई संकल्प-विकल्प न करो, मन को इसी में लगाओ कि सब कुछ विश्वरूप ही है। यही तुम्हारा संकल्प-विकल्प सब समय रहे। और केवल संकल्प-विकल्प ही नहीं, 'मयि बुद्धिं निवेशय' निश्चय भी इसी बात का करो। संकल्प-विकल्प जैसे : तुमको कोई कोढ़ी दीखा। प्रश्न उठा कि यह कोढ़ी विश्वरूप कैसे? विचार करो कि यह कोढ़ी है। है, तब कोढ़ी, इसलिये सद्रूप है। यह कोढ़ी दुःख का अनुभव कर रहा है; इसलिये ज्ञान है, तब यह कोढ़ी दुःखानुभव कर रहा है, इसीलिये उसके प्रति तुम्हारी सहानुभूति होती है। किंच, इसको भी अपना आपा प्रिय है। यह भी अपने को दुःखी नहीं करना चाहता। चूंकि अपने आत्मा से प्रेम कर रहा है, इसलिये इसका आत्मा आनन्दरूप है। अगर आनन्दरूप न होता तो क्यों आत्मा से प्रेम करता और आनन्द की इच्छा करता? इसलिये यह सच्चिदानंद ही है। इस प्रकार, हर चीज़ को मन से विचार के द्वारा एकमात्र विश्वरूप परमेश्वर सच्चिदानंद ही देखना है। और बुद्धि से यही निश्चय भी करना है। यहाँ संकल्प-विकल्प को सन्देहात्मक नहीं समझ लेना वरन् सच्चिदानंदरूपता तक पहुँचने के लिये जो ऊह-अपोह करने आवश्यक हैं उन्हें समझना। और किसी विचार में मन न जाये, इसी का विचार करे। जैसे रेखागणित में

कह दिया जाता है कि त्रिकोण के तीन कोण एक सौ अस्सी अंशों के होते हैं। उसका निश्चय करने के कई तरीके हैं। त्रिकोण को समान्तर चतुर्भुज (parallelogram) के अन्तर्गत समझकर भी वह बात सिद्ध की जा सकती है, समान्तर रेखाओं के विकर्ण (diagonal) के सहारे कुछ अंशों के विभाजन से भी सिद्ध की जा सकती है। इत्यादि तरह-तरह से सिद्ध करते हैं। यह तो पता है कि जवाब एक सौ अस्सी अंश निकालना है, पर कैसे निकालना है, इसके अन्दर संकल्प-विकल्प करते हैं। इसी प्रकार से एक अखण्ड परमात्मा ही द्रष्टा-दृश्य दोनों भावों से स्थित है। हर-एक अनुभव में संकल्प-विकल्प से यही निश्चय करो कि ऐसा ही है। मन से यहाँ संशय नहीं कह रहे हैं कि मेरे बारे में संशय करो! तात्पर्य है कि परमात्मा ही सर्वरूप है - हर अनुभव के अंदर उस सच्चिदानंद को घटाकर देखो। घटाने के अलग-अलग तरीके खोजने हैं।

परमात्म-रूपता का निश्चय करके फिर उसी में स्थिर रहो 'मयि बुद्धिं निवेशय।' ऐसा होने पर 'निवसिष्यसि मयि'; द्रष्टा और दृश्य के सिवाय और कहीं तो तुम जाते नहीं हो। या द्रष्टा को देखते हो 'मैं करने वाला, मैं सुख-दुःख भोगने वाला, मैं जाने वाला, मैं पकड़ने वाला,' इस प्रकार से द्रष्टा को देखते हो। अथवा दृश्य को देखते हो - ये बादल हैं, ये पहाड़ हैं, ये मकान हैं। जब दोनों की विश्वरूपता का निश्चय करते रहते हो तब सब समय उस विश्वरूप में ही तुम्हारा निरन्तर वास है, उसमें ही रहते हो। वास का मतलब होता है जहाँ तुम रहते हो। व का अपभ्रंश ब होकर के राजस्थान में कहते हैं सुनारों का बास है, लुहारों का बास है, अग्रवालों का बास है, अर्थात् जहाँ वे रहते हैं। वहाँ रहते हैं, पर इधर-उधर भी जाते हैं, हर समय तो वहाँ नहीं रहते। परन्तु जब प्रश्न करते हैं 'तुम्हारा निवास कहाँ है?' तब अर्थ है कि निश्चित रूप से कहाँ वास करते हो। थोड़ी-बहुत देर के लिये कहीं गए भी पर फिर वापिस वहीं आ जाते हो। इसी प्रकार संकल्प-विकल्प करते समय दृश्य और द्रष्टा का भेद देखते हुये भी निवास कहाँ करते हैं? जहाँ तुरन्त आ जाते हैं, सच्चिदानंद रूप में। अर्थात् संकल्प-विकल्प के समय में भी निवास अर्थात् अंदर की बुद्धि का निश्चय छूटता नहीं है। उनके लिये संसार का अनुभव गणित की समस्या की तरह आता है। समस्या का हल वे जानते हैं। समस्या का उत्तर सिद्धान्ततः पता है पर *इस* समस्या का वह उत्तर कैसे निकालें? - इसमें मन लगाते हैं। अत्यंत क्रूर राक्षसों को देख कर अन्य तरह की बात मन में आती है। कोढ़ी को देख कर अन्य तरह की बात मन में आती है। जवाब तो पता है कि ये सब परमात्मा का रूप हैं। परन्तु पुनः पुनः उस-उस समस्या का हल निकालते रहना है कि यह इस तरह से सच्चिदानन्द रूप है। ये सारे अनुभव तुमको कब तक होते रहते हैं? जब तक शरीर में हो। समस्या तभी तक है जब तक तुम शरीर में हो। जिसने ऐसा निश्चय कर लिया वह शरीर से विदेहभाव को प्राप्त करके उसके बाद मेरे अन्दर ही रहेगा, इसमें संदेह नहीं है।।८।।

भगवान् ने विश्वरूपोपासकों को योगवित्तम कहा था। अतः अन्य योगवेत्ताओं का परिचय भी कराते हैं ताकि उनकी उत्तमता प्रकट हो। इस तरह भगवत्प्राप्ति के अन्य उपाय भी स्पष्ट हो जायेंगे।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनंजय ।।९।।

धनंजय! अगर मुझ विश्वरूप में चित्त को स्थिर रूप से समाहित न कर सको तो चित्त को सब ओर से बटोर कर किसी एक स्थूल प्रतिमादि आलम्बन में बार-बार स्थापित कर समाहित करने के द्वारा मुझे पाने की कोशिश करो।

'अथ' अर्थात् पक्षान्तर बताते हैं। विश्वरूप ही द्रष्टा और दृश्य दोनों है, इस का चिन्तन व निश्चय जो करने में असमर्थ हो उसके लिये भगवान् अन्य उपायों का विधान कर रहे हैं। 'स्थिरम्' इसलिये कहा कि थोड़ी देर तक तो लग भी सकता है कि सब कुछ परमात्मा का रूप है, पर जब मच्छर गुनगुनाने लगता है, तो उसको उड़ाने की ही सोचते हो! अर्थात् विश्वरूपता चित्त में स्थिर नहीं हो पाती है। यहाँ भगवान् केवल अर्जुन के लिये नहीं कह रहे, जो भी ऐसा नहीं कर सके उसे दूसरा उपाय बता रहे हैं। विश्वरूप की उपासना करने वाला जल्दी ही मुक्त हो जाता है परन्तु ऐसा करना जिसके लिये सम्भव नहीं है वह अभ्यासयोग करे। 'ततः' अर्थात् अपनी असमर्थता पहचानने के बाद, अभ्यास योग अर्थात् मेरी विभूतियों में से किसी एक विभूति के अन्दर चित्त स्थापित करना। विश्वरूप में तो सारे जगत् को आलम्बन बनाया था कि 'ये सब परमेश्वररूप हैं,' यहाँ किसी भी एक रूप को आलम्बन बनाना है। जो विभूतियाँ गिनाई हैं उनमें से किसी को भी आलम्बन बना सकते हैं। गीता की तरह अन्यत्र भी विभूतियाँ वतायी हैं, कहीं से किसी एक को लेकर उसी पर एकाग्र होना है। भगवान् ने सूत्र बतला दिया था, जहाँ कहीं तुमको ऐश्वर्य का अतिशय, बल का अतिशय प्रतीत हो वहाँ वह बल, तेज ईश्वर का ही है अतः वह विभूति ही है। ऐसे किसी प्रतीक को सामने रख कर 'इसमें जो तेज प्रतीत हो रहा है वह ईश्वर का ही है' - यों उसे विभूति समझकर उसी एक आलम्बन में, बार-बार चित्त को स्थापित करना अभ्यास योग कहा जाता है। भगवान् ने खाली नाक कान वाले मानुष आदि रूपों को विभूति नहीं गिना है। 'प्रणवः सर्ववेदानां, वेदानां सामवेदोस्मि' आदि भी कहे हैं। सामवेद या प्रणव शब्दरूप हैं, इनके कोई नाक-कान नहीं हैं, मनुष्याकृति नहीं है। इसी प्रकार पृथ्वी में पुण्य गंध को विभूति कहा था। सामर्थ्यानुसार जहाँ-कहीं चित्त स्थिर करना आवश्यक है। ओंकार की उपासना करो तो ओंकार के वैशिष्ट्य को याद रखो। रोज़ प्रार्थना करते हो 'कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः' यह समग्र कामनाओं को देने वाला और मोक्ष को भी देने वाला है; यह ॐ की अतिशयता हुई। किंतु याद रखो कि ये सब देने

वाला कौन है? परमेश्वर है। ओंकार में तो तुम उसका चिन्तन कर रहे हो। अथवा जब सामवेद का पाठ करते हो तब भी याद रखो कि यह परमेश्वररूप है। सामवेद में वैशिष्ट्य क्यों है? गीति होने के कारण। किंतु गीत तो बहुत-से हैं। अतः उतने से ही उसकी विशेषता नहीं वरन् परमात्मा अपनी विशेषता उसमें व्यक्त करते हैं इसलिये सामवेद की विशिष्टता है। इसी प्रकार गंगा जी विभूति हैं। सात जन्मों में किये पाप तुरन्त नष्ट कर देती हैं, यह गंगा जी का ऐश्वर्य है। पानी तो सभी बह रहे हैं। उससे ज़्यादा साफ़ पानी भी मिल जाएगा, परन्तु वह तुम्हारे पापों को नष्ट नहीं कर सकेगा। गंगा जी में ही वह ऐश्वर्य है। पापों को नष्ट करने वाली शक्ति परमेश्वर की है, गंगा के पानी में प्रकट हुई है। इनमें से किसी भी एक आलम्बन के अन्दर बार-बार चित्त को स्थिर करना अभ्यास योग हुआ। अभ्यास योग से 'मामिच्छाप्तुं', माम् आप्तुम् इच्छ, अभ्यास योग के द्वारा मुझ विश्वरूप को पाने की इच्छा करो अर्थात् प्रार्थना करो। उस एकरूप के अन्दर बार-बार मन को स्थित करते हुये उसमें जो विश्वरूप है उससे प्रार्थना करो। क्या प्रार्थना करो? लड़का चाहिए, व्यापार चाहिए, पत्नी चाहिए - ये सब नहीं, माम् आप्तुं इच्छ, मुझ को ही प्राप्त करने की इच्छा करो अर्थात् 'विश्वरूप परमात्मा ही मुझे प्राप्त होवे', ऐसी प्रार्थना करो।

विश्वरूप की उपासना करने वाले को तो बहुत कठिनाई होती है। अत्यंत सुन्दर रूप को परमेश्वर देखना सरल है। परन्तु कोढ़ी में, लंगड़े में, लूले में, परमात्मा देखना बड़ा कठिन होता है। प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु पीट रहा है; तुम्हें देखना है कि पीटने वाला भी वही है, जो पिट रहा है वह भी वही है। यह करना बहुत कठिन होता है। उसकी जगह 'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्' का ध्यान सरल होता है। सबको सुख देने वाला सुन्दर रूप है, उस रूप वाले के अन्दर उसकी विशेष शक्तियाँ हैं, विशेष बल है, यह समझना सुकर है। ग्यारह साल की उम्र में कंस व चाणूर को मार दिया। पैदा होने के साथ ही पूतना को मार दिया। सात साल की उम्र में कालिय-दमन कर दिया; इन सब विशेष शक्तियों वाला परमेश्वरस्वरूप है। - यह निश्चय शीघ्र हो सकता है। परन्तु प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु में उसी एक को देखना कठिन होता है। इसलिये भगवान् ने कहा कि यदि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि नहीं कर सकते हो तो किसी एक विभूति के अन्दर बार-बार चित्त को स्थिर करो। यह निश्चय करो कि इनके जो सौन्दर्य, लावण्य इत्यादि हैं ये सब उस परमेश्वर की विभूति हैं; परमेश्वर के कारण इनमें ये हैं। और उससे तुम केवल परमात्म-प्राप्ति की ही इच्छा करो। अभ्यास योग का आलम्बन रूपात्मक भी हो सकता है, शब्दात्मक भी हो सकता है। 'नमः शिवाय' अनेक पापों को नष्ट करने वाला मंत्र है। इसमें शक्ति परमेश्वर की है। परमेश्वर की शक्ति यहाँ दीख रही है। जहाँ दीख रही है उसकी शक्ति नहीं हैं, शक्ति परमेश्वर की है, यहाँ दीख रही है, जिस प्रकार लोहे में गर्मी लोहे की नहीं है, अग्नि की होती है। 'लोहे की गर्मी' समझ लोगे तो मिथ्या

ज्ञान हो जायेगा। लोहे में गर्मी अग्नि की है। इसी प्रकार प्रतीक के अन्दर जो शक्ति उपलब्ध होकर हमें वहाँ केन्द्रित रखती है वह परमेश्वर की शक्ति है यह स्पष्ट उपस्थित रखना पड़ेगा, तभी परमेश्वर की उपासना बनेगी। किसी की कीर्ति बहुत बड़ी है। कीर्ति को भी भगवान् ने अपनी विभूति बताया था। यहाँ याद रखो कि इसकी इतनी कीर्ति क्यों है? क्योंकि परमेश्वर की कीर्ति-शक्ति इसके अन्दर व्यक्त है। अभ्यास योग को करते समय ख्याल रखने की बात है कि आलम्बन के अन्दर जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य आदि हैं, वे परमेश्वर के हैं। और उससे प्रार्थना करनी है कि हमें परमेश्वर की प्राप्ति होवे। प्रतीक में अटक जाना यहाँ इष्ट नहीं है।।९।।

द्वैत में आग्रही के लिये मन को हर तरफ से समाहृत करना भी संभव नहीं होता अतः उसके लिये भगवान् अन्य उपाय बताते हैं।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

उक्त अभ्यासरूप साधन अपनाने में भी यदि असमर्थ हो तो प्रधानतः मेरे लिये ही कर्म करो। मेरे लिये कर्म करते हुये भी (चित्तशुद्धि-ज्ञानप्राप्ति द्वारा) ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकोगे।

किसी एक आलम्बन में भी मन को स्थिर करने में तुम समर्थ नहीं हो तो 'मत्कर्मपरम' बनो। मेरे लिये जो कर्म किया जाए वह मत्कर्म, उसी को परम मान लो, उसी को प्रधान मान लो। श्रुति-स्मृति के अन्दर जो कर्म बताए गए हैं, अथवा जो नवधा या एकादशधा भक्ति के साधन बतलाये हैं उन्हें प्रधानता से करो; मेरी लीलाओं का ही श्रवण करना, मेरी लीलाओं का ही कीर्तन करना, उन्हीं का निरन्तर स्मरण रखना, परमेश्वर की पूजा आराधना में लगे रहना - ये भी मत्कर्म हैं, मेरे लिये किये हुए कर्म हैं, और श्रुति-स्मृति के अन्दर मैंने जो आज्ञा दी है उसका पालन करना भी मेरे लिये किया कर्म है। जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हैं उनके लिये तो श्रुति-स्मृति की आज्ञा से कर्म करना हो जाएगा प्रधान और जो स्त्री शूद्र आदि हैं - जिनके लिये आश्रम-कर्मों का और वर्ण-कर्मों का खास विधान नहीं है, वे मेरे बारे में लीलाश्रवण इत्यादि सब कर सकते हैं। किंतु मत्कर्म को ही परम अर्थात् प्रधान रखना है। शरीर-यात्रादि के लिये जो कुछ अनिवार्य हो वह कर भी लें, परन्तु प्रधान रूप से, अत्यावश्यक रूप से केवल मत्कर्म करें। शरीर का निर्वाह हो जाए इतना अन्य कार्य करने पर भी शरीरयात्राको प्रधान नहीं बनने देंगे। इस प्रकार से मेरे लिये कर्म करते हुये भी चित्तशुद्धि की प्राप्ति, चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति और अन्त में ज्ञानप्राप्ति के द्वारा मुझे प्राप्त कर लेंगे। इस साधन में कर्म प्रधान है, क्रिया प्रधान है। अधिकतर लोग बुद्धि से विचार करने में भी असमर्थ होते हैं, मन को निरन्तर एक आलम्बन में रखने में भी असमर्थ होते हैं। लेकिन

अपने करणों से क्रिया कर सकते हैं। क्योंकि मन न लगे, बुद्धि न लगे, तो भी शरीर से आदमी कर्म कर ही सकता है। ऐसों के लिये मत्कर्मपरता उपाय बताया।।१०।।

अतिकरुणामय भगवान् मत्कर्मपरमता की अपेक्षा भी सरल साधन बताते हैं -

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अगर यह भी न कर सको तो चित्त को संयत रखते हुये मुझपर जिम्मा डालकर कर्म करो, फिर सारे कर्मों के फलों का त्याग कर दो।

पूर्व साधन में परमेश्वर के लिये ही कर्म करते रहना प्रधान था। चाहे शास्त्रीय कर्म हो, चाहे लीलाश्रवणादि हो, करने केवल उनके लिये थे। अतः काम्य कर्म उस साधक द्वारा नहीं किये जा सकते। जो इस प्रकार भगवान् के लिये करने को ही जीवन में प्रधानता नहीं दे सके, उसके लिये यहाँ 'मद्योग' का सहारा बताया। कर्म करने पर उन्हें भगवान् में संन्यस्त करना - यह मद्योग है। अर्थात् 'भगवान् ही मुझ से करा रहे हैं' यह भाव रखते हुये कर्म करने हैं। इस साधन में कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं वरन् स्वरूपतः अनुष्ठान है किन्तु निश्चय यह रखना है कि कराने वाले भगवान् हैं। इस भाव से कर्म करके, काम्य कर्म भी करके, उनका फल पुनः भगवान् को अर्पित करना है। फल की आशा नहीं रखनी। चाहे शास्त्रीय कर्म हो या लौकिक, करते समय तो 'भगवान् करा रहे हैं' यह निश्चय रखते हुये कर्मों का अनुष्ठान करना है और कर्म हो चुकने पर 'उसके फल को मैं पाऊँ' यह इच्छा नहीं रखनी है। मेरे सामने जो काम भगवान् लाये, वह मैंने किया, आगे उसका फल जो भी परमात्मा देना चाहें देवें, न देना चाहें न देवें। इस प्रकार सारे कर्मों के फल का त्याग करना है। 'मत्कर्मपरम' तो प्रधान रूप से परमेश्वर के लिये ही कर्म करता है जबकि यह साधक काम्यादि कर्म अपने लिये भी कर लेता है, लौकिक कर्म भी अपने लिये कर लेता है, पर आगे फल का त्याग कर देता है। 'यतात्मवान्' ऐसा करने के लिए भी प्रयत्न करते हुए तो रहना ही पड़ेगा अर्थात् निरन्तर प्रयत्नशीलता और उसके लिये मन-इंद्रियों का संयम तथा बुद्धि की विवेकशीलता कायम रखनी पड़ेगी।।११।।

इस प्रकार से साधकों के लिये चार क्रम बताए। जो जिसे करने की सामर्थ्य वाला है, वह उसे ही करे। क्योंकि बार-बार कहा है 'न शक्नोषि, अशक्तोऽसि', अतः श्रेष्ठ साधन करने की योग्यता होने पर भी उसको न करना - यह भगवान् नहीं कह रहे हैं। जो अधिकतर साधक कर सकते हैं, उसे इसीलिये श्रेष्ठ कह देते हैं। जैसे पहले 'युक्ततमाः' कहा, वैसे ही यहाँ जो सबसे निकृष्ट साधक है उसकी प्रशंसा करते हुये कहते हैं -

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

(अविवेकपूर्वक किये श्रवणादि के) अभ्यास से शब्द-युक्ति द्वारा आत्मनिश्चय ही बेहतर है, उसकी अपेक्षा (ज्ञानपूर्वक किया) ध्यान खासियत रखता है। उससे भी खास है कर्मफलों का त्याग। त्याग से तत्काल ही संसार की सकारण उपशान्ति हो जाती है।

'श्रेयः' अर्थात् प्रशस्यतर, ज़्यादा अच्छा है। अभ्यास से टीकाकारों ने ज्ञान के लिये किया श्रवण का या ध्यान का अभ्यास समझा है। ऐसे अभ्यास को भी बिना विवेक के किया जाये, तत्-त्वम् पदार्थों का अभिप्रेत अर्थ स्वानुभव में लाये बिना केवल आवृत्ति रूप से किया जाये, इसकी अपेक्षा ज्ञान बेहतर है अर्थात् यथाशास्त्र, यथायुक्ति आत्मतत्त्व के यथार्थ का निश्चय बेहतर है। अथवा अभ्यास से बेहतर ज्ञान को कहने का अर्थ है कि बिना समझे करने की अपेक्षा समझकर, ज्ञानपूर्वक करना बेहतर है। पदार्थों को बिना समझे ग्रंथावर्तन करने से अच्छा है पदार्थ समझकर उनकी आवृत्ति करना। यह न्याय कर्मों के अभ्यास में भी लग जायेगा। कर्म भी बिना जाने-बूझे करने से अच्छा है उनकी सारी जानकारी रखकर करना।

'ज्ञानात्' श्रवण-मनन से प्राप्त जानकारी से 'ध्यानं' ज्ञानपूर्वक किया ध्यान विशेषता रखता है। ज्ञानमात्र से संतुष्ट व्यक्ति तो समझकर उस बात की उपेक्षा कर देता है कि समझ चुका हूँ, किंतु उस पर अपना ध्यान एकाग्र करने वाला ही गहराई से समझ भी पाता है और समझे हुए को जज़्ब भी कर पाता है। बिना समझे किये ध्यान को यहाँ बेहतर नहीं कह रहे, समझने के बाद किये ध्यान की ही प्रशंसा कर रहे हैं।

ऐसे ध्यान से भी कर्मफल को त्यागना श्रेष्ठ है। जैसे पहले बताया, साधकों को सरल पड़ना यहाँ बेहतरपना है। त्याग क्यों अच्छा है? क्योंकि त्याग करने के अनंतर, उस त्याग के द्वारा चित्तशुद्धि आदि की प्राप्ति हो कर शान्ति प्राप्त हो ही जाती है। कर्मफल के त्याग से क्योंकि मन ज्ञानयोग्यता पा जाता है इसलिये बिना अधिक काल लिये संसार और इसका कारण शान्त हो जाता है, आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप विक्षेप उत्पन्न कर सकने में अक्षम हो जाता है क्योंकि बाधित हो चुकता है। यहाँ 'त्याग' अर्थात् 'भगवान् प्रसन्न हों' - केवल इसी उदेश्य से कर्मानुष्ठान। कर्म किये ही नहीं तो त्याग काहे का होगा! अतः इस दृढ भावना से कर्म करने पर चित्तशुद्धि ज्ञानप्राप्ति के क्रम से मोक्ष हो जाता है यह तात्पर्य है। सारे कर्मों का फलत्याग श्रेय का साधन है। अन्य साधनों में जो असमर्थ है वह भी कर्मों के फलों का त्याग तो कर ही सकता है। जो शुद्ध चित्त से रहित हैं, उनके लिये कर्मफलत्याग को अनुष्ठेय रूप से यहाँ बतलाया। जो परमात्मा के स्वरूप को भी नहीं समझ सकता है, चित्त को एकाग्र भी नहीं कर सकता है, वह कर्मों को करते हुये उनका फल परमेश्वर को अर्पण करे। इसे सर्वश्रेष्ठ

बताना इसकी स्तुति के लिये है। तात्पर्य भगवान् का है कि *सारी* कामनाओं को छोड़ने से अमृतत्व की, मोक्ष की प्राप्ति होती है। वास्तविक महत्त्व सर्वकामत्याग का है, फलत्याग भी त्याग है ही, इस समानता से फलत्याग की स्तुति की ताकि साधक इसमें सोत्साह प्रवृत्त हो।

चाहे शास्त्रीय कर्म होवें, चाहे लौकिक कर्म होवें, व्यक्ति कर्म करता है फल की कामना से। शास्त्रीय कर्म करता है तो भी किसी-न-किसी फल के लिये। जिसका कोई फल नहीं भी बताया है उसमें भी प्रत्यवाय से बचने के लिये ही प्रवृत्ति करता है। सन्ध्या का दूसरा फल नहीं भी होवे, तुम संध्या करते रहते हो तो ब्राह्मणत्व से गिरते नहीं हो। संध्या नहीं करोगे तो ब्राह्मण ही नहीं रह जाओगे। शास्त्रीय कर्म हो, चाहे लौकिक कर्म हो, जो भी करते हो उसका फल ही तुम्हारी कामना का विषय है। जिसको उसके फल की कामना नहीं है वह उसके लिये कर्म करेगा भी नहीं। जब तुम फलत्याग करोगे, फलत्याग का अभ्यास करोगे तब धीरे-धीरे कामना के त्याग का अभ्यास हो जाएगा। कामनाओं का त्याग करने से ही मनुष्य को विवेक, वैराग्य आदि साधन-सम्पत्ति प्राप्त होती है। कामनाओं का त्याग हो जाएगा, तभी सर्वकर्मसंन्यास की प्राप्ति होगी, फिर आगे के श्रवण मनन आदि साधन उसके लिये संभव हो जाएँगे। भाष्यकार यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि अगस्त्य ब्राह्मण थे, उन्होंने समुद्र को पिया। इसलिये आज भी ब्राह्मणत्व सामान्य से ब्राह्मणों की स्तुति होती है कि 'ब्राह्मण सब कुछ कर सकता है, अगस्त ने समुद्र पी लिया था!' आज ब्राह्मणों में वह सामर्थ्य नहीं है लेकिन ब्राह्मणत्व की समानता को लेकर उनकी स्तुति हो जाती है । इसी प्रकार सर्वकर्मफलत्याग साक्षात् शान्ति को देने वाला नहीं है परन्तु त्याग तो है, त्याग सामान्य से सर्वकर्मफलत्याग की प्रशंसा की गई है। सर्वकर्मसंन्यास में और सर्वकर्मफलत्याग में है तो बहुत बड़ा फ़र्क लेकिन त्याग दोनों में है - कर्म का भी त्याग और कामना का त्याग - इसलिए फलसंन्यास की स्तुति कर दी गयी है। कर्मफल के त्याग से कर्मयोग सम्पन्न हो जाता है जो श्रेयस्कर साधन है।

'योगवित्तम' के बारे में अर्जुन का प्रश्न था। उत्तर में पहले युक्ततम को बतला दिया, फिर जो परमात्मरूप हो गया उसको युक्तादि कोटियों से परे बतला दिया। जो युक्ततम नहीं हो सकते ऐसे मंद, मध्यम, निकृष्ट अधिकारियों के लिये साधनाओं को भी बतला दिया। आत्मा और ईश्वर के भेद को मान करके विश्वरूप ईश्वर के अन्दर चित्त का समाधान करने से युक्ततमता आती है। उस भेद को मानकर ही ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान आदि भी होता है। अज्ञान रहते ही ये सब साधन कर्त्तव्य हैं। जो अभेददर्शी है उस अक्षरोपासक के लिये कर्मयोग नहीं है। और जो कर्मयोगी है वह अक्षरोपासना कर ही नहीं सकता। अर्थात् भेददर्शी के लिये ये साधन बताए गए हैं। कर्म द्वैत-दृष्टि से ही करोगे। अद्वैत दृष्टि से कर्म नहीं हो सकता है। जो चीज़ जैसी है, उस को बिना परिवर्तित किए हुए जानना तो

ज्ञान है और उसमें परिवर्तन करना क्रिया है। क्रिया कुछ-न-कुछ बदलाव लाती है। जो अभेददर्शी है उसके लिये किसी चीज़ को बदलने की सम्भावना ही नहीं है। अतः अभेददर्शी के लिये कर्म नहीं बनता। इसलिये बार-बार भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों बिलकुल विरुद्ध मार्ग हैं। अभेददर्शी के लिये निवृत्ति ही है। भेददर्शी के लिये प्रवृत्ति ही है। इसीलिये भगवान् ने अक्षरोपासकों की तो कैवल्यप्राप्ति में स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव;' और जो भेददर्शी हैं उनके लिये ईश्वराधीनता कही 'तेषामहं समुद्धर्ता'। भेददर्शी हमेशा ही गुलाम रहेगा और अभेददर्शी स्वतंत्र ही रहेगा। जो ईश्वरस्वरूप हो गए हैं, अभेददर्शी होने से अक्षररूप ही हैं, उनके लिये 'मैं समुद्धार करूँगा' कहना बनता ही नहीं है।।१२।।

भगवान् अर्जुन के अत्यन्त हितैषी हैं इसलिये उसे सम्यक् दर्शन में असमर्थ समझ कर भेददृष्टि वाले द्वारा कर्तव्य कर्मयोग का ही उसे कर्त्तव्यत्वेन उपदेश दिया और उसी उपाय की प्रशंसा की। जो आत्मा को ईश्वररूप जान लेता है, प्रत्यगात्मा और परमात्मा का भेद जिसके अनुभव से प्रमाणपूर्वक हट जाता है, वह किसी के भी प्रति गौण बन नहीं सकता। प्रत्यगात्मा और परमात्मा के अभेद के अनुभव के बाद 'परमेश्वर मेरी रक्षा करे' इत्यादि वृत्ति बन ही नहीं सकती है। ऐसे सम्यक्-दर्शननिष्ठ सर्वकर्मसंन्यासी जो अक्षरोपासक हैं, जिन्होंने सारी एषणाओं को छोड़ दिया है, उनके अन्दर साक्षात् अमृतत्व के कारणभूत जो धर्म उद्भूत हो जाते हैं, उन्हें अब भगवान् बतायेंगे। पूर्व श्लोक में 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' कहने से अथवा और भी पहले, विश्वरूप के उपासक को युक्ततम कहने से मन्दमति को अक्षरोपासना की महत्ता के बारे में भ्रम न हो इसलिये भगवान् अक्षरोपासकों के लक्षण बता कर उन्हें बार-बार अपना अतीव प्रिय कह रहे हैं। तीसरे से पाँचवें श्लोक तक अक्षरोपासकों का कथन कर छठे श्लोक से सगुणोपासकों के उल्लेख-पूर्वक नौवें श्लोक से साधनान्तर बताये। अब पुनः अक्षरोपासकों के सन्दर्भ में भगवान् कहने जा रहे हैं। ये धर्म ज्ञाननिष्ठों में पूर्णतः सम्भव हैं, अज्ञानियों में नहीं किंतु अज्ञानियों को यथासम्भव इनका अभ्यास करना ही चाहिये, अपने अधिकार के अविरुद्ध अंश का अनुसरण करना ही चाहिए, जैसे स्थितप्रज्ञलक्षणों के बारे में भगवान् भाष्यकार ने कहा था, 'सर्वत्रैव अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते'। अतः यहाँ भगवान् भी अक्षरोपासना करने वालों की चर्या स्पष्ट करते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

(जो) किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता, सबसे मित्रता रखता है, दुःखियों पर दया करता है, शरीर तक को अपना नहीं समझता, आचार विद्या आदि का अभिमान नहीं रखता, सुख-दुःख के कारण राग-द्वेष वाला नहीं हो जाता तथा सहनशील बना

रहता है (मुझे वह प्रिय है)।

दो जगह ज्ञान के साधनों को गीता में भगवान् ने बतलाया है - एक यहाँ 'अद्वेष्टा' इत्यादि से और दूसरा, तेरहवें में अमानित्वम् इत्यादि से। इनमें यह क्रम समझना कि अमानित्वादि साधन ज्ञान के उपकारी हैं और अद्वेष्टा आदि साधन उस ज्ञान में निष्ठा के लिए आवश्यक हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कहा है

अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानम् उत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः।।(नै.सि.४.६८)।।

अमानित्वादि साधन जिसमें पूरी तरह से स्थिर हो गए हैं और अद्वेषादि साधनों को प्राप्त करने के लिए जो लगा हुआ है, ऐसा निवृत्तिपरायण सर्वकर्मसंन्यासी ही मोक्षहेतु ज्ञान पा सकता है।

सबसे पहला धर्म कहा 'सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा'। चाहे अपने को कितना भी बड़ा दुःख देने वाला होवे, किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करना। कई बार बड़ी उम्र में दाँत जीभ को काटते हैं, बड़ी वेदना होती है, पर चाहे जितनी वेदना होवे, मन में यह नहीं आता कि दाँतों को पत्थर से चूर कर देवें। अथवा, रास्ते में चलते हैं तो अपने दोनों पैरों के टखने कई बार ज़ोर से भिड़ जाते हैं और बड़ी वेदना होती है, पर फिर भी मन में यह नहीं आता कि टखनों को तोड़ कर हटा दें। क्यों? क्योंकि जीभ में जितना आत्मभाव है उतना ही दाँतों में है। दाहिने टखने में जितना आत्मभाव है उतना ही बाएँ टखने में है। इसलिये द्वेष नहीं होता। इसी प्रकार सारे प्राणियों में जो अपने आत्मभाव को देख रहा है उसे द्वेष नहीं हो सकता। उसे लगता है कि कितना भी कोई नुकसान कर देवे, वह नुकसान करने वाला मैं ही तो हूँ। सारे भूतों को वह अपने आत्मरूप से देखता है। एक शरीर में ही हूँ - ऐसा नहीं, सब शरीरों में मैं हूँ - ऐसा वह जानता है। इसको समझने के लिये सपने को याद करो : सपने में एक आदमी तुम्हारी तारीफ करता है, दूसरा आदमी तुम्हारी निन्दा करता है। उठने पर तुम जानते हो कि निन्दा करने वाला भी मैं ही था, स्तुति करने वाला भी मैं ही था। कोई दूसरा तो वहाँ था नहीं। इसी प्रकार इस संसार स्वप्न से जो उठा है,वह जानता है कि जितने प्राणी हैं उन सब भूतों के अन्दर एक मैं ही हूँ। इसलिये द्वेष की सम्भावना नहीं क्योंकि जितना प्रशंसा करने वाला मेरा आत्मा है उतना ही निन्दा करने वाला भी।

बहुत से लोग सोचते हैं कि द्वेष नहीं करेगा तो उदासीन हो जाएगा। इसलिये भगवान् उसका निषेध करते हैं कि उदासीन नहीं, 'मैत्रः' उनके प्रति मित्रता का व्यवहार करता है। अर्थात् उनको लाभ ही पहुँचाने का प्रयास करता है, हानि पहुँचाने को कुछ नहीं करता। जो अपने समान हैं उनके प्रति मित्रता का व्यवहार है और जो अपने से नीचे हैं उनके प्रति 'करुण एव च' जो दुःखी हैं, उनके प्रति उसमें करुणा का भाव रहता है, दया रहती है। समान के लिये सखा भाव और कमज़ोर के लिये करुणा रहती है।

वह उदासीन नहीं है, मैत्र और करुण है। इस पर भाष्यकार कहते हैं 'सर्वभूताभयप्रदः संन्यासी इत्यर्थः' दुःखित को दया के द्वारा अभय प्रदान करता है। बाकियों के लिये मित्रभाव से दयालु रहता है। सभी प्राणियों को अभय देने वाला संन्यासी ही ऐसा कर सकता है। जो प्रवृत्ति-मार्गी है, उसके लिये यह सम्भव नहीं।

'निर्ममः'। हिन्दी भाषा में तो निर्मम का बड़ा बुरा अर्थ मानते हैं, दयाहीन को निर्मम कहते हैं। यहाँ हिन्दी वाला निर्मम नहीं समझना, यहाँ निर्मम अर्थात् 'मम-प्रत्ययवर्जितः', देहादि संघात से सम्बंध वाले से 'मेरा सम्बंध है' ऐसा नहीं समझता है। वह जानता है कि मैं तो अधिष्ठान चेतन हूँ जिसमें सब कल्पित है। अतः जैसे रस्सी में दीखने वाली चार कल्पित चीज़ों का आपस में कोई सम्बंध नहीं है उसी प्रकार से मेरा देह भी कल्पित है, सामने वाले का देह भी कल्पित है, इसलिये इन दोनों का तो सम्बंध सम्भव है ही नहीं। देहादिसंघात से सम्बंध होने से मेरा सम्बंध - यही ममताका अध्यास है। शरीर के अन्दर जब हमने ममभाव किया तब उस शरीर के सम्बंध वाले के प्रति भी ममभाव स्वाभाविक है। ममभाव वहीं होता है जहाँ देहादि का सम्बंध हो। देहादि को कल्पित जानने से यह निर्मम रहता है।

दूसरों के प्रति निर्मम है और अपने शरीर के प्रति 'निरहंकारः' अहंकार से रहित है। अपने शरीर में अहंकार होने पर ही देह-सम्बंधी में ममता हो सकती है इसलिये निरहंकार और निर्मम एक दूसरे से सर्वथा सम्बद्ध हैं। भाष्यकार ने निरहंकार से 'निर्गताऽहंप्रत्ययः' ही अर्थ कहा है अतः विवेकातिशय पूर्वक तत्त्वज्ञानोदय से अहंकार का बाध विवक्षित है। किंतु भाष्यकार ने 'धर्मपूगं ... वक्ष्यामि' से इस प्रसंग को अवतरित किया इसलिये आनन्दगिरि स्वामी ने 'वृत्तस्वाध्यायकृताऽहंकाराद् निष्क्रान्तत्वम् आह' यह व्याख्या की है अर्थात् चरित्र, विद्या आदि में अहंकार का यहाँ निषेध बताया है क्योंकि इसी निरहंकारता का धर्मदृष्ट्या अनुष्ठान संभव है। अर्थात् कृतार्थलक्षण का जब साधक अनुकरण करेगा तब पहले ऐसी निरभिमानता को ही अपने में लायेगा, बाद में अहंकार का बाध कर सकेगा।

'समदुःखसुखः' जिससे दुःख होता है उसमें द्वेष होकर उससे निवृत्ति होती है। जो चीज़ दुःख देती है, उससे हम दूर हटना चाहते हैं। जो चीज़ सुख देती है उससे राग होकर उसके हम पास जाना चाहते हैं, 'वह बार-बार होवे' यह इच्छा होती है। यहाँ जिसे भगवान् अपना प्रिय कह रहे हैं, न दुःख उसकी निवृत्ति का कारण बनता है और न सुख उसकी प्रवृत्ति का कारण बनता है। न सुख की तरफ वह जाना चाहता है, न दुःख से हटना चाहता है। दुःख-सुख दोनों ही उसको निवृत्त या प्रवृत्त नहीं करते हैं। 'समदुःखसुखः' का यह अर्थ याद रखना; बहुत से लोग कहते हैं 'सुख को सुख नहीं समझता, दुःख को दुःख नहीं समझता,' किन्तु भगवान् ने यह नहीं कहा वरन् कहा कि दुःख व सुख दोनों ही उसकी निवृत्ति या प्रवृत्ति के हेतु नहीं बनते। दुःख को दुःख

जानता है, पर दुःख दूर हो - इस प्रकार की चेष्टा नहीं करता क्योंकि जानता है कि दुःख मेरी बिना अर्जी दिए हुए आया है तो बिना लत्ती मारे हुए चला भी जाएगा! *मैं* हटाऊँ तो दुःख हटेगा, ऐसा नहीं है। रस्सी के साँप को मैं हटाऊँ, तब हटेगा ऐसी तो कोई बात है नहीं, वह तो प्रकाश आते ही स्वयं हट जाएगा। इसी प्रकार जब दुःख की निवृत्ति का काल होगा तब दुःख हटेगा। सुख की निवृत्ति का काल आएगा तो लाख कोशिश करके भी वह सुख टिकने वाला है नहीं। अतः दुःख या सुख को वह निवृत्ति या प्रवृत्ति का हेतु नहीं बनाता। इसलिये कहा कि दुःख और सुख समान हैं उसके लिए, समान रूप से अप्रवृत्त रखते हैं।

'क्षमी', सहन करता है। दुःख आये तो उसको भी सहन कर लेता है, सुख आये तो उसको भी सहन कर लेता है। शंका होती है कि दुःख और सुख को तो सभी को सहन करना पड़ता है, फिर विशेषता क्या है? विशेषता यह है कि सब सहन करते हैं अपने सारे परिश्रम से उन्हें हटाने में जब असमर्थ हो जाते हैं तब। जब तक अपने में कर्त्तृत्व भावना है तब तक 'मैं नहीं करूँगा तो कैसे होगा?' यह दृढ बोध रहेगा ही। इस तरह भी सहन करना तो है, लेकिन उसमें तुम क्षमा के शील वाले नहीं हो, सहन करने के स्वभाव वाले नहीं हो, मज़बूरी में सहन करना पड़ता है। जबकि अक्षरोपासक में क्षमा का शील है। अतः चाहे कोई कितना ही क्रोध कर ले, चाहे जितना नुकसान कर ले, मारपीट दे, उस सबके अन्दर वह अविकार भाव से रहता है। उसमें कोई विकार नहीं आता क्योंकि जानता है कि जिस समय जिस सुख-दुःख का अनुभव होना है, तब होना ही है। अतः कर्त्ता बन करके उसको ला सकता है या हटा सकता है, ऐसा अध्यास या भ्रम उसको नहीं होता।।१३।।

अक्षरोपासक के ही अन्य गुण बताते हैं-

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। १४।।

जिसे हमेशा लगता है कि जो है वही पर्याप्त है, जिसका चित्त सदा परमात्मा में एकाग्र रहता है, जो देहादिसंघात को हमेशा संयम में रखता है, आत्मतत्त्व के बारे में जिसका प्रमाण-प्राप्त ज्ञान कभी संशयित नहीं होता है, जिसके संकल्प व निश्चय मुझ परमेश्वर को ही अर्पित रहते हैं, ऐसा मुझसे अहेतु प्रेम रखने वाला मुझे प्रिय है।

'सततं' हमेशा। देह की स्थिति रखने की चीज़ें, रोटी आदि, मिल जाएँ अथवा देहस्थितिकारण की अप्राप्ति होवे, दोनों में ही उसे हमेशा अलम् प्रत्यय रहता है कि जो मिला वह ठीक है, जो नहीं मिला वह भी ठीक है। गुणवाली चीज़ मिले, बढ़िया राजभोग मिल जाए, या दुष्ट चीज़ मिले, बाजरे का बासी सोगरा मिल जाए, दोनों ही स्थितियों के अन्दर वह निरन्तर संतुष्ट ही रहता है। असंतोष किसी-न-किसी कामना

को लेकर होता है। कामना-रहित होने से इसका सहज संतोष है। 'योगी' सदा सर्वदा अधिष्ठान के चिन्तन में ही, अधिष्ठान के योग में ही लगा रहता है। अपने आपको इस सारी संसार-लीला का अधिष्ठान मानता है। 'माया के कारण यह सब खेल मुझ में ही हो रहा है जैसे निद्रा के कारण स्वप्न के सारे पदार्थ मैं ही देखता हूँ' ऐसा विचार कायम रखता है। जगे हुए को मन में यह नहीं होता कि 'सपने में उसने राजभोग दिया था अतः वह अच्छा आदमी था, उसने गाली दी थी अतः वह बुरा था।' सपने से उठा हुआ जानता है कि दोनों एक-जैसे थे। इसी प्रकार से यह भक्त निरन्तर अधिष्ठान रूप से ही रहता है। 'यतात्मा'; शरीर, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि - इन सबको भली प्रकार से अन्तर्मुखी बना कर ही रखता है। 'दृढनिश्चयः' - आत्मतत्त्व के विषय में, अपनी अधिष्ठान-रूपता और सारे संसार के मिथ्यात्व के बारे में उसका निश्चय दृढ रहता है, स्थिर रहता है। चाहे जितना संसार में कुछ भी दीखे, इसके मन का कभी भी निश्चय नहीं डोलता। चीज़ें अपने अनुकूल होवें तब तक तो सब संतोषी अपने को अनुभव करते हैं। बहुत-से कहते भी हैं 'हमें कुछ नहीं चाहिए, जो मिल़ जाता है घर में वही खा करके शान्त रह जाते हैं। जो भगवान् ने दिया, प्रारब्ध ने दिया, वही खाने को मिलता है।' पर यदि पत्नी महीने भर तक भोजन न बनावे तब 'पत्नी नहीं बना रही इसलिये भोजन नहीं मिल रहा' यह वृत्ति बनती है, 'मेरे प्रारब्ध में नहीं है इसलिये नहीं बन रहा है' - यह वृत्ति नहीं बनती। दृढ निश्चय का मतलब है स्थिर निश्चय। किसी भी परिस्थिति के अन्दर अपने में या किसी और में कर्तृत्वभावना आती ही नहीं है क्योंकि हमेशा अधिष्ठान रूप का निश्चय रहता है।

अन्तर्मुखता क्या है? यही बतलाते हैं 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'। मन संकल्प-विकल्प करने वाला है। बुद्धि निश्चय करने वाली है। संकल्प-विकल्प परमात्मा के बारे में ही करता है और अधिष्ठान रूप के बारे में ही अपना निश्चय करता है। घट की प्रतीति हुई तो घट के बारे में सोचने-समझने के बजाये वह 'प्रतीति अर्थात् ज्ञानरूप मैं हूँ' इसी को सोचता-समझता है। जब मन और बुद्धि अन्दर में विद्यमान प्रत्यगात्मा पर समर्पित हैं, तब ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ स्वभावतः उसी को अर्पित रहेंगी। ज़ैसे ज्ञानों में वह ज्ञानरूप आत्मा पर केन्द्रित रहता है, ऐसे कर्मेन्द्रियों से क्रिया होने पर जानता है कि आत्मरूप से मैं हूँ तब क्रिया हुई। इस प्रकार से मन और बुद्धि दोनों अन्दर में विद्यमान जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर है, उसी के बारे में चिंतन व निश्चय करते हैं।

इस प्रकार का जो 'मद्भक्तः' प्रत्यगात्मतत्त्व का ईश्वर से अभेद जान करके उसी की भक्ति में लगा हुआ है, वह 'मम प्रियः' मुझे प्रिय है। उसे मालूम रहता है कि सारा संसार परमेश्वर का माया के द्वारा दिखाया जाने वाला खेल है, और वह अधिष्ठान परमेश्वर प्रत्यगात्मा से अभिन्न है। प्रत्यगात्मरूप जानने से उसे परमेश्वर से असीम प्रेम होता है। प्रत्यगात्मा से अन्यत्र तो सीमा में ही प्रेम हो सकता है, बिना सीमा के हम

केवल स्वयं से प्रेम करते हैं। क्योंकि वह परमेश्वर को स्वयंरूप जानता है, इसलिये उसे परमेश्वर से असीम प्रेम होता है। ऐसा जो भक्त है 'स मे प्रियः' वह मेरा प्रिय है। कितना प्रिय है? कहीं पर कहा है कि 'जो इस प्रकार से परमात्मा में स्थित रहते हैं उनका मैं अनुव्रजन करता हूँ, उनके पीछे-पीछे चलता रहता हूँ!' आगे बड़ी विचित्र बात कही - 'मैं उनके चरणों की धूल से पवित्र हो जाऊँगा!' अर्थात् जिससे मेरा मायाधीश रूप कल्पित है, वह माया उनके द्वारा हर क्षण काटी जा रही है तो जो माया की अपवित्रता है वह सारी वे लोग हटाते ही रहते हैं। इसलिये उन्हें अपना अत्यंत प्रिय कहा। पहले भी (७.१७) भगवान् कह आए हैं 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' वह सिवाय मुझ अधिष्ठान के दूसरा चिन्तन करता नहीं और मैं अधिष्ठान उसके प्रत्यगात्मरूप से प्रकाशित होने के सिवाय कुछ करता नहीं! अधिष्ठान ही प्रत्यगात्मरूप से प्रतीत होता है और ज्ञानी प्रत्यगात्मा को ही अधिष्ठानरूप से देखता है। इसलिय कहा 'स मे प्रियः'।।१४।।

अक्षरोपासना में संलग्न साधक को कर्तव्योपदेश करने के लिये भगवान् बता रहे हैं कि निष्ठा होने पर बिना प्रयत्न के ही किस प्रकार की चर्या हो जाती है। ज्ञान-निष्ठा वाला और ज्ञाननिष्ठा का साधक, दोनों बाहर से तो एक जैसे ही लगते हैं, परन्तु फ़र्क इसको लेकर है कि जब तक प्रयत्न-पूर्वक करना पड़ता है तब तक साधक है और जब स्वभाव से होने लगता है तब समझना चाहिए कि ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति हो गई। ज्ञानवान् के ही अन्य धर्म बताते हैं-

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जिससे लोग सन्तप्त, क्षुब्ध नहीं होते, जो स्वयं भी लोगों से त्रास का अनुभव नहीं करता, प्रिय के लाभ से जो प्रफुल्लित नहीं होता, दूसरों के उत्कर्ष से जिसे डाह नहीं होता, जो डरता नहीं एवं व्याकुल नहीं होता, वह मुझे प्रिय है।

ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त साधक कोई कार्य ऐसा नहीं करता जिससे लोगों को किसी प्रकार का क्षोभ होवे। उसके आचरण से, व्यवहार से 'लोकः' सामान्य लोग, प्राकृत लोग 'न उद्विजते' उद्वेग को प्राप्त नहीं करते। उद्वेग का अर्थ है गलत आचरण को देखकर मनुष्य के मन में उसके प्रति जो विरोधी भावना आती है। किसी को बहुत ही बुरा काम करते देखते हैं तो अपने को उससे जो क्षोभ होता है वह उद्वेग है। अक्षरोपासकका ऐसा कोई आचरण नहीं होता है, जिसके कारण दूसरों को किसी प्रकार का संताप होवे या क्षोभ होवे। जैसे वह अपने आचरण से किसी को उद्विग्न नहीं करता वैसे ही 'लोकान्नोद्विजते' लोगों के किसी भी प्रकार के आचरण से उसको कभी उद्वेग नहीं होता! दूसरा कितना भी ग़लत काम करे, उससे अक्षरोपासक को उद्वेग नहीं होता।

जिसे साधारण व्यवहार में उद्वेग नहीं होता वह दूसरों को उद्विग्न करता रहता है। दूसरे के कुछ करने से उसको तो उद्वेग नहीं होता इसलिये उसके मन में रहता है 'मैं कुछ भी कर लूँगा तो कोई दूसरा क्या करेगा'। किंतु भक्त में दोनों बातें नहीं हैं। वह कोई आचरण ऐसा नहीं करता जिसके लिए कोई उस से उद्विग्न होवे। साधकों के लिये यह ध्यान देने की बात है। अनेक बार मन में आता है 'हमें क्या मतलब!' और ऐसा आचार कर देते हैं जो लोकोद्वेजक हो जाता है। भगवान् का प्रेम पाना है तो यह प्रवृत्ति छोड़कर सावधान रहना चाहिए कि लोक अर्थात् सामान्य लोगों को अनावश्यक उद्वेग न पहुँचाया जाये। दूसरों के अच्छे-बुरे व्यवहार से खुद उद्वेग न महसूस करना काफी नहीं, दूसरों के उद्वेग-हेतु न बनें यह भी ज़रूरी है। इसलिए भगवान् ने दोनों चीज़ों को साथ ही कहा। प्रायः देखा जाता है, जो अपने जीवन में नियम से तपस्या-पूर्वक काफी सहन कर लेते हैं उनसे दूसरे में वह गलती सहन बिलकुल नहीं होती। जो अपने पर पूरा नियंत्रण रखता है वह चाहता है कि सामने वाला भी नियन्त्रण में रहे। किन्तु अक्षरोपासक के लिये भगवान् धर्म बता रहे हैं कि दूसरा कुछ भी करे उससे तो कोई क्षोभ नहीं माने तथा खुद ऐसा कुछ नहीं करे जिससे दूसरे को क्षोभ होवे।

हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग इनसे रहित रहता है। हर्ष - कोई चीज़ जो अपने को प्रिय हो, उसकी प्राप्ति होने पर मन में जो एक उत्कर्ष का अनुभव होता है। जैसे हमें दाल का सीरा अच्छा लगता है, तो बढ़िया दाल का सीरा मिलने पर 'वाह! आज बड़ा अच्छा हुआ, बहुत अच्छा खाना मिला' ऐसी प्रफुल्लता हर्ष है। एक सज्जन सत्तर साल के हो गए, उनके तीन लड़के थे लेकिन पोता नहीं था एक भी। उस उम्र में उनके पोता पैदा हुआ, इसका उनको इतना हर्ष हुआ कि सारे शरीर के रोम खड़े हो गए और आँखों से आँसू आने लगे। जैसे दुःख में आँसू आते हैं वैसे ही अत्यन्त प्रसन्नता होती है तब भी आँसू आते हैं। उससे पता लगता है कि कितना हर्ष हुआ है। परन्तु जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है उसको चाहे जितने प्रिय पदार्थ का लाभ होवे, उससे उसको कोई उत्कर्ष का अनुभव नहीं होता, हर्ष नहीं होता। क्यों? ज्ञाननिष्ठा के अन्दर जो प्रवृत्त है वह जानता है कि जो भी प्रतीत हो रहा है, वह चाहे दुःख देने वाला प्रतीत हो रहा है या सुख देने वाला प्रतीत हो रहा है, दोनों ही एक-जैसे मिथ्या हैं। अतः उसको हर्ष नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि उसके चेहरे इत्यादि पर प्रसन्नता नहीं आती! प्रसन्नता और हर्ष में बहुत फ़र्क है। प्रसन्नता तो केवल इस बात को बतलाती है कि जो प्रतीति या अनुभव हो रहा है, वह हमारे अनुकूल है, बस इतना ही। उससे अपने में उत्कर्ष का अनुभव नहीं होता। साधारण आदमी को दाल का हलुआ मिलने पर प्रसन्नता होती है पर यदि गवर्नर साहब निमन्त्रण देकर भोजन करायें तो मन में हर्ष होता है कि 'अरे! आज तो गवर्नर साहब के यहाँ खाना खाया।' उससे अपना उत्कर्ष, अपने में किसी बड़ाई का अनुभव होता है। सामान्य रूप से घर में दाल का

हलुआ बनाया, खा लिया, तो उससे प्रसन्नता होती है, पर हर्ष नहीं, 'मैं धन्य हो गया' यह भावना नहीं है। परन्तु जब सत्तर साल की उम्र में पोता पैदा होता है तब प्रतीति होती है 'मैं धन्य हो गया'। भक्त को भी सामान्य अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान होता है परन्तु अनुकूलता से अपने में उत्कर्ष का बोध नहीं होता।

अमर्ष का मतलब होता है सहन न कर सकना। दूसरे की उन्नति को देखकर अनेक मनुष्यों को सहन नहीं होता कि 'इसका उत्कर्ष क्यों हो गया'। मन में तुरन्त आता है कि मेरा ऐसा उत्कर्ष क्यों नहीं हुआ? दो मुनीम काम कर रहे हैं। एक मुनीम का वेतन तुमने चार सौ बढ़ा दिया और दूसरे का तुमने सौ बढ़ाया। जिसका सौ बढ़ाया वह अमर्ष के कारण सौ की बढ़ोत्तरी से खुश नहीं होता, 'इसके क्यों चार सौ बढ़ गए, मेरे क्यों नहीं बढ़े' यह अमर्ष उसे परेशान करता है। प्रसन्न तो इस बात से होना चाहिए कि 'मेरे सौ बढ़े हैं'। अगर दूसरे के चार सौ नहीं बढ़ते तो प्रसन्न होता भी, पर दूसरे के चार सौ क्यों बढ़ गए, जबकि मेरे नहीं बढ़े - यह जो असहिष्णुता है वह अमर्ष कही जाती है। योग-शास्त्रों में इसीलिये कहा है कि अभ्यास करना चाहिए कि दूसरे की कोई उन्नति होवे तो उसमें मुदिता की भावना होवे, तुम्हारे मन में प्रसन्नता होनी चाहिए कि किसी की उन्नति हो रही है। आधुनिक व्यवहार में अमर्ष को बढ़ावा मिल रहा है। लोकतंत्र में ज़्यादा लोगों को अपनी ओर रखने का सरल उपाय यही है कि जिसका उत्कर्ष हो रहा है या हुआ है उसके प्रति असहिष्णुता पैदा की जाये। उसका उत्कर्ष उसकी अच्छाई से हुआ - यह यदि दीख गया तो लोग उसके पक्षधर हो जायेंगे, इस डर से अमर्ष का प्रचार करते हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति ने हर क्षेत्र में उन्नति ही की, राष्ट्र की समूचे विश्व में कीर्ति ही प्रतिष्ठित की। बुद्धिमान् तो सोचता है कि ज़रूर उस संस्कृति में मूलभूत अच्छाई है, जो सैकड़ों वर्षों तक लगातार सुव्यवस्थित प्रगति होती रही। किंतु जो बुद्धि का पक्षधर नहीं, अपने धड़े में भीड़ बढ़ाना चाहता है वह उस व्यवस्था के गुणों से अमर्ष का ही स्वयं अनुभव करता है और दूसरों को भी उससे अमर्ष पैदा कराता है कि किसी को उस व्यवस्था की महत्ता सहन न हो। जैसे प्राचीन संस्कृति के बारे में, वैसे ही आज के पूंजीवाद, साम्यवाद आदि के बारे में; हर-एक को दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं होता। और अपना अमर्ष खुलकर व्यक्त करते हैं! पहले लोग अमर्ष को बुरा मानकर छिपाते थे, आज उसे प्रकट करने में लज्जा नहीं आती। पहले भी अमर्ष होता था पर कम से कम उसको प्रकट करने में शर्म आती थी। अब तो खुले-आम दूसरों को बुरा कहना, अपने को अच्छा कहना - इसको जायज माना जाता है। यह लोकतंत्र का एक अभिशाप है कि इसमें अमर्ष की भावना बढ़ती ही चली जाती है। परन्तु जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है, उसको मुदिता की भावना को लाकर अमर्ष को खत्म करना चहिए। अमर्ष का आधार भेदबुद्धि है। अगर तुम्हारे लड़के की तनख्वाह बढ़ जाती है तो तुमको अमर्ष नहीं होता, क्योंकि लड़के के अन्दर तुमको आत्मबुद्धि

है। तुम्हारी पत्नी को कोई नौलखा हार दे और तुम्हारी भाभी को दो लाख का हार दे तो 'पत्नी को क्यों मिला' इससे तुमको अमर्ष कभी नहीं होगा क्योंकि पत्नी में आत्मबुद्धि है कि, 'उसे जो मिला वह मुझे ही मिला'। अमर्ष का आधार भेदबुद्धि है। जिसको हम दूसरा समझते हैं उसकी उन्नति होने पर सहन नहीं होता। जिसको हम अपना समझते हैं उसकी उन्नति होने पर अमर्ष नहीं होता। जो जानता है कि सारे प्राणियों में रहने वाला आत्मा एक ही है, जो निरन्तर भेदबुद्धि को हटा रहा है, उसमें अमर्ष की सम्भावना ही नहीं है। फिर भी, अगर प्राचीन संस्कार के कारण अमर्ष आता है तो तुरन्त उसको हटाता है।

भय - जो हमें त्रास होता है, डर लगता है। सामने से शेर आ जाये तो त्रास होता है कि मुझे खा लेगा। ऐसा भय भक्त को नहीं होता। भय का कारण है शरीर आदि को अपना वास्तविक स्वरूप समझना। शेर किसको मारेगा? शरीर को मारेगा। जब शरीर मेरा स्वरूप नहीं है तो शरीर को मारे, इससे मुझे भय क्यों, त्रास क्यों? अतः सर्वभूतात्मभूतात्मा की दृष्टि रखने वाले में भय सम्भव नहीं। इसका मतलब यह नहीं है कि शेर सामने से आवे तो तुम दूर न हटो! भय का, त्रास का अनुभव नहीं होना चाहिए। सामान्य व्यवहार में तुम दूर हटते हो वह त्रस नहीं है। त्रास में घबराहट होती है 'सब कुछ गया, बड़ा भयंकर काण्ड हो गया' ऐसी व्यथा होती है। इस प्रकार का भय उसको नहीं होता।

उद्वेग - चूंकि लोकों से उद्वेग का तो पहले ही निषेध कर दिया है अतः यह उद्वेग है जहाँ दूसरा नहीं है, केवल अपने मन से सोच-सोच कर उद्वेग होता है। लड़के की चार बजे छुट्टी होती है, पाँच बजे तक घर आ जाता है। छह बज गए, घर आया नहीं। तुमको कुछ पता नहीं है कि क्या हुआ पर उद्विग्नता हो जाती है, 'अरे, क्या हुआ? कहीं दुर्घटना न हो गयी हो! ' मन की कल्पनाओं से ही तुम्हें उद्वेग, व्याकुलता हो रही है। कोई तुमको उद्विग्न कर नहीं रहा है, केवल अपनी कल्पनामात्र से ही उद्वेग हो रहा है। भक्त को ऐसी व्याकुलता भी नहीं होती।

हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से जो मुक्त है, 'स च मे प्रियः' वह मुझे प्रिय है। जैसा भगवान् ने पहले भी कहा था, 'प्रियो हि ज्ञानिनः अत्यर्थम्,' ज्ञानी मुझे प्रिय है, अतः 'स मे प्रियः' अर्थात् वह ज्ञानी है, ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है अथवा ज्ञाननिष्ठा वाला है अतः प्रिय है।।१५।।

भगवान् का प्रिय बनने के लिये और कौन-से धर्म अपनाने चाहिये, यह कहते हैं-

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

निःस्पृह, पवित्र, कुशल, पक्षपातहीन, व्यथारहित एवं कामहेतुक कर्म छोड़ने के

स्वभाव वाला जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

'अनपेक्षः'; शरीर को किसी विषय की अपेक्षा है तो उस अपेक्षा को अपनी अपेक्षा समझ लेना कि इसकी मुझे ज़रूरत है, यह अज्ञान में स्वाभाविक है। शरीर को ज़रूरत है, इसका मतलब नहीं कि मुझे ज़रूरत है। शरीर अगर भूखा है तो शरीर को भोजन की ज़रूरत है परन्तु भोजन न मिलने से मुझमें तो कोई फ़र्क आएगा नहीं, शरीर में ही फ़र्क आएगा। जो जानता है 'मैं शरीर से अलग हूँ' वह शरीर की अपेक्षा से स्वयं अपेक्षावान् नहीं बनता। जैसे शरीर की अपेक्षायें हैं, वैसे ही इन्द्रियों को भी विषयों की अपेक्षा है। भक्त को ऐसी अपेक्षा नहीं होती, इन्द्रियों की, मन की, अपेक्षाओं को अपने पर नहीं ओढ़ता। जैसे सर्दी के मौसम में त्वगिन्द्रिय सर्दी को सहन कर नहीं पा रही है, अतः उसे ओढ़ने के लिये रजाई चाहिए, पर रजाई नहीं होवे तो मैं शान्त या सुखी नहीं रह सकता - ऐसी बात भक्त में नहीं है। अभक्त तो शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं पूरी हो रही हो तो स्वयं दुःखी हो जाते हैं। इसी प्रकार से सम्बंध भी ऐसे होते हैं जिनसे हमें अपेक्षा होती है। बहुतों को 'धन्यवाद' सुनने की ही अपेक्षा बनी रहती है, अगर नहीं कहा तो दुःखी हो जाते हैं कि 'मैंने इतना किया और उसने धन्यवाद भी नहीं कहा'। व्यवहार में ऐसी बहुत-सी अपेक्षाएँ बनी रहती हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं दुःखी होता रहता है। किन्तु अक्षरोपासक ऐसी अपेक्षाएँ भी नहीं रखता। इस प्रकार किसी भी चीज़ की अपेक्षा, अर्थात् कोई स्पृहा नहीं रहती। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' से कह आए हैं कि भक्त के लिये तो कोई छोटा-सा काम करेगा तो वह उसे धन्यवाद कहेगा ही। वह ऐसा आचरण नहीं करेगा कि सामने वाले को उद्वेग होवे। परन्तु सामने वाला ऐसा आचरण करे, यह अपेक्षा उसे नहीं रहेगी।

'शुचिः,' हमेशा पवित्र रहता है। यहाँ दोनों तरह के शौच समझ लेना - बाह्य शौच और आभ्यन्तर शौच। बाह्य शौच अर्थात् शरीर को साफ रखना। हाथ धोना, स्नान करना इत्यादि बाह्य शौच है। आभ्यन्तर शौच - राग-द्वेष आदि मन की अशुद्धि हैं, इनको मन में न रहने देना। कुछ लोगों का वर्त्तमान में कहना है कि मन साफ चाहिए, बाहर के आचरण से क्या! कहते हैं 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। किंतु ऐसा आचरण ज्ञाननिष्ठा वाले का नहीं है। वह बाह्य शौच भी रखता है, आभ्यन्तर शौच भी रखता है। भगवान् के मत में बाहरी अशुद्धि रखना ज्ञाननिष्ठा के अनुकूल नहीं है। बाह्य भी पवित्रता उतनी ही चाहिये जितनी आभ्यन्तर पवित्रता।

'दक्षः,' किसी भी काम के सामने आने पर उसको पूर्ण चतुराई के साथ कर सकना। परिस्थिति आते ही 'इस परिस्थिति के अन्दर क्या करना है' इसको समझने में भक्त हमेशा कुशल होता है। अर्थात्, ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त आदमी में बेवकूफी नहीं हुआ करती! जो कार्य सामने आ गया, उस समय अपने आप ही उसकी जो दक्षता है, वह प्रकट हो जाती है। उस काम को वह भली प्रकार से कर लेगा। वर्तमान में बहुत-से

लोग समझते हैं कि भला आदमी बेवकूफ हुआ करता है; 'बहुत भले आदमी हैं' ऐसा जब कहते हैं तब उनका मतलब होता है कि इनमें चतुराई नहीं है। परन्तु भगवान् कहते हैं 'दक्षः', भक्त के अन्दर पूरी चतुराई होती है।

'उदासीनः' कभी भी किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। किसी भी पक्ष की तरफ नहीं जाता, पक्षपात-रहित रहता है। 'यह मेरा मित्र है, पुत्र है, इसने ग़लती कर दी तो माफ कर दूँ। यह दुश्मन का पुत्र है, इसको तो जो बुरा काम किया है उसका दण्ड मिलना ही चाहिए' - ऐसा भेदभाव-पूर्ण व्यवहार उसके मन में भी नहीं आता। संसारी लोग नियम-पालन में कठोरता की बातें उन्हीं के लिये करते है जिनमें उन्हें ममता नहीं; जहाँ अपनों की बात आती है वहीं सारी ढील उन्हें उचित दीखती है। भक्त का ऐसा सोचना-करना नहीं होता, जो ठीक है वह हर परिस्थिति में करता है।

'गतव्यथः' व्यथा उसमें किसी चीज़ के लिये नहीं है। व्यथा में और दुःख में थोड़ा फ़र्क है। शरीर-इन्द्रियों को तो दुःख होता है परन्तु उस दुःख से मन में पीडा व्यथा है। जैसे बच्चे ने कहा 'मुझे रसगुल्ला खाना है'; अपने पास पैसा नहीं है। उसे कहते हैं 'बेटा, रसगुल्ला तो नहीं ला सकते'। रसगुल्ला नहीं ला सकता - यह दुःख की बात तो है पर व्यथा मन की यह दशा है कि 'हाय! मेरे पास यदि आज पैसा होता तो क्या न हो जाता'। भक्त के अन्दर व्यथा नहीं होती। व्यथा के कारण ही मनुष्य न जाने कैसे-कैसे कार्य प्रारम्भ कर देता है। व्यथा दूर करने के लिये मनुष्य बड़े-बड़े प्रयत्न करता है। लड़के ने कहा 'रसगुल्ला खिलाओ', पैसा पास है नहीं, पड़ौसी से उधार लेकर खिला देता है। उधार लेना कितना बुरा है, परन्तु उसमें प्रवृत्त हो जाता है।

क्योंकि गतव्यथ है इसलिये आगे कहा 'सर्वारम्भपरित्यागी'। आरम्भ - यहाँ हो या स्वर्गादि में, 'मेरी इच्छा पूरी होगी' इस भाव से प्रवृत्त होकर जो कर्म किया जाता है उसको आरम्भ कहते हैं। जो फलभोग के लिये नहीं किया जाता, केवल शास्त्राज्ञा से किया जाता है, उचित है इसलिये किया जाता है, वह आरम्भ नहीं है। प्रायः अधिकतर कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें पूरा करने में मनुष्य को दुःख का ही अनुभव होता है। सवेरे उठने से देख लो : सर्दी के मौसम में सवेरे चार बजे उठना कर्तव्य है, और दुःखदायी है। तारे रहते हुए जो संध्या शुरू की जाती है वह उत्तम मानी गई है। उठकर नहाने में कोई सुख होता हो, ऐसा नहीं है। कर्तव्य करना ही चाहिए, इसलिये करते हैं। इस प्रकार के कर्तव्यों के त्याग को आरम्भ-त्याग से नहीं कह रहे! कामना से प्रेरित होकर किये जाने वाले लौकिक-पारलौकिक कार्यों को छोड़ना आरम्भत्याग है। इह हो या अमुत्र हो, भोग के लिय, हमारी कामना-पूर्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनको आरम्भ कहते हैं। भक्त इस प्रकार के सारे कर्मों का परित्याग करता है। अर्थात् भोग के लिये, अपनी कामना की पूर्ति के लिये कोई कर्म नहीं करता। हिन्दी में भी कहते हैं 'मन के मते न चालिए', मन की बात सुन कर काम नहीं करना चहिए। अभी तो हम लोगों ने मान लिया है कि मन जो कहता है वही सुख मिलने

की बात है। किंतु भक्त, मन जो कहता है उसको करने नहीं चलता, उसका तो परित्याग करता है। परित्यागी अर्थात् उसको छोड़ना जिसका शील, स्वभाव हो गया है। मन के द्वारा अपने को प्रवृत्त न होने देने का जिसका स्वभाव है वह हमेशा, हर परिस्थिति में सामने रखता है कि क्या उचित है, वही करना है। हमारी कामनाओं की जो पूर्ति करे उसको नहीं करना है, जो हमारे लिये कर्तव्य है वही करना है। यह जिसका स्वभाव हो गया वह सर्वारम्भ-परित्यागी है । 'यो मद्भक्तः' जो ऐसा मेरा भक्त है 'स मे प्रियः' वह मुझे प्रिय है क्योंकि वह ज्ञानी है।।१६।।

ज्ञानी के ही लक्षणों का विस्तार करते हैं-

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।१७।।

इष्टलाभ से जिसे हर्ष एवं अनिष्ट होने पर द्वेष नहीं होता, प्रिय का वियोग होने पर जो शोक नहीं करता और अप्राप्त की चाहना नहीं रखता, साथ ही, स्वभाव से जो शुभ-अशुभ कर्म छोड़े रहता है, ऐसा भक्तियुक्त मुझे प्रिय है।

जो पहले कह आए हैं उसी को स्पष्ट करके कहते हैं। जो पदार्थ अपने को अच्छा लगता है, अपना इष्ट है, उसकी प्राप्ति होने पर वह हर्ष नहीं करता। ये बातें दुबारा इसलिये कह रहे हैं कि इनकी महत्ता स्पष्ट हो। संस्कृत में कहते हैं 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' अगर तुम किसी रस्सी में या कपड़े में एक बार ही गाँठ लगाओ तो झट से खुल जाती है, लेकिन एक बार लगाकर ऊपर से दुबारा लगा दो, तो फिर चाहे जितना खींचो, नहीं खुलेगी। इसलिये जहाँ कहीं गाँठ लगानी हो वहाँ हम लोग दो बार लगाते हैं। इसी प्रकार जो बात दो-तीन बार कही जाए वह पक्की हो जाती है। इसी तरह यहाँ समझ आ जाता है कि यही भगवान् का तात्पर्य है। वेद में भी बहुत-सी बातों को दोहरा कर कहते हैं। साहित्य आदि के अन्दर पुनरावृत्ति को दोष माना है। पर आचार्य शंकर कहते हैं कि वेद में कोई आलस्य नहीं है कि दुबारा न बताये! वैद्य जब पथ्य समझाता है तब कई बार दुहराता है कि रोगी को पक्की तरह याद रहे, पथ्य की आवश्यकता वह समझकर याद रखे। इसी तरह भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं। गुरु को भी ख्याल रखना चाहिये कि शिष्य दस बार पूछे, बीस बार पूछे, तो यह न सोचे कि 'एक बार तो कह दिया'; जितनी बार तक उसकी समझ में न आवे उतनी बार तक उसको समझाता रहे। हर्ष का अर्थ यहाँ भी समझ लेना कि सुख से अपने में जो उत्कर्ष-बोध है वह उसे नहीं होता, जो सामान्य प्रसन्नता है उसका निषेध नहीं। जैसे हर्ष का अनुभव नहीं करता, वैसे ही जो अपने को अच्छा नहीं लगता है ऐसा अनिष्ट प्राप्त होने पर उसके प्रति द्वेष नहीं करता। प्रतिकूल अनुभव होना तो स्वाभाविक है। सर्दी है, ठंडी हवा चली तो अच्छी नहीं लगेगी, परन्तु 'हाय! क्यों चली? नहीं चलनी चाहिए थी! कैसे इससे दूर भागूँ?' यह सब प्रवृत्ति द्वेष

से है। जैसे हर्ष उत्कर्ष की भावना है वैसे ही द्वेष ठीक उससे भिन्न, अपकर्ष की भावना है। इन दोनों से अक्षरोपासक दूर रहता है। 'न शोचति' प्रिय पदार्थ के वियोग होने पर शोक नहीं करता कि 'हाय! वियोग क्यों हो गया'! उसको निश्चय है कि प्रारब्ध के अनुसार जब जैसी प्रतीति होनी है वैसी होती ही है। दुःखमात्र से ज़्यादा जो मन में शूल चुभता है वह शोक है, उसका भक्त के लिये निषेध कर रहे हैं। यथाप्रारब्ध ही प्रतीतियाँ होती हैं। इस निष्ठा के कारण ही भक्त हर्ष, द्वेष, शोक आदि से बचा रहता है।

ठीक जिस प्रकार से बाईसकोप देखने जाओ तो जो उसमें भरा हुआ है वही तुमको दीखेगा। पुराने जमाने में नाटक होता था। कोई बहुत बढ़िया खेल करता था तो लोग तालियाँ बजाते थे, कहते थे 'फिर से, फिर से,' तो वह पुनः उस दृश्य को खेलकर दिखा देता था। दक्षिण भारत के अन्दर एक नट मरने का अच्छे ढंग से मंचन करता था। लोग तालियाँ बजाते थे तो वह फिर खड़ा होकर मर जाता था! परन्तु सिनेमा में ऐसा कुछ नहीं कर सकते। चाहे जितनी तालियाँ बजाओ, जो भरा हुआ है वही देखते जाना पड़ेगा। इसी प्रकार से प्रतिकूल-अनुकूल जो अनुभव हमको प्रारब्ध के अनुसार होने हैं वे वैसे ही होते जाएँगे, उसमें तुम कुछ भी नहीं कर सकते। इस बात को जानने के कारण भक्त को शोक नहीं होता। 'न काङ्क्षति' शोक प्रिय चीज़ के वियोग से होता है और प्रिय चीज़ प्राप्त नहीं हो तो उसकी आकांक्षा रहती है, चाहना होती है। जैसे वह जानता है कि वियोग देखना है तो देखना पड़ेगा, वैसे जानता है कि जिस समय संयोग को देखना होगा उस समय संयोग ही दीखेगा। इसलिये उसकी कोई आकांक्षा नहीं रखता है।

'शुभाशुभपरित्यागी' चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, वह सभी को छोड़े रहता है। जितने कर्म हैं वे शुभ या अशुभ दो प्रकार के होते हैं। न उसको शुभ कर्म के फल की अभिलाषा है, न अशुभ कर्म के फल की प्राप्ति न हो यह अभिलाषा है। अतः शुभ-अशुभ दोनों कर्मों में वह किसी फल की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रयोजन उसको कर्म में प्रवृत्त करने में असमर्थ हैं। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का परित्याग करने का जिसका स्वभाव है वह शुभाशुभपरित्यागी है। वह पुण्य और पाप दोनों का ही परित्याग करता है। पाप का फल दुःख है, वह उसको इष्ट नहीं और पुण्य का फल सुख है, वह भी उसको इष्ट नहीं। पाप इसलिये इष्ट नहीं कि वह उसका स्वरूप नहीं है। दुःख हमेशा उपाधि को लेकर ही होता है। बिना उपाधि के दुःख का अनुभव नहीं। मन, प्राण, इन्द्रियाँ, शरीर - इनमें किसी चीज़ को निमित्त बना कर ही दुःख का अनुभव होता है। शरीर में दर्द है, सिर में दर्द है, शरीर जल गया, शरीर में फोड़ा हो गया, इन निमित्तों से दुःख होता है। अथवा इन्द्रियों से दुःख होता है। आँख ठीक से देखती नहीं, कान ठीक से सुनता नहीं, हाथ से गिलास ठीक से उठा सकते नहीं - इस प्रकार इन्द्रियों के निमित्त से दुःख होता है। किसी ने गाली दे दी,

अपमान कर दिया - तो मन दुःखी हो जाता है, मन के निमित्त से दुःख होता है। दुःख हमेशा किसी-न-किसी उपाधि से होता है।

यद्यपि जाग्रत्-स्वप्न में जो सुख है वह भी किसी उपाधि से है तथापि सुषुप्ति में पता लगता है कि बिना किसी उपाधि के ही हम आनन्दरूप से स्थित रहते हैं। सुषुप्ति का जो सुख है वह शरीर का सुख नहीं, इन्द्रियों का सुख नहीं, मन का सुख नहीं, क्योंकि ये सब वहाँ नहीं हैं पर सुख है। इसलिये सुख उपाधि से भी होता है परन्तु सुख बिना उपाधि के भी होता है। इसलिये निश्चय हो जाता है कि सुख अपना स्वरूप है, विषय से भी अपना अन्दर का सुख ही प्रकट होता है। विषय *से* सुख होता नहीं, अपने अन्दर का सुख ही प्रकटमात्र होता है। जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है वह केवल इस एक निरतिशय आनन्द को ही इष्ट समझता है। न विषय से सुख लेने की उसकी इच्छा है, न विषय-प्रयुक्त दुःख से बचने की इच्छा है। जो विषयों से सुख या दुःखनिवृत्ति चाहता है वही शुभ और अशुभ करता है। अतः निरतिशय आनन्द को अपना स्वरूप अनुभव करने वाला अपरोक्ष साक्षात्कार की दृढता के लिये प्रवृत्त भक्त शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को छोड़ता है।

'भक्तिमान् यः' जो ऐसी भक्ति वाला है वह मुझे प्रिय है। केवल घंटी बजाना, पानी चढ़ाना ही भक्ति नहीं है, यहाँ बताया जो आचरण है वह परमेश्वर की भक्ति है। ऐसी भक्ति में तत्पर को भगवान् ने अपना प्रिय कहा।। १७।।

सर्वत्र निर्विकारचित्त रहना भक्त का धर्म है यह भगवान् विधान करते हैं -

समः शत्रै च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। १८।।

शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख सर्वत्र एकरूप और अनासक्त रहने वाला ही मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

'शत्रै' जो हमें हानि पहुँचाता है वह शत्रु है। पर वह किसको हानि पहुँचाता है? शरीर को मुक्का मारेगा, शरीर से शत्रुपने का व्यवहार करता है। निन्दा इत्यादि करके तुम्हारे मन को दुःख देता है। उपाधि को ही दुःख देता है। उपाधि को जो अपना स्वरूप नहीं समझता वह उपाधि को दुःख देने वाले को 'मेरा शत्रु' समझता ही नहीं। मन को दुःख दिया तो *मेरा* शत्रु कैसे? अतः लोकप्रसिद्ध शत्रु के प्रति उस की समदृष्टि रहती है। पहले भगवान् कह आए हैं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' बिना किसी दोष के सम ब्रह्म ही है। जो शरीर मन को दुःख पहुँचाने वाला है उसका भी अधिष्ठान वह सच्चिदानन्द ही है। शत्रु का व्यवहार उपाधि के साथ वाले मैं से ही करता है और स्वयं भी उपाधि वाला बन कर ही करता है। उस शरीर-मन की उपाधि और इस शरीर-मन की उपाधि, दोनों का अधिष्ठान मैं आत्मस्वरूप ही हूँ। जैसे स्वप्न में शत्रुता का व्यवहार करने वाला मेरे

ही संस्कारों से कल्पित है और मित्रता का व्यवहार करने वाला भी स्वप्न में मेरे ही संस्कारों से कल्पित है, वहाँ दूसरा तो शत्रु कोई है नहीं जो मुझे दुःख पहुँचा रहा हो या कोई दूसरा तो है नहीं जो मित्र बन रहा हो, ठीक इसी प्रकार से जाग्रत् के अन्दर भी जो प्रतीत हो रहा है वह मेरी अविद्या का ही अपने संस्कारों के साथ प्राकट्य है। अतः शत्रु और मित्र में उसका समभाव रहता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप की, अधिष्ठानरूपता की दृष्टि रहती है।

'तथा मानापमानयोः'। इसी प्रकार से शरीर की कोई पूजा करता है अथवा शरीर को नीचा दिखाता है। मन की भी इसी तरह से कोई स्तुति करके पूजा करता है और कोई मन को नीचा दिखाता है। इस प्रकार पूजा करने वाले में और परिभव करने वाले में एक-सी ही दृष्टि रखता है। अविद्या के कारण ही मान-अपमान की प्रतीतियाँ होती हैं। कई बार कोई हमें नुकसान पहुँचाता है तो हम कहते हैं 'मैंने तो कोई बुरा काम किया नहीं; यह मेरे साथ ऐसा क्यों करता है? मैंने इसके साथ कभी कोई बुराई नहीं की, यह मेरे प्रति ऐसा क्यों करता है?' ज्ञानांकुश के अन्दर बतलाया कि तुमने सबसे बड़ी गलती यह की कि तुमने जन्म लिया! अगर तुम जन्म न लेते तो तुम्हारी बुराई की जाती क्या? मैं निरपराध नहीं हूँ क्योंकि मैंने जन्म लिया है। जन्म है, तब आगे पूजा-परिभव भी हैं। इसी प्रकार अज्ञान है; अज्ञान के कारण शरीर-मन के साथ मैं हूँ यह मेरी ग़लती है, इसी का प्रभाव है कि पूजा और परिभव होते हैं। जब मैं शरीर हूँ नहीं तो मेरी पूजा और परिभव किया कैसे जाएगा? हो ही नहीं सकता। यह निश्चय रखने से ही मान और अपमान में एक जैसा रहता है।

इसी प्रकार 'शीतोष्णसुखदुःखेषु' - सर्दी और गर्मी में सम रहता है। सर्दी और गर्मी का कारण बाह्य जड पदार्थ हैं। शत्रुता-मैत्री और मान-अपमान तो चेतन प्राणी करेंगे, पर सर्दी और गर्मी कोई चेतन करता नहीं है, इन्हें तो अपने आप ही प्रकृति कर देती है। एक के बाद दूसरा मौसम आता रहता है। शरद् आएगा फिर हेमन्त आएगा फिर शिशिर आएगा, वसन्त आएगा, ग्रीष्म आएगा, वर्षा आएगी - यह चक्र वैसे ही चलता है जैसे दिन और रात का चक्र चलता है। अपने काल से शीत और उष्ण आते हैं। शीत काल में मनुष्य की शिकायत होती है 'गर्मी क्यों नहीं?' और उष्ण काल में आदमी की शिकायत होती है 'ठण्ड क्यों नहीं?' जब ठण्ड पड़े तब ठण्ड का आनन्द लो, जब गर्मी पड़े तब गर्मी का आनन्द लो। शीत और उष्ण इन दोनों के प्रति भक्त सम है। अर्थात् जिस काल में प्रकृति जो चीज़ लाती है उस काल में उस प्रकृति के खेल को वैसे ही देखता है जैसे दूसरे खेल को। इसी प्रकार, बिना किसी चेतन के दिये ही बहुत-से सुख-दुःख होते रहते हैं। प्रकृति से अपने आप अनेक सुख-दुःखों की प्राप्ति होती है। जिस समय प्रकृति से तुमको सुख की प्राप्ति हो उस समय सुख का मज़ा लो और जिस समय दुःख की प्राप्ति होती है उस समय दुःख का मज़ा लो। सर्दी के काल में सर्दी

और गर्मी के काल में गर्मी भोग लो, उसी प्रकार सुख के काल में सुख और दुःख के काल में दुःख भोग लो। दोनों का अपना मज़ा है; बुखार आ जाए तो आराम करने का मौका मिलता है। बुखार के दुःख के अन्दर उस लेटने का मज़ा लो। सुख के अन्दर तो लोग मज़ा ले लेते हैं पर दुःख के मज़े की तरफ दृष्टि करते नहीं। भक्त सुख दुःख दोनों में सम रहता है।

सबमें सम क्यों रहता है? हेतु बतला दिया 'संगविवर्जितः' चाहना के कारण चीज़ों के साथ संग होता है। पहले भी भगवान् कह आए हैं कि जिस विषय को तुम समझते हो तुम्हारे अनुकूल अनुभव का कारण है, उसका ही तुम ध्यान करते हो। दाल का सीरा अच्छा लगता है तो दाल का सीरा बार-बार ध्यान में आता है। कलकत्ते का रसगुल्ला अच्छा लगता है तो बार-बार कलकत्ते का रसगुल्ला ध्यान में आता है। चाट, पानी-पूड़ी अच्छी लगती है तो चाँदनी चौक की चाट, पानी-पूड़ी याद आती है। जो चीज़ अच्छी लगती है उसी का चिन्तन, ध्यान होता है। अथवा कोई चीज़ तुमको अत्यन्त दुःख देने वाली हो तो उसका भी ध्यान आता है। कोई आदमी तुमको चार गालियाँ सुना कर चला जाए, घंटे भर तक दिमाग यही सोचता रहता है 'इसने मुझे क्यों गाली दी, इसने मेरा ऐसा अपमान क्यों किया? क्या बात है? मैं इसको मुँह-तोड़ जवाब दे सकता था, मैंने नहीं दिया। दे देता तो चुप हो जाता । देता तो बात बढ़ती, इसलिये नहीं दिया।' चल रहा है मन में चिन्तन। जो चीज़ तुमको अत्यंत सुख देती है, उसका तुम संग करते हो, बार-बार मन में लाते हो, या जो चीज़ तुमको अत्यंत दुःख देती है वह तुम्हारे मन में बार-बार आती है। यदि तुम अनुकूल और प्रतिकूल दोनों के प्रति संग से रहित हो तो सम बने रहोगे। दुर्गन्ध है तो मन में होता है कि हट जाए। सुगंध है तो मन में होता है कि पास आ जाए। यदि राग-द्वेष नहीं हैं तो ये भाव भी नहीं आयेंगे।

राग-द्वेष पूर्वक ध्यान से संग होता है। उसी से शत्रुभाव, मित्रभाव, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख सब अनुभव होते हैं। कारण है कि 'ऐसा होवे' इस प्रकार का संग बना हुआ है। 'सब लोग मुझे अच्छा ही कहें' यह संग है, तब किसी ने बुरा कहा तो बुरा लगता है। परन्तु 'सब कोई मुझे अच्छा कहें' यदि यह तुम्हारा संग नहीं है तो किसी के बुरा कहने पर बुरा भी नहीं लगेगा। भोजन में मिठाई भी बनाते हैं, नमकीन भी बनाते हैं, खट्टा भी बनाते हैं। इसी प्रकार कोई प्रशंसा करेगा, कोई निन्दा करेगा, कोई गाली देगा। भोजन का स्वाद तो इसी से बढ़ता है कि सब तरह के व्यंजन होवें । खाली मिठाई ही होवे तो क्या मज़ा आएगा! शरीर की निन्दा करता है, और शरीर की सारे शास्त्र निन्दा करते हैं। हम भी निन्दा करते हैं। अतः वह ठीक ही कर रहा है। मन की निन्दा करता है तो भी उचित है क्योंकि मन की निन्दा सारे शास्त्र करते हैं। इसमें बुरा मानने की क्या बात है? जो संग से विवर्जित होगा वही सम भाव से रह सकेगा। यहाँ भगवान् ने 'संगवर्जितः' नहीं कह करके 'संगविवर्जितः' कहा। विचार

करके संग को काटना तो संग का वर्जन है और विचार जब इतना दृढ हो जाता है कि संग पैदा नहीं हो पाता, तब उसका विवर्जन है अर्थात् निःसंगता। अन्तःकरण की निःसंगता वृत्ति मौजूद रहती है कि संग की संभावना होने के साथ ही काट दे। प्रारम्भ में तो विचार की ज़रूरत पड़ती है संग काटने के लिये, किंतु अभ्यास दृढ हो जाने पर जैसे ही विषय उपस्थित होता है उसके साथ ही निःसंगता आ जाती है। ज्ञान को प्राप्त करने के बाद ज्ञाननिष्ठा में जाने के लिये निःसंगता साधन हो जाती है।।१८।।

अक्षरोपासकों की और विशेषताएँ बताते हैं

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।। १६।।

निंदा व स्तुति जिसके लिये बराबर हैं, जिसकी वाणी संयत है, जो कुछ मिले उसी से जिसे संतोष हो जाता है, जिसका नियत निवास नहीं है, तथा परमार्थ वस्तु के बारे में जिसका निश्चय अडिग है, ऐसा नर मेरा प्रिय भक्त है।

'तुल्यनिन्दास्तुतिः' निन्दा और स्तुति दोनों उसके लिये तुल्य हैं। भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में कहा है कि कोई निन्दा करेगा तो उन्हीं बावन अक्षरों से करेगा। क ख ग घ ही तो बोलेगा। और स्तुति करेगा तो भी उन्हीं से करेगा। किसी अक्षर को कभी आगे कर दिया, किसी अक्षर को पीछे कर दिया, किंतु इन बावन अक्षरों के सिवाय तो निन्दा या स्तुति कुछ है नहीं। इस शब्द को हम स्तुति मानेंगे, इस शब्द को हम निन्दा मानेंगे यह तो आरोप होता है। जो भी हो रहा है वह केवल अक्षरों का प्रयोग है। एक व्यापारी का एक दफ्तर कायरो, मिस्र में था। उनका लड़का वहाँ काम करता था। ये एक बार गए वहाँ। मिस्र की जो मूल भाषा थी वह समाप्त हो गई, अब वहाँ अरबी भाषा ही चलती है। वहाँ जो भोजन परोस रहा था वह अरब का था। बहू उनका भोजन बना रही थी। पराँठा लेकर आया परोसने के लिए, उन्होंने कहा 'ला'। वह लौटकर चला गया। थोड़ी देर के बाद फिर आया पराँठा लेकर, उन्होंने कहा 'ला'। फिर चला गया! उन्हें बड़ा गुस्सा चढ़ रहा था। अपनी बहू से कहा 'तुमने कैसा मूर्ख रख छोड़ा है! ला कर दिखलाता है, मैं कहता हूँ 'ला', तो चला जाता है। यह तो गधा है पूरा।' गधा शब्द सुन कर वह बड़े ज़ोर से हँसने लग गया! बहू चौके से बाहर आई। उसने पूछा 'क्या हुआ'? बोले 'हुआ क्या! इसको जब कहें 'ला' तो देता नहीं है, वापिस चला जाता है। मैंने कहा 'गधा' तो हँस रहा है खिलखिलाकर'। बहू वहाँ बहुत सालों से रह रही थी। उस बहू ने कहा 'इन लोगों की भाषा में 'ला' का मतलब होता है 'नहीं' और गधे का मतलब होता है बुद्धिमान्। जब आपने 'ला' कहा तो वह समझा कि नहीं लेना है। फिर उसने देखा कि थाली खाली है, उठने की कोई बात नहीं कर रहे हैं तो दुबारा बेचारा लेकर आया। फिर आपने कहा 'ला', वह चला गया।'

विचार करो, 'ला' का क्या मतलब है? कौन से अर्थ को समझो - यह केवल तुम्हारे संस्कारों पर निर्भर है। बावन अक्षरों के बारे में ही 'इस शब्द को हम अच्छा मानेंगे, इस शब्द को हम बुरा मानेंगे' यह हम आरोप किये रहते हैं। हिन्दी में निर्मम का मतलब वर्तमान में है क्रूरता। और यहीं भगवान् विधान कर रहे हैं 'निर्ममो निरहंकारः' जो निर्मम होता है वह मुझे प्रिय होता है! संस्कृत में निर्मम का मतलब होता है जिसके अन्दर किसी चीज़ के ऊपर 'यह मेरी है' ऐसी भावना नहीं है। यह सब समझकर अक्षरोपासक भक्त, निन्दा और स्तुति दोनों में तुल्य रहता है।

मौनी, मौन का प्रायः मतलब होता है न बोलना। जो नहीं बोलता है उसी को मौनी कहते हैं। परन्तु भाष्यकार अर्थ कहते हैं 'संयतवाक्' वाणी के ऊपर संयम करना, नियन्त्रण करना- यह मौनी होना है। मौन शब्द का यदि मूल देखो तो 'मुनेर्भावः' मुनि का भाव मौन कहा जाता है। मुनि अर्थात् मनन करने वाला। जो बोलने के पहले अच्छी तरह से मनन करता है, 'मैं जो बोलूँगा, उसका क्या असर होगा, मैं वह असर चाहता हूँ कि नहीं' - इसको खूब सोच करके बोलता है, वह मौनी है। आगे भगवान् कहेंगे कि बोलो तो पूरी बात कहो। हम लोग प्रायः पूरी बात नहीं कहते। आधी-अधूरी बात कहते हैं और श्रोता जब उसके अनुकूल कार्य नहीं करता तब हम कहते हैं, 'हमने तुमसे कहा था', वह कहता है 'मैंने यह समझा था'। बोलो तो पहले विचार करो कि जो कह रहे हो, उससे पूरा भाव प्रकट होगा कि नहीं होगा। जिस शब्द का प्रयोग कर रहे हो वह इस परिस्थिति के लिये ठीक है या नहीं। छोटे से बात करते समय किसी शब्द का प्रयोग करना पड़ता है जबकि बड़े से बात करते हुए उसका नहीं वरन् किसी अन्य शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। अविचारशील सोच-समझकर नहीं बोलते और जन्मभर एक ही ग़लती दुहराते रहते हैं। यह भी निर्धारित करो कि जो बात कह रहे हो वह सामने वाले को प्रिय है या नहीं। अप्रिय बात बोल कर कहना कि 'मैं तो सच्ची बात कहता हूँ, खरी-खरी सुना देता हूँ' संयतवाक् होना नहीं है। मनु ने नियम कर दिया है कि सच्ची बात होवे परन्तु इस ढंग से कहो कि सुनने वाले को प्रिय लगे। आगे मनु ने सावधान किया कि इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे को प्रिय लगे इसके लिये झूठ बोलो! सच्ची बात भी कहने का ढंग ऐसा होना चाहिए जो सामने वाले को प्रिय लगे। सत्य का मतलब है हमने जिस चीज़ को जैसा समझा है वैसी ही दूसरा उसको समझे, इस उद्देश्य से प्रयत्नपूर्वक बोलना। हमने कोई बात गलत समझी है और बोल दी तो वह हमारे लिये असत्य नहीं है, क्योंकि हमने जैसा समझा था वैसा ही हमने बोला। कई बार लोग बोलते तो सत्य हैं परन्तु इस ढंग से कि सामने वाला कुछ और ही समझ लेवे! फिर कहेंगे 'मैंने तो ठीक ही बात कही थी।' कई बार तुम सत्य बोलोगे, सामने वाला गलत समझेगा। पर इस उद्देश्य से बोलना कि वह गलत ही समझे, वस्तुतः सत्यवदन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं' प्राणी के कल्याण के लिये जो

बोलते हो वह सत्य होगा अर्थात् जो बात बोलो वह दूसरे के लिय हितकारी होनी चाहिए, उसके फायदे की होनी चाहिए। जैसे यहीं अध्याय के शुरू में, अर्जुन का प्रश्न था कि कौन श्रेष्ठ है - विश्वरूप का उपासक या अक्षर ब्रह्म का उपासक? अर्जुन अधिकारी है उपासना का। अतः उसको सीधे कह देते 'अरे! तेरे बूते का नहीं है अक्षर ब्रह्म की उपासना करना। अक्षर ब्रह्म की उपासना ही श्रेष्ठ है'। तो वह कहता 'मैं वही करूँगा।' अतः उसके लिये जो हितकारी है वही भगवान् ने कहा कि युक्ततम, सबसे अच्छा योगाभ्यास करने वाला तो वह है जो विश्वरूप की उपासना करता है। और अक्षर ब्रह्म का उपासक तो मेरा स्वरूप ही है। छिपाई उन्होंने कोई बात नहीं परन्तु दूसरे को अपना स्वरूप बतला कर यह कह दिया कि अभी तुम मेरा स्वरूप तो हो नहीं इसलिये तुम्हारे लिये तो यही विश्वरूपोपासना आदि अभ्यास करना ही साधन है। इसी तरह बोलने में यह भी ख्याल रखना चाहिए कि इसके हित की बात हो तो कहूँ और इसके हित की बात नहीं है तो न कहूँ। किसी ने तुम्हारी निन्दा हमसे की। हम अगर तुमसे कहते हैं कि 'देवदत्त तुम्हारी अमुक निन्दा कर रहा था', तो सत्य तो है, तुमको प्रिय भी लगेगा, लेकिन उससे तुम्हारे अन्दर उसके प्रति द्वेष पैदा होगा, फायदा कुछ नहीं। तुम्हारा यह सुनने से कोई हित तो होना नहीं है। बात हितकारी भी होनी चाहिए। इन सबका विचार करके बोलना वाक्संयम है। कई लोग कहते हैं 'महाराज! फिर तो बोल ही नहीं सकेंगे दिन भर में!' दिनभर बोल नहीं सकेगा इसीलिये ऐसे नियम वाले को मौनी कहा है! इतना सब विचार करके बोलना होगा, तब लगभग बोलोगे नहीं, चुप रहोगे। इसलिये मुनि का भाव मौन कहा जाता है। मुनि का भाव अर्थात् मनन करके बोलना। चूंकि ऐसे वक्ता अधिकतर चुप रहते हैं इसलिये धीरे-धीरे मौन शब्द केवल चुप रहने में ही रूढ हो गया।

'येन केनचित् सन्तुष्टः' शरीर को रखने के लिय प्रारब्ध जो कुछ भी ले आता है, प्रबल प्रारब्ध खुद ले आता है, बस उतने से ही संतोष रखे कि बस, यही पर्याप्त है। शरीर की रक्षा करने के लिये, प्रारब्ध को स्वतः ही अपने आप को चरितार्थ करने के लिये शरीर की स्थिति रखने लायक पदार्थ लाना ही पड़ेगा। मौनी कहने से सम्भावना प्राप्त हो जाती है कि फिर शरीर कैसे चलेगा? कभी कोई चीज़ चाहिए, कभी कोई चीज़ चाहिए, कहना तो पड़ेगा? इसलिये कहा 'येन केनचित्' शरीर की स्थिति रखने के लिये जो कुछ भी आ जाए उससे ही सन्तुष्ट रहता है, जानता है कि जितना आया है वह शरीर की स्थिति रखेगा ही, शरीर की स्थिति नहीं रहेगी तो प्रारब्ध खुद ही व्यर्थ हो जाएगा! अतः प्रारब्ध रसगुल्ला लाए तो रसगुल्ला खा लो, बासी उड़द ले आवे तो बासी उड़द खा लो। प्रारब्ध शरीर की स्थितिमात्र का हेतु बनेगा ही। इसलिये स्मृतियों में कहा है -

'येन केनचिद् आच्छन्नो येन केनचिद् आशितः।

यत्र क्वचन शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।' (महाभा.शा.२४१.१२)।।

देवता लोग किसे ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी समझते हैं? जो, कोई भी चीज़ मिल जाये उससे अपने को ढाँक लेता है। पुराने बहुत से महात्मा जितने कपड़ों के टुकड़े मिलते रहते थे रास्ते में, उनको सीते रहते थे गुदड़ी के लिये। उसको कन्था कहते हैं। यदि प्रारब्ध तुम्हारे लिय तुश का शाल ले आता है तो वह ओढ़ लो। गुदड़ी ही चाहिए या तुश ही चाहिए, इन दोनों के आग्रह से रहित रहना है। इसी प्रकार जिस किसी चीज़ के द्वारा जिसको अशन, भोजन करा दिया जा सके, जो स्थल मिल गया वहीं पर जो सो सके, 'ऐसा ही होवे तब सोऊँगा' यह कोई आग्रह नहीं रखे, देवता लोग ऐसे लोगों को ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

'अनिकेतः' जहाँ नियम से वास करे वह निकेत होता है। कभी कदाचित् धर्मशाला में रह गए तो वह निकेत नहीं हो जाता। जहाँ तुम नियम से रहते हो वह निकेत है। ऐसे भक्त का कोई निकेत नहीं है। इसलिये भर्तृहरि ने लिखा है 'निद्रा श्मशाने वने' श्मशान में सो जाता है, कभी जंगल में सो जाता है। 'यहीं रहना है, यही मेरे रहने का स्थान है' ऐसा अक्षरोपासक का आग्रह नहीं होता।

'स्थिरमतिः'। एकमात्र अधिष्ठान सच्चिदानन्द चेतन मेरा स्वरूप है - इसी के ऊपर उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। बाकी सब चीज़ें अविद्या के झोंके से आती-जाती हैं। कभी निन्दा हो गई, कभी स्तुति हो गई, कभी अच्छा खाना मिल गया, कभी खराब खाना मिल गया - ये सब अविद्या से कल्पित होते रहते हैं। यह जानता है कि उसका स्वरूप वैसा का वैसा सच्चिदानन्द निर्विकार है। भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार स्थिरमति रहने वाला जो भक्तिमान् है वह मुझे प्रिय है।

इस प्रकार भगवान् ने 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' से लेकर यहाँ तक जो अक्षर परम ब्रह्म के ज्ञान वाले हैं और जिन्होंने अपनी सारी एषणाओं को छोड़ दिया ऐसे संन्यासी परमार्थ ज्ञान की निष्ठा में रत हैं, क्या धर्म वे करते हैं, इसको बतलाया। जितना-जितना सिद्ध होता जाएगा उतना-उतना ये सब स्वभाव से होते जाएँगे और जितनी कम सिद्धि होगी उतना ही इनके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा।।१६।।

अब भगवान् उपसंहार करते हैं -

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। २०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।

मैं ही जिनकी परा गति हूँ ऐसे जो श्रद्धालु भक्त तो जैसा बताया वैसे इस धर्मानुकूल अमरताहेतु साधनसमूह का अनुष्ठान करते हैं वे मुझे अतीव प्रिय हैं।

जो ऐसे सर्व-एषणा-निर्मुक्त, परमार्थ ज्ञान-निष्ठा में प्रवृत्त संन्यासी पूर्वोक्त धर्मों का पालन करते हैं वे भगवान् को अतिप्रिय हैं। धर्म्य अर्थात् धर्म से विलग नहीं हैं, धर्म से अपेत नहीं हैं। इन साधनों में कोई भी धर्म से विरुद्ध नहीं है। और ये साधन अमृत हैं। इनमें से एक भी साधन ऐसा नहीं है जो अपने को मीठा लगता हो! सभी कड़वे लगते हैं। फिर अमृत कैसे? इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि इनसे अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इन्हें अमृत कहा है। किसी हिन्दी के कवि ने कहा है 'कथनी मीठी खाण्ड सी, करनी विष की होय'। किसी अच्छे कार्य को कर्तव्य कहना मीठी खाण्ड जैसा लगता है। पर उसे करना ज़हर के प्याले की तरह है। परन्तु 'कथनी तजे करनी करे', अगर उसको करने लग जाता है 'तो विष से अमृत होय'। ऐसे ही ये साधन धर्म से अनपेत हैं और अमृतत्व का हेतु होने से अमृत हैं। इन धर्मों को 'पर्युपासते' अनुष्ठान करते हैं, निश्चित रूप से निरन्तर इनका तब तक अभ्यास करते ही रहते हैं जब तक ये स्वभाव न बन जाएँ।

इसमें लगेंगे कैसे? भगवान् कहते हैं कि 'श्रद्दधानाः,' मैंने जो यहाँ धर्म बतलाए हैं उनमें जो श्रद्धा वाले होंगे वे ही इनमें तत्पर बनेंगे। अन्यथा लोग कहते हैं 'अरे! ज्ञान होना चहिए, ये सब होवें इसकी क्या ज़रूरत है! ये सब भी तो अविद्या का ही खेल हैं।' ऐसों के लिये सुरेश्वराचार्य जी कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करके चाहे कुछ खाने-पीने वाले सूअर मत बनो; तुम्हारे ज्ञान का क्या यही फल हुआ कि जैसे सूअर चाहे जो खाता है वैसे तुम भी खा सको? इसलिये भगवान् ने कहा 'श्रद्दधानाः' इन धर्मों के ऊपर श्रद्धा वाले होने चाहिए। श्रद्धा का कारण क्या है? 'मत्परमाः' मुझ परमेश्वर को परा गति स्वीकारने वाले। मैं इन धर्मों को कह रहा हूँ, ये धर्म मुझे प्रिय हैं; जो मेरा भक्त होगा, मुझे ही परमगति मानता होगा, वह अवश्य इन धर्मों को अपने में लाने का प्रयत्न करेगा। ठीक जैसे पत्नी को पति से प्रेम है तो पति को जो भोजन अच्छा लगता है, वही प्रयत्न करके बनाती है, सीखती है। और जिसको प्रेम नहीं है वह पति की रुचि की कोई परवाह नहीं करती। इसी प्रक़ार भगवान् कहते हैं - जो मुझे परम मानते हैं वे तो मुझे ये धर्म पसन्द हैं, इसलिये इन्हें अपने जीवन में लायेंगे। जो भगवान् को परम नहीं मानेंगे, वे कहते हैं 'ऐसा बनने से क्या होता है!' 'भक्ताः' ऐसे जो मुझे परम मानने वाले परम भक्त हैं 'ते मे अतीव प्रियाः' वे मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं। बाकी जो भक्त हैं, जो इन धर्मों को स्वयं में नहीं ला पाते, उन्हें प्रियमात्र मानकर, इन धर्मों का पालन करने वालों को 'अतीव प्रिय' बताया। किसी विषय की कामना से, या अर्थ के प्रयोजन से, या कुछ जानने के लिये जो भगवान् की तरफ दृष्टि करता है, उनसे प्रेम करता है, वह भी भगवान् के रास्ते लगा हुआ है इसलिये भगवान् का प्रिय तो है परन्तु अतीव प्रिय नहीं है। जो इन धर्मों को जीवन में लाते हैं वे मेरे अतीव प्रिय हो जाते हैं, अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं। यह जो परमार्थ ज्ञान-लक्षण भक्ति है, इसका जो आश्रयण करता है वही

भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है। इसलिये मुमुक्षु को यत्नपूर्वक इन धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए जिससे विष्णु के परम पद की, परम अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति हो जाए।।२०।।

।। बारहवाँ अध्याय ।।


शान्तम्
शिवम्
अद्वैतम्